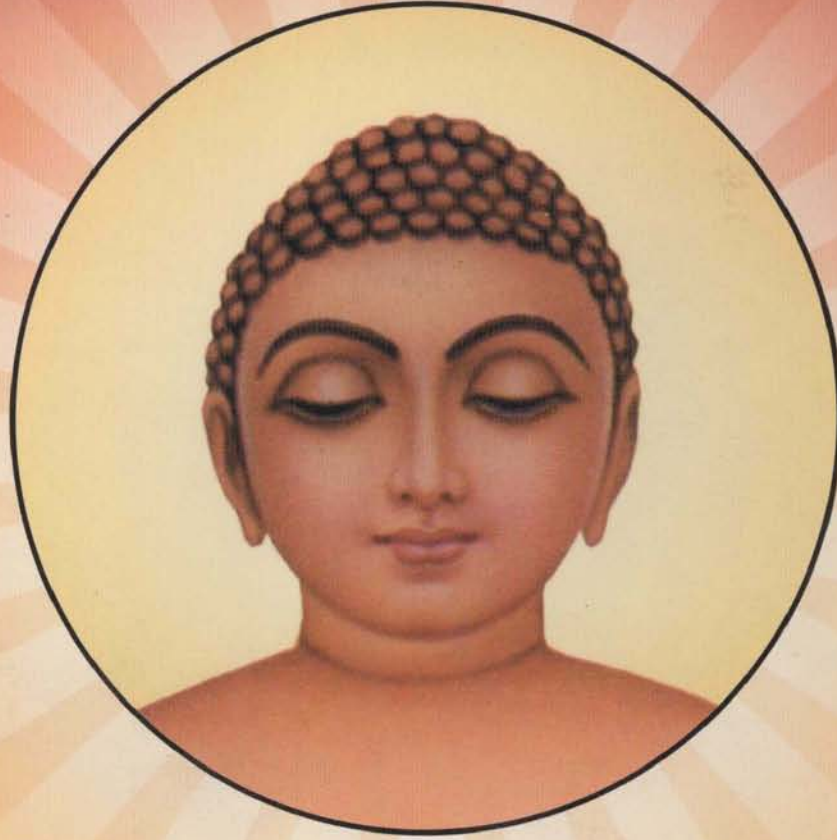


बृहत्कल्पभाष्यम्

(हिन्दी अनुवाद सहित)



वाचना प्रमुख
आचार्य तुलसी

प्रधान संपादक
आचार्य महाप्रज्ञ

संपादक/अनुवादक
आगम मनीषी मुनि दुलहराज

मुनि दुलहराजजी श्रमिकवृत्ति के मुनि हैं। वे मुनि बनकर मेरे पास आए। तब से लेकर अब तक सतत उनकी श्रमनिष्ठा को अखंडरूप में देख रहा हूँ। यह सौभाग्य की बात है कि उन्होंने श्रम की साधना में कभी थकान का अनुभव नहीं किया। **आचार्य तुलसी** ने आगम-संपादन के भगीरथ कार्य को हाथ में लिया और उसके संचालन का दायित्व मुझे दिया। उस दायित्व की अनुभूति में मुनि दुलहराजजी अनन्य सहयोगी बने रहे। आगम-संपादन के कार्य में वे पहले दिन से संलग्न रहे और आज भी इस कार्य में संलग्न हैं। उनकी श्रमनिष्ठा और संलग्नता ने ही उन्हें **आगम-मनीषी** के अलंकरण से अलंकृत किया है।

इस संपादन कार्य से पूर्व वे **व्यवहारभाष्य** का अनुवाद और संपादन भी कर चुके हैं। वह भाष्य भी साढ़े चार हजार से अधिक गाथाओं का विशाल ग्रंथ है। यदि मन की विशालता हो तो सागर की विशालता को भी मापा जा सकता है। मेरी दृष्टि में ये भाष्य-ग्रंथ सागर की उपमा से उपमित किए जा सकते हैं। इनको नापने का प्रयत्न निष्ठा, साहस और दत्तचित्तता का कार्य है। मुनि दुलहराजजी इस कसौटी में सफल हुए हैं। उनका वर्तमान आगम का वर्तमान है। उनका भविष्य भी आगम का भविष्य बना रहे।

आचार्य महाप्रज्ञ

णमोत्थु भगवओ महावीरस्स

बृहत्कल्पभाष्यम्

(हिन्दी अनुवाद सहित)

खण्ड - २

(गाथा ३६७६ से ६४६०)

वाचना प्रमुख
गणाधिपति तुलसी

नम्र सूचन

इस ग्रन्थ के अभ्यास का कार्य पूर्ण होते ही नियत
समयावधि में शीघ्र वापस करने की कृपा करें
जिससे अन्य वाचकगण इसका उपयोग कर सकें.

प्रधान संपादक
आचार्य महाप्रज्ञ

संपादक/अनुवादक

आगम मनीषी मुनि दुलहराज

सहयोगी

मुनि राजेन्द्रकुमार

मुनि जितेन्द्रकुमार



जैन विश्व भारती, लाडनूं

प्रकाशक :

जैन विश्व भारती

लाडनूं - ३४१ ३०६ (राज.)

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

ISBN : 81-7195-133-3

सौजन्य : सेठिया परिवार (दुधोड़-बेंगलोर) द्वारा उनके
संसारपक्षीय चाचा आगम मनीषी मुनि दुलहराजजी के
दीक्षा के साठवें वर्ष-प्रवेश पर।

प्रथम संस्करण : २००७

पृष्ठ संख्या : ४२२+४८=४७०

मूल्य : ५००/- (पांच सौ रुपया मात्र)

टाईप सेटिंग : सर्वोत्तम प्रिण्ट एण्ड आर्ट

मुद्रक : पायोरार्ईट प्रिण्ट मीडिया प्रा. लि. उदयपुर

BRHATKALPABHĀṢYAM

(With Hindi Translation)

PART - 2

Vachanapramukh
Ganadhipati Tulsi

Chief Editor
Acharya Mahaprajna

Editor/Translator
Āgama Maniṣhī Muni Dulaharaj

Assisted by
Muni Rajendrakumar
Muni Jitendrakumar



JAIN VISHVA BHARATI, LADNUN

Publishers :
Jain Vishva Bharati
Ladnun - 341 306 (Raj.)

© Jain Vishva Bharati, Ladnun

ISBN : 81-7195-133-3

Courtsey : Sethia Family (Dudhor-Banglore) On the eve of entry into Sixtyeth year of the ascetic life by their uncle Agama-Manishi Dulharaj ji.

First Edition : 2007

Price : 500/-

Pages : 422+48=470

Type Setting : Sarvottam Print & Art

Printed by : PAYORITE PRINT MEDIA PVT. LTD. UDIPUR

समर्पण

।।१।।

पुट्टो वि पण्णा-पुरिसो सुदक्खो,
आणा-पहाणो जणि जस्स निच्चं ।
सच्चप्पओगे पवरासयस्स,
भिक्खुस्स तस्स प्पणिहाणपुव्वं ।।

जिसका प्रज्ञा-पुरुष पुष्ट पट्ट,
होकर भी आगम-प्रधान था ।
सत्य-योग में प्रवर चित्त था,
उसी भिक्षु को विमल भाव से ।।

।।२।।

विलोडियं आगमदुद्धमेव,
लद्धं सुलद्धं णवणीयमच्छं ।
सज्झायसज्झाणरयस्स निच्चं,
जयस्स तस्स प्पणिहाणपुव्वं ।।

जिसने आगम-दोहन कर कर,
पाया प्रवर प्रचुर नवनीत ।
श्रुत-सद्ध्यान लीन चिर चिंतन,
जयाचार्य को विमल भाव से ।।

।।३।।

पवाहिया जेण सुयस्स धारा,
गणे समत्थे मम माणसे वि ।
जो हेउभूओ स्स पवायणस्स,
कालुस्स तस्स प्पणिहाणपुव्वं ।।

जिसने श्रुत की धार बहाई,
सकल संघ में, मेरे मन में ।
हेतुभूत श्रुत-सम्पादन में,
कालुगणी को विमल भाव से ।।

विनयावनत
आचार्य तुलसी

आशीर्वचन

छेदसूत्रों की शृंखला में एक सूत्र है—कल्प। विषयवस्तु और आकार के कारण उसका नाम हो गया—बृहदकल्प। मूल प्राकृत, भाष्य प्राकृत भाषा में और टीका संस्कृत में। अपेक्षा थी—इसका हिन्दी में अनुवाद हो। इसकी पूर्ति मुनि दुलहराजजी ने की। अपेक्षा अंग्रेजी अनुवाद की भी है। उसकी पूर्ति पर भी विचार किया जाएगा। स्वास्थ्य की अनुकूलता की स्थिति में मुनि दुलहराजजी इस कार्य का दायित्व निभा सकते हैं।

‘बृहदकल्पभाष्य’ एक विशाल ग्रंथ है। यह ६४९० गाथाओं में निबद्ध है। विषयवस्तु की दृष्टि से आकर ग्रंथ है। इस आकर ग्रंथ के प्रथम और चरम बिन्दुओं को मिलाकर एक रेखा का निर्माण करना एक श्रमसाध्य कार्य है।

मुनि दुलहराजजी श्रमिकवृत्ति के मुनि हैं। वे मुनि बनकर मेरे पास आए। तब से लेकर अब तक सतत उनकी श्रमनिष्ठा को अखंडरूप में देख रहा हूँ। यह सौभाग्य की बात है कि उन्होंने श्रम की साधना में कभी थकान का अनुभव नहीं किया। आचार्य तुलसी ने आगम-संपादन के भगीरथ कार्य को हाथ में लिया और उसके संचालन का दायित्व मुझे दिया। उस दायित्व की अनुभूति में मुनि दुलहराजजी अनन्य सहयोगी बने रहे। आगम-संपादन के कार्य में वे पहले दिन से संलग्न रहे और आज भी इस कार्य में संलग्न हैं। उनकी श्रमनिष्ठा और संलग्नता ने ही उन्हें आगम-मनीषी के अलंकरण से अलंकृत किया है।

इस संपादन कार्य से पूर्व वे व्यवहारभाष्य का अनुवाद और संपादन भी कर चुके हैं। वह भाष्य भी साढ़े चार हजार से अधिक गाथाओं का विशाल ग्रंथ है। यदि मन की विशालता हो तो सागर की विशालता को भी मापा जा सकता है। मेरी दृष्टि में ये भाष्य-ग्रंथ सागर की उपमा से उपमित किए जा सकते हैं। इनको नापने का प्रयत्न निष्ठा, साहस और दत्तचित्तता का कार्य है। मुनि दुलहराजजी इस कसौटी में सफल हुए हैं। उनका वर्तमान आगम का वर्तमान है। उनका भविष्य भी आगम का भविष्य बना रहे।

धनतेरस, वि. सं. २०६४
उदयपुर (राज.)

आचार्य महाप्रज्ञ

संपादकीय

जैन परंपरा में मुख्य रूप से चार भाष्य प्रचलित हैं—दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प, व्यवहार और निशीथ। इनका निर्यूहण पूर्वों से हुआ, इसलिए इनका बहुत महत्त्व है। इनके निर्यूहण कर्ता भद्रबाहु 'प्रथम' माने जाते हैं। निशीथ के निर्यूहण के विषय में मतैक्य नहीं है।

कुछ वर्ष पूर्व व्यवहार भाष्य का संपादित पाठ के साथ, बीस-पचीस परिशिष्टों से युक्त, पदानुक्रम तथा भूमिका से संयुक्त संस्करण प्रस्तुत किया था। तत्पश्चात् जलगांव मर्यादा महोत्सव पर व्यवहारभाष्य का सानुवाद संस्करण जनता के समक्ष आया।

आचार्यप्रवर ने राजस्थान से अहिंसा यात्रा के लिए प्रस्थान किया। उस यात्रा के दौरान गुजरात, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश की यात्रा कर रहे थे। आचार्यप्रवर उस यात्रा के मध्य महाराष्ट्र के चौपड़ा गांव में पधारे। वहां विवेकानन्द हाई स्कूल में विराजना हुआ। मध्याह्न में आचार्यश्री ने अपने हाथों से बृहत्कल्पभाष्य का अनुवाद प्रारंभ करते हुए प्रथम श्लोक का अनुवाद अपनी हस्तलिपि से लिखा और फिर मुझे निर्दिष्ट करते हुए फरमाया—अब तुम इस अनुवाद को आगे बढ़ाओ और पूरा करो। मैंने उसी दिन से यात्रा में भी इस कार्य को आगे बढ़ाया। वह दिन था ५ फरवरी २००४। यात्रा चलती रही। यात्रा में हम बीकानेर संभाग में आए। वहां उदासर में मैंने इस बृहद् काय ग्रंथ का अनुवाद संपन्न कर दिया। इस ग्रंथ में ६४९० गाथाएं हैं।

इसके भाष्य के प्रणयिता संघदासगणी माने जाते हैं।

टीकाकार

इसकी टीका के दो रचयिता हैं—महान् टीकाकार आचार्य मलयगिरि और आचार्य क्षेमकीर्ति सूरी। आचार्य मलयगिरि ने प्रारंभिक ६०६ गाथाओं की टीका लिखी। फिर उससे विरत हो गए। आचार्य क्षेमकीर्ति ने उसे आगे बढ़ाया और पूरे भाष्य की टीका संपन्न की। टीका प्रशस्त और विस्तृत है। आचार्य मलयगिरि ने इसे बीच में क्यों छोड़ा, यह अन्वेषणीय है। आचार्य क्षेमकीर्ति ने लिखा—

‘श्रीमलयगिरिप्रभवो, यां कर्तुमुपाक्रामन्त मतिमंतः।

सा कल्पशास्त्रटीका मयाऽनुसंधीयतेऽल्पधिया ॥’

बृहत्कल्प पर लघुभाष्य और चूर्णि भी है।

निशीथभाष्य और प्रस्तुत भाष्य की अनेक-अनेक गाथाएं समान हैं।

टीका संयुक्त भाष्य का प्रकाशन

मुनि पुण्यविजयजी ने टीका युक्त पूरे ग्रंथ को छह भागों में प्रकाशित किया है। उस संस्करण में पाठान्तरों का उल्लेख भी है। ८० पृष्ठों में पदानुक्रम दिया हुआ है, परन्तु वह इतना शुद्ध नहीं है। यत्र-तत्र त्रुटियां दृग्गोचर होती हैं। हमने पदानुक्रम को नए सिरे से तैयार किया है।

इस ग्रंथ के अनुवाद कार्य में मुझे दो वर्ष और दस माह लगे। इस अवधि में यात्रा निरंतर चलती रही। प्रतिदिन विहार और नए-नए गांवों में निवास। पूरे यात्राकाल में अनुकूल स्थान मिलते या नहीं भी मिलते, परन्तु कार्य निरंतर चलता रहता।

हमने संपूर्ण टेक्स्ट पुण्यविजयजी द्वारा संपादित ग्रंथ के अनुसार लिया है। कहीं-कहीं मूल पाठ और टीका में संवादिता नहीं है, फिर भी हमने मूल पाठ के साथ छेड़छाड़ नहीं की है। हमने पूर्वानुपर का अनुसंधान कर अनुवाद को आगे बढ़ाया है।

अनुवादक की इयत्ता

मैंने बृहत्कल्पभाष्य का अनुवाद प्रारंभ किया। स्थान-स्थान पर भाष्यकार ने तथा वृत्तिकार ने मूर्तिपूजक संप्रदाय की मान्यताओं का विस्तार से उल्लेख कर उनकी करणीयता को सिद्ध किया है। विषय है—चैत्य आदि, अनुयान—रथयात्रामें करणीय कार्य, भावग्राम के अंतर्गत प्रतिमाओं का पूजन, तीर्थकरों के जन्म-कल्याणक आदि गांवों में जाने से दर्शन शुद्धि आदि होती है। इन तीर्थ स्थानों में जाने की प्रेरणा। यद्यपि हम इन सारी विधियों से सहमत नहीं हैं। फिर भी हमने यथावत् अनुवाद प्रस्तुत किया है क्योंकि यह अनुवादक का धर्म है। वह जिस ग्रंथ का अनुवाद कर रहा है, वह उस ग्रंथ की गाथाओं में परिवर्तन या परिवर्द्धन नहीं कर सकता। वह टिप्पण में अपने अभिप्राय को स्पष्ट कर सकता है, परन्तु उनमें फेरबदल नहीं कर सकता। मैंने टिप्पण देने के बदले संपादकीय में इस विषय को स्पष्ट किया है। मैंने कुछ वर्षों पूर्व 'भरत बाहुबली महाकाव्यम्' का अनुवाद प्रस्तुत किया था। उसमें महाराज भरत द्वारा कृत चैत्यपूजा, मूर्तिपूजा तथा शाश्वत चैत्य का उल्लेख है। मैंने यथार्थ अनुवाद किया। इस अनुवाद को मूर्तिपूजक आचार्यों और मुनियों ने खूब उछाला और लिखा 'तेरापंथी मुनि ने मूर्तिपूजा स्वीकार कर ली है।' पेंप्लेट, परदों पर बड़े-बड़े अक्षरों में उसे छापा, प्रचार-प्रसार किया। आज भी कर रहे हैं। हमें इसकी चिंता नहीं। सब अपना अपना कर्म करते हैं।

मैं विश्वास करता हूँ कि पाठक अनुवादक की इयत्ता का अनुभव कर, यथार्थ को जानने का प्रयास करेंगे।

अन्त में

हमने इस ग्रंथ को दो खण्डों में विभक्त किया है। पहले खण्ड में भूमिका, विस्तृत संपादकीय तथा पीठिका साहित प्रथम दो उद्देशक हैं।

दूसरे खण्ड में तीसरे उद्देशक से छठवा उद्देशक तथा चार परिशिष्ट हैं—१. कथा परिशिष्ट २. सूक्त और सुभाषित ३. आयुर्वेद और आरोग्य ४. गाथानुक्रम। प्रथम खण्ड का विषयानुक्रम प्रथम खण्ड में, दूसरे का दूसरे में है।

पुनश्च इस ग्रंथ के आकार लेने तक जिस किसी का भी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग मिला है उनके प्रति भी मंगलकामना।

शुभं भवतु, कल्याणमस्तु।

१ अगस्त २००७

महाप्रज्ञ विहार, भुवाणा (उदयपुर)

मुनि दुलहराज

प्रकाशकीय

मुझे यह लिखते हुए अत्यंत हर्ष हो रहा है कि 'जैन विश्व भारती' द्वारा आगम-प्रकाशन के क्षेत्र में जो कार्य हुआ है, वह अभूतपूर्व तथा मूर्धन्य विद्वानों द्वारा स्तुत्य और बहुमूल्य बताया गया है।

हम बत्तीस आगमों का पाठान्तर शब्दसूची तथा 'जाव' की पूर्ति से संयुक्त सुसंपादित मूलपाठ प्रकाशित कर चुके हैं। उसके साथ-साथ आगम-ग्रंथों का मूलपाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद प्राचीनतम व्याख्या-सामग्री के आधार पर प्रस्तुत हुआ है। उसमें सूक्ष्म ऊहापोह के साथ विस्तृत मौलिक टिप्पण तथा अनेक परिशिष्टों से मंडित संस्करणों को भी सम्मिलित किया गया है। इस शृंखला में दसवेआलियं, उत्तराध्ययन, सूयगडो, ठाणं, नंदी, समवाओ आदि अनेक आगम ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं और विशाल ग्रंथ भगवई के चार खंड प्रकाशित होकर जनता के सामने आ चुके हैं।

भाष्य लिखने की परम्परा बहुत प्राचीन रही है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने संस्कृत में 'आयारो' का भाष्य लिखकर भाष्य-जगत् में एक नूतन कार्य किया है। वह कार्य भाष्य परम्परा को अक्षुण्ण बनाने का श्रमसाध्य प्रयत्न है। आचारांग भी मूलपाठ-सहित हिन्दी और अंग्रेजी में प्रकाशित हो चुका है।

प्रस्तुत ग्रंथ 'बृहत्कल्पभाष्यम्' आगम व्याख्या साहित्य की बहुमूल्य धरोहर है। छेदसूत्रों में यह बृहत्काय ग्रंथ है। इसमें ६४९० गाथाएं गुंफित हैं। बहुश्रुत वाचना-प्रमुख आचार्यश्री तुलसी एवं आचार्यश्री महाप्रज्ञ के नेतृत्व में आगम-संपादन का भगीरथ कार्य हो रहा है। आगम साहित्य के इस महान् अभिक्रम में आगम मनीषी मुनिश्री दुलहराजजी प्रारंभ से ही जुड़े रहे हैं। वे श्रद्धेय आचार्यश्री महाप्रज्ञ के अंतेवासी बहुश्रुत संत हैं। उन्होंने इस विशाल ग्रंथ का संपादन एवं अनुवाद किया है। मुनिश्री ने इस ग्रंथ की निष्पत्ति में जो श्रम किया है वह ग्रंथ के अवलोकन से स्वयं स्पष्ट होगा। इससे पूर्व मुनिश्री द्वारा संपादित/अनूदित सानुवाद व्यवहारभाष्य भी प्रकाशित हो चुका है।

प्रस्तुत ग्रंथ की विशालता देखते हुए इसे दो खण्डों में विभक्त किया है। पहले खण्ड में संपादकीय, भूमिका तथा पीठिका सहित प्रथम दो उद्देशक समाविष्ट हैं। दूसरे खण्ड में तीसरे उद्देशक से छद्म उद्देशक तथा चार परिशिष्ट संलग्न हैं।

इस ग्रंथ की भूमिका महाश्रमणी साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभाजी ने अपने बहुमूल्य समय का नियोजन कर लिखी है। संपादन में मुनि राजेन्द्रकुमारजी, मुनि जितेन्द्रकुमारजी सहयोगी रहे हैं। उन्होंने इसे सुसज्जित करने में अनवरत श्रम किया है। इसकी कंपोजिंग में सर्वोत्तम प्रिंट एण्ड आर्ट के श्रीकिशन जैन एवं श्रीप्रमोद प्रसाद का योग रहा है।

ऐसे सुसम्पादित आगम ग्रंथ को प्रकाशित करने का सौभाग्य जैन विश्व भारती को प्राप्त हुआ है।

आशा है पूर्व प्रकाशनों की तरह यह प्रकाशन भी विद्वज्जनों की दृष्टि में अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगा।

१ नवम्बर २००७

उदयपुर (राज.)

सुरेन्द्र चोरड़िया

अध्यक्ष, जैन विश्व भारती, लाडनू

विषयानुक्रम

गाथा संख्या विषय

तीसरा उद्देशक निग्गंथि उवस्सय-पदं सूत्र १

- ३६७९-३६८१ गणधर वस्त्र प्रवर्तिनी को सौंपे।
 ३६८२ बिना आचार्य की आज्ञा से आर्याओं के उपाश्रय में जाने पर प्रायश्चित्त।
 ३६८३ आचार्य आदि बिना कारण आर्या उपाश्रय में जाए तो प्रायश्चित्त।
 ३६८४ आर्या उपाश्रय में जाने के दस स्थान।
 ३६८५ स्मृति करण क्या ?
 २६८६ दस स्थानों से निष्पन्न प्रायश्चित्त।
 ३६८७ निष्कारण आर्या उपाश्रय जाने का निषेध।
 ३६८८, ३६८९ आर्या उपाश्रय में स्थान, निषीदन आदि करने से प्रायश्चित्त।
 ३६९०, ३६९१ आर्या प्रतिश्रय में प्रवेश के चार विकल्प।
 ३६९२ आर्या उपाश्रय के अग्रद्वार, मूलद्वार आदि स्थानों में प्रवेश करने पर प्राप्त प्रायश्चित्त।
 ३६९३-३६९५ आर्या उपाश्रय में प्रवेश से होने वाले अपाय।
 ३६९६, ३६९७ बाज पक्षी के दृष्टान्त द्वारा अकस्मात् आर्या प्रतिश्रय में गमन से आर्याओं को कष्ट।
 ३६९८ त्रस्त आर्याओं से होने वाले दोष।
 ३६९९ आर्या उपाश्रय में मुनि के जाने से ग्लान साध्वी के कालातिक्रमण।
 ३७०० मुनि के अचानक प्रवेश से तपस्विनी आर्या के होने वाली विराधना।
 ३७०१ साधु के आर्या उपाश्रय के द्वारमूल में खड़े होने से होने वाली विराधना।
 ३७०२ साधु के आगमन से भिक्षा काल का अतिक्रमण।
 ३७०३ साधु के आगमन से स्वाध्याय में व्याघात कैसे ?
 ३७०४, ३७०५ संयम रूपी तालाब का निदर्शन। तथा पालि भेद का कथन।

गाथा संख्या विषय

- ३७०६ आर्या उपाश्रय में श्रमण को देखकर एकाकिनी वसति संरक्षिका आर्या के होने वाली मानसिक उथल-पुथल।
 ३७०७-३७१३ एकाकिनी आर्या और एकाकी साधु के परस्पर संभाषण से उत्पन्न भाव संबंध का विवेचन।
 ३७१४ प्रचला, त्वग्वर्त्तन आदि की द्वार गाथा।
 ३७१५-३७१७ प्रचला आदि का संक्षेप में विवेचन और आर्या उपाश्रय में इनसे निष्पन्न प्रायश्चित्त।
 ३७१८, ३७१९ निष्कारण विधिपूर्वक भी आर्या उपाश्रय जाने से वे ही पूर्वोक्त दोष।
 ३७२० कारणवश अविधि से प्रवेश से भी वे ही पूर्वोक्त दोष तथा कारणवश विधि से प्रवेश शुद्ध।
 ३७२१ कारणवश प्रतिश्रय गमन की द्वार गाथा।
 ३७२२, ३७२३ आर्या उपाश्रय से जाने के कारणों का विवेचन।
 ३७२४ आर्यिकाओं को वसति, संस्तारक आदि स्वयं ग्रहण करना अकल्पनीय।
 ३७२५ गणधर का आर्या उपाश्रय में जाने के कारण।
 ३७२६ प्राघूर्णक का आर्या उपाश्रय में जाने के कारण। प्राघूर्णक कौन ?
 ३७२७, ३७२८ मुनि आर्या उपाश्रय में कब जाए ?
 ३७२९-३७३६ आचार्य आर्या उपाश्रय में कब पधारे ?
 ३७३७-३७४० साध्वी को अनुशिष्टि में क्या कहे ?
 ३७४१-३७४३ आर्या उपाश्रय में आचार्य आदि के प्रवेश के अन्य कारण।
 ३७४४ प्राघूर्णक मुनि के लिए आर्या उपाश्रय में जाने की विधि तथा उपाश्रय में साध्वियों की बैठने की विधि।
 ३७४५ प्राघूर्णक आदि के लिए काष्ठमय आसन्दक आदि लाने की यतना।
 ३७४६ शय्यातरकुल दिखाने/कहने की विधि।
 ३७४७ अविधिपूर्वक दिखाने से होने वाले दोष।
 ३७४८ आर्या वसति में धर्मदेशना और अनुशिष्टि।
 ३७४९ इस विषय में अन्य आदेश-मत का विवेचन।

गाथा संख्या	विषय
३७५०	वसति के अभाव में एक वसति में श्रमण-श्रमणी को रहने का विवेक।
३७५१	एक वसति में रात्री प्रवास की विधि।
३७५२	वहां परस्पर आलाप संलाप आदि करने पर निष्पन्न प्रायश्चित्त।
३७५३	वहां स्थित साधुओं की उच्चार, प्रसवण विधि।
३७५४	अधिक दिन वहां प्रवासित होना हो तो अन्य वसति की गवेषणा आवश्यक।
३७५५, ३७५६	आगाढ़ कारण हो तो गणधर का दिन-रात में भी आर्या उपाश्रय में जाना कल्पनीय।
३७५७	महर्द्धिक कौन ?
३७५८	गणधर तथा प्रव्रजित महर्द्धिक के आर्या उपाश्रय में जाने से लाभ।
३७५९	महर्द्धिक को देख अस्थिर साध्वी में स्थिरता।
३७६०, ३७६१	दीक्षित राजकुमारों का दृष्टान्त।
३७६२, ३७६३	परीषह पराजित प्रथम राजकुमार को आचार्य द्वारा अनुशिष्टि।
३७६४	द्वितीय राजकुमार की निर्भयता।
३७६५-३७६७	तृतीय राजकुमार की रक्षा हेतु आचार्य द्वारा आर्या उपाश्रय में भेजने की विधि।
३७६८	ग्लान साध्वी और प्रतिचरक साधु की चतुर्भंगी।
३७६९-३७७३	अपवाद में ग्लान साध्वी की साधु द्वारा परिचर्या की विधि।
३७७४-३७७६	परिचारक साधु में आवश्यक गुण।
३७७७	ग्लान आर्या के परिचर्या में साधु द्वारा की जाने वाली क्रियाएं।
३७७८-३७८०	ग्लान आर्या के प्रतिचर्या में परिचारक का आवश्यक ज्ञान।
३७८१	परिचारक साधु की उपाश्रय आदि में रहने की विधि।
३७८२, ३७८३	आगाढ़ कारण में परिचारक की रात्री में आर्या उपाश्रय में रहने की विधि।
३७८४	आर्या का परिचारक साधु तीर्थकरों की आज्ञा में।
३७८५, ३७८६	स्वस्थ होने पर साध्वी को स्वगण में पुनः स्थापित करने की विधि।
३७८७	ग्लान आर्या की चिकित्सा में साधु का समाधि संधान।
३७८८	असहिष्णु मुनि यतनापूर्वक चिकित्सा करे।
३७८९-३७९२	ग्लान आर्या का परिचारक साधु से संलाप।

गाथा संख्या	विषय
३७९३	साधु यदि असहिष्णु हो तो ग्लान आर्या के प्रति उसका कर्तव्य।
३७९४-३७९६	असहिष्णु साधु की यतना का विवेचन।
३७९७-३७९९	असहिष्णु साध्वी की काम याचना सुनने पर भी परिचारक साधु मेरु की भांति अप्रकंप रहे।
३८००	असहिष्णु साध्वी की भर्त्सना कर पुनः संयम में स्थापित करने का प्रयास आवश्यक।
३८०१	प्रतिपक्ष वसति में जाने का निषेध।
निगन्थ उवस्सयं पदं	
सूत्र २	
३८०२	पूर्वसूत्र से प्रस्तुत सूत्र का संबंध।
३८०३	आर्या द्वारा ग्लान साधु की परिचर्या का उल्लेख।
३८०४	असहिष्णु आर्या द्वारा साधुमिक साधु आदि की मार्गणा।
चम्मं पदं	
सूत्र ३	
३८०५	ब्रह्मचर्य व्रत की पीड़ा से बचने का उपाय।
३८०६	प्रस्तुत सूत्र के प्रारंभ का हार्द।
३८०७, ३८०८	श्रमणियों के लिए सलोम चर्म विषयक आरोपणा व प्रायश्चित्त।
३८०९-३८११	सलोम चर्म के उपयोग से होने वाली आत्मविराधना व संयमविराधना।
३८१२-३८१४	सलोम-निर्लोम चर्म के उपयोग से संयतियों में होने वाले दोष।
३८१५	चर्म विषयक अपवाद पद कल्पनीय।
३८१६, ३८१७	अपवादों का उल्लेख।
३८१८, ३८१९	अपवाद में चर्म ग्रहण की यतना तथा परिभोग की विधि।
सूत्र ४	
३८२०	निर्ग्रन्थ को परिभुक्त प्रातिहारिक सलोम चर्म कल्पनीय।
३८२१	उत्सर्गतः निर्ग्रन्थ को भी सलोम चर्म अकल्पनीय तथा शुषिर सलोमचर्म के प्रकार।
३८२२	पुस्तकपंचक तथा तृणापंचक का स्वरूप।
३८२३	वस्त्रपंचक तथा दुःप्रत्युपेक्ष्य दूष्यपंचक का स्वरूप।
३८२४	अप्रत्युपेक्ष्य दूष्यपंचक तथा चर्म पंचक का स्वरूप।
३८२५	साधु-साध्वियों को सलोम तथा निर्लोम चर्म के ग्रहण से निष्पन्न प्रायश्चित्त।

गाथा संख्या विषय

- ३८२६, ३८२७ पुस्तकपंचक के दोष।
 ३८२८-३८३१ पुस्तकीय जीव पलायन नहीं कर सकते। समझाने हेतु वागुरा लेप, जाल और चक्र का दृष्टान्त।
 ३८३२ तृणपंचक में भी आत्म तथा संयमविराधना।
 ३८३३ तृण का परिभोग करने पर निष्पन्न प्रायश्चित्त।
 ३८३४-३८३७ सलोम चर्म तथा निर्लोम चर्म के उपयोग में दोष है फिर प्रस्तुत सूत्र में उसकी अनुज्ञा क्यों? शिष्य द्वारा प्रश्न आचार्य द्वारा समाधान।
 ३८३८ कुंभकार, लोहकार आदि द्वारा दिन में परिभुक्त चर्म ग्रहण की विधि।
 ३८३९, ३८४० निर्लोम चर्म ग्रहण के कारण।
 ३८४१-३८४३ आगाढ़ कारण में सलोम चर्म तथा पश्चानुपूर्वी से पुस्तकपंचक पर्यन्त भी कल्पनीय।

सूत्र ५

- ३८४४, ३८४५ प्रस्तुत सूत्र में चर्म का प्रमाण और उपयोग।
 ३८४६ कृत्स्न चर्म के चार प्रकार। उनके ग्रहण का निषेध।
 ३८४७ चारों कृत्स्न चर्म का स्वरूप।
 ३८४८ सकल कृत्स्न की व्याख्या।
 ३८४९ प्रमाण कृत्स्न की व्याख्या।
 ३८५० वागुरा, खपुसा, जंघा तथा अर्धजंघा का वर्णन।
 ३८५१ वर्ण तथा बंधन कृत्स्न की व्याख्या।
 ३८५२-३८५५ चारों कृत्स्न ग्रहण करने पर अलग-अलग प्रायश्चित्त।
 ३८५६-३८६१ कृत्स्न चर्म के उपयोग से होने वाले जीवोपघात आदि द्रव्यात्मक तथा गर्व आदि भावात्मक दोषों का वर्णन।
 ३८६२, ३८६३ कृत्स्न चर्म ग्रहण की अनुज्ञा के कारण।
 ३८६४-३८६६ क्रमणिका का उपयोग कब? कैसे?
 ३८६७, ३८६८ वर्ण कृत्स्न चर्म ग्रहण का क्रम।
 ३८६९ पूर्वकृत कृत्स्न या अकृत्स्न चर्म ही साधुओं को कल्पनीय।
 ३८७० तीन बंध कौन-कौन से?
 ३८७१ उपानह आदि साधु न करे न कराए। तद्गत प्रायश्चित्त।

सूत्र ६

- ३८७२ सूत्र में अनुज्ञात होने पर अकृत्स्न चर्म का ग्रहण कल्पनीय नहीं। अपवाद में भी विधिपूर्वक कल्पनीय।

गाथा संख्या विषय

- ३८७३-३८७८ अकृत्स्न चर्म के अठारह भाग क्यों? कैसे?

वत्थ पदं

सूत्र ७, ८

- ३८७९ चर्म की तरह वस्त्र आपवादिक नहीं।
 ३८८० कृत्स्न वस्त्र के ६ निक्षेप।
 ३८८१ द्रव्य कृत्स्न के प्रकार।
 ३८८२ सकल द्रव्य कृत्स्न का स्वरूप।
 ३८८३ प्रमाण द्रव्य कृत्स्न का स्वरूप।
 ३८८४ क्षेत्रकृत्स्न वस्त्र कौन सा?
 ३८८५ कालकृत्स्न वस्त्र कौन सा?
 ३८८६ भावकृत्स्न वस्त्र के दो प्रकार।
 ३८८७ वर्ण कृत्स्न और उसके प्रकार।
 ३८८८, ३२८९ कृत्स्न वस्त्र में तीन प्रकार की आरोपणा तथा वर्णकृत्स्न में भी यही आरोपणा।
 ३८९० मूल्ययुत वस्त्र के तीन प्रकार।
 ३९९१, ३८९२ उत्तरापथ तथा दक्षिणा पथ के रूपक के मूल्य का अंतर।
 ३८९३-३८९८ अठारह रूपक मूल्य वस्त्र ग्रहण से लक्षरूपक मूल्य पर्यन्त वस्त्र ग्रहण का तीन प्रकार से प्रायश्चित्त।
 ३८९९ भावकृत्स्न का स्वरूप तथा उसके प्रकार।
 ३९००, ३९०१ द्रव्य कृत्स्न वस्त्र ग्रहण करने पर उत्पन्न होने वाले दोष।
 ३९०२ भाव कृत्स्न के दोष।
 ३९०३, ३९०४ रत्नकंबल का दृष्टान्त।
 ३९०५ स्तेनभय आदि न होने पर सकलकृत्स्न वस्त्र कल्पनीय किन्तु किनारी का छेदन आवश्यक।
 ३९०६ सिन्धु आदि जनपदों के वस्त्रों के किनारी का छेदन आवश्यक नहीं।
 ३९०७ किनारीयुक्त वस्त्र ग्रहण के कारण।
 ३९०८ प्रमाणातिरिक्त वस्त्रों का छेदन न करने का कथन कब? क्यों?
 ३९०९ किन कारणों से अपवाद का अपवाद योजनीय।
 ३९१०, ३९११ भाव कृत्स्न वस्त्रों का ग्रहण और धारणा।
 ३९१२, ३९१३ कृत्स्न वस्त्रों का धारण किन-किन देशों में।
 ३९१४ महाराष्ट्र देश में कौन सा वस्त्र कब धारण करें? इसका विवेचन।
 ३९१५, ३९१६ भावकृत्स्न वस्त्र किसके लिए अनुज्ञात?

गाथा संख्या विषय

३९१७ द्रव्य कृत्स्न वस्त्र और भाव कृत्स्न वस्त्र का अलग-अलग समाविष्टी।

सूत्र ९

- ३९१८ कृत्स्न, अकृत्स्न, भिन्न-अभिन्न की चतुर्भंगी।
 ३९१९ अभिन्न में भी उत्सर्ग और अपवाद विषयक चर्चा।
 ३९२०, ३९२१ शिष्य द्वारा प्रश्न—क्या इससे पुनरुक्त दोष नहीं? आचार्य द्वारा समाधान।
 ३९२२, ३९२३ पुनः शिष्य द्वारा प्रश्न—क्या वस्त्र छेदन से उत्पन्न शब्द तथा पक्ष्म से वायु काय की हिंसा नहीं?
 ३९२४-३९२६ वस्त्र का छेदन सदोष है। इसलिए वह वांछनीय नहीं। जीव के चेष्टाओं के साथ वस्त्र के छेदन की तुलना उपयुक्त नहीं।
 ३९२७-३९३४ वस्त्र छेदन विषयक शिष्य के प्रश्न—आचार्य का आगमिक संदर्भों में समाधान।
 ३९३५ कर्मबंध के तीन हेतु।
 ३९३६ राग आदि परिणामों की तीव्रता आदि की द्वारगाथा।
 ३९३७ हिंसादि करने में रागादिक की तीव्रता—मन्दता से कर्मबंध की तीव्रता और अल्पता का निरूपण।
 ३९३८, ३९३९ ज्ञात-अज्ञात में हिंसा करने पर कर्मबंध में महान् अंतर की प्ररूपणा।
 ३९४०, ३९४१ क्षायोपशमिक भाव और औदयिक भाव आदि में वर्तन करने वाले के भावों के नानात्व के कारण कर्मबंध की विचित्रता।
 ३९४२ अधिकरण के चार प्रकार। उनके नाम तथा संक्षेप में दो प्रकार।
 ३९४३-३९४६ अधिकरण का भागी कौन? वस्तुओं का निर्माण करने-कराने में दोनों की सहभागिता। जैसा परिणाम वैसा कर्मबंध।
 ३९४७ निर्वर्तना और संयोजना अधिकरण कब?
 ३९४८ समस्त संहननों में प्राणी छहस्थानगत कैसे?
 ३९४९ वीर्य के तीन प्रकार। उनके बंधी-अबंधी होने का निरूपण।
 ३९५० सभी जीव बंधक नहीं। बंधक होने पर भी समान रूप और असमानरूप बंधक कौन?
 ३९५१ कौनसा व्यापार अदोषवान्?
 ३९५२-३९५५ किनारी फाइ देनी आवश्यक अथवा रखनी आवश्यक? शिष्य द्वारा स्वमत प्रस्तुत करते हुए प्रश्न, आचार्य का समाधान।

गाथा संख्या विषय

- ३९५६ वस्त्र गुणकारी अगुणकारी कब?
 ३९५७-३९६० शिष्य का प्रश्न—हमारे लिए लक्षणयुक्त वस्त्र के ग्रहण का क्या प्रयोजन? द्रमक का दृष्टान्त देते हुए आचार्य द्वारा समाधान।
 ३९६१ वस्त्रप्रमाण के दो प्रकारों का निरूपण।
 ३९६२-३९६५ जिनकल्पिक तथा स्थविरकल्प की उपधि के प्रकार तथा उनका प्रमाण।
 ३९६६-३९६८ जिनकल्पिक के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट उपधि की संख्या और उनका प्रमाण। जिनकल्पिक की शय्या का आकार-प्रकार और सोने की विधि अथवा ध्यान विधि।
 ३९६९-३९७२ स्थविरकल्पी मुनियों के कल्प का मध्यम, उत्कृष्ट प्रमाण तथा पात्रक बंध और रजस्त्राण का प्रमाण।
 ३९७३-३९७६ काल विभाग के तीन प्रकार। ग्रीष्म, शिशिर और वर्षाऋतु के आश्रित पटलों की उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य के आधार पर उनकी संख्या एवं उनका माप। इसी प्रकार काल विभाग के आधार पर तीन प्रकार के पटलक। पात्र की संख्या का परिमाण।
 ३९७७-३९७९ रजोहरण का स्वरूप और उसका प्रमाण।
 ३९८०-३९८३ संस्तारक, उत्तरपट्ट, चोलपट्टक, ऊन की निषद्या, सूत की निषद्या, मुखवस्त्रिका, गोच्छक, पात्रप्रत्युपेक्षणिका और पात्रस्थापनक के प्रमाण का निरूपण।
 ३९८४, ३९८५ स्थविरकल्पी मुनि के लिए तीन वस्त्र ग्रहणीय। शीत आदि सहन करने में असमर्थ होने पर सात वस्त्र ग्रहणीय की आज्ञा।
 ३९८६, ३९८७ भिक्षु किस प्रकार वस्त्रों को धारण करे? उनका लक्षण।
 ३९८८, ३९८९ गणचितक द्वारा प्रमाणातिरिक्त उपधि रखने का कारण।
 ३९९० उपधि की अधिकता अथवा हीनता से लगने वाले दोष।
 ३९९१, ३९९२ वस्त्र परिकर्म की सकारण-निष्कारण पद के साथ चतुर्भंगी। कारण में विधिपूर्वक परिकर्म की शुद्ध, शेष तीनों में प्रायश्चित्त।
 ३९९३-३९९६ विभूषा निमित्त उपधि का प्रक्षालन करने वाला प्रायश्चित्त का अधिकारी और प्रक्षालन के कारणों का निरूपण।

गाथा संख्या विषय

- ३९९७, ३९९८ मूर्च्छापूर्वक महामूल्य, अल्पमूल्य वस्त्रों का उपयोग नहीं करने वाला प्रायश्चित्त का भागी।
- ३९९९, ४००० पात्र विषयक विवेचन।
- ४००१-४००४ प्रमाणातिरिक्त पात्र को धारण करने अथवा अप्रमाणयुक्त पात्र को धारण करने पर लगने वाले दोष और प्रायश्चित्त।
- ४००५-४०११ हीन प्रमाण वाले तथा ऊन अर्थात् अभरित पात्र से लगने वाले दोष और प्रायश्चित्त विधि।
- ४०१२ खरड़े भाजन को धोने तथा न धोने से दोष।
- ४०१३ पात्र प्रमाण का विवेचन।
- ४०१४, ४०१५ उत्कृष्ट पात्र का उपयोग कब ?
- ४०१६, ४०१७ अज्ञानवश हीनाधिक प्रमाण वाला पात्र धारण करने पर प्रायश्चित्त तथा प्रमाणयुक्त असंप्राप्ति में रखने का अपवाद।
- ४०१८, ४०१९ ऋद्धिगौरव क्या है? शिष्य की शंका आचार्य द्वारा उसका समाधान।
- ४०२०-४०२५ महत्तर भाजन ग्रहण करने का कारण। पात्र के लक्षण-अलक्षण तथा उसके लाभ और हानि।
- ४०२६ अपलक्षणयुक्त पात्रों को धारण करने पर प्रायश्चित्त का विधान।
- ४०२७, ४०२८ पात्र के तीन प्रकार। प्रत्येक के तीन अवान्तर प्रकार। उनके ग्रहण के विपर्यास में प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष।
- ४०२९ पात्र को लाने वाला कौन? आचार्य का उत्तर। पात्र को लाने की उत्सर्ग-अपवाद विधि।
- ४०३० पात्र का गवेषी कौन ?
- ४०३१-४०३३ पात्र प्राप्ति की गवेषणा का कालमान। तथा उसके विविध प्रकारों की ग्रहणविधि।
- ४०३४-४०३६ पात्र मिलने के स्थान तथा वहां से ग्रहण करने की विधि।
- ४०३७-४०४२ किन-किन से भावित पात्र कल्पनीय-अकल्पनीय और कल्पनीय की ग्रहण विधि।
- ४०४३-४०५० पात्रग्रहण संबंधी जघन्य यतना। तत्संबंधी गुरुलघु प्रायश्चित्त। कारण-अकारण में यतना का स्वरूप और अल्पपरिकर्म और सपरिकर्म की कल्प्याकल्प्यविधि।
- ४०५१, ४०५२ असत् के प्रकार। उनकी व्याख्या। असत् में कौन से यथाकृत पात्रों की कल्पनीयता। तद्विषयक प्रायश्चित्त का निरूपण। गुण-अगुण की परिभाषा।

गाथा संख्या विषय

- ४०५३-४०५८ प्रमाणयुक्त पात्र के न मिलने पर उपयोगपूर्वक पात्र का छेदन तथा अल्पपरिकर्म तथा सपरिकर्म पात्र का ग्रहण।
- ४०५९, ४०६० अल्पपरिकर्म तथा सपरिकर्म पात्र के मुख का प्रमाण तथा उसके तीन प्रकार।
- ४०६१-४०६३ मुनि को मात्रक ग्रहण करने की अनुज्ञा है या नहीं? शिष्य की जिज्ञासा। आचार्य का समाधान।
- ४०६४ मात्रक अग्रहण के दोष। तद्विषयक द्वार गाथा।
- ४०६५, ४०६६ मात्रक को ग्रहण न करने पर प्रायश्चित्त विधि तथा लगने वाले दोष। 'वारत्तग' का दृष्टांत।
- ४०६७-४०६९ मात्रक का प्रमाण तथा उसकी उपयोगिता।
- ४०७०-४०७२ प्रमाण से छोटे और बड़े मात्रक रखने से होने वाले दोष।
- ४०७३-४०७५ हीनाधिक मात्रक में भक्तपान लाने से प्राप्त होने वाला प्रायश्चित्त। मात्रक में परिभोग के अधिकारी।
- ४०७६, ४०७७ मात्रक के लेप की विधि।
- सूत्र १०**
- ४०७८, ४०७९ निर्गन्थ-निर्गन्थियों के भिन्न-भिन्न उपधि की विवेचना।
- ४०८०-४०८३ आर्यिकाओं की ओघ उपधि के पचीस प्रकार।
- ४०८४-४०९१ निर्गन्थियों के शरीर को ढांकने में काम आने वाली ग्यारह प्रकार की ओघ-उपधियों का उपयोग, प्रमाण और उनका स्वरूप।
- ४०९२ उपधि का संक्षेप में दो प्रकार-संघातिम और असंघातिम।
- ४०९३-४०९९ जिनकल्पिक, स्थविरकल्पिक साधु तथा आर्यिकाओं की उपधि का जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट विभाग।

उग्गहवत्थ-पदं

सूत्र ११

- ४१००-४१०४ निर्गन्थ को अवग्रहान्तक और अवग्रह पट्ट को धारण करने पर आने वाला प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष। अपवाद स्वरूप रखने की आज्ञा और उनकी संख्या।

सूत्र १२

- ४१०५-४११० साध्वियों को अवग्रहान्तक और पट्टक धारण न करने पर प्रायश्चित्त। उनका उपयोग न करने पर

गाथा संख्या विषय

- लोक उपहास तथा उनसे लगने वाले दोष और अपवाद।
- ४१११-४१२८ पचपन वर्षों से ऊपर वृद्धा साध्वी को अवग्रहान्तक धारण न करने की छूट। भिक्षा निर्गमन के दो प्रकार। दोनों का स्वरूप तथा उनसे होने वाले गुण-दोष। गुण दोष के विषय में योद्धा, मुरुण्ड राजा का हाथी, नर्तकी, नटिनी और केले के तने का उदाहरण।
- ४१२९-४१३३ धर्षित आर्या के परिपालन की विधि तथा उसकी अवर्णवाद-अवहेलना करने वाले को प्रायश्चित्त आदि।
- ४१३४-४१३७ प्रसूता साध्वी के दो प्रकार। उनके परिपालन की विधि तथा अवज्ञा न करने का निषेध। कुकर्म के विषय में केशि और सत्यकी का उदाहरण।
- ४१३८, ४१३९ पांच स्थानों से स्त्री पुरुष के साथ असंवास करती हुई भी गर्भ धारण कर सकती है। उन पांच स्थानों का स्वरूप।
- ४१४०, ४१४१ आर्यिका की गर्भ स्थिति में आचार्य द्वारा श्रावकों के घर स्थापित करने की विधि तथा श्रावकों का दायित्व।
- ४१४२-४१४५ प्रतिसेवना आदि का अनुमोदन करने पर क्रमशः प्रायश्चित्त वृद्धि तथा अपत्य के स्तनपान से विरत न होने तक तपोर्ह प्रायश्चित्त नहीं।
- ४१४६, ४१४७ प्रतिसेवना करने वाली आर्या की खिसना करने वाले मुनि और साध्वी को प्रायश्चित्त तथा प्रतिसेवना की आलोचना कर प्रतिनिवृत्त होने वाली आर्यिका की खिसना करने पर भी प्रायश्चित्त।

वत्थग्रहण-पद

सूत्र १३

- ४१४८ निर्ग्रन्थी के संचेल होने की नियमा। उसके बिना संयम की च्युति। अतः वस्त्रग्रहण की विधि का निर्देश।
- ४१४९, ४१५० स्वयं आर्या के वस्त्रग्रहण करने का प्रतिषेध और साधुओं द्वारा आर्यिकाओं के वस्त्र लेने की अनुज्ञा।
- ४१५१ कारण में स्वयं आर्यिका को किसी की निश्रा में वस्त्र ग्रहण करने की अनुज्ञा। निश्रा की व्याख्या।
- ४१५२ निश्रा के विषय में आचार्य द्वारा प्रवर्तिनी को न

गाथा संख्या विषय

- बताने पर, प्रवर्तिनी द्वारा भिक्षुणियों को और भिक्षुणियों द्वारा उसे स्वीकार न करने पर प्रायश्चित्त के भिन्न-भिन्न प्रकार।
- ४१५३-४१५८ पुरुष अथवा स्त्री द्वारा आर्याओं को वस्त्र देने और स्वयं वस्त्र लेने पर लगने वाले दोष।
- ४१५९ सूत्र की सार्थकता कैसे ?
- ४१६०-४१६३ आर्यिकाओं द्वारा वस्त्र का प्रमाण और वर्ण का अवलोकन कर आचार्य और गणिनी को निवेदन। उनके ऐसा न करने पर प्रायश्चित्त। स्वनिश्रा से भी स्वयं वस्त्र ग्रहण करने पर प्रायश्चित्त।
- ४१६४-४१७१ आचार्य द्वारा आर्याओं को उपधि देने से पूर्व उसके संस्कार करने तथा देने की विधि।
- ४१७२-४१८२ भद्रक और अभद्रक श्रावकों के पास से वस्त्र लेने की विधि। आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, गणी, गणधर तथा गणावच्छेदी के एक-एक के अभाव में अपर की निश्रा में वस्त्रग्रहण की विधि।
- ४१८३ अपवाद की स्थिति में अकेली आर्या को गृहस्थ की निश्रा में रहने की कल्पनीयता। घर की निर्दोषता का स्वरूप।
- ४१८४-४१८७ अकेली साध्वी को शय्यातर की निश्रा में वस्त्र ग्रहण की विधि।
- ४१८८ मैथुन सेवन के लिए वस्त्र दाता के लक्षण।
- सूत्र १४**
- ४१८९ श्रमणों अथवा मुमुक्षुओं के लिए वस्त्र ग्रहण का कथन।
- ४१९०, ४१९१ द्रव्यतः प्रव्रजित की चतुर्भंगी। द्रव्य निर्ग्रन्थ और भाव निर्ग्रन्थ का स्वरूप।
- ४१९२ संवास के चार प्रकार। चतुष्टय के आधार पर षोडशभंगी का निरूपण।
- ४१९३, ४१९४ 'अहवण' का तात्पर्य और उसके अन्तर्भूत होने वाले सोलह भंगों का चार भंगों में निरूपण। मनुष्यणी के साथ संवास करने वाले यक्ष का दृष्टान्त।
- ४१९५ रजोहरण, गोच्छग और प्रतिग्रह का क्रमशः विमध्य, जघन्य, उत्कृष्ट उपधि के रूप में निरूपण।
- ४१९६ कृत्स्न वस्त्र के ग्रहण का तात्पर्य।
- ४१९७-४१९९ प्रव्रजित होने वाला मुमुक्षु का धर्मसंघ के प्रति कर्तव्य। असामर्थ्य की स्थिति में यथाक्रम हानि करते हुए शिष्य को गुरु द्वारा सब कुछ देय।

विषयानुक्रम

गाथा संख्या विषय

- ४२००, ४२०१ निर्दिष्ट-अनिर्दिष्ट के आधार पर क्रीतकृत के प्रकार।
- ४२०२-४२१० विशोधिकोटी विषयक अथवा अविशोधिकोटी विषयक क्रीतकृत का स्वरूप। तद्विषयक आचार्यों के मत-मतान्तर। उससे संबंधित सहस्रानुपातिविषय और मेरु महीधर का दृष्टान्त।
- ४२११ उद्गमकोटी के भेद तथा विशोधिकोटी के भेद के आधार पर प्रत्येकभंग और मिश्रभंगक का निरूपण।
- ४२१२-४२१७ रजोहरण आदि उपकरण खरीदने योग्य कुत्रिकापण। उसके स्वरूप का वर्णन। क्रायक और ग्राहक के आधार पर वस्तु के मूल्य का निर्धारण।
- ४२१८ कुत्रिकापण की उत्पत्ति कैसे? उनका वर्णन।
- ४२१९-४२२३ प्राचीन काल में किन-किन नगरों में कुत्रिकापण की सुविधा?
- ४२२४-४२२८ प्रव्रज्या ग्रहण करने वाले मुमुक्षु के लिए सात नियोगों का निर्देश। उनको आचार्य आदि को देने की व्यवस्था कब और कैसे?
- ४२२९-४२३२ एक बार दीक्षा लेकर गृहवास में जाने पर पुनः प्रव्रज्या में अभ्युत्थान की सिद्धि कैसे? शिष्य की जिज्ञासा। इस प्रसंग में वीरणसद्वक का दृष्टान्त। अभ्युत्थान के दो प्रकार तथा उनका स्वरूप।

सूत्र १५

- ४२३३, ४२३४ प्रव्रज्या ग्रहण करने वाली निर्ग्रन्थी के लिए नियोग ग्रहण की संख्या तथा उनको कब और कैसे आचार्य आदि को देने की व्यवस्था।

सूत्र १६, १७

- ४२३५, ४२३६ प्रथम समवसरण काल (वर्षाकाल) में वस्त्र ग्रहण की अकल्पनीयता तथा दूसरे वर्षाकाल में कल्पनीयता। सोपधिकशैक्षलक्षण द्रव्य कब, कहां ग्राह्य और अग्राह्य?
- ४२३७-४२४१ शिष्य की जिज्ञासा-उद्देश कृत वस्त्र की अकल्पनीयता में क्या आधाकर्म आदि पन्द्रह उद्गम दोष वस्त्र का ग्रहण कल्पनीय हो सकता है? आचार्य द्वारा समाधान।
- ४२४२-४२४५ समवसरण के उद्देशों की विधि निक्षेपों के द्वारा व्याख्या।

गाथा संख्या विषय

- ४२४६-४२४८ क्षेत्र और काल से प्राप्त-अप्राप्त की चतुर्भंगी। उसका स्वरूप।
- ४२४९-४२५१ वर्षा ऋतु योग्य कल्प से अधिक उपधि लेने की आज्ञा। उसका कारण और उससे संबंधित कुटुम्बी का दृष्टान्त।
- ४२५२-४२५८ वर्षाऋतु योग्य अधिक उपकरण नहीं रखने से होने वाली संयमविराधना-आत्मविराधना आदि दोष।
- ४२५९-४२६२ वर्षाऋतु योग्य अधिक उपकरण रखने में आपवादिक कारण।
- ४२६३ वर्षा ऋतु के योग्य उपकरण।
- ४२६४-४२६६ प्रथम समवसरण में वर्षाऋतु योग्य उपकरण लिए जा सकते हैं या नहीं? शिष्य की शंका। यदि लिए जा सकते हैं तो उनका क्रम तथा तद्विषयक उत्सर्ग-अपवाद मार्ग की विधि।
- ४२६७-४२७१ वर्षा ऋतु में आने वाले व्याघात तथा तन्निमित्तक उपकरणों की गवेषणा करने के स्थानों का क्रमशः विवेचन।
- ४२७२-४२७६ कारणवश वर्षा क्षेत्र से बाहर जाने और वस्त्रादि ग्रहण करने में गुणवृद्धि। वर्षा काल में जाने की दूरी का प्रमाण तथा कारण वश वस्त्रग्रहण करने के १६ दोष। प्रथम समवसरण में उन दोषों की वर्जना नहीं।
- ४२७७-४२७९ दर्पवश प्रथम समवसरण में गृहीत पात्र-वस्त्र परिष्ठापनीय तथा प्रायश्चित्त।
- ४२८०-४२८४ किस काल में, किस विधि से तथा कितने मास पर्यन्त चौमासे में रहना चाहिए, उसका निरूपण तथा उसके कारण।
- ४२८५ वर्षावास के तीन प्रकार।
- ४२८६ ज्येष्ठावग्रह-उत्कृष्ट वर्षावास का कालमान।
- ४२८७ चातुर्मास के बाद विहार के काल का निर्धारण अन्यथा प्रायश्चित्त।
- ४२८८-४२९० वर्षावास क्षेत्र को छोड़कर श्रमण श्रमणियों के अन्य ग्राम, नगरों में वस्त्रादि ग्रहण करने की विधि।
- ४२९१-४२९६ अशिव, दुर्भिक्ष आदि कारणों से चतुर्मास के बाद विहार न होने पर वस्त्रग्रहण का प्रतिषेध। समयावधि में वस्त्रग्रहण का निर्देश।
- ४२९७-४३०० ऋतुबद्धकाल में वस्त्रादि ग्रहण की विधि और

गाथा संख्या विषय

अपवाद आदि। अविधि में अदत्तादि दोष और प्रायश्चित्त।

४३०१-४३०७ अविधि और विधि भेद से पृच्छा के दो प्रकार। वस्त्र गवेषणा के लिए विधि पृच्छा। आपवादिक कारण।

सूत्र १८

४३०८ यथारात्निक वस्त्रों के विभाजन की सार्थकता। अविनय आदि दोषों की निःशेषता।

४३०९-४३१४ एकाचार्य प्रतिबद्ध, साम्भोगिक-असाम्भोगिक तथा अनेकाचार्यप्रतिबद्ध क्षेत्र में निर्ग्रन्थ संघाटक के वस्त्र लाने की विधि। वृषभ मुनियों द्वारा वस्त्रों का यथारात्निकों को क्रम से देने का विधान तथा गुरु के योग्य वस्त्र।

४३१५-४३१८ रत्नाधिक कौन? उनका स्वरूप। किसको कब और कैसे वस्त्र देने का विधान।

४३१९-४३२४ अनेक साधुओं द्वारा आनीत वस्त्र के विभाजन की विधि। वस्त्र लाने वाले निर्ग्रन्थों द्वारा संक्षोभ अथवा कलह करने पर वस्त्रों के विभाग का अलग अलग प्रकार।

४३२५-४३२८ असंतुष्ट साधुओं द्वारा विभाजन की पद्धति मान्य न होने पर उनको समझाने की पद्धति। समझाने पर भी शांत न होने पर उनको मनोनुकूल वस्त्र देकर संबंध विच्छेद का निर्देश। अपनी गलती को स्वीकार करने पर खरंटना और भर्त्सना की पद्धति। पाशे फेंकना आदि शेष विधियों का परामर्श देने वालों को भी प्रायश्चित्त का विधान।

४३२९ वस्त्रों के समविभाग करने का स्वरूप और उनको देने की पद्धति।

४३३०, ४३३१ क्षपक द्वारा लाए गए वस्त्रों के विभाजन की विधि।

४३३२-४३३४ क्षपक द्वारा आनीत तथा उसी के द्वारा दीयमान वस्त्रों को देखकर मुनि द्वारा निषेध किए जाने पर क्षपक द्वारा सचित्त-अचित्त तथा मिश्र ग्रहण की विधि का प्रतिपादन।

४३३५-४३३८ सचित्त ग्रहण का स्वरूप—आचार्य, अभिषेक, भिक्षु, क्षुल्लक और स्थविर—इन पांच निर्ग्रन्थों के पानी, अग्नि, चोर, दुर्भिक्ष आदि में फंस जाने अथवा धिर जाने पर उनमें किसको किस क्रम से बचाया जाए, तद्विषयक विधि।

गाथा संख्या विषय

४३३९-४३४१ प्रवर्तिनी, अभिषेका, स्थविरा, भिक्षुणी और क्षुल्लिका—इन पांच निर्ग्रन्थियों के पानी आदि में फंस जाने पर उनको क्रम से बचाने की विधि।

४३४२-४३४६ बाल, वृद्ध अजंगम भी अनुकंपनीय हैं फिर आचार्य आदि का ही निस्तारण क्यों? शिष्य की जिज्ञासा। आचार्य का समाधान।

४३४७-४३५२ मिश्र ग्रहण का स्वरूप—आचार्य, उपाध्याय आदि निर्ग्रन्थ तथा प्रवर्तिनी उपाध्याया आदि निर्ग्रन्थियों—इन उभय पक्षों के एक साथ पानी आदि उपद्रव में फंसने पर उनको क्रम से पार उतारने की विधि।

४३५३-४३५९ अचित्त ग्रहण के दो प्रकार अभिनव-ग्रहण और पुराण ग्रहण। इनका स्वरूप और इनके नाना भेद।

४३६० यथायोग्य औधिक और औपग्रहिक उपकरणों के परिभोग की तालिका।

४३६१ पूर्व कथनीय को पश्चात् कहने पर प्रायश्चित्त।

४३६२ अहंकारयुक्त वचन कहने का निषेध।

४३६३ मूल के बिना वृक्ष की शोभा नहीं।

४३६४-४३६६ दीक्षा के अयोग्य व्यक्तियों का निरूपण।

सूत्र १९

४३६७ निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को यथारात्निक के क्रम से शय्या और संस्तारक लेने की कल्पनीयता।

४३६८ शय्या-संस्तारक का अर्थ। शय्या-संस्तारक के ग्रहण का काल। अग्रहण में प्रायश्चित्त और आज्ञाभंग आदि दोष।

४३६९ विकाल में वसति ग्रहण के दोष तथा तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त।

४३७०-४३७२ पूर्वाह्न में वसति ग्रहण करें या नहीं? शिष्य का प्रश्न आचार्य द्वारा समाधान।

४३७३, ४३७४ मंडलीबंध में भोजन करने से लगने वाले दोष।

४३७५ विकालवेला में वसति में याचना करने पर तथा वेश्यापाटक आदि जुगुप्सित स्थान में निवास करे तो प्रायश्चित्त।

४३७६, ४३७७ विकालवेला में श्वापद, चोर आदि का भय। स्तेन के दो प्रकार। पृथक्-पृथक् रूप में वसति में रहने की परवशता। उनसे होने वाले दोष।

४३७८, ४३७९ अप्रत्युपेक्षित वसति में रहने से होने वाली विराधना और दोष।

गाथा संख्या	विषय
४३८०	मूत्र, मल तथा वमन आदि का निरोध करने से उत्पन्न होने वाली शारीरिक व्याधियाँ।
४३८१, ४३८२	विवक्षित गांव में वसति की याचना कब, कैसे? और प्रवेश विधि।
४३८३	उपाश्रय नहीं मिलने पर शून्यगृह आदि में रहने का विधान।
४३८४	शून्यगृह आदि में लोगों का आवागमन होने पर आहार करने की विधि, तत्पश्चात् गांव प्रवेश का कथन।
४३८५, ४३८६	रात्री में वसति प्रवेश विधि और गच्छ प्रवेश की विधि।
४३८७	आचार्य के लिए तीन संस्तारक भूमियों का निर्धारण। वसति के तीन प्रकार और उनका स्वरूप।
४३८८	शयनविधि के उल्लंघन में प्रायश्चित्त और अधिकरण आदि दोष।
४३८९	संस्तारक ग्रहण काल में वेंटिका उत्क्षेपण का विधान।
४३९०	वेंटिका उठाने से होने वाले लाभ।
४३९१	संस्तारकग्रहण काल में माया करने के दोष और प्रायश्चित्त।
४३९२-४३९५	मायाकरण के प्रकार और प्रायश्चित्त।
४३९६	धर्मकथा करने से होने वाले गुण।
४३९७	मायावी निद्रालु का लक्षण और उसे प्रायश्चित्त।
४३९८, ४३९९	रत्नाधिक मुनियों का संस्तारक ग्रहण करने का क्रम।
४४००	इच्छापूर्वक अभिग्रह ही अनुमत।
४४०१	अपावृत मुनि पर अनुग्रह क्यों?
४४०२, ४४०३	क्षुल्लक को उचित स्थान में सुलाने का कारण।
४४०४	वैयावृत्यकर और शैक्ष को किसके पास रखा जाए?
४४०५-४४०९	किस मुनि को किस वसति में सोना चाहिए तथा परस्पर शयनभूमि के आदान-प्रदान की विधि।
४४१०	कलहशील दो मुनियों को एक साथ रखने का निषेध।
४४११-४४१३	समागत प्राघूर्णक को यथायोग्य संस्तारकभूमि देने की विधि। 'रंगभूमी में ऋद्धिमान् पुरुषों' का उदाहरण।

गाथा संख्या विषय

सूत्र २०

४४१४	मुनि के लिए वाचिक कृतिकर्म और वंदन करने का विधान।
४४१५	कृतिकर्म के प्रकार।
४४१६-४४२०	निर्ग्रथ-निर्ग्रथियों को पार्श्वस्थ, अन्यतीर्थिक, गृहस्थ, यथाच्छंद, अन्यतीर्थिनी और संयतीवर्ग को अभ्युत्थान करने से आने वाला प्रायश्चित्त और संभावनीय दोषों का वर्णन।
४४२१-४४२६	प्राघूर्णक, आचार्य, अभिषेक, भिक्षु और क्षुल्लक के आने पर अभ्युत्थान न करने पर प्रायश्चित्त विधि।
४४२७	भिन्नमास आदि द्वितीय आदेश का प्रवर्तन क्यों? उसका समाधान।
४४२८, ४४२९	बाल साधु को गुरुतम प्रायश्चित्त क्यों? उसका समाधान।
४४३०-४४३६	प्राघूर्णक और आचार्य के प्रति अभ्युत्थान नहीं करने पर होने वाली हानि। इस विषय में दास राजा का दृष्टांत और उसका प्रशस्त-अप्रशस्त उपनय।
४४३७	स्वगच्छ के आचार्य का देखकर अनेक कार्यों में व्यापृत साधुओं द्वारा अभ्युत्थान नहीं करने पर प्रायश्चित्त।
४४३८	शिष्यों द्वारा आचार्य का अभ्युत्थान करने की विधि।
४४३९-४४४२	अभ्युत्थान करने से विनय, आदि अनेक लाभों की चर्चा।
४४४३-४४४६	चंद्रमण करते हुए, प्रस्रवण भूमी और संज्ञाभूमी से आने पर साध्वियों, श्रावकों, असंज्ञियों, संज्ञिनी स्त्रियों, राजा, अमात्य तथा संघ आदि के साथ आने पर आचार्य का अभ्युत्थान नहीं करने पर भिन्न-भिन्न प्रायश्चित्त और उनका कारण।
४४४७	चंद्रमण करते हुए आचार्य का अभ्युत्थान क्यों? शिष्य का प्रश्न।
४४४८	जीव का स्पन्दन निष्कारण नहीं तो चंद्रमण क्यों?
४४४९	योग संग्रह के प्रकार। उपयुक्त योग गुणकारी।
४४५०	समितियों और गुप्तियों में स्थित मुनि सचेष्ट और अगुप्तजनक प्रमाद का निरोध करता है।

गाथा संख्या	विषय	गाथा संख्या	विषय
४४५१-४४५४	जो समित है वह नियमतः गुप्त कैसे? इसका समाधान।		उसका प्राचीन स्वरूप। वर्तमान में वंदना की विधि।
४४५५	हाथ आदि की चेष्टाएं भी ईर्यासमिति के अंतर्गत।	४४९८, ४४९९	मौलिक वन्दन विधि को बदलने का कारण, शिष्य की शंका। आचार्य का समाधान।
४४५६	चंक्रमण के लाभ।		
४४५७	अभ्युत्थान करना विकल्पनीय कब?	४५००-४५०२	आचार्य से पर्याय ज्येष्ठ होने पर आचार्य को वन्दन करना या नहीं? उसकी विधि तथा आचार्य से रत्नाधिकों का स्वरूप।
४४५८	चंक्रमण करते हुए आचार्य का अभ्युत्थान आवश्यक। 'भद्रक भोजिक' का दृष्टान्त।		
४४५९	वृषभ मुनियों द्वारा अभ्युत्थान न करने वाले शिष्यों की सारणा नहीं करने पर प्रायश्चित्त। गच्छ में प्रतीच्छक मुनियों के दो प्रकार।	४५०३-४५०५	कृतिकर्म किसे करना चाहिए, किसे नहीं? उसका स्वरूप। श्रेणीस्थित को वन्दन करने की विधि।
४४६०	गच्छ में रहने वाले प्रतीच्छक पंजरभग्न शिष्यों का चिंतन।	४५०६	निश्चयनय के अनुसार चारित्र अध्यवसाय किस समय कौनसा? आचार्य द्वारा समाधान। व्यवहार का स्वीकरण।
४४६१	उद्यतचरण वाले मुनियों का चिंतन तथा पंजरभग्न मुनियों के प्रति उदासीनता।	४५०७	अर्हत्-केवली छद्मस्थ मुनि को क्यों और कब तक वन्दन करते हैं? आचार्य द्वारा उसका समाधान।
४४६२	पार्श्वस्थ आदि को छोड़कर आए हुए श्रमण को देखकर अन्य साधुओं में श्रद्धा का भाव वृद्धिगत।	४५०८	वह केवली है, यह कैसे जाना जाता है? उसका उत्तर।
४४६३	मर्यादा की हानि देखकर संयमाभिमुख श्रमण के दूसरे गच्छ में जाने से होने वाली हानि।	४५०९, ४५१०	संयमश्रेणी के प्रकार और जीव प्ररूपणा के दस प्रतिद्वार।
४४६४	कौन सा गच्छ तजनीय?	४५११	अविभाग परिच्छेद का स्वरूप।
४४६५, ४४६६	आचार्य आदि का अभ्युत्थान न करने वाले के प्रकारान्तर से प्रायश्चित्त।	४५१२	चारित्र के प्रदेश कितने? उसका समाधान।
४४६७	दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिकादि आवश्यक में आचार्यादि को वंदना न देने पर भिन्न-भिन्न प्रायश्चित्तों का विधान।	४५१३, ४५१४	जीव किस भव में कब और कैसे सिद्ध होता है? उसका उत्तर।
४४६८	आचार्य, वृषभ, भिक्षु और क्षुल्लक के काल और तप से होने वाला विशेषित प्रायश्चित्त का विधान।	४५१५	कृतिकर्म किसका आवश्यक? बाह्यश्रेणी के चार भेद।
४४६९	दैवसिक और रात्रिक में चौदह वंदनक देने की विधि। न देने पर प्रायश्चित्त। आवश्यक बोलते समय विपरीत उच्चारण करने अथवा कम या अधिक पदापद बोलने पर प्रायश्चित्त।	४५१६-४५१९	शिष्य की जिज्ञासा-रजोहरण आदि से मुक्त मुनि संयमश्रेणी से निर्गत होता है, पर प्रकट लिंग मुनि संयमश्रेणी से कैसे निर्गत माना जा सकता है। आचार्य द्वारा शर्करा घटों का दृष्टान्त और उनका उपनय।
४४७०	वंदनक विषयक पचीस आवश्यक न करने पर प्रत्येक का मासलघु।	४५२०	संयम से भ्रष्ट होने के विविध कारण।
४४७१-४४९५	वंदनक विषयक अनादृत, स्तब्ध प्रवृद्ध परिपिंडित आदि बतीस दोष। उनका स्वरूप तथा उनसे होने वाला प्रायश्चित्त।	४५२१-४५२३	मूल गुण का प्रतिसेवी और उत्तरगुण का प्रतिसेवी किस प्रकार कब भ्रष्ट होता है, उसको समझाने के लिए संकर-कचरे, सर्षपशकट, सर्षपमंडप, तैल भावित वस्त्र और मरुक-ब्राह्मण का दृष्टान्त।
४४९६	आचार्य आदि का कृतिकर्म करने की विधि। अविधि में प्रायश्चित्त।	४५२४	कृतिकर्म के वर्ज्य कौन?
४४९७	प्रतिक्रमण पूरा होने पर पश्चात् वन्दनविधि।	४५२५	पुलाक की भांति पूज्य कौन?
		४५२६	दोष को प्राप्त नहीं होने के कारण?
		४५२७	किस मुनि की संयम कारक अत्यन्त दोषकारक नहीं मानी जाती?

गाथा संख्या विषय

- ४५२८-४५३० संयत असंयत में भेदरेखा। धनिक का दृष्टान्त।
 ४५३१ संसार सागर में गिरने वाला और पार होने वाला कौन? दृष्टान्तपूर्वक विवेचना।
 ४५३२ वन्दन कार्य और कार्यकार्य की विवेचना तथा इन दोनों में भजनीय कौन?
 ४५३३ कृतिकर्म, कुलकार्य से बाह्य कौन?
 ४५३४ गच्छ में नियमतः कार्य करने वाले चार प्रकार के मुनियों की विकल्पनीयता।
 ४५३५-४५४० वन्दना किसको, किसको नहीं। वन्दना करने के आपवादिक कारण। कारण में वंदन न करने पर 'अजापालक वाचक' के शिष्यों की भांति दोष-भागिता।
 ४५४१ पार्श्वस्थ आदि के प्रति दोनों प्रकार का कृतिकर्म का प्रतिषेध। आपवादिक स्थिति में अनुज्ञा।
 ४५४२, ४५४३ पार्श्वस्थ आदि की गवेषणा करने के कारण तथा गवेषणीय स्थान।
 ४५४४, ४५४५ संयमधुरा को छोड़ने वालों के प्रति वन्दन व्यवहार के विविध प्रकार।
 ४५४६ पार्श्वस्थ आदि का कृतिकर्म परिहार्य क्यों?
 ४५४७ अकार्य करने वालों को दंड।
 ४५४८ पार्श्वस्थ आदि का अपाय देखकर उसकी वर्जना के उपाय।
 ४५४९ पार्श्वस्थों को यथायोग्य वाङ्मनस्कार नहीं करने पर होने वाले दोष।
 ४५५०-४५५३ पार्श्वस्थों के परिवार आदि में ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य को देखकर, जानकर कृतिकर्म करने का विधान।

अंतरगृह-पदं

सूत्र २१, २२

- ४५५४ रत्नाधिक के लिए दो गृहों के अंतराल में रहने की कल्पनीयता।
 ४५५५, ४५५६ गृहान्तर के प्रकार और व्याख्या। मुनि के लिए दोनों गृहान्तरों में गोचरी जाने का निषेध। वहां रहने से लगने वाले दोष और प्रायश्चित्त।
 ४५५७ गृहान्तर में बैठने और ठहरने की अनुज्ञा क्यों नहीं?
 ४५५८ गृहान्तरों में स्थविर आदि के बैठने की अनुज्ञा।
 ४५५९-४५६५ औषध, संखड़ी, संघाटक, वर्षा, प्रत्यनीक आदि कारणों से गृहान्तर में बैठने, खड़े होने तथा ठहरने का विधान और उससे संबंधित यतनाएं।

गाथा संख्या विषय

सूत्र २३

- ४५६६ अन्तरगृह में गाथोपदेश करने की वर्जना।
 ४५६७-४५७५ भिक्षा के लिए निर्गत मुनि को गृहस्थ के घर में संहिताकर्षण आदि क्यों नहीं करना चाहिए? तद्विषयक लगने वाले दोषों का वर्णन, प्रायश्चित्त और अन्तर गृह में बैठने के दोष।
 ४५७६-४५८६ विवक्षित अर्थ का समर्थक दृष्टान्त-उदक का दृष्टान्त तथा व्याकरण का अर्थ। खड़े खड़े अथवा भिक्षा के लिए घूमते-घूमते धर्म कथन करना वर्जित।
 ४५८७-४५८९ चलते हुए मुनि को धर्म कथन का वर्जन। श्रमण को कैसी कथा करनी चाहिए, कैसी नहीं करनी चाहिए, उसका निर्देश।
 ४५९०-४५९७ जिनवचन की महिमा। धर्मकथा का अन्तरगृह में वर्णन करने पर लगने वाले दोष और प्रायश्चित्त।

सेज्जा संधारय-पदं

सूत्र २५

- ४५९८ प्रतिश्रय के मध्य संस्तारक-निक्षेपण की अकल्पनीयता।
 ४५९९-४६०३ शय्या अथवा संस्तारक के दो प्रकार। उनको बिना संभलाए विहार करने पर प्रायश्चित्त और आज्ञाभंग आदि दोष।
 ४६०४ अनेक मुनियों द्वारा भिन्न घरों से संस्तारक लाने पर प्रत्यर्पण काल में उसी घर में भुलाने की विधि। अन्यथा माया दोष।
 ४६०५ संस्तारक के एक-अनेक पदों से आठ प्रकार की भजना।
 ४६०६ संस्तारक के आनयन और प्रत्यर्पण की भजना का रूप।
 ४६०७-४६०९ विशेष स्थिति में संस्तारक मालिक को न देने पर अथवा अन्य किसी गृहस्वामी को देने का अपवाद।

सूत्र २६

- ४६१० संस्तारक के दो प्रकार।
 ४६११-४६१४ सागारिकसत्क संस्तारक को प्रस्थान करते समय बिखेरने की विधि। अन्यथा प्रायश्चित्त और दोष। उत्सर्ग और अपवादविधि।

गाथा संख्या विषय

सूत्र २७

- ४६१५ संस्तारक के गुम होने अथवा किसी के ले जाने पर अप्रमाद के लिए गवेषणा समाचारी का निर्देश।
- ४६१६-४६१९ संस्तारक कोई ले न जाए, अतः वसति को सर्वथा शून्य न करने का निर्देश। वैसा करने पर तद्विषयक प्रायश्चित्त। वसतिपाल के रूप में बाल, ग्लान या अव्यक्त मुनि को स्थापित करने पर प्रायश्चित्त।
- ४६२०, ४६२१ वसति को सुरक्षित करने पर संस्तारक का विनाश ही नहीं होगा और वसतिपाल स्थापनीय से प्रस्तुत सूत्र की सार्थकता कैसे रहेगी? शंका और उसका समाधान।
- ४६२२-४६२४ मुनि की निश्रा में संस्तारक को किसी के ले जाने पर समझाने के लिए धर्मकथा आदि करने की विधि। द्रमक को भय दिखाने का निर्देश।
- ४६२५ चोरी करना इहलोक और परलोक के लिए अहितकारी।
- ४६२६, ४६२७ पिता, पुत्र आदि द्वारा संस्तारक लिए जाने पर उनके अभिभावकों से कहे। न माने तो महत्तर को कहने का विधान।
- ४६२८ संस्तारक ग्रहण करने के लिए पहले भोजिक को, फिर आरक्षक को, अंत में राजा तक पहुंचाने का निर्देश।
- ४६२९ राजा को शिकायत अंत में क्यों?
- ४६३०, ४६३१ दृष्ट संस्तारक को अर्पित करने की विधि।
- ४६३२ अदृष्ट संस्तारक की गवेषणा विधि।
- ४६३३ संस्तारक के चोर को पकड़ने के लिए आभोगिनी विद्या आदि के प्रयोग का निर्देश।
- ४६३४-४६३६ भोजिक आदि के द्वारा गवेषणा न करने पर स्वयं साधु द्वारा व्यक्ति को डराने का निर्देश।
- ४६३७-४६३९ संस्तारक को प्राप्त करने की विधियां। सचित्त पृथ्वीकाय आदि पर निक्षिप्त संस्तारक को ग्रहण कर मूल स्वामी को देने की विधि। न मिलने पर दूसरी बार अवग्रह की अनुज्ञापना।
- ४६४०-४६४८ संस्तारक आदि नष्ट या अपहृत हो जाने पर स्वामी यदि उसकी मांग पर अड़ा रहे तो उसको समझाने अथवा अन्य प्रान्त उपकरण देकर

गाथा संख्या विषय

उसको संतुष्ट करने का उपक्रम।

- ४६४९ मुनि के लिए संस्तारक गवेषणा नहीं करने के आपवादिक कारण।

ओग्गह-पदं

सूत्र २८

- ४६५० साधुओं के विहरण करने के पश्चात् पूर्व क्षेत्र कितने समय तक अवग्रहयुक्त रहता है, उसकी प्ररूपणा।
- ४६५१ शैक्षविषयक अवग्रह की उत्पत्ति की संभावना।
- ४६५२ अवग्रह का चिंतन कब?
- ४६५३ क्षेत्रावग्रह के कालप्रमाण की अवधि। भिन्न-भिन्न आचार्य की मान्यता। आचार्य द्वारा विधि का कथन।
- ४६५४ अवग्रह और प्रव्रजित पुरुष के प्रकार।
- ४६५५ शैक्ष के दो प्रकार। जानने वाले शैक्ष के चार प्रकार।
- ४६५६, ४६५७ वास्तव्य शैक्ष के पांच प्रकार तथा उनका स्वरूप।
- ४६५८ आगन्तुक शैक्ष के भी क्रमशः प्रकार।
- ४६५९-४६६२ वास्तव्य और वाताहत शिष्य का द्वार गाथाओं से वर्णन।
- ४६६३-४६७२ रूपज्ञ, शब्दज्ञ, उभयज्ञ और यशःकीर्तिज्ञ वास्तव्य तथा वाताहत शैक्षविषयक चार नवक-नवभंगी तथा तद्विषयक अवग्रह का स्वरूप।
- ४६७३-४६७६ पूर्व परिचित साधुओं के विहरण के पश्चात् दीक्षा लेने का इच्छुक शैक्ष यदि उन्हीं के पास प्रव्रज्या-ग्रहण करना चाहता है तो आगन्तुक श्रमणों का उसको प्रतिबोध।
- ४६७७-४६७९ ज्ञापित और इतर वाताहत और क्षेत्रिकों की यशःकीर्ति को नहीं जानने वाले वास्तव्य शैक्ष के चार नवक। आगन्तुक आचार्य द्वारा उनको क्षेत्रिक आचार्य के पास प्रेषित करने की विधि। न भेजने पर प्रायश्चित्त।
- ४६८०-४६८२ स्वग्रामविषयक और परग्रामविषयक पुरुष के छह-छह प्रकार। मुण्डित पुरुष और स्त्री, ज्ञायक और ज्ञापित तथा शिखा वाले शैक्ष के चार द्वादशक।
- ४६८३ अव्याहत, यावज्जीव और पराजित-तीनों शैक्षों के स्वग्राम-परग्राम विषयक बारह प्रकार।
- ४६८४ ऋजु-अऋजु आचार्य का लक्षण।

गाथा संख्या विषय

- ४६८५-४६८७ आभाव्य-अनाभाव्य का विभाग।
 ४६८८ सचित्त-अचित्त का विभाग। अचित्त के दो प्रकार।
 सोपधिक शैक्ष कौन होता है ?
 ४६८९, ४६९० अचित्त विषयक विधि का प्रतिपादन।
 ४६९१-४६९९ एक अथवा अनेक आचार्यों को उद्दिष्ट कर आने
 वाले शैक्षविषयक आभाव्य-अनाभाव्य का
 विभाग।
 ४७००-४७०९ अपनी इच्छा से अभाव्य, उपशान्तक का
 आभाव्य आदि आभाव्य के नाना रूप। द्यक्षर
 खरदृष्टान्त का दृष्टान्त।
 ४७१० ग्लान की सेवा में संलग्न मुनि यदि प्रव्रजित शैक्ष
 की सार-संभाल न कर पाए तो दीक्षा का
 प्रतिषेध। दीक्षा देने पर प्रायश्चित्त। मुंडित-
 अमुंडित शैक्ष के प्रकार।
 ४७११ शैक्ष की वैयावृत्य न करने पर प्रायश्चित्त।
 ४७१२ प्रव्रजित शैक्ष को दूसरे के पास भेजने के छह
 प्रकार।
 ४७१३, ४७१४ जिनके पास शैक्ष भेजा गया है वे यदि उसे
 स्वीकार नहीं करते हैं तो उनको प्रायश्चित्त।
 ४७१५, ४७१६ मुंडित अथवा अमुंडित शैक्ष कब आभाव्य नहीं
 होता, उसका वर्णन।
 ४७१७ दीक्षा संकेत देने के बाद जब तक दीक्षित न करे
 तब तक शैक्ष द्वारा कृत हिंसा की अनुमोदना साधु
 को।
 ४७१८-४७३८ शैक्षविषयक अनेक प्रकार के संकेत। संकेत किए
 हुए शैक्षविषयक आभाव्य-अनाभाव्य की विधि।
 शिष्य के विपरिणामन का स्वरूप। ज्ञान-दर्शन-
 चारित्र्यविषयक गर्हा का तथा मन-वचन-काया-
 विषयक गर्हा का स्वरूप।
 ४७३९ कल्पविधि के अतिरिक्त अन्य कल्पविधि का
 आचारण करने पर होने वाले परिणाम।
सूत्र २९
 ४७४० अस्वाधीन साधर्मिक के अवग्रह का प्रतिपादन।
 ४७४१ किंचिद् शब्द से ग्राह्य आहार और उपधि के दो-
 दो प्रकार।
 ४७४२ मुनियों के लिए अनुपभोज्य भक्तपान और उपधि।
 ४७४३ लन्द शब्द का अर्थ। प्रतिश्रय में रहते हुए अवग्रह
 का स्वरूप।
 ४७४४ प्रतिश्रय में पहले से रहने वाले वृषभों द्वारा आहार

गाथा संख्या विषय

- और उपधि के अवग्रह के ग्रहण की विधि।
 ४७४५-४७६१ तीनां सन्ध्याओं में उपाश्रय की प्रत्युपेक्षा की
 विधि। न करने पर उससे लगने वाले दोष और
 प्रायश्चित्त। अवग्रहविषयक अनेक प्रकार की
 यतनाएं।
 ४७६२ साधुओं के लिए प्रायोग्य की अनुज्ञापना है तो
 अर्थजात अप्रायोग्य है, उसका ग्रहण करना
 अतिप्रसंग है। शिष्य की शंका। भाष्यकार का
 समाधान।
सूत्र ३०
 ४७६३ स्वामी द्वारा त्यक्त या अत्यक्त अवग्रह का
 प्रतिपादन।
 ४७६४ क्षेत्र के प्रकार और उनकी व्याख्या। क्षेत्र के दो
 प्रकारान्तर भेद तथा गृह के दो भेद।
 ४७६५-४७७२ वस्तु के तीन प्रकार। अव्यापृत, अव्याकृत,
 अपरपरिगृहीत, अमरपरिगृहीत पदों की व्याख्या
 तथा उनके उदाहरण।
 ४७७३-४७७६ जो अवग्रह जिस देव या मनुष्य से परिगृहीत है
 उनसे अनुज्ञा लेकर वहां जाने की विधि।
सूत्र ३१
 ४७७७ राजावग्रह की मार्गणा का प्रतिपादन।
 ४७७८ अवग्रह के पांच प्रकार। कौनसा अवग्रह
 अनवस्थित और कौन सा अवस्थित है ?
 ४७७९-४७८६ महाराज भरत का भक्तपान लेकर अष्टापद पर्वत
 पर भगवान ऋषभ के दर्शनार्थ जाना। भरत के
 द्वारा भक्तपान अनेषणीय और अकल्पनीय
 जानकर साधुओं द्वारा अस्वीकार। देवेन्द्र द्वारा
 भरत को अवग्रह का स्वरूप जानने के लिए
 भगवान से निवेदन की प्रार्थना। भगवान के द्वारा
 पांचों प्रकार के अवग्रहों का निरूपण। भरत की
 संतुष्टि तथा साधुओं के लिए प्रायोग्य भक्तपान
 का वितरण।
 ४७८७, ४७८८ अवग्रह विधि को जानकर भी अज्ञानवश उसे
 ग्रहण करने पर तीन प्रायश्चित्तों का विधान।
 किसको ग्रहण करने पर कौनसा प्रायश्चित्त ?
 उनके नाम।
सूत्र ३२
 ४७८९ सागारिक अवग्रह और राजावग्रह के परिमाण का

गाथा संख्या विषय

प्रतिपादन।

- ४७९०-४७९३ अनुकूट्य, अनुभित्ति आदि पदों की व्याख्या तथा उनसे संबंधित अवग्रहों का प्रमाण।
- ४७९४ राजा के अधीन अवग्रहों का स्वरूप तथा उनका प्रमाण।

सेणा-पदं

सूत्र ३३

- ४७९५ गांव के चारों ओर परिखायुक्त प्राकार के निर्माण का कारण तथा राजा के अवग्रह में बहिर्गमन और प्रवेश विधि।
- ४७९६, ४७९७ मासकल्प वाले क्षेत्र में शत्रुसेना, अशिव, अवमौदर्य आदि कारण जानकर वहां से निर्गमन की विधि। अन्यथा प्रायश्चित्त और आज्ञाभंग आदि दोष।
- ४७९८ अवधिज्ञान आदि के द्वारा अशिव होने की सूचना जानकर उससे पहले ही निर्गमन करने की विधि।
- ४७९९ किन कारणों में क्षेत्र से निर्गमन नहीं किया जा सकता?
- ४८००-४८०९ कई कारणों से क्षेत्र से निर्गमन न होने पर वहां किन-किन यतनाओं का अनुवर्तन होना चाहिए, उसका विवेक।
- ४८१० यतना के पांच प्रकार।
- ४८११-४८२० रोध के समय आठ वसतियों की प्रत्युपेक्षा करने की विधि। उनमें एक-एक मास रहने का कल्प। आठ वसतियों के अभाव में क्रमशः हानि होते होते एक ही वसति की प्रत्युपेक्षा। उसमें रहने की विधि और यतनाएं।
- ४८२१-४८२३ प्रथम स्थंडिल की प्राप्ति न होने पर शेष स्थंडिलों में गमन करते समय मात्रकग्रहण तथा व्युत्सर्ग करने की विधि।
- ४८२४ मुनि के शव को परिष्ठापित करने की विधि।
- ४८२५ राजाज्ञा से शव को परलिंग करने का कारण-विधि तथा न करने पर दोष।
- ४८२६ रोध के समय गोचरी कहां और कहां नहीं करनी चाहिए? तद्विषयक यतना।
- ४८२७ आभ्यन्तर में प्रचुर अन्नपान की प्राप्ति होने पर बाहर जाने का निषेध। उससे लगने वाले दोष और प्रायश्चित्त।
- ४८२८ आभ्यन्तर में पर्याप्त भक्तपान न मिलने पर

गाथा संख्या विषय

पंचक प्रायश्चित्त विधि से एषणा का प्रयत्न। अविशोधि कोटि दोषयुक्त भक्तपान लेने की विधि।

- ४८२९-४८३१ रोध के समय गोचरी के लिए द्वारपाल को जताकर बाहर जाने की अनुमति। आरक्षकों के द्वारा भक्तपान की व्यवस्था।
- ४८३२ बाहर जाने वाले मुनियों के गुण।
- ४८३३, ४८३४ बहिर्गमन करने वाले मुनि के लिए अन्यजनों से सावध बातें सुनते हुए भी प्रत्युत्तर देने का निषेध।
- ४८३५, ४८३६ मुनि कहां भोजन करे कहां नहीं? बहिर्गमन में सचित्त अर्थात् शैक्ष को प्रव्रज्या देने का निषेध।
- ४८३७, ४८३८ बाहर भोजन करने के बाद नगर में प्रवेश करते समय द्वारपाल को भोजन देने न देने की विधि तथा चारिका की आशंका न हो, इस कारण से द्वारपाल को निवेदन।
- ४८३९ बहिर्निर्गत मुनि के लिए बाहर रहने के आपवादिक कारण।

सूत्र ३४

- ४८४० क्षेत्र प्रमाणविषयक सूत्र का कथन।
- ४८४१-४८४५ अवग्रह की विविध दृष्टिकोणों से व्याख्या।
- ४८४६-४८४८ अन्तरपल्लियों का अवग्रह तीन गच्छों के लिए साधारण। दोनों प्रकार की उपधि और शैक्ष क्षेत्रीय मुनियों के आभाव्य।
- ४८४९ क्षेत्रीय मुनि आदि अक्षेत्रीय मुनियों को वस्त्र नहीं दे तो तीन प्रकार का प्रायश्चित्त।
- ४८५० अक्षेत्रीय मुनियों का क्षेत्रीय मुनियों के स्थान में रहने से असंस्तरण पर प्रायश्चित्त।
- ४८५१ सीमा बनाकर रहने का निर्देश।
- ४८५२ वृषभग्राम की व्याख्या और उसमें रहने वाले मुनियों की संख्या का निर्देश।
- ४८५३-४८५५ अवग्रह कहां नहीं?
- ४८५६ गृहस्थों को वस्त्रादिक देने का निषेध करने वालों से गण को हानि।
- ४८५७ एक वसति में स्थित मुनियों के अवग्रह की मार्गणा।
- ४८५८ उपाश्रय में स्वाध्याय भूमी आदि सबके लिए साधारण।
- ४८५९ चल क्षेत्र कौन से?
- ४८६० साधारण अवग्रह कब? कैसे?

गाथा संख्या	विषय
४८६१	गोचर, गोपानस्थान आदि अवग्रह नहीं होते।
४८६२	जिस ब्रजिका में दो गच्छ स्थित हो वहां दोनों का अवग्रह समान।
४८६३-४८६५	ब्रजिका के अवग्रह की भिन्न-भिन्न मार्गणाएं।
४८६६-४८७५	सार्थ संबंधी अवग्रह की मार्गणा।
४८७६	नगर संबंधी संवर्त में अवग्रह नहीं।

चौथा उद्देशक प्रायश्चित्त-पद सूत्र १

४८७७	सूत्र के द्वारा सूत्र अथवा अर्थ से दूसरा सूत्र ग्रथित होता है।
४८७८	प्रस्तुत सूत्र का प्रयोजन।
४८७९	भिक्षाचर्या के लिए गए हुए मुनि के वहीं रात्रिवास करने पर प्रायश्चित्त।
४८८०, ४८८१	ब्रजिका में निवास करने वाले मुनि के दोषों का दिग्दर्शन।
४८८२	एक के निक्षेप पश्चात् तीन की निष्पत्ति।
४८८३	नाम, स्थापना आदि सात पद एक-एक होते हैं।
४८८४	द्रव्य तथा मातृकापद के तीन प्रकार तथा संग्रह एकक बहुत्व होने पर भी एक वचन।
४८८५	पर्याय और भाव के दो प्रकार।
४८८६	त्रिक का निक्षेप सात प्रकार से।
४८८७	द्रव्यत्रिक के प्रकार।
४८८८	परमाणुत्रिक आदि अचित्त तथा क्षेत्रत्रय के प्रकार।
४८८९	भाव के दो प्रकार। प्रत्येक के तीन-तीन प्रकार।
४८९०-४८९४	उद्घातिक और अनुद्घातिक का निक्षेप और उनकी व्याख्या।
४८९५, ४८९६	हस्त के चार प्रकार तथा उनके भेद-प्रभेद।
४८९७	कर्मपद के चार निक्षेप।
४८९८	भावकर्म के प्रकार।
४८९९-४९१०	असंक्लिष्ट कर्म के आठ प्रकार तथा उनके भेद-प्रभेद और व्याख्या।
४९११-४९१४	यथानुपूर्वी संक्लिष्ट हस्तकर्म की परिभाषा।
४९१५	स्त्री की प्रतिमा के विविध भेद और यवन देश में प्रचलित स्त्री रूप प्रतिमा का दृष्टान्त।
४९१६	तत्रगत और आगंतुक सचित्त रूप का स्वरूप।

गाथा संख्या	विषय
४९१७-४९१९	स्त्रियों के आलिंगन आदि को देखने से मोहाग्नि का प्रदीप्त होना संभव। प्रदीप्त होने से होने वाले दोष और तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त।
४९२०	छोटे गच्छ का बड़े प्रतिश्रय में रहने से दोष।
४९२१	अशिव आदि कारणों से विस्तृत वसति में रहने का निर्देश।
४९२२	विशाल उपाश्रय में साधुओं द्वारा भूमि पर संस्तारकों को अस्त-व्यस्त करने का निर्देश।
४९२३	विशाल उपाश्रय में रात्री वेला में रक्षणीय यतना। वेश्या स्त्री आदि को वर्जन। न माने तो वहां से प्रस्थान का निर्देश।
४९२४, ४९२५	अपवाद में परुष वचनों से समझाने का निर्देश। न समझे तो व्यवहार करने का निर्देश।
४९२६-४९२८	उत्सर्गतः घंघशाला में ठहरने का निषेध। अपवाद में वहां रक्षणीय यतनाओं का स्वरूप।
४९२९, ४९३०	प्रतिसेवना करते देखकर सुविहित मुनि के कर्मोदय कैसे? उसका समाधान।
४९३१	हस्तकर्म करने से प्रायश्चित्त विधान के प्रकार।
४९३२-४९३९	अवृद्धृति वाले मुनि के हस्तकर्म सेवन से प्रायश्चित्त के नाना प्रकार तथा प्रतिसेवना के लिए सदोष-अदोष भाषा का प्रयोग कर उसे कहने वालों को भी प्रायश्चित्त का विधान।
४९४०	साध्वियों को हस्तकर्म कराने के लिए कहने वालों को प्रायश्चित्त का प्रकार।
४९४१	मैथुन के तीन प्रकार।
४९४२	मैथुन के तीनों प्रकारों में अपवाद से प्रतिसेवना करने पर प्रायश्चित्त क्यों?
४९४३	आचार्य द्वारा समाधान-प्रतिसेवना के दो प्रकार। किससे आराधना और किससे विराधना।
४९४४	मैथुन भाव में उत्सर्ग धर्मता ही अनुमत, अपवाद नहीं। अन्य पदों में दोनों अनुमत।
४९४५	कुशल आलम्बन के द्वारा अथवा अन्य किसी आलम्बन से अकृत्य का सेवन होने पर प्रायश्चित्त की हानि और वृद्धि।
४९४६	गीतार्थ मुनि के लिए कारण में यतनापूर्वक प्रतिसेवना निर्दोष, निष्कारण में सदोष।
४९४७	मैथुन की सदोषता निर्दोषता कब?
४९४८-४९५४	उपाय के निरूपण में बुद्धि का प्राधान्य। निर्वशीय दृष्टान्त तथा मैथुनविषयक नाना स्थितियों में

गाथा संख्या विषय

- भिन्न-भिन्न प्रायश्चित्त।
 ४९५५-४९६० दुर्भिक्ष काल में गुरु के द्वारा संघ विसर्जित न होने पर प्रायश्चित्त। भोजन के न मिलने पर होने वाली गच्छ की हानि। क्षुल्लक मुनि का दृष्टान्त। शिष्य द्वारा जिज्ञासा—तीन प्रकार के मैथुन में इच्छा कैसे उत्पन्न होती है? उसके कारणों की व्याख्या।
 ४९६१-४९६७ रात्री भोजन करने पर प्रायश्चित्त का निर्देश। तद्विषयक अपवाद और यतनाएं।
सूत्र २
 ४९६८, ४९६९ देशतः और सर्वतः भेद से छेद के दो प्रकार। देश-छेद का कालमान और सर्वछेद के तीन प्रकार तथा उनमें पारांचिक छेद का अधिकार।
 ४९७० सूत्र में छेद का उल्लेख क्यों नहीं? आचार्य द्वारा समाधान।
 ४९७१ पारांचिक पद की व्युत्पत्ति और उसका तात्पर्य।
 ४९७२ पारांचिक के दो प्रकार। प्रत्येक के दो-दो प्रकार।
 ४९७३ परिणामों की तरतमता से होने वाले चारित्रिक दोष।
 ४९७४ अपराध की तुल्यता में परिणामों का अथवा परिणामों की तुल्यता में अपराधों का नानात्व।
 ४९७५-४९८४ तीर्थकर, प्रवचन, श्रुत आदि की आशातना, उसका स्वरूप और आशातना करने वालों के लिए प्रायश्चित्त की मार्गणा।
 ४९८५ प्रतिसेवना पारांची के तीन प्रकार।
 ४९८६ दुष्टपारांचिक तथा कषायदुष्ट के दो-दो प्रकार। स्वपक्षदुष्ट तथा परपक्षदुष्टपद की चतुर्भंगी।
 ४९८७-४९९३ स्वपक्ष कषाय दुष्ट के चार दृष्टान्त—सरसों की भाजी, मुख वस्त्रिका, उलूकाक्ष और शिखरिणी।
 ४९९४-४९९७ परपक्षकषायदुष्टादि के अनेकविध प्रकार और उनका स्वरूप।
 ४९९८ साधुओं के लिए आचार्य के प्रायोग्य द्रव्य को ग्रहण करने की विधि और आचार्य के लिए यतनापूर्वक भोजन करने का निर्देश।
 ४९९९ शिष्य द्वारा आनीत का ग्रहण संबंधी दूसरा आदेश।
 ५०००, ५००१ आचार्य जिन शिष्यों से भक्तपान ग्रहण करते हैं, उनका स्वरूप।
 ५००२-५००४ गुरु के भोजन करने पर शेष भोजन बाल आदि

गाथा संख्या विषय

- मुनियों को देने की विधि।
 ५००५ कषायदुष्ट के परिणामों की चर्चा।
 ५००६ विषयदुष्ट पारांचिक की स्वपक्ष-परपक्षदुष्ट द्वारा चतुर्भंगी।
 ५००७ प्रथम तथा दूसरे भंग में पारांचिक प्रायश्चित्त का विधान।
 ५००८-५०१० रजोहरण आदि से युक्त संयमी द्वारा संयती के साथ प्रतिसेवना से लगने वाले दोष।
 ५०११ क्षेत्रिक दोष की उत्पत्ति से होने वाला क्षेत्र पारांचिक।
 ५०१२ उपाश्रय-पारांचिक, कुल-पारांचिक, निवेशन-पारांचिक, घाटक-पारांचिक आदि का स्वरूप।
 ५०१३ साधक को उपाश्रय आदि स्थानों से पारांचिक क्यों किया जाता है? शिष्य का प्रश्न आचार्य द्वारा समाधान।
 ५०१४ जिन स्थानों में संयतियां विहरण करें वहां संयत विहरण की वर्जना।
 ५०१५ कषायदुष्ट तथा विषयदुष्ट का अधिकार।
 ५०१६ पांच प्रकार के प्रमाद तथा निद्रा के पांच प्रकार।
 ५०१७-५०२२ स्त्यानर्द्धि निद्रा का लक्षण और उसके उदाहरण—पुद्गल—मांस, मोदक, कुंभकार, दांत और वट वृक्ष की शाखा को तोड़ना।
 ५०२३ स्त्यानर्द्धि साधु का बल सामान्य मनुष्य से अधिक। उस साधु का वेश हरण करने का निर्देश।
 ५०२४ स्त्यानर्द्धि मुनि को लिंग न देने, लिंगापहार करने तथा रात्री में सोए हुए को छोड़ने का निर्देश। सुविहित श्रमणों के लिए परस्पर करण-मुख-पायु प्रयोग से सेवन अकल्पनीय।
 ५०२५ मुख और पायु का सेवन करने वाले द्विवेदक नपुंसक के लिंग विवेक करने का निर्देश। यतनापूर्वक परित्याग करने का निर्देश।
 ५०२६ विषयदुष्ट, कषायदुष्ट, प्रमत्त तथा अन्योन्यसेवी को कब और किस प्रकार का पारांचिक प्रायश्चित्त आता है उसका वर्णन।
 ५०२७ तपःपारांचिक का स्वरूप तथा उसके योग्य व्यक्ति के गुणों का कथन।
 ५०३२ आशातनापारांचिक तथा प्रतिसेवनापारांचिक की

गाथा संख्या	विषय
	कालमर्यादा।
५०३३, ५०३४	पारांचिक आचार्य की स्वगण से जाने की विधि और परगण में जाने का कारण।
५०३५	पारांचिक आचार्य की सामाचारी।
५०३६-५०४०	कालपारांचिक आचार्य जिस आचार्य की निश्रा में प्रायश्चित्त का वहन करे उस आचार्य की कालपारांचिक आचार्य के प्रति संवेदना-व्यवहार आदि का निरूपण।
५०४१	वे कारण जिनसे आचार्य कालपारांचिक आचार्य के पास नहीं जा सकते।
५०४२	वे कार्य जिनके कारण आचार्य कालपारांचिक आचार्य के पास नहीं जा सकते।
५०४३	स्वयं आचार्य के न जा पाने पर उपाध्याय और गीतार्थ मुनि को वहां भेजने की विधि और पूछे या न पूछे जाने पर भी आचार्य के अनागमन का कारण जताने का निर्देश।
५०४४	उपाध्याय द्वारा पारांचिक के माहात्म्य को प्रकट करने की विधि।
५०४५	संघ की महिमा का प्रतिपादन।
५०४६-५०५४	पारांचिक मुनि द्वारा राजा को समझाने की विधि। राजा के समझने पर प्रतिबंधितों का विसर्जन, संघपूजा और राजा की प्रार्थना से प्रायश्चित्त वहन करने वाले पारांचिक मुनि की प्रायश्चित्त से मुक्ति। संघ रक्षण से उसकी निर्दोषता।
५०५५-५०५७	देश, देश-देश प्रायश्चित्त का स्वरूप और काल-मर्यादा। संघ के पास प्रायश्चित्त वहन करवाने अथवा विसर्जित करने का अधिकार।

सूत्र ३

५०५८	अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त उपाध्याय विषयक विशोधि का हेतु है।
५०५९	अनवस्थाप्य के दो प्रकार। प्रत्येक के दो-दो भेद।
५०६०, ५०६१	तीर्थकर, प्रवचन, श्रुत आदि की आशातना करने पर आने वाले भिन्न-भिन्न प्रायश्चित्त।
५०६२	प्रतिसेवना अनवस्थाप्य के तीन प्रकार।
५०६३	साधर्मिक स्तैन्य का स्वरूप और उससे संबंधित प्रायश्चित्त।
५०६४-५०६७	उपधि स्तैन्य का स्वरूप। तद्विषयक प्रायश्चित्त कब, कहां और किसको ?
५०६८	गुरु द्वारा उपधि लाने के लिए भेजे गए शिष्य द्वारा

गाथा संख्या	विषय
	यदि बाहर ही उसका विभाजन कर उसे ग्रहण कर लेने पर प्रायश्चित्त। वस्त्र गुरु को न देने पर प्रायश्चित्त।
५०६९, ५०७०	वस्त्र ग्रहण के लिए आचार्य को निमंत्रण। निषेध करने पर वस्त्र के प्रति लुब्ध साधु द्वारा माया पूर्वक ग्रहण कर लेने पर दोष तथा तन्निष्पन्न अप्रीति और प्रायश्चित्त।
५०७१	उपधि दग्ध हो जाने पर प्रलुब्ध शिष्य स्वयं यदि श्रावक के घर से गुरु के दिए बिना उपधि को ग्रहण करता है तो प्रायश्चित्त। गुरु द्वारा उपधि न देने पर प्रायश्चित्त।
५०७२	आचार्य द्वारा उत्कृष्ट पात्र दिए जाने पर यदि शिष्य उसमें लुब्ध होकर उसे लेना चाहे और निर्दिष्ट आचार्य को नहीं दे तो प्रायश्चित्त।
५०७३-५०८४	ससहायक-असहायक शैक्ष-शैक्षिका के अपहरण के प्रकार। उनसे लगने वाला दोष तथा तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त। शैक्ष-अपहरण के आपवादिक कारण।
५०८५	स्थापनागृह का अर्थ। बिना आज्ञा के तथा मायापूर्वक वहां गोचरी जाने पर प्राप्त होने वाले नाना प्रायश्चित्त।
५०८६	गुरु की आज्ञा के बिना स्थापनाकुलों में जाने तथा श्राद्ध लोगों को भ्रम में डालने पर प्रायश्चित्त का विधान।
५०८७	विपरिणत श्राद्ध द्वारा आचार्य, ग्लान, क्षपक, प्राघूर्णक, बाल-वृद्धों के लिए प्रायोग्य द्रव्य न देने पर मुनि को प्राप्त होने वाला प्रायश्चित्त।
५०८८	परधार्मिक के दो प्रकार। उनके स्तैन्य के तीन-तीन प्रकार।
५०८९-५०९५	आहार, उपधि तथा सचित्त के विषय में शिष्य शिष्यों से संबंधित स्तैन्य का स्वरूप। उनसे लगने वाला प्रायश्चित्त तथा अपवाद।
५०९६	गृहस्थविषयक स्तैन्य के तीन प्रकार। उनका आहार आदि का स्तैन्य करने पर लगने वाले दोष।
५०९७	आहार विषयक स्तैन्य का एक प्रकार।
५०९८	माता पिता आदि निज पुरुषों की आज्ञा के बिना अप्राप्तवय पुरुष को दीक्षित करना भी स्तैन्य का एक प्रकार।
५०९९	बिना आज्ञा स्त्री को प्रव्रजित नहीं किया जा

गाथा संख्या विषय

- सकता। अपवाद में प्रव्राजनीय।
- ५१००-५१०२ आहार-उपधि और सचित्त विषयक स्तैन्य का अपवाद।
- ५१०३ हस्ताताल, हस्तालम्ब और अर्थादान-तीनों पाठों का स्वीकरण।
- ५१०४-५१०६ हस्ताताल का स्वरूप। तद्विषयक प्रायश्चित्त और अपवाद। हस्तालम्ब का स्वरूप।
- ५१०७, ५१०८ विनय की शिक्षा देने के लिए हस्ताताल की पीड़ाकारक क्रिया अनुमत कैसे? शिष्य की जिज्ञासा। आचार्य का समाधान।
- ५१०९, ५११० लौकिक कलाओं-शिल्प, गणित को सीखने वाले शिष्य जैसे गुरुओं के प्रहारों के सहन करते हैं वैसे मुनि भी इष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए गुरु की ताड़ना सहते हैं।
- ५१११ हस्ताताल की इच्छा कब?
- ५११२, ५११३ अशिव आदि उपद्रव की उपशांति के लिए आचार्य द्वारा अभिचारुक मंत्रों का प्रयोग। हस्तालम्बदायी को उपस्थापना परीक्षा के पश्चात्।
- ५११४-५११९ अर्थादान का स्वरूप और उसको समझाने के लिए अवसन्न आचार्य का दृष्टान्त।
- ५१२० हस्ताताल, हस्तालम्ब और अर्थादान-तीनों में प्रथम दो को छोड़कर अर्थादान में लिंग देने की भजना।
- ५१२१-५१२३ अर्थादान के रहते हुए देश में लिंग देने का निषेध। कारणस्वरूप क्षेत्र में लिंग देने का अपवाद।
- ५१२४ साधर्मिक स्तैन्य और अन्य धार्मिक स्तैन्य के प्रायश्चित्त का प्रकार।
- ५१२५ सामान्य साधु, गणी आदि के लिए आहार स्तैन्य में प्रायश्चित्त के अलग-अलग प्रकार। शिष्य की जिज्ञासा-सूत्र में सामान्यतः अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त का कथन है फिर प्रायश्चित्त की विविधता क्यों? आचार्य का उत्तर।
- ५१२६ आचार्य और उपाध्याय द्वारा समान अपराध का सेवन करने पर भी प्रायश्चित्त की भिन्नता।
- ५१२७ उपाध्याय तथा मुनि द्वारा साधर्मिक स्तैन्य आदि का बार-बार प्रतिसेवना करने से आने

गाथा संख्या विषय

- वाला भिन्न-भिन्न प्रायश्चित्त।
- ५१२८ अर्थादान क्षेत्रतः समाख्यात है। तद्विषयक विधि।
- ५१२९-५१३५ अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त किन गुणों से युक्त मुनि को आता है? उस मुनि की विधि और सामाचारी।
- ५१३६, ५१३७ अनवस्थाप्य को वहन करने वाले मुनि के लिए क्या क्या अकल्पनीय? उनका वर्णन।
- पव्वज्जादि-अजोग्ग-पदं**
सूत्र ४
- ५१३८ अनवस्थाप्य का अर्थ। पंडक का द्रव्यलिंग और भावलिंग में अस्थापन।
- ५१३९ बीस प्रकार के मनुष्य अप्रव्राज्य। प्रस्तुत सूत्र में तीन का अधिकार-पंडक, क्लीब और वातिक।
- ५१४० पृच्छापूर्वक गीतार्थ मुनि ही प्रव्राजना देने का अधिकारी। बिना पूछे प्रायश्चित्त।
- ५१४१-५१४३ दीक्षार्थी से पूछताछ करने की विधि। लक्षणों से पंडक जानकर उसका परिहार्य।
- ५१४४-५१४७ पंडक की पहचान के छह लक्षण तथा उनका स्वरूप। तीन प्रकार के वेदों के प्रत्येक के तीन-तीन भंग।
- ५१४८ तीन वेदों के लक्षण तथा प्रत्येक वेद का अपना-अपना स्थान को छोड़कर शेष दो वेदों में भी वर्तन।
- ५१४९ पंडक के दो प्रकार तथा उन दोनों में से उपघात पंडक के दो प्रकार।
- ५१५०, ५१५१ दूषी कौन कहलाता है? दूषी के प्रकारों का स्वरूप।
- ५१५२, ५१५३ वेदोपघात पंडक का स्वरूप तथा उस विषय में हेमकुमार का उदाहरण।
- ५१५४-५१५६ उपकरणोपघातपंडक का स्वरूप तथा तद्विषयक कपिल का दृष्टान्त, जिसने एक जन्म में तीनों वेदों का अनुभव किया।
- ५१५७-५१६३ प्रव्रजित पंडक को पहचानने की चेष्टाएं, क्रियाएं आदि। जानते हुए भी उसको संघ में रखने से लगने वाले दोष और प्रायश्चित्त।
- ५१६४ क्लीब का निरुक्त और उसका स्वरूप। क्लीब के

गाथा संख्या विषय

- चार प्रकार तथा प्रत्येक का वर्णन।
 ५१६५ वातिक नपुंसक का स्वरूप। तद्विषयक बौद्ध उपासक का उदाहरण।
 ५१६६, ५१६७ नपुंसक के १६ भेद। उनका स्वरूप। उनमें कौन-कौन से अप्रब्राजनीय और कौन से प्रब्राजनीय ?
 ५१६८ प्रथम दस नपुंसकों को आचार्य द्वारा दीक्षा देने पर तथा दसों को प्रब्रज्या के लिए कहने पर तथा शेष छह को प्रब्रजित करने वाले आचार्य और प्रब्रज्या के लिए कहने वालों को प्रायश्चित्त।
 ५१६९-५१७१ नपुंसक वेदोदय को धारण करता है, उसको प्रब्रज्या देने में क्या दोष है ? शिष्य की शंका और आचार्य द्वारा समाधान। इस प्रसंग में वत्स और आम्र का दृष्टान्त।
 ५१७२-५१७४ पंडक को दीक्षा देने के कारण।
 ५१७५ कार्य संपन्न हो जाने पर नपुंसक मुनियों का विवेचन आवश्यक।
 ५१७६-५१८९ नपुंसक के दो प्रकार। दोनों को दीक्षा के लिए अयोग्य जानकर उनको श्रावक धर्म के पालन के लिए कथन। जनता के विश्वास के लिए कटिपट्टक आदि धारण करने का निर्देश। लिंग छुड़ाने के लिए अन्यान्य विधियों, सामाचारी की शिक्षा, सूत्रादि का अभ्यास तथा वेष आदि के त्याग के प्रयोग। उनको येन-केन प्रकारेण छोड़ने के उपाय।

सूत्र ५

- ५१९०-५१९६ अज्ञात अवस्था में पंडक आदि को प्रब्रजित कर देने पर वह ज्ञात हो जाए तो मुंडन आदि पंचक की क्रमशः कल्पनीय विधि।

अवायणिज्ज-वायणिज्ज-पदं

सूत्र ६, ७

- ५१९७ अविनीत, विगय-प्रतिबद्ध और कलह को उपशांत नहीं करने वाला—ये तीनों वाचना के लिए अयोग्य।
 ५१९८ अविनीत आदि तीनों को ग्रहण शिक्षा के अतिरिक्त शेष स्थानों में एकान्ततः प्रतिषेध का निषेध।
 ५१९९ विकृति प्रतिबद्ध अविनीत को वाचना देने पर प्रायश्चित्त विधि तथा आपवादिक कारणों में वाचना देने का निर्देश।

गाथा संख्या विषय

- ५२०० अविनीत आदि तीनों पदों की अष्टभंगी।
 ५२०१-५२०४ अविनीत आदि को ज्ञान देने पर होने वाली हानियां और ज्ञान देने के आपवादिक कारण।
 ५२०५ योगवाही मुनि द्वारा कृत माया का रूप।
 ५२०६ तप के बिना श्रुतज्ञान का ग्रहण अफलित।
 ५२०७ अव्यवशमित कलह की व्याख्या।
 ५२०८ अव्यवशमित कलह वाले मुनि को वाचना देने से होने वाली हानि।
 ५२०९ अपात्र को वाचना देने पर इहलोक-परलोक की परित्यक्ति तथा विनय की हानि।
 ५२१० आपवादिक कारण जिनसे अपात्र को वाचना दी जा सकती है।

दुसण्णप्प-सुसण्णप्प-पदं

सूत्र ८

- ५२११ दुष्ट, मूढ़ और व्युद्ग्राहित—ये सम्यक्त्व-ग्रहण, प्रब्रज्या और वाचना के लिए अयोग्य।
 ५२१२, ५२१३ दुःसंज्ञाप्य के तीन प्रकार तथा तीनों पदों की अष्टभंगी।
 ५२१४ मूढ़ पद के निक्षेप के आठ प्रकार।
 ५२१५ द्रव्यमूढ़ का स्वरूप तथा तद्विषयक घटिकावोद्र वणिक् का दृष्टान्त।
 ५२१६ दिग्मूढ़, क्षेत्रमूढ़ और कालमूढ़ का स्वरूप। कालमूढ़ संबंधी पिंडार का उदाहरण।
 ५२१७ गणनामूढ़ तथा सादृश्यमूढ़ का स्वरूप। दोनों से संबंधित क्रमशः उष्ट्रारूढ़ और कुटुम्बिसंश्राम का दृष्टान्त।
 ५२१८ अभिभवमूढ़ और वेदमूढ़ का स्वरूप तथा वेदमूढ़ विषयक अनंगरतिराजा का दृष्टान्त।
 ५२१९-५२२२ वेदमूढ़ आदि से संबंधित दृष्टान्त का स्वरूप।
 ५२२३-५२२८ व्युद्ग्राहित का स्वरूप तथा उससे संबद्ध द्वीपजातपुरुष, पंचशैल वास्तव्य स्वर्णकार आदि का दृष्टान्त।
 ५२२९ मूढ़ और व्युद्ग्राहित संबंधित कथानकों का विभाग।
 ५२३० दुष्ट, मूढ़ और व्युद्ग्राहित में दीक्षा के योग्य-अयोग्य का विभाग और उसका कारण।
 ५२३१-५२३३ व्युद्ग्राहित आदि व्यक्तियों में चारित्रगुण कैसे हो

गाथा संख्या	विषय	गाथा संख्या	विषय
	सकता है? जिज्ञासा और उसका समाधान।		होने वाले दोष। प्रथम प्रहर में ग्रहण किए हुए भक्तपान की प्रथम प्रहर में ही उपयोग विधि। शिष्य की जिज्ञासा-भिक्षा ग्रहण करते-करते यदि दूसरा पहर आ जाए तो शोधि कैसे? आचार्य द्वारा समाधान।
	सूत्र ९		
५२३४	कालिकश्रुत की धर्मता।	५२७१	आहार आदि शेष रहने के कारण।
५२३५	कालिकश्रुत में अर्थापत्ति का निषेध तथा कालिकश्रुत का स्वरूप।	५२७२	पौरुषी का प्रत्याख्यान करने वाले मुनि के लिए पौरुषी बीत जाने पर सर्व आहार करने की विधि। समाप्ति न होने पर दूसरों को देने और मात्रक में रखने का निर्देश।
	गिलायमाण-पदं		
	सूत्र १०, ११		
५२३६	ग्लानसूत्र का प्रारंभ।	५२७३	प्रथम प्रहर में आनीत अशन का उपयोग कौन से प्रहर तक संभव?
५२३७	धर्म पुरुषप्रधान है फिर भी स्त्री (निर्ग्रथी) का निर्देश पहले क्यों?	५२७४	स्थापित आहार आदि की यतना।
५२३८	सुविहित मुनि के लिए आलिंगन आदि की वर्जना।	५२७५-५२७७	अपार्यों में दोषों की नियमा।
५२३९, ३२४०	निर्ग्रन्थी, स्त्री और गृहस्थ का आलिंगन करने से आने वाला प्रायश्चित्त।	५२७८	आहार ही न किया जाए तो अपाय होंगे ही नहीं, शिष्य की शंका, आचार्य का समाधान।
५२४१	आलिंगन करने से होने वाले दोष।	५२७९	कार्य के दो प्रकार। असाध्य कार्य कभी सिद्ध नहीं होता।
५२४२	संक्रमित होने वाले रोग और उनकी चतुर्भंगी।	५२८०	आहार के झंझटों से मुक्त होने संबंधी शिष्य की जिज्ञासा।
५२४३	गृहस्थों, संयतों के साथ आलिंगन करने से लगने वाले दोष।	५२८१	आहार क्यों?
५२४४-५२४८	कारण में ग्लान सेवा के लिए आलिंगन संबंधी यतनाएं।	५२८२	अनुज्ञात काल का अतिक्रमण करने वाला अविद्यमान दोषों में भी प्रायश्चित्तभागी।
५२४९-५२५२	मार्ग-अमार्ग अथवा दूसरों के अभाव में आत्यन्तिक ग्लानत्व में परिकर्म संबंधी यतनाएं।	५२८३	जिनकल्पी के समान प्रथम पौरुषी में भक्तपान ग्रहण कर पश्चिम पौरुषी का अतिक्रमण दोषयुक्त।
५२५३-५२५९	यतना किए जाने पर भी निर्ग्रन्थी यदि पुरुष स्पर्श का आस्वादन करती है तो प्रायश्चित्त। ग्लान अवस्था में भी मैथुनाभिलाषा से संबद्ध शशक-मशक का उदाहरण।	५२८४	चरम पौरुषी के अतिक्रान्त होने के कारण।
५२६०-५२६२	निर्ग्रन्थ के द्वारा निर्ग्रन्थी का आलिंगन करने पर प्रायश्चित्त और दोष की नियमा। स्पर्श आस्वादन संबंधी भगिनीयुगल का उदाहरण।	५२८५	समय अतिक्रान्त होने पर भोजन परिष्ठापनीय। अन्य अशन की अप्राप्ति में उसी का परिभोग।
	कालातिक्रंत-भोयण-पदं	५२८६	आपवादिक कारणों में अतिक्रान्त काल में भोजन करना निर्दोष।
	सूत्र १२, १३	५२८७	अर्द्धयोजन से आगे अशन आदि ले जाने से लगने वाले दोष और प्रायश्चित्त।
५२६३	ब्रह्मव्रत के परिणाम के अनतिक्रम का प्रतिपादन।	५२८८	क्षेत्रातिक्रान्त से होने वाले दोषों का स्वरूप।
५२६४, ५२६५	अशन आदि का कालातिक्रम करने पर प्रायश्चित्त और आज्ञाभंग आदि दोष।	५२८९-५२९१	जिनकल्पिक और गच्छवासी मुनि के लिए क्षेत्र की अपनी-अपनी मर्यादा।
५२६६	मुनि के लिए अशन आदि का संचय करने का प्रतिषेध।	५२९२-५२९४	आचार्य के लिए प्रायोग्य द्रव्य लाने के लिए संघाटक की नियुक्ति। तद्संबंधी अगारी और कृपण वणिक् का दृष्टान्त।
५२६७	अयतना से होने वाली हानियां।		
५२६८-५२७०	भक्तपान को स्थापित करने और परिष्ठापन से		

गाथा संख्या	विषय
५२९५	विधायक सोच से भिक्षा की सुलभता।
५२९६	कुल परिश्रान्त क्यों ?
५२९७-५२९९	तरुण मुनि के लिए बहिर्ग्राम में भिक्षाचर्या के लिए जाने की सामाचारी। उससे संबद्ध बदरीवृक्ष का दृष्टान्त।
५३००, ५३०१	तरुण मुनियों द्वारा बहिर्ग्राम में भिक्षाचर्या करने के लाभ और दोषों से निवृत्ति।
५३०२, ५३०३	उद्यान से आगे जाकर भिक्षा लाने में लगने वाले दोष तथा वहीं भोजन करने पर आने वाला प्रायश्चित्त।
५३०४, ५३०५	यदि आचार्य के बिना भी तप-नियम गुण होते हैं तो आहार की गवेषणा की बात क्यों ? शिष्य की शंका। आचार्य का समाधान।
५३०६	बहिर्ग्राम से गोचरी कर आचार्य के पास क्यों लानी चाहिए ?
५३०७	आचार्य द्वारा शिष्यों को प्रथमालिका करने की अनुमति देने के कारण।
५३०८	प्रथमालिका करने के दोष। उसके प्रमाण के दो प्रकार।
५३०९, ५३१०	साधुओं की पात्र संख्या और उनमें भक्तपान लेने की विधि।
५३११	आपवादिक कारणों में बहिर्ग्राम में विधिपूर्वक भोजन करने का निर्देश।
५३१२	अन्तरपल्ली में गृहीत सारे भोजन को खाने का निर्देश।
५३१३	पात्र भर जाने पर पर्याप्त खाकर पुनः भिक्षा के लिए जाने का निर्देश अथवा काल अतिक्रान्त की आशंका से बीच में खाने का निर्देश।
५३१४	अजानकारी में कालातिक्रान्त होने पर उत्सर्ग-अपवाद विधि।
अणेषणिज्ज पाण-भोयण-पदं	
सूत्र १४	
५३१५	अशुद्ध अचित्त आहार ग्रहण होने पर विधि का प्रतिपादन।
५३१६	अनेषणीय अचित्त द्रव्य की वर्जना।
५३१७-५३२७	अनाभोग से अनेषणीय आहार की यतना। अयतना के दोष। अयतना से दिए जाने वाले भक्तपान से शैक्ष के मन में उठने वाली शंकाएं।
५३२८, ५३२९	अनुलोम वचनों से शिष्यों को प्रज्ञापित करने की

गाथा संख्या	विषय
	विधि।
५३३०	शैक्ष मुनि के विपरिणत होने का कारण।
५३३१	शैक्ष को अनेषणीय भक्त देने पर आने वाला प्रायश्चित्त।
५३३२	शैक्ष को प्रायोग्य अनेषणीय भक्तपान देने की विधि।
५३३३-५३३५	शैक्ष के लिए निजी व्यक्तियों द्वारा भक्तपान देने पर आचार्य को वर्जना करने का निषेध।
५३३६	अनेषणीय भोजन शैक्ष को देने की और उसके परिष्ठापन की विधि।
५३३७	ऋद्धिमान् के प्रव्रजित होने पर होने वाले गुण। अनुवर्तना न करने पर प्रायश्चित्त।
५३३८	अशिव आदि कारणों में अनेषणीय भोजन करने पर प्रायश्चित्त नहीं।

कप्पट्टिय-अकप्पट्टिय-पदं

सूत्र १५

५३३९	शैक्ष के अनेषणीय कल्प का कारण।
५३४०	कल्पस्थित-अकल्पस्थित का स्वरूप।
५३४१	आधाकर्म भोजन के लिए साधुओं को निमंत्रण।
५३४२	आधाकर्म के एकार्थक।
५३४३-५३५०	आधाकर्म किसको कल्पता है किसको नहीं? उसका विभाग और वर्णन।
५३५१-५३५३	मुनियों के तीन प्रकार। कौन से तीर्थकर के किस प्रकार के मुनि होते हैं? नटप्रेक्षण का दृष्टान्त। भक्तपान निषेध से दृष्टान्त का उपनय।
५३५४, ५३५५	प्रथम तीर्थकर के साधुओं की तरह संज्ञातक (गृहस्थ) भी ऋजुजड़।
५३५६	ऋजुजड़ मुनियों तथा गृहस्थों का स्वरूप।
५३५७	ऋजुप्राज्ञ मुनियों और गृहस्थों का स्वरूप।
५३५८	वक्रजड़ मुनियों और गृहस्थों का स्वरूप।
५३५९	आचार्य, अभिषेक और भिक्षुओं में से कोई ग्लान होने पर आधाकर्म की भजना।
५३६०	आचार्य द्वारा स्वयं प्रायश्चित्त ग्रहण करने की विधि और उसका स्वरूप।
५३६१	तीर्थकरों द्वारा धर्मदेशना करने का प्रयोजन।

अण्णगण-उवसंपदा-पदं

सूत्र १६

५३६२	ज्ञान आदि के कारण गच्छान्तर में संक्रमण विधायक सूत्र।
------	---

गाथा संख्या विषय

- ५३६३, ५३६४ तीन स्थानों-कारणों से गण से अपक्रमण करने की विधि, तथा उनसे लगने वाले अतिचार।
- ५३६५-५३७७ किस अतिचार से आने वाला कौनसा प्रायश्चित्त। उनका स्वरूप।
- ५३७८-५३८१ आने वाले शैक्ष को अभिघारित आचार्य के पास भेजने की विधि।
- ५३८२ प्रतीच्छक द्वारा गृहीत सचित्तादि किसका आभाव्य ?
- ५३८३ आगन्तुक शैक्ष के साथ स्वयंदिग्बंध कब करे ?
- ५३८४ अकेले आचार्य को परिषद् ग्रहण करने की अनुमति।
- ५३८५ अभिघारित आचार्य के कालगत हो जाने पर अन्य आचार्य के पास जाना भी शुद्ध।
- ५३८६ प्रतीच्छक के प्रकार और उनका लाभ।
- ५३८७ व्यक्त-अव्यक्त की चतुर्भंगी।
- ५३८८, ५३८९ सहायक साधु के प्रकार और उनका कर्तव्य।
- ५३९० एकाकी जाने वाले शैक्ष द्वारा गृहीत द्रव्य किसका आभाव्य ?
- ५३९१, ५३९२ एकाकी जाने वाला शैक्ष यदि रुग्ण हो जाए और दो आचार्य उसकी सुखपृच्छा करने के लिए आए तो वह तथा उसके द्वारा गृहीत द्रव्य का कौन आभाव्य होगा ?
- ५३९३, ५३९४ आचार्य द्वारा विसर्जित शिष्य के आभाव्य की मर्यादा।
- ५३९५ आचार्य द्वारा अविसर्जित शिष्य यदि गमन करता है तो प्रायश्चित्त का भागी।
- ५३९६ आचार्य के द्वारा शिष्य को विसर्जित न करने पर आचार्य को अनुकूल वचनों से प्रज्ञापित करने का निर्देश।
- ५३९७ ज्ञान के निमित्त गण से अपक्रमण करने वाले शिष्य को आचार्य द्वारा विसर्जित नहीं करने पर अविसर्जित प्रस्थान करने की विधि।
- ५३९८ अविसर्जित विधि से आए शिष्य को स्वीकार करने का निर्देश।
- ५३९९, ५४०० आचार्य को व्युत्सर्ग कर गमन करने से शिष्य, प्रतिच्छक और आचार्य तीनों को प्रायश्चित्त।
- ५४०१-५४०३ ज्ञानार्थ दूसरे गच्छ में प्रस्थान करने के आपवादिक कारण।
- ५४०४ अनाभाव्य के साथ आत्मीय दिग्बंध कब ?

गाथा संख्या विषय

- ५४०५ शैक्ष को शिष्य के रूप में स्वीकृत करने के कुछ मानदंड।
- ५४०६ आचार्य के कालगत हो जाने पर शैक्ष और प्रतीच्छक द्वारा गण की सार-संभाल।
- ५४०७ आचार्य के कालगत होने पर वर्षगत आभाव्य की मार्गणा।
- ५४०८, ५४०९ क्षेत्रोपसंपन्न और सुखदुःखोपसंपन्न को मिलने वाला लाभ।
- ५४१०-५४१७ आभाव्य कब ? किसका ?
- ५४१८ शिष्य का निर्माण कैसे ?
- ५४१९ निर्माण न होने के कारण कुलस्थविर का कर्तव्य ?
- ५४२०, ५४२१ प्रब्रज्या के एकपाक्षिक कौन ? उनका कार्य।
- ५४२२ एकपाक्षिक होने के कारण।
- ५४२३ उपसंपदा के पांच प्रकार और उनका आभवद् व्यवहार।
- ५४२४ निकट के व्यक्तियों से उपसंपदा ग्रहण करने का कारण।
- ५४२५ दर्शन की प्रभावना के लिए अन्य गण में गमन।
- ५४२६-५४२९ वाद में आचार्य द्वारा मौन रहने पर शिष्य दर्शन शास्त्र का अध्ययन कर पुनः वाद में समीचिन उत्तर दे।
- ५४३०-५४३२ शिष्य द्वारा आचार्य को छेद सूत्र की वाचना के लिए निवेदन करना और अन्यत्र एकान्त में जाने के लिए कहना। न मानने पर गहरी नींद में उठा कर ले जाना।
- ५४३३ शिष्य द्वारा शास्त्रों का अध्ययन कर आचार्य को निह्वो से छुड़ाने का प्रयत्न।
- ५४३४ विधि से गमन ही श्रेयस्कर। अविधि में प्रायश्चित्त।
- ५४३५ दर्शन के प्रभावक शास्त्रों के अध्ययन के लिए तीन पक्षों को पूछकर अन्य गण में जाने का निर्देश।
- ५४३६ अविसर्जित विधि से आए शिष्य को स्वीकार करने का निर्देश।
- ५४३७, ५४३८ आचार्य को व्युत्सर्ग कर गमन करने से शिष्य, प्रतीच्छक और आचार्य तीनों को प्रायश्चित्त।
- ५४३९ ज्ञान के लिए गच्छान्तर में प्रस्थान करने के आपवादिक कारण।

गाथा संख्या	विषय
५४४०	चारित्र के लिए गमन के दो प्रकार तथा प्रत्येक के दो-दो प्रकार।
५४४१	किन कारणों से किन दशों में नहीं जाना चाहिए।
५४४२	अशिव आदि कारणों से गए हुए साधुओं को वापिस लौटने का निर्देश।
५४४३	गुरु को पूछकर कहां कब तक रहा जा सकता है ?
५४४४	अध्युपपन्न की स्थिति में आचार्य को पूछकर जाने का निर्देश।
५४४५	अविसर्जित शिष्य को स्वीकार करने का निर्देश।
५४४६, ५४४७	आचार्य को व्युत्सृष्ट कर गमन करने से शिष्य, प्रतीच्छक और आचार्य-तीनों के प्रायश्चित्त का विधान।
५४४८	आगाढ़ कारण में संविग्न अथवा असंविग्न को आचार्य के बिना पूछे प्रस्थान का निर्देश।
५४४९	चारित्र भ्रष्ट आचार्य का उपाय से परिहार का निर्देश।
सूत्र १७, १८	
५४५०	गणावच्छेदिक, उपाध्याय और आचार्य की अन्य गण में जाने की विधि। गणावच्छेदिक नियमतः व्यक्त।
५४५१	निग्रन्थियों के लिए उपर्युक्त विधि विहित।
५४५२	ज्ञान के लिए अन्य गण में निग्रन्थी के जाने कि लिए आठ पक्षों की पृच्छा।
सूत्र १९	
५४५३-५४५७	एक मंडली में भोजन करने के कारण। चारित्र के लिए उपसंपन्न की चतुर्भंगी ओर उनका विवरण।
५४५८	गण से विलग गीतार्थ-अगीतार्थ मुनि के पुनः गण में आने पर आलोचना की विधि और उपधि की मार्गणा।
५४५९	गीतार्थ और अगीतार्थ मुनि के उपधि का उपहनन कब नहीं होता ?
५४६०	किसे आरोपणा प्रायश्चित्त नहीं आता ?
५४६१	गीतार्थ और अगीतार्थ के उपधि के तीन प्रकार।
५४६२	गीतार्थ की उपधि को अन्य उपधि में मिलाने न मिलाने का कारण।
५४६३	संविग्न मुनि का संविग्न मुनि के गच्छ में संक्रमण विधि का प्रतिपादन।
५४६४-५४६६	संविग्न मुनि के असंविग्न गच्छ में संक्रमण करने के दोष।

गाथा संख्या	विषय
५४६७	असंविग्न मुनि के असंविग्न गच्छ में संक्रमण करने की स्वच्छन्द विधि।
५४६८, ५४६९	पार्श्वस्थ आदि पांच में से किसी एक के आने पर आलोचना की विधि।
सूत्र २०, २१	
५४७०	गणावच्छेदी, गणी, आचार्य नियमतः गीतार्थ।
सूत्र २२	
५४७१	ज्ञान-दर्शन और चारित्र के लिए आचार्य आदि को उद्दिष्ट करने की आज्ञा।
५४७२	महाकल्पश्रुत की वाचना शिष्यत्व स्वीकार करने वाले को ही, यह मर्यादा जिनाज्ञा से बाहर।
५४७३	दर्शनार्थ उद्दिष्ट होने वाले ग्रंथ। चारित्रार्थ उद्दिष्ट होने के प्रकार।
५४७४	अवसन्न के छह प्रकार।
५४७५	आचार्य पद योग्य शिष्य के व्यक्त-अव्यक्त की मार्गणा और व्यक्त-अव्यक्त की चतुर्भंगी।
५४७६	शिष्य द्वारा आचार्य को प्रेरित करने का कालमान और आचार्य के सर्वथा इन्कार करने पर स्वयं द्वारा गण का वर्तापन।
५४७७	गण के लिए अन्य आचार्य को उद्दिष्ट करने से होने वाला परिणाम।
५४७८, ५४७९	गण का वर्तापन कब कैसे ?
५४८०-५४८४	गण के वर्तापन की चतुर्भंगी।
५४८५, ५४८६	संविग्न-अगीतार्थ, असंविग्न-अगीतार्थ, असंविग्न-गीतार्थ—इनको आचार्य के रूप में उद्दिष्ट करने पर प्रायश्चित्त विधि।
५४८७, ५४८८	संविग्न गीतार्थ को उद्दिष्ट करने में अपेक्षणीय गुण।
५४८९-५४९०	अवसन्न आचार्य को शिष्य द्वारा गण-वर्तापन के लिए निवेदन विधि। शिष्य का प्रश्न और आचार्य का उत्तर।
५४९१	ऋण से उऋण होने का उपाय।
सूत्र २३, २४	
५४९२-५४९६	गणावच्छेदी और आचार्य के गणनिक्षेपण की विधि।
वीसुंभवन-पदं	
सूत्र २५	
५४९७	तीन कारणों से अन्य आचार्य के उद्देशन की

गाथा संख्या विषय

- विधि। आचार्य के कालगत होने पर अन्य आचार्य का उद्देशन कैसे ?
 ५४९८-५५६५ कालगत मुनि क परिष्ठापन की विधि तथा मुनियों का कर्तव्य।

अहिगरण-पदं

सूत्र २६

- ५५६६ मुनि कलह क्यों करता है ?
 ५५६७ अधिकरण क्यों ?
 ५५६८ अधिकरण करने पर उसका उपशमन और आलोचना करने का निर्देश।
 ५५६९ अधिकरण करने वाले मुनि के अपसरण की विधि। गुरु द्वारा वृषभ मुनि को गृहस्थ के पास भेजने का निर्देश।
 ५५७०-५५७२ वृषभ मुनि को गृहस्थ के पास न भेजने से होने वाली हानियां।
 ५५७३-५५७५ वृषभ मुनि द्वारा गृहस्थ को समझाने और कलहकारी साधु को अपने साथ ले जाने की विधि।
 ५५७६ गृहस्थ को उपशांत करने की अन्य विधि।
 ५५७७, ५५७८ कलह को उपशांत किए बिना मुनि यदि भिक्षा आदि के लिए गमन करे तो प्रायश्चित्त। गण संक्रमण करने वाले को पुनः उसी गण में रहने का निर्देश क्यों ?
 ५५७९ अनुपशान्त साधु के गणान्तर में संक्रान्त हो जाने पर मूल आचार्य द्वारा संघाटक को भेजने की विधि। नहीं भेजने पर प्रायश्चित्त।
 ५५८० गृहस्थ के उपशांत होने पर क्षमायाचना का निर्देश।
 ५५८१, ५५८२ गृहस्थ के प्रति अनिष्ट चिंतन, मारने आदि का संकल्प करने पर प्रायश्चित्त।
 ५५८३ मुनि को आया हुआ देखकर गृहस्थ के द्वारा मारण-ताड़न आदि अनिष्ट की संभावना।

परिहारकप्पट्टिय-पदं

सूत्र २७, २८

- ५५८४, ५४८५ साधु के गृहस्थ के घर एकाकी जाने की वर्जना। साथ में किसी अन्य को ले जाने का प्रावधान।
 ५५८६, ५५८७ भिक्षु के मन में हिंसा के विविध प्रकारों में भिन्न-भिन्न प्रायश्चित्तों का विधान। गणी-उपाध्याय, आचार्य तथा गणावच्छेदिक के लिए भी नियमतः अनेक प्रायश्चित्त।

गाथा संख्या विषय

- ५५८८ तप और काल से प्रायश्चित्तों में नानात्व।
 ५५८९, ५५९० सूत्र द्वारा प्रायश्चित्त की प्रस्थापना का निर्देश।
 ५५९१ सूत्रादेश से अधिक या न्यून प्रायश्चित्त देने पर देने वाले को प्रायश्चित्त।
 ५५९२ अधिकरण के आपवादिक कारण। स्वयं असमर्थ हो तो पांच पदों की सहायता लेने का निर्देश।
 ५५९३ प्रत्यनीक पर अनुशासन करने वाले में अपेक्षणीय गुण।
 ५५९४ परिहार तप को वहन करने वाले की मर्यादा।
 ५५९५ नियमतः परिहारतप का प्रायश्चित्त किसको ?
 ५५९६ परिहार तप क्यों ?
 ५५९७, ५५९८ परिहारतप को स्वीकार करने पर मुनि की साधना-विधि।
 ५५९९ गच्छ साधुओं को दस पदों का आचरण करने पर प्राप्त होने वाला विविध प्रायश्चित्त।
 ५६०० गच्छवासी साधुओं के साथ दस पदों का समाचरण करने वाले पारिहारिक मुनि को आने वाला प्रायश्चित्त।
 ५६०१ दस पदों को पारिहारिक मुनि के साथ करने पर लगने वाले दोष।
 ५६०२-५६१३ पारिहारिक मुनि के प्रति आचार्य तथा मुनियों का व्यवहार एवं कर्तव्य।
 ५६१४-५६१७ गच्छ में आगाढ़ कारण होने पर पारिहारिक मुनि का कर्तव्य।

महानदी-पदं

सूत्र २९

- ५६१८ स्थलगत मार्ग में पानी होने पर मुनि का कर्तव्य।
 ५६१९-५६२५ पांच महानदियों के नाम तथा नौका आदि से उनको पार करने पर लगने वाले दोष और प्रायश्चित्त विधि। मुरुंडराजा का दृष्टान्त।
 ५६२६ अन्तःपुर में जाने पर लगने वाले दोष।
 ५६२७, ५६२८ प्रत्यनीकता विषयक विविध दोषों का वर्णन और तद्विषयक महावीर-सुदाढा और कम्बल-शबल का उदाहरण।
 ५६२९-५६३५ प्रत्यनीक के दोष तथा उससे होने वाली संयम तथा आत्मविराधना।
 ५६३६, ५६३७ महानदी उत्तरणविषयक संघट्ट, लेप, लेपोपरि-ये तीन प्रकार और उनसे लगने वाले दोष।
 सूत्र ३०
 ५६३८ ऐरावती नदी को पार करने की विधि। मास कल्प

गाथा संख्या	विषय
	में दो-तीन बार उतरने की कल्पनीयता।
५६३९	ऐरावती नदी कहां ? और उसका प्रमाण।
५६४०-५६५२	नदी उतरने के मार्ग क तीन प्रकार। मुनि को किस मार्ग से जाना चाहिए ? तीनों मार्गों का स्वरूप और उनसे लगने वाले दोष तथा ६४ भंगों के प्रकार।
५६५३, ५६५४	कितने संघट्टनों तक जाना कल्पनीय ? उससे होने वाले लाभ।
५६५५	किन कारणों से शेषकाल में नदी-उत्तरण विहित ?
५६५६, ५६५७	किन स्थितियों में नौका आरोहण का निषेध ? क्यों ?
५६५८	स्थल संक्रमण की यतना।
५६५९	संघट्ट और लेपयुक्त मार्ग में जाने का विकल्प कब ? क्यों ?
५६६०, ५६६१	साधु के पानी में उतरने की विधि और वहां रक्षणीय यतना।
५६६२	लेप तथा लेपोपरी जल में जाने की विधि।
५६६३	अपवाद पद में मुनि के कर्तव्य का निर्देश।
५६६४	नौका में चढ़ने-उतरने की विधि।
उवस्सय-पदं	
सूत्र ३१-३४	
५६६५	ऋतुबद्ध और वर्षावास ऋतु के योग्य उपाश्रय विषयक सूत्र।
५६६६	वसति प्रमाण विषयक सूत्र का आरंभ।
५६६७	तृण और पलाल ग्रहण से किसका ग्रहण ?
५६६८	अल्प शब्द का तात्पर्य है अभाव।
५६६९-५६७१	अप्पप्पाणा की जगह अपाणा क्यों नहीं ? शिष्य का प्रश्न आचार्य का समाधान।
५६७२	बीज आदि विविध वनस्पतियों तथा उदक आदि पर बैठने से आने वाला प्रायश्चित्त।
५६७३	श्रवणप्रमाण वसति का स्वरूप। वहां रहने से लगने वाले दोष।
५६७४, ५६७५	भिन्न-भिन्न वसतियों में रहने की यतनाएं।
५६७६	वर्षाकाल में रहने योग्य वसति का आकार।
५६७७, ५६७८	उपाश्रय में सोने और बैठने के लिए फलक और संस्तारक का प्रमाण।
५६७९	कायोत्सर्ग में स्थित मुनि के आधार पर कौनसी वसति में वर्षावास की कल्पनीयता ?

गाथा संख्या	विषय
५६८०	अधोमुक्त मुकुट उपाश्रय में रहने पर प्रायश्चित्त। आगाढ़ कारण में रहने की अनुज्ञा।
५६८१	वसति में सर्प आदि के होने पर चंदोवा आदि बांधने की विधि।

पांचवां उद्देशक

मेहुणपडिसेवणा-पदं

सूत्र १-४

५६८२	मुनियों के लिए तृणपुंज विजन-जन संपातरहित स्थान में रहने का दोष।
५६८३	'अपि च' का अर्थ तथा उपसर्ग के दो प्रकार।
५६८४	ब्रह्मव्रतापाय का प्रतिपादक सूत्र।
५६८५, ५६८६	सदृशाधिकारिक सूत्र होने पर भी अन्य अधिकारों का समावेश। जातरूप का दृष्टान्त।
५६८७	अन्योन्याश्रित संबंधों की चर्चा।
५६८८	निर्ग्रन्थ प्रतिसेवना के लिए देवता या देवी की विकुर्वणा और तद्विषयक प्रायश्चित्त।
५६८९	गच्छ निर्गम के दो प्रकार।
५६९०, ५६९१	गच्छ में व्याघात के कारण और वहां से निर्गमन।
५६९२	महर्द्धिक को धर्म कहने का कारण।
५६९३, ५६९४	किनसे व्याघात होता है ?
५६९५	आचार्य द्वारा उपेक्षा करने पर प्रायश्चित्त।
५६९६-५७००	स्वाध्याय के व्याघात का स्वरूप।
५७०१-५७११	तीन प्रकार के उपसर्ग। देवीकृत उपसर्ग का निरूपण तथा तद्विषयक प्रायश्चित्त।
५७१२	अनुज्ञा के बिना गण को छोड़ने के दोष।
५७१३-५७२०	गुरुकुलवास न छोड़ने के गुण।
५७२१-५७२५	निर्ग्रन्थी के लिए देवताकृत उपसर्ग का स्वरूप।

अहिगरण-पदं

सूत्र ५

५७२६-५७४९	गण में कलह होने के कारण। उनका स्वरूप तथा प्रायश्चित्त विधि। भावाधिकरण का तात्पर्य। तीनों गतियों के गमन में उसका स्वरूप। अधिकरण के दोष आदि।
५७५०-५७६१	कलह करके परगण में जाने वाले भिक्षु, उपाध्याय, आचार्य आदि को प्राप्त होने वाला नानाविध प्रायश्चित्त और तद्विषयक साहुकार की चार पत्नियों का उदाहरण।

गाथा संख्या विषय

- ५७६२-५७८० कलह के कारण गच्छ से अनिर्गत अथवा क्लेशयुक्तचित्त से गच्छ में रहने वाले भिक्षु, उपाध्याय तथा आचार्य आदि को शान्त करने की विधि। अनुपशान्त में लगने वाला प्रायश्चित्त दोष और अपवाद आदि। कुमार का दृष्टान्त।
- ५७८१ पुरुष विशेष की अपेक्षा से दंड के तीन प्रकार।
- ५७८२ परगच्छ में पद स्थापना की भिन्न-भिन्न व्यवस्था और प्रायश्चित्त का नानात्व।
- ५७८३ कारण समाप्त होने पर अयोग्य को गण से निर्गत न करने पर कलह आदि दोष।

राईभोयण-पदं

सूत्र ६-९

- ५७८४ रात्री में आहार ग्रहण के आपवादिक कारण।
- ५७८५ चार सूत्रों के नाम तथा प्रथम सूत्र में तीन प्रकार से प्रायश्चित्त।
- ५७८६ अभी सूर्योदय नहीं हुआ है, इस मनोगत संकल्प से, शंकित मनःसंकल्प से भोजन करने पर प्रायश्चित्त की गुरुता-लघुता।
- ५७८७ सूर्य अस्तगत हो गया है, इस संकल्प से अथवा शंकित अवस्था में भोजन करने पर प्रायश्चित्त की गुरुता-लघुता।
- ५७८८ अनुदित सूर्य को मनः संकल्प से उदित मानकर भोजन करने वाला अदोषी और उदित सूर्य होने पर भी अनुदित मनःसंकल्प से भोजन करने वाला दोषी। संखड़ी के दो प्रकार। उनका अनुदित-उदित सूर्य के साथ संबंध।
- ५७८९ सूर्य के उदित, अनुदित, अस्तमित, अनस्तमित के विषय में होने वाले संकल्प के नाना प्रकार।
- ५७९० अनुदित, उदित, अनस्तमित, अस्तगत मनःसंकल्प में भक्तपान की गवेषणा, ग्रहण और भोजन करने से घटित होने वाले चार-चार भंगों की प्ररूपणा।
- ५७९१, ५७९२ अनुदित मनःसंकल्प की चार लताएं।
- ५७९३-५८०० लताओं की शुद्ध-अशुद्ध की मार्गणा।
- ५८०१ सूर्य के अनुदित अथवा अस्तमित होने पर भोजन करने वालों में महादोषी कौन? शिष्य की जिज्ञासा। आचार्य का समाधान।
- ५८०२ अनुदित और अस्तमित समय में भक्तपान को

गाथा संख्या विषय

- ग्रहण करने वाला मुनि प्रायश्चित्त को कब प्राप्त करता है?
- ५८०३ सूर्य के अनुदित और अस्तमित को जानते हुए भी मुनि के कवलप्रमाण की अपेक्षा से भोजन करने पर प्रायश्चित्तों का नानात्व।
- ५८०४ सूर्य के अनुदित और अस्तमित को जानते हुए गणी-उपाध्याय और आचार्य के कवल प्रमाण की अपेक्षा से भोजन करने पर प्रायश्चित्तों की तरतमता।
- ५८०५, ५८०६ सूर्य के अनुदित और अस्तमित के ज्ञात-अज्ञात अवस्था में कवल आहार करने पर अथवा बार-बार के ग्रहण पर प्रायश्चित्तों की तरतमता।
- ५८०७ संस्तृत-असंस्तृत पदों की व्याख्या।
- ५८०८, ५८०९ मुनि के अशुद्ध परिणामों के कारण प्रायश्चित्त। शुद्ध में प्रायश्चित्त नहीं।
- ५८१० सूर्य के अनुदित या अस्तमित की पहचान।
- ५८११ सूर्य के उदित अथवा अस्तमित के भ्रम के कारण।
- ५८१२, ५८१३ सूर्य के अनुदित या अस्तमित की स्थिति में मुंह अथवा पात्र में गृहीत भक्तपान का परिष्ठापन, अन्यथा प्रायश्चित्त। विवेचन और विशोधन में नानात्व।
- ५८१४ रात्रीभक्तव्रत का अतिक्रमण-अनतिक्रमण करने वाला कौन?
- ५८१५ विचिकित्स सूत्र का स्वरूप।
- ५८१६ सूर्य अनुदित या उदित, सूर्य अस्तमित या अनस्तमित-इन विकल्पों के आधार पर होने वाले विविध भंग।
- ५८१७-५८२७ असंस्तृत के तीन प्रकार तथा उनका स्वरूप। उनसे निष्पन्न विविध प्रायश्चित्त आदि।

उग्गाल-पदं

सूत्र १०

- ५८२८ अभ्रसंस्तृत विचिकित्सा का स्वरूप तथा प्रायश्चित्त आदि।
- ५८२९ रात्री में आने वाले उद्गार को निगलने का प्रतिषेधात्मक सूत्र तथा द्रव्य प्रमाण का प्रतिपादन।
- ५८३०-५८३२ भिक्षु, आचार्य आदि को उद्गार संबंधी प्रायश्चित्त तथा दोष। अमात्यवटुक का उदाहरण।

गाथा संख्या विषय

- ५८३३ उद्गार होने का कारण।
 ५८३४-५८४५ संखड़ी भोजी साधु के दो प्रकार तथा उनके प्रकारान्तर और स्वरूप। तद्विषयक विविध पदों से संबंधित प्रायश्चित्त और प्रायश्चित्त के प्रस्तार की रचना।
 ५८४६-५८५४ उद्गार को लक्षित कर परिमित भोजन संबंधी विविध निर्देश। लोही कवल्ली का दृष्टांत। भोजन के प्रमाण विषयक अनादेश। आचार्य द्वारा समाधान।
 ५८५५ मुंह से निर्गत ससिक्थ द्रव को चबाने से भिक्षु, उपाध्याय आदि को प्राप्त होने वाला नानाविध प्रायश्चित्त। अदृष्ट में लघु, दृष्ट में गुरु।
 ५८५६-५८६० उद्गार निगलने संबंधी अपवाद और तद्विषयक रत्नवणिक का दृष्टान्त।

आहारविहि-पदं

सूत्र ११

- ५८६१ वान्त अनेषणीय ग्रहण की अयुक्तता।
 ५८६२ प्राण, बीज, रज आदि पदों की व्याख्या।
 ५८६३, ५८६४ त्रस जीवों के दो प्रकार तथा उनका स्वरूप।
 ५८६५, ५८६६ यतनापूर्वक भक्तपान का ग्रहण। ग्रहण करने पर पात्र में लिए हुए आहार की प्रेक्षा। अन्यथा प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष।
 ५८६७ भक्त आदि प्राणियों से संसक्त देश में जाने का संकल्प आदि करने से प्रायश्चित्त का नानात्व।
 ५८६८-५८७५ अशिव आदि कारणों से संसक्त देश में जाने पर संसजिम द्रव्यों को लेने के उपाय।
 ५८७६ क्षिप्र का अर्थ और उसका कालमान।
 ५८७७-५८८० प्राणीसंसक्त ओदन आदि द्रव्यों का परिष्ठापन कहां, कब, कैसे करना चाहिए? तदर्थ विधि।
 ५८८१-५८८३ संसक्त सक्तू के ग्रहण, प्रत्युपेक्षण, परिष्ठापन आदि की विधि।
 ५८८४ कांजी के संसक्त होने पर उसके शोधि की विधि तथा अन्य जलों के ग्रहण की विधि।
 ५८८५-५८९६ ग्लानत्व, अवम आदि आपवादिक कारणों में पिंड आदि की अप्रत्युपेक्षण विधि। ग्रहण, उपयोगविधि और यतनाएं।

पाणगविहि-पदं

सूत्र १२

- ५८९७ पानक विधि विधायक सूत्र तथा पानक के कायचतुष्क।

गाथा संख्या विषय

- ५८९८ दक, दकरज, दक स्पर्शित आदि पदों की व्याख्या।
 ५८९९-५९१८ उदक ग्रहण की विधि। अशुद्ध ज्ञात होने पर परिष्ठापन विधि। उष्ण-शीत के संगम से चतुर्भंगी का प्रतिपादन तथा अपवाद विधि।

मेहुणपडिसेवणा-पदं

सूत्र १३-१४

- ५९१९ प्रस्तुत सूत्र ब्रह्मव्रत रक्षा हेतु इन्द्रिय-श्रोत विषयक चर्चा।
 ५९२० पशु और पक्षी गण के उदाहरण।
 ५९२१ अनायतन में आर्याओं के अवस्थान; प्रस्रवण और उच्चार आदि के लिए जाना प्रतिषिद्ध। अन्यथा आज्ञाभंग आदि दोष और प्रायश्चित्त विधि।
 ५९२२-५९२४ पशु-पक्षियों के स्थान पर जाने से होने वाले दोष।
 ५९२५ आर्याओं के लिए हाथ में दंड लेकर बाहर निकलने की विधि।
 ५९२६ जहां पशु-पक्षी स्रोतोवगाहन करते हैं वहां रहने वाली आर्याओं को लगने वाला प्रायश्चित्त।
 ५९२७ कारणवश एकाकिनी साध्वी का रात्री में देह-चिन्ता निवारण के लिए जाने की विधि।
 ५९२८ किसी साध्वी के मोह उत्पन्न होने पर उसे विविध उपायों से उपशांत करने की विधि।

बंभचेरसुरक्खा-पदं

सूत्र १५

- ५९२९ ब्रह्मव्रत रक्षार्थ संयती वर्ग के लिए प्रतिपादक सूत्र तथा निर्गन्थों के लिए एकाकिसूत्र का निरूपण।
 ५९३०-५९३३ एकाकिनी साध्वी द्वारा भिक्षा आदि के लिए गमन करने पर प्राप्त होने वाला प्रायश्चित्त, दोष और उससे अपवाद।
 ५९३४ कारण में एकाकिनी साध्वी के लिए मार्गगत यतना।

सूत्र १६

- ५९३५ आर्याओं के लिए अचेलकत्व का निषेधसूत्र।
 ५९३६, ५९३७ साध्वी अचेलिका क्यों नहीं हो सकती?
 ५९३८, ५८३९ साध्वी के अचेलिका रहने पर आने वाला प्रायश्चित्त, दोष और अपवाद।

सूत्र १७

- ५९४०-५९४२ साध्वियों को पात्ररहित रहना अकल्पनीय। स्नुषा का दृष्टांत।

गाथा संख्या	विषय
५९४३	साध्वी पात्ररहित कब ? सूत्र १८
५९४४	आर्यिका के लिए व्युत्सृष्टकाय होने की अकल्पनीयता। अपवाद में उसकी कल्पनीयता। सूत्र १९, २०
५९४५	आतापना के तीन प्रकार तथा उनका अर्थ।
५९४६	निपन्न आतापना के तीन प्रकार तथा उसका वर्णन।
५९४७	निषण्ण आतापना तथा जघन्य आतापना के तीन-तीन प्रकार।
५९४८	मध्यम और जघन्य आतापना के तीन-तीन प्रकार।
५९४९	निपन्न आतापना उत्कृष्ट क्यों? उसका कारण।
५९५०	नौ प्रकार की आतापनाओं में से आर्यिकाओं के लिए कौन सी अनुज्ञात ?
५९५१, ५९५२	आर्या का आतापना कहां लेनी चाहिए? अविधि में दोष। सूत्र २१-२३
५९५३, ५९५४	स्थानायत, प्रतिमास्थित आदि पदों की व्याख्या। उसकी पांच निषेधाएं। आर्याओं के लिए उनका निषेध।
५९५५	ऊर्ध्वस्थान के स्थानविशेष में स्थित आर्याओं को होने वाली हानियां।
५९५६	आर्याओं के लिए कौन से आसन कल्पनीय तथा कौन से अकल्पनीय ?
५९५७	अभिग्रहरूप तप कर्म निर्जरा के लिए, फिर साध्वियों को प्रतिषेध क्यों? शिष्य की जिज्ञासा। आचार्य का समाधान।
५९५८	कायोत्सर्ग के दो प्रकार तथा आर्यिकाओं के लिए कौन सा कायोत्सर्ग प्रतिषिद्ध ?
५९५९	कौन सी आर्या मुनियों के लिए प्रशंसनीय नहीं होती ?
५९६०, ५९६१	कौन सी आर्यिकाएं शुद्ध ?
५९६२	केवली स्त्री भी गच्छवास में रहती है तो संयती के गच्छवास में रहने में क्या आपत्ति ?
५९६३	स्त्रीवेद के प्रज्वलित होने का कारण।
५९६४	गीतार्थ-अगीतार्थ के लिए व्युत्सृष्टकायिक पद कारण-अकारण में कल्पनीय।

गाथा संख्या	विषय
	आकुंचण पट्टादि-पदं सूत्र २४, २५
५९६५	ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए निर्ग्रन्थियों के लिए पट्ट आदि की अकल्पनीयता तथा निर्ग्रन्थों के लिए कल्पनीयता।
५९६६, ५९६७	पर्यस्तिकापट्ट को धारण करने पर साध्वी को लगने वाले दोष तथा उससे संबद्ध यतनाएं और अपवाद।
५९६८	पर्यस्तिकापट्ट की बनावट, प्रमाण और ग्रहण का प्रयोजन। सूत्र २६-२९
५९६९	पीढ-फलक पर बैठने से आर्यिकाओं को लगने वाले दोष। अपवाद में स्थविरा साध्वी के लिए उस पर बैठने की कल्पनीयता।
५९७०	मुनियों द्वारा कब स्थविरा साध्वी के लिए सविषाण पीढ-फलक लाने की विधि।
५९७१	श्रमणों के लिए पीढ-फलक की आज्ञा।
५९७२	फलक को ग्रहण करने के कारण। सूत्र ३०, ३१
५९७३	साध्वी के लिए वृत्त सहित अलाबुपात्र रखने की अकल्पनीयता। उससे लगने वाले दोष तथा उसके रखने की अपवाद विधि। सूत्र ३२, ३३
५९७४	निर्ग्रन्थियों के लिए दण्डयुक्त पात्रकेसरिका रखने की अनाज्ञा। उससे लगने वाला प्रायश्चित्त, अप्रतिलेखना और विराधना आदि दोष। सूत्र ३४, ३५
५९७५	निर्ग्रन्थियों को सनालपात्र और दारुदंडक को कारणवश ग्रहण करने की विधि। पासवण-पदं सूत्र ३६
५९७६	संयत-संयती के लिए मोक सूत्र का प्रतिपादन।
५९७७-५९८०	संयत संयती का तथा संयती संयत का मोक-प्रसवण को निशाकल्प मानकर रात्री में आचमन करने से प्रायश्चित्तविधि, आज्ञाभंग आदि दोष तथा अपवादविधि।
५९८१	मोक आचमन से शैक्ष के मन में होने वाला अन्यथा भाव।

गाथा संख्या	विषय
५९८२	प्रत्यनीक सार्थवाह को आभिचारुका विद्या से अनुकूल करने की विधि।
५९८३	मोक आचमन से तथा उच्छिष्ट मंत्र द्वारा साधु को वेदनामुक्त करने का उपाय।
५९८४	निशाकल्प गीतार्थ के लिए आचीर्ण। रात्री में मोक से आचमन की विधि। द्रव न रखने की पद्धति और अपवाद विधि।
५९८५	रात्री में शैक्ष द्वारा यतनापूर्वक द्रव रखने की विधि तथा मलनिरोध से होने वाले दोष।
५८८६-५९८८	परस्पर एक दूसरे का मोक पीने से होने वाले दोष तथा प्रायश्चित्त। देवी का दृष्टान्त। संयती का मोक पीने से होने वाले दोष।
५९८९	मोक का आचमन कब और कैसे?
५९९०-५९९६	मुनि को सर्प द्वारा काटे जाने पर स्वपक्ष का मोक विहित। आपवादिक आदि कारणों में साध्वियों के प्रतिश्रय में जाने की तथा वहां से मोक लाने की विधि। वहां रक्षणीय यतना।

परिवासियभोयण पदं

सूत्र ३७

५९९७	रात्री में मोक पीने की पद्धति तथा शेष आहार का अनाभोग।
५९९८-६००४	आहार-आनाहार क्या? शिष्य की जिज्ञासा आचार्य का उत्तर। आहार के चार प्रकार तथा उनका स्वरूप।
६००५-६०१२	परिवासित आहार तथा अनाहार विषयक दोषों का वर्णन और अपवादादि।

सूत्र ३८

६०१३,६०१४	आलेप तथा लोमाहार विषयक सूत्र का प्रतिपादन।
६०१५-६०१७	व्रण चिकित्सा में आलेपन और म्रक्षण—दोनों में पौर्वापर्य संबंध है या नहीं? शिष्य की जिज्ञासा तथा आचार्य द्वारा एकांतमत का खंडन।
६०१८	सूत्र में कथित होने के कारण रात्री में आलेप रखने से प्रायश्चित्त, आज्ञाभंग दोष आदि तथा विराधना।
६०१९-६०२४	आलेपन तथा परिवासित रात्री में रखने से लगने वाले दोष और उनका प्रायश्चित्त।

सूत्र ३९

६०२५	आलेपन के दो प्रकार तथा व्रण की चिकित्सा आलेप और म्रक्षण से करने की विधि।
------	--

गाथा संख्या	विषय
६०२६,६०२७	यदि परिवासित से म्रक्षण करना नहीं कल्पता तो क्या उसी दिन आनीत द्रव्य से म्रक्षण करना कैसे कल्पेगा? शिष्य की जिज्ञासा। आचार्य द्वारा समाधान। द्रव्य से म्रक्षण करने पर प्रायश्चित्त, आज्ञाभंग आदि दोष और विराधना का प्रसंग आदि।
६०२८,६०२९	अपवादपद में यतनापूर्वक म्रक्षण करने की विधि।
६०३०-६०३२	तद्विवस आनीत म्रक्षण की भांति परिवासित की भी कल्पनीयता तथा उससे चिकित्सा की विधि।

अहालहुसगववहार-पदं

सूत्र ४०

६०३३	मुनि के परिहारतप के कारणों का निर्देश।
६०३४,६०३५	पारिहारिक तप करने वाले मुनि के लिए वाद का प्रसंग उपस्थित हो जाने पर उसके द्वारा की जाने वाली प्रतिसेवनाओं का स्वरूप।
६०३६	पारिहारिक के लिए आचार्य द्वारा परिषद् में प्रायश्चित्त की प्रस्थापना।
६०३७	पारिहारिक को प्रायश्चित्त देने के अधिकारी कौन?
६०३८	दूसरों के विश्वास के लिए व्यवहार-प्रस्थापना की विधि।
६०३९,६०४०	व्यवहार के तीन प्रकार तथा तीनों के तीन-तीन प्रकार। इन व्यवहारों से यथानुपूर्वी प्रायश्चित्तों का निरूपण।
६०४१	गुरुक व्यवहार पक्ष में प्रायश्चित्त प्रतिपत्ति का स्वरूप।
६०४२	लघुक व्यवहार पक्ष में तथा लघुस्वक व्यवहार पक्ष में प्रायश्चित्त प्रतिपत्ति का स्वरूप।
६०४३	गुरु व्यवहार के पूर्ति विषयक तपःप्रतिपत्ति का निरूपण।
६०४४	तीन प्रकार के लघुक व्यवहार की तथा लघुस्वक व्यवहार, लघुतरकव्यवहार और यथालघुक-व्यवहार की तपःप्रतिपत्ति का निरूपण। परिहार-तपप्रायश्चित्त वहन करते मुनि के प्रति यथालघु-स्वक व्यवहार की प्रस्थापना करने की विधि। शुद्धि का स्वरूप।
६०४५,६०४६	शिष्य द्वारा प्रायश्चित्त लेने और आचार्य द्वारा प्रायश्चित्त देने की विधि।

गाथा संख्या विषय

पुलागभक्त-पदं सूत्र ४१

- ६०४७ ब्रतिनी विषयक यश संरक्षणार्थ प्रतिपादन सूत्र।
 ६०४८ पुलाक के तीन प्रकार तथा आचार्य, प्रवर्तिनी के द्वारा सूत्र न कहने पर, आर्याओं द्वारा स्वीकार न करने पर तथा सुभिक्ष में पुलाक ग्रहण करने पर सभी को प्रायश्चित्त।
 ६०४९ धान्यपुलाक, गंधपुलाक, रसपुलाक का स्वरूप।
 ६०५० पुलाक का अर्थ तथा उनकी निस्सारता का कारण।
 ६०५१-६०५७ तीनों प्रकार के पुलाकों के ग्रहण से लगने वाले दोषों का वर्णन तथा दुर्भिक्ष आदि कारणों में पुलाक भक्त के ग्रहण और खाने के बाद की यतनाएं।
 ६०५८ अवम आदि स्थानों में मद्य, पलांडु, लहसुन आदि द्रव्यों के ग्रहण का निषेध। पूर्व में गृहीत हो तो उन्हीं का भोजन करने की विधि तथा आतिथ्य के लिए अपवाद।
 ६०५९ निर्ग्रन्थों के लिए पुलाक संबंधी यतना।

छठा उद्देशक

अवयण-पदं सूत्र १

- ६०६०-६०६२ साध्वी के लिए कारणवश गंध पुलाक पीकर अलीक वचनों के बोलने का निषेध तथा पारिहारिक मुनि के लिए छह वचनों को छोड़कर वाद करने की विधि।
 ६०६३ अवक्तव्य वचनों के छह प्रकार।
 ६०६४ वक्ता और वचनीय का स्वरूप।
 ६०६५ अलीक वचन कहने वाले के भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रायश्चित्त की वक्तव्यता।
 ६०६६-६०८७ अलीक वचन के विविध स्थान। उनका स्वरूप तथा उनसे लगने वाला प्रायश्चित्त।
 ६०८८, ६०८९ हीला, खिसा, परुष, गृहस्थवचन आदि वचन बोलने वालों को लगने वाला प्रायश्चित्त।
 ६०९० हीलित वचन के दो आधार तथा उनका स्वरूप।
 ६०९१-६०९८ खिसितवचन का स्वरूप तथा तद्विषयक खिसना करने वाले साधु का दृष्टान्त।
 ६०९९-६१०१ परुष वचन के दो प्रकार तथा लौकिक परुष

गाथा संख्या विषय

वचन का स्वरूप तथा उससे संबद्ध व्याध और कौटुम्बिक पुत्रियों का दृष्टान्त।

- ६१०२-६१०४ लोकोत्तरिकपरुष वचन का स्वरूप। उसकी उत्पत्ति के पांच स्थान। तद्विषयक चंडरुद्र आचार्य का दृष्टान्त।
 ६१०५-६१०८ लोकोत्तरिक परुष वचन के पांच प्रकार तथा उनसे आने वाले प्रायश्चित्त की विविधता का स्वरूप।
 ६१०९, ६११० आचार्य की भांति उपाध्याय, भिक्षु, स्थविर तथा क्षुल्लक के साथ आलस आदि पदों में मौन आदि छह प्रकारों में यथाक्रम एक-एक प्रायश्चित्त की न्यूनता।
 ६१११ निर्ग्रन्थी वर्ग के पद के पांच प्रकार तथा उनके आश्रित प्रायश्चित्त की चारणिका।
 ६११२ सामान्य आगाढ़, निष्ठुर और कर्कश वचन बोलने पर तथा परुष वचन बोलकर प्रद्वेष से जो कुछ किया जाए, उनमें आने वाले प्रायश्चित्त की विविधता।
 ६११३-६१२० निष्ठुर, कर्कश, अगारस्थित और व्यवशमित-उदीरणा वचन का स्वरूप तथा तद्विषयक प्रायश्चित्त।
 ६१२१-६१२८ अलीक आदि छह प्रकार के वचन किस किस के लिए वक्तव्य होते हैं। उनका वर्णन तथा तद्विषयक अपवाद और यतनाएं।

कप्पस्स पत्थार-पदं

सूत्र २

- ६१२९ शोधिदान का अधिकृत सूत्र का निरूपण।
 ६१३० प्रस्तार का अर्थ। प्रस्तार के चार प्रकार।
 ६१३१ प्रायश्चित्त के दो भेद। तथा उनके अनेक भेद-प्रभेद।
 ६१३२ मुनि कब और कैसे दोष का स्वयं भागी बन जाता है?
 ६१३३ प्रस्तार के छह प्रकार।
 ६१३४-६१४१ प्राणवध विषयक प्रायश्चित्त प्रस्तार और तद्विषयक दर्दुर, शुक, सर्प, मूषक आदि का दृष्टान्त।
 ६१४२-६१४८ मृषावाद और अदत्तादान विषयक प्रायश्चित्त प्रस्तार और उनसे संबद्ध क्रमशः संखड़ी और मोदक का दृष्टान्त।

गाथा संख्या	विषय
६१४९-६१५२	अविरतिवाद विषयक प्रायश्चित्त प्रस्तार तथा रत्नाधिक के प्रति प्रतिशोध की भावना से अबमरान्तिक का व्यवहार। वातद का दृष्टान्त।
६१५३-६१५६	अपुरुषवाद विषयक प्रायश्चित्त प्रस्तार।
६१५७-६१६१	दासवाद विषयक प्रायश्चित्त प्रस्तार।
६१६२	प्रस्तार विषयक अपवाद।

कंटकादिनीहरण-पदं

सूत्र ३-६

६१६३	कल्पिक सूत्रों और अकल्पिक सूत्रों का भाजन।
६१६४	सूत्रतः अनुज्ञात का अर्थतः प्रतिषेध क्यों? उसका समाधान।
६१६५	अभ्याख्यान सिद्ध न करने पर उसी को प्रायश्चित्त।
६१६६	श्रमण के पैरों में कांटा लगने अथवा आंख में कणुक गिरने पर श्रमण द्वारा निकालने की विधि। व्यत्यास करने पर प्रायश्चित्त।
६१६७-६१७०	निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी के परस्पर कांटा निकालने तथा आंखों से कणुक निकालने पर होने वाले रागजनित दोष और स्पर्श से भाव संबंध होने की संभावना तथा अजापालक और रोहा परिव्राजिका का दृष्टान्त।
६१७१,६१७२	परस्पर कंटकोद्धरण करवाने पर प्राप्त होने वाला विविध प्रायश्चित्त।
६१७४,६१७५	श्रमण के अभाव में अन्य गृहस्थों से कंटकोहरण की विधि।
६१७६,६१७७	गृहस्थ के अभाव में नालबद्ध-अनालबद्ध स्त्रियों से कंटकोद्धरण की विधि।
६१७८,६१७९	कंटकोद्धरण करने साधुओं का अभाव कब? स्वपक्ष परपक्ष यतना का स्वरूप।
६१८०	स्त्री द्वारा कंटकोद्धरण की विधि।
६१८१	साध्वी द्वारा साधु के आंख से तृण अपनयन की विधि। सुभद्रा का उदाहरण।

निर्ग्रन्थी अवलंबण-पदं

सूत्र ७-९

६१८२	पंकविषयक तथा नौ विषयक सूत्र का प्रतिपादन।
६१८३	दुर्ग के तीन प्रकार तथा उनका स्वरूप। तीनों प्रकार के दुर्गों में निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी को निष्कारण अवलंबन देने से प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष।

गाथा संख्या	विषय
६१८४	निर्ग्रन्थी को अवलम्बन देने से लगने वाले दोष।
६१८५	विषम के तीन प्रकार। नौका आदि में निष्कारण निर्ग्रन्थी को अवलम्बन देने से दोष। कारण में यतनापूर्वक अवलम्बन देने की विधि।
६१८६	प्रस्खलन, प्रपतन का स्वरूप।
६१८७	निर्ग्रन्थी को दुर्ग या विषम में अवलम्बन देने वाला गीतार्थ तथा स्थविर निर्ग्रन्थ निर्दोष।
६१८८,६१८९	पंक, पनक तथा सेक आदि पदों की व्याख्या। तथा उनका स्वरूप।
६१९०,६१९१	निर्ग्रन्थ द्वारा निर्ग्रन्थी को नौका चढ़ाते समय अथवा जल के भीतर उसे अवलम्बन देने पर होने वाले दोष। अपवाद में यतनाएं।
६१९२	ग्रहण तथा अवलम्बन का अर्थ। उपरोक्त विधि से व्रतिनी द्वारा व्रती को ग्रहण करने या अवलम्बन देने पर मर्यादा का लोप नहीं।
६१९३	बाल, वृद्ध आदि अशक्त व्यक्ति के दुर्ग में जाने पर नालबद्ध-अनालबद्ध साध्वी द्वारा संरक्षण देना विहित।

सूत्र १०

६१९४	क्षिप्तचित्त के संबंध सूत्र की व्याख्या।
६१९५-६१९९	क्षिप्तचित्त होने के तीन कारण तथा उनके सोमिल आदि लौकिक उदाहरण।
६२००-६२०५	क्षिप्तचित्त को स्वस्थ करने की विधि।
६२०६-६२०९	हाथी, सिंह, शस्त्र, अग्नि आदि के भय से क्षिप्तचित्त साध्वी के लिए रक्षणीय यतना। यतना न करने पर प्रायश्चित्त।
६२१०-६२१७	क्षिप्तचित्त साध्वी की यतनापूर्वक संरक्षण के कारण और विधि। सार-संभाल न करने वाले को प्रायश्चित्त।
६२१८-६२२१	क्षिप्तचित्त साध्वी की प्रतिचर्या का कालमान। स्वस्थ न होने पर प्रतिचरण की विधि।
६२२२	दैविक तथा धातुक्षोभ विषयक यतनाएं।
६२२३	क्षिप्तचित्त साध्वी के स्वस्थ होने पर प्रायश्चित्त विषयक तीन आदेश।
६२२४,६२२५	वृद्धि हानि के आधार पर चारित्र विषयक चार भंग। किस किस श्रेणी वाले का चारित्र घटता-बढ़ता है, उसका निदर्शन।
६२२६,६२२७	क्षिप्तचित्त साध्वी के कर्मबंध न होने का कारण।
६२२८	कर्म के बंधक कौन ?

गाथा संख्या विषय

६२२९-६२३४ शिष्य की जिज्ञासा-यंत्रमयी नर्तकी परतंत्र होते हुए क्रिया के फल से युक्त नहीं होती तो क्षिप्तचित्त साध्वी विरुद्ध क्रियाएं करती हुई भी क्रिया फल से संबद्ध नहीं होती। आचार्य का युक्तिपूर्ण समाधान।

६२३५-६२४० व्यवहार के प्रकार तथा उनके आधार पर प्रायश्चित्त की गुरुता-लघुता।

सूत्र ११

६२४१ निर्गन्थी के दीप्तचित्त ज्ञायक सूत्र का निर्देश।

६२४२-६२४९ दीप्तचित्त होने के कारण। लाभमद से मत्त विषयक सातवाहन का दृष्टान्त।

६२५० किन प्रसंगों से लाकोत्तरिक दीप्तचित्त?

६२५१-६२५५ दीप्तचित्त साध्वी को युक्तपूर्ण उपाय से स्वस्थ करने की विधि।

सूत्र १२

६२५६, ६२५७ क्षिप्तचित्त और दीप्तचित्त-इन दोनों की भेदरेखा।

६२५८-६२६१ दीप्तचित्त में यक्षाविष्ट होने के दो कारण। उनसे संबंधित सपत्नी तथा मृतक सहोदर भाई का दृष्टान्त।

६२६२ यक्षाविष्ट साध्वी की चिकित्सा के लिए भूत-चिकित्सा कराने का निर्देश।

सूत्र १३

६२६३ मोह जनित उन्माद के विषय का प्रतिपादक सूत्र।

६२६४-६२६७ उन्माद होने के कारण। उसके तीन प्रकार तथा उनके प्रतिकार की विधि।

सूत्र १४

६२६८ आत्मसंवेदिक उपसर्ग की परिभाषा।

६२६९, ६२७० उपसर्ग के तीन प्रकार। उनका स्वरूप। मनुष्य कृत उपसर्ग के प्रतिकार की विधि। तिर्यचकृत उपसर्गों को स्वयं निवारित करने का विधान।

६२७१-६२७५ अभियोग के दो प्रकार। दोनों को लक्षण के द्वारा जानने की विधि। अभियोजित साध्वी के प्रतिकार की विधि।

६२७६ तिर्यचों के उपसर्ग से उपद्रुत संयती की रक्षा करने का निर्देश। अन्यथा श्रमण के लिए प्रायश्चित्त का विधान।

सूत्र १५

६२७७ किसी गृहस्थ अथवा परिजन द्वारा श्रमणी का अभिभव करने पर होने वाले कलह को मुनि द्वारा उपशांत करने का निर्देश।

गाथा संख्या विषय

६२७८ संयती का गृहस्थ के साथ कलह उत्पन्न होने पर गृहस्थ को शांत और निवारित करने की विधि।

सूत्र १६

६२७९ कलह करके, क्षमायाचना कर साध्वी को प्रायश्चित्त देने की विधि।

६२८० साध्वी को प्रायश्चित्तमुक्त कब करना चाहिए? प्रायश्चित्त वहन करती हुई क्लान्त साध्वी को आशवासन देने की विधि तथा क्षिप्तचित्त होने पर चिकित्सा कराने का निर्देश।

सूत्र १७

६२८१, ६२८२ प्रायश्चित्त तप के दो प्रकार। अनशन में साध्वी को आलम्बन देना निर्गन्थ के लिए कल्पनीय।

६२८३ असमाधि की अवस्था में साध्वी को समाधि उपजाने के उपाय।

६२८४ असमाधि अवस्था में साध्वी द्वारा अनशन का निर्वहन न कर सकने के कारण व्यवहार-प्रायश्चित्त देने की विधि। दूसरे गच्छ में जाने पर मिथ्यादुष्कृत से शुद्धि।

सूत्र १८

६२८५ अनशनग्रहण करने वाली 'यह मेरी सेवा करेगी' इस दृष्टि से दासी आदि को दीक्षित करना कल्पनीय।

६२९६-६२९९ अर्थजात की आवश्यकता कब? कहां? इनसे संबंधित राज सेवक की भार्या, अपरिग्रहगणिका आदि का उदाहरण।

६२९२-६३०९ ऋणार्त्त को मुक्त कराने के उपाय। ऋषिकन्या और मुनिपिता का उदाहरण।

६३१० परायत्त को दीक्षा देने और अनार्य देश में जाने की विधि।

पलिमंथू-पदं

सूत्र १९

६३११ दर्प से परायत्त को दीक्षित अथवा अनार्य देश में विहरण करने से परिमंथ।

६३१२ परिमंथ क्या? उसका स्वरूप।

६३१३ अन्त्य षट्कद्रव्य का प्रारंभ।

६३१४ परिमंथ निक्षेप के चार प्रकार और एकार्थक नाम।

६३१५ द्रव्य परिमंथ तथा भाव परिमंथ के चार-चार प्रकार और उनका स्वरूप।

गाथा संख्या	विषय	गाथा संख्या	विषय
६३१६	द्रव्यपरिमंथ मंथिक अर्थात् मन्थान के समान। साधु-समाचार भी परिमंथ से विनष्ट।	६३५५	कल्प के प्रकार की तरह स्थिति के प्रकार तथा स्थिति और मर्यादा की एकार्थता।
६३१७, ६३१८	कौन सा परिमंथ किसका? उसका निर्देश।	६३५६	प्रतिष्ठा आदि आठ पदों की एकार्थकता तथा स्थिति के तीन विशेष रूप।
६३१९, ६३२०	कौत्कुचिक के तीन प्रकार। उनका अर्थ और उनसे आने वाला प्रायश्चित्त, आज्ञाभंग आदि दोष।	६३५७	षड्विध कल्पस्थिति का प्रतिपादन।
६३२१, ६३२२	स्थान कौत्कुचिक का स्वरूप तथा उससे लगने वाली आत्म तथा संयमविराधना आदि दोष।	६३५८, ६३५९	सामायिक कल्पस्थिति का निरूपण। वह कितने स्थानों में स्थित, अस्थित और कितने स्थानों में प्रतिष्ठित हैं?
६३२३	शरीर कौत्कुचिक का स्वरूप।	६२६०	पहली कल्पस्थिति कितने स्थानों में स्थित और कितने में अस्थित। दूसरी कल्पस्थिति कितने स्थानों में स्थित होती है तथा निर्विशमान तथा निर्विष्ट कल्प का अर्थ।
६३२४, २४२५	भाषा कौत्कुचिक का स्वरूप। उससे होने वाले दोष। तद्विषयक श्रेष्ठी का दृष्टान्त।	६३६१	अवस्थित कल्प के चार प्रकार।
६३२६	पूर्व उल्लिखित मृत तथा सुप्त मुनि का दृष्टान्त।	६३६२	अनवस्थित कल्प के छह प्रकार।
६३२७, ६३२८	मौखरिक का स्वरूप तथा उससे निष्पन्न दोष और प्रायश्चित्त। तदसंबद्ध लेखहारक का दृष्टान्त।	६३६३, ६३६४	छेदोपस्थापनीय संयत की दसस्थानस्थितकल्प का निरूपण।
६३२९-६३३१	चक्षु लोलुप का स्वरूप तथा उससे लगने वाले दोष।	६३६५-६३६८	अचेल के दो प्रकार। उनका स्वरूप।
६३३२	तित्तिगिक का स्वरूप तथा इच्छालोभ का अर्थ तद्विषयक प्रायश्चित्त और दोष।	६३६९, ६३७०	तीर्थंकर परम्परा में अचेलकत्व और सचेलकत्व का विभाग। वस्त्रों का स्वरूप।
६३३३, ६३३४	निदान करने के दोष तथा उनका वर्जन।	६३७१	उत्कृष्ट उपधि आदि धारण करने के आपवादिक कारण।
६३३५-६३४२	साध्वाचार के छह परिमंथ से संबद्ध अपवाद आदि की विवेचना।	६३७२, ६३७३	निरुपहत के द्वारा लिंगभेद करने पर प्रायश्चित्त। लिंगभेद करने के आपवादिक कारण तथा लिंगभेद के प्रकार।
६३४३	निदान में अपवाद नहीं होने का कारण।	६३७४	अन्यलिंग कब और कैसे?
६३४४	निदान करने से भववृद्धि।	६३७५	आधाकर्म के एकार्थक तथा आधाकर्म के ग्रहण संबंधी प्रश्न।
६३४५	दरिद्र के भव की वांछा करने वालों के लिए बहुमूल्य रत्न को अल्पमूल्य में बेचने का उदाहरण।	६३७६	स्थितकल्प अथवा अस्थितकल्प साधु-साध्वियों के लिए कौन से भक्तपान की कल्पाकल्पनीयता।
६३४६	मुक्त कौन होता है?	६३७७	आधाकर्म भोजन किसको और कब कल्पनीय?
६३४७	बोधि प्राप्ति का हेतु क्या है?	६३७८	शय्यातर पिंड का प्रतिषेध तथा उसके ग्रहण करने पर अनेक दोष।
६३४८	कर्मबंध का कारण क्या है?	६३७९	शय्यातरपिंड ग्रहण किन कारणों में।
सूत्र २०		६३८०	कृतयोगी मुनि सागारिकपिंड की निषेवना कब करे?
६३४९	कल्पस्थिति की व्याख्या।	६३८१	राजपिंड विषयक ग्रहण-अग्रहण की सभी दृष्टियों से मीमांसा।
६३५०	निश्चय और व्यवहार नय के आधार पर कल्प और स्थिति का निरूपण।	६३८२	राजा के दो प्रकार तथा उनका स्वरूप।
६३५१-६३५३	स्थिति और स्थान, गति और गमन का एकत्व क्यों?	६३८३	राजा की चतुर्भंगी तथा उनमें किसका राजपिंड ग्रहणीय?
६३५४	स्थान और स्थिति, गमन और गति में किस अपेक्षा से नानात्व-अनानात्व?		

गाथा संख्या विषय

- ६३८४ राजपिंड के आठ प्रकार।
 ६३८५ आठ प्रकार के राजपिंड में किसी भी प्रकार का राजपिंड ग्रहण करने से लगने वाले दोष।
 ६३८६-६३८८ भिक्षार्थ गए हुए भिक्षु के ईश्वर आदि के निर्गमन और प्रवेश करते समय व्याघात के कारण तथा ईश्वर आदि पदों का तात्पर्य।
 ६३८९-६३९७ राजभवन में भिक्षा के लिए जाने पर लगने वाले दोष और प्रायश्चित्त विधि।
 ६३९८ कृतिकर्म के दो प्रकार। श्रमण श्रमणियों को परस्पर करणीय।
 ६३९९ श्रमणियों के लिए श्रमणों का कृतिकर्म करना क्यों आवश्यक?
 ६४००, ६४०१ साधु द्वारा साध्वी वन्दनीय क्यों नहीं?
 ६४०२ पंचयाम धर्म के प्रवर्तक तथा चतुर्याम धर्म के प्रवर्तक तीर्थंकर।
 ६४०३ कौन-कौन से तीर्थंकरों के साधुओं का कल्प दुर्विशोध्य, दुरनुपाल्य और सुविशोध्य होता है?
 ६४०४-६४०६ प्रथम तथा चरम तीर्थंकर के मुनियों पर अनुशासन करना कष्टप्रद क्यों?
 ६४०७ मध्यम तीर्थंकर के मुनियों पर अनुशासन करना सुगम क्यों?
 ६४०८ कृतिकर्मज्येष्ठ कौन?
 ६४०९ जिन स्थानों में उपस्थापन होती है, उन स्थानों का उल्लेख। उसके तीन आदेश।
 ६४१०, ६४११ पहले आदेश का स्वरूप।
 ६४१२, ६४१३ दूसरे आदेश का स्वरूप।
 ६४१४ तीसरे आदेश का स्वरूप।
 ६४१५ उपस्थापना कब?
 ६४१६ मिथ्यादुष्कृत मात्र से मुनि की शुद्धि कब?
 ६४१७ पुनः उपस्थापना किसको नहीं?
 ६४१८ मूलतः उपस्थापना कब? किसको?
 ६४१९ क्षिप्तचित्त आदि के कारण षड्जीविकाय की विराधना करने पर गुरु के पास आलोचना आवश्यक।
 ६४२० मूलच्छेद्य प्रायश्चित्त कैसे कराए?
 ६४२१, ६४२२ प्रायश्चित्त योग्य को अनुचित प्रायश्चित्त, अप्रायश्चित्ती को प्रायश्चित्त तथा प्रायश्चित्ती को अतिमात्रा में प्रायश्चित्त देना मोक्ष मार्ग की विराधना का हेतु।

गाथा संख्या विषय

- ६४२३ सूत्रातिरिक्त प्रायश्चित्त देने पर लगने वाले दोष।
 ६४२४ उन्मार्ग देशना से महापोह का बंधन।
 ६४२५ प्रतिक्रमणयुक्त धर्म किन-किन तीर्थंकरों का होता है?
 ६४२६ कौन से साधु गमनागमन आदि करते हुए नियमतः प्रातः सायं का प्रतिक्रमण करते हैं?
 ६४२७-६४३० अतिचार न होने पर प्रतिक्रमण निरर्थक है। शिष्य की शंका। आचार्य द्वारा उदाहरण पूर्वक समाधान।
 ६४३१ मासकल्प के दो प्रकार। प्रत्येक के दो-दो प्रकार।
 ६४३२ पर्युषणाकल्प किसको और कितने प्रकार का होता है?
 ६४३३ पर्युषणाकल्प का कालमान तथा किन तीर्थंकरों के स्थित और किन तीर्थंकरों के अस्थित होता है? पर्युषणाकल्प में व्यत्यास का कारण।
 ६४३४ प्रथम-चरम तीर्थंकरों के स्थविरकल्पी के पर्युषण कल्प का कालमान तथा ऋतुबद्ध का कालमान। अशिव आदि में हीनाधिक। जिनकल्पिक साधुओं के वही और ऋतुबद्धकाल में पर्युषणाकल्प की मर्यादा।
 ६४३५, ६४३६ मध्यम तीर्थंकरों के स्थविरकल्पी और जिनकल्पी मुनि तथा महाविदेह के स्थविरकल्पी और जिनकल्पी मुनि अस्थितकल्पी।
 ६४३७ स्थितकल्प और अस्थितकल्प विषयक मर्यादा में प्रमाद करने वाला पार्श्वस्थ।
 ६४३८ पार्श्वस्थ के स्थान की गवेषणा करने वाला असंविग्नविहारी।
 ६४३९ पार्श्वस्थ आदि के स्थान का विवर्जन करने वाला मुनि शुद्ध।
 ६४४०, ६४४१ कैसे साधु के साथ संभोज का व्यवहार रखे?
 ६४४२ स्थापनाकल्प के दो प्रकार तथा अकल्पिक से आहार ग्रहण करने और उसे देने का निषेध।
 ६४४३ शैक्षस्थापना कल्प का स्वरूप।
 ६४४४ उत्तरगुणकल्पिक का स्वरूप।
 ६४४५, ६४४६ सदृशकल्पी आदि साधुओं के साथ संस्तव करने तथा उनसे भक्तपान ग्रहण करने का निर्देश।
 ६४४७ परिहारकल्प का निरूपण तथा उसकी सामाचारी का आनुपूर्वी से कथन।
 ६४४८ कल्प के प्ररूपक कौन होते हैं?

गाथा संख्या विषय

- ६४४९-६४५२ पूर्व-पश्चिम तीर्थकरों के परिहारकल्पिकों का गच्छ कितने काल-संयोग तक परम्परा से अनुवर्तित होता है? शिष्य की जिज्ञासा। आचार्य का समाधान।
- ६४५३ कल्प का स्वीकार किससे?
- ६४५४-६४५६ परिहारकल्प के स्वीकार करने वाले मुनियों की अर्हताएं।
- ६४५७ अरिहंतों से पूछकर कल्प को स्वीकार करने की विधि। तथा उनके द्वारा सामाचारी आदि का निदर्शन।
- ६४५८ अरिहंतों द्वारा गणप्रमाण, उपधिप्रमाण आदि का उपदेश।
- ६४५९ भक्तपान विषयक तथा उपधि विषयक क्रमशः सात-पांच एषणाएं। उनमें अभिग्रह धारण की विधि।
- ६४६० कल्प को स्वीकार करने का समय तथा तीन गणों की स्थापना।
- ६४६१ तीन गणों में जघन्यतः और उत्कृष्टतः पुरुष संख्या।
- ६४६२ गणों की उत्कृष्टतः और जघन्यतः संख्या प्रमाण।
- ६४६३ नौ पुरुषों में कल्पस्थित, पारिहारिक, अनुपारिहारिक की स्थापना विधि।
- ६४६४, ६४६५ कल्प प्रतिपन्न के अठारह महीने तक उपद्रव नहीं। उसके पश्चात् उपद्रव संभव।
- ६४६६ कल्प के स्थापित होने पर एक-दो या अनेक व्यक्तियों के उपसंपन्न होने पर वे पारिहारिकों के अकल्पनीय नहीं।
- ६४६७ कल्प के न्यून हो जाने पर उतने ही मुनियों का गण में प्रवेश।
- ६४६८ कल्प अन्यून हो, प्रविष्ट होने वाले उपसंपन्न मुनि यदि नौ हों तो अन्य गण की स्थापना का निर्देश।
- ६४६९ कल्प में पारिहारिकों द्वारा अथवा अनुपारिहारिकों के द्वारा अपराध हो जाने पर कल्पस्थित तथा गीतार्थ मुनि प्रायश्चित्त देने में प्रमाणभूत।
- ६४७० पारिहारिक और अनुपारिहारिक मुनियों की कल्पस्थित के सम्मुख आलोचना लेने की तथा

गाथा संख्या विषय

- अनुपारिहारिकों की पारिहारिकों के पीछे-पीछे घूमने की विधि।
- ६४७१ पारिहारिकों के लिए नौ आदमियों के साथ सूत्रार्थ की प्रतिपृच्छा आदि करने की अकल्पनीयता। कारण में आलाप आदि की विधि।
- ६४७२, ६४७३ पारिहारिककल्प मुनियों के विविध तपस्या की तालिका तथा कल्पस्थित के लिए पारिहारिक मुनियों द्वारा भक्तपान लाने की विधि।
- ६४७४ पारिहारिक, अनुपारिहारिक तथा कल्पस्थित मुनियों की तपस्या का क्रम।
- ६४७५ अनुपारिहारिक और पारिहारिक मुनियों के परस्पर अन्यस्थानों में कालभेद से वैयावृत्य करने की विधि।
- ६४७६-६४७८ छह-छह महीनों तक क्रमशः पारिहारिक, अनुपारिहारिक तथा कल्पस्थित मुनियों के तपस्या करने की विधि।
- ६४७९ अठारह महीने का कल्प संपन्न करने के पश्चात् उनमें से जिनकल्पी मुनि के लिए आगे साधना की विधि।
- ६४८० स्थविरकल्पिक मुनियों के अठारह मास पूर्ण होने पर पुनः गच्छ में आने की विधि।
- ६४८१ निर्विशमानक तथा निर्विष्टकायिक कल्पस्थिति का निरूपण।
- ६४८२ जिनकल्पी के श्रुत-संहनन का निरूपण।
- ६४८३, ६४८४ जिनकल्पचारित्र तथा जिनकल्पस्थिति को स्वीकार करने की अर्हताएं।
- ६४८५ स्थविरकल्पी की विशेषताएं।
- ६४८६ उत्सर्गतः अपवादतः स्थविरकल्प की स्थिति।
- ६४८७ प्रलंब सूत्र से षड्विधकल्प पर्यन्त उत्सर्ग में अपवाद और अपवाद में उत्सर्ग करने वाला आशातना का भागी।
- ६४८८ षड्विधकल्पस्थिति को जानकर श्रद्धा आदि करने वाले को लाभ।
- ६४८९ छेद सूत्र के रहस्यों को अयोग्य शिष्य को बताने वाला अनन्तसंसारि।
- ६४९० योग्य शिष्य को छेद सूत्रों के रहस्य बताने वाला मोक्ष का अधिकारी।

तीसरा उद्देशक
(गाथा ३६७९-४८७६)

तीसरा उद्देशक

निग्गंथिउवस्सय-पदं

नो कप्पइ निग्गंथाणं निग्गंथीणं
उवस्सयंसि चिद्धित्तए वा निसीइत्तए वा
तुयद्धित्तए वा निद्दाइत्तए वा पयलाइत्तए वा,
असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा
आहारमाहारेत्तए, उच्चारं वा पासवणं वा
खेलं वा सिंघाणं वा परिद्धवेत्तए, सज्झायं
वा करेत्तए, झाणं वा झाइत्तए, काउस्सग्गं
वा ठाणं ठाइत्तए॥

(सूत्र १)

३६७९.वत्थाणि एवमादीणि गणहरो गेण्हिउं सयं चेव।
वच्चति वतिणीवसहिं, पवत्तिणीए पणामेउं॥

दूसरे उद्देशक के अंतिम में दो सूत्रों में कथित वस्त्र, जो निर्गन्थी के प्रायोग्य हों, उन्हें लेकर गणधर साध्वियों की वसति में जाए और वे वस्त्र स्वयं प्रवर्तिनी को सौंप दे।

३६८०.बीएहिं उ संसत्तो, बितियस्सातिम्मि इह उ इत्थीहिं।

बितिए उवस्सगा वा, पगता इहइं पि सो चेव॥

दूसरे उद्देशक में बीजों से संसक्त उपाश्रय की बात कही थी। तीसरे उद्देशक में स्त्रियों से संसक्त उपाश्रय का कथन है। अथवा दूसरे उद्देशक के अनेक सूत्रों में उपाश्रय का कथन है जिनमें साधुओं को रहना नहीं कल्पता। प्रस्तुत उद्देशक के आदिसूत्र में उसी उपाश्रय का कथन है।

३६८१.तत्थ अकारण गमणं, पडुच्च सुत्तं इमं समुदियं तु।

कज्जेण वा गते तू, तुवट्टमादीणि वारेत्ति॥

प्रस्तुत सूत्र साध्वियों के उपाश्रय में बिना कारण जाने के विषय में है। बिना कारण वहां जाने का प्रतिषेध है। यदि कार्यवश जाए तो वहां त्वग्वर्तन आदि न करे।

३६८२.आपुच्छमणापुच्छा, व अकज्जे चउगुरुं तु वच्चंते।

आपुच्छिय पडिसिद्धे, सुद्धा लग्गा उवेहंता॥

आचार्य को पूछ कर या बिना पूछे बिना कोई कार्य आर्या

के उपाश्रय में जाए तो चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त है। यदि आचार्य पूछने पर प्रतिषेध करते हैं तो वे शुद्ध हैं—प्रायश्चित्त के भागी नहीं हैं। यदि वे उपेक्षा करते हैं तो प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।

३६८३.चउरो गुरुगा लहुगा, मासो गुरुगो य होति लहुगो य।
आयरिए अभिसेगे, भिक्खुम्मि य गीतऽगीतत्थे॥

आचार्य यदि बिना कारण आर्या के उपाश्रय में जाते हैं तो चतुर्गुरु, अभिषेक को चतुर्लघु, गीतार्थ भिक्षु को गुरुमास और अगीतार्थ मुनि को लघुमास—ये प्रायश्चित्त विहित हैं।

३६८४.गमणे दूरे संकिय,

णिस्संकऽभिलाव कक्ख सतिकरणं।

ओभासण पडिसुणणे,

संपत्ताऽऽरोवणा भणिता॥

१. संयति के उपाश्रय में निष्कारण गमन करना।

२. वहां दूर स्थित साध्वियों को पहचानना।

३. कौन-कौन हैं ऐसी शंका करना।

४. अमुक-अमुक हैं ऐसे निःशंकित होना।

५. उनके साथ बातचीत करना।

६. कक्षांतर आदि देखना।

७. अपनी भार्या की स्मृति करना।

८. प्रतिसेवना की बात करना।

९. साध्वी द्वारा स्वीकृति प्राप्त कर लेना।

१०.समागम करना।

इन दसों स्थानों में वक्ष्यमाण आरोपणा प्रायश्चित्त आता है।

३६८५.भावम्मि उ संबंधो, सतिकरणं एरिसा वा सा आसि।

अहवा णं इणमट्टं, पणएभि सती भवति एसा॥

आर्या के साथ भावतः संबंध स्थापित हो जाने पर स्मृति होती है कि वह मेरी आर्या भी ऐसी ही थी। अथवा इस आर्या को मैं प्रतिसेवना के लिए प्रार्थना करूँ—यह स्मृतिकरण है।

३६८६.चउरो य अणुग्घाया, लहुगो लहुगा य होंति गुरुगा य।

छम्मासा लहु-गुरुगा, छेदो मूलं तह दुगं च॥

आर्या के प्रतिश्रय में गमन करने पर चार अनुद्घात

मास, दूर-दर्शन में लघुमास, शंका में चतुर्लघु, निःशंकिता में चतुर्गुरु, आलाप में षट् लघुमास, कक्षान्तर आदि के अवलोकन में षड्गुरु, स्मृतिकरण में छेद, प्रतिसेवना की बात कहने पर मूल, स्वीकृति की अनवस्थाप्य और प्रतिसेवना में पारांचिक।

३६८७. निष्कारणगमणाम्भिं, बहवे दोसा य पच्यवाता य।
जिण-थेरपडिक्कुद्धा, तेसिं चाऽऽरोवणा इणमो॥

आर्या के उपाश्रय में निष्कारण गमन करने में अनेक दोष और प्रत्यपाय हैं। जिनेश्वर ने और स्थविरो ने इसका प्रतिषेध किया है। इन दोषों की यह आरोपणा-प्रायश्चित्त है।

३६८८. चिद्धित्त णिसीइत्ता, तुयइ णिद्दा य पयल सज्झाए।
झाणा-ऽऽहार-विहारे, पच्छित्ते मग्गणा होइ॥

आर्या के उपाश्रय में खड़े रहना, बैठना, विश्राम करना, निद्रा लेना, प्रचला लेना, स्वाध्याय-ध्यान करना, आहार करना, विहार करना या उच्चार-प्रस्रवण करना कायोत्सर्ग करना नहीं कल्पता। ये सब करने पर प्रायश्चित्त की मार्गणा होती है।

३६८९. एतेसिं तु पयाणं, पत्तेय परूवणा विभागो य।
जो एत्थं आवण्णोऽणावण्णो वा वि जो एत्थं॥

इन पदों में प्रत्येक की प्ररूपणा और विभाग करना चाहिए। जो इन पदों के दोषों को प्राप्त है या नहीं उसका कथन करना चाहिए।

३६९०. निष्कारणमविहीए, निष्कारणओ तहेव य विहीए।
कारणओ अविहीए, कारणतो चेव य विहीए॥

३६९१. आदिभयणाण तिण्हं, अण्णतरिए उ संजतीसेज्जं।
जे भिक्खू पविसेज्जा, सो पावति आणमादीणि॥

आर्या के प्रतिश्रय में प्रवेश के चार विकल्प हैं—

१. निष्कारण अविधि से।
२. निष्कारण विधिपूर्वक।
३. कारण में अविधि से।
४. कारण में विधिपूर्वक।

प्रथम तीन विकल्पों में से किसी भी विकल्प में आर्या के प्रतिश्रय में जो भिक्षु प्रवेश करता है वह आज्ञाभंग आदि दोषों को प्राप्त होता है।

३६९२. निष्कारणमि गुरुगा, तीसु वि ठाणेसु मासियं गुरुगं।
लहुगा य दारमूले, अतिगयमेत्ते गुरू पुच्छा॥

आर्या की वसति में निष्कारण जाने पर चतुर्गुरुक, तीनों स्थानों में अविधि से प्रवेश करने पर गुरुमास। तीन स्थान ये हैं—अग्रद्वार, मध्यभाग, निकटभाग। अग्रद्वार के समीप ठहर

जाने पर चतुर्लघु, मध्यभाग में एक पैर भी रखने पर चतुर्गुरु। शिष्य पूछता है—

३६९३. पाणाइवायमादी, असेवतो केण होंति गुरुगा उ।
कीस व बाहिं लहुगा, अंतो गुरु चोतगं! सुणेहिं॥

भंते! प्राणातिपात आदि का सेवन न करने पर भी चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त क्यों होता है? द्वारमूल में स्थित के चतुर्लघु और अंतःप्रविष्ट के चतुर्गुरु क्यों? आचार्य कहते हैं—शिष्य! सुनो।

३६९४. वीसत्था य गिलाणा,

खमिय वियारे य भिक्ख सज्झाए।

पालीय होइ भेदो,

अप्पाण परे तदुभए य॥

कोई आर्या वहां विश्वस्त अर्थात् अपावृत बैठी हो, अथवा कोई ग्लान या तपस्विनी साध्वी बैठी हो, विचारभूमी या भिक्षाचर्या के लिए या स्वाध्यायभूमी में प्रस्थित हों तो उनके व्याघात होता है। साध्वी के पाली अर्थात् मर्यादा (अथवा वसतिपालिका) का भेद होता है। वह भेद आत्मसमुत्थ, परसमुत्थ और उभयसमुत्थ हो सकता है।

३६९५. काई सुहवीसत्था, दरजिमिय अवाउडा य पयजाति।
अतिगतमेत्ते य तहिं, संकिय पपलाइया थद्धा॥

अपने उपाश्रय में कोई आर्या अपावृत होकर सुखपूर्वक बैठी है। कोई आधा भोजन कर बैठी है। कोई अपावृत होकर बैठी-बैठी नींद ले रही है। संयत के अकस्मात् प्रवेश करने मात्र से वह आर्या सोचती है—इस संयत ने मुझे अपावृत देख लिया है—इस शंका मात्र से वह वहां से पलायन कर जाती है और स्तब्ध हो जाती है।

३६९६. वीरल्लसउणवित्तासियं जहा सउणिवंदयं वुण्णं।
वच्चति णिरावयक्खं, दिसि-विदिसाओ विभज्जंतं॥

३६९७. तम्मि य अतिगतमित्ते, वित्तथाओ जहेव ता सउणी।
जेणहंति य संघाडिं, रयहरणे यावि मग्गंति॥

जैसे बाज पक्षी से अत्यंत त्रस्त होकर पक्षियों का समूह विषण्ण होकर, अपने शावकों से निरपेक्ष होकर, दिशाओं और विदिशाओं में विभक्त होकर पलायन कर जाते हैं, दशों दिशाओं में उड़ जाते हैं। उसी प्रकार उस आर्या-वसति में संयत के अकस्मात् आने मात्र से साध्वीवृन्द भी त्रस्त होकर इधर-उधर चला जाता है। कोई आर्या अपनी संघाटी को संभालती है, कोई रजोहरण की मार्गणा करती है, ढूंढती है।

३६९८. छक्कायाण विराहण, पक्खुलणं खाणु कंटए विलिया।
थद्धा य पेच्छित्तं भावभेओ दोसा उ वीसत्थे॥

त्रस्त होकर इधर-उधर पलायन करने पर षट्काय की

विराधना हो सकती है। आर्या प्रस्खलित होकर गिर सकती है। पैरों में स्थाणु और कांटे लग सकते हैं। 'विलिया'—लज्जित होकर वह फांसी आदि ले सकती है। वह स्तब्ध हो सकती है। उस अवस्था में उस संयती को देखकर अन्य आर्याकाओं का भावभेद हो सकता है। ये सारे दोष अपावृत आर्या के विषय में हो सकते हैं।

३६९९. कालाइकमदाणे, गाढतरं होज्ज णेव पउणेज्जा।

संखोभेण गिरोधो, मुच्छा मरणं व असमाही॥

मुनि के कारण ग्लान साध्वी के कालातिक्रमण होने से—विलम्ब से भक्तपान देने से ग्लानत्व गाढतर हो जाता है और वह साध्वी आरोग्यलाभ नहीं कर पाती। संक्षोभ से कायिकी और संज्ञा का निरोध होता है। उससे मूर्च्छा, मृत्यु या असमाधि होती है।

३७००. पारणगपट्टिया आणियं च अविगडियऽदंसिय ण भुंजे।

अचियत्त अंतराए, परिताव असम्भवयणे य॥

तपस्विनी आर्या पारणक के लिए प्रस्थित हुई अथवा पारणक ले आई। प्रवर्तिनी समागत मुनि के पास बैठी हैं। उस स्थिति में उनको दिखाए बिना, बिना आलोचना किए वह उसका उपभोग नहीं करती। ऐसी स्थिति में उसके अप्रीति बढ़ती है, अंतराय होता है, आगाढ़ परिताप होता है। वह आगंतुक मुनि के प्रति असम्भवचन बोलती है—'यह हमारे कार्य में कीलक बनकर कहां से आ गया?'

३७०१. नोल्लेऊण ण सक्का, अंतो वा होज्ज णत्थि वीयारो।

संते वा ण पवत्तति, णिच्छुभण विणास गरिहा य॥

साधु द्वारमूल में स्थित होने के कारण उसका उल्लंघन नहीं किया जा सकता। उपाश्रय के भीतर विचारभूमी है, परंतु शय्यातर ने उसकी अनुज्ञा नहीं दी है। यदि अनुज्ञा दी भी हो तो प्रतिदिन संज्ञा-निवृत्ति के लिए बाहर जाने की आदत के कारण वहां संज्ञा से निवृत्ति नहीं होती। यदि अननुज्ञात स्थान में संज्ञा-निवृत्ति की जाती है तो शय्यातर वहां से निष्काशन भी कर सकता है। उससे विनाश और गर्हा हो सकती है।

३७०२. सइकालफेडणे एसणादिपेल्लंतऽपेल्लणे हाणी।

संकायऽभाविएसु य, कुलेसु दोसा चरंतीणं॥

संयत के आगमन से भिक्षा का सत्काल-देश-काल बीत जाता है। अवेला में भिक्षा के लिए घूमने पर साध्वियों को एषणा की शुद्धि के लिए बहुत प्रयत्न करना होता है। प्रयत्न न करने पर हानि होती है। अभावितकुलों में भिक्षा के लिए अवेला में जाने पर शंका आदि अनेक दोष होते हैं।

३७०३. सज्झाए वाघातो, विहारभूमिं व पत्थिय णियत्ता।

अकरण णासाऽऽरोवण, सुत्तऽत्थ विणा य जे दोसा॥

स्वाध्याय में व्याघात होता है। साध्वियां विहारभूमी—स्वाध्याय भूमी के लिए प्रस्थित हैं, परन्तु मुनि को वहां आए हुए देखकर वे निवृत्त हो जाती हैं, नहीं जाती। सूत्रपौरुषी और अर्थपौरुषी न करने पर सूत्र और अर्थ का नाश होता है। उसका यह प्रायश्चित्त है—सूत्र का नाश होने पर चतुर्लघु और अर्थ का नाश होने पर चतुर्गुरु। सूत्र और अर्थ के बिना चरण-करण की हानि आदि जो दोष होते हैं, उनसे निष्पन्न प्रायश्चित्त भी आता है। यह सारा प्रायश्चित्त आगन्तुक संयत को वहन करना होता है।

३७०४. संजममहातलागस्स णाणवेरग्गसुपडिपुण्णस्स।

सुद्धपरिणामजुत्तो, तस्स उ अणइकमो पाली॥

संयमरूपी एक महान् तालाब है। वह ज्ञान और वैराग्य से प्रतिपूर्ण है। वह शुद्ध परिणामों से युक्त है। उसका अतिक्रमण न करना यह उसकी पालि है।

३७०५. संजमअभिमुहस्स वि, विसुद्धपरिणामभावजुत्तस्स।

विकहादिसमुप्पण्णो, तस्स उ भेदो मुणेयव्वो॥

जो मुनि संयम के अभिमुख है, जो विशुद्धपरिणामभाव से युक्त है, उसके भी विकथा आदि करने से समुत्पन्न भेद पालिभेद जानना चाहिए।

३७०६. अहवा पालयतीति, उवस्सयं तेण होति सा पाली।

तीसे जायति भेदो, अप्पाण-परोभयसमुत्थो॥

अथवा जो उपाश्रय का पालन-रक्षण करती है, वह है पालि। उस पालीभूत (वसतिपालिका) आर्या के मन में संयत को देखकर आत्मसमुत्थ, परसमुत्थ या उभयसमुत्थ भेद होता है।

३७०७. मोहतिगिच्छा खमणं,

करेमि अहमवि य बोहि पुच्छा य।

मरणं वा अचियत्ता,

अहमवि एमेव संबंधो॥

(मुनि साध्वी के उपाश्रय में गया। वहां वसतिपालिका अकेली साध्वी थी। मुनि ने पूछा—क्या भिक्षा के लिए नहीं गई? उसने कहा—आज उपवास है। मुनि ने पूछा—क्यों? साध्वी बोली—) 'मैं मोह की चिकित्सा के लिए क्षपण कर रही हूं।' मुनि ने भी कहा—'मैं भी मोह-चिकित्सा के लिए क्षपण कर रहा हूं।' मुनि ने पूछा—'आर्ये! आपको बोधि कैसे प्राप्त हुई?' आर्यिका बोली—'मेरे भर्ता की मृत्यु हो गई। अथवा मैं उसके लिए प्रिय नहीं रही, इसलिए प्रव्रजित हो गई।' आर्यिका के पूछने पर मुनि ने कहा—'मैं भी अपनी प्रिय

पत्नी का वियोग हो जाने पर प्रव्रजित हो गया।' इस प्रकार दोनों में भावसंबंध हो गया।

३७०८.ओमाणस्स व दोसा, तस्स व गमणेण सग्गलोगस्स।

महतरियपभावेण य, लद्धा मे संजमे बोही॥

३७०९.पद्मिता मि घरासे, तेण हतासेण तो ठिता धम्मे।

सिद्धं दाइ रहस्सं, ण कहिज्जइ जं अणत्तस्स॥

आर्थिका कहती है—'सौत के कारण मेरा पति मुझे अपमान की दृष्टि से देखने लगा, इस दोष के कारण अथवा पति के स्वर्गगमन कर देने पर तथा महत्तरिका के प्रवचनों के प्रभाव से मुझे संयम में बोधि प्राप्त हुई। मैं दीक्षित हो गई। अथवा गृहवास में कुपति से बहुत अधिक क्लेश प्राप्त कर अन्त में मैं इस प्रकार धर्म में स्थित हुई हूँ। मैंने यह रहस्य अभी आपके समक्ष प्रगट किया है। यह रहस्य किसी अनाम व्यक्ति के समक्ष नहीं कहा जा सकता।'

३७१०.रिक्खस्स वा वि दोसो,

अलक्खणो सा अभागधिज्जो णु।

न य निग्गुणा मि अज्जो!

तुब्भे वि य नाहिइ विसेसं॥

अथवा 'मेरे पाणिग्रहण के समय जो नक्षत्र था, उसका कोई दोष हो कि मुझे अलक्षणवाला तथा भाग्यहीन भर्ता मिला। आर्य! मैं निर्गुण नहीं हूँ। आप मेरे विषय में विशेष जान पायेंगे।'

३७११.इड्ढकलत्तविओगे, अण्णम्मि य तारिसे अविज्जंते।

महतरयपभावेण य, अहमवि एमेव संबंधो॥

आर्थिका का यह कथन सुनकर मुनि बोला—'प्रिय पत्नी का वियोग हो जाने पर तथा दूसरी वैसी पत्नी की अविद्यमानता में, तथा महत्तर—आचार्य के धर्म प्रवचनों के प्रभाव से मैं भी प्रव्रजित हो गया।' इस प्रकार दोनों का परस्पर भाव-संबंध हो जाता है।

३७१२.किं पिच्छह सारिक्खं, मोहं मे णेति मज्झ वि तहेव।

उच्छंगगता मि मत्ता, इहरा ण वि पत्तियंतो मि॥

मुनि संयती की ओर देखने लगा। आर्या ने कहा—'क्या देख रहे हैं?' मुनि ने कहा—'मेरी पत्नी तुम्हारे सदृश थी, इसलिए तुम्हारे प्रति मोह हो रहा है।' आर्थिका बोली—'आपके प्रति भी इसी प्रकार मेरा मोह हो रहा है।' मुनि बोला—'मेरी पत्नी जब मेरे गोद में सो रही थी, तब उसकी मौत हो गई। इसलिए मैंने मान लिया कि वह मर गई,

अन्यथा मैं कभी विश्वास नहीं कर पाता कि वह मर गई।'

३७१३.इय संदंसण-संभासणेहिं भिन्नकध-विरहजोएहिं।

सेज्जातरादिपासण, वोच्छेद दुदिद्धम्म त्ति॥

इस प्रकार परस्पर संदर्शन, मिलन, संभाषण, उसके साथ भिन्नकथा करना, एकान्तयोग होना—इन सबसे चारित्र का भंग होता है। शय्यातर अथवा अन्य लोग उसकी इन चेष्टाओं को देखकर द्रव्यों का व्यवच्छेद कर देते हैं और वे कहने लगते हैं—ये साधु दुर्दृष्टधर्मा हैं।'

३७१४.पयला निह तुअट्टे, अच्छिद्धिद्धम्मि चमढणे मूलं।

पासवणे सच्चित्ते, संका वुच्छम्मि उड्डाहो॥

प्रचला, निद्रा, त्वग्वर्तन, अक्षिचमढन, दृष्ट, मूल, प्रस्रवण, सच्चित्त—संयती, शंका, व्युत्सर्जन, उड्डाह। यह अक्षरार्थ है। विस्तृत अर्थ आगे की गाथाओं में।

३७१५.पयला निह तुअट्टे, अच्छीणं चमढणम्मि चउगुरुगा।

दिट्ठे वि य संकाए, गुरुगा सेसेसु वि पदेसु॥

प्रचला—बैठे-बैठे झपकी लेना, निद्रा—बैठे-बैठे सोना, त्वग्वर्तन—बिछौना बिछाकर सोना, अक्षिचमढन—संयती की आंख से आंख मिलना—यदि मुनि ये सब क्रियाएं आर्थिका के उपाश्रय में करता है तो उसे चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है। ये क्रियाएं किसी द्वारा देखे जाने पर शंका होती है। इसमें चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त है। शेष सभी पदों—अशन, समुद्देशन आदि को देखने पर भी चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है।

३७१६.सज्झाएण णु खिण्णो, आउं अण्णेण जेण पयलात्ति।

संकाए हुंति गुरुगा, मूलं पुण होति णिस्संके॥

यह शंका होती है—क्या यह संयम स्वाध्याय से खिन्न है? अथवा अन्य किसी प्रसंग से खिन्न होकर प्रचला आदि में रत है? शंका होने पर चतुर्गुरु तथा निःशंक का प्रायश्चित्त है मूल।

३७१७.अन्नत्थ मोय गुरुओ, संजतिवोसिरणभूमिए गुरुगा।

जोणोगाहण बीए, केयी धाराए मूलं तु॥

आर्थिकाओं की कायिकी भूमी को छोड़कर अन्यत्र मूत्र विसर्जित करने पर मांसगुरु और आर्थिका की व्युत्सर्जनभूमी में मूत्र विसर्जित करने पर चतुर्गुरु। वहां शुक्र-बीज आर्थिका के प्रस्रवण की धारा से आहत होकर ऊर्ध्वमुखी होकर आर्थिका की योनि में प्रवेश कर जाता है। इसका प्रायश्चित्त है—मूल।

१. जब वह मुनि उस आर्या के साथ मैथुन की प्रतिसेवना करता है तो उसके नरकायुष्क का बंध होता है, महती आशातना और बोधि की दुर्लभता होती है। कहा है—

लिंगेण लिंगिणीए, संपत्ति जइ निगच्छई मूढो।

निरयाउयं निबंधइ, आसायणया अबोही य॥

(व. पृ. १०३०)

३७१८. निष्कारणे विधीय वि, दोसा ते चेव जे भणिय पुर्विं।
वीसत्थाई मुत्तुं, गेलन्नाई उवरिमा उ॥

निष्कारण विधिपूर्वक भी आर्यिका के उपाश्रय में यदि मुनि जाते हैं तो वे ही पूर्वोक्त दोष प्राप्त होते हैं। विश्वस्त-विषयक दोषों को छोड़कर जो ग्लान्य आदि विषयक दोष होते हैं, वे द्वितीय भंग में संभव हैं।

३७१९. निष्कारणे विधीय वि, तिद्धणे गुरुगो जेण पडिकुट्टं।
कारणगमणे सुद्धो, णवरिं अविधीय मासतियं॥

आर्यिका के उपाश्रय में विधिपूर्वक जाने पर भी जो तीन स्थानों में नैषेधिकी का प्रयोग करता है, परन्तु यदि वह मुनि निष्कारण वहां जाता है तो उसे मासगुरु का प्रायश्चित्त आता है। क्योंकि निष्कारण जाना प्रतिक्रुष्ट है। कारणवश जाने पर वह शुद्ध है। परन्तु यदि वह नैषेधिकीत्रय नहीं करता है तो उसे मासलघुत्रय का प्रायश्चित्त आता है।

३७२०. कारणतो अविधीए, दोसा ते चेव जे भणिय पुर्विं।
कारणे विधीय सुद्धो, इच्छं तं कारणं किन्नु॥

जो कारणवश भी अविधि से प्रवेश करता है तो वे ही दोष होते हैं जो पहले कहे गए हैं। कारणवश विधिपूर्वक प्रवेश करने वाला शुद्ध है। शिष्य ने पूछा—भंते! मैं जानना चाहता हूँ कि वे कारण क्या हैं?

३७२१. गम्मइ कारणजाए, पाहुणए गणहरे महिद्धीए।
पच्छादणा य सेहे, असहुस्स चउक्कभयणा उ॥

कारण उपस्थित होने पर आर्यिका के उपाश्रय में जाया जा सकता है। प्राघुणक, गणधर, महर्द्धिक, शैक्ष का प्रच्छादन, असहिष्णु साधु-साध्वी की चतुर्भंगी। (इस गाथा का विस्तार अगली गाथाओं में।)

३७२२. उवस्सए य संधारे, उवही संघपाहुणे।
सेहद्ववणुहेसे, अणुन्ना भंडणे गणे॥

३७२३. अणप्पज्झ' अगणि आऊ, वीआर पुत्त संगमे।
संलेहण वोसिरणे, वोसट्टे निद्धिए तिहं॥

आर्यिका के उपाश्रय में मुनि इन कारणों से जा सकता है—उपाश्रय, संस्तारक तथा उपधि देने के लिए, साध्वियों को संयम में स्थिर करने के लिए संघप्राघुणक^१ जाए। शैक्ष की उपस्थापना अथवा स्थापनाकुलों की स्थापना करने के लिए। श्रुत के उद्देश अथवा अनुज्ञा के लिए। कलह का उपशमन करने के लिए। प्रवर्तिनी के कालगत हो जाने पर गण की चिंता के लिए। किसी आर्यिका के अनात्मवश (यक्षाविष्ट आदि के कारण) हो जाने पर। आर्यिका की वसति अग्नि से दग्ध हो जाने पर पानी के पूर से आप्लावित

१. अणप्पज्झ—देशीपदमनात्मवशवाचकम्। (वृ. पृ. १०३३)

हो जाने पर। विचारभूमी में उपद्रव आदि होने पर। पुत्र, पिता आदि के कालगत होने पर। आर्यिकाओं के स्वजन के संगम के लिए। आर्यिका के संलेखना, व्युत्सर्जन—भक्तप्रत्याख्यान करने की इच्छा होने पर। किसी आर्यिका के अनशन कर देने पर—मुनि आर्यिकाओं के स्थान पर जा सकता है। अथवा किसी आर्यिका के दिवंगत हो जाने पर तीन दिन के पश्चात् आचार्य उनके स्थान पर जाए।

३७२४. अज्जाणं पडिकुट्टं, वसही-संधारणाण गहणं तु।
ओभासिउ दाउं वा, वच्चेज्जा गणहरो तेणं॥

आर्यिकाओं के लिए स्वयं वसति, संस्तारक आदि को ग्रहण करना प्रतिषिद्धि है। अतः वसति के प्रसंग में गणधर स्वयं वहां जाते हैं और आर्यिकाओं को संस्तारक आदि देते हैं।

३७२५. पडियं पम्हुट्टं वा, पलावियं अवहियं व उग्गमियं।
उवहिं भाएतुं जे, दाएउं वा वि वच्चेज्जा॥

आर्यिकाओं का कोई उपकरण गिर गया हो, वे कहीं भूल गई हों या पानी में बह गया हो या चोरों द्वारा अपहृत हो गया हो और वे उपकरण साधुओं को प्राप्त हो गए हों अथवा अन्य उपधि उत्पादित की हो—उन उपकरणों को विभाग कर देने के लिए गणधर आर्यिका के उपाश्रय में जाए।

३७२६. ओहाणाभिमुहीणं, थिरकरणं काउ अज्जियाणं तु।
गच्छेज्जा पाहुणओ, संघ-कुलथेर-गणथेरो॥

जो आर्यिकाएं गण को छोड़कर पलायन करने के अभिमुख हैं, उनको पुनः संयम में स्थिर करने के लिए प्राघुणक जाए। शिष्य ने पूछा—कौन होते हैं प्राघुणक? आचार्य ने कहा—संघस्थविर, कुलस्थविर और गणस्थविर प्राघुणक होते हैं।

३७२७. अन्नत्थ अप्पसत्था, होज्ज पसत्था य अज्जिगोवसए।
एण कारणेणं, गच्छेज्ज उवद्वेउं जे॥

अन्यत्र शैक्ष को उपस्थापना देना अप्रशस्त है और आर्यिका के उपाश्रय में शैक्ष को उपस्थापित करना प्रशस्त माना जाता है। शैक्ष को उपस्थापित करने के प्रयोजन से मुनि आर्यिका के प्रतिश्रय में जा सकता है।

३७२८. ठवणकुलाइं ठवेउं, तासिं ठवियाणि वा निवेएउं।
परिहरिउं ठवियाणिं, ठवणाऽऽदियणं व वोत्तुं जे॥

स्थापनाकुलों को स्थापित करने के लिए अथवा स्थापित स्थापनाकुलों का निवेदन करने के लिए, अथवा उन स्थापित कुलों का परिहार करने के लिए, अथवा पहले जिन कुलों का प्रसंगवश परिहार किया गया था, उनमें आदान—ग्रहण किया

२. देखें—गाथा ३७२६।

जा सकता है यह अनुज्ञापना करने के लिए आर्यिका के उपाश्रय में मुनि जा सकता है।

३७२९.वसहीए असज्जाए, गोरव भय सद्ध मंगले चेव।
उद्देसादी काउं, वादेउं वा वि गच्छेज्जा॥

स्वयं की वसति में अस्वाध्यायिक होने पर संयती के उपाश्रय में जाया जा सकता है। अथवा आचार्य स्वयं आर्यिकाओं को उद्देशन देने के लिए वहां जा सकते हैं। आचार्य के जाने से उनका गौरव, भय, श्रद्धा और मंगल बना रहता है। साध्वियों को वाचना देने वाली प्रवर्तिनी की मृत्यु हो जाने पर आचार्य स्वयं उनको वाचना देने वहां जाते हैं।

३७३०.उप्पन्ने अहिगरणे, विओसवेउं तहिं पसत्थं तु।
अच्छेंति खउरियाओ, संजमसारं ठवेउं जे॥

आर्यिकाओं में परस्पर अधिकरण हो जाने पर, वे संयम के सारभूत तत्त्व-उपशम के एक ओर रखकर परस्पर कलुषितचित्त वाली होकर बातचीत नहीं करतीं, ऐसी स्थिति में उनको उपशांत करने के लिए आचार्य का वहां जाना प्रशस्त है।

३७३१.जइ कालगया गणिणी,
नत्थि उ अन्ना उ गणहरसमत्था।

एतेण कारणेणं,

गणचिंताए वि गच्छेज्जा॥

यदि प्रवर्तिनी कालगत हो गई हो और दूसरी कोई आर्यिका गणभार को वहन करने में समर्थ न हो, इस कारण से आचार्य गणचिन्ता करने के लिए वहां जा सकते हैं।

३७३२.अज्जं जक्खाइइं, (व) खित्तचित्तं व दित्तचित्तं वा।
उम्मायं पत्तं वा, काउं गच्छेज्ज अप्पज्जं॥

कोई आर्या यक्षाविष्ट, क्षिप्तचित्त, दृप्तचित्त, उन्मादप्राप्त हो गई हों—इनको स्वस्थचित्त करने के लिए आचार्य जा सकते हैं।

३७३३.जइ अगणिणा उ वसही,
दह्हा डज्झइ व डज्झिहिति व त्ति।

नाऊण व सोऊण व,

उवघेत्तुं जे व जाएज्जा॥

आर्यिकाओं की वसति जल गई है, जल रही है या जलेगी—यह जानकर अथवा लोगों से सुनकर, अग्नि का निवारण करने के लिए वहां जाया जा सकता है।

३७३४.नइपूरेण व वसही, वुज्झइ वूढा व वुज्झिहिति व त्ति।
उदगभरियं व सोच्चा, उवघेत्तुं तं तु वच्चेज्जा॥

आर्यिकाओं की वसति नदी के पूर से बह गई है, बह रही है या बह जाएगी अथवा वसति पानी से भर गई है—

यह सुनकर उसका निवारण करने के लिए वहां जाया जा सकता है।

३७३५.घोडेहि व धुत्तेहि व, अहवा वि जतीवियारभूमीए।
जयणाए व करेउं, संठवणाए व वच्चेज्जा॥

घोडकों—किसी अन्य संप्रदाय के साधुओं तथा धूर्त व्यक्तियों द्वारा उपसर्गित हो रही हों, उनका निवारण करने के लिए, या आर्यिकाएं यतियों की विचारभूमी में जाती हैं, इसका निवारण करने के लिए या यतनापूर्वक उनके लिए विचारभूमी की व्यवस्था करने के लिए या पूर्वकृत विचारभूमी की संस्थापना करने के लिए वहां जाया जा सकता है।

३७३६.पुत्तो वा भाया वा, भगिणी वा होज्ज ताण कालगया।
अज्जाए दुक्खियाए, अणुसट्टीए वि गच्छेज्जा॥

आर्यिका के पुत्र, भाई, भगिनी की मृत्यु हो जाने पर जो आर्यिकाएं दुःखसागर में निमग्न हैं, उनको अनुशिष्टि देने के लिए वहां जाना होता है।

३७३७.तेलोक्कदेवमहिया, तित्थयरा नीरया गया सिद्धिं।
थेरा वि गया केई, चरणगुणपभावया धीरा॥

३७३८.बंभी य सुंदरी या, अन्ना वि य जाउ लोगजेद्धाओ।
ताओ वि य कालगया, किं पुण सेसाउ अज्जाउ॥

३७३९.न हु होइ सोइयव्वो, जो कालगओ दढो चरित्तम्मि।
सो होइ सोतियव्वो, जो संजमदुब्बलो विहरे॥

३७४०.लच्चूण माणुसत्तं, संजमसारं च दुल्लभं जीवा।
आणाइ पमाएणं, दोग्गइभववहुणा हंति॥

अनुशिष्टि में उनको कहे—

भुवनत्रयवासी देवताओं से पूजित तीर्थंकर भी कर्मरजों से मुक्त होकर सिद्धिगति को प्राप्त हो गए। अनेक स्थविर मुनि तथा चरमशरीरी, चरणगुणप्रभावक तथा धीर आचार्य भी दिवंगत हो गए। ब्राह्मी, सुंदरी तथा अन्य लोकज्येष्ठ साध्वियां भी कालगत हो गईं तो फिर शेष आर्यिकाओं की बात ही क्या?

उसके विषय में कोई शोक नहीं करना चाहिए जो चारित्र्य में दृढ़ रहकर कालगत हुआ है। वही शोचनीय होता है जो संयम में दुर्बल होकर विहरण करता है, जीता है।

मनुष्य जीवन को पाकर भी जीवों के लिए संयमसार की प्राप्ति दुर्लभ होती है। उसको पाकर जो जीव भगवान् की आज्ञा के पालन में प्रमाद करते हैं, वे दुर्गति के भय को बढ़ाने वाले होते हैं।

३७४१.पुत्तो पिथा व भाया, अज्जाणं आगओ तहिं कोई।
धित्तूण गणहरो तं, वच्चति तो संजतीवसहिं॥

यदि आर्याओं का पुत्र, पिता, भ्राता कोई वहां आया

हो तो गणधर उसे साथ ले आर्यिका के प्रतिश्रय में जा सकता है।

३७४२. संलिहियं पि य तिविहं, बोसिरियव्वं च तिविह वोसद्वं।

कालगय त्ति य सोच्चा, सरीरमहिमाइ गच्छेज्जा॥

संलेखित तथा संलेख्यमान वस्तु तीन प्रकार की है—आहार, शरीर और उपधि। इसी प्रकार व्युत्स्रष्टव्य तथा व्युत्स्रष्ट भी तीन प्रकार का है—आहार, शरीर और उपधि। इन तीनों में आर्यिका को स्थिर करने के लिए वहां जाया जा सकता है। आर्यिका कालगत हो गई है—यह सुनकर उसके शरीर-महिमा के लिए आचार्य स्वयं वहां जाएं।

३७४३. जाहे वि य कालगया, ताहे वि य दुन्नि तिन्नि वा दिवसे।

गच्छेज्ज संजईणं, अणुसद्विं गणहरो दाउं॥

जब भी कोई विशिष्ट साध्वी (प्रवर्तिनी आदि) कालगत हो तो आचार्य दो-तीन दिन तक आर्यिकाओं को अनुशिष्टि देने के लिए वहां जाएं।

३७४४. अप्पबिति अप्पतितिया, पाहुणया आगया सउवचारा।

सिज्जायर मामाए, पडिकुदुदेसिए पुच्छा॥

प्राघुणक मुनि आए। वे दो-तीन आदि हैं। वे आर्यिका के स्थान में जाना चाहे तो सोपचार वहां जाएं। उपचार यह है—तीन स्थानों में वे नैषधिकी शब्द करें। अथवा वे मुनि जब आर्यिका के उपाश्रय में जाते हैं तब आर्यिकाओं द्वारा जो उपचार करना होता है वह यह है—प्रवर्तिनी यदि स्थविरा होती है तो वह एक साध्वी को साथ ले मुनि के सामने बैठे, यदि तरुणी हो तो दो साध्वियों के साथ बाहर जाए। जो स्थविरा हो वह मुनियों के सामने बैठे। तब मुनि उनको शय्यातरकुल, मामाककुल तथा प्रतिकुष्टकुल तथा जिन कुलों में औद्देशिक बनाया जाता है, उनके विषय में प्रवर्तिनी को पूछते हैं।

३७४५. आसंदग कडुमओ, भिसिया वा पीढगं व कडुमयं।

तक्खणलंभे असई, पडिहारिग पेहऽभोगऽण्णे॥

मुनियों के आने पर काष्ठमय आसन्दक अथवा काष्ठमय वृषिका या पीढग तत्काल मिले तो वह ग्रहण करे। तत्काल प्राप्त न होने की स्थिति में प्रातिहारिक लेकर स्थापित करे। उनकी प्रतिलेखना करे परन्तु अन्य उनका उपभोग न करे।

३७४६. बाहाइ अंगुलीइ व, लट्टीइ व उज्जुअं ठिओ संतो।

न पुच्छेज्ज न दाएज्जा, पच्चावाया भवे तत्थ॥

मुनि शय्यातरकुल आदि के विषय में किस विधि से पूछे और साध्वियां किस विधि से उन्हें दिखाएं/कहें?

शय्यातरकुल के विषय में पूछते हुए या दिखाते हुए उस घर के सम्मुख स्थित होकर न बाहु को फैलाकर, या अंगुली

के इशारे से या लकड़ी के माध्यम से न पूछे और न दिखाये। ऐसा पूछने या दिखाने पर अनेक दोष होते हैं।

३७४७. तेणेहि अगणिणा वा, जीवियववरोवणं व पडिणीए।

खरए खरिया सुण्हा, नट्टे वडुक्खुरे संका॥

चोरों ने उस घर में चोरी की हो, अग्नि से उसे जला दिया हो या किसी शत्रु ने उस घर में किसी की हत्या कर दी हो, किसी ने दास या दासी का अपहरण कर दिया हो, पुत्रवधु किसी के साथ भाग गई हो, वृत्तक्षुर—प्रधान घोड़े का किसी ने अपहरण कर लिया हो तो मुनियों के प्रति यह शंका हो सकती है कि इन्होंने ही अपहरण किया है, जलाया है आदि।

३७४८. सेज्जायरारण धम्मं, कहिति अज्जाण वेत्ति अणुसद्विं।

धम्ममि य कहियम्मि य, सब्बे संवेगमावन्ना॥

मुनि वहां शय्यातरों को धमदेशना देते हैं और आर्यिकाओं को, जो विषादग्रस्त या संयम में अस्थिर हों, अनुशिष्टि देते हैं। धमदेशना करने पर श्रावक और साध्वियां सभी संवेग को प्राप्त हो जाते हैं।

३७४९. अन्नो वि अ आएसो, पाहुणग अभासिया उ तेणभए।

चिलिमिणिअंतरिया खलु, चाउस्साले वसेज्जा णं॥

इस विषय में एक अन्य आदेश—मत भी है। यदि प्राघुणक मुनि अभाषिक—तत्रस्थ भाषा को जानने वाले न हों, द्रविड आदि देशों से आए हुए हों तो साध्वियां उनके लिए उपाश्रय की गवेषणा करती हैं। न मिलने पर, बाहर स्तेनभय होने पर, मुनि आर्यिकाओं की वसति में चतुःशाला हो तो उसमें चिलिमिलिका से अंतरित होकर, उसे बांधकर वहां रह सकते हैं।

३७५०. कुडुंतरस्स असती, कडओ पुत्ती व अंतरे थेरा।

तेसंतरिया खुड्ढा, समणीण वि मग्गणा एवं॥

वसति के अभाव में साधु-साध्वी एक ही वसति में रहते हुए कुड्यान्तरित होकर रहें। इसके अभाव में दोनों की स्थायिका के मध्य कटक या वस्त्र का परदा (चिलिमिलिका) बांधे। पहले स्थविर, पश्चात् क्षुल्लक, मध्यम और उनके पश्चात् तरुण स्थायिका करें। इसी प्रकार श्रमणीवर्ग की भी मार्गणा करें—स्थविर साधुओं के आसन्न क्षुल्लिका, फिर स्थविरा, फिर मध्यमा और फिर तरुण साध्वियां।

३७५१. अन्नाए आभोगं, नाए ससइं करेत्ति सज्झायं।

अच्चुव्वाया व सुवे, अच्छंति व अन्नहिं दिवसं॥

यदि जनता से अज्ञात वे वहां स्थित हों तो रात्री में आभोग—उपयोग करते हैं अर्थात् मौन रहते हैं। यदि ज्ञात हो गए हों तो जोर-जोर से स्वाध्याय करते हैं। यदि वे अत्यन्त

थके हुए हों तो सो जाते हैं। यदि वे दो-तीन दिन वहीं रहना चाहें तो दिन में अन्यत्र रहकर रात्री में पुनः वहीं लौट आते हैं।

३७५२.समणी समण पविट्टे, निसंत उल्लावऽकारणे गुरुगा।

पयला निह तुवट्टे, अच्छीमलणे गिही मूलं॥

श्रमण तथा श्रमणी कायिकी से निवृत्त होकर उपाश्रय में प्रविष्ट होकर यदि उस निशांत वेला में बिना किसी कारणवश परस्पर उल्लाप करते हैं तो उसका प्रायश्चित्त है चतुर्गुरुक। अथवा मुनि वहीं रहकर दिन में झपकी लेता है, बैठे-बैठे नींद लेता है, बिछौना बिछाकर सोता है या आंखों को मसलता है तो गृही के मन में शंका होती है। उसका प्रायश्चित्त है चतुर्गुरु और निःशंक होने पर मूल का प्रायश्चित्त आता है।

३७५३.उच्चारं पासवणं, व अन्नहिं मत्तएसु व जयंति।

अद्विह पविट्टा वा, अद्विह णितेधरा भयिता॥

वहां स्थित मुनि उच्चार, प्रस्रवण आर्यिकाओं की कायिकी भूमी को छोड़कर अन्यत्र करते हैं अथवा मात्रक में कर यतनापूर्वक परिष्ठापन करते हैं। उस समय यदि गृहस्थों द्वारा अदृष्ट-प्रविष्ट हों तो अदृष्ट ही बाहर जाएं। यदि दृष्ट-प्रविष्ट हों तो उसमें भजना है अर्थात् दृष्ट या अदृष्ट बाहर जाएं।

३७५४.तत्थऽन्नत्थ व दिवसं, अच्छंता परिहरंति निहाई।

जयणाए व सुविंती, उभयं पि य मग्गए वसहिं॥

रात्री में आर्या की वसति में रहकर, दिन में वहीं अथवा उद्यान आदि में रहते हुए निद्रा आदि का परिहार करते हैं अथवा यतनापूर्वक सोते हैं। अधिक दिनों तक वहां रहने की स्थिति में दोनों अर्थात् श्रमण और श्रमणी अन्य वसति की मार्गणा करे। प्राप्त हो जाने पर साधु वहां रहें।

३७५५.अहिणा विसूइका वा, सहसा डाहो व होज्ज सासो वा।

जति आगाढं अज्जाण होइ गमणं गणहरस्स॥

यदि आर्या को सांप ने डस लिया, विसूचिका हो गई, सहसा दाह-ज्वर हो गया, श्वास का प्रकोप हो गया—यदि इस प्रकार का आगाढ़ कारण हो जाए तो गणधर रात या दिन में आर्यिका के प्रतिश्रय में जा सकते हैं।

३७५६.पडिणीय मेच्छ मालव, गय गोणा महिस तेणगाई वा।

आसन्ने उवसग्गे, कप्पइ गमणं गणहरस्स॥

प्रत्यनीक, म्लेच्छ, मालवस्तेन, हाथी, गाय, महिष, स्तेन—ये संयतियों को उपसर्ग दे रहे हैं अथवा निकट समय में उनका उपसर्ग होने वाला है, तो गणधर को उनके प्रतिश्रय में जाना कल्पता है।

३७५७.रायाऽमच्चे सेट्ठी, पुरोहिए सत्थवाह पुत्ते य।

गामउडे रट्टउडे, जे य गणहरे महिहीए॥

राजा, अमात्य, श्रेष्ठी, पुरोहित, सार्थवाह तथा राजपुत्र, अमात्यपुत्र, श्रेष्ठीपुत्र, पुरोहितपुत्र और सार्थवाहपुत्र, ग्रामकूट—ग्राममहत्तर, राष्ट्रकूट—राष्ट्रमहत्तर—ये सब महर्द्धिक माने जाते हैं। (टीकाकार का अभिमत है कि ये सब प्रव्रजित अवस्था के गृहीत हैं।) गणधर भी महर्द्धिक माने जाते हैं।

३७५८.अज्जाण तेयजणं,

दुज्जण सचमक्कारया य गोरवया।

तम्हा समणुण्णायं,

गणहर गमणं महिहीए॥

इन महर्द्धिक व्यक्तियों के आर्यिका के उपाश्रय में जाने पर आर्याओं का माहात्म्य बढ़ता है। दुर्जन व्यक्तियों के मन में चमत्कार होता है, वे दुर्जनता नहीं करते। लोगों में आर्याओं के प्रति गौरव बढ़ता है। इसलिए गणधर तथा प्रव्रजित महर्द्धिक व्यक्तियों का आर्यिका के प्रतिश्रय में जाना अनुज्ञात है।

३७५९.संतविभवा जइ तवं, करंति अवइज्जिऊण इहीओ।

सीयंतथिरीकरणं, तित्थविवट्ठी य वण्णो य॥

श्रमणियां उन महर्द्धिक व्यक्तियों को देखकर सोचती हैं—इन व्यक्तियों ने अपनी प्राप्त ऋद्धि को छोड़कर तप करना प्रारंभ किया है तो हम प्रमाद क्यों कर रही हैं? इस प्रकार संयम में अस्थिर श्रमणियां संयम में स्थिर हो जाती हैं। इससे तीर्थ की विशेष वृद्धि होती है और उससे यश बढ़ता है।

३७६०.वीसुंभिओ य राया, लक्खणजुत्तो न विज्जती कुमरो।

पडिणीएहि व कहिए, आहावंती दवदवस्स॥

एक राजा के तीनों पुत्र प्रव्रजित हो गए। राजा भी कालगत हो गया। अमात्य ने लक्षणयुक्त किसी राजपुत्र की अन्वेषणा की। ऐसा राजपुत्र नहीं मिला। कुछ प्रत्यनीक व्यक्तियों ने अमात्य से कहा—प्रव्रजित तीनों राजपुत्र यहां उद्यान में आए हुए हैं। तब अमात्य आदि राजपुरुष अत्यंत शीघ्रता से उद्यान में आए।

३७६१.अइ सिं जणम्मि वन्नो, य आयति इट्ठिमंतपूया य।

रायसुयदिक्खिणं, तित्थविवट्ठी य लक्की य॥

प्रत्यनीकों ने यह बात क्यों कही? इस राजपुत्र के दीक्षित होने पर लोगों में अतीव यश हो रहा है। इससे इन श्रमणों की आयति—संतति अव्यवच्छिन्न होगी। ऋद्धिमान् पुरुष इनकी पूजा इसीलिए करते हैं। राजपुत्र दीक्षित हुआ है इससे तीर्थ की वृद्धि होती है। इसीसे आहार, वस्त्र आदि की

लब्धि-प्राप्ति प्रचुरमात्रा में होती है। (यदि यह राजकुमार उत्प्रव्रजित हो जाता है तो श्रमणों का यश आदि न्यून हो जायेंगे। यह सोचकर प्रत्यनीक अमात्य को यह बात कहते हैं।)

३७६२. दहूण य राइहिं, परीसहपराइतो तहिं कोइ।
आपुच्छइ आयरिए, सम्मत्ते अप्पमाओ हु॥
३७६३. नाऊण य माणुस्सं, सुदुल्लभं जीवियं च निस्सारं।
संघस्स चेतियाण य, वच्छल्लत्तं करेज्जाहि॥

परीषहों से पराजित एक राजपुत्र राजसमृद्धि को देखकर अमात्य के साथ जाने के लिए आचार्य से पूछता है। तब आचार्य कहते हैं—‘वत्स! सम्यक्त्व में निश्चितरूप से अप्रमत्त रहो। मनुष्यत्व अत्यंत दुर्लभ है और जीवन निस्सार है, यह जानकर संघ, चैत्यों की वत्सलता-भक्ति करो।’

३७६४. किं काहिंति ममेते, पडलग्गतणं व मे जढा इड्डी।
को वाऽनिट्ठफलेसुं, विभवेसु चलेसु रज्जेज्जा॥

दूसरे राजपुत्र मुनि ने कहा—ये अमात्य आदि मेरा क्या करेंगे? मैंने पट पर लगे तृण की भांति राज्यऋद्धि का परित्याग कर दिया है। ये राज्यविभव अनिष्टफल वाले तथा चल हैं, अस्थिर हैं। इनमें कौन आसक्त होगा?

३७६५. तइओ संजमअट्ठी, आयरिए पणमिऊण तिविहेणं।
गेलन्नं नियडीए, अज्जाण उवस्सगमतीति॥

तीसरा राजपुत्र मुनि संयमार्थी था। उसको आचार्य ने कहा—‘तुम आर्यिका के प्रतिश्रय में छुप जाओ।’ तब वह तीन करण-योग से आचार्य को प्रणाम कर मायापूर्वक ग्लानत्व कर आर्यिकाओं के उपाश्रय में प्रवेश करता है।

३७६६. अंतद्धाणा असई, जइ मंसू लोय अंबिलीवीए।
पीसित्ता देंति मुहे, अपगासे ठवेंति य विरेगो॥

यदि मुनियों के पास अन्तर्धान करने के साधन हों तो उनका प्रयोग कर उस मुनि को अपने उपाश्रय में ही रख दें। यदि साधन न हों तो आर्यिका के वस्त्र पहना कर उसे उनके प्रतिश्रय में ले जाए। यदि उसके दाढ़ी-मूँछ हो तो उसका लोच करें और अम्ली बीजों की पिष्टी बनाकर मुंह पर उसका लेप करे। आर्यिका की वसति में उसे अप्रकाश में स्थापित करे और उसके लिए विरेचन का प्रयोग करे।

३७६७. संथार कुसंघाडी, अमणुत्ते पाणए य परिसेओ।
घंसण पीसण ओसह, अब्धिति खरकम्मि मा बोलं॥

उसको मुनि संस्तारक पर सुलाए। उसे मलिन शाटिका से प्रावृत कर दे। अमनोज्ञ अर्थात् दुर्गन्ध पानक से उसको परिषेक-आचमन कराए। वहां कुछ साध्वियां चंदन घिसे

और कुछ औषधी को पीसे। कुछ साध्वियां अधृति-शोक-मग्न होकर वहां बैठें। वहां जब खरकर्मिक-राजपुरुष आए तो उन्हें कहे—ग्लान साध्वी बोलचाल की ध्वनि को सहन नहीं कर पाती। (अमात्य आदि तथा अन्य राजपुरुष वहां से लौट आते हैं।)

३७६८. दोन्नि वि सहू भवंती,
सो वऽसहू सा व होज्ज ऊ असहू।
दोणं पि उ असहूणं,
तिगिच्छ जयणाय कायव्वा॥

ग्लान साध्वी और प्रतिचरक साधु की चतुर्भंगी—
१. ग्लान साध्वी और प्रतिचरक साधु—दोनों सहिष्णु।
२. साध्वी सहिष्णु, साधु असहिष्णु।
३. साध्वी असहिष्णु, साधु सहिष्णु।
४. दोनों असहिष्णु।

इन चारों विकल्पों से यतनापूर्वक चिकित्सा करनी चाहिए।

३७६९. सोऊण ऊ गिलाणं, पंथे गामे व भिक्खवेलाए।
जइ तुरियं नागच्छइ, लग्गइ गुरुए चउम्मासे॥

यदि मुनि ग्लान साध्वी के विषय में विहरण करते हुए, या गांव में अथवा भिक्षावेला में सुने और तत्काल वहां उसके पास नहीं जाए तो चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३७७०. लोलंती छग-मुत्ते, सोउं घेत्तुं दवं तु आगच्छे।
तूरंतो तं वसहिं, गिवेयणं छायाणऽज्जाए॥

एक गृहस्थ ने मुनि से कहा—‘महाराज! आपकी एक साध्वी यहां ग्लान है। क्या आप उसकी प्रतिजागरणा करेंगे?’ उसने आगे कहा—‘यहां वह साध्वी अपने ही मल-मूत्र में लुठ रही है।’ यह सुनते ही मुनि द्रव-पानक लेकर शीघ्रगति से संयती वसति पर पहुंचे और शय्यातरी से निवेदन कराए कि मुनि आए हैं। वह शय्यातरी उस ग्लान साध्वी को भलीभांति प्रावृत कर दे।

३७७१. आसासो वीसासो, मा भाहि इति थिरीकरण तीसे।
धुविउं चीरऽत्थुरणं, तीसेऽप्पण बाहि कप्पो य॥

पश्चात् मुनि भीतर जाकर उस ग्लान साध्वी से कहे—‘तुम आश्वस्त हो जाओ। मैं तुम्हारा वैयावृत्य करूंगा। तुम विश्वस्त होकर मुझ पर भरोसा करो। मेरे से तुम डरो मत।’ इस प्रकार कहकर उसका स्थिरीकरण करे। उसके वस्त्र और आस्तरण को धोए और उसी के औपग्रहिक वस्त्रों को पहनने के लिए दे। यदि न हो तो स्वयं का संस्तारक बिछाए, वस्त्र भी दे। फिर खरड़े हुए वस्त्रों आदि का उपाश्रय के बाहर प्रक्षालन करे, भूमी का भी उपलेपन करे।

३७७२. एहं कारणेहं पविसंते ऊ णिसीहिया तिन्नि।

ठिच्चाणं कायव्वा, अंतर दूरे पवेसे य॥

इन ग्लानत्व आदि कारणों से आर्यिका की वसति में प्रवेश करता हुआ मुनि तीन नैषेधिकी करे। पहली नैषेधिकी करने के पश्चात् कुछ समय बाद दूसरी और फिर तीसरी नैषेधिकी करे। पहली नैषेधिकी दूर अर्थात् अग्रद्वार पर, दूसरी मध्यभाग में और तीसरी मूलद्वार पर करे।

३७७३. पडिहारिए पवेसो, तक्कज्जसमाणणा य जयणाए।

गेलण्णे चिद्धणादी, परिहरमाणो जतो खिप्पं॥

शय्यातरी द्वारा प्रतिहारित—आर्या को ज्ञापित करने पर प्रवेश करे। प्रवेश करने के पश्चात् ग्लान आर्या के कार्य का यतना से समापन करे। उस समय मुनि वहां बैठे, खड़ा रहे आदि कार्य करे। वहां वह ग्लान संबंधी कार्यों को आत्मसमुत्थ, परसमुत्थ और उभयसमुत्थ दोषों का परिहार करता हुआ शीघ्रता से संपन्न करे।

३७७४. पियधम्मो दद्धधम्मो, मियवादी अप्पकोतुहल्लो य।

अज्जं गिलाणियं खलु, पडिजग्गति एरिसो साहू॥

साध्वी की परिचर्या करने वाला मुनि प्रियधर्मा, दृढधर्मा, मितवादी तथा कौतूहल से वर्जित हो। ऐसा मुनि ग्लान आर्या की वैयाकृत्य कर सकता है।

३७७५. सो परिणामविहिण्णू, इंदियदारेहिं संवरियदारो।

जं किंचि दुब्धिगंधं, सयमेव विगिंचणं कुणति॥

३७७६. गुज्झंग-वदण-कक्खोरुअंतरे तह थणंतरे दद्धं।

साहरति ततो दिट्ठिं, न य बंधति दिट्ठिए दिट्ठिं॥

वह मुनि परिणामविधिज्ञ, इन्द्रियद्वारों को पूर्णरूप से संवृत करने वाला हो। ऐसा मुनि ही आर्या का यत्किंचित् संज्ञा आदि जो दुर्गन्धयुक्त हो उसको स्वयमेव दूर करता है, उसका परिष्ठापन करता है। वह मुनि आर्या के गुह्यांग, मुंह, कांख, ऊरु आदि के अवकाशों तथा स्तनान्तरों को देखकर अपनी दृष्टि को वहां से हटा ले तथा वह आर्या की दृष्टि से अपनी दृष्टि न मिलाये।

३७७७. उच्चारे पासवणे, खेले सिंघाणए विगिंचणया।

उव्वत्तण परियत्तण, णंगत णिल्लेवण सरीरे॥

आर्या के उच्चार, प्रस्रवण, श्लेष्म तथा सिंघान का परिष्ठापन करे। उसको करवट बदलाए, उसका एक दिशा से दूसरी दिशा में परिवर्तन कराए। उसका शरीर तथा कपड़े मल-मूत्र से खरंटित हो गए हों तो उन्हें पानी से साफ कर दे।

३७७८. किरियातीतं णाउं, जं इच्छति एसणाए जं तत्थ।

सद्धावणा परिण्णा, पडियरण कहा णमोक्कारो॥

जो आर्या क्रियातीत—चिकित्सा से अतीत है, वह जो चाहे वह द्रव्य शुद्ध एषणा से प्राप्त कर उसे दे। फिर उसमें यह श्रद्धा पैदा करे कि वह अनशन स्वीकार कर सके। अनशन स्वीकार करने के पश्चात् उसका प्रतिचरण करे। धर्मकथा करे और अन्त में उसको नमस्कार महामंत्र सुनाए।

३७७९. दव्वं तु जाणियव्वं, समाधिकारं तु जस्स जं होति।

णायम्मि य दव्वम्मिं, गवेसणा तस्स कायव्वा॥

परिचारक को जानना चाहिए कि किस रोग में कौनसा द्रव्य समाधिकारक होता है। ज्ञात होने पर उस द्रव्य की गवेषणा करनी चाहिए।

३७८०. सयमेव दिद्धपाढी, करेति पुच्छति अजाणओ वेज्जं।

दीवण दव्वादिम्मि य, उवदेसे ठाति जा लंभो॥

जो दृष्टपाठी होता है वह स्वयं चिकित्सा करता है। यदि वह चिकित्साविधि का अज्ञानकर हो तो वैद्य को पूछे। वैद्य का दीपन (स्पष्ट कथन) करे—उसे कहे 'मैं अकेला हूँ, इसका अपशकुन न मानें। जब वैद्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का उपदेश दे तो उससे कहे यदि वह द्रव्य न मिले तो क्या दें। वैद्य द्रव्यान्तर की बात कहते कहते विरत हो जाए तो जिस द्रव्य से निश्चित लाभ हो उसको जान ले।

३७८१. अब्भासे व वसेज्जा, संबद्ध उवस्सगस्स वा दारे।

आगाढे गेलण्णे, उवस्सए चिलिमिणिविभत्ते॥

संयती प्रतिश्रय में समीप असंबद्ध अन्यगृह में रहे। वह न हो तो संबद्ध गृह में रहे। उसके अभाव में उपाश्रय के द्वार पर रहे। आगाढ़ ग्लानकार्य हो तो उपाश्रय में चिलिमिलिका से विभक्त कर उस स्थान में रहे।

३७८२. उव्वत्तण परियत्तण, उभयविगिंचद्ध पाणगट्ठा वा।

तक्करभय भीरू अध, णमोकारट्ठा वसे तत्थ॥

उस आर्या को करवट बदलवाने, परिवर्तन करने, उच्चार-प्रस्रवण—दोनों का परिष्ठापन करने, पानक देने के लिए, आर्या स्वाभाविकरूप से भीरू हो तो उसकी तस्कर-भय से रक्षा करने के लिए अथवा मरणवेला में नमस्कार का पाठ देने के लिए वह मुनि रात्री में भी वहां रह सकता है।

३७८३. धिइ-बलजुत्तो वि मुणी,

सेज्जातर-सण्णि-सिज्झगादिजुतो।

वसति परपच्चयट्ठा,

सलाहणट्ठा य अवराणं॥

यद्यपि वह मुनि धृति और बल से युक्त है, फिर भी वह शय्यातर, संज्ञी—श्रावक अथवा सहवासी के साथ संयती वसति में रहता है। यह इसलिए कि दूसरों में विश्वास उत्पन्न हो तथा अन्यतीर्थिकों में निर्गन्ध प्रवचन की श्लाघा हो।

३७८४.सो निज्जराए वड्ढति, कुणति य आणं अणंतणाणीणं।

स बितिज्जओ कहेती, परियट्टेगागि वसमाणो॥

उस वैयावृत्य में प्रवर्तमान साधु निर्जरा का भागी होता है और इससे अनन्तज्ञानियों की आज्ञा का पालन होता है। वह दूसरे के साथ रहता हुआ दूसरे को धर्मकथा कहता है और एकाकी रहता है तो रात्री में जागृत अवस्था में रहता है।

३७८५.पडिजग्गिया य खिप्पं,दोण्ह सहूणं तिगिच्छ जतणाए।

तत्थेव गणहरो अण्णहिं व जयणाए तो नेइ॥

उस साधु के द्वारा प्रतिजागरित वह ग्लान आर्या शीघ्र स्वस्थ हो जाती है। यदि प्रतिचरक साधु और वह ग्लान साध्वी—दोनों सहिष्णु हों तो यतनापूर्वक चिकित्सा करना उचित है। यदि उस साध्वी का गणधर निकट हो तो मुनि उसे वहां पहुंचा देता है। यदि गणधर अन्यत्र हों तो सार्थवाह के साथ उसे भेजता है अथवा स्वयं यतनापूर्वक उसे वहां ले जाता है।

३७८६.निक्कारणिगिं चमढण, कारणिगिं गेति अहव अप्पाहे।

गमणित्थि मिस्स संबंधि वज्जिते असति एगागी॥

यदि वह साध्वी निष्कारण ही गण से निकलकर एकाकिनी हुई हो तो उसकी निर्भर्त्सना की जाती है। कारणवश अकेली हुई हो तो वह मुनि स्वयं उसे ले जाता है अथवा वह आर्या जिस गच्छ की हो उस आचार्य को संदेश भेजता है। यदि उस आर्या को लेने के लिए कोई साध्वी संघाटक नहीं आता है तो मुनि स्वयं उसे स्त्रीसार्थ के साथ, अथवा उसके संबंधी मिश्र सार्थ के साथ अथवा संबंधीवर्जित सार्थ के साथ उसे भेजे। इन सबके अभाव में साधु उस अकेली साध्वी को गन्तव्य की ओर ले जाए। मुनि आगे चले और वह साध्वी न अतिनिकट और न अतिदूर, पीछे-पीछे चले।

३७८७.न वि य समत्थो सब्बो,

हवेज्ज एतारिसम्मि कज्जम्मि।

कायब्बो पुरिसकारो,

समाहिसंधाणणट्ठाए॥

ऐसे कार्य में अर्थात् साध्वी की परिचर्या करने में सभी साधु मनोनिग्रह करने में समर्थ नहीं होते। परंतु समाधि के संधान के लिए मुनि को ऐसा पुरुषकार करना चाहिए जिससे उस साध्वी की चिकित्सा भी हो और स्वयं का शील भी खंडित न हो।

३७८८.सोऊण य पासित्ता, संलावेणं तहेव फासेणं।

एतेहि असहमाणे, तिगिच्छ जयणाइ कायब्बा॥

उस आर्या के शब्द सुनकर, रूप देखकर, परस्पर आलाप-संलाप से तथा बार-बार स्पर्श से मुनि के मन में मोह उत्पन्न हो सकता है। इन सबको सहन करने में असमर्थ मुनि यतनापूर्वक चिकित्सा करे।

३७८९.अविकोविया उ पुट्ठा, भणाइ किं मं न पाससी णियए।

छग-मुत्ते लोलंति, तो पुच्छसि किं सहू असहू॥

अगीतार्थ ग्लान साध्वी को पूछने पर वह कहती है—‘क्या तुम नहीं देखते कि मैं अपने ही मल-मूत्र में लुठ रही हूं। फिर भी तुम पूछ रहे हो कि क्या मैं सहिष्णु हूं या असहिष्णु?’ साधु ने कहा—

३७९०.पासामि णाम एतं, देहावत्थं तु भगिणि! जा तुज्जं।

पुच्छामि धित्तिबलं ते, मा बंभविराहणा होज्जा॥

‘भगिनी! तुम्हारी जो शरीर की अवस्था है, उसे मैं देख रहा हूं। मैं तुम्हारे धृतिबल के विषय में पूछ रहा हूं। तुम्हारे और मेरे ब्रह्मव्रत का खंडन न हो।’

३७९१.इहरा वि ताव सहे, रूवाणि य बहुविहाणि पुरिसाणं।

सोऊण व दडूण व, ण मणक्खोभो महं कोति॥

३७९२.संलवमाणी वि अहं, ण यामि विगतिं ण संफुसित्ताणं।

हट्ठा वि किन्तु एण्हिं, तं पुण णियगं धित्ति जाण॥

साध्वी कहती है—‘मैं जब नीरोग थी तब भी पुरुषों के शब्द सुनकर अथवा बहुविध रूप देखकर भी मेरे मन में कभी क्षोभ नहीं हुआ। मैं उनके साथ संलाप करती हुई, उनके हाथों का स्पर्श करती हुई भी विकार को प्राप्त नहीं हुई। मैं नीरोग अवस्था में भी सहिष्णु थी, अब तो बात ही क्या है? तुम अपनी धृति को जानो।’

३७९३.सो मग्गति साहम्मिं, सण्णि अहाभट्ठिगं व सूइं वा।

देति य से वेदणगं, भत्तं पाणं व पाउग्गं॥

साधु असहिष्णु है। वह तब अन्य साधर्मिकी साध्वी की मार्गणा करता है। उसके अभाव में संज्ञिनी—श्राविका की, उसके अभाव में यथाभद्रिका की, उसके अभाव में सूतिका की गवेषणा करता है। वह यदि ग्लान साध्वी का वैयावृत्य करने की इच्छुक हो तो उसे वेतन, भक्त-पान तथा प्रायोग्य देकर वैयावृत्य कराता है।

३७९४.एयासिं असतीए, ण कहेति जहा अहं खु मिं असहू।

सद्दादीजयणं पुण, करेमो एसा खलु जिणाणा॥

उपरोक्त प्रकार की स्त्रियों के अभाव में वह साधु उस ग्लान आर्या को यह न कहे कि मैं असहिष्णु हूं। वह तब सोचता है—हम शब्द आदि के विषय की यतना करेंगे। यह जिनाज्ञा है।

१. सूतिका—नवप्रसूतस्त्रीसूतिकर्मकारिणी।

३७९५.सहम्मि हत्थ-वत्थादिएहिं

दिट्ठिमि चिलिमिणंतरिओ।

संलावम्मि परम्मुहो,

गोवालकंकचुतो फासे॥

यदि वह मुनि शब्द में असहिष्णु हो तो उस ग्लान आर्या से कहे—मुझे वचनों से न बुलाए किन्तु हाथ, वस्त्र या अंगुली के इशारे से बुलाए। यदि वह दृष्टि से क्लीब हो तो सारा वैयावृत्य चिलिमिलिका से अन्तरित होकर करे। यदि वह संलाप में असहिष्णु हो तो पराङ्मुख होकर संलाप करे। यदि वह स्पर्श में क्लीब हो तो गोपालकंकचुक से प्रावृत होकर उसका स्पर्श करे।

३७९६.एसेव गमो नियमा, निग्गंथीए वि होति असहूए।

दोण्हं पि हु असहूणं, तिगिच्छ जयणाए कायव्वा॥

यही विकल्प नियमतः आर्या के असहिष्णु होने पर है। यदि दोनों असहिष्णु हों तो यतनापूर्वक चिकित्सा कराए।

३७९७.आयंकविप्पमुक्का, हट्ठा बलिया य णिव्वुया संती।

अज्जा भणेज्ज काई, जेट्टज्जा! वीसमामो ता॥

३७९८.दिट्ठं च परामुट्ठं, च रहस्सं गुज्झ एक्कमेक्कस्स।

तं वीसमामो अम्हे, पच्छा वि तवं चरिस्सामो॥

रोग से मुक्त होकर, हृष्ट, बल प्राप्त कर, स्वस्थ होने पर वह आर्या कहे—‘ज्येष्ठ आर्य! अब हम कुछ समय तक विश्राम करें। क्योंकि हम दोनों ने परस्पर एक-दूसरे का एकान्तयोग्य उद्वर्तन-परिवर्तनजन्य जो सुख था उसे देखा है, परामृष्ट किया है। अब हम कुछ काल तक विश्राम करें। पश्चिम काल में हम दोनों तप का आचरण करेंगे।’

३७९९.तं सोच्या सो भगवं, संविग्गोऽवज्जभीरू दद्धम्मो।

अपरिमियसत्तजुत्तो, णिक्कपो मंदरो चव॥

आर्थिका के इस वचन को सुनकर वह संविग्ग, पापभीरू, दृढधर्मी, अपरिमितसत्त्ववाला ज्ञानवान् मुनि मंदरपर्वत की भांति अप्रकंप रहा।

३८००.उद्धंसिया य तेणं, सुट्ठु वि जाणाविया य अप्पाणं।

चरसु तवं निस्संका, उ सासियं सो उ चेतैइ॥

उस मुनि ने उस आर्या की अत्यंत भर्त्सना की और उसे अपनी बात भलीभांति समझा दी। मुनि ने कहा—निःशंक होकर तप-संयम का पालन कर। यह अनुशासन कर मुनि वहां से विहार कर गया।

३८०१.बिइयपयमणप्पज्झे, पविसे अविकोविए व अप्पज्झे।

तेण-ऽगणि-आउसंभम, बोहिकतेणेषु जाणमवि॥

अपवादपद में संयती की वसति में अनात्मवश कोई मुनि

१. संवर-स्नानिकाशोधकम्। (वृ. पृ. १०५०)

प्रवेश कर दे। कोई अकोविद शैक्ष भी वहां प्रवेश कर दे। अथवा स्तेन, अग्नि, अप्कायसंभ्रम, बोधिकस्तेन अथवा जानता हुआ गीतार्थ भी प्रवेश कर दे।

निग्गंथउवस्सय-पदं

नो कप्पइ निग्गंथीणं निग्गंथाणं
उवस्सयंसि चिट्ठित्तए वा जाव काउस्सग्गं
वा ठाणं ठाइत्तए॥

(सूत्र २)

३८०२.पडिवक्खेणं जोगो, तासिं पि ण कप्पती जतीणिलयं।

णिक्कारणगमणादी, जं जुज्जति तत्थ तं णेयं॥

प्रतिपक्ष वचन से पूर्वसूत्र से प्रस्तुत सूत्र का संबंध है। आर्याओं को भी यतिनिलय में बिना कारण जाना नहीं कल्पता। यहां जिस प्रवृत्ति का जो प्रायश्चित्त हो उसे जानना चाहिए।

३८०३.एसेव गमो णियमा, पण्णवण-परूवणासु अज्जाणं।

पडिजग्गती गिलाणं, साहुं जतणाए अज्जा वि॥

यही अर्थात् पूर्व सूत्रोक्त विकल्प नियमतः आर्याओं के लिए प्रज्ञापन और प्ररूपण के विषय में जानना चाहिए। आर्या भी ग्लान मुनि का यतनापूर्वक वैयावृत्य कर सकती है।

३८०४.सा मग्गइ साधम्मिं, सण्णि अहाभइ संवरादी वा।

देति य से वेदणयं, भत्तं पाणं च पायोग्गं॥

वह आर्या (दूसरे-तीसरे-चौथे भंग में) साधर्मिक साधु की मार्गणा करती है। उसके अभाव में श्रावक की, फिर यथाभद्र की, फिर संवर^१ अर्थात् स्नानशोधक आदि की मार्गणा करे। यदि ये बिना मूल्य काम करना न चाहे तो वेतन देकर, भक्त-पान तथा प्रायोग्य प्रदान कर उनकी सेवा ले।

चम्म-पदं

नो कप्पइ निग्गंथीणं सलोमाइं चम्माइं
अहिट्ठित्तए॥

(सूत्र ३)

३८०५.बंधवयपालणद्धा, अण्णोण्णउवस्सयं ण गच्छंति।

उवकरणं पि ण इच्छति, जहिं पीला तस्स जोगोऽयं॥

ब्रह्मचर्य के पालन के लिए साधु-साध्वी एक दूसरे के उपाश्रय में न जाए और परस्पर ऐसे उपकरण भी ग्रहण न

करे जिनसे ब्रह्मव्रत की पीड़ा हो। यह पूर्वसूत्र से प्रस्तुत सूत्र का योग है—संबंध है।

३८०६. सतिकरणादी दोसा, अण्णोण्णउवस्सगाभिगमणेण।

सतिकरण-कोउहल्ला, मा होज्ज सलोमए अहवा॥

अन्योन्य उपाश्रय में अभिगमन करने से स्मृतिकरण आदि दोष होते हैं। सलोम वाले चर्म को ग्रहण करने से आर्या के स्मृतिकरण और कौतूहल न हो इसलिए प्रस्तुत सूत्र का प्रारंभ होता है। अथवा यह अपर संबंध-सूत्र है।

३८०७. चम्मम्मि सलोमम्मिं, णिग्गंथीणं उवेसमाणीणं।

चउगुरुगाऽऽयरियादी, तत्थ वि आणादिणो दोसा॥

लोमयुक्त चर्म पर बैठने वाली आर्या को चतुर्गुरुक और यदि आचार्य इस सूत्र को प्रवर्तिनी को नहीं कहते हैं तो वे भी चतुर्गुरुक प्रायश्चित्त के भागी होते हैं। प्रवर्तिनी श्रमणियों को न कहे तो चतुर्गुरु और श्रमणियां स्वीकार न करे तो लघुमास तथा सभी में आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं।

३८०८. गहणे चिद्ध णिसीयण, तुयट्ठणे य गुरुगा सलोमम्मि।

णिल्लोमे चउलहुगा, समणीणारोवणा चम्मे॥

सलोम चर्म ग्रहण करना, उस पर खड़े होना, बैठना, सोना—इन सबमें चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त है। निर्लोमचर्म में चतुर्लघु। यह श्रमणियों के लिए चर्मविषयक आरोपणा है।

३८०९. कुंथु-पणगाइ संजमे, कंटग-अहि-विच्छुगाइ आयाए।

भारो भयभुत्तियरे, पडिगमणाई सलोमम्मि॥

सलोम चर्म में कुन्थु, पनक आदि होते हैं। उस पर बैठने आदि से संयम की विराधना होती है। उस पर बैठे हुए कंटक, अहि, बिच्छु आदि से उपघात होने पर आत्म-विराधना होती है। सलोम चर्म का भार बहुत होता है। चोरों का भय रहता है। भुक्तभोगिनियों का स्मृतिकरण और अभुक्तभोगिनी श्रमणियों के मन में कुतूहल होता है। इससे वे प्रतिगमन कर सकती हैं, गृहवास कर सकती हैं।

३८१०. तसपाणविराहणया, चम्म सलोमे उ होति अहिकरणं।

णिल्लोमे तसपाणा, संकुयमाणे य करणं वा॥

सलोम चर्म में त्रसप्राणियों की विराधना होती है, अधिकरण होता है। निर्लोम चर्म में त्रस प्राणियों की विराधना होती है। उसके संकुचित होने पर श्रमणी पादकर्म कर सकती है।

३८११. अविदिण्णोवधि पाणा,

पडिलेहा वि य ण सुज्झति सलोमे।

वासासु य संसज्जति,

पतावमपतावणे दोसा॥

सलोमचर्म रूपी उपधि अवितीर्ण है, अननुज्ञात है। इसका

प्रत्युपेक्षण भी शुद्ध नहीं होता। वर्षा में कुन्थु, पनक आदि चर्म में लग जाते हैं। उसका प्रतापन करने से अग्नि की विराधना होती है और प्रतापन न करने पर प्राणियों की उसमें उत्पत्ति होती है—इस प्रकार दोनों ओर से दोष होता है।

३८१२. आगंतु तदुब्भूया, सत्ताऽद्भुसिरे वि गिण्हितुं दुक्खं।

अह उज्झति तो मरणं, सलोम-णिल्लोमचम्मयेयं॥

अशुषिर उपधि आदि से आगंतुक सत्त्वों तथा तद् उद्भूत सत्त्वों को निकालना कष्टप्रद होता है तो फिर शुषिर सलोम-चर्म की तो बात ही क्या? यदि उन जन्तुओं को छोड़ा जाता है तो उनका मरण हो सकता है। यह सलोमचर्म की बात है। अब सलोम-निर्लोमचर्म—दोनों के दोषों के विषय में यह कथन है।

३८१३. भारो भय परितावण, मारण अहिकरणमेव अविदिण्णे।

तित्थकर-गणहरेहिं, सतिकरणं भुत्तभोगीणं॥

सलोम-निर्लोमचर्म को वहन करना भारी होता है। भय होता है। जीवों का परितापन और मारण होता है। अधिकरण की संभावना होती है। यह उपधि तीर्थकरों और गणधरों द्वारा अदत्त है, अननुज्ञात है। सलोमचर्म का उपभोग करने वाली भुक्तभोगिनी श्रमणियों के स्मृतिकरण और अन्य श्रमणियों के मन में कुतूहल होता है।

३८१४. जइ ता अचेतणम्मिं, अयिणे फरिसो उ एरिसो होति।

किमुया सचेतणम्मिं, पुरिसे फरिसो उ गमणादी॥

वह श्रमणी सोचती है—यदि अचेतन चर्म में भी ऐसा स्पर्श होता है तो सचेतन पुरुष का स्पर्श कैसा होता होगा? यह सोचकर वह संयम से पलायन कर जाती है।

३८१५. बिइयपय कारणम्मिं, चम्मुब्बलणं तु होति णिल्लोमं।

आगाढ कारणम्मिं, चम्म सलोमं पि जतणाए॥

अपवादपद में चर्म ग्रहण किया जा सकता है। किसी आर्या के अभ्यंगन के प्रयोजन से निर्लोम चर्म और आगाढ कारण में सलोम चर्म का यतनापूर्वक परिभोग किया जाता है।

३८१६. उट्ठम्मि वातम्मि धणुग्गहे वा,

अरिसासु सूले व विमोइते वा।

एगंग-सव्वंगगए व वाते,

अब्भंगिता चिट्ठति चम्मऽलोमे॥

किसी आर्या के ऊर्ध्ववायु का प्रकोप हो गया हो, कोई धनुर्ग्रह पीड़ित हो, किसी के अर्श, शूल आदि हो, किसी के हाथ-पैर अपने स्थान से चलित हो गए हों, किसी के एक अंग में अथवा पूरे अंग में वायु उत्पन्न हो गया हो, वह आर्या अभ्यंगित होकर निर्लोम चर्म पर बैठ सकती है।

३८१७. तरच्छचम्मं अणिलामइस्स,

कडिं व वेढेंति जहिं व वातो।

एरंड-ऽणेरंडसुणेण डक्कं,

वेढेंति सोविंति व दीविचम्मो ॥

जो आर्या वात रोग से ग्रस्त है उसकी कटी तरक्ष के चर्म से वेष्टित की जाती है तथा जहां-कहीं वायु की पीड़ा हो वहां वह चर्म बांधा जाता है। जिस आर्या को कुत्ते ने या हडकिय कुत्ते ने काटा हो, उसको चर्म में वेष्टित कर दिया जाता है अथवा हाथी के चर्म पर सुलाया जाता है।

३८१८. पुया व घस्संति अणत्थुयम्मि,

पासा व घस्संति व थेरियाए।

लोहारमादीदिवसोवभुत्ते,

लोमाणि काउं अह संपिहंति ॥

स्थविरा आर्या बिना संस्तृत भूमी पर बैठती है तो उसके पुत घिस जाते हैं, सोती है तो दोनों पार्श्व घिस जाते हैं। वह स्थविरा आर्या लुहार आदि द्वारा दिन में परिभुक्त चर्म को प्रातिहारिक रूप में प्रतिदिन ग्रहण कर, उस चर्म के लोमों को नीचे कर, उसका परिभोग करे।

३८१९. दिवसे दिवसे व दुल्लभे, उच्चत्ता घेतुं तमाइणं।

लोमेहिं उण संविजोअए, मउअट्ठा व न ते समुद्धरे ॥

प्रतिदिन उसकी प्राप्ति दुर्लभ हो तो उच्चत्ता—अपनी निश्रा में उस चर्म को ग्रहण कर उसके सारे लोम निकाल दे। लोम निकालने से वह चर्म परुषस्पर्श वाला हो जाता है अतः मृदुता के लिए लोम को यथावत् न रखें।

कप्पइ निग्गंथाणं सलोमाइं चम्माइं
अहिद्धित्तए, से वि य परिभुत्ते नो चेव णं
अपरिभुत्ते, पाडिहारिए नो चेव णं
अपाडिहारिए, से वि य पाडिहारिए नो चेव
णं अप्पाडिहारिए, से वि य एगराइए नो
चेव णं अणेगराइए ॥

(सूत्र ४)

३८२०. दोसा तु जे होंति तवस्सिणीणं,

लोमाइणे ते ण जतीण तम्मि।

तं कप्पती तेसि सुतोवदेसा,

जं कप्पती तासि ण तं जतीणं ॥

सलोमचर्म के उपभोग से जो दोष आर्याओं के होते हैं वे दोष यतियों के नहीं होते। इसलिए उनको श्रुतोपदेश से

१. पुस्तकों के स्वरूप के लिए देखें—वृ. पृ. १०५४।

उनका परिभोग कल्पता है। श्रमणियों को जो निलोम चर्म कल्पता है वह यतियों को नहीं कल्पता। सलोम चर्म भी निर्ग्रन्थों को उत्सर्गतः नहीं कल्पता।

३८२१. निग्गंथाण सलोमं, ण कप्पती झुसिर तं तु पंचविहं।

पोत्थग-तणपण दूस्सं, दुविहं चम्मम्मि पणगं च ॥

सलोम चर्म शुषिर होता है, अतः वह मुनियों को नहीं कल्पता। शुषिर पांच प्रकार का है—पुस्तकपंचक, तृणपंचक, दूष्यपंचक—यह दो प्रकार का है—अप्रत्युपेक्ष्यदूष्यपंचक, दुःप्रत्युपेक्ष्यदूष्यपंचक तथा चर्मपंचक।

३८२२. गंडी कच्छति मुट्ठी, छिवाडि संपुडग पोत्थगा पंच।

तिण सालि-वीहि-कोद्धव-रालग-आरण्यगतणं च ॥

पुस्तकपंचक—गंडीपुस्तक, कच्छपीपुस्तक, मुष्टिपुस्तक, छेदपाटीपुस्तक, सम्पुटफलकपुस्तक।^१ तृणपंचक—शाली, व्रीही, कोद्रव, रालक, आरण्यकतृण।

३८२३. कोयव पावारग दाडिआलि पूरी तथेव विरली य।

एयं दुपेहपणयं, इणमण्णं अपडिलेहाणं ॥

दूष्यपंचक—

१. कोयवि—रूई से भरा हुआ पट 'रजाई'।
२. प्रावारक—नेपाल आदि में निर्मित प्रचुर रोम वाली बृहत्कंबल।
३. दाडिआली—ब्राह्मणों का एक परिधान, जिसके दोनों ओर किनारी हो और जो दंतपंक्ति की भांति प्रतीत हो रही हो।
४. पूरिका—स्थूल शणमय डोरी से निष्पन्न वस्त्र—जैसे धान्यगोणी।
५. विरलिका—द्विसरोवाली सूत्रपटी।

इन दूष्यपंचक का सम्यग्रूप से प्रत्युपेक्षण नहीं हो सकता, अतः ये दुःप्रत्युपेक्ष्यदूष्यपंचक कहलाते हैं।

३८२४. उवहाण तूलि आलिंणी उ गंडोवहाण य मसूरा।

गो-माहिस-अय-एलग-रण्णमियाणं च चम्मं तु ॥

अन्य अप्रत्युपेक्ष्यदूष्यपंचक—

१. उपधान—रूई या हंसरोम आदि से भरा हुआ तकिया।
२. तूली—साफ की हुई रूई या अर्कतूल से भरा हुआ तकिया या गादी।
३. आलिंणिका—पुरुष के प्रमाणवाला लंबा बिछौना जो सोने वाले के घुटने और कोहनी के नीचे रखा जाता है।
४. गंडोपधान—गाल के पास रखा जाने वाला तकिया।
५. मसूरक—चर्मकृत या वस्त्रकृत गोल तकिया।

चर्मपंचक—(१) गोचर्म (२) महिषचर्म (३) अजाचर्म—
छगलिका का चर्म (४) एडकचर्म—भेड़ का चर्म
(५) आरण्यकमृग—अरण्य के पशुओं मृग, शशक आदि का
चर्म।

३८२५. जहिं गुरुगा तहिं लहुगा,

जहिं लहुगा चउगुरु तहिं ठाणे।

दोहिं लहू कालगुरु,

तवगुरुगा दोहि वी गुरुगा ॥

आर्याओं के लिए सलोमचर्म का प्रायश्चित्त है चतुर्गुरुक
और मुनियों के लिए है—चतुर्लघुक तथा निर्लोम चर्म का
प्रायश्चित्त आर्याओं के लिए चतुर्लघुक और मुनियों के लिए
है चतुर्गुरुक। आर्याओं और मुनियों के प्रथम स्थान में अर्थात्
ग्रहण करने में तप और काल से लघु, ऊर्ध्वस्थान में
कालगुरु, निषीदन में तपोगुरु, शयन में दोनों अर्थात् तप
और काल से गुरु।

(पुस्तकपंचक, तृणपंचक, दोनों प्रकार के दूष्यपंचक—
इनमें श्रमण-श्रमणियों का प्रायश्चित्त है चतुर्लघु।)

३८२६. संघंस अपडिलेहा, भारो अहिकरणमेव अविदिण्णं।

संकामण पलिमंथो, पमाय परिकम्मणा लिहणा ॥

पुस्तकपंचक के दोष—ग्रामान्तर ले जाते समय कंधों का
संघर्षण होता है। पूरा प्रत्युपेक्षण नहीं होता। भार लगता है।
कुंथु, पनक आदि की संसक्ति के कारण अधिकरण होता है।
यह अदत्त उपधि है। उनके संक्रमण से पलिमंथु होता है।
प्रमाद—पुस्तक में लिखा हुआ है अतः स्वाध्याय न करने से
श्रुत का नाश होता है। उनके परिकर्म में सूत्रार्थ की हानि और
अक्षरलेखन में प्राणव्यपरोपण होता है।

३८२७. पोत्थग जिण दिद्धंतो, वग्गुर लेवे य जाल चक्के य।

लोहित लहुगा आणादि मुयण संघट्टणा बंधे ॥

पुस्तकें शुषिर होती हैं। वहां जो जंतुओं का उपघात होता
है, उस विषयक जिनेश्वर देव ने चार दृष्टांत दिए हैं—वागुरा,
लेप, जाल और चक्र। उन पुस्तकों के अंतर्गत जन्तुओं की
हत्या हो सकती है। उनका रुधिर अक्षरों पर फैल सकता है।
जितनी बार पुस्तक को खोलता है, बांधता है, अक्षरों का
पुनः लेखन करता है उतने चतुर्लघु तथा आज्ञाभंग आदि दोष
होते हैं। पुस्तक को खोलने या बांधने में जीवों की संघट्टना
होती है। तद्विषयक प्रायश्चित्त आता है।

३८२८. चउरंगवग्गुरापरिवुडो वि फिद्वेज्ज अवि मिगो रण्णे।

छीर खउर लेवे वा, पडिओ सउणो पलाएज्जा ॥

चतुरंगवागुरा से परिवृत मृग भी उससे छूट कर अरण्य
में भाग जाता है, किन्तु पुस्तकों के पत्रान्तर में प्रविष्ट जंतु

निकल नहीं सकते। शकुन—पक्षी अर्थात् मक्षिका दूध में,
खपुर—चिकने द्रव्य में, लेप में गिरने पर भी पलायन कर
जाती है किन्तु पुस्तकजीव कहीं पलायन नहीं कर सकते।

३८२९. सिद्धत्थगजालेण व,

गहितो मच्छो वि णिप्फिडेज्जा हि।

तिलकीडगा व चक्के,

तिला व ण य ते ततो जीवा ॥

सिद्धार्थकजाल अर्थात् जिस जाल के द्वारा सर्प गृहीत
होते हैं, उस जाल में फंसा मत्स्य भी कदाचित् निकल कर
पलायन कर जाता है, तिलपीडनयंत्र में प्रविष्ट तिलकीटक
अथवा तिल भी बच जाते हैं, किन्तु उन पुस्तकों में प्रविष्ट
जीव निकल नहीं पाते, बच नहीं पाते।

३८३०. जइ तेसिं जीवाणं, तत्थगयाणं तु लोहियं होज्जा।

पीलिज्जंते धणियं, गलेज्ज तं अक्खरे फुसितं ॥

यदि पुस्तकपत्रान्तरों में स्थित उन जीवों का खून हो जाए
या पुस्तक बांधने के समय उनका अधिक मसले जाने
पर उनका रक्त अक्षरों का स्पर्श करता हुआ बाहर निकलने
लगता है।

३८३१. जत्तियमेत्ता वारा,

उ मुंचई बंधई व जति वारा।

जति अक्खराणि लिहति व,

तति लहुगा जं च आवज्जे ॥

जितनी बार पुस्तकों को खोलता है और जितनी बार
बांधता है, जितने अक्षर लिखता है, उतने ही चतुर्लघु
प्रायश्चित्त हैं। तथा जीवों का संघट्टन और परितापन होता है,
तान्निष्पन्न प्रायश्चित्त भी आता है।

३८३२. तणपणगम्मि वि दोसा,

विराहणा होति संजमा-SSताए।

सेसेसु वि पणगेसुं,

विराहणा संजमे होति ॥

तृणपंचक में भी दोष और संयम तथा आत्मविराधना
होती है। शेष पंचकों में भी संयमविराधना होती है।

३८३३. अहि-विच्चुग-विसकंडगमादीहि

खयं व होज्ज आयाए।

कुंथादि संजमम्मिं,

जति उव्वत्तादि तति लहुगा ॥

तृण शुषिर होते हैं अतः उनमें सांप, वृश्चिक, विषकंटक
आदि से डसा जा सकता है तथा क्षत होने पर आत्मविराधना
होती है। कुंथु आदि जीवों के व्यपरोपण से संयमविराधना
होती है। तृणों पर सोकर जितनी बार उद्वर्तन, परिवर्तन,

आकुंचन, प्रसारण करता है उतनी ही बार चतुर्लघु का प्रायश्चित्त आता है।

३८३४. विद्ध सलोमे दोसा, णिल्लोमं णाम कप्पती घेतुं।

गिण्हणे गुरुगा पडिलेह पणग तसपाण सतिकरणं॥

सलोमचर्म के उपभोग में दोष देखे गए हैं अतः श्रमणों को निर्लोमचर्म ग्रहण करना कल्पता है। उसके ग्रहण में चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त है। उसका प्रत्युपेक्षण शुद्ध नहीं होता। पनक, त्रस प्राणी आदि उत्पन्न हो जाते हैं तथा स्मृतिकरण भी होता है।

३८३५. भुत्तस्स सतीकरणं सरिसं इत्थीण एयफासेणं।

जति ता अचेयणम्मिं, फासो किमु चेयणे इतरे॥

भुक्तभोगी इस प्रकार स्मृति करता है—इस चर्म का स्पर्श स्त्रियों के स्पर्श सदृश है। यदि अचेतन चर्म में यह स्पर्श है तो सचेतन स्त्री के शरीर का स्पर्श कैसा होता होगा? इसलिए निर्लोमचर्म भी नहीं लेना चाहिए।

३८३६. सुत्तनिवाओ वुद्धे, गिलाण तद्विवस भुत्त जतणाए।

आगाढ गिलाणे मक्खणद्ध, घट्टे भिण्णे व अरिसाउ॥

प्रस्तुत सूत्र में सलोमचर्म की अनुज्ञा कैसे? यह सूत्रनिपात वृद्ध तथा ग्लान मुनियों के लिए है। जो चर्म उस दिन कुंभकार आदि से परिभुक्त हो उसे यतनापूर्वक लेकर उसका उपभोग करे तथा आगाढ़ ग्लानत्व होने पर, तैल से मर्दन किए जाने पर, जिसके पुत घिस गए हों, जो भिन्नकुष्ठी हो, जिसके अर्श हो गया हो, उनके लिए निर्लोमचर्म लिया जा सकता है।

३८३७. संथारद्ध गिलाणे, अभिलादीचम्म घेप्पति सलोमं।

वुद्धा-ऽसहु-बालाण व, अच्छुरणद्धा वि एमेव॥

ग्लान के संस्तरक के लिए अमिला (अविला-भेड़) आदि का सलोमचर्म ग्रहण किया जा सकता है। इसी प्रकार वृद्ध, असहिष्णु तथा बाल मुनियों के आस्तरण के लिए भी वह चर्म ग्रहण किया जा सकता है।

३८३८. कुम्भार-लोहकारेहिं दिवसमलियं तु तं तसविह्वं।

उवरिं लोमे काउं, सोत्तुं गोसे समप्पेति॥

जो चर्म कुंभकार, लोहकार आदि के द्वारा दिन में परिभुक्त है वह त्रस प्राणी रहित होता है। संध्या समय में जब वे चले जाते हैं तब प्रातिहारिक रूप में ग्रहण कर, लोमों को ऊपर कर रात में सोकर फिर प्रातः उसका प्रत्यार्पण कर देते हैं।

३८३९. अवताणगादि णिल्लोम तेल्ल वम्मद्ध घेप्पती चम्मं।

घट्टा व जस्स पासा, गलंतकोढेऽरिसासुं वा॥

अवयाण' आदि तैल से ग्लान का अभ्यंगन करने पर, वर्म के लिए, जिसके पार्श्व घिस गए हों, गलितकुष्ठ और अर्श के रोगी के लिए निर्लोमचर्म लिया जा सकता है।

३८४०. सोणिय-पूयालित्ते, दुक्खं धुवणा दिणे दिणे चीरे।

कच्छुल्ले किडिभिल्ले, छप्पतिगिल्ले व णिल्लोमं॥

रक्त और पीव से लिस वस्त्रों को प्रतिदिन धोना कष्टप्रद होता है। खाज, कटिभ—एक प्रकार का कुष्ठ, षट्पदिका-वान्—इनके लिए निर्लोमचर्म का ग्रहण किया जा सकता है।

३८४१. जह कारणे निल्लोमं, तु कप्पती तह भवेज्ज इयरं पि।

आगाढि सलोमं आदिकाउ जा पोत्थए गहणं॥

जैसे कारण में निर्लोमचर्म कल्पता है, वैसे ही सलोमचर्म भी कल्पता है। आगाढ़ कारण में सलोमचर्म से प्रारंभ कर पश्चानुपूर्वी से पुस्तक पर्यन्त का भी ग्रहण करना चाहिए।

३८४२. भत्तपरिण्ण गिलाणे,

कुसमाइ खराऽसती तु झुसिरा वि।

अप्पडिलेहियदूसाऽसती य

पच्छा तणा होंती॥

भक्तपरिज्ञावान् (अनशनी) तथा ग्लान के लिए यदि परुष तृणों की प्राप्ति न हो तो कुश आदि अशुषिर तृण लिए जाएं। उनके लिए अप्रत्युपेक्ष्यदूष्य ग्रहण करे। उसकी प्राप्ति न हो तो यथाक्रम शुषिर, अशुषिर पश्चात् तृण ग्रहण करे।

३८४३. दुप्पडिलेहियदूसे, अद्धाणादी विवित्त गेण्हंति।

घेप्पति पोत्थगपणगं, कालिय-णिज्जुत्तिकोसद्धा॥

विहार करते समय मार्ग में चोरों ने उपधि चुराली हो तो वे दुष्प्रत्युपेक्ष्यदूष्य ग्रहण कर सकते हैं। वे कालिक-उत्कालिकश्रुत की निर्युक्ति आदि संगृहीत होंगी भांडागार की भांति होंगी, यह सोचकर पुस्तकपंचक भी ग्रहण करते हैं।

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा

कसिणाइं चम्माइं धारित्तए वा परिहरित्तए

वा॥

(सूत्र ५)

३८४४. चम्मं चेवाहिकयं, तस्स पमाणमिह मिस्सिए सुत्ते।

अपमाणं पडिसिज्झति, ण उ गहणं एस संबंधो॥

पूर्वसूत्र में चर्म का अधिकार था। प्रस्तुत निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थीप्रतिबद्ध सूत्र में उस चर्म का प्रमाण प्ररूपित है। अप्रमाण वाले चर्म का प्रतिषेध किया गया है, सर्वथा चर्म-ग्रहण करने का निषेध नहीं है। यह संबंध है।

१. अवताण—यह 'लगाम' के अर्थ में देशी शब्द है। लगाम आदि चर्म पर लगाया जाने वाला तैल।

३८४५.अहवा अच्छुरणद्वा, तं वृत्तमिदं तु पादरक्खद्वा।
तस्स वि य वण्णमादी, पडिसेहेती इहं सुत्ते॥

अथवा पूर्वसूत्र में चर्म का ग्रहण आस्तरण के लिए कहा गया था, प्रस्तुत सूत्र में उसका ग्रहण पादरक्षार्थं कहा गया है। उस चर्म के वर्ण आदि जो गुण, इस सूत्र में कहे हैं, उनका प्रतिषेध है।

३८४६.सगल प्पमाण वण्णे, बंधणकसिणे य होइ गायव्वे।
अकसिणमद्वारसगं, दोसु वि पासेसु खंडाइं॥

कृत्स्न चार प्रकार का है—सकलकृत्स्न, प्रमाणकृत्स्न, वर्णकृत्स्न और बंधनकृत्स्न। ये चारों प्रकार के चर्म का ग्रहण नहीं कल्पता। जो अकृत्स्न चर्म है, उसके अठारह खंड करने चाहिए। उन खंडों को दोनों पार्श्व में पहनना चाहिए।

३८४७.एगपुड सकलकसिणं, दुपुडादीयं पमाणतो कसिणं।
खल्लग खउसा वग्गुरि, कोसग जंघऽह्जंघा य॥

एकतल वाला चर्म सकलकृत्स्न कहलाता है। दो, तीन आदि पुट वाला चर्म प्रमाणकृत्स्न कहलाता है। खल्लक, खपुसा, वागुरा, कोशक, जंघा तथा अर्धजंघा—ये सब प्रमाणकृत्स्न हैं। इनकी व्याख्या आगे की गाथाओं में।

३८४८.पायस्स जं पमाणं, तेण पमाणेण जा भवे कमणी।
मज्झमि तु अक्खंडा, अण्णत्थ व सकलकसिणं तु॥

पैरों के प्रमाण से युक्त जो क्रमणिका मध्य में तथा अन्यत्र भी अखंड होती है वह सकलकृत्स्न कहलाती है।

३८४९.दुपुडादि अद्धखल्ला, समत्तखल्ला य वग्गुरी खपुसा।
अद्धजंघ समत्ता य, पमाणकसिणं मुणेयव्वं॥

दो पुटवाले उपानत अथवा अर्द्धखल्ल अथवा समस्त-खल्ल अथवा वागुरा, खपुसा, अर्द्धजंघा अथवा समस्त-जंघा—इन सबको प्रमाणकृत्स्न जानना चाहिए।

३८५०.उवरिं तु अंगुलीओ, जा छाए सा तु वग्गुरी होति।
खपुसा य खलुगमेत्तं, अद्धं सव्वं च दो इयरे॥

जो पैर और अंगुलियों को तथा ऊपरी भाग को आच्छादित करता है, वह वागुरा है। जो घुंठक मात्र तक आच्छादित करता है वह है जंघा और जो अर्धजंघा को आच्छादित करता है, वह है अर्धजंघा।

३८५१.वण्णद्द वण्णकसिणं, तं पंचविहं तु होइ नायव्वं।
बहुबंधणकसिणं पुण, परेण जं तिण्ह बंधाणं॥

जो चर्म वर्ण से आढ्य—उज्ज्वल होता है वह वर्णकृत्स्न है। वह कृष्ण वर्ण आदि के भेद से पांच प्रकार का है। जो तीन बंधनों से अधिक बहुत बंधनों से बद्ध है वह बंधनकृत्स्न होता है।

३८५२.लहुओ लहुगा दुपुडादिएसु गुरुगा य खल्लगादीसु।
आणादिणो य दोसा, विराहणा संजमा-ऽऽदाए॥

सकलकृत्स्न लेने पर लघुमास, द्विपुट आदि में चतुर्लघु, खल्लक आदि में चतुर्गुरु तथा आज्ञाभंग आदि दोष तथा संयम और आत्मविराधना होती है।

३८५३.अंगुलिकोसे पणगं, सगले सुक्के य खल्लगे लहुओ।
बंधण वण्ण पमाणे, लहुगा तह पूरपुण्णे य॥

अंगुलीकोश में पंचक, सकलकृत्स्न तथा शुष्क खल्लक में लघुमास तथा बंधनकृत्स्न, वर्णकृत्स्न, प्रमाणकृत्स्न तथा पूरपूर्ण खल्लक में चतुर्लघु।

३८५४.अद्धे समत्त खल्लग, वग्गुरि खपुसा य अद्धजंघा य।
गुरुगा दोहि विसिद्धा, वग्गुरिए अण्णतरएणं॥

अर्द्धखल्लक में चतुर्गुरु प्रायश्चित्त जो तप और काल से लघु होता है, समस्तखल्लक में कालगुरु, वागुरिका में तप और काल में गुरु, खपुसा में तप गुरु, अर्द्धजंघा या समस्तजंघा में तप और काल से गुरु।

३८५५.जत्तियमित्ता वारा, तु बंधते मुंचते व जति वारा।
सद्धानं तति वारे, होति विवह्ही य पच्छित्ते॥

जितनी मात्रा में तथा जितनी बार अंगुलीकोश आदि बांधता है या खोलता है उसका उतनी बार स्वस्थान प्रायश्चित्त (जिसका जो प्रायश्चित्त हो वह) आता है तथा आज्ञाभंग आदि होने पर प्रायश्चित्त में वृद्धि होती है।

३८५६.गव्वो णिम्मइवता, णिरवेक्खो निहतो णिरंतरता।
भूताणं उवघाओ, कसिणे चम्ममि छद्दोसा॥

उपानत से गर्व और निर्मादवता होती है, जीवों से निरपेक्ष और निर्दयता होती है, निरंतर भूमी का स्पर्श करने के कारण प्राणियों का घात होता है तथा कृत्स्न चर्म में छह दोष होते हैं।

३८५७.आसगता हत्थिगतो,
गव्विज्जइ भूमितो य कमणिल्लो।

पादो उ समाउक्को,

कमणीउ खरा अवि य भारो॥

जैसे अश्वारूढ़ और हाथी पर आरूढ़ व्यक्ति गर्वित हो जाता है, उसी प्रकार भूमीगत व्यक्ति जो पैरों में क्रमणिका पहने हुए हो वह भी गर्वित होता है। पैर स्वभावतः मृदु होते हैं, उनसे जीवोपघात नहीं होता। क्रमणिका पहन लेने पर पैरों का स्पर्श कर्कश हो जाता है, उनसे जीवोपघात होता है।

३८५८.कंटाई देहंतो, जीवे वि हु सो तहेव देहिज्जा।
अत्थि महं ति य कमणी, णावेक्खइ कंटाएण जिए॥

बिना जूते पहने चलने वाला व्यक्ति जैसे कांटों आदि को

देखता है जैसे ही जीवों को भी देखता है, उनका घात नहीं करता। जो व्यक्ति यह सोचता है कि मैं जूते पहने हुए हूँ, वह निरपेक्ष होकर न कांटों को देखता है और न जीवों को।

३८५९.पुब्विं अदया भूएसु होति बंधति कमेसु तो कमणी।

जायति हु तदभ्यासा, सुदयालुस्सावि णिह्यया॥

जो व्यक्ति पहले ही प्राणियों के प्रति निर्दय होता है, वह पैरों में जूते बांध लेने के बाद, उसके अभ्यास से वह सदयालु होने पर भी निर्दय हो जाता है।

३८६०.अवि यंडंखुज्जपादेण पेल्लितो अंतरंगुलगतो वा।

मुच्चेज्ज कुलिंगादी, ण य कमणीपेल्लितो जियती॥

जैसे आम्रकुब्ज व्यक्ति के पैरों के नीचे आया हुआ कुलिंगी-विकलेन्द्रिय प्राणी, उसके अंगुलियों के मध्य में आया हुआ भी, मरता नहीं, बच जाता है, किन्तु क्रमणिका से आक्रान्त जीव बच नहीं सकता, अवश्य मर जाता है।

३८६१.किह भूयाणुवघातो, ण होहिती पगतिपेलवतणूणं।

सभराहि पेल्लियाणं, कक्खडफासाहिं कमणीहिं॥

प्राणी स्वभाव से ही अदृढशरीर वाले होते हैं। पुरुष के भार से आक्रान्त, कर्कशस्पर्शवाले जूतों से प्रेरित होने पर वहां भूतोपघात कैसे नहीं होगा ?

३८६२.विह अतराऽसहु संभम,

कोट्टाऽरिस चक्खुदुब्बले बाले।

अज्जा कारणजाते,

कसिणग्गहणं अणुण्णायं॥

इन कारणों से कृत्स्नचर्म का ग्रहण अनुज्ञात है—विह अर्थात् यात्रा में, ग्लान के लिए, असहिष्णु के लिए, संध्रम—चोर आदि के भय में, यदि कुष्ठरोगी, अशरोगी, आंख से दुर्बल हो, बाल हो, कारणवश आर्या को ले जाना पड़े, कुल-गण-संघ का कार्य उपस्थित होने पर।

३८६३.कंटा-ऽहि-सीयरक्खड्डता विहे खवुसमादि जा गहणं।

ओसहपाण गिलाणे, अहुणुट्टियभेसयट्टा वा॥

मार्ग में चलते समय कंटक, सर्प और शीत की रक्षा के लिए अंगुलीरक्षक अथवा खल्लक आदि का ग्रहण होता है। इसी प्रकार खपुस, अर्धजंघा, समस्तजंघा का भी ग्रहण किया जाता है। औषधपान आदि सेवन करने वाला ग्लान वैद्य के उपदेश से बिना क्रमणिका के नहीं चल सकता, अथवा ग्लानत्व से तत्काल उठा हुआ ग्लान क्रमणिका का उपयोग करता है, अन्यथा पृथ्वी की शीतलता के कारण अन्न उचितरूप में नहीं पचता। अथवा भैषज के लिए ग्रामान्तर जाना पड़े तो ग्लान क्रमणिका का प्रयोग करता है।

१. कथानक के लिए देखें—आवश्यक, हारि. वृ. पृ. ६७०।

३८६४.अरिसिल्लस्स व अरिसा,

मा खुब्भे तेण बंधते कमणी।

असहुमवंताहरणं,

पादो घट्टो तु गिरिदेसे॥

अर्श का रोगी यह सोचता है कि पादतल की दुर्बलता के कारण अर्श क्षुब्ध न हो जाएं इसलिए वह पैरों में क्रमणिका बांधता है। क्रमणिका के बिना न चल सकने वाला असहिष्णु क्रमणिका का प्रयोग करता है। इसमें अवंतीसुकुमार का उदाहरण ज्ञातव्य है।^१ गिरिदेश में विहरण करने वाले मुनि के पादतल घिस जाएं तो वह क्रमणिका बांध सकता है।

३८६५.कुट्टिस्स सक्करादीहि वा वि भिण्णो कमो मधूला वा।

बालो असंफरो पुण, अज्जा विहि दोच्च पासादी॥

जिस कुष्ठरोगी के पैर कंकड़, कांटें आदि से फट गए हों वह क्रमणिका बांधता है। जिसके मधूल-पैरों में फोड़ा हो गया हो वह अथवा असंवृत (असंस्पर्) बाल तथा आर्या को जिस मार्ग से ले जाना हो वहां चोर आदि का भय हो, वहां वृषभ मुनि क्रमणिका पहनकर मार्ग को छोड़कर पार्श्वस्थित अर्थात् उत्पथ से चलते हैं। सभी उस उत्पथ से जाते हैं।

३८६६.कुलमाइकज्ज दंडिय, पासादी तुरियधावणट्टा वा।

कारणजाते वऽण्णे, सागारमसागरे जतणा॥

कुल, गण, संघ आदि के कार्य में दंडिकाबलन के लिए त्वरित गमन के लिए, अथवा उत्पथ में या आगे-पीछे चलते हुए अथवा शीघ्रता से दौड़ने के लिए, कारण उपस्थित होने पर या किसी अन्य आगाढ़ कारण में सागारिक तथा असागारिक विषय की यतना रखते हुए क्रमणिका का उपयोग करे। (यदि सागारिक उड्डाह करते हों तो क्रमणिका निकाल कर गांव में प्रवेश करे।)

३८६७.पंचविहम्मि वि कसिणे,

किणहग्गहणं तु पढमतो कुज्जा।

किणहम्मि असंतम्मिं,

विवण्णकसिणं तहिं कुज्जा॥

पांच प्रकार के वर्णकृत्स्न चर्म में सबसे पहले कृष्ण वर्ण वाले कृत्स्न चर्म को ग्रहण करे। यदि कृष्णवर्णवाले कृत्स्नचर्म की अप्राप्ति हो तो लोहित आदि वर्णकृत्स्न आदि चर्म ग्रहण करे। उसे विवर्णकृत्स्न कर दे।

३८६८.किण्हं पि गेण्हमाणो, झुसिरग्गहणं तु वज्जेण साहू।

बहुबंधणकसिणं पुण, वज्जेयव्वं पयत्तेणं॥

कृष्णवर्ण चर्म का ग्रहण करते हुए भी शुषिर के ग्रहण का वर्जन करे तथा बहुबंधन कृत्स्न की भी प्रयत्नपूर्वक वर्जना करे।

३८६९.दोरेहि व वज्जेहि व, दुविहं तिविहं व बंधणं तस्स।

अणुमोदण कारावण, पुव्वकतम्मिं अधीकारो॥

डोरों से अथवा चर्म-रज्जु से दो प्रकार या तीन प्रकार से उस चर्म का बंधन होता है अर्थात् दो या तीन बंधन वाला चर्म अनुज्ञात है। कृत्स्न या अकृत्स्न चर्म स्वयं साधु न करे, न कराए और करने वाले का अनुमोदन भी न करे। जो पूर्वकृत है उसे ग्रहण करे, उसका अधिकार है—प्रयोजन है।

३८७०.खुलए एगो बंधो, एगो पंचंगुलस्स दोण्णते।

खुलए एगो अंगुट्ट वितिय चउरंगुले ततित्तो॥

खुलक में एक बंध होता है। पांचों अंगुलियों का एक बंध होता है। ये दो बंध होते हैं। जहां तीन बंध होते हैं वहां एक बंध खुलक का, एक बंध अंगुष्ठ का और एक बंध चारों अंगुलियों का।

३८७१.सयकरणे चउलहुगा, परकरणे मासियं अणुग्घायं।

अणुमोदणे वि लहुओ, तत्थ वि आणादिणो दोसा॥

यदि स्वयं कोई चर्म का (उपानह आदि) करता है, उसे चतुर्लघु, कराने पर मासिक अनुदघात और अनुमोदन में मासलघु तथा सर्वत्र आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं।

३८७२.अकसिणचम्मग्गहणे, लहुओ मासो उ दोस आणादी।

बितियपद घेप्पमाणे, अट्टारस जाव उक्कोसा॥

सूत्र में अनुज्ञात होने पर भी अकृत्स्नचर्म का ग्रहण नहीं कल्पता। यदि ग्रहण किया जाता है तो लघुमास का प्रायश्चित्त और आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं। अपवाद पद में ग्रहण भी विधिपूर्वक होना चाहिए। यदि अकृत्स्न चर्म ग्रहण किया जाए तो दोनों उपानहों के उत्कृष्टतः अठारह खंड करे।

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
अकसिणाइं चम्माइं धारित्तए वा
परिहरित्तए वा ॥

(सूत्र ६)

३८७३.अकसिणमट्टारसगं, एगपुड विवण्ण एगबंधं च।

तं कारणम्मि कप्पत्ति, णिक्कारण धारणे लहुओ॥

वह अकृत्स्न चर्म १८ खंड वाला, एक पुट, विवर्ण

और एक बंध वाला हो। ऐसा चर्म कारण में कल्पता है, बिना कारण धारण करने पर लघुमास का प्रायश्चित्त आता है।

३८७४.जइ अकसिणस्स गहणं, भाए काउं कमेण अट्टदस।

एगपुड-विवण्णेहि य, तहिं तहिं बंधते कज्जे॥

यदि अकृत्स्नचर्म का ग्रहण किया जाता है तो उसके क्रमशः अठारह भाग कर, एक पुट, विवर्ण और एक बंध वाले उनको पैर में जहां-जहां आबाधा हो वहां-वहां कार्यवश बांधा जाता है।

३८७५.पंचंगुल पत्तेयं, अंगुट्टमज्जे य छट्ट खण्डं तु।

सत्तममग्गतलम्मी, मज्झइट्टम पण्हिया णवमं॥

अठारह खंड कैसे होते हैं? पैर की प्रत्येक अंगुली का एक-एक खंड, अंगुष्ठ के मध्य छठा खंड, अग्रतल में सातवां खंड, मध्यतल में आठवां और पाष्णिका में नौवां। इस प्रकार एक पैर के उपानह के नौ खंड हुए। दूसरे पैर के उपानह के भी नौ खंड करने पर सर्व खंड अठारह हुए।

३८७६.एवइयाणं गहणे, मासो मुच्चंति होति पलिमंथो।

बितियपद घेप्पमाणे, दो खंडा मज्झपडिबंधा॥

इतने खंडों के ग्रहण करने पर मासलघु का प्रायश्चित्त आता है तथा इतने खंड करने पर सूत्रार्थ का परिमंथ होता है। अपवाद पद में चर्म ग्रहण करना पड़े तो मध्य से प्रतिबद्ध दो खंड करे।

३८७७.पडिलेहा पलिमंथो, णदिमादुदए य मुंच-बंधंते।

सत्थफिडणेण तेणा, अंतरवेधो य डंकणता॥

अठारह खंड करने पर प्रत्युपेक्षा का परिमंथ होता है। सार्थ के साथ जाता हुआ मुनि यदि नदी को पार करना चाहे तो उन अठारह स्थानों को खोलने तथा पार करने पर पुनः उन्हें बांधने में जो समय लगता है, उतने समय में सार्थ आगे चला जाता है और वह सार्थ से बिछुड़ जाता है। वह चोरों द्वारा उपद्रुत होता है। अनेक खंडों के बीच से कांटों द्वारा बींधा जाता है और पैरों में घाव हो जाते हैं।

३८७८.तज्जायमतज्जायं, दुविहं तिविहं व बंधणं तस्स।

तज्जायम्मि वि लहुओ, तत्थ वि आणादिणो दोसा॥

खंडद्वय में दो प्रकार का बंध होता है—तज्जातबंध और अतज्जातबंध। तज्जातबंध देने पर भी मासलघु प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं। तज्जातबंध का अर्थ है—उसी चर्म का बंध और अतज्जातबंध का अर्थ है—डोरी आदि से बांधना।

वत्थ-पदं

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
कसिणाइं वत्थाइं धारित्तए वा परिहरित्तए
वा।

(सूत्र ७)

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
अकसिणाइं वत्थाइं धारित्तए वा
परिहरित्तए वा ॥

(सूत्र ८)

३८७९. पडिसिद्धं खलु कसिणं,

चम्मं वत्थकसिणं पि णेच्छामो।

अववादियं तु चम्मं,

ण वत्थमिति जोगणाणत्तं ॥

पूर्वसूत्र में कृत्स्नचर्म का प्रतिषेध किया गया है जैसे ही वस्त्रकृत्स्न भी हमें ग्राह्य नहीं है। जैसे चर्म आपवादिक है, वैसे वस्त्र आपवादिक नहीं है, क्योंकि यह सदा परिभोग में आता है। यही संबंध का नानात्व है, प्रकारान्तर है।

३८८०. कसिणस्स उ वत्थस्सा,

णिवखेवो छव्विहो तु कातव्वो।

नामं ठवणा दविए,

खेत्ते काले य भावे य ॥

कृत्स्न वस्त्र के छह निक्षेप होते हैं—नामकृत्स्न, स्थापना-कृत्स्न, द्रव्यकृत्स्न, क्षेत्रकृत्स्न, कालकृत्स्न और भावकृत्स्न।

३८८१. दुविहं तु दव्वकसिणं, सकलक्कसिणं पमाणकसिणं च।

एतेसिं दोण्हं पी, पत्तेय परूवणं वोच्छं ॥

द्रव्यकृत्स्न के दो प्रकार हैं—सकलकृत्स्न और प्रमाण-कृत्स्न। इन दोनों में प्रत्येक की पृथक् प्ररूपणा करूंगा।

३८८२. घण मसिणं णिरुवहयं, जं वत्थं लब्भते सदसियाणं।

एतं तु सकलकसिणं, जहण्णगं मज्झिमुक्कोसं ॥

सघन, मृदु, निरुपहत तथा सदशाक—किनारी वाला जो वस्त्र प्राप्त होता है वह सकलकृत्स्न कहलाता है। उसके तीन प्रकार हैं—जघन्य मुखपोतिका आदि, मध्यम—पटलक और उत्कृष्ट—कल्प आदि।

३८८३. वित्थारा-ऽऽयामेणं, जं वत्थं लब्भए समतिरेगं।

एयं पमाणकसिणं, जहण्णयं मज्झिमुक्कोसं ॥

जो वस्त्र विस्तार—चौड़ाई और आयाम—लंबाई में समतिरिक्त प्राप्त होता है, वह प्रमाणकृत्स्न है। उसके भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट—ये तीन प्रकार हैं।

३८८४. जं वत्थ जम्मि देसम्मि दुल्लहं अच्चियं व जं जत्थ।

तं खित्तजुयं कसिणं, जहण्णयं मज्झिमुक्कोसं ॥

जो वस्त्र जिस देश में दुर्लभ हो, जो वस्त्र जहां अर्चित अर्थात् मंहगा हो वह क्षेत्रयुतकृत्स्न कहलाता है। उसके भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट—ये तीन प्रकार हैं।

३८८५. जं वत्थ जम्मि कालम्मि अग्घितं दुल्लभं व जं जत्थ।

तं कालजुतं कसिणं, जहण्णयं मज्झिमुक्कोसं ॥

जो वस्त्र जिस काल में बहुमूल्य वाला है और जो जहां दुर्लभ है, वह कालयुतकृत्स्न है। उसके भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट—ये तीन प्रकार हैं।

३८८६. दुविहं च भावकसिणं, वण्णजुतं चेव होति मोल्लजुयं।

वण्णजुयं पंचविहं, तिविहं पुण होइ मोल्लजुतं ॥

भावकृत्स्न के दो प्रकार हैं—वर्णयुत और मूल्ययुत। वर्णयुत के पांच और मूल्ययुत के तीन प्रकार हैं।

३८८७. पंचण्हं वण्णाणं, अण्णतराण्णं जं तु वण्णहं।

तं वण्णजुयं कसिणं जहण्णयं मज्झिमुक्कोसं ॥

पांचों वर्णों में जो वर्ण आढ्य—समृद्ध होता है वह वर्णयुत-कृत्स्न कहलाता है। वह भी तीन प्रकार का है—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट।

३८८८. चाउम्मासुक्कोसे, मासो मज्झे य पंच य जहण्णे।

तिविहम्मि वि वत्थम्मिं, तिविधा आरोवणा भणिया ॥

उत्कृष्ट कृत्स्न में चतुर्लघु, मध्यम में लघुमास और जघन्य में पांच रात-दिन। इस प्रकार तीनों प्रकार के कृत्स्न वस्त्र में तीन प्रकार की आरोपणा होती है।

३८८९. दव्वाइतिविहकसिणे, एसा आरोवणा भवे तिविहा।

एसेव वण्णकसिणे, चउरो लहुगा व तिविधे वि ॥

यह तीन प्रकार की आरोपणा द्रव्य आदि तीन प्रकार के कृत्स्न—द्रव्यकृत्स्न, क्षेत्रकृत्स्न, और कालकृत्स्न में होती है। यही वर्णकृत्स्न में होती है। अथवा वर्णकृत्स्न के जघन्य आदि तीनों भेद में चतुर्लघु का प्रायश्चित्त है।

३८९०. मुल्लजुयं पि य तिविहं, जहण्णगं मज्झिमं च उक्कोसं।

जहण्णेणऽऽहारसगं, सतसाहस्सं च उक्कोसं ॥

मूल्ययुत भी तीन प्रकार का है—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। अठारह रूपक मूल्य वाला जघन्य, एक लाख रूपक मूल्य वाला उत्कृष्ट और इनके बीच का मूल्य वाला मध्यम है।

३८९१. दो साभरगा दीविच्चगा तु सो उत्तरापथे एक्को।

दो उत्तरापहा पुण, पाडलिपुत्तो हवति एक्को ॥

सौराष्ट्र के दक्षिण दिशा में समुद्र का अवगाहन कर जो द्वीप है, वहां के दो 'साभरक' (रूपक) उत्तरापथ में एक

रूपक होता है। उत्तरापथ के दो रूपक पाटलिपुत्र के एक रूपक होता है।

३८९२. दो दक्खिणावहा तु, कंचीए णेलओ स दुगुणो य।
एगो कुसुमणगरगो, तेण पमाणं इमं होति॥

दक्षिणापथ के दो रूपक कांचीपुरं का एक 'नेलक' (रूपक) होता है। ये दो नेलक कुसुमनगर (पाटलिपुत्र) का एक रूपक होता है। इस प्रमाण से अठारह आदि (श्लोक ३८९०) उपरोक्त प्रमाण को जानना चाहिए।

३८९३. अट्टारस वीसा या, अगुणापण्णा य पंच य सयाइं।
एगूणगं सहस्सं, दस पण्णासं सतसहस्सं॥

३८९४. चत्तारि छच्च लहु गुरु, छेदो मूलं च होइ बोद्धवं।
अणवट्ठप्पो य तथा, पावति पारंचियं ठाणं॥

अठारह रूपक मूल्य का वस्त्र ग्रहण करने पर चतुर्लघु, बीस रूपक मूल्य का चतुर्गुरु, उनपचास रूपक का छहलघु, पांच सौ रूपक का षड्गुरु, नौ सौ निन्यानवें रूपक का छेद, दश हजार का मूल, पचास हजार रूपक का अनवस्थाप्य, एक लाख रूपक का पारांचिक-ये प्रायश्चित्त विहित हैं।

३८९५. अट्टारस वीसा या, सयमह्हाइज्ज पंच य सयाइं।
सहसं च दससहस्सा, पण्णास तथा सतसहस्सं॥

३८९६. लहुगो लहुगा गुरुगा, छम्मासा होति लहुग गुरुगा य।
छेदो मूलं च तथा, अणवट्ठप्पो य पारंची॥

अथवा अठारह रूपक लघुमास, बीस रूपक चतुर्लघु, सौ रूपक चतुर्गुरु, ढाई सौ रूपक षड्लघु, पांच सौ रूपक षड्गुरु, सहस्ररूपक छेद, दशसहस्ररूपक मूल, पचास-सहस्ररूपक अनवस्थाप्य, लाख रूपक पारांचिक।

३८९७. अट्टारस वीसा या, पण्णास तथा सयं सहस्सं च।
पण्णासं च सहस्सा, तत्तो य भवे सयसहस्सं॥

३८९८. चउगुरुग छच्च लहु गुरु, छेदो मूलं च होति बोद्धवं।
अणवट्ठप्पो य तथा, पावति पारंचियं ठाणं॥

अथवा अठारहरूपक चतुर्गुरु, बीसरूपक षड्लघु, पचासरूपक षड्गुरु, सौरूपक छेद, सहस्ररूपक मूल, पचाससहस्र अनवस्थाप्य, शतसहस्र पारांचिक।

३८९९. अहवा रागसहगतो, बत्थं धारेति दोससहितो वा।
एवं तु भावकसिणं, तिविहं परिणामणिप्फण्णं॥

अथवा रागसहित या द्वेषसहित वस्त्र को धारण करना भावकृत्स्न है। यह परिणाम से निष्पन्न तीन प्रकार का है—राग-द्वेष के जघन्य परिणाम से जघन्य, मध्यम परिणाम से मध्यम और उत्कृष्ट परिणाम से उत्कृष्ट।

३९००. भारो भय परियावण,

मारण अहिगरण दव्वकसिणम्मि।

पडिलेहाऽऽणालोवो,

मणसंतावो उवायाणं॥

द्रव्यकृत्स्न वस्त्र के ग्रहण में ये दोष होते हैं—भार, चोरों का भय, उनके द्वारा परितापन, मारण और अधिकरण होता है। तथा क्षेत्रकृत्स्न तथा कालकृत्स्न उपधि का ग्रहण करने पर उसको कोई देख न ले, इसलिए यदि उसकी प्रत्युपेक्षा नहीं की जाती है तो आज्ञा का लोप होता है। देखते हुए प्रत्युपेक्षा करने पर कोई उसका अपहरण कर ले तो मानसिक संताप होता है अथवा शैक्ष आदि उसका अपहरण कर उत्प्रव्रजित हो जाता है।

३९०१. गहणं च गोम्मिण्हिं, परितावण धोव कम्मबंधो य।
अन्ने वि तत्थ रुंभइ, तेणक ते वा अहव अन्ने॥

कृत्स्नवस्त्र होने पर गौल्मिक-शुल्कपालक उसका ग्रहण करते हैं, उसको पकड़ लेते हैं, परितापना देते हैं, वे वस्त्र का स्वयं उपयोग कर उसको धोते हैं। उससे कर्मबंध होता है। वे गौल्मिक अन्य साधुओं को भी रोक कर परितापना देते हैं। वे ही गौल्मिक दूसरे मार्ग से स्तेन बन जाते हैं अथवा उनके द्वारा प्रेरित होकर दूसरे लोग अपहरण कर लेते हैं।

३९०२. भावकसिणम्मि दोसा, ते च्चेव उ नवरि तेणदिट्ठतो।
देसी गिलाण जावोग्गहो उ दव्वम्मि बितियपयं॥

भावकृत्स्न में भी वे ही दोष अर्थात् भार, भय और परितापन आदि होते हैं। इसमें स्तेन का दृष्टांत है। देशविशेष अथवा ग्लान को लक्षित कर सकलकृत्स्न और प्रमाणकृत्स्न भी लिया जा सकता है। द्रव्यकृत्स्न में अपवादपद यह है कि जब तक आचार्य के समक्ष वस्त्रावग्रह अनुज्ञापित नहीं किया जाता, तब तक उसकी किनारी न काटी जाए।

३९०३. उवसामिओ णरिंदो, कंबलरयणेहिं छंदए गच्छं।
णिव्वंध एगगहणं, णिव्वयणे पाउतो णीति॥

३९०४. तेणाऽऽल्लोग णिसिज्जा, रत्तिं तेणागमो गुरुग्गहणं।
दरिसणमपत्तियंतं, सिव्वावणया य रोसेणं॥

एक आचार्य ने राजा को उपशांत किया। राजा ने समस्त गच्छ के मुनियों को रत्नकंबल देने के लिए आचार्य को निवेदन किया। राजा के अत्यधिक आग्रह करने पर एक रत्नकंबल लिया और उससे प्रावृत होकर वहां से निकले। चोर ने यह देख लिया। आचार्य ने वसति में आकर उस रत्नकंबल को फाड़कर निषद्याएं बना लीं। रात्री में चोर वहां आया और आचार्य को पकड़ कर रत्नकंबल देने के लिए

कहा। आचार्य ने कहा—‘मैंने उसके टुकड़े कर दिए हैं।’ चोर को विश्वास नहीं हुआ तब आचार्य ने उसे टुकड़े दिखाए। चोर ने रोष में आकर, टुकड़ों को पुनः सिलाकर रत्नकंबल ले लिया।

३९०५. न पारदोच्चा गरिहा व लोए,

थूणाइएसुं विहरिज्ज एवं।

भोगाऽइरित्ताऽऽरभडा विभूसा,

कप्पेज्जमिच्चेव दसाउ तत्थ ॥

जहां ‘पारदोच्च’—चोर का भय न हो, जहां के लोग गर्हा न करते हों वहां—स्थूणा आदि जनपदों में सकलकृत्स्न वस्त्र से प्रावृत होकर विहरण किया जा सकता है। परंतु उस वस्त्र की किनारी काट देनी चाहिए, क्योंकि किनारी वाले वस्त्रों का भोग नहीं कल्पता, वह अतिरिक्त उपधि हो जाती है, उसकी प्रत्युपेक्षा करते समय आरभड दोष लगता है, विभूषा मानी जाती है। इसलिए किनारी का छेदन कर देना चाहिए।

३९०६. पासगंतेसु बद्धेसु, दढं होहिति तेण तु।

णातिदिग्घदसं वा वि, ण तं छिंदिज्ज देसिओ ॥

वस्त्र दोनों पार्श्वों में किनारी से बंधा हुआ हो तो वह दृढ़ हो जाता है और लंबे समय तक काम में आ सकता है, इसलिए उसकी किनारी न काटे। सिन्धु आदि जनपदों में वस्त्र लंबी किनारी वाले नहीं होते, अतः उनकी किनारी का छेदन न किया जाए।

३९०७. असंफुरगिलाणद्धा, तेण माणाधियं सिया।

सदसं वेज्जकज्जे वा, विसकुंभट्टयाति वा ॥

असंस्फुर ग्लान वह होता है जो अत्यंत क्षीण होने के कारण पैरों को संकुचित कर सो नहीं सकता, उसके लिए प्रमाण से अधिक लंबा वस्त्र भी ग्रहण किया जा सकता है। अथवा उसके चिकित्सक के प्रयोजन से, उसको देने के लिए तथा विषकुंभ—विषैले फोड़े के कारण किनारी वाला वस्त्र लिया जा सकता है।

३९०८. अविभत्ता ण छिज्जंति, लाभो छिज्जिज्ज मा खलु।

पारदोच्चाववादस्स, पडिपक्खो व होज्ज उ ॥

जब तक आचार्य वस्त्रों का विभाग न कर दे तब तक प्रमाणातिरिक्त वस्त्रों का छेदन न करे, क्योंकि वैसा करने से वस्त्रों के लाभ का व्यवच्छेद न हो जाए। स्थूणा आदि जनपद में जो कृत्स्नवस्त्रों का प्रावरण अनुज्ञात है वह पारदोच्च (गाथा ३९०५) का अपवाद है। पारदोच्च का प्रतिपक्ष यह है—अविभक्त वस्त्रों की किनारी का भी छेदन कर देना चाहिए।

३९०९. अववायाववादो वा, एत्थ जुज्जइ कारणे।

सद्धानं व तमब्भेति, अच्छिज्जं जं उदाहडं ॥

अपवाद का अपवाद इन कारणों से योजनीय है। स्वस्थान अर्थात् कृत्स्नवस्त्र भी जो अछेदनीय के रूप में उदाहृत है अर्थात् जिस वस्त्र की प्रमाणातिरिक्त किनारियां का छेदन नहीं किया जाता वह कृत्स्नवस्त्र ही है। (अपवाद का अपवाद जैसे—स्थूणा जनपद में कृत्स्नवस्त्र ग्रहण करना कल्पता है—यह उल्लेख अपवाद है। उसमें यह भी है कि किनारी का छेदन किया जाए—यह अपवाद में उत्सर्ग है। किनारी से वस्त्र दृढ़ रहता है, इसलिए किनारी का छेदन न किया जाए, यह अपवाद के उत्सर्ग का भी अपोह है—छेदन किया जाए—यह अपवाद का अपवाद है।)

३९१०. देसी गिलाण जावोग्गहो उ भावम्मि होति वितियपदं।

तब्भाविते य तत्तो, ओमादिउवग्गहट्ठा वा ॥

देशी, ग्लान से लेकर अवग्रहपद तक भावकृत्स्न का अपवाद पद है। तद्भावित व्यक्ति भावकृत्स्न का परिभोग कर सकता है। अवमौर्दर्य तथा गच्छ के उपग्रह के लिए भावकृत्स्न वस्त्रों को धारण करे।

३९११. देसी गिलाण जावोग्गहो उ दव्वकसिणम्मि जं वुत्तं।

तह चेव होति भावे, तं पुण सदसं व अदसं वा ॥

देशी, ग्लान से लेकर अवग्रहद्वार में द्रव्यकृत्स्न का जो अपवादपद है वही भावकृत्स्न अपवादपद है। वह वस्त्र भले ही किनारी वाला हो या अकिनारीवाला—उसे अपवादपद में ग्रहण किया जा सकता है।

३९१२. नेमालि तामलित्तीय, सिंधूसोवीरमादिसु।

सव्वलोकोवभोज्जाइं, धरिज्ज कसिणाइं वि ॥

नेपाल, ताम्रलिप्ती, सिन्धु-सौवीर जनपदों में सर्वलोकोप-भोज्य कृत्स्नवस्त्रों को भी धारण किया जा सकता है।

३९१३. आइज्जता ण चोरादी, भयं णेव य गारवो।

उज्झाइवत्थवं चेव, सिंधूमादीसु गरहितो ॥

नेपाल आदि देशों में लोकों द्वारा ऐसे वस्त्रों की आचीर्णता है। वहां न भय है और न गौरव का प्रश्न है। सिन्धु आदि जनपदों में ‘उज्झाइवत्थ’ अर्थात् विरूप वस्त्र गर्हित माने जाते हैं।

३९१४. नीलकंबलमादी तु, उण्णिणयं होति अच्चियं।

सिसिरे तं पि धारेज्जा, सीतं नऽण्णेण रुब्भति ॥

महाराष्ट्र देश में नीलकंबल आदि और्णिक वस्त्र अर्चित अर्थात् बहुमूल्य वाला माना जाता है। शिशिर में उसको ओढ़े। उसके बिना अन्य कंबल से शीत को नहीं रोका जा सकता।

३९१५. न लभइ खरेहिं निहं,

अरतिं च करिति से दिवसतो वि।

उज्झाङ्गं व मण्णति,

थूलेहिं अभावितो जाव ॥

जिसे स्थूल चीवरों में नींद नहीं आती है और दिन में भी अरति होती है, उसको धारण करने में जुगुप्सा होती है और जो आज तक स्थूल चीवरों से भावित नहीं हुआ है उनके लिए भावकृत्स्नवस्त्र अनुज्ञात हैं।

३९१६. ओमा-ऽसिव-दुट्ठेसू, सीमट्ठेऊण तं असंथरणे।

गच्छो नित्थारिज्जति, जाव पुणो होति संथरणं ॥

अवमौदर्य, अशिव तथा राजद्विष्ट आदि स्थिति में यदि गच्छ का असंस्तरण होता है तो मूल्यवान् वस्त्र को 'सीमट्ठेऊण' बेचकर गच्छ का निस्तारण करे, तब तक जब तक पुनः संस्तरण की स्थिति न हो।

३९१७. माणाहियं दसाधिय, एताइं पडंति दव्वकसिणम्मि।

तस्सेव य जो वण्णो, मुल्लं च गुणो य तं भावे ॥

क्षेत्रकृत्स्न और कालकृत्स्न में जो वस्त्र मानाधिक-प्रमाणातिरिक्त हो, जो वस्त्र किनारीयुक्त हो—ये सारे द्रव्यकृत्स्न में समाविष्ट होते हैं। उनमें जो वस्त्र कृष्ण आदि वर्णवान् है, अठारह रूपक का मूल्य वाला है तथा जो मृदुत्व आदि गुणों से सहित है, वह वस्त्र भावकृत्स्न में समाविष्ट होता है।

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
अभिन्नाइं वत्थाइं धारित्तए वा परिहरित्तए
वा ॥

(सूत्र ९)

३९१८. अकसिण भिण्णमभिण्णं,

व होज्ज भिण्णं तु अकसिणे भइतं।

कसिणा-ऽकसिणे य तहा,

भिन्नमभिन्ने य चउभंगो ॥

पूर्वसूत्र में अकृत्स्न वस्त्र की बात कही, वह वस्त्र भिन्न अथवा अभिन्न हो सकता है। अकृत्स्न वस्त्र भिन्न होने पर भी अकृत्स्न या कृत्स्न हो सकता है। इसलिए कृत्स्न, अकृत्स्न तथा भिन्न, अभिन्न की चतुर्भंगी होती है, जैसे—

१. कृत्स्न अभिन्न
२. कृत्स्न भिन्न
३. अकृत्स्न अभिन्न
४. अकृत्स्न भिन्न।

३९१९. तम्मि वि सो चेव गमो,

उस्सग्ग-ऽववादतो जहा कसिणे।

भिण्णग्गहणं तम्हा,

असती य सयं पि भिंदिज्जा ॥

अभिन्न में भी उत्सर्ग और अपवाद विषयक वही प्रकार है जो कृत्स्न विषय में है। इसलिए भिन्न वस्त्र का ग्रहण करना चाहिए। यदि भिन्न प्राप्त न हो तो स्वयं उसका भेद करे अर्थात् जितना प्रमाणातिरिक्त हो उसका भेद कर उसे प्रमाणयुत बना दे।

३९२०. पुणरुत्तदोसो एवं, पिड्ठस्स व पीसणं गिरत्थं तु।

कारणमवेक्खति सुतं, दुविहपमाणं इहं सुत्ते ॥

शिष्य ने पूछा—इसमें पुनरुत्तदोष आता है। पीसे हुए को पुनः पीसना निरर्थक होता है। आचार्य कहते हैं—यह सूत्र कारण और अपेक्षा से विहित है। प्रस्तुत सूत्र में दो प्रकार के प्रमाण हैं—गणनालक्षण और प्रमाणलक्षण अर्थात् कितना और किस प्रमाण का ग्रहण करना है।

३९२१. तम्हा उ भिंदियव्वं, केई पम्हेहि अह व तह चेव।

लोगंते पाणादीविराधणा तेसि पडिघातो ॥

अभिन्न वस्त्र को धारण करने से पूर्व-सूत्रोक्त दोष होते हैं, इसलिए प्रमाणातिरिक्त वस्त्र का स्वयं भेदन करे। कुछेक शिष्य कहते हैं—'वस्त्रों को फाड़ने पर सूक्ष्मपक्ष्म उड़कर लोकान्त तक चले जाते हैं। उनसे प्राणियों की विराधना होती है। अतः जैसा प्राप्त हो वैसा ही ग्रहण करना चाहिए, धारण करना चाहिए।' इस प्रकार कहने वाले शिष्यों का प्रतिघात-निराकरण करना चाहिए।

३९२२. सद्धो तहिं मुच्छति छेदणा वा,

धावंति ते दो वि उ जाव लोगो।

वत्थस्स देहस्स य जो विकंपो,

ततो वि वादादि भरिति लोगं ॥

पुनः शिष्य कहता है—वस्त्र का छेदन करने पर शब्द होता है, पक्ष्म भी उड़ते हैं। दोनों लोकान्त तक जाते हैं। तथा वस्त्र और देह का जो विकंप होता है, तब उनसे विनिर्गत वायु भी सारे लोक को भर देती है।

३९२३. अहिच्छसे जंति न ते उ दूरं,

संखोभिया तेहऽवरे वयंति।

उड्ढं अधे यावि चउदिसिं पि,

पूरिति लोगं तु खणेण सव्वं ॥

यदि आप कहते हैं कि वस्त्रछेदन से समुत्थ शब्द-पक्ष्म-वायु आदि के पुद्गल दूर तक नहीं जाते, किन्तु उनसे संक्षोभित-चालित दूसरे पुद्गल लोकान्त तक चले जाते हैं।

इस प्रकार एक-दूसरे से प्रेरित पुद्गल क्षणभर में ऊर्ध्व, अधः तथा तिर्यक् और चारों दिशाओं में संपूर्ण लोक को भर देते हैं।

३९२४. विन्नाय आरंभमिणं सदोसं,

तम्हा जहालद्धमधिद्धिहिज्जा।

वुत्तं सएयो खलु जाव देही,

ण होति सो अंतकरी तु ताव ॥

अतः यह आरंभ सदोष है, ऐसा जानकर जैसा वस्त्र प्राप्त हो, उसी का उपभोग करना चाहिए। इसीलिए व्याख्याप्रज्ञप्ति में कहा है कि जीव सैज होता है—संकंप होता है, चेष्टावान् होता है। जब तक वह संकंप होता है तब तक वह अन्तकारी नहीं होता।

३९२५. जा यावि चिद्धा इरियाइआओ,

संपस्सहेताहिं विणा न देहो।

संचिद्धए नेवमछिज्जमाणे,

वत्थम्मि संजायइ देहनासो ॥

जो ईर्या आदि की चेष्टाएं देखी जाती हैं, उनके बिना देह का निर्वहन नहीं होता, देह के बिना संयम का भी व्यवच्छेद हो जाता है किन्तु वस्त्र का छेदन न करने पर देह का नाश नहीं होता।

३९२६. जहा जहा अप्पतरो से जोगो,

तहा तहा अप्पतरो से बंधो।

निरुद्धजोगिस्स व से ण होति,

अच्छिद्धपोतस्स व अंबुणाधे ॥

जैसे-जैसे जीव का अल्पतर योग—चेष्टा होती है वैसे-वैसे कर्मों का बंध भी अल्पतर होता है। शैलेशी अवस्था में निरुद्धयोगी के कर्मबंध नहीं होता जैसे समुद्र में बहती हुई अच्छिद्रनौका में पानी का प्रवेश नहीं होता।

३९२७. आरंभमिद्धो जति आसवाय,

गुत्तीय सेआय तथा तु साधू!।

मा फंद वारेहि व छिज्जमाणं,

पतिण्णहाणी व अतोऽण्णहा ते ॥

आचार्य कहते हैं—शिष्य! यदि तुम्हें यह सिद्धांत इष्ट हो कि आरंभ आश्रव अर्थात् कर्मों के उपादान का हेतु है और गुप्ति श्रेयस् अर्थात् कर्मों के अनुपादान के लिए है तो तुम कोई स्पन्दन मत करो और वस्त्र का छेदन करने वालों को भी मत रोको। (क्योंकि यदि तुम वस्त्रछेदन को आरंभ मानते हो और वह कर्मबंधन का हेतु है तो उसके प्रतिषेध में हाथ आदि का स्पंदन करते हो या शब्दों द्वारा प्रतिषेध

करते हो तो वह भी आरंभ है, चेष्टा है।) यदि ऐसा करते हो तो प्रतिज्ञाहानि—स्ववचन का विरोध है। यह स्व-कथन से अन्यथा है। इससे दोष लगता है।

३९२८. अदोसवं ते जति एस सद्धो,

अण्णो वि कम्हा ण भवे अदोसो।

अधिच्छया तुज्झ सदोस एक्को,

एवं सती कस्स भवे न सिद्धी ॥

यदि तुम यह मानते हो कि वस्त्र छेदन के प्रतिषेधक शब्द के उच्चारण से दोष नहीं लगता तो अन्य अर्थात् वस्त्रछेदन आदि के लिए किया जाने वाला शब्दोच्चारण अदोष वाला क्यों नहीं होगा। यदि अपनी इच्छा के अनुसार एक क्रिया सदोष है और दूसरी अदोष तो फिर किस स्वपक्ष की सिद्धि नहीं होगी?

३९२९. तं छिंदओ होज्ज सतिं तु दोसो,

खोभादि तं चेव जतो करेति।

जं पेहतो होति दिणे दिणे तु,

संपाउणंते य णिबुज्झ ते वी ॥

वस्त्र का छेदन करने से एक बार दोष होता है क्योंकि जब उसको छेदा जाता है तब वह अन्य पुद्गलों को क्षुब्ध करता है। किन्तु जो वस्त्र छेदा नहीं जाता उस प्रमाणातिरिक्त वस्त्र की प्रत्युपेक्षणा से प्रतिदिन दोष लगता है। तथा उस वस्त्र को ओढ़ने पर विभूषा आदि दोष होते हैं, इन दोषों को भी समझो।

३९३०. घेत्तव्वगं भिन्नमहिच्छितं ते,

जा मग्गते हाणि सुतादि ताव।

अप्पेस दोसो गुणभूतिजुत्तो,

पमाणमेवं तु जतो करिंति ॥

यदि लंबी गवेषणा कर भिन्न वस्त्र ही लेना तुम्हें इष्ट हो तो जितना समय गवेषणा में लगेगा उतने समय तक सूत्रार्थ की हानि होगी। जो वस्त्रछेदनरूप दोष है, वह गुणों की संपदा से युक्त है। (प्रत्युपेक्षणाशुद्धि और विभूषापरिहार—ये गुण हैं।) इसलिए वे मुनि वस्त्र का प्रमाण करते हैं, प्रमाणातिरिक्त वस्त्र का ग्रहण नहीं करते।

३९३१. आहार-णीहारविहीसु जोगो,

सव्वो अदोसाय जहा जतस्स।

हियाय सस्सम्मि व सस्सियस्स,

भंडस्स एयं परिकम्मणं तु ॥

जो यतनावान् मुनि हैं उनके द्वारा आहार-नीहार आदि विधि विषय के सारे योग तथा भांड का परिकर्म भी निर्दोष

है। जैसे सास्यिक-कृषक के लिए सस्यविषयक परिकर्म हित के लिए होता है, वैसे ही साधु के लिए भांडपरिकर्म हितकारी होता है।

३९३२.अप्पेव सिद्धंतमजाणमाणो,

तं हिंसगं भाससि जोगवंतं।

द्वेण भावेण य संविभत्ता,

चत्तारि भंगा खलु हिंसगत्ते ॥

इस प्रकार तुम योगवान्-प्रवृत्ति करने वाले को हिंसक मानते हो, इसका तात्पर्य है कि तुम सिद्धांत को नहीं जानते। द्रव्य और भाव से विभक्त चार भंग हिंसकत्व में होते हैं—

१. द्रव्य से हिंसा, भावतः नहीं
२. भावतः हिंसा द्रव्यतः नहीं
३. द्रव्यतः और भावतः हिंसा
४. न द्रव्यतः हिंसा और न भावतः हिंसा।

३९३३.आहच्च हिंसा समितस्स जा तु,

सा दव्वतो होति ण भावतो उ।

भावेण हिंसा तु असंजतस्सा,

जे वा वि सत्ते ण सदा वधेति ॥

३९३४.संपत्ति तस्सेव जदा भविज्जा,

सा दव्वहिंसा खलु भावतो य।

अज्झत्थसुद्धस्स जदा ण होज्जा,

वधेण जोगो दुहतो वऽहिंसा ॥

समित अर्थात् ईर्यासमिति में उपयुक्त मुनि के कदाचित् हिंसा हो जाती है, वह द्रव्यतः हिंसा है, भावतः नहीं। द्रव्यतः हिंसा नहीं, किन्तु भावतः हिंसा असंयत व्यक्ति के तथा अनुपयुक्त संयत के होती है, यद्यपि सदा वह उन सत्त्वों को नहीं मारता फिर भी उनका वह हिंसक है। जब उन जीवों का प्राणव्यपरोपण करता है तब वह द्रव्य हिंसा तथा भावहिंसा—दोनों है। जो अध्यात्मशुद्ध है अर्थात् जिसका चित्तप्रणिधान शुद्ध है, उसका जब वध के साथ योग नहीं होता तो वह द्रव्य और भाव—दोनों से अहिंसक है।

३९३५.रागो य दोसो य तहेव मोहो,

ते बंधहेतू तु तओ वि जाणे।

णाणत्तगं तेसि जथा य होति,

जाणाहि बंधस्स तहा विसेसं ॥

राग, द्वेष और मोह—ये तीनों बंध के हेतु हैं, यह तुम जानो। जब ये तीनों विशेष होते हैं तब कर्म-बंध भी विशेष होता है, यह जानो।

३९३६.तिव्वे मंदे णातमणाए भावाधिकरण विरिए य।

जह दीसति णाणत्तं, तह जाणसु कम्मबंधे वि ॥

राग आदि परिणामों की तीव्रता, मंदता, ज्ञात-अज्ञात, भावाधिकरण, वीर्य—इन में जो नानात्व होता है, वैसे ही कर्मबंध में नानात्व होता है, ऐसा जानो। (व्याख्या आगे)

३९३७.तिव्वेहि होति तिव्वो, रागादीएहिं उवचओ कम्मे।

मंवेहि होति मंदो, मज्झिमपरिणामतो मज्झो ॥

राग आदि की तीव्रता होने पर तीव्र कर्मबंध का उपचय होता है, मंद होने पर मंद और मध्यम होने पर मध्यम कर्मबंध होता है।

३९३८.जाणं करेति एक्को, हिंसमजाणमपरो अविरतो य।

तत्थ वि बंधविसेसो, महंतरं देसितो समए ॥

एक व्यक्ति जानकर हिंसा करता है और दूसरा अजानकारी में हिंसा करता है। दोनों अविरत हैं, फिर भी उन दोनों के कर्मबंध में महान् अन्तर है, ऐसा सिद्धांत में कहा है।

३९३९.विरतो पुण जो जाणं, कुणति अजाणं व अप्पमत्तो वा।

तत्थ वि अज्झत्थसमा, संजायति णिज्जरा ण चयो ॥

जो विरत है—संयत है, वह गीतार्थ मुनि विशेष प्रयोजन-वश जानता हुआ भी हिंसा करता है अथवा वह अप्रमत्त है और कदाचित् अजानकारी में प्राणव्यपरोपण हो जाता है, वहां भी अध्यात्मसभा—चित्तप्रणिधान के आधार पर निर्जरा होती है, कर्मबंध नहीं होता।

३९४०.एगो खओवसमिए, वट्टति भावेऽवरो उ ओदइए।

तत्थ वि बंधविसेसो, संजायति भावणाणत्ता ॥

एक क्षायोपशमिक भाव में वर्तन कर रहा है और दूसरा औदयिक भाव में, वहां भी भावों के नानात्व के कारण कर्मबंध भी विशेष होता है।

३९४१.एमेव ओवसमिए, खओवसमिए तहेव खइए य।

बंधा-ऽबंधविसेसो, ण तुल्लबंधा य जे बंधी ॥

इसी प्रकार औपशमिक, क्षायोपशमिक तथा क्षायिक भाव में बंध-अबंध विशेष का सम्यग् उपयोग वक्तव्य है। जो कर्मबंधक जीव हैं, वे भी तुल्यबंधक नहीं होते।

३९४२.अहिकरणं पुव्वुत्तं, चउव्विहं तं समासओ दुविहं।

णिव्वत्तणताए वा, संजोगे चवऽणेगविधं ॥

अधिकरण के चार प्रकार पहले (प्रथमोद्देशक में) कहे जा चुके हैं। वे ये हैं—निर्वर्तना, निक्षेपणा, संयोजना और निसर्जना। संक्षेप में अधिकरण के दो प्रकार हैं—निर्वर्तना में तथा संयोजना में। इनके अनेक प्रकार हैं।

३९४३.एगो करेति परसुं, णिव्वत्तेति णखछेदणं अवरो।

कुंत-कणगे य वेज्जे, आरिय सूई अ अवरो उ ॥

एक लोहकार पशु—कुठार का निर्माण करता है और दूसरा नखच्छेदनक बनाता है। एक लोहकार भाला और

कनक-बाण विशेष तथा वेधक-परशरीर वेधक शस्त्र बनाता है और दूसरा आरिका, सूची आदि बनाता है। (जो कुठार, भाला, बाण बनाने वाला तीव्र कर्मबंध करता है और जो नखच्छेदनक, आरिका, सूची आदि बनाता है वह स्वल्प कर्मबंध करता है।)

३९४४.सूर्इसुं पि विसेसो, कारणसूर्इसु सिव्वणीसुं च।
संगामिय परियाणिय, एमेव य जाणमादीसु॥

सूची में भी विशेष है-कारणसूची^१ और सीवनसूची। इसी प्रकार यान आदि हैं-सांग्रामिक यान^२ और पारियानिक^३ यान।

३९४५.कारग-करेंतगाणं, अधिकरणं चैव तं तहा कुणति।
जह परिणामविसेसो, संजायति तेसु वत्थूसु॥

उन उन वस्तुओं के निर्माण में वैसे-वैसे परिणाम विशेष उत्पन्न होते हैं। उन वस्तुओं को कराने वाला और करने वाला-दोनों अधिकरण के भागी हैं। अतः परिणामों की विचित्रता से ही कर्मबंध विशेष होता है।

३९४६.संजोययते कूडं, हलं पडं ओसहे य अण्णोण्णे।
भोयणविहिं च अण्णे, तत्थ वि णाणत्तगं बहुहा॥

कोई शिकारी मृगों को फंसाने के लिए कूट (मृग को बांधने का यंत्र) का संयोजन करता है, कोई कृषक हल को जुए से योजित करता है, कोई एक वस्त्र को दूसरे वस्त्र के साथ सीकर जोड़ता है, कोई वैद्य औषधियों का संयोजन करता है, कोई भोजन विधि को परस्पर संयोजित करता है। इन सबमें कर्मबंध का बहुधा नानात्व होता है।

३९४७.निव्वत्तणा य संजोयणा य सगडाइएसु अ भवंति।
आसज्जुत्तरकरणं, निव्वत्ती मूलकरणं तु॥

निर्वर्तना और संयोजना अधिकरण-ये दोनों शकट आदि में होते हैं। इनमें प्रथमतः निर्वर्तना है मूलकरण और उत्तरकरण के आधार पर संयोजना है।

३९४८.देहबलं खलु विरियं बलसरिसो चैव होति परिणामो।
आसज्ज देहविरियं, छट्ठाणगया तु सव्वत्तो॥

देह की शक्ति वीर्य कहलाती है। बल के समान होता है परिणाम। देहवीर्य के आधार पर ही समस्त संहननों में प्राणी छहस्थानगत होते हैं। इन सभी प्राणियों के अपने देहबल की विचित्रता से परिणामों की तरतमता से कर्मबंध भी विचित्र होता है।

३९४९.अहवा बालादीयं तिविहं विरियं समासतो होति।
बंधविसेसो तिण्ह वि, पंडिय बंधी अबंधी य॥

१. कारणसूची-अपराधी के नखों में जो कूटी जाती है।

२. युद्धस्थली में योद्धा द्वारा प्रयुक्त यान। कारणसूची और सांग्रामिक

अथवा बाल आदि की अपेक्षा से संक्षेप में वीर्य तीन प्रकार का होता है-बालवीर्य, बालपंडितवीर्य और पंडित-वीर्य। इन तीनों में कर्मबंधविशेष होता है। पंडितवीर्य वाला व्यक्ति बंधी, अबंधी-दोनों होता है।

३९५०.तम्हा ण सव्वजीवा, उ बंधगा णेव बंधणा तुल्ला।
अधिकिच्च संपरागं, इरियावहिबंधगा तुल्ला॥

इस प्रकार सभी जीव बंधक नहीं हैं और जो बंधक हैं वे भी समानरूप से बंधक नहीं हैं क्योंकि उनका सांपराय-कषायप्रत्ययिक कर्म का बंध तुल्य नहीं होता। जो ऐर्या-पथिक-योगमात्रप्रत्यय से होने वाला बंध की अपेक्षा से सभी तुल्य होते हैं, क्योंकि उनके सातवेदनीय कर्म का बंध दो समय की स्थितिवाला होता है। सभी के यह तुल्य होता है।

३९५१.संजमहेऊ जोगो, पउज्जमाणो अदोसवं होइ।
जह आरोग्गणिमित्तं, गंडच्छेदो व विज्जस्स॥

संयमहेतुक जो व्यापार होता है वह अदोषवान् होता है। जैसे वैद्य रोगी के आरोग्य के निमित्त व्रण आदि का छेदन करता है, वह अदोषवान् है।

३९५२.भिन्नम्मि माउगंतम्मि केइ अहिकरण गहिय पडिसेहो।
एवं खु भिज्जमाणं, अलक्खणं होइ उहं च॥

वस्त्र की किनारी को फाड़ देने पर, यदि स्तेन उसे चुरा लेते हैं तो भी कलह नहीं होता, क्योंकि वह धारण करने योग्य नहीं होता। ऐसा जो आचार्य कहते हैं उनका प्रतिषेध करना चाहिए कि इस प्रकार वस्त्र का छेदन करने पर वह वस्त्र अलक्षणवाला हो जायेगा। तब कोई कहता है उसे ऊर्ध्व भिन्न किया जाए। (व्याख्या आगे)

३९५३.उभओ पारिं छिज्जउ, मा दसिया उक्किरिज्ज एगत्तो।
अहिकरणं णेवं खलु, उद्धो फालो व मज्झम्मि॥

कोई कहता है-वस्त्र की दोनों ओर की किनारी निकाल देनी चाहिए। कारण पूछने पर कहता है-एक ओर की किनारी का छेदन करने पर उस कपड़े का अपहर्ता छेदी हुई किनारी का उत्किरण कर बड़े मूल्य में बेच सकता है। दोनों ओर की किनारी छिन्न कर देने पर अधिकरण नहीं होता। तथा उस वस्त्र को मध्य से दो भागों में फाड़ देना चाहिए।

३९५४.भन्नइ दुहतो छिन्ने, उभतो दसियाइं किण्ण जायति।
कुप्पासए करेंति व, अदसाणि व किं ण भुंजंति॥

इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं-यदि दोनों ओर से किनारी का छेदन कर दिया जाए तो भी दोनों ओर से किनारी का उत्किरण कर दिया जाएगा। वे उसकी कंचुकी

यान के निर्माण से महान् कर्मबंध होता है।

३. यात्रा के लिए निर्मित यान।

बना देंगे। क्या बिना किनारी वाले वस्त्रों का वे उपभोग नहीं करते?

३९५५. उद्धृष्टफालाणि करेति अणिहुआ दुब्बलं च तं होति।

कज्जं तं च ण पुस्सति, असिब्ब-सिब्बंतदोसा य॥

ऊर्ध्वफाल वाले वस्त्र अनिभूत अर्थात् त्रिदंडी उपभोग में लाते हैं। मध्य में फाड़ा हुआ वस्त्र दुर्बल होता है। वह ओढ़ने आदि का प्रयोजन पूरा नहीं कर पाता। फट जाने पर, न सीने से वह और अधिक फट जाता है। सीने पर सूत्रार्थ की परिहानि होती है।

३९५६. छिन्नम्मि माउगंते, अलक्खणं मज्झफालियं चेव।

गुणबुद्धा जं गहियं, न करेति गुणं अलं तेणं॥

दोनों ओर की किनारी का छेदन कर देने पर तथा वस्त्र को मध्य से फाड़ देने पर, वह वस्त्र लक्षणहीन हो जायेगा। गुण की बुद्धि से जो वस्त्र ग्रहण किया था, वह लक्षणहीन हो जाने पर गुणकारी नहीं रहता। ऐसे वस्त्र को लेने-रखने से क्या प्रयोजन?

३९५७. किं लक्खणेण अम्मं, सव्वणियत्ताण पावविरयाणं।

लक्खणमिच्छंति गिही, धण-धण्णे-कोसपरिवुद्धी॥

शिष्य बोला—भंते! हम सब समस्त परिग्रह से निवृत्त हैं, पापों से विरत हैं, फिर हमारे लिए लक्षण वाले वस्त्र से क्या? गृहस्थ वस्त्रों के लक्षण चाहता है क्योंकि वह धन, धान्य, कोश आदि की परिवृद्धि का इच्छुक होता है।

३९५८. लक्खणहीणो उवही, उवहणती णाण-दंसण-चरित्ते।

तम्हा लक्खणजुत्तो, गच्छे दमएण दिट्ठंतो॥

शिष्य! लक्षणहीन उपधि ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य का उपहनन करती है। इसलिए गच्छ में लक्षणयुक्त वस्त्र का ग्रहण-धारण करने से रत्नत्रयी की वृद्धि होती है। यहाँ द्रमक का वृष्टांत है।

३९५९. थाइणि वलवा वरिसं, दमओ पालेति तस्स भाएणं।

चेदीघडण निकायण, उविट्ठ दुम चम्म भेसणया॥

३९६०. दुण्ह वि तेसिं गहणं,

अलं मि अस्सेहि अस्सिगं भणइ।

वड्ढइ भच्चइ धूयापयाण

कुलएण ओवम्मं॥

पारस देश के एक नगर में एक अश्वपालक रहता था। उसके पास अनेक घोड़ियां प्रतिवर्ष प्रसव करने वाली थीं। उसने एक द्रमक को अश्वशाला की रक्षा के लिए रखा। वह सभी घोड़े-घोड़ियों का पालन-रक्षण करता था। अश्वपालक ने उसको इस शर्त पर रखा था कि वह प्रतिवर्ष अपने मनपसंद के दो अश्व भृति के रूप में ले सकेगा। वहाँ रहते

हुए द्रमक का अश्वपालक की लड़की के साथ स्नेह हो गया। वर्ष पूरा होने पर उसने लड़की से पूछा कि वह कौनसे दो अश्व ले? लड़की ने कहा—जो अश्व लक्षणयुक्त हों उनकी मांग करना। द्रमक ने पुनः पूछा—वे लक्षणयुक्त घोड़े कौन से हैं? तब लड़की बोली—सारे अश्वों को जंगल में ले जाओ। एक वृक्ष की छाया में उनको विश्राम करने के लिए बिठा दो। एक चर्ममय कुतप को पत्थरों से भरकर व्यक्ति वृक्ष पर चढ़ जाए और नीचे बैठे घोड़ों को डराने के लिए उस कुतप को नीचे फेंके। उन पत्थरों की खड़खड़ाहट से जो अश्व भयभीत न हों, वे लक्षणयुक्त होते हैं। वैसे दो अश्वों को तुम मांग लेना। उस द्रमक ने अश्वपालकस्वामी से उन लक्षणयुक्त दो अश्वों की मांग की। स्वामी ने कहा—तुम अन्य अश्वों को ले लो। उसने कहा—स्वामिन्! मुझे अन्य अश्वों से क्या प्रयोजन! इन दो अश्वों को ही आप मुझे दें। स्वामी चिंतन में डूब गया। उसने अपनी भार्या से कहा—अपनी पुत्री का विवाह इस द्रमक के साथ कर दें तो यह गृहजामाता बन कर यहीं रह जायेगा। फिर अश्वों को देने-लेने की बात समाप्त हो जाएगी। उसने भार्या के अवबोध के लिए वर्द्धकिपुत्र का वृष्टांत प्रस्तुत किया।

एक बढई ने अपनी पुत्री का विवाह अपने भानजे के साथ कर उसे गृहजामाता कर दिया। वह प्रतिदिन लकड़ी काटने जंगल में जाता, परन्तु अच्छी लकड़ी की प्राप्ति के अभाव में वह खाली हाथ लौट आता। इस प्रकार छह महीने बीत गए। एक दिन उसे 'कृष्णचित्रककाष्ठ' मिल गया। वह उसे घर ले आया और उसका कुलक—धान्य मापने का एक पात्र विशेष बना दिया। उसने अपनी भार्या से कहा कि इस कुलक को बाजार में एक लाख रुपयों में बेचना। वह उसे लेकर गई। लोगों ने मूल्य सुनकर उसका उपहास किया। इतने में ही एक बुद्धिमान् व्यक्ति ने उसे देखा। उसने उसका गुण जान लिया कि इस माप-पात्र से धान्य को मापने पर वह धान्य कम नहीं होता। उसने एक लाख रुपये देकर उसको खरीद लिया। इस प्रकार उस गृहजामाता ने सारे कुटुम्ब को धन-धान्य से संपन्न कर दिया। इसी प्रकार गच्छ में भी लक्षणयुक्त उपधि से ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की वृद्धि होती है। इसलिए वस्त्र का छेदन विधि से करना चाहिए जिससे वह प्रमाणयुक्त हो जाए।

३९६१. दव्वप्पमाण अतिरेग हीण,

परिकम्म विभूसणा य मुच्छा य।

उवहिस्स य प्पमाणं,

जिण थेर अहक्कमं वोच्छं॥

द्रव्य अर्थात् वस्त्र का प्रमाण दो प्रकार से होता है—गणना से तथा प्रमाण से। अतिरिक्त और हीन वस्त्र, परिकर्म, विभूषणा, मूर्च्छा। जिनकल्प तथा स्थविरकल्प मुनियों की उपधि का प्रमाण यथाक्रम मैं कहूंगा। (व्याख्या आगे)

३९६२.पत्तं पत्ताबंधो, पायडुवणं च पायकेसरिया।

पडलाइं रइत्ताणं, च गोच्छओ पायनिज्जोगो॥

३९६३.तिन्नेव य पच्छागा, रयहरणं चैव होइ मुहपोत्ती।

एसो दुवालसविहो, उवही जिणकप्पियाणं तु॥

जिनकल्पिक मुनियों के बारह प्रकार की उपधि इस प्रकार है—(१) पात्र (२) पात्रबंध (३) पात्रस्थापन—वह कंबल का टुकड़ा जिस पर पात्र रखे जाएं (४) पात्र केसरिका (पात्र प्रत्युपेक्षण का वस्त्र) (५) पटलिका—भिक्षाचर्या में पात्र को ढंकने का वस्त्र (६) रजस्त्राण—पात्रवेष्टन (७) गोच्छक—पात्र को ढंकने का कंबलमय वस्त्र—यह सात प्रकार का पात्र-परिकर अर्थात् उपकरणकलाप है। (८,९,१०) तीन प्रच्छादक—दो सौत्रिक और एक ऊर्णामय। (११) रजोहरण (१२) मुखपोतिका।^१

३९६४.ए चैव दुवालस, मत्तग अइरेग चोलपट्टो य।

एसो उ चउदसविहो, उवही पुण थेरकप्पम्मि॥

स्थविरकल्प मुनियों के ये उपरोक्त बारह उपधि तथा एक मात्रक अतिरिक्त तथा एक चोलपट्टक—यह चौदह प्रकार की उपधि होती है।

३९६५.जिणा बारसरूवाइं, थेरा चउदसरूविणो।

ओहेण उवहिमिच्छंति, अओ उहुं उवग्गहो॥

जिनकल्पी मुनि उपकरणों के बारह रूप धारण करते हैं और स्थविरकल्पी मुनि उपकरणों के चौदह रूप धारण करते हैं। ओघ से यह उपधि है। इससे अतिरिक्त उपग्रह उपधि कहलाती है, जैसे—दंडक, चिलिमिलि आदि।

३९६६.चत्तारि य उक्कोसा, मज्झिमग-जहन्नगा वि चत्तारि।

कप्पाणं तु पमाणं, संडासो दो य रयणीओ॥

जिनकल्पिकों का चार उपकरण उत्कृष्ट होते हैं—तीन कल्प और एक प्रतिग्रह। मध्यम उपकरण भी चार हैं—पटलक, रजस्त्राण, रजोहरण और पात्रकबंध तथा जघन्य

१. जिनकल्पी मुनि दो प्रकार के होते हैं—पाणिपात्र और प्रतिग्रहधारक। ये दोनों दो-दो प्रकार के हैं—अप्रावरण और सप्रावरण। जो अप्रावरण पाणिपात्र होते हैं उनके दो प्रकार की उपधि होती है—रजोहरण और मुखपोतिका। सप्रावरण मुनियों के लिए तीन, चार या पांच प्रकार की उपधि होती है। तीन उपधि (१) रजोहरण (२) मुखपोतिका (३) एक सौत्रिक कल्प। चार उपधि—उपरोक्त तीन के साथ चौथा और और्णिक कल्प। पांच उपधि—उपरोक्त चार तथा एक और सौत्रिक कल्प। जो प्रावरणरहित प्रतिग्रहधारी के नौ प्रकार की उपधि

उपकरण भी चार हैं—मुखवस्त्रिका, पात्रकेसरिका, पात्रस्थापन तथा गोच्छक। उनके कल्पों का प्रमाण यह है—दो हाथ लंबा और डेढ़ हाथ चौड़ा।

३९६७.अत्तो वि य आएसो, संडासो सत्थिए णुवत्ते य।

जं खंडियं दढं तं, छम्मासे दुब्बलं इयरं॥

एक दूसरा आदेश भी है—संदंशक और स्वस्तिक। एक जिनकल्पी मुनि उत्कटुक आसन में बैठे हैं। उनके घुटने से प्रारंभ कर पुत और पृष्ठभाग को आच्छादित करते हुए कन्धे पर जितना वस्त्र आ सके, यह उनके कल्प की लंबाई है। यह संदंशक कहलाता है। उसी कल्प के दोनों छोरों को पकड़ कर दोनों भुजाओं और सिर तक जितना वस्त्र आता है, उसको स्वस्तिक कहते हैं। दाएं हाथ से बायां भुजशीर्ष और बाएं हाथ से दाहिना भुजशीर्ष, इस प्रकार दोनों कलाचिकाओं (कलाईयों) का हृदय पर जो विन्यास होता है, वह स्वस्तिकाकार होता है, इसलिए इसे स्वस्तिक कहा जाता है। यह चौड़ाई का प्रमाण है।

‘णुवत्त’—इसका अर्थ है निपत्त अर्थात् सोया हुआ। इन स्थविरकल्पिक मुनियों के भी दो आदेश हैं (३९६९)। जिनकल्पिक मुनि जो वस्त्र खंडित हो गया है, फिर भी यदि वह दृढ़ है और छह मास तक काम में आ सकता है तो ये उसे ग्रहण करते हैं, जो ऐसा न हो, दुर्बल हो तो वे उसे ग्रहण नहीं करते।

३९६८.संडासच्छिडेण हिमादि एति,

गुत्ता वऽगुत्ता वि य तस्स सेज्जा।

हत्थेहि सो सोत्थिकडेहि घेतुं,

वत्थस्स कोणे सुवई व ज्ञाती॥

जिनकल्पी मुनि की शय्या गुप्त—घनकुड्य-कपाटयुक्त अथवा अगुप्त होती है। संदंशक के छिद्र से ठंडी हवा आदि का प्रवेश होता है। उसकी रक्षा के लिए मुनि स्वस्तिकाकार में निवेशित दोनों हाथों से वस्त्र के दोनों कोणों को पकड़कर उत्कटुक आसन में सो जाता है या ध्यान करता है।^२

३९६९.कप्पा आयपमाणा, अट्ठाइज्जा उ वित्थडा हत्था।

एयं मज्झिम माणं, उक्कोसं हंति चत्तारि॥

होती है—पात्र, पात्रकबंध, पात्रस्थापन, पात्रकेसरिका, पटलक, रजस्त्राण, गोच्छक, रजोहरण और मुखपोतिका। जो प्रावरणसहित हैं उनके ये नौ उपधि, इनमें एक कल्प प्रेषण करें तो दस, दो कल्प के प्रक्षेप से ग्यारह, कल्पत्रय का प्रक्षेप करें तो बारह—यह बारह प्रकार की उत्कृष्ट उपधि है जिनकल्पिक मुनियों की। अन्यान्य गच्छनिर्गत मुनियों की उपधि का भी यही परिमाण है।

२. कुछ आचार्य कहते हैं कि वह जिनकल्पी मुनि उत्कटुक आसन में ही रात्री के तीसरे प्रहर में क्षणमात्र के लिए सोता है। (वृ. पृ. १०८९)

स्थविरकल्पी मुनियों का कल्प आत्मप्रमाण—साढ़े तीन हाथ प्रमाण लंबा और ढाई हाथ चौड़ा होता है। यह मध्यम प्रमाण है। उत्कर्षतः चार हाथ लंबा होता है।

३९७०. संकुचिय तरुण आयुष्पमाण सुयणे न सीयसंफासो।

दुहओ पेल्लण थेरे, अणुचिय पाणाइरक्खाऽऽया॥

जो भिक्षु तरुण होता है, वह पैरों को संकुचित कर सो सकता है। इस स्थिति में उसे शीतस्पर्श का कष्ट नहीं होता। इसलिए उसके आत्मप्रमाण कल्पों का निर्देश है। स्थविर मुनि पैरों को संकुचित कर नहीं सो सकता। अतः इसके लिए शिर और पादान्त—दोनों पार्श्व तक जो वस्त्र का वेष्टन हो जाता है, उससे शीतस्पर्श का कष्ट नहीं होता। अनुचित अर्थात् अभावित शैक्ष के लिए भी कल्प का यही प्रमाण है। इस प्रकार प्राणियों तथा स्वयं की रक्षा हो जाती है।

३९७१. पत्ताबंधपमाणं, भाणपमाणेण होइ कायव्वं।

चउरंगुलं कमंता, पत्ताबंधस्स कोणा उ॥

पात्रकबंधप्रमाण भाजनप्रमाण से करना चाहिए। पात्र यदि जघन्य या मध्यम हो तो पात्रकबंध भी उसीके अनुसार होगा। यदि गांठ देने पर पात्रकबंध के कोण चार अंगुल का अतिक्रमण भी करते हैं तो भी वही प्रमाण है।

३९७२. रयताणस्स पमाणं, भाणपमाणेण होति कायव्वं।

पायाहिणं करितं, मज्झे चउरंगुलं कमति॥

रजस्त्राण का प्रमाण भी भाजनप्रमाण के अनुसार करना चाहिए। पात्र का प्रादक्षिण्य से वेष्टन करने पर चार अंगुल तक रजस्त्राण का अतिक्रमण करता है, वह है रजस्त्राण का प्रमाण।

३९७३. तिविहम्मि कालछेए, तिविहा पडला उ होंति पायस्स।

गिम्ह-सिसिर-वासासुं, उक्कोसा मज्झिम जहन्ना॥

कालच्छेद अर्थात् कालविभाग तीन प्रकार का है। इसलिए तीन प्रकार के पटलक होते हैं—ग्रीष्म में उत्कृष्ट, शिशिर में मध्यम और वर्षा में जघन्य। अत्यन्त दृढ़—उत्कृष्ट, दृढ़-दुर्बल—मध्यम, दुर्बल—जघन्य।

३९७४. गिम्हासु तिन्नि पडला, चउरो हेमंते पंच वासासु।

उक्कोसगा उ एए, एत्तो वोच्छामि मज्झिमए॥

ग्रीष्म के चार महीनों में तीन पटल, हेमन्त में चार और वर्षा में पांच पटलक होते हैं। ये उत्कृष्ट पटलक हैं। आगे मैं मध्यम पटलक की बात कहूंगा।

३९७५. गिम्हासु होंति चउरो, पंच य हेमंते छच्च वासासु।

मज्झिमगा खलु एए, एत्तो उ जहन्ने वोच्छं॥

ग्रीष्म में चार, हेमन्त में पांच, वर्षा में छह। ये सारे

मध्यम पटलक हैं। आगे जघन्य पटलक के विषय में कहूंगा।

३९७६. गिम्हासु पंच पडला, हेमंते छच्च सत्त वावासु।

तिविहम्मि कालछेए, तिविहा पडला उ पायस्स॥

ग्रीष्म में पांच, हेमन्त में छह और वर्षा में सात। ये जघन्य पटलक हैं। इस प्रकार तीन प्रकार के कालविभाग में तीन प्रकार के पटलक पात्र के होते हैं।

३९७७. घणं मूले थिरं मज्झे, अग्गे मद्दवजुत्तया।

एगंगियं अद्दुसिरं पोरायामं तिपासियं॥

रजोहरण का प्रमाण—मूल में घन—निबिडवेष्टित, मध्य में स्थिर-दृढ़ और अग्र में मार्दवयुक्तता—मृदुस्पर्शवाली दशिकाएं हों। वह एकांगिक, अशुषिर, पर्व आयाम वाला तथा तिपासिय—तीन डोरों से वेष्टित—बद्ध हो।

३९७८. अप्पोल्लं मिदुपम्हं च, पडिपुत्रं हत्थपूरिमं।

तिपरियल्लमणीसद्दं, रयहरणं धारए मुणी॥

वह अप्पोल्ल—अशुषिर दंडवाला, मृदुपक्ष्मवाला—कोमल दशिका से युक्त, प्रतिपूर्ण—निषद्याद्वय से युक्त, हस्तपूरिम—हस्त के प्रमाण वाला, त्रिपरिवर्त्त—तीन वेष्टनयुक्त, अनिसृष्ट—हस्तप्रमाण का अतिक्रम न करने वाला रजोहरण मुनि को धारण करना चाहिए।

३९७९. उन्नियं उद्वियं चैव, कंबलं पायपुंछणं।

रयणीपमाणमित्तं, कुज्जा पोरपरिग्गहं॥

और्णिक अथवा औष्ट्रिक—उष्टरोममय जो कंबल हो उसका पादप्रौंछन अर्थात् रजोहरण करना चाहिए। वह रत्निप्रमाणमात्र—हस्तप्रमाण आयाम दंड वाला, तथा पर्वपरिग्रहवाला रजोहरण करना चाहिए।

३९८०. संथारुत्तरपट्टा, अद्दाइज्जा उ आयया हत्थे।

तेसिं विक्खंभो पुण, हत्थं चतुरंगुलं चैव॥

संस्तारक के दोनों उत्तरपट्ट ढाई हाथ लंबे होते हैं और उनकी चौड़ाई एक हाथ चार अंगुल होती है।

३९८१. दुगुणो चतुग्गुणो वा, हत्थो चतुरंसो चोलपट्टो उ।

एगगुणा उ निसेज्जा, हत्थपमाणा सपच्छाया॥

दुगुणा या चतुर्गुणा करने पर एक हाथ प्रमाण का चतुरस्र होता है, वैसा चोलपट्टक करना चाहिए। द्विगुणा स्थविरों के लिए तथा चतुर्गुणा तरुणों के लिए। निषद्या एक गुणा, हस्तप्रमाण वाली तथा सौत्रिक प्रच्छादन निषद्या से युक्त होनी चाहिए।

३९८२. चउरंगुलं विहत्थी, एयं मुहणंतगस्स उ पमाणं।

बितियं पि य प्पमाणं, मुहप्पमाणेण कायव्वं॥

मुखान्तक अर्थात् मुखवस्त्रिका का प्रमाण यह है—एक

वितस्ति और चार अंगुल। दूसरा प्रमाण यह है—अपने-अपने मुंह के प्रमाण से मुखवस्त्रिका हो।

३९८३. गोच्छक पडिलेहणिया, पायद्वरणं च होइ तह चैव।
तिण्हं पि य प्पमाणं, विहत्थि चउरंगुलं चैव॥

गोच्छक, पात्रप्रत्युपेक्षणिका, पात्रस्थापनक—का प्रमाण भी निरूपणीय है। इन तीनों का प्रमाण है—एक वितस्ति और चार अंगुल।

३९८४. जो वि तिवत्थ दुवत्थो, एणेण अचेलगो व संथरइ।
न हु ते खिंसंति परं, सब्बेण वि तिन्नि घेत्त्वा॥

जो मुनि तीन वस्त्र, दो वस्त्र, एक वस्त्र या अचेलक रहते हैं, वे अधिक वस्त्र रखने वालों की खिंसना न करें। स्थविर-कल्पी मुनि तीन कल्प अवश्य ग्रहण करे।

३९८५. अप्पा असंथरंतो, निवारिओ होइ तीहि वत्थेहिं।
गिण्हति गुरुविदिण्णे, पगासपडिलेहणे सत्त॥

यदि आत्मा—शरीर शीत आदि को सहन करने में असमर्थ हो तो तीन वस्त्रों से उसका निवारण करे। यदि वे जीर्ण हो जाए और शीत निवारण में सक्षम न हों तो गुरु द्वारा वितीर्ण प्रकाशप्रत्युपेक्षणीय^१ उत्कर्षतः सात वस्त्रों को ग्रहण करे।

३९८६. तिन्नि कसिणे जहन्ने, पंच य दढदुब्बलाइं गेणहेज्जा।
सत्त य परिजुत्ताइं, एयं उक्कोसगं गहणं॥

जघन्यः तीन वस्त्र ऐसे ग्रहण करे जो कृत्स्न अर्थात् सघन और कोमल हों तथा पांच वस्त्र ऐसे ग्रहण करे जो दृढ़दुर्बल हों और सात वस्त्र परिजीर्ण ग्रहण करे। यह उत्कृष्ट ग्रहण है।

३९८७. भिन्नं गणणाजुत्तं, पमाण इंगाल-धूमपरिसुद्धं।
उवहिं धारए भिक्खू, जो गणचिंतं न चित्तेइ॥

जो भिक्षु गणचिन्ता से मुक्त है अर्थात् जो सामान्य भिक्षु है वह जो वस्त्र भिन्न है अर्थात् किनारी रहित है, पूरा नहीं है—टुकड़ा है, जो गणनायुक्त है, प्रमाणयुक्त है तथा जो अंगारधूम से शुद्ध है अर्थात् राग-द्वेष परिणामों से शुद्ध है—विरहित है वैसी उपधि धारण करे।

३९८८. गणचिंतगस्स एत्तो, उक्कोसो भज्झिमो जहन्नो य।
सब्बो वि होइ उवही, उवग्गहकरो महाणस्स॥

गणचिंतक—गणावच्छेदिक आदि की उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य सारी उपधि महाजन के अर्थात् गच्छ के लिए उपग्रहकरी होती है।

३९८९. आलंबणे विसुद्धे, दुगुणो तिगुणो चउग्गुणो वा वि।
सब्बो वि होइ उवही, उवग्गहकरो महाणस्स॥

१. जीर्ण होने के कारण वैसे वस्त्र चोरों द्वारा अपहृत नहीं होते, अतः वे बाहर प्रत्युपेक्षणीय होते हैं।

गणचिन्तक विशुद्ध आलंबन के प्रयोजन से औधिक या औपग्रहिक सारी उपधि दुगुनी, तीनगुनी या चारगुनी भी अपने परिग्रह में रखते हैं, क्योंकि वह उपधि महाजन अर्थात् गच्छ के लिए उपकारी होती है।

३९९०. पेहा-ऽपेहादोसा, भारो अहिकरणमेव अतिरित्ते।
एए भवंति दोसा, कज्जविवत्ती य हीणम्मि॥

अतिरिक्त उपधि रखने से उसकी प्रत्युपेक्षा से सूत्रार्थ की हानि होती है, प्रत्युपेक्षा न करने से भी दोष लगता है। उसका भार वहन करना होता है। अधिकरण भी हो सकता है। ये अतिरिक्त उपधि के दोष हैं। हीन उपधि से कार्य की विपत्ति अर्थात् प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। अतः अतिरिक्त और हीन उपधि—दोनों में दोष हैं।

३९९१. परिकम्मणि चउभंगो,

कारणे विहि बितिओ कारणे अविही।

निक्कारणम्मि उ विही,

चउत्थो निक्कारणे अविही॥

परिकर्म की चतुर्भंगी इस प्रकार है—

१. कारण में विधिपूर्वक परिकर्म।
२. कारण में अविधि से परिकर्म।
३. निष्कारण विधि से परिकर्म।
४. निष्कारण अविधि से परिकर्म।

३९९२. कारणे अपुत्त विहिणा, सुद्धो सेसेसु मासिका तिन्नि।
तव-कालेसु विसिद्धा, अंते गुरुगा य दोहिं पि॥

कारण में विधि से परिकर्म अनुज्ञात है। यह शुद्ध है। शेष तीनों भंगों में तप और काल से विशेषित तीन मास का प्रायश्चित्त है। दूसरे भंग में कालगुरुक और तीसरे भंग में तपोगुरुक तथा अन्त्य अर्थात् चौथे भंग में दोनों अर्थात् तप और काल से गुरुक।

३९९३. उदाहडा जे हरियाहडीए,

परेहि धोयाइपया उ वत्थे।

भूसानिमित्तं खलु ते करिंति,

उग्घातिमा वत्थे सवित्थरा उ॥

इसी सूत्र के प्रथम उद्देशक के हताहृतिका सूत्र (सू. ४५) में स्तेनों द्वारा कृत धौत आदि पद जो वस्त्रों के संबंध में कथित हैं, उनको यदि कोई मुनि स्वयं की विभूषा के निमित्त करता है तो सविस्तार चार उद्घातिम मास का प्रायश्चित्त आता है। सविस्तार का अर्थ है—धौत आदि पद करने वाला जो आत्मविराधना करता है, तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त भी आता है।

३९९४. मलेण घत्थं बहुणा उ वत्थं,

उज्झाइगो हं चिमिणा भवामि।

हं तस्स धोव्वम्मि करेति तत्तिं,

वरं न जोगो मलिणाण जोगो ॥

मेरा वस्त्र मैल से अत्यधिक मैला हो गया है, इससे मैं 'उज्झाइय' विरूप लग रहा हूँ। इससे मैं 'चिमिण'—रोमांचित हो जाता हूँ। उसको धोने में मुझे तपि होती है, कष्ट होता है। अच्छा है मलिनवस्त्रों के साथ मेरा योग न हो, मलिन वस्त्रों को पहनने से, न पहनना अच्छा है। कारण मैं वस्त्रों को धोना शुद्ध है।

३९९५. कामं विभूसा खलु लोभदोसो,

तहा वि तं पाउणओ न दोसो।

मा हीलणिज्जो इमिणा भविस्सं,

पुव्विद्धिमाई इय संजई वि ॥

यह अनुमत है कि विभूषा लोभ के दोष से होती है। फिर भी धोए हुए वस्त्रों को पहनना दोषयुक्त नहीं है। मुनि सोचता है—मैं मलिनवस्त्रों से हीलणीय न हो जाऊँ इसलिए वह शुचीभूत वस्त्र धारण करता है। श्रमणियां भी ऋद्धियुक्त परिवारों से प्रव्रजित हुई हैं अतः वे भी सफेद वस्त्रों को धारण कर रहती हैं, घूमती हैं।

३९९६. न तस्स वत्थाइसु कोइ संगो,

रज्जं तणं चैव जढं तु तेणं।

जो सो उ उज्झाइय वत्थजोगो,

तं गारवा सो न चएति मोत्तुं ॥

जो व्यक्ति ऋद्धियुक्त घरों से प्रव्रजित हुआ है, उसका वस्त्र आदि के प्रति कोई रागभाव नहीं होता, क्योंकि उसने राज्य को (समृद्धि को) तृण की तरह छोड़ दिया है। मैं इन मलिन वस्त्रों के योग से 'उज्झाइय'—विरूप न लगूँ, इस अभिप्राय से वह उस धौत वस्त्रों को पहनने की वृत्ति को ऋद्धिगौरव के कारण छोड़ नहीं सकता।

३९९७. महद्धणे अप्पधणे व वत्थे,

मुच्छिज्जती जो अविवित्तभावो।

सतं पि नो भुंजति मा हु झिज्जे,

वारेलि चऽन्नं कसिणा दुगा दो ॥

जो मुनि महामूल्य वाले या अल्पमूल्य वाले वस्त्रों के प्रति अविविक्तभाव—विवेक विकलभाव से मूर्च्छित होता है, वह स्वयं भी उन वस्त्रों का उपभोग नहीं करता, यह सोचता है कि उनका उपभोग करने से वे जीर्ण हो जायेंगे, तथा वह दूसरों को भी उनके परिभोग से वर्जना करता है। उसका प्रायश्चित्त है—संपूर्ण चार मास।

३९९८. देसिल्लगं वन्नजुयं मणुन्नं,

चिरादणं दाइं सिणेहओ वा।

लब्भं च अन्नं पि इमप्पभावा,

मुच्छिज्जई ईय भिसं कुसत्तो ॥

जो मुनि यह सोचकर कि यह वस्त्र अमुकदेश में निर्मित है, वर्ण वाला है, मनोज्ञ है, चिरन्तन—आचार्य की परंपरा से प्राप्त है, इस वस्त्र के प्रभाव से मुझे अन्यान्य वस्त्रों की उपलब्धि भी सहज हो जाती है अथवा उस वस्त्र के प्रदाता के प्रति मुनि का स्नेह उभर आता है तब वह मुनि उक्त कारणों से उस वस्त्र के प्रति अत्यन्त मूर्च्छित हो जाता है और उसका परिभोग नहीं करता।

३९९९. दव्वप्पमाणअतिरेगहीणदोसा तहेव अववाए।

लक्खणमलक्खणं तिविह उवहि वोच्चत्थ आणादी ॥

४०००. को पोरुसी य कालो,

आगर चाउल जहन्न जयणाए।

चोदग असती असिव,

प्पमाण उवओग छेयण मुहे य ॥

अब पात्र विषयक विवेचन—

१. पात्र का प्रमाण, प्रमाण से अतिरिक्त या हीन पात्र के दोष।
२. अपवाद।
३. पात्र के लक्षण, अलक्षण।
४. तीन प्रकार की उपधि।
५. विपर्यय में प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष।
६. पात्र कौन ग्रहण करता है?
७. पौरुषी?
८. काल का प्रमाण।
९. आकार।
१०. चाउल—तन्दुलघावन।
११. जघन्य यतना।
१२. शिष्य का प्रश्न।
१३. पात्र के अभाव में या अशिव आदि में।
१४. प्रमाण, उपयोग तथा छेदन।
१५. मुखकरण।

—ये सारे पात्र की विचारणा के द्वार हैं। विस्तार आगे की गाथाओं में।

४००१. पमाणातिरेगधरणे, चउरो मासा हवंति उग्घाया।

आणाइणो य दोसा, विराहणा संजमा-ऽऽयाए ॥

प्रमाणातिरिक्त पात्र को धारण करने पर चार उद्घातिक मास का प्रायश्चित्त आता है तथा आज्ञाभंग आदि दोष और आत्मविराधना तथा संयमविराधना होती है।

४००२. गणणाए पमाणेण य, गणणाए समत्तओ पडिग्गहओ।

पलिमंथ भरुहुंडुग, अतिप्पमाणे इमे दोसा॥

पात्र का प्रमाण गणना और प्रमाण से होता है। गणना में मात्रकसहित पात्र मानना चाहिए। इससे अधिक रखने पर परिमंथ, भार तथा उद्दण्डुक—जनोपहास होता है। अतिप्रमाण में रखने पर ये दोष होते हैं।

४००३. भारेण वेयणा वा, अभिहणमाई ण पेहए दोसा।

रीयाइ संजमम्मि य, छक्काया भाणभेओ य॥

भार से वेदना, अभिहनन आदि, प्रेक्षा संबंधी दोष—ये आत्मविराधना संबंधी दोष हैं। संयमविराधना संबंधी ये दोष होते हैं—ईर्या आदि का शोधन नहीं करता, षट्काय की विराधना होती है, भाजन टूट सकता है।

४००४. भाणऽप्पमाणगहणे, भुंजणे गेलन्नऽभुंज उज्झिमिगा।

एसणपेल्लण भेओ, हाणि अडंते दुविह दोसा॥

अप्रमाणयुक्त भाजन के ग्रहण से ये दोष होते हैं—बृहत्तर भाजन के कारण अतिमात्र भोजन से ग्लानत्व हो सकता है। न खाने से परिष्ठापनिका करनी होती है। उस भाजन से एषणा में पीड़ा होती है। पात्र टूट सकता है। पात्र के बिना कार्यहानि होती है। बृहदाकार भाजन से दोनों दोष—आत्म-विराधना और संयमविराधना—होते हैं। आत्मविराधना—अतिभार से कटि-स्कंध आदि में पीड़ा तथा संयमविराधना—ईर्या आदि अशोधन, षट्काय की विराधना।

४००५. हीणप्पमाणधरणे, चउरो मासा हवंति उग्घाया।

आणादिणो य दोसा, विराहणा संजमा-ऽऽयाए॥

हीनप्रमाण वाले पात्र के धारण पर चार उद्घातिक मास का प्रायश्चित्त आता है। तथा आज्ञाभंग आदि दोष और आत्मविराधना और संयमविराधना—दोनों होती हैं।

४००६. ऊणेण न पूरिस्सं, आकंठा तेण गिणहती उभयं।

मा लेवकडं ति पुणो, तत्थुवओगो न भूमीए॥

ऊन अर्थात् अभरित पात्र से मेरी पूर्ति नहीं होगी, यह सोचकर वह भाजन को आकंठ तक ओदन और कुसण—दोनों से भर देता है। अतः पात्रबंध लेपकृत न हो इसलिए वह पात्र से निकलने वाले कुसण आदि का पात्रबंध को खरंटित करने में उपयोग करता है, भूमी पर नहीं गिराता।

४००७. खाणू कंटग विसमे, अभिहणमाई ण पेहए दोसे।

रीया पगलिय तेणग, भायणभेए य छक्काया॥

जो ईर्या में अनुपयुक्त होता है, वह स्थाणु, कंटक आदि

से विद्ध हो जाता है, विषम स्थान में स्वलित हो जाता है, अभिहनन आदि दोषों को नहीं देखता—यह आत्मविराधना है। ईर्या का शोधन नहीं करता, भाजन से भक्त-पान झरता है, यह देखकर चोर उसका हरण कर सकते हैं, भाजन-भेद हो सकता है, षट्कायविराधना होती है—यह संयम-विराधना है।

४००८. गुरु पाहुण खम दुब्बल, बाले वुडे गिलाण सेहे य।

लाभाऽऽलाभऽद्धाणे, अणुकंपा लाभवोच्छेदो॥

गुरु, प्राघुणक, क्षपक, दुर्बल, बाल, वृद्ध, ग्लान और शैक्ष—प्रमाणहीन भाजन रखने से इनका उपष्टंभ नहीं होता। लाभ-अलाभ की परीक्षा कैसे? अध्वा में कोई अनुकंपा से देना चाहे तो लघु भाजन में लाभ का व्यवच्छेद होता है। (व्याख्या आगे)

४००९. गुरुगा य गुरु-गिलाणे,

पाहुण-खमए य चउलहू होंति।

सेहस्स होइ गुरुओ,

दुब्बल जुयले य मासलहू॥

गुरु और ग्लान का उपष्टंभ न करने पर चार गुरुमास, प्राघुणक और क्षपक का उपष्टंभ न करने पर चार लघुमास, शैक्ष का न करने पर मासगुरु और दुर्बल, बाल और वृद्ध का उपष्टंभ न करने पर मासलघु का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

४०१०. अप्प-परपरिच्चाओ, गुरुमाईणं अदेत-देतस्स।

अपरिच्छिण य दोसा, वोच्छेओ निज्जराऽलाभे॥

लघुतर भाजन में गृहीत यदि गुरु आदि को देता है तो आत्मपरित्याग अर्थात् स्वयं के लिए कुछ नहीं बचता और यदि नहीं देता है तो गुरु आदि उपष्टंभ नहीं होता। क्षेत्र-प्रत्युपेक्षण के लिए गया हुआ मुनि लघुपात्र के कारण लाभ-अलाभ की परीक्षा कैसे कर सकता है? ये दोष होते हैं। लघुपात्र के कारण भक्तपान के लाभ का तथा निर्जरा का व्यवच्छेद होता है। इसके अन्य दोष भी हैं, जैसे—

४०११. लेवकडे वोसडे, सुक्खे लग्गे य कोडिते सिहरे।

एए हवंति दोसा, डहरे भाणे य उड्डाहो॥

उस लघु भाजन से तरल पदार्थ व्युत्सृष्ट—बाहर निकल कर पात्र को लिस कर देते हैं, अतः वह उस भाजन में शुष्क भक्त ही लेता है। उसको खाने पर वह कंठ या उदर में लग जाता है, चिपक जाता है। उससे अजीर्ण होता है। कोडित—गाढरूप से चिपक जाने पर जठराग्नि मंद हो जाती है। वह मुनि उस लघु भाजन में शुष्क आहार को शिखर तक भर लेता है। लोग उसका उड्डाह करते हैं। लघु भाजन के ये दोष होते हैं।

४०१२. ध्रुवणा-ऽध्रुवणे दोसा, वोसङ्गंते य काय आउसिणे।

सुखे लग्गाऽजीरग, कोडिय सिहरे य उड्ढाहो॥

उस खरडे हुए भाजन को धोने और न धोने में भी दोष हैं। धोने से पानी का बहाव होता है और न धोने से रात्रीभोजनव्रत का भंग होता है। पात्र से गिरते हुए भक्त-पान से षट्काय की विराधना होती है। गिरते हुए उष्ण द्रव्य से स्वयं की विराधना होती है। शुष्क भोजन गले आदि में चिपक जाने पर अजीर्ण रोग होता है। गाढरूप में चिपक जाने पर अग्निमांघ पैदा करता है। पात्र को शिखर तक भरने से उड्ढाह होता है।

४०१३. तिन्नि विहत्थी चउरंगुलं च भाणस्स मज्झिमपमाणं।

एत्तो हीण जहन्नं, अतिरेगयरं तु उक्कोसं॥

पात्र की परिधि डोरे से मापी जाए। यदि वह डोरी तीन वितस्ति और चार अंगुल की होती है तो वह भाजन का मध्यमप्रमाण है। मध्यमप्रमाण से हीन पात्र जघन्यप्रमाण वाला है और मध्यमप्रमाण से अतिरिक्ततर हो तो वह उत्कृष्ट प्रमाण वाला है।

४०१४. उक्कोसतिसामासे, दुगाउअद्धाणमागओ साहू।

चउरंगुलवज्जं भत्त-पाण पज्जत्तियं हेड्ढा॥

उत्कृष्ट तृषामास वह होता है जिसमें प्रबल प्यास लगती है। वे दो मास हैं—जेठ और आषाढ़। उस काल में दो कोश मार्ग पर चलकर आए हुए मुनि के लिए ऊपर से चार अंगुल वर्ज्य, नीचे से पूरा भक्त-पान से भरा हुआ पात्र पर्याप्त होता है। यह उसके पात्र का प्रमाण है।

४०१५. एयं चैव पमाणं, सविसेसयरं अणुग्गहपवत्तं।

कंतारे दुब्भिकखे, रोहगमाईसु भइयव्वं॥

जिसके भाजन का यही प्रमाण सविशेषतर होता है वह गच्छ के अनुग्रह के लिए प्रवर्तित होता है। कान्तार, दुर्भिक्ष, नगरावरोध आदि के समय ऐसे भाजन का उपयोग किया जाता है।

४०१६. अन्नाणे गारवे लुद्धे, असपंत्ती य जाणए।

लहुओ लहुया गुरुगा, चउत्थो सुद्धो उ जाणओ॥

अज्ञानवश हीनाधिक प्रमाण वाला पात्र धारण करने पर लघु मास, गौरव के कारण धारण करने पर चतुर्लघु, लोभवश करने पर चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है। पात्र की असंप्राप्ति के कारण हीनाधिक प्रमाण वाला पात्र धारण करने वाला शुद्ध है। पात्र के लक्षणों का ज्ञायक यदि हीनाधिक प्रमाण वाला पात्र धारण करता है तो वह भी शुद्ध है।

४०१७. हीणा-ऽदरेगदोसे,

अजाणओ सो धरिज्ज हीण-ऽहियं।

पणईय थोवभोगी,

सति लाभे वा करेतोमं॥

जो मुनि पात्र के हीन और अतिरिक्त विषयक दोषों को नहीं जानता वह हीन-अधिक प्रमाण वाला पात्र धारण करता है। जो मुनि स्वभावतः अल्पभोजी है और वह ऋद्धिगौरव के कारण भक्त-पान का प्रचुर लाभ होने पर भी 'यह मुनि अल्पाहारी है' यह दिखाने के लिए पात्र में स्वल्प लेता है।

४०१८. ईसरनिक्खंतो वा, आयरिओ वा वि एस डहरेणं।

इति गारवेण ओमं, अइप्पमाणं चिमेहिं तु॥

४०१९. अणिगूहियबल-विरिओ,

वेथावच्चं करेति अहो! समणो।

मम तुल्लो न य कोयी,

पसंसकामी महल्लेणं॥

शिष्य ने पूछा—उसका ऋद्धिगौरव क्या है? आचार्य कहते हैं—वह ईश्वरनिष्क्रान्त अर्थात् राजा आदि महर्द्धिक व्यक्ति प्रव्रजित हो, अथवा वह आचार्य हो—लोग देखकर कहते हैं—'इतने लघु भाजन से भिक्षा में पर्यटन कर रहे हैं'—इस प्रकार की गौरव प्राप्ति के लिए अवम भाजन धारण करते हैं। अतिप्रमाण वाले पात्र को धारण करने का यह कारण हो सकता है—अहो! यह श्रमण अपने बल और वीर्य को छुपाने वाला नहीं है इसलिए यह बृहद् भाजन से समस्त गच्छ की वैयावृत्य करता है। मेरे सदृश कोई नहीं है—इस प्रकार की प्रशंसा का कामी वह मुनि महत् प्रमाण वाला भाजन धारण करता है

४०२०. अंतं न होइ देयं, थोवासी एस देह से सुद्धं।

उक्कोसस्स व लंभे, कहि घेच्छ महल्ल लोभेणं॥

लघु भाजन वाले मुनि को देखकर गृहस्वामी कहता है—देखो! यह मुनि अल्पाहारी है। इसको अन्त-प्रान्त भोजन मत देना। इसको शुद्ध अर्थात् उत्कृष्ट द्रव्य देना। उत्कृष्ट द्रव्य का लाभ होने पर, वह मुनि सोचता है—ऐसा द्रव्य और कहां से लूंगा, यह सोचकर वह लोभवश महत्तर भाजन ग्रहण करता है।

४०२१. जुत्तपमाणस्सऽसती, हीण-ऽतिरित्तं चउत्थो धारेति।

लक्खणजुय हीण-ऽहियं, नंदी गच्छद्द वा चरिमो॥

यथोक्तप्रमाण वाले पात्र की प्राप्ति होने पर हीन या अतिरिक्तप्रमाण वाला पात्र चौथे क्रम में धारण करता है। जो पात्र लक्षणयुक्त है, वह चाहे प्रमाण से हीन या अधिक हो,

उसको लक्षणवेत्ता मुनि ग्रहण करता है। चरमद्वारवर्ती अर्थात् ज्ञायक गच्छ के उपग्रह के लिए नंदी भाजन को धारण करता है।

४०२२. वट्टं समचउरंसं, होइ थिरं थावरं च वन्नहं।
हुंडं वायाइद्धं, भिन्नं च आधारणिज्जाइं॥

जो पात्र वर्तुल होने पर भी समचतुरस्र हो, स्थिर अर्थात् दृढ़ हो, स्थावर—अप्रातिहारिक हो तथा स्निग्ध वर्ण से उपेत हो—वह लक्षणयुक्त पात्र माना जाता है। जो पात्र हुंड—विषमसंस्थित हो, वाताविद्ध—झुर्रियों वाला हो, सच्छिद्र या राजियुक्त हो, वह पात्र अलाक्षणिक होता है, अधारणीय होता है।

४०२३. संठियम्मि भवे लाभो, पतिट्ठा सुपतिट्ठिए।
निव्वणे कित्तिमारोग्गं, वन्नहे नाणसंपया॥

४०२४. हुण्डे चरित्तभेओ, सबलम्मि य चित्तविभमं जाणे।
दुप्पुते खीलसंठाणे, नत्थि द्वाणं ति निद्विसे॥

४०२५. पउमुप्पले अकुसलं, सव्वणे वणमाइसे।
अंतो बहिं व द्दहे, मरणं तत्थ निद्विसे॥

संस्थित (वृत्त-समचतुरस्र) पात्र को धारण करने से भक्त-पान का लाभ होता है। सुप्रतिष्ठित (स्थिर) पात्र से गण आदि में स्थिरता होती है। निर्घ्रण पात्र से कीर्ति और आरोग्य प्राप्त होता है। वर्णाढ्य (स्निग्धवर्ण) पात्र से ज्ञानसंपदा बढ़ती है। हुंड पात्र से चारित्र का भेद होता है। शबल—विचित्र-वर्णवाले पात्र से चित्तविभ्रम होता है। जो पात्र दुप्पुय (दुष्पुत)—पुष्पकमूल में प्रतिष्ठित नहीं है, जो कीलक-संस्थान वाला है—इनको धारण करने से गण और चारित्र में स्थान नहीं रहता—ऐसा निर्देश देता है। पद्मोत्पल के आकार वाले पात्र से अकुशल, सव्रण वाले पात्र से पात्रधारक के व्रण होते हैं। अन्दर से अथवा बाहर से दग्ध पात्र को धारण करने पर मरण का निर्देश करे।

४०२६. द्दहे पुप्फगभिन्ने, पउमुप्पल सव्वणे य चउगुरुगा।
सेसगभिन्ने लहुगा, हुंडादीएसु मासलहू॥

दग्ध, पुष्पकभिन्न—नाभि से भिन्न, पद्मोत्पल के आकार-वाला, सव्रण—इन पांचों को धारण करने पर चतुर्गुरुक का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। कुक्षि आदि स्थानों से भिन्न पात्र के चतुर्लघुक और हुंड आदि पात्रों को धारण करने से मासलघु का प्रायश्चित्त है।

४०२७. तिविहं च होइ पायं, अहाकडं अप्प-सपरिकम्मं च।
पुव्वमहाकडगहणं, तस्सऽसति कमेण दोण्णियरे॥

पात्र तीन प्रकार के होते हैं—अलाबुमय, दारुमय और मृत्तिकामय। प्रत्येक के तीन-तीन प्रकार हैं—यथाकृत,

अल्पपरिकर्म, सपरिकर्म। पूर्व यथाकृत का ग्रहण। उसके अभाव में क्रमशः दोनों दूसरे।

४०२८. तिविहे परुवियम्मिं, वोच्चत्थे गहणे लहुग आणादी।
छेदण-भेदणकरणे, जा जहिं आरोवणा भणिता॥

तीन प्रकार के पात्रों की प्ररूपणा कर देने पर जो मुनि उनके ग्रहण में विपर्यास करता है, उसे चतुर्लघु का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष लगते हैं। छेदन, भेदन करने पर गाथा (६६८) में कथित आरोपणा यहां भी वक्तव्य है।

४०२९. को गेण्हति गीयत्थो, असतीए पायकप्पिओ जो उ।
उस्सग्ग-ऽववाएहिं, कहिज्जती पायगहणं से॥

पात्र कौन ग्रहण करता है—लाता है? आचार्य ने कहा—गीतार्थ। उसके अभाव में जो पात्रकल्पिक होता है वह लाता है। उसके अभाव में जो मुनि पात्रग्रहण के उत्सर्ग, अपवाद को जानता है, वह पात्र ग्रहण करता है।

४०३०. हुंडादि एकबंधे, सुत्तत्थे करंते मग्गणं कुज्जा।
दुग-तिगबंधे सुत्तं, तिण्हवरिं दो वि वज्जेज्जा॥

जो मुनि हुंड आदि पात्रों की तथा एकबंध वाले पात्र का परिभोग करता है तथा सूत्र और अर्थपौरुषी—दोनों करता है, वह यथाकृत आदि पात्र की गवेषण करे। जो द्विबंध, त्रिबंध वाले पात्र का परिभोग करता है वह सूत्रपौरुषी करके, अर्थपौरुषी बिना किए, पात्र की गवेषणा करे। जो तीन बंधों से अतिरिक्त बंधों वाले पात्र का परिभोग करता है, वह दोनों पौरुषियों की वर्जना कर पात्र की गवेषणा करे।

४०३१. चत्तारि अहाकडए, दो मासा होंति अप्पपरिकम्मे।
तेण पर मग्गियम्मि य, असति ग्गहणं सपरिकम्मे॥

हुंड आदि पात्र को धारण करने वाला चार मास तक यथाकृत की मार्गणा करे। यदि उस अवधि में पात्र न मिले तो दो मास तक अल्पपरिकर्म वाले पात्र की मार्गणा करे। उसकी प्राप्ति न होने पर सपरिकर्म पात्र का ग्रहण करे।

४०३२. पणयालीसं दिवसे, मग्गित्ता जा न लब्भए ततियं।
तेण परेण न गिण्हइ, मा पक्खेणं न रज्जेज्जा॥

यदि पैतालीस दिन तक मार्गणा करने पर भी वह तृतीय अर्थात् सपरिकर्म वाला पात्र प्राप्त नहीं होता है तो उस अवधि के बाद बहुपरिकर्म वाला पात्र ग्रहण न करे, क्योंकि उतनी अवधि में उसको नहीं रंगा जा सकता।

४०३३. कुत्तीय सिद्ध-निण्हग-पवंच-पडिमाउवासगाईसु।
कुत्तियवज्जं बितियं, आगारमाईसु वा दो वि॥

यथाकृत पात्र की मार्गणा कुत्रिकापण में करनी चाहिए। सिद्धपुत्र, निहवण, प्रपंचश्रमण (?) तथा उपासक की ग्यारह

प्रतिमाओं को संपन्न कर आए हुए उपासक के पास यथाकृत पात्र मिल सकता है। कुत्रिकापण को छोड़कर सिद्धपुत्र आदि के पास द्वितीय अर्थात् अल्प परिकर्म वाला पात्र प्राप्त हो सकता है। आकर आदि में दोनों अर्थात् अल्पपरिकर्म वाला या सपरिकर्मवाला पात्र प्राप्त होता है।

४०३४. आगर नई कुडंगे, वाहे तेणे य भिक्ख जंत विही।

कय कारियं व कीतं, जइ कप्पइ घेप्पतू अज्जो!!

आकर अर्थात् भिल्लपल्ली आदि, नदी, कुडंग, व्याध-पल्ली, स्तेनपल्ली, भिक्षाचर, यंत्रशाला, आदि में—विधि-पूर्वक पात्र ग्रहण करे। यदि वे कहे—कृत, कारित और क्रीत पात्र यदि आपको ग्रहण करना कल्पता है तो आर्य! आप उसे ग्रहण करें। (विस्तार आगे की गाथाओं में)

४०३५. आगर पल्लीमाई, निच्चुदग नदी कुडंगमुस्सरणं।

वाहे तेणे भिक्खे, जंते परिभोगऽसंसत्तं॥

४०३६. तुम्भऽद्वाए कयमिणं, अन्नेसऽद्वाए अहवण सअद्वा।

जो घेच्छति व तदद्वा, एमेव य कीय-पामिच्चे॥

आकर का अर्थ है—भिल्लपल्ली अथवा भिल्लकोट्ट—इनमें अलाबू प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। अगाध जलवाली महानदियों को तैरने में अलाबू का प्रयोग होता है? वहां उसके पात्र मिल सकते हैं। कुडंग—सघन वृक्षवाले स्थान में तुंबिकाओं का उत्सरण—वपन किया जाता है। व्याधपल्ली तथा स्तेनपल्ली में तुम्बों में कांजी आदि रखे जाते हैं क्योंकि वहां मिट्टी के बर्तन नहीं होते। भिक्षाचरों के पास तुम्बे मिलते हैं। यंत्रशाला में गुड़ के उत्प्रेचन के लिए तुम्बे रखे जाते हैं। आकर आदि में तुम्बों का प्रतिदिन परिभोग होता है। वह जंतुओं से असंसक्त रहता है।

ये किसके लिए किए हैं—ऐसा पूछने पर यदि दाता कहे कि यह आपके लिए किए हैं या दूसरे साधुओं के लिए करवाए हैं अथवा स्वयं के लिए किए हैं अथवा जो इनको ग्रहण करेगा, उसके लिए किए हैं। इसी प्रकार क्रीत और प्रामित्य के लिए भी कहना चाहिए। जो आत्मार्थकृत हो, वह कल्पता है, आधाकर्मिकादि नहीं कल्पता।

४०३७. चाउल उण्होदग तुयरे कुसणे तहेव तक्के य।

जं होइ भावियं तं, कप्पति भइयव्वगं सेसं॥

चाउल—तन्दुलधावन, उष्णोदक, तुवर—कुसुंभोदक, कुसण—मूंग आदि का पानी, तक्र—इनसे जो पात्र भावित होता है वह कल्पता है। शेष पानी आदि से भावित हो तो वह विकल्पनीय है।

४०३८. सीतजलभावियं अविगते तु सीतोदए ण गिण्हंति।

मज्ज-वस-तेल्ल-सप्पी-महुमादीभावियं भयितं॥

शीतजल से भावित पात्र में जो शीतोदक है, वह अविगत अपरिणत हो तो उसे नहीं लेना चाहिए। मद्य, वसा, तैल, सर्पि तथा मधु से भावित हो तो विकल्पित है।

४०३९. ओभासणा य पुच्छा, दिट्ठे रिक्के मुहं वहंते य।

संसट्ठे निक्खित्ते, सुक्खे य पगास दडूणं॥

पात्र के उत्पादन (प्राप्ति) विषयक अवभाषण करना चाहिए। ये आठ पृच्छाएं करनी चाहिए—

(१) यह दृष्ट-प्रशस्य है अथवा अदृष्ट?

(२) यह रिक्त है अथवा अरिक्त?

(३) इसका मुख किया हुआ है या नहीं?

(४) यह वहमानक है अथवा अवहमानक?

(५) यह संसृष्ट है या असंसृष्ट?

(६) यह निक्षिप्त है या नहीं?

(७) यह शुष्क है अथवा आर्द्र?

(८) यह प्रकाशमुखवाला है या अप्रकाशमुखवाला?

पात्र यदि देखने पर निर्दोष लगे तो उसे ग्रहण करे।

४०४०. ओमंथ पाणमाई, पुच्छा मूलगुण उत्तरगुणे य।

तिट्ठाणे तिक्खुत्तो, सुद्धो ससिणिद्धमादीसु॥

पात्र को ओंधा कर तीन स्थानों में,^१ तीन बार प्रस्फोटित करे। शिष्य ने पूछा—पात्र विषयक मूलगुण और उत्तरगुण क्या हैं?^२ जिस पात्र में पहले अप्काय था, वह आज सस्निग्ध हो सकता है। तीन बार उसको प्रस्फोटन करके ले, वह पात्र शुद्ध है।

४०४१. दाहिणकरेण कोणं, घेत्तुत्ताणेण वाममणिबंधे।

घट्टेइ तित्ति वारे, तित्ति तले तित्ति भूमीय॥

दक्षिण हाथ से पात्र का कर्ण पकड़ कर, पात्र को ओंधा कर वाम हाथ के मणिबंध पर तीन बार उस पात्र का प्रस्फोटन करे, फिर तीन बार हाथ के तल पर और फिर भूमी पर तीन बार उसका प्रस्फोटन करे।

४०४२. तस बीयम्मि वि दिट्ठे, न गेण्हती गेण्हती तु अदिट्ठे।

गहणम्मि उ परिसुद्धे, कप्पति दिट्ठेहि वि बहूहिं॥

यदि इस प्रकार नौ बार प्रस्फोटन करने पर वस जीव अथवा बीज आदि न दीख पड़े तो उसे ग्रहण करे, दीख पड़े तो ग्रहण न करे। परिशुद्ध—निर्दोष जानकर ग्रहण किए हुए पात्र को लेकर उपाश्रय में आ जाने पर यदि उसमें अनेक बीज आदि दृग्गोचर हों तो भी वह पात्र कल्पनीय है। (उस पात्र को अप्रासुक समझकर न गृहस्थ को पुनः लौटाया जा

१. तीन स्थान ये हैं—मणिबंध, हस्ततल और भूमि। (वृ. पृ. १९८)

२. देखें—गाथा ६६८।

सकता है और न परिष्ठापित किया जा सकता है, क्योंकि वह श्रुतप्रामाण्य से गृहीत है। किन्तु एकांत में उन दृष्ट बीजों का परिष्ठापन कर-पात्र काम में लिया जा सकता है।)

४०४३. पच्छित्त पण जहण्णं, तेण उ तव्वुद्धिए य जयणाए।

जहन्ना व सासवादी, तेहिं उ जयणेयर कलादी॥

जघन्य प्रायश्चित्त है पंचक। यह जघन्य यतना है। उस पंचक की वृद्धि से पात्र की असत्ता में प्रयत्न करते हैं। अथवा सर्षप आदि बीज जघन्य हैं, उनसे युक्त पात्र को षड्भागकर-वृद्धि की यतना से ग्रहण करे। इतर अर्थात् चने आदि बादर बीजत। (इनकी यतना आगे)

४०४४. छब्भागकए हत्थे, सुहुमेसू पढमपव्व पणगं तू।

दस बितिए राइदिणा, अंगुलिमूलेसु पन्नरस॥

४०४५. वीसं तु आउलेहा, अंगुद्धंतो य होइ पणुवीसा।

पसयम्मि होइ मासो, चाउम्मासा भवे चउसु॥

हाथ के छह भाग किए जाएं—

- प्रथम पर्वों तक पहला भाग।
- दूसरे पर्वों तक दूसरा भाग।
- अंगुली के मूल तक तीसरा भाग।
- आयुष्य की रेखा तक चौथा।
- अंगुष्ठ बुध्न (जड़) तक पांचवां।
- अंगुष्ठ के बाद का सारा भाग छठा।

प्रथम पर्व मात्र के सूक्ष्म बीजों के लिए पंचक अर्थात् पांच रात-दिन का प्रायश्चित्त, दूसरे पर्वमात्र के लिए दस रात-दिन, अंगुलीमूल के लिए पन्द्रह रात-दिन, आयुरेखामात्र के लिए बीस रात-दिन, अंगुष्ठबुध्नमात्र के लिए पचीस रात-दिन, प्रसृति प्रमाण तक मासलघु, चार प्रसृति प्रमाण तक लघु चार मास।

४०४६. एसेव कमो नियमा, थूलेसु वि बीयपव्वभारद्धो।

अंजलि चउक्क लहुगा, ते च्विय गुरुगा अणंतेसु॥

नियमतः यही क्रम स्थूल बीजों के विषय में है। यह दूसरे पर्वों से प्रारंभ होता है। चार अंजलि प्रमाण में चतुर्लघु। वह सारा प्रत्येक बीज विषयक प्रायश्चित्त है। सूक्ष्म या स्थूल अनन्त बीज विषयक ये ही प्रायश्चित्त क्रमशः गुरुक हो जाते हैं।

४०४७. निक्कारणम्मि एए, पच्छित्ता वन्निया उ बीएसु।

नायव्वा अणुपुव्वी, एसेव उ कारणे जयणा॥

ये सारे प्रायश्चित्त निष्कारण बीजयुक्त पात्र को ग्रहण करने पर प्राप्त होते हैं। कारण में क्रमशः यही यतना जाननी चाहिए। अर्थात् पंचक आदि की यतना जाननी चाहिए।

४०४८. वोसद्धं पि हु कप्पइ, बीयाईणं अधाकडं पायं।

न य अप्प-सपरिकम्मा, तहेव अप्पं सपरिकम्मा॥

यथाकृत पात्र बीजों से आकंठ भरा होने पर भी वह कल्पता है, परन्तु अल्पपरिकर्म तथा सपरिकर्मवाला शुद्ध होने पर भी नहीं कल्पता। इसी प्रकार अल्पपरिकर्म वाला पात्र भरा होने पर भी कल्पता है, सपरिकर्म पात्र नहीं कल्पता।

४०४९. थूला वा सुहुमा वा, अवहंते वा असंथरंतम्मि।

आगंतुअ संकामिय, अप्पबहु असंथरंतम्मि॥

बीज स्थूल हों या सूक्ष्म यदि मुनि का पात्र तत्काल रंगा हुआ होने के कारण उनको वहन नहीं कर सकता अथवा उस पात्र से संस्तरण नहीं होता हो अथवा उसके पास दूसरा पात्र है ही नहीं तो अल्प-बहुत्व गुण के आधार पर विचार कर यथाकृत पात्र जो आगंतुक बीजों से भरा हुआ हो, उसके बीजों का अन्यत्र संक्रमण कर वह पात्र लिया जा सकता है।

४०५०. थूल-सुहुमेसु वुत्तं, पच्छित्तं तेसु चेव भरिओ वि।

जं कप्पइ त्ति भणिअं, ण जुज्जई पुव्वमवरेणं॥

स्थूल तथा सूक्ष्म बीजों के विषय में प्रायश्चित्त कहा गया है। उन बीजों से भृत पात्र भी, जो यथाकृत हो, वह लिया जा सकता है, यह जो कहा है वह पहले से भरा लिया जा सकता है, दूसरा नहीं।

४०५१. चोयग! दुविहा असई, संताऽसंता य संत असिवादी।

इयरा उ झामियाई, संते भणिया उ सा सोही॥

हे शिष्य! असत् दो प्रकार का होता है—सद् असत्ता, और असत् असत्ता। जिस गांव या नगर में पात्र हैं, परन्तु वहां अशिव है, वह सद्-असत्ता है। इतरा अर्थात् असत्-असत्ता यह है—पात्र अग्नि में जल गया है अथवा चोरो ने उसका अपहरण कर लिया है। इन दोनों प्रकार के असत् में यथाकृतपात्र आगंतुक बीजों से भृत हो तो भी वह कल्पता है, न कि शुद्ध अपरिक्र्म पात्र। जो शोधि-प्रायश्चित्त कहा गया है वह दोनों प्रकार के असत् के अभाव में जो पात्र गृहीत होता है, उस विषयक है।

४०५२. जो उ गुणो दोसकरो, न सो गुणो दोसमेव तं जाणे।

अगुणो वि होति उ गुणो, विणिच्छयो सुंदरो जस्स॥

जो गुण दोष करने वाला होता है, वह वास्तव में गुण नहीं होता, उसको दोष ही जानना चाहिए। वह अगुण भी गुण है जिसका विनिश्चय-परिणाम सुन्दर होता है।

४०५३. असइ तिगे पुण जुत्ते, जोगे ओहोवही उवग्गहिए।

छेयण-भेयणकरणे, सुद्धो जं निज्जरा विउला॥

यदि तीन बार प्रयत्न करने पर भी यथाकृत पात्र की

प्राप्ति नहीं होती है तो अल्पपरिकर्मवाला पात्र लिया जा सकता है, उसके अभाव में बहुपरिकर्मवाला पात्र भी लिया जा सकता है। यही विधि ओघ उपधि और औपग्रहिक उपधि के विषय में है। वह मुनि क्रम से प्राप्त पात्र का ग्रहण कर छेदन-भेदन करता है तो भी वह शुद्ध है, प्रायश्चित्तभाक् नहीं है। वह विधियुक्त कार्य करता है, इसलिए उसके विपुल निर्जरा होती है।

४०५४. चोयग! एताए चिय, असईय अहाकडस्स दो इयरे।

कप्पंति छेयणे पुण, उवओगं मा दुवे दोसा॥

हे शिष्य! पहले जो दो प्रकार की असत्ता प्ररूपित की है, इसी यथाकृत असत्ता से दो दूसरे पात्र-अल्पपरिकर्म और सपरिकर्म वाले ग्रहण किए जा सकते हैं। परंतु उनके छेदन में महान् उपयोग-प्रयत्न करता है जिससे कि दो प्रकार का दोष-संयमविराधना और आत्मविराधना न हो।

४०५५. अहवा वि कतो णेणं, उवओगो न वि य लब्भती पढमं।

हीणाहियं व लब्भति, सपमाणा तेण दो इयरे॥

अथवा साधु ने प्रथम प्रकार का पात्र प्राप्त करने का प्रयत्न किया परंतु वह प्राप्त नहीं हुआ अथवा प्रमाण से हीन या अधिक प्राप्त होता है तो दो दूसरे-अल्पपरिकर्म वाले या सपरिकर्म वाले पात्र क्रमशः ग्रहण करे।

४०५६. जह सपरिकम्मलंभे, मग्गंते अहाकडं भवे विपुला।

निज्जरमेवमलंभे, बितियस्सियरे भवे विउला॥

जैसे सपरिकर्म पात्र का लाभ होने पर भी मुनि यथाकृत पात्र की मार्गणा करता है, उसके विपुल निर्जरा होती है। यथाकृत पात्र की अप्राप्ति होने पर तथा बहुपरिकर्मवाले पात्र का लाभ होने पर भी दूसरे अर्थात् अल्पपरिकर्मवाले पात्र की मार्गणा में भी विपुल निर्जरा होती है।

४०५७. असिवे ओमोदरिए, रायहुद्वे भए व गेलत्ते।

सेहे चरित्त सावयभए य ततियं पि गिण्हिज्जा॥

गांव में यथाकृत अथवा अल्पपरिकर्मवाला पात्र प्राप्त है, परन्तु वहां अशिव, अवमौदर्य, राजद्विष्ट, भय (चोरों आदि का), ग्लानत्व या शैक्ष के विपरिणमन का भय है, श्वापद का भय है-इनके होने पर मुनि अपने स्थान पर ही तीसरा अर्थात् बहुपरिकर्मवाला पात्र भी ग्रहण कर सकता है।

४०५८. आगंतुगाणि ताणि य, चिरपरिकम्मे य सुत्तपरिहाणी।

एएण कारणेणं, अहाकडे होति गहणं तु॥

यथाकृत पात्र में आगंतुकबीजों का भराव होता है, तथा चिरकाल परिकर्मवाले पात्र को ग्रहण करने से सूत्रार्थ की परिहानि होती है। अतः इन कारणों से यथाकृत पात्र का ग्रहण करना चाहिए।

४०५९. बितिय-ततिएसु नियमा,

मुहकरणं होज्ज तस्सिमं माणं।

तं चिय तिविहं पायं,

करंडगं दीह वट्टं च॥

दूसरे और तीसरे अर्थात् अल्पपरिकर्मवाले तथा सपरिकर्मवाले पात्र के नियमतः मुखकरण होता है। उस मुख का यह मान होता है। वह मुख तीन प्रकार का होता है-करंडकाकार, दीर्घ और वृत्त।

४०६०. अकरंडगम्मि भाणे, हत्थो उट्टं जहा न घट्टेति।

एयं जहन्नगमुहं, वत्थुं पप्पा विसालतरं॥

अकरंडकाकार भाजन में अर्थात् दीर्घ और वृत्त पात्र में हाथ डालने और निकलने में वह हाथ पात्र के ओष्ठ-कर्ण का स्पर्श नहीं करता, वह जघन्य मुख प्रमाण है। इसके पश्चात् वस्तु के आधार पर विशालतर मुख किया जाता है।

४०६१. दब्बे एगं पायं, भणिओ तरुणो य एगपाओ उ।

अप्पोवही पसत्थो, चोएति न मत्ततो तम्हा॥

तीर्थकरों ने मुनि के लिए द्रव्य अवमौदरिका में एक ही पात्र रखने की अनुज्ञा दी है। तरुण मुनि एक पात्र ही रखे। मुनि के लिए अल्प उपधि प्रशस्त होती है। इसलिए उनको मात्रक नहीं रखना चाहिए। यह शिष्य कहता है।

४०६२. जिणकप्पे तं सुत्तं, सपडिग्गहकस्स तस्स तं एगं।

नियमा थेराण पुणो, बितिज्जओ मत्तो होइ॥

आचार्य कहते हैं-यह कथन जिनकल्प विषयक है। जो जिनकल्प सप्रतिग्रह है, उसके लिए एक पात्र का विधान है। स्थविर मुनियों के लिए नियमतः दूसरा पात्र मात्रक होता है।

४०६३. नणु दब्बोमोयरिया, तरुणाइविसेसओ य मत्तओ वि।

अप्पोवही दुपत्तो, जेणं तिप्पभित्ति बहुसदो॥

द्रव्य अवमौदरिका में एक पात्र की अनुज्ञा है। तरुण आदि के विशेषण के योग से मात्रक भी अनुज्ञात है। जो अल्पोपधि की बात कही गई है, वह दो पात्र होने पर भी अल्पोपधि ही होती है। तीन आदि के लिए बहु शब्द का प्रयोग होता है।

४०६४. अग्गहणे वारत्तग, पमाण हीणाऽधि सोहि अववाए।

परिभोग गहण-बितियपय-लक्खणाई मुहं जाव॥

मात्रक का ग्रहण न करने पर अनेक दोष होते हैं। यहां वारत्तग का दृष्टांत वक्तव्य है। प्रमाण हीन-अधिक। शोधि। अपवाद। परिभोग, ग्रहण, द्वितीयपद, लक्षण आदि मुख पर्यन्त। यह द्वार गाथा है। विस्तार आगे की गाथाओं में।

४०६५. मत्तअगेण्हणे गुरुगा, मिच्छत्ते अप्प-परपरिच्चाओ।

संसत्तगगहणम्मिं, संजमदोसा सवित्थारा॥

मात्रक का ग्रहण न करने पर चतुर्गुरुक का प्रायश्चित्त है।

शैक्ष आदि मिथ्यात्व को प्राप्त हो सकते हैं। यदि आचार्य के लिए पात्रक में ग्रहण करते हैं तो आत्मपरित्याग होता है। यदि स्वयं के लिए ग्रहण करता है तो आचार्य आदि के लिए नहीं लिया जाता, वे परित्यक्त हो जाते हैं। यदि संसक्त-भक्तपान ग्रहण करते हैं तो संयमदोष विस्तार के साथ (गा. ४६१, ७८२, २७७१ आदि) लगते हैं।

४०६६. वारत्तग पव्वज्जा, पुत्तो तप्पडिम देवथलि साहू।
पडियरणेगपडिग्गह, आयमणुव्वालणा छेओ॥

वारत्तग नगर के राजा अभयसेन का अमात्य वारत्तग प्रत्येक बुद्ध था। वह प्रव्रजित हो गया। उसके पुत्र ने उसकी प्रतिमा बनवा कर एक देवकुल में स्थापित कर दी। वह स्थली प्रवर्तित हो गई। एक साधु एक पात्र से वहां भिक्षा के लिए आया। उस पात्र में भिक्षा लेकर, भोजन कर, उसी में पानी लेकर स्थंडिल में गया। संज्ञा का व्युत्सर्जन कर, शुचि लेकर आया। लोगों ने देख लिया। उन्होंने उसकी उद्वालना-निष्काशना कर दी तथा अन्य साधुओं का भी व्यवच्छेद कर डाला। अतः मात्रक के ग्रहण के बिना ये दोष होते हैं।

४०६७. जो मागहओ पत्थो, सविसेसतरं तु मत्तगपमाणं।
दोसु वि दव्वग्गहणं, वासावासासु अहिकारो॥

मगध देश के प्रस्थ से सविशेषतर प्रमाणवाला होता है मात्रक। उस मात्रक से दोनों कालों-वर्षावास और ऋतुबद्ध में भक्त-पान लिया जा सकता है। वर्षावास में मात्रक का विशेष अधिकार है।

४०६८. सुक्खोल्लओदणस्सा, दुगाउतद्धाणमागओ साहू।
भुंजति एगट्ठाणे, एतं खलु मत्तगपमाणं॥

एक पात्र में शुष्क ओदन है और दूसरे पात्र में तीमन। उस तीमन से ओदन आर्द्र है। दो गव्युति से समायात साधु उसे खा लेता है। इसे मात्रक का प्रमाण जानना चाहिए।

४०६९. भत्तस्स व पाणस्स व, एगतरागस्स जो भवे भरिओ।
पज्जत्तो साहुस्स उ, बितियं पि य मत्तयपमाणं॥

भक्त या पानक अथवा इन दोनों में से एक से भरा पात्र एक साधु के लिए पर्याप्त होता है। यह दूसरे प्रकार से मात्रक का प्रमाण है।

४०७०. डहरस्सेमे दोसा, ओभावण खिंसणा गलंते य।
छण्हं विराहणा भाणभेदो जं वा गिलाणस्स॥

छोटे प्रमाण वाले मात्रक के ये दोष हैं। अपभ्राजना, खिंसना तथा उससे द्रव्य के नीचे गिरने से छह काय की विराधना होती है। भाजन का भेद हो सकता है तथा छोटे पात्र में लिया गया द्रव्य ग्लान के लिए अपर्याप्त होता है।

४०७१. पडणं अवंगुतम्मिं, पुढवी-तसपाण-तरुगणादीणं।
आणिज्जंते गामंतरातो गलणे य छक्काया॥

छोटा पात्र पूरा भरा हुआ हो और खुला हो तो उसमें पृथ्वी की रजें, त्रसप्राणी तथा वृक्षों के पत्ते आदि गिर सकते हैं। अथवा ग्रामान्तर से वैसा भरा हुआ पात्र लाने पर उसमें से गलित होते द्रव्य से छहकाय की विराधना होती है।

४०७२. अहियस्स इमे दोसा, एगतरस्सोग्गहम्मि भरितम्मि।
सहसा मत्तगभरणे, भारादि, विगिंचणियमादी॥

प्रमाण से बड़े पात्र के ये दोष हैं-भक्त अथवा पानक से उसको भर लेने पर, दूसरे मात्रक में अन्यद् ग्रहण करता है। उस मात्रक को सहसा भर लेने पर, दोनों के भार के कारण मुनि स्थाणु, कंटक आदि को बचाने में समर्थ नहीं होता, उससे आत्मविराधना होती है और ईर्या का सम्यग् शोधन न कर सकने के कारण संयमविराधना भी होती है। पात्रों को अत्यधिक भर लेने के कारण परिष्ठापन करना होता है। न करने पर, अत्यधिक भक्षण से ग्लानत्व हो सकता है।

४०७३. जइ भोयणमावहती, दिवसेणं तत्तिया चउम्मासा।
दिवसे दिवसे तस्स उ, बितिएणारोवणा भणिया॥

मुनि एक दिन में जितनी बार मात्रक में भक्त-पान लाता है उतने ही चतुर्लघु का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। प्रतिदिन मात्रक में लाता है, खाता है तो आरोपणा प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, जैसे-दूसरे दिन जितनी बार मात्रक में खाता है उतने चतुर्गुरु, तीसरे दिन षड्लघु, चौथे दिन षड्गुरु, पांचवें दिन छेद, छठे दिन मूल, सातवें दिन अनवस्थाप्य और आठवें दिन पारांचिक।

४०७४. अण्णाणे गारवे लुद्धे, असंपती य जाणए।
लहुगो लहुगा गुरुगा, चउत्थो सुद्धो उ जाणओ॥

अज्ञानवश हीनाधिक प्रमाण वाला मात्रक धारण करने पर लघुमास, गौरव के कारण धारण करने पर चतुर्लघु, लोभवश करने पर चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है। मात्रक की असंप्राप्ति के कारण हीनाधिक प्रमाण वाला मात्रक धारण करने वाला शुद्ध है। मात्रक के लक्षणों का ज्ञायक यदि हीनाधिक प्रमाण वाला मात्रक धारण करता है तो वह भी शुद्ध है।

४०७५. बाले वुह्हे सेहे, आयरिय गिलाण खमग पाहुणए।
दुल्लभ संसत्त असंथरंत अद्धाणकप्पम्मि॥

बाल, वृद्ध, शैक्ष, आचार्य, ग्लान, क्षपक, तथा प्राघूणक-ये मात्रक में परिभोग कर सकते हैं। दुर्लभ द्रव्य, भक्त-पान जिस पात्र में संसक्त हो, वैसी स्थिति में, असंस्तरण की

स्थिति में तथा अध्वानकल्प की स्थिति में—इन स्थितियों में मात्रक में भक्त-पान लिया जा सकता है।

४०७६. हरिण बीए चले जुत्ते, वच्छे साणे जलद्विए।

पृथ्वी संपातिमा सामा, महावाए महियाऽमिते॥

शकट हरित पर, बीज पर प्रतिष्ठित हो, चल हो, बैलों से जुता हुआ हो, उसके एक बछड़ा बंधा हो, शकट के नीचे कुत्ता हो, शकट जल के ऊपर अथवा सचित्त पृथ्वीकाय पर स्थित हो, संपातिम जीवों का उपद्रव हो, रात हो, महावात चल रहा हो, महिका गिर रही हो—इस प्रकार की स्थिति में थोड़ा या अमित पात्र लेप का ग्रहण अनुज्ञात नहीं है।

४०७७. पुव्वणहे लेवदाणं, लेवग्गहणं सुसंवरं काउं।

लेवस्स आणणा लिंपणा य जतणाय कायव्वा॥

पूर्वाह्न में लेप लाने के लिए जाए। लेपग्रहण कर सुसंवररूप से लेप का आनयन करे और फिर यतनापूर्वक लेप लगाए।

कप्पइ निग्गंधाण वा निग्गंधीण वा
भिन्नाइं वत्थाइं धारित्तए वा परिहरित्तए
वा॥

(सूत्र १०)

४०७८. अब्बोगडो उ भणितो, उवधिविभागो उ आदिसुत्तेसु।

सो पुण विभज्जमाणो, उवरिसुए वोगडो होति॥

आदिसूत्रों अर्थात् पूर्वसूत्रों में उपधि का विभाग सामान्यतः निरूपित हुआ है। वह उपधि का विभाग प्रस्तुत सूत्र में स्पष्टरूप में (विभाजित होकर) हुआ है, जैसे यह उपधि-विभाग जिनकल्पी मुनियों का, यह स्थविरकल्पी मुनियों का, यह आर्यिकाओं का।

४०७९. चोइसग पण्णवीसो, ओहोवधुवग्गहो अणेगविधो।

संधारपट्टमादी, उभयोपक्खम्मि णेयव्वो॥

उपधि के दो प्रकार हैं—औधिक उपधि और औपग्रहिक उपधि। जिनकल्पी मुनियों के औधिक उपधि ही होती है, औपग्रहिक नहीं। स्थविरकल्पी मुनियों के दोनों प्रकार की उपधि होती है। मुनियों के चौदह प्रकार की और साध्वियों के पचीस प्रकार की ओघ उपधि होती है। औपग्रहिक उपधि के अनेक प्रकार हैं, जैसे संस्तारक, पट्ट आदि। यह उभयपक्ष अर्थात् साधु-साध्वी दोनों के होती है।

४०८०. पत्तं पत्ताबंधो, पायडुवणं च पायकेसरिया।

पडलाइं रयत्ताणं, च गोच्छओ पायनिज्जोगो॥

४०८१. तिण्णेव य पच्छाया, रयहरणं चेव होइ मुहपोत्ती।

तत्तो य मत्तए खलु, चोइसमे कमढए होति॥

४०८२. उग्गहणंतग पट्टो, अड्ढोरुअ चलणिया य बोधव्वा।

अब्भित्तर-बाहिणियंसणी य तह कंचुए चेव॥

४०८३. उक्कच्छिय वेकच्छिय, संघाडी चेव खंधकरणी य।

ओहोवहिम्मि एते, अज्जाणं पण्णवीसं तु॥

आर्यिकाओं के पचीस प्रकार की उपधि—

१. पात्र	१४. कमढक
२. पात्रबंध	१५. अवग्रहान्तक
३. पात्रस्थापन	१६. पट्ट
४. पात्रकेसरिका	१७. अर्द्धोरुक
५. पटलिका	१८. चलनिका
६. रजस्त्राण	१९. अभ्यंतर निवसनी
७. गोच्छग	२०. बहिर्निवसनी
८, ९, १०. तीन पच्छादक	२१. कंचुक
११. रजोहरण	२२. औपकक्षिकी
१२. मुखवस्त्रिका	२३. वैकक्षिकी
१३. मात्रक	२४. संघाटी

२५. स्कंधकरणी

आर्यिकाओं की ये पचीस प्रकार की ओघ उपधि है।

४०८४. नावनिभो उग्गहणंतओ उ सो गुज्जदेसरक्खट्ठा।

सो य पमाणेण्को, घण-मसिणो देहमासज्ज॥

‘अवग्रह’ यह स्त्री की योनि की सामयिकी संज्ञा है। उसका अंतक अर्थात् वस्त्र अवग्रहान्तक कहलाता है। योनि का आकार नावा के सदृश होता है। उसकी रक्षा के लिए अवग्रहान्तक किया जाता है। वह प्रमाण से एक, सघन और मुलायम वस्त्र से बनाया जाता है। स्त्री के देह के अनुसार उसका निर्माण होता है।

४०८५. पट्टो वि होइ एक्को, देहपमाणेण सो उ भइयव्वो।

छादंतोग्गहणंतं, कडिबद्धो मल्लकच्छा वा॥

पट्ट भी गणना से एक तथा शरीर के अनुसार होता है। वह देह के अनुसार छोटा या बड़ा होता है। वह अवग्रहान्तक के दोनों पार्श्वों से ढंकता हुआ, कटिबद्ध होकर मल्लकक्षा की भांति होता है।

४०८६. अड्ढोरुगो वि ते दो, वि गिण्हिउं छादए कडीभागं।

जाणुप्पमाण चलणी, असिब्बिया लंखियाए व॥

अर्द्धोरुक भी दोनों—अवग्रहान्तक तथा पट्ट के ऊपर लेकर सारे कटिभाग को आच्छादित करता है। चलनिका जानुप्रमाणवाली होती है। वह नटिनी के परिधान की भांति बिना सिलाई की होती है।

४०८७. अंतोनिधंसणी पुण, लीणतरा जाव अद्धजंघातो।

बाहिर खुलगपमाणा, कडीय दोरेण पडिबद्धा॥

अन्तर्निवसनी कटिभाग से ऊपर-नीचे अर्द्धजंघा प्रमाण की होती है। वह पहनते समय शरीर से लीनतर होती है। बहिर्निवसनी कटिभाग से प्रारंभ होकर चरणगुल्फ प्रमाण की होती है। उसे डोरी से कटिभाग में बांधा जाता है।

४०८८. छादेति अणुकुचिते, उरुरुहे कंचुओ असिब्वितओ।

एमेव य उक्कच्छी, सा णवरं दाहिणे पासे॥

कंचुक अपने हाथ से दाईं हाथ प्रमाण लंबा और एक हाथ प्रमाण चौड़े कपड़े का किया जाता है। उसकी सिलाई नहीं होती। वह श्लथ स्तनों को आच्छादित करने के लिए उपयोग में आता है। कंचुक की भांति ही औपकक्षिकी होती है। वह दक्षिण पार्श्व में समचतुरस्र डेढ़ हाथ प्रमाण होती है तथा स्तनों तथा पीठ को आच्छादित करती है। वह वीटक से बद्ध वामपार्श्व में धारण की जाती है।

४०८९. वेगच्छिया उ पट्टो, कंचुकमुक्कच्छियं च छादेति।

संघाडीओ चउरो, तत्थ दुहत्था उ वसधीए॥

४०९०. दुन्नि तिहत्थायामा, भिक्खुद्धा एग एग उच्चारे।

ओसरणे चउहत्थाऽनिसन्नपच्छाङ्गी मसिणा॥

वैकक्षिकी नामक पट्ट कंचुक तथा औपकक्षिकी को आच्छादित करता है और उसे वामपार्श्व में पहना जाता है। तथा प्रत्येक साध्वी को चार संघाटियां कल्पती हैं—एक दो हाथ लंबी, दो तीन हाथ वाली और एक चार हाथ लंबी। ये चार संघाटियां हैं। इनमें से दो हाथ वाली संघाटी वसति में, तीन हाथ लंबी एक संघाटी भिक्षा के लिए जाते समय, और एक संघाटी उच्चार के लिए जाते समय तथा चार हाथ लंबी संघाटी व्याख्यान सुनने समवसरण में जाते समय धारण की जाती है। वह संघाटी अन्य संघाटियों से बृहत्तर प्रमाण वाली होती है। वह अनिषण्ण अवस्था के लिए है। अतः आर्थिकाएं बैठे नहीं, खड़े-खड़े ही अनुयोग आदि सुने। वह संघाटी स्कंध से लेकर पैरों तक आच्छादन करती है। वह मसृण होती है। उसको ऊपर ओढ़ने से प्रवचन की प्रभावना होती है।

४०९१. खंधकरणी उ चउहत्थविथरा वायविहुतरक्खुद्धा।

खुज्जकरणी उ कीरति, रूववतीणं कुडुहहेउं॥

स्कंधकरणी चार हाथ विस्तृत और समचतुरस्र होती है। वस्त्र को वायु से उड़ने से बचाती है। रूपवती श्रमणियों की निरूपता करने के लिए कुटुभ (कूबड़ेपन) के लिए कुब्जकरणी की जाती है। पीठ पर लपेट कर औपकक्षिकी और वैकक्षिकी से निषद्ध कर उससे कुटुभ (कुबड़ापन) किया जाता है।

४०९२. संघातिमेतरो वा, सव्वोऽवेसो समासओ उवधी।

पासगबद्धमङ्गुसिरो, जं चाऽऽङ्गणं तगं णेयं॥

उपरोक्त समस्त उपधि के संक्षेप में दो प्रकार हैं—संघातिम और इतर अर्थात् असंघातिम। असंघातिम उपधि पाशक-बद्ध-कसाबद्ध तथा अशुषिर अर्थात् असीवित होता है। जिसका आचरण पूर्व आचार्यों ने किया है, वह सारा यहां ज्ञातव्य है।

४०९३. उक्कोसओ जिणाणं, चउव्विहो मज्झिमो वि य तहेव।

जहण्णो चउव्विहो खलु, एत्तो थेराण वोच्छामि॥

जिनकल्पी मुनियों के उत्कृष्ट उपधि चार प्रकार की है—तीन कल्प और एक पात्र। मध्यम उपधि भी चार प्रकार की है—रजोहरण, पटलक, पात्रबंध तथा रजस्त्राण। जघन्य भी चार प्रकार की है—मुखपोतिका, पादकेसरिया, गोच्छग और पात्र-स्थापन। आगे स्थविरकल्पी मुनियों की उपधि के विषय में कहूंगा।

४०९४. उक्कोसो थेराणं, चउव्विहो छव्विहो य मज्झिमओ।

जहण्णो चउव्विहो खलु, एत्तो अज्जाण वोच्छामि॥

स्थविरकल्पी मुनियों के उत्कृष्ट और जघन्य उपधि जिनकल्पी मुनियों की भांति चार-चार प्रकार की है। उनके मध्यम उपधि छह प्रकार की है—रजोहरण, पटलक, पात्रक-बंध, रजस्त्राण, मात्रक और चोलपट्टक। आगे आर्थिकाओं की उपधि कहूंगा।

४०९५. उक्कोसो अट्टविहो, मज्झिमओ होइ तेरसविहो उ।

जहण्णो चउव्विहो खलु, एत्तो उ उवग्गहं वोच्छं॥

आर्थिकाओं की उत्कृष्ट उपधि के आठ प्रकार, मध्यम के तेरह प्रकार और जघन्य के चार प्रकार हैं। आगे औपग्रहिक उपधि का कथन करूंगा।

४०९६. पीढग णिसिज्ज दंडगपमज्जणी घट्टए डगलमादी।

पिप्पलग सूयि णहरणि, सोहणगदुगं जहण्णो उ॥

जघन्य औपग्रहिक उपकरण—पीढक, निषद्या, दंडक-प्रमार्जनी, घट्टक—लिस पात्र को चिकना करने का पत्थर, डगलक, पिप्पलक, सूची, नखहरणी, शोधनद्विक—कर्णशोधक, दंतशोधक।

४०९७. वासत्ताणे पणगं, चिलिमिणिपणगं दुगं च संथारे।

दंडादीपणगं पुण, मत्तगतिग पादलेहणिया॥

४०९८. चम्मतिगं पट्टदुगं, णायव्वो मज्झिमोवही एसो।

अज्जाण वारए पुण, मज्झिमए होति अतिरित्तो॥

मध्यम औपग्रहिक उपकरण—वर्षात्राण पंचक (बालमय, सूत्रमय, सूचीमय, कुटशीर्षक और छत्रक), चिलिमिलिपंचक (बालमयी, सूत्रमयी, वल्कमयी, कटमयी और दंडमयी), दो

प्रकार का संस्तारक—शुषिर और अशुषिर, दंडादिपंचक (दंडक, विदंडक, यष्टि, वियष्टि और नालिका), मात्रकत्रिक (खेलमात्रक, प्रस्रवणमात्रक, उच्चारमात्रक), पादलेखनिका, चर्मत्रिक (कृत्ति, तलिका, वध्र), पट्टद्विक—(संस्तारपट्ट तथा उत्तरपट्ट)—यह साधुओं की मध्यम उपधि है। आर्याओं के भी यही मध्यम उपधि है। उनके वारक अतिरिक्त होता है।

४०९९.अक्खा संथारो या, दुविहो एगंगिएतरो चव।
पोत्थगपणगं फलगं, बितियपदे होति उक्कोसो॥

उत्कृष्ट उपधि यह है—अक्ष—गुरु जब अनुयोग देते हैं तब उसके भंगों की चारणिका के लिए काम आने वाला उपकरण, दो प्रकार के संस्तारक—एकांगिक और इतर, पुस्तकपंचक और फलक—यह उत्कृष्ट औपग्रहिक उपधि है।

उग्गहवत्थ-पदं

नो कप्पइ निग्गंथाणं उग्गहणंतगं वा
उग्गहपट्टगं वा धारित्तए वा परिहरित्तए
वा॥

(सूत्र ११)

४१००.उभयम्मि वि अविसिद्धं, वत्थग्गहणं तु वण्णियं एयं।
जं जस्स होति जोग्गं, इदाणि तं तं परिकहेति॥

दोनों सूत्रों—भिन्न और अभिन्न—में अविशिष्ट प्रतिपादन है—यह साधुओं को कल्पता है और यह नहीं, ऐसा उल्लेख नहीं है। पहले सूत्र में वस्त्रग्रहण वर्णित है। अब जिसके जो योग्य है, उसके लिए उस उसका परिकथन किया जाता है।

४१०१.निग्गंथोग्गहधरणे, चउरो लहुगा य दोस आणादी।
अतिरेगउवहि तह लिंगभेद बितियं अरिसमादी॥

यदि निर्ग्रन्थ अवग्रहान्तक और पट्ट को धारण करते हैं तो चतुर्लघु का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष प्राप्त होता है। वह अतिरिक्त उपधि होने के कारण अधिकरण भी हो सकता है। तथा लिंगभेद होता है—साध्वी का लिंग धारण किए हुए के समान होता है। द्वितीयपद अर्थात् अपवादपद के अर्श आदि रोग के समय अवग्रहान्तक और पट्टक को धारण किए के समान होता है।

४१०२.भगंदलं जस्सऽरिसा व णिच्चं,
गलंति पूयं लसि सोणियं वा।
उड्ढाह-सज्झाय-दयाणिमित्तं,
सो उग्गहं बंधति पट्टगं च॥
जिसके भगन्दर या अर्श हो और जिनसे नित्य पूत—

मवाद, रसी—पीव रक्त आदि बहता हो तो उड्ढाह, स्वाध्याय और दया के निमित्त मुनि अवग्रहान्तक और पट्टक बांधता है। यह अपवाद पद है।

४१०३.पूय-लसिगा उवस्सए,

धोव्वति असहुस्स पट्टो रुहिरं च।

उग्गह पट्टं च सहू,

वीयारे लोहियं धुवति॥

पूत और रसी—मवाद और पीव से अस्वाध्यायिक नहीं होता, अतः उसका प्रक्षालन उपाश्रय में ही किया जाता है। यदि भगंदर का रोगी बाहर जाने में असमर्थ हो तो उसका पट्ट और रुधिर उपाश्रय में मात्रक में धोकर वह पानी उपाश्रय में दूर फेंका जाता है। यदि वह बाहर जाने में समर्थ हो तो विचारभूमी में जाकर वह स्वयं अवग्रहान्तक और रुधिर का प्रक्षालन करता है।

४१०४.ते पुण होंति दुगादी, दिवसंतरिएहिं बज्झए तेहिं।
अरुगं इहरा कुच्छइ, ते वि य कुच्छति णिच्चोला॥

अवग्रहान्तक और पट्ट दो, तीन आदि रखने चाहिए जिससे कि उसका उपयोग दिवसान्तर—एक दिन छोड़कर दूसरे दिन किया जा सकता है, उनसे ब्रण बांधा जा सकता है। प्रतिदिन यदि एक ही पट्ट बांधा जाता है तो वह ब्रण कुथित हो जाता है तथा वे पट्ट आदि भी सदा आर्द्र रहकर कुथित हो जाते हैं।

कप्पइ निग्गंथीणं उग्गहणंतगं वा
उग्गहपट्टगं वा धारित्तए वा परिहरित्तए
वा॥

(सूत्र १२)

४१०५.निग्गंथीण अगिणहणे,चउरो गुरुगा य आयरियमादी।
तच्चण्णिय ओगाहण, णिवारणऽण्णेसि ओहसणं॥

यदि साध्वियां अवग्रहान्तक और पट्टक ग्रहण नहीं करती हैं तो चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है। यदि आचार्य प्रस्तुत सूत्र का कथन प्रवर्तिनी को नहीं करते हैं, प्रवर्तिनी आर्याओं को नहीं करती हैं तो चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यदि आर्यिकाएं इसको स्वीकार नहीं करती हैं तो मासलघु का प्रायश्चित्त आता है। अवग्रहान्तक और पट्टक का उपयोग न कर, भिक्षा के लिए गई हुई साध्वी के तच्चन्निक—रुधिर प्रसृत हो गया। अन्य दिवसों में अवग्रहान्तक और पट्टक के कारण वह प्रसृत नहीं हुआ, परन्तु उस दिन प्रसृत रुधिर को देखकर लोग उपहास करने लग जाते हैं।

४१०६. भिक्खाइ गयाए निग्गयं,

रुहिरं दद्दुमसंजता वदे।

धिगहो! बत! केणऽयं जणो,

दोसमिणं असमिक्ख दिक्खिओ ॥

भिक्षा के लिए गई हुई साध्वी के रुधिर को प्रसृत होते हुए देखकर असंयत व्यक्ति कहते हैं—लोगो! देखो, देखो, किसने स्त्रियों के इस दोष को देखे बिना, उसकी समीक्षा किए बिना, इनको दीक्षित कर डाला।

४१०७. छक्कायाण विराहण, पडिगमणादीणि जाणि ठाणाणि।

तन्भाव पिच्छिऊणं, बितियं असती अहव जुण्णा ॥

तथा शोणित के परिगलित होने पर छह काय की विराधना होती है। वह साध्वी प्रतिगमन के जो स्थान हैं उनमें प्रतिगमन करने से प्रवर्तिनी को प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। शोणित के परिगलन भाव को देखकर तरुण व्यक्ति उपसर्ग कर सकते हैं। इसमें अपवादपद यह है कि यदि अवग्रहान्तक और पट्टक न हो अथवा साध्वी वृद्ध हो तो उनको ग्रहण न भी करे।

४१०८. दिट्ठं अदिट्ठव्व महं जणेणं,

लज्जाए कुज्जा गमणाइगाइं।

लज्जाए भंगो व हवेज्ज तीसे,

लज्जाविणासे व स किं न कुज्जा ॥

साध्वी सोचती है—जनता ने जो मेरा अद्रष्टव्य था उसे देख लिया है, अतः अब मैं यहां नहीं रह सकती, यह सोचकर वह लज्जावश प्रतिगमन आदि कर लेती है। अथवा उस आर्या के लज्जा का भंग हो जाने पर वह क्या अनर्थ नहीं कर सकती?

४१०९. तं पासिउं भावमुदिण्णकम्मा,

पेल्लेज्ज सज्जेज्ज व सा वि तत्थ।

तं लोहियं वा वि सरक्खमादी,

विज्जा समालब्भऽभिजोययंति ॥

उस रुधिर के परिगलनरूप भाव को देखकर कुछेक तरुणों के कर्मों की उदीरणा होती है और तब वे उस साध्वी को प्रतिसेवना के लिए प्रेरित करते हैं। तब वह साध्वी भी उनसे संग करती है, प्रतिसेवना करती है। अथवा उस रक्तरंजित साध्वी को कापालिक आदि प्राप्त कर विद्याप्रयोग से उसे वश में कर लेते हैं।

४११०. अंतो घरस्सेव जतं करेती,

जहा णडी रंगमुवेउकामा।

लज्जापहीणा अह सा जणोघं,

संपप्प ते ते पकरेति हावे ॥

जो नटिनी रंगस्थान-नाट्यस्थान में काम करना चाहती है, वह प्रारंभ में घर के मध्य लज्जा से अभिनय करती है और जब कालान्तर में उसकी लज्जा निकल जाती है तब वह लज्जारहित होकर लोगों के मध्य हावभाव दिखाती हुई नर्तन करती है। (उसी प्रकार आर्या भी उपाश्रय में लज्जावश सुप्रावृत होकर भिक्षाटन करने निकलती है। परंतु तरुणों को देखकर सहज ही लज्जा को जीत लेती है।)

४१११. असईय णंतगस्स उ,

पणवण्णुत्तिण्णिगा व ण उ गिण्हे।

निग्गमणं पुण दुविहं,

विधि अविही तत्थिमा अविही ॥

अवग्रहान्तक के अभाव में पचपन वर्षों को पार कर चुकी आर्या अवग्रहान्तक आदि को ग्रहण न करे तो भी कोई आपत्ति नहीं है। भिक्षा के लिए निर्गमन के दो प्रकार हैं—विधियुक्त और अविधियुक्त। अविधि यह है—

४११२. उग्गहमादीहि विणा,

दुणियत्था वा वि उक्खुलणियत्था।

एक्का दुवे य अविही,

चउगुरु आणा य अणवत्था ॥

अवग्रहान्तक के बिना भिक्षा के लिए जाना, उचितरूप के कपड़े न पहनना, कपड़े पहनने में विधि का पालन न करना, एक या दो आर्याओं का इस प्रकार भिक्षा के लिए जाना—यह सारी अविधि है। इसमें चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त, आज्ञाभंग तथा अनवस्था दोष प्राप्त होता है।

४११३. मिच्छत्त पवडियाए, वाएण व उद्धुयम्मि पाउरणे।

गोयरगया व गहिया, धरिसणदोसे इमे लहति ॥

कोई साध्वी अवग्रहान्तक आदि के बिना भिक्षा के लिए जाती है और आकस्मिकरूप में मूर्च्छा से नीचे गिर जाती है। उसका प्रावरण हवा से उड़कर अस्त-व्यस्त हो जाता है। तब उसको अपावृत देखकर लोग मिथ्यात्व को प्राप्त हो जाते हैं। गोचराग्र गई हुई किसी आर्या को विट ग्रहण कर लेता है तब वह इन धर्षणदोषों को प्राप्त होती है। (वे दोष ४११६-४११८ में बताए जायेंगे।)

४११४. अह्ठोरुगा-दीहणियासणादी,

सारक्खिया होति पदे वि जाव।

तिण्हं पि बोलेण जणोऽभिजातो,

एक्कं बरा खिप्पमुवेति णासं ॥

विधियुक्तगमन के गुण ये हैं—जो आर्या अधोरुक तथा दीर्घवस्त्र से सुप्रावृत होती है, वह प्रत्येक स्थान पर संरक्षित होती है। तथा तीन आर्याओं के चिल्लाने से अभिजात—शिष्ट

व्यक्ति एकत्रित हो जाते हैं। जो आर्या एक वस्त्र धारण कर निर्गमन करती है वह शीघ्र ही संयम से भ्रष्ट हो जाती है।

४११५. उव्वेल्लिए गुज्झमपस्सतो से,

हाहक्कितस्सेव महाजणेणं।

धिद्धि त्ति ओथुक्कित-तालियस्सा,

पत्तो समं रण्णदवो व वेदो ॥

विधियुक्त निर्गमन करने वाली आर्या को यदि कोई उद्वेलित करता है, बाह्य वस्त्रों को अपसृत कर देता है परन्तु जब तक वह आर्या के गृह्य प्रदेश को नहीं देख लेता तब तक आर्या द्वारा हाहाकार करने पर, महाजनों द्वारा उस व्यक्ति को ओथुक्कित-अत्यन्त धिक्कार दिए जाने पर तथा ताड़ित किए जाने पर, उस व्यक्ति का मोहोदय अरण्य के दावानल की भांति शांत हो जाता है।

४११६. तत्थेव य पडिबंधो, पडिगमणादीणि जाणि ठाणाणि।

डिंडी य बंधचेरे, विधिणिग्गमणे पुणो वोच्छं ॥

वह साध्वी जिस कारण से (अविधिनिर्गमन आदि) धर्षित होती है उसी के प्रति अनुरक्त हो जाती है और वह प्रतिगमन आदि जितने स्थानों का सेवन करती है, उनसे निष्पन्न प्रायश्चित्त प्रवर्तिनी को वहन करना पड़ता है। यदि वह आर्या ऋतुसमय में गृहीत हो तो डिंडिमबंध हो सकता है। ब्रह्मचर्य की विराधना तो होती ही है। विधियुक्त निर्गमन करने के अनेक गुण कहूंगा।

४११७. न केवलं जा उ विहम्मिआ सती,

सवच्चतामेति मधुमुहे जणे।

उवेति अन्ना वि उ वच्चपत्तंतं,

अपाउता जा अणियंसिया य ॥

केवल वही आर्या जो शीलव्रत से च्यावित कर दी गई है, मधुमुख-दुर्जन लोगों में सवाच्यता-कलंकित नहीं होती किन्तु अन्य साध्वियां भी 'वाच्यपात्रता'-निन्दनीय योग्यता को प्राप्त होती हैं। तथा लोग उनको भी कलंकित करते हैं जो साध्वियां अप्रावृत और जो अनिवसित-सही ढंग से कपड़े पहने हुए न हों।

४११८. ण भूसणं भूसयते सरीरं,

विभूसणं सील हिरी य इत्थिए।

गिरा हि संखारजुया वि संसती,

अपेसला होइ असाहुवादिणी ॥

कोई आभूषण शरीर को भूषित नहीं करते। स्त्रियों का आभूषण है शील और लज्जा। संस्कारयुक्त वाणी भी यदि सभा में असाधुवादिनी होती है तो वह शोभित नहीं होती। (इसी प्रकार स्त्री भी यदि विविध आभूषणों से भूषित

होने पर भी शीलरहित और लज्जाहीन हो तो वह शोभित नहीं होती।)

४११९. पट्टुड्होरुय चलणी, अंतो तह बाहिरा णियंसणिया।

संघाडि खुज्जकरणी, अणागते चेव सतिकाले ॥

पट्ट, अधोरुक, चलनिका, अंतर्निवसनी और बहिर्निवसनी संघाटिका, कुब्जकरणी आदि उपकरणों से भिक्षा-काल से पहले ही आर्या को प्रावृत रहना चाहिए।

४१२०. उग्गहणमादिएहिं, अज्जाओ अतुरियाउ भिक्खस्स।

जोहो व्व लंखिया वा, अगिण्हणे गुरुण आणादी ॥

साध्वियां भिक्षा के लिए अनातुर रहती हुई अवग्रहान्तक आदि उपकरणों से स्वयं को भावित रखती है। जैसे योद्धा संग्राम के लिए जाते समय कवच आदि से सुसन्नद्ध होता है तथा नटिनी रंगभूमी में प्रवेश करने से पूर्व अपने आपको सुसज्जित करती है वैसे ही आर्या भी अवग्रहान्तक आदि से सुप्रावृत होकर उपाश्रय से बाहर निकलती है। ऐसा न करने से चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष प्राप्त होते हैं।

४१२१. जोहो मुरुंडजडो, णाडइणी लंखिया कतलिखंभो।

अज्जाभिक्खग्गहणे, आहरणा होंति णायव्वा ॥

आर्या के भिक्षाग्रहण के समय जिन उपकरणों का प्रावरण होता है, तत्संबंधी पांच उदाहरण हैं—१. योद्धा २. मुरुंड राजा का हाथी ३. नर्त्तकी ४. नटिनी ५. केले का तना।

४१२२. वणिओ पराजितो मारिओ व संखे अवम्मितो जोहो।

सावरणे पडिपक्खो, भयं च कुरुते विवक्खस्स ॥

जो योद्धा संग्राम में अवर्मित होकर जाता है, वह व्रणित, पराजित होता है या मारा जाता है। और जो योद्धा इसके प्रतिपक्ष में अर्थात् वर्मित होकर संग्राम में प्रवेश करता है वह न व्रणित होता है और न पराजित होता है और न मारा जाता है। प्रत्युत वह शत्रुओं के लिए भय पैदा करता है। इसी प्रकार आर्या भी उचित उपकरणों से प्रावृत हुए बिना निर्गमन करती है तो वह तरुणों द्वारा उपद्रुत होती है। सुप्रावृत आर्या उनके लिए अगम्य होती है।

४१२३. विहवससा उ मुरुंडं, आपुच्छति पव्वयामडहं कत्थ।

पासंडे य परिक्खति, वेसग्गहणेण सो राया ॥

४१२४. डोंबेहिं च धरिसणा, माउग्गामस्स होइ कुसुमपुरे।

उन्भावणा पवयणे, णिवारणा पावकम्मणं ॥

४१२५. उज्झसु चीरे सा यावि णिवपहे मुयति जे जहाबाहिं।

उच्छूरिया णडी विव, दीसति कुप्पासगादीहिं ॥

४१२६. धिद्धिक्कतो य हाहक्कतो य लोएण तज्जितो मेंटो।

ओलयणट्टितेण य, णिवारितो रायसीहेण ॥

मुरुंड राजा का हाथी—

कुसुमपुर नगर के राजा मुरुंड की बहिन विधवा थी। उसने एक दिन राजा से पूछा—मैं कहां प्रव्रजित होऊं? तब राजा पाषंडियों का वेश ग्रहण कर उसकी परीक्षा करनी चाही। उसने अपने महावतों को आदेश दिया कि कुसुमपुर में पाषंडियों की स्त्रियों की धर्षणा करो। उनसे कहो—राजाज्ञा है। सभी स्त्रियां कपड़ों को उतारकर यहां रख दो, अन्यथा हाथी के पैरों तले कुचल दी जाओगी। भय के कारण वे सभी स्त्रियां अपने कपड़े उतार कर नग्न हो गईं। इतने में ही एक साध्वी राजपथ पर आ गई। महावत ने उससे भी कपड़े उतारने के लिए कहा। साध्वी ने एक-एक कर सारे बाह्य कपड़े उतार दिए। जब वह (नटी की भांति) कंचुकी आदि से सुप्रावृत दीखी तब लोगों ने आक्रन्द किया और धिक्कार करते हुए हाहाकार किया और महावत की तर्जना की। गवाक्ष में बैठे राजा ने यह सारा दृश्य देखा, महावत की निवारणा की। तब राजा ने अपनी विधवा बहिन को अर्हत् तीर्थ में प्रव्रजित होने की अनुज्ञा दी।

४१२७. पाए वि उक्खिवंती, न लज्जती णट्टिया सुणेवत्था।

उच्छूरिया व रंगम्मि लंखिया उप्पयंती वि॥

जैसे सुनेपथ्य वाली नर्तकी पैरों को ऊपर उछालती हुई भी लज्जित नहीं होती तथा नटिनी रंगभूमी में अनेक प्रकार के करतब दिखाती हुई भी यदि 'उच्छूरित'—सुप्रावृत होती है तो लज्जित नहीं होती, इसी प्रकार आर्या भी सुप्रावृत होने पर लज्जित नहीं होती।

४१२८. कयलीखंभो व जहा, उव्वेल्लेउं सुदुक्करं होति।

इय अज्जाउवसग्गे, सीलस्स विराहणा दुक्खं॥

जैसे बहुलपटल वाले कदली स्तम्भ के पटलकों को उधेड़ने में अत्यंत कष्ट होता है, वैसे ही अनेक उपकरणों से प्रावृत आर्यिका को उपसर्गित करने वाले व्यक्ति के लिए उसके शील की विराधना करना दुष्कर होता है।

४१२९. एक्का मुक्का एक्का य धरिसिया

णिवेदण जतणाय होति कायव्वा।

बाहाड न जहितव्वा,

सेज्जतरादी सयं वा वि॥

एक कोई आर्या सुप्रावृत होकर विधिपूर्वक उपाश्रय से निर्गत हुई। वह दूसरों द्वारा गृहीत होने पर भी मुक्त हो गई। दूसरी आर्या विधिपूर्वक निर्गत न होने के कारण धर्षित हो गई। सभी आर्यिकाएं यतना को नहीं जानतीं, इसलिए गुरु को निवेदन करना चाहिए। यदि वह धर्षित आर्या प्रसव करने

वाली हो तो भी उसका परित्याग नहीं करना चाहिए। शय्यातर या स्वयं उसकी यथोचित क्रिया संपादित करनी चाहिए।

४१३०. विहिण्णग्गता उ एक्का, गोयरियाए गहिता गिहत्थेहिं।

संवरियपभावेण य, फिडिया अविराहियचरित्ता॥

एक कोई आर्या उपाश्रय से विधिपूर्वक निर्गमन कर गोचरचर्या में घूम रही है। गृहस्थों ने उसे पकड़ लिया। उसके सुप्रावरण के प्रभाव से गृहस्थ उसके चारित्र की—शील की विराधना नहीं कर सके। वह वहां से छिटक गई।

४१३१. लोएण वारितो वा, दडूण सयं व तं सुणेवत्थं।

सुद्धिं तुवसंतो, सविम्हओ खामयति पच्छा॥

एक व्यक्ति आर्या को धर्षित कर रहा था तब लोगों ने उसे वारित किया अथवा स्वयं उसने आर्या को सुप्रावृत देखकर, इनका धर्म सुदृष्ट है ऐसा सोचकर वह उपशांत हो गया और आश्चर्यचकित होकर उसने आर्या से क्षमायाचना की।

४१३२. णाभोग पमादेण व, असती पट्टस्स णिग्गया गहणे।

विहिण्णग्गतमाहच्च व, बाहाडितधाडणे गुरुगा॥

कोई आर्या अनाभोग अर्थात् अत्यन्त विस्मृति अथवा प्रमाद के कारण अथवा अवग्रहपट्ट के अभाव में भिक्षा के लिए निर्गत हुई, इस प्रकार किसी ने उसे पकड़ लिया, अथवा विधिपूर्वक निर्गत आर्या को कदाचित् किसी ने पकड़ लिया तो गुरु के पास आकर निवेदन करना चाहिए। वह यदि प्रसवधर्मा हो गई हो और कोई यदि उसे निष्काशित कर देता है तो उसे चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

४१३३. निज्जूढ पदुद्धा सा, भणेइ एतेहिं चेव कतमेतं।

राय-गिहीहि सयं वा, तं च पसासंति मा बितियं॥

निष्काशित होकर वह साधुसंघ के प्रति प्रद्विष्ट हो सकती है और कहने लगती है कि इन साधुओं ने ही मेरे साथ ऐसा किया है। जिस व्यक्ति ने उस आर्या के साथ ऐसा अनर्थ किया है, राजा उस पर अनुशासन करता है या गृहस्थ उसे शिक्षा देते हैं या आचार्य यदि समर्थ हों तो वे स्वयं उस व्यक्ति पर शासन करते हैं, जिससे कि वह पुनः ऐसा कर्म न करे।

४१३४. दुविहा णायमणाया, अगीयअण्णाय सण्णिमादीसु।

सम्भावे सिं कहित्ते, सारिंती जा थणं पियती॥

वह प्रसूता साध्वी दो प्रकार की होती है—ज्ञातगर्भवाली और अज्ञातगर्भवाली। जो अज्ञातगर्भा है उसे अगीतार्थ मुनि न जान पाए ऐसे संज्ञी गृहस्थों के कुलों में स्थापित करते हैं।

उन श्रावकों को वस्तुस्थिति से अवगत करा दिया जाता है। वे उसकी पालना तब तक करते हैं जब तक उसके द्वारा प्रसूत शिशु स्तन्यपान करता है।

४१३५. जत्थ उ जणेण णात्तं,

उवस्सए चेव तत्थ ण य भिक्खं।

किं सक्का छड्डेउं,

बेंति अगीते असति सड्डे ॥

जनता ने जिसके गर्भ को जान लिया उस आर्या को उपाश्रय में ही रखा जाता है। उसे भिक्षा के लिए नहीं भेजा जाता। अन्य साध्वियां उसका पोषण करती हैं। अगीतार्थ कहते हैं—ऐसे संग्रह से क्या प्रयोजन? आचार्य कहते हैं—क्या उस स्थिति में उसको छोड़ना शक्य हो सकता है? यदि वे अगीतार्थ इसे स्वीकार नहीं करते तो श्रावकों को प्रजापित करते हैं।

४१३६. दुरतिक्रमं खु विधियं,

अवि य अकामा तवस्सिणी गहिता।

को जाणति अण्णस्स वि,

हवेज्ज तं सारवेमो णं ॥

यह स्थिति दुरतिक्रम है। क्योंकि किसी दुरात्मा ने आर्या के साथ ऐसा अनर्थ कर डाला। उसके न चाहने पर भी बलात् उस पापात्मा ने उस तपस्विनी आर्या के साथ ऐसा कुकर्म कर डाला तो कौन जान सकता है कि अन्य आर्या के साथ भी ऐसा वृत्तान्त न हो। इसलिए वर्तमान में हम इस आर्या की परिपालना करते हैं।

४१३७. मा य अवण्णं काहिह, किं ण सुत्तं केसि-सच्चईणं भे।

जम्मं ण य वयभंगो, संजातो तासि अज्जाणं ॥

इस आर्या की अवज्ञा न करें। क्या केशि और सत्यकी के जन्म के विषय में नहीं सुना? उन दोनों आर्याओं का व्रतभंग भी नहीं हुआ।^३

४१३८. अवि य हु इमेहिं पंचहिं, ठाणेहिं थी असंवसंती वि।

पुरिसेण लभति गब्भं, लोएण वि गाइयं एयं ॥

इन पांच स्थानों से स्त्री पुरुष के साथ असंवास करती हुई भी गर्भ को धारण करती है। हम ही ऐसा नहीं कहते लोग भी यही कहते हैं।

४१३९. दुब्बियड-दुण्णिसण्णा,

सयं परो वा सि पोग्गले छुभति।

वत्थे वा संसड्डे,

दगआयमणेण वा पविसे ॥

वे पांच स्थान ये हैं—

१. नग्न अवस्था में विरूपतया उपविष्ट स्त्री, पुरुष द्वारा निसृष्ट आसन्नस्थ शुक्रपुद्गलों को ग्रहण करने पर।

२. स्वयं शुक्रपुद्गलों को योनि में प्रवेश कराने पर।

३. दूसरा कोई उसकी योनि में शुक्रपुद्गलों का प्रक्षेप करने पर।

४. शुक्रपुद्गलों से संसृष्ट वस्त्र का योनि से स्पृष्ट होने पर।

५. पूर्वपतित शुक्रपुद्गल युक्त पानी से आचमन (शौच) करने पर।

वे पुद्गल योनि में प्रवेश कर लेते हैं।

४१४०. अविदिय जण गब्भम्मि य,

सण्णीमादीसु तत्थ वऽण्णत्था।

लाढेंति फासुणं,

लिंगविवेगो य जा पिबति ॥

लोगों को आर्या के गर्भ की जानकारी न होने पर आचार्य उस आर्या को श्रावक, यथाभद्रक गृहस्थों के घर में, उसी गांव में या अन्यत्र ग्राम में स्थापित करते हैं। वे श्रावक आदि उस आर्या का प्रासुक अन्न-जल से निर्वाह करते हैं। जब तक प्रसूत संतति स्तन्यपान करती है तब तक उस आर्या का लिंगविवेक कर देना चाहिए।

४१४१. एएसिं असतीए, सण्णायग-णालबद्धकिट्ट फासुं।

अण्णो वि जो परिणतो, स सिद्धवेसेतरीऽगारी ॥

यदि गांव में श्रावक आदि न हों तो आर्या को उसके संज्ञातक के घर में रखा जाए। यदि वहां संज्ञातक भी न हो तो जो नालबद्ध वृद्ध मुनि हो तो उसको श्रावक का वेष धारण कराकर, आर्या को गृहस्थ वेश कराकर दोनों साथ रहे और प्रासुक आहार-पानी से निर्वाह करे। यदि नालबद्ध संयत न हो तो अन्य गृहस्थ जो परिणत हो, उसे सिद्धपुत्रवेश धारण कराकर, आर्या को गृहस्थ वेश धारण कराकर स्थापित करे।

४१४२. मूलं वा जाव थणा, छेदो छग्गुरुग जं चऽधालहुअं।

बितियपदे असतीए, उवस्सए वा अहव जुण्णा ॥

यदि वह आर्या प्रतिसेवना काल में हर्षित हुई हो तो मूल, गर्भ रहा है यह जानकर प्रसन्न हुई हो तो छेद, अपत्य हुआ है, यह जानकर हर्षित हुई हों तो षड्गुरु प्रायश्चित्त आता है। यदि वह किसी भी स्थिति में हर्षित

३. इनकी कथानक पंचकल्प और आवश्यक टीका में है—दो आर्यिकाओं से इनका जन्म हुआ। आर्याओं ने पुरुष का संवास नहीं किया। फिर भी संयोगवश शुक्रबीज योनि में प्रविष्ट हुआ और दोनों ने प्रसव कर डाला।

नहीं होती तो यथालघु प्रायश्चित्त का विधान है। जब तक उसका अपत्य स्तन्य-पानोपजीवी होता है तब तक उस आर्या को तपोर्ह प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता। अपवादपद में अवग्रहान्तक के अभाव में, उपाश्रय में रहती हुई अथवा वृद्ध आर्या हो तो अवग्रहान्तक को ग्रहण न भी कर सकती है।

४१४३. सेविज्जन्ते अणुमए, मूलं छेओ तु डिंडिमं विस्स।
होहिति सहातगं मे, जातं दडूण छग्गुरुगा॥

प्रतिसेवना का अनुमोदन करने पर मूल, गर्भ को देखकर हर्षित होने पर छेद, होने वाला पुत्र मेरा सहायक होगा, यह मानने पर षड्गुरु का प्रायश्चित्त आता है।

४१४४. तेण परं चउगुरुगा, छम्मासा जा ण ताव पूरिति।
जा तु तवारिह सोही, अणवत्थणिते ण तं देंती॥

प्रसव के अनन्तर छह मास जब तक पूरे नहीं होते तब तक वह आर्या जहां जहां आनंदित होती है, उसे चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। जब तक उसका अपत्य स्तन्यपान से विरत नहीं हो जाता तब तक उसे तपोर्ह प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता।

४१४५. मेहुण्णे गब्भे आहिते य सातिज्जियं जति ण तीए।
परपच्चया लहुसगं, तहा वि से दिति पच्छित्तं॥

प्रतिसेव्यमान मैथुन के समय तथा गर्भ रह जाने पर भी उस आर्या ने उसका अनुमोदन नहीं किया, फिर दूसरों के प्रत्यय के लिए आचार्य उसे लघु प्रायश्चित्त देते हैं।

४१४६. खिसाए होंति गुरुगा,
लज्जा णिच्छक्कतो य गमणादी।

दप्पकते वाऽऽउट्टे,

जति खिसति तत्थ वि तहेव॥

जो उस आर्या की खिसना करता है उस मुनि या साध्वी को चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। तिरस्कृत होने पर वह आर्या लज्जा से प्रतिगमन कर सकती है अथवा और अधिक निर्लज्ज हो सकती है। अथवा दर्प से उसने प्रतिसेवना की, फिर आलोचना आदि कर प्रतिनिवृत्त हो गई। उस आर्या की भी जो कोई खिसना करता है, वह भी चतुर्गुरु प्रायश्चित्त का भागी होता है।

४१४७. उम्मग्गेण वि गंतुं, ण होति किं सोतवाहिणी सलिला।

कालेण फुंफुगा वि य, विलीयते हसहसेऊणं॥

क्या उन्मार्ग में बहने वाली नदी स्रोतोवहिनी-मार्गगामी नहीं होती? जाज्वल्यमान करीषाग्नि भी कालान्तर में विलीन हो जाती है। वैसे ही उद्दीप्त कामाग्नि भी कालान्तर में उपशांत हो जाती है।

वत्थगहण-पदं

निग्गंथीए य गाहावइकुलं
पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठाए चेलट्टे
समुप्पज्जेज्जा, नो से कप्पइ अप्पणो
नीसाए चेलं पडिग्गाहित्तए, कप्पइ से
पवत्तिणिनीसाए चेलं पडिग्गाहित्तए।

नो तत्थ पवत्तिणी सामाणा सिया जे
तत्थ सामाणे आयरिए वा उवज्झाए वा
पवत्ती वा थेरे वा गणी वा गणधरे वा
गणावच्छेइए वा, जं चण्णं पुरओ कट्टु
विहरइ कप्पइ से तन्नीसाए चेलं
पडिग्गाहित्तए॥

(सूत्र १३)

४१४८. नियमा सचेल इत्थी, चालिज्जति संजमा विणा तेणं।

उग्गहमादीचेलान गेण्णे तेण जोगोऽयं॥

नियमतः स्त्री-निर्ग्रन्थी सचेल ही होती हैं। वस्त्रों के बिना वह संयम से च्युत हो जाती है। यह प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है। इसलिए अवग्रहान्तक आदि वस्त्रों के ग्रहण की विधि बताई जाती है। यही इस सूत्र का योग है, संबंध है।

४१४९. चेलेहि विणा दोसं, णाउं मा ताणि अप्पणा गेण्णे।

तत्थ वि ते च्चिय दोसा, तव्वारणकारणा सुत्तं॥

वस्त्रों के बिना आर्या के अनेक दोष होते हैं, यह जानकर वे आर्याएं स्वयं वस्त्र ग्रहण न करें। क्योंकि स्वयं वस्त्र ग्रहण करने में वे ही दोष होते हैं जो पहले वस्त्र के ग्रहण न करने पर होते हैं। प्रस्तुत सूत्र स्वयं के ग्रहण का प्रतिषेध करने के लिए है।

४१५०. सयगहणं पडिसेहति, चेलग्गहणं ण सव्वसो तासिं।

संडासतिरो वण्णी, ण डहति कुरुए य किच्चाइं॥

प्रस्तुत सूत्र स्वयं के ग्रहण का प्रतिषेध करता है, न सर्वथा उनके वस्त्रों का प्रतिषेध करता है। संडासी से गृहीत अग्नि नहीं जलाती प्रत्युत धान्य पकाना आदि अनेक कार्य करती है। इसी प्रकार आर्याओं के लिए साधुओं द्वारा वस्त्र-ग्रहण दूषित नहीं होता, प्रत्युत वह उनकी साधुचर्या में सहायक होता है।

४१५१. चेलट्टे पुव्व भणिते, पडिसेहो कारणे जहा गहणं।

णवरं पुण णाणत्तं, णीसागहणं ण उ अणीसा॥

पूर्व अर्थात् प्रथम उद्देशक में वस्त्र विषयक जो चर्चा है तथा आर्याओं को स्वयं वस्त्र-ग्रहण करने का प्रतिषेध किया गया है और कारण में ग्रहण करने की अनुज्ञा है, उसी प्रकार यहां भी समझना चाहिए। यहां विशेष इतना ही है कि यदि आर्याएं स्वयं वस्त्रग्रहण करती हैं तो वे किसी की निश्राय में करें, अनिश्राय में नहीं। (वृत्तिकार ने निश्रा को इस प्रकार समझाया है—आर्या प्रवर्तिनी को वस्त्रदाता के विषय में बताती है। प्रवर्तिनी गणधर को निवेदन करती है। गणधर स्वयं जाकर वस्त्र को परीक्षाशुद्ध कर ग्रहण करता है। यह निश्रा है।)

४१५२. आयरिओ गणिणीए,

पवत्तिणी भिक्खुणीण ण कधेति।

गुरुगा लहुगा लहुगो,

तासिं अप्पडिसुणंतीणं ॥

आचार्य यदि प्रस्तुत सूत्र को गणिनी को नहीं बताते हैं तो चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है। प्रवर्तिनी यदि भिक्षुणियों को नहीं कहती है जो चतुर्लघु का प्रायश्चित्त है। जो भिक्षुणियां इसे स्वीकार नहीं करतीं, उनको मासलघु का प्रायश्चित्त है।

४१५३. मिच्छत्ते संकादी, विराहणा लोभे आभियोगे य।

तुच्छा ण सहति गारव, भंडण अट्टाणठवणं च ॥

पुरुष द्वारा आर्याओं को वस्त्र देते हुए देखकर शैक्ष को मिथ्यात्व आ सकता है, शंका आदि दोष हो सकते हैं। विराधना, वस्त्रदान से प्रलोभन, अभियोग, तुच्छ होने के कारण गौरव को सहन नहीं कर पाती, भंडण, अस्थानस्थापन आदि होते हैं। (व्याख्या आगे के श्लोकों में)

४१५४. इत्थी वि ताव देंती, संकिज्जइ किं णु केणति पयुत्ता।

किं पुण पुरिसो देंतो, परिजुण्णाइं पि जुण्णाए ॥

स्त्री भी यदि आर्या को वस्त्र देती है तो यह शंका होती है कि क्या किसी कामुक व्यक्ति से प्रेरित होकर यह वस्त्र दे रही हैं या धर्मार्थ? पुरुष की तो बात ही क्या? यदि वह जीर्ण वस्त्र भी वृद्ध आर्या को देता है तो भी शंका का स्थान बना रहता है।

४१५५. नामिज्जइ थोवेणं, जच्चसुवण्णं व सारणी वा वि।

अभियोगियवत्थेण व, कट्टिज्जइ पट्टए नातं ॥

जात्यस्वर्ण और सारणी—नौका या नाला थोड़े से प्रयत्न से मुड़ जाता है, वैसे ही आर्या भी थोड़े से वस्त्र आदि के दान से प्रलुब्ध हो जाती है। अथवा वस्त्र मंत्र आदि के बल से आभियोगिक—वशीकरण योग्य किया गया हो, उस वस्त्र को लेने से वह आर्या उसके अभिमुख आकर्षित हो जाती है। यहां पट्टक का दृष्टांत है। (देखें—गाथा २८१९)

४१५६. वत्थेहि वच्चमाणी, दाएंती वा वि उयध वत्थे मे।

मच्छरियाओ बेंती, धिरत्थु वत्थाण तो तुज्झं ॥

४१५७. हिंडामो सच्छंदा, णेव सयं गेण्हिमो य पवयामो।

ण य जं जणो वियाणति, कम्मं जाणामो तं काउं ॥

कोई आर्यिका गौरववश वस्त्रों से अपने-आपको ख्यापित करती है, अथवा स्वयं आनीत वस्त्रों को दिखाती हुई कहती है—‘उयह’—देखो—मेरे वस्त्रों को। दूसरी आर्यिकाएं मत्सरवश कहती हैं—धिक्कार है तुमको तथा तुम्हारे वस्त्रों को जो तुम स्वयं की इतनी प्रशंसा कर रही हो। तुम जैसे स्वच्छंद घूमती हो, वैसे हम नहीं घूमतीं और न हम स्वयं वस्त्र ग्रहण करती हैं और न आत्मश्लाघा करती हैं। तुम जैसे कुंटल आदि कर्म करना जानती हो वैसे कर्म हम नहीं जानतीं।

४१५८. जम्हा य एवमादी, दोसा तासिं तु गिण्हमाणीणं।

तम्हा तासिं णिसिद्धं, वत्थग्गहणं अणीसाए ॥

आर्याओं के वस्त्र-ग्रहण के ये दोष होते हैं इसीलिए अनिश्रा से वस्त्र-ग्रहण आर्याओं के लिए निषिद्ध है।

४१५९. सुत्तं गिरत्थगं खलु, कारणियं तं च कारणमिणं तु।

असती पाउग्गे वा, मन्नक्खो वा इमा जतणा ॥

शिष्य ने कहा—तब तो यह सूत्र निरर्थक है। सूरी कहते हैं—यह सूत्र कारणिक है। कारण यह है—आर्याओं के वस्त्र नहीं हैं अथवा प्रायोग्य वस्त्र नहीं हैं अथवा आर्याओं के संज्ञातकों में ‘मन्नक्खो’—महान् दौर्मनस्य हो जाता है तब यह यतना करनी होती है।

४१६०. तरुणीण य पव्वज्जा, णियएहिं णिमंतणा य वत्थेहिं।

पडिसेहण णिब्बंधे, लक्खण गुरुणो णिवेदेज्जा ॥

किसी आचार्य के पास अनेक तरुण स्त्रियों ने प्रव्रज्या ग्रहण की। दूरस्थ देश में विहरण कर पुनः उसी गांव में आचार्य का आगमन हुआ। तब उन तरुण साध्वियों के संबंधियों ने वस्त्र लेने के लिए निमंत्रण दिया। साध्वियों ने कहा—हमें वस्त्र लेना नहीं कल्पता। अत्यन्त आग्रह करने पर उन ज्ञातिजनों से कहे—हमारे गुरु ही वस्त्र के लक्षणों को जानते हैं, इसलिए हम गुरु को निवेदन करेंगी।

४१६१. थेरा परिच्छंति कधेमु तेसिं,

णाहेति ते दिस्स अजोग्ग जोग्गं।

पिच्छामु ता तस्स पमाण-वण्णे,

तो णं कधेस्सामो तहा गुरूणं ॥

४१६२. सागारऽकडे लहुगो,

गुरुगो पुण होति चिंधऽकरणम्मि।

गणिणीअसिट्ठे लहुगा,

गुरुगा पुण आयनीसाए ॥

आचार्य वस्त्र की परीक्षा करेंगे, इसलिए हम उनको कहेंगी। वे वस्त्र को देखते ही हमारे वह योग्य है अथवा अयोग्य—यह जान लेंगे। परन्तु हम उस वस्त्र का प्रमाण और वर्ण पहले देख लें। फिर हम गुरु को उसका प्रमाण और वर्ण बतायेंगी। इस प्रकार वह वस्त्र साकारकृत कहलाता है। ऐसा न करने पर मासलघु। साकारकृत करके यदि प्रमाण और वर्ण से चिन्हित नहीं करते हैं तो मासगुरु। यदि गणिनी के समक्ष उस वस्त्र का प्रमाण और वर्ण को नहीं कहती हैं तो चतुर्लघु और यदि स्वनिश्चा से स्वयं उस वस्त्र को ग्रहण करती हैं तो चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है।

४१६३. जइ भे रोयति गिणहध,

ण वयं गणिणिं गुरुं व जाणामो।

इय वि भणिया वि गणिणो,

कथेति ण य तं पडिच्छंति॥

गृहस्थ कहते हैं—यदि आपको यह वस्त्र रुचिकर लगता हो तो आप इसे ग्रहण करें। हम न तो गुरुणी को जानते हैं और न आचार्य को। फिर भी वे साध्वियां जाकर आचार्य को कहती हैं। परन्तु वे स्वयं वस्त्र-ग्रहण नहीं करतीं।

४१६४. कतरो भे गत्थुवधी,

जो दिज्जउ भणह मा विसूरित्था।

पुव्वुप्पण्णो दिज्जति,

तस्सऽसतीए इमा जयणा॥

आचार्य उन आर्याओं को कहते हैं—‘बताओ, तुम्हारे पास कौनसी उपधि नहीं है, जो दी जा सकती है। उपधि के बिना खिन्न मत होओ।’ तब वे आर्याएं जिस उपधि का अभाव है, उसको कहती हैं। वह यदि पहले प्राप्त है तो आचार्य उसे देते हैं। यदि वह प्राप्त न हो तो यह यतना है।

४१६५. नाऊण या परीत्तं, वावारे तत्थ लब्धिसंपण्णे।

गंधहे परिभुत्ते, कप्पकते दाण गहणं वा॥

साध्वियों के पास उपधि का परीत्त—अभाव जानकर आचार्य लब्धिसंपन्न मुनियों को उस उपधि की प्राप्ति के लिए व्यापृत करते हैं। वे मुनि वस्त्र लाकर आचार्य को समर्पित करते हैं। वे वस्त्र सुगंधित और परिभुक्त हो सकते हैं। उनका कल्प कर लेना चाहिए। तात्पर्य यह है—उन वस्त्रों को प्रक्षालित कर सात दिनों तक वैसे ही रखना चाहिए। यदि उनमें कोई विकृति न हो तो गणधर उन वस्त्रों को प्रवर्तिनी को दे दे और फिर प्रवर्तिनी के हाथों से आर्याएं ग्रहण करे।

४१६६. गुरुस्स आणाए गवेसिऊणं,

वावारिता ते अहछंदिया वा।

दुधापमाणेण जहोदियाई,

गुरुण पाएसु णिवेदयति॥

गुरु द्वारा व्यापृत अथवा यथाच्छन्दिक (आभिग्रहिकी) मुनि—दोनों आचार्य की आज्ञा से वस्त्रों की गवेषणा करते हैं और द्विधाप्रमाण—गणनाप्रमाण और प्रमाणप्रमाण से भगवान् के कथनानुसार वस्त्रों को लाकर गुरु के चरणों में निवेदित करते हैं।

४१६७. गंधह अपरिभुत्ते, वि धोविउं देति किमुअ पडिपक्खे।

गणिणीए णिवेदेज्जा, चतुगुरु सय दाण अट्टाणे॥

जो गंधाढ्य वस्त्र हैं और अपरिभुक्त हैं, फिर भी उन्हें धोकर आर्याओं को देते हैं तो फिर परिभुक्त वस्त्रों की तो बात ही क्या? स्थविर मुनि सात दिनों तक उन प्रक्षालित वस्त्रों का उपभोग करते हैं और जब यह निश्चय हो जाता है कि ये वस्त्र आभियोगकृत नहीं हैं, तो गणधर उनको प्रवर्तिनी को समर्पित करते हैं। प्रवर्तिनी आर्याओं को वे वस्त्र देती है। यदि गणधर स्वयं आर्याओं को वे वस्त्र देते हैं तो उनको चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है। किसी एक साध्वी को वस्त्र देते हैं तो शेष साध्वियां अस्थान में स्थापित हो जाती है। अन्य साध्वियों के मन में शंका भी होती है।

४१६८. इहरह वि ताव मेहा, माणं भंजंति पणइणिजणस्स।

किं पुण बलाग-सुरचाव-विज्जुपज्जोविधा संता॥

इतरथा अर्थात् बलाका और इंद्रधनुष्य के बिना भी मेघ गगनमंडल में आकर गर्जन करते हुए प्रणयीजन के मान का भंजन करते हैं। उन मेघों की तो बात ही क्या जो बलाका, इंद्रधनुष्य तथा विद्युत् से प्रद्योतित होते हैं? वे तो निश्चित ही प्रणयीजन के मान का भंजन करते ही हैं। (इसी प्रकार गणधर द्वारा एक साध्वी को वस्त्र देते हुए देखकर अन्य साध्वियां स्वयं को अपमानित समझती हैं।)

४१६९. दुल्लभवत्थे व सिया, आसण्णणियाण वा वि णिब्बंघे।

पुच्छंतऽज्जं थेरा, वत्थपमाणं च वण्णं च॥

वह प्रदेश दुर्लभवस्त्र वाला हो सकता है। साध्वियों के अतीव निकट के संबंधियों ने वस्त्र के लिए उन्हें निमंत्रित किया हो। उनके आग्रह को टाला नहीं जा सकता। ऐसी स्थिति में आचार्य आर्या को वस्त्र का प्रमाण और वर्ण के विषय में पूछते हैं। आर्या कहती है—

४१७०. सेयं व सिंधवण्णं, अहवा मइलं च ततियगं वत्थं।

तस्सेव होति गहणं, विवज्जए भाव जाणित्ता॥

एक वस्त्र श्वेत है, दूसरा सैन्धव वर्ण वाला है और तीसरा मलिन है। तब आचार्य स्वयं वहां जाते हैं और उसी वस्त्र को ग्रहण करते हैं। वे गृहस्थ आचार्य को अन्य वस्त्र दिखाते हैं, तब आचार्य उनके भावों को जानकर अन्य वस्त्रों को ग्रहण न करे।

४१७१. पुव्वगता भे पडिच्छह, अम्हे वि य एमु ता तहिं गंतुं।
गुरुआगमण कधेत्ता, णीणावेत्ताऽऽगते तम्मि॥

आचार्य प्रवर्तनी से कहते हैं—तुम वहां पहले जाओ और हमारी प्रतीक्षा करो। हम भी वहीं आ रहे हैं। आर्याएं गृहस्थ के घर जाकर गुरु के आगमन की बात कहती हैं और गुरु के आने पर उस गृहस्थ से कहती हैं—उन वस्त्रों को निकालो, जिनके लिए तुमने हमको निमंत्रित किया था।

४१७२. अन्नं इदं ति पुट्ठा, भणंति किह तुब्भ तारिसं वेमो।
इति भद्दे पंतिसु तु, धुणंति सीसं ण तं एतं॥

तब आचार्य कहते हैं—‘ये वस्त्र वे नहीं हैं, जिनके लिए तुमने आर्याओं को निमंत्रित किया था।’ यह पूछने पर गृहस्थ कहते हैं—‘आचार्य! आपको कैसे वस्त्र कैसे दें?’ इस प्रकार भद्र श्रावक कह सकते हैं और वर्णाढ्य वस्त्र प्रस्तुत करते हैं। जो प्रान्त श्रावक वर्णाढ्य वस्त्र देना चाहें तो आचार्य अपना शिर धुनते हैं और कहते हैं—ये वे वस्त्र नहीं हैं जो आर्याओं को दिखाए थे।

४१७३. बहु जाणिया ण सक्का, वंचेउं तेसि जाणिउं भावं।
णेच्छंति भदएसु तु, पहड्ढभावेसु गेण्हंति॥

तब वे गृहस्थ सोचते हैं—अरे! ये आचार्य तो बहुत जानते हैं। हम इनको नहीं ठग सकते। आचार्य भी उन दाताओं के भावों को जानकर वस्त्र-ग्रहण करना नहीं चाहते। प्रसन्नभाव वाले भद्रक श्रावकों से वस्त्र-ग्रहण करते हैं।

४१७४. न वि एयं तं वत्थं, जं तं अज्जाण णीणियं भे त्ति।
तुब्भे इमं पडिच्छध, तं चिय एत्ताण दाहामो॥

भद्रकों को भी आचार्य कहते हैं—ये वे वस्त्र नहीं हैं, जो वस्त्र आर्याओं को तुमने दिखाए थे। तब वे कहते हैं—आप इन वस्त्रों को ग्रहण करें। हम उन्हीं वस्त्रों को आर्याओं को देंगे।

४१७५. अण्णेण पे ण कज्जं, एतट्ठा चेव गेण्हिमो अम्हे।
जति ताणि वि इति वुत्ते, णीणंति दुए वि णिण्हंति॥

हमारे अन्य वस्त्रों से प्रयोजन नहीं है। हम इन आर्याओं के लिए ही वस्त्र ग्रहण कर रहे हैं। तब यदि वे गृहस्थ उन वस्त्रों को ले आते हैं, तब आचार्य उन वस्त्रों को तथा जो दूसरे वस्त्र दिखाए थे, दोनों का ग्रहण कर ले।

४१७६. ताणि वि उवस्सयम्मिं, सत्त दिणे ठविय कप्प काऊणं।
थेरा परिच्छिऊणं, विहिणा अप्पेंति तेणेव॥

उन वस्त्रों को लेकर उपाश्रय में आकर उनको सात दिनों तक स्थापित कर, फिर उनका कल्प करके स्थविर मुनि या आचार्य उन वस्त्रों को ओढ़कर—उनका उपभोग कर परीक्षा करे और फिर उक्त विधि के अनुसार आर्याओं को अर्पित करे।

४१७७. आयरिए उवज्झाए, पवत्ति थेरे गणी गणधरे य।
गणवच्छेइयणीसा, पवत्तिणी तत्थ आपेति॥

आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्ती, स्थविर, गणी, गणधर तथा गणावच्छेदी—इनकी निश्रा में वस्त्र ग्रहण करना चाहिए। इनके अभाव में प्रवर्तिनी गृहस्थकुलों में जाकर स्वयं वस्त्र लाए।

४१७८. आयरिए असधीणे, साहीणे वा वि वाउल गिलाणे।
एक्केक्कगपरिहाणी, एमादीकारणेहिं तु॥

वहां यदि आचार्य स्वाधीन या अस्वाधीन हैं तथा वे कुलादि कार्य में व्याकुल—व्यापृत हैं अथवा ग्लान हैं तो उपाध्याय की निश्रा में वस्त्र ग्रहण किया जा सकता है। इसी प्रकार एक-एक के अभाव में अपर की निश्रा में वस्त्र-ग्रहण किया जा सकता है। इन कारणों से संयतियों का वस्त्र ग्रहण होता है।

४१७९. सुत्तणिवातो थेरी, गहणं तु पवत्तिणीय नीसाए।
तरुणीण य अग्गहणं, पवत्तिणी तत्थ आपेति॥

सूत्रनिपात अर्थात् सूत्र का आशय यह है कि आचार्य आदि के अभाव में प्रवर्तिनी की निश्रा में स्थविरा साध्वी स्वयं वस्त्र लाती है। तरुण साध्वियों को सामान्यतः वस्त्र-ग्रहण निषिद्ध है। प्रवर्तिनी स्वयं गृहस्थ के घर जाकर वस्त्र लाती है।

४१८०. साहू जया तत्थ न होज्ज कोई,
छंद्देज्ज णीया तरुणी जया य।

पवत्तिणी गंतु सयं तु गेण्हे,

आसंकभीया तरुणी न नेति॥

आचार्य के साथ कोई गीतार्थ साधु नहीं है और जब तरुण साध्वी के संज्ञाती वस्त्र के लिए निमंत्रण देते हैं तो प्रवर्तिनी स्वयं जाकर वस्त्र ग्रहण करती है। वह अपाय की शंका से डरकर तरुण साध्वी को साथ नहीं ले जाती।

४१८१. असती पवत्तिणीए, आयरियादि व्व जं व णीसाए।
आगाढकारणम्मि उ, गिहिणीसाए वसंतीणं॥

प्रवर्तिनी के अभाव में आचार्य, उपाध्याय अथवा सामान्य साधु की निश्रा में विहरण करे, ग्रहण करे। आगाढ कारण

होने पर, गृही की निश्रा में रहने वाली साध्वियां स्वयं भी ग्रहण कर सकती हैं।

४१८२. असती पवत्तिणीए, अभिसेगादी विवज्जए णीसा।

गेण्हंति थेरिया पुण, दुगमादी दोण्ह वी असती॥

प्रवर्तिनी के अभाव में तथा अभिषेका और गणावच्छेदिनी भी नहीं हैं तो परस्पर निश्रा से स्थविरा आर्यिका ग्रहण करे। वे दो-तीन आदि की संख्या में पर्यटन करती हैं। यदि दो भी न हों तो वक्ष्यमाण विधि से ग्रहण करना चाहिए।

४१८३. दुब्भुइमाईसु उ कारणेसुं,

गिहत्थणीसा वइणी वसंती।

जे नालबद्धा तह भाविया वा,

निहोस सन्नी व तहिं वसेज्जा॥

दुर्भूति—अशिव तथा अवमौदर्य आदि कारण में अकेली आर्या गृहस्थ की निश्रा में रहती है। जो नालबद्ध या भावित या जो निर्दोष—हास्य, कन्दर्प आदि से रहित हैं या संजी हैं, उनके घर में रहे।

४१८४. सेज्जायरो व सण्णी, व जाणति वत्थलक्खणं अम्हं।

तेण परिच्छियमेतं, तवणुण्णातं परिग्घेच्छं॥

यदि उस आर्या को कोई वस्त्र-ग्रहण के लिए निमंत्रित करे तो उसे कहना चाहिए कि शय्यातर अथवा संजी—श्रावक हमारे प्रायोग्य वस्त्रों के लक्षणों को जानते हैं। अतः उनके द्वारा परीक्षित तथा अनुज्ञात होने पर ही मैं वह वस्त्र-ग्रहण करूंगी।

४१८५. पंतो दडूण तगं, संकाए अवणयं करेज्जाहि।

अण्णासिं वा दिण्णं, वइतं णीयं व हसिता व॥

जब वह आर्या शय्यातर या श्रावक को लाती है तो उनको देखकर वह प्रान्त गृहस्थ वस्त्र का अपनयन कर देता है और कहता है वह वस्त्र दूसरों को दे दिया अथवा ब्रजिका में ले गया अथवा वह हंसने लग जाता है।

४१८६. तुब्भे वि क्हं विमुहे, काहामो तेण देमो से अण्णं।

इति पंते वज्जणता, भद्देसु तथेव गेण्हंती॥

वह प्रान्त गृहस्थ तब कहता है—मैं आपको कैसे विमुख कर सकता हूँ? इन्कार कर सकता हूँ? उस दूसरी साध्वी को हम दूसरा वस्त्र दे देंगे। यह आप ले लें। जो प्रान्त गृहस्थ इस प्रकार कहता है उसकी वर्जना करनी चाहिए। उसका वस्त्र नहीं लेना चाहिए। भद्र गृहस्थ से पूर्वोक्त प्रकार से ग्रहण कर लेना चाहिए।

४१८७. अंबा वि होंति सिन्ता, पियरो वि य तप्पिया वदे भद्दो।

धम्मो य णे भविस्सति, तुब्भं च पियं अतो अण्णं॥

भद्रक कहता है—सिंचाई करने पर ही आम फलते हैं और

पितरों को भी तर्पित करना होता है। आपको वस्त्र देने में हमें धर्म होगा और आपकी प्रियता बढ़ेगी। इसलिए हम आपको दूसरा वस्त्र देंगे।

४१८८. वेवहु चला य दिट्ठी,

अण्णोण्णणिरिक्खियं खलति वाया।

देण्णं मुहवेवण्णं,

ण याणुरागो उ कारीणं॥

जो मैथुन सेवन के लिए वस्त्रदान करते हैं, उनको कैसे जाना जाए? उनके सामान्यतः ये लक्षण होते हैं—उनका शरीर प्रकंपित होता है, दृष्टि चल होती है। वह एक दूसरे को देखती है और उसकी वाणी स्वलित होती है। मुख पर दीनता और वैवर्ष्य परिलक्षित होता है तथा उनका अनुराग हृष्टपुष्ट लक्षण वाला नहीं होता।

निग्गंथस्स तप्पढमयाए संपव्वय-
माणस्स कप्पइ रयहरण-गोच्छय-
पडिग्गहमायाए तिहिं कसिणेहिं वत्थेहिं
आयाए संपव्वइत्तए। से य पुव्वोवट्ठिए
सिया, एवं से नो कप्पइ रयहरण-गोच्छय-
पडिग्गहमायाए तिहिं कसिणेहिं वत्थेहिं
आयाए संपव्वइत्तए, कप्पइ से
अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं गहाय आयाए
संपव्वइत्तए॥

(सूत्र १४)

४१८९. णिग्गंथिचेलगहणं, भणियं समणाणिदाणि वोच्छामि।

निक्खंते वा वुत्तं, निक्खममाणे इमं सुत्तं॥

आर्याओं के वस्त्र-ग्रहण की विधि कह दी गई है। अब श्रमणों के वस्त्र-ग्रहण की विधि कहूंगा। अथवा दीक्षित के वस्त्र-ग्रहण के विषय में कहा जा चुका है। अब दीक्षा ग्रहण करने के लिए तत्पर मुमुक्षु के वस्त्र-ग्रहण विषयक प्रस्तुत सूत्र है।

४१९०. दव्वम्मि य भावम्मि य, पव्वइए एत्थ होति चउभंगो।

दव्वेण लिंगसहितो, ओहावति जो उ णीसंको॥

४१९१. पवज्जाए अभिमुहो, परलिंगे कारणेण वा बित्तिओ।

ततितो उ उभयसहितो, उभओविजडे चरिम भंगो॥

द्रव्यतः और भावतः प्रव्रजित की चतुर्भंगी होती है—

१. द्रव्यतः निर्ग्रन्थ, न भावतः।

२. भावतः निर्ग्रन्थ, न द्रव्यतः।

३. द्रव्यतः और भावतः—दोनों से निर्ग्रन्थ।

४. न द्रव्यतः और न भावतः निर्ग्रन्थ।

द्रव्यतः निर्ग्रन्थ वह होता है जो लिंगधारी है परन्तु निःशंक होकर उत्प्रव्रजित हो जाता है। जो प्रव्रज्याभिमुख है, परन्तु कारणवश परलिंग में है, वह दूसरे भंग में आता है। जो उभयसहित है वह तीसरे भंग में और जो उभय अर्थात् द्रव्य और भाव से रहित है, वह चरम भंग में आता है।

४१९२. चउधा खलु संवासो, देवाऽसुर रक्खसे मणुस्से य।

अण्णोण्णकामणेण य, संजोगा सोलस्स हवंति॥

संवास चार प्रकार का है—देवसंवास, असुरसंवास, राक्षससंवास और मनुष्यसंवास। एक-दूसरे की कामना से इनके सोलह भंग होते हैं—

- | | |
|-------------------------|-----------------------------|
| १. देव देवी के साथ, | ९. राक्षस देवी के साथ |
| २. देव असुरी के साथ | १०. राक्षस असुरी के साथ |
| ३. देव राक्षसी के साथ | ११. राक्षस राक्षसी के साथ |
| ४. देव मनुष्यणी के साथ | १२. राक्षस मनुष्यणी के साथ |
| ५. असुर देवी के साथ | १३. मनुष्य देवी के साथ |
| ६. असुर असुरी के साथ | १४. मनुष्य असुरी के साथ |
| ७. असुर राक्षसी के साथ | १५. मनुष्य राक्षसी के साथ |
| ८. असुर मनुष्यणी के साथ | १६. मनुष्य मनुष्यणी के साथ। |

(देव शब्द से वैमानिक अथवा ज्योतिष्क देव, असुरशब्द से भवनवासी, राक्षस शब्द से व्यंतर।)

४१९३. अधवण देव-छवीणं, संवासे एत्थ होति चउभंगो।

पव्वज्जाभिमुहंतर, गुज्झग उब्भामिया वासो॥

४१९४. बितियणिसाए पुच्छा,

एत्थ जती आसि तेण मि न आतो।

जतिवेसोऽयं चोरो,

जो अज्ज तुहं वसति दारे॥

‘अहवण’—यह प्रकारान्तर द्योतक अव्यय है। प्रकारान्तर से उपरोक्त सोलह भंग चार भंगों में अंतर्भूत हो जाते हैं। वे चार भंग हैं।

१. देव देवी के साथ
२. देव छविमति अर्थात् मनुष्यणी के साथ
३. छविमान् अर्थात् मनुष्य देवी के साथ
४. छविमान् छविमती के साथ।

(देव शब्द सामान्यतः चतुर्विध देवनिकाय के लिए और छविमान् मनुष्य के लिए है। अतः सोलह भंग इन चार भंगों में समाविष्ट हो जाते हैं।) एक तरुण प्रव्रज्या लेने के लिए गुरु के पास जा रहा था। रास्ते में एक तरुणी के घर में

१. प्रत्यवतार—वर्षाकाल में होने वाले संपूर्ण वस्त्रों का एक प्रत्यवतार होता है।

निवास योग्य स्थान पाकर उसके घर के द्वारमूल में सो गया। वह तरुणी कुशील थी। वहां प्रतिदिन एक यक्ष आता और रात्रीवास तरुणी के साथ बिता कर प्रभात में अपने स्थान पर चला जाता। उस दिन यक्ष नहीं आया। दूसरे दिन उसी तरुणी के घर के द्वारमूल पर एक लिंगधारी आकर सो गया। उस दिन यक्ष आया। उस तरुणी ने पूछा—कल क्यों नहीं आए? यक्ष बोला—कल यहां द्वार पर एक यति सो रहा था। यति का उल्लंघन कर मैं आ नहीं सकता। तरुणी ने कहा—झूठ क्यों कह रहे हो? यति तो आज यहां सो रहा है। कल तो एक तरुण सोया था। यक्ष बोला—आज यहां सोनेवाला यति नहीं है। वह चारित्र से भ्रष्ट है, केवल वेशधारी है। यह आज यहां चोरी करने के लिए आया हुआ है। अतः इसे यतिवेष में चोर मानना चाहिए। इस दृष्टांत से यह प्रमाणित होता है कि प्रव्रज्याभिमुख व्यक्ति भी प्रव्रजित ही माना जाता है।

४१९५. रयहरणेण विमज्झो, गुच्छगगहणे जहण्णगहणं तु।

भवति पडिग्गहगहणे, गहणं उक्कोसउवधिस्स॥

रजोहरण विमध्य उपधि है। गोच्छग का ग्रहण जघन्य उपधि का ग्रहण है। प्रतिग्रह का ग्रहण उत्कृष्ट उपधि का ग्रहण है।

४१९६. पडिपुण्णा पडुकारा, कसिणग्गहणेण अप्पणो तिण्णि।

पुव्विं उवड्ढितो पुण, जो पुव्वं दिक्खितो आसी॥

कृत्स्नवस्त्र के ग्रहण का तात्पर्य यह है कि प्रव्रजित होते समय अपने योग्य तीन प्रत्यवतार^१ प्रतिपूर्ण ग्रहण करने चाहिए। पूर्व उपस्थित वह होता है जो पूर्व में दीक्षित था।

४१९७. सोऊण कोइ धम्मं, उवसंतो परिणओ य पव्वज्जं।

पुच्छति पूयं आयरिय उवज्जाए, पवत्ति संघाडए चव॥

कोई मुमुक्षु धर्म को सुनकर उपशांत—प्रतिबुद्ध होकर प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए परिणत हुआ। वह आचार्य को पूछता है—आर्य! मुझे अनुज्ञा दें, मैं क्या करूं? आचार्य कहते हैं—आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्ती तथा संघाटक के मुनियों की वस्त्र आदि से पूजा करो।

४१९८. णंतग-घत-गुल-गोरस,

फासुग पडिलाभणं समणसंघे।

असति गणि-वायगाणं,

तदसति सव्वस्स गच्छस्स॥

वह दीक्षित होने के इच्छुक व्यक्ति समस्त श्रमणसंघ को प्रासुक वस्त्र, घृत, गुड़, दूध आदि की उपलब्धि कराता है। यदि इतना अवकाश न हो तो आचार्य, वाचक आदि के लिए

प्राप्ति कराता है। यदि इतना भी अवकाश न हो तो जिस गच्छ में वह प्रव्रजित होना चाहता है, उस गच्छ के सभी सदस्यों को प्रतिलाभित करता है।

४१९९. तदसति पुव्वुत्ताणं, चउण्ह सीसति य तेसि वावारो।

हाणी जा तिण्णि सयं, तदभावे गुरू उ सब्वं पि॥

यदि गच्छ को प्रतिलाभित करने की शक्ति न हो तो पूर्वोक्त चार-आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्ती तथा संघाटक साधुओं की पूजा करता है। उसके सामने इन चारों की प्रवृत्ति का कथन किया जाता है, जैसे आचार्य अर्थ का व्याख्यान करते हैं, उपाध्याय सूत्र की वाचना देते हैं, प्रवर्ती तप-संयम आदि में प्रवृत्त करते हैं और संघाटक के साधु भिक्षा आदि में सहायक होते हैं। इसलिए इनकी पूजा करो। यदि इतनी भी शक्ति न हो तो यथाक्रम हानि करते हुए प्रथम आचार्य, उपाध्याय और प्रवर्ती की, उसके अभाव में आचार्य, उपाध्याय की और इसके अभाव में आचार्य की पूजा करे। इतनी भी शक्ति न हो तो स्वयं के योग्य तीन प्रत्यवतार, उनके अभाव में दो और उसके अभाव में एक प्रत्यवतार लेकर प्रव्रजित होता है। यदि एक भी न हो तो गुरु सब कुछ देते हैं।

४२००. अप्पणो कीतकडं वा, आहाकम्मं व चेत्तु आगमणं।

संजोए चैव तथा, अणिदिट्ठे मग्गणा होति॥

वह मुमुक्षु अपने योग्य वस्त्र-पात्र आदि क्रीतकृत अथवा आधाकर्म लेकर गुरु के समक्ष आगमन करता है। इन दोषों के निर्दिष्ट अथवा अनिर्दिष्ट संयोग-भंगों की मार्गणा करनी होती है। यह द्वारगाथा है। व्याख्या आगे।

४२०१. कीयम्मि अणिदिट्ठे, तेणोग्गहियम्मि सेसगा कप्पे।

निदिट्ठम्मि ण कप्पति, अहव विसेसो इमो तत्थ॥

क्रीतकृत दो प्रकार का होता है-निर्दिष्ट और अनिर्दिष्ट।^१ जो अनिर्दिष्टरूप में क्रीत हैं, उनमें से स्वयं के लिए वस्त्र अवगृहीत करने के पश्चात् जो शेष रहता है, वह साधुओं को कल्पता है, निर्दिष्टक्रीत में नहीं कल्पता। अथवा निर्दिष्ट में यह विशेष है।

४२०२. मज्झंतिगाणि गिण्हह, अहगं तुज्झच्चए परिग्घिच्छं।

सेहे दिंति व वत्थं, तदभावे वा विगिंचंति॥

अथवा वह शैक्ष कहता है-मैंने जो वस्त्र स्वयं के लिए खरीदे हैं, वे आप लें और मैं आप साधुओं के लिए खरीदे गए वस्त्र ग्रहण कर लूंगा। अथवा वह कहता है-मैंने जो आपके लिए वस्त्र क्रीत किए हैं, उनका आप जैसा चाहें वैसा उपयोग करें। तब वे वस्त्र शैक्ष को देते हैं जो अभी

अनुस्थापित है। यदि ऐसा शैक्ष न हो तो वस्त्रों का परिष्ठापन कर देते हैं। तब कोई शैक्ष कहता है-

४२०३. एतं पि मा उज्झह देह मज्झं,

मज्झच्चगा गेण्हह एक्क दो वा।

अत्तद्धिए होति कदायि सब्बे,

सब्बे वि कप्पंति विसोधि एसा॥

इन वस्त्रों का परिष्ठापन न करें। ये वस्त्र मुझे दे दें। आप मेरे प्रत्यवतार से एक या दो वस्त्र ले लें। यदि दाता ने अनेक प्रत्यवतार क्रीत किए हों तो क्या विधि है? दाता वस्त्रों के जितने प्रत्यवतारों को अपना बनाता है, वे लिए जा सकते हैं। कदाचिद् दाता सभी प्रत्यवतारों को अपना बना लेता है तो वे सभी लिए जा सकते हैं। वे सभी कल्पते हैं। यह विशोधि-कोटिविषयक विधि है।

४२०४. उग्गमकोडीए वि हु, संछोभो तहेव होतऽनिदिट्ठे।

इयरम्मि वि संछोभो, जइ सो सेहो सयं भणइ॥

उद्गमकोटि का अर्थ है-आधाकर्म आदि अविशोधिकोटि के दोष। यदि इसमें भी अनिर्दिष्टकोटि का क्रीत हो और दाता कहे जिन वस्त्रों को ग्रहण करने के लिए आपको कहा है, वे यदि आप लेना न चाहें तो मेरे द्वारा परिगृहीत वस्त्र आप लें और मैं वे वस्त्र ले लूंगा जिनका आपने प्रतिषेध किया है। यदि इस संक्षोभ-प्रक्षेपक से वह वस्त्र देता है तो सारा कल्पता है। निर्दिष्टक्रीत में भी यदि यह संक्षोभ होता है तो वह कल्पता है। संक्षोभ यह है-यदि गृहस्थ शैक्ष स्वयं ही इस प्रकार कहता है, दूसरों के कहने पर नहीं।

४२०५. उक्कोसगा य दुक्खं, वुवज्जिया केसितोऽहं मि विधेव।

इति संछोभं तहियं, वदंति निदिट्ठेणुं पि॥

दाता कहता है-मैंने आपके लिए ये उत्कृष्ट-बहुमूल्य वस्त्र निर्मित करवाए हैं। आप इनका परित्याग क्यों करते हैं। अत्यंत प्रयास कर मैंने बुनकर से ये वस्त्र आपके लिए बुनवाए हैं। इसमें मुझे बहुत क्लेश हुआ है। अब आप इनको ग्रहण नहीं करते। वृथा ही मैंने इतना कष्ट सहा। अच्छा, आप मेरे वस्त्र लें और मैं आपके ये वस्त्र ग्रहण कर लूंगा। इस प्रकार संयत के निमित्त निर्दिष्ट कर निर्मित वस्त्र का भी संक्षोभ अर्थात् कल्पनीयता का कारण बनता है। उनको भी ग्रहण करना कल्पता है।

४२०६. जा संजयणिदिट्ठा, संछोभम्मि वि न कप्पते केयी।

तं तु ण जुज्जइ जम्हा, दिज्जति सेहस्स अविसुद्धं॥

कुछेक आचार्य कहते हैं कि वस्त्र संयतनिर्दिष्ट हैं वे संक्षोभ के पश्चात् भी नहीं कल्पते। यह मत उचित नहीं है।

१. निर्दिष्ट-खरीदते समय यह मेरे लिए तथा ये अन्य साधुओं के लिए इस निर्देशपूर्वक खरीदना। उसके विपरीत अनिर्दिष्ट होता है।

क्योंकि अनुपस्थापित शैक्ष को अविशुद्ध-अनेषणीय वस्त्र, पात्र दिया जाता है। अतः संक्षोभ के पश्चात् वस्त्र आदि भी कल्पता है।

४२०७. जह अत्तद्वा कम्पं, परिभुत्तं कप्पते उ इतरेसिं।

इय तेण परिग्गहियं, कप्पइ इयरं पि इयरेसिं॥

जैसे गृहस्थ ने अपने लिए आधाकर्म किया, उसका इतर अर्थात् संयतों द्वारा परिभोग करना कल्पता है। इसी प्रकार गृहस्थ शैक्ष द्वारा परिगृहीत वस्त्र आदि दूसरे संयतों को भी ग्रहण करना कल्पता है।

४२०८. सहसाणुवादिणातेण केइ णिदिद्धेके ण इच्छंति।

अणिदिद्धे पुण छोभं, वदंति परिफग्गुमेतं पि॥

कई आचार्य सहसानुपाती विष के उदाहरण से साधु निमित्त निर्दिष्ट को संक्षोभ के पश्चात् भी ग्रहण करना नहीं चाहते और अनिर्दिष्ट को क्षोभ के पश्चात् कल्पनीय कहते हैं। यह भी निस्सार कथन है।

४२०९. एयं पि सघरमीसेण सरिसगं तेण फग्गुभिच्छामो।

दुविधं पि ततो गहियं, कप्पति रतणुच्चओ णातं॥

उन आचार्यों का यह कथन स्वगृहपतिमिश्र के सदृश है अतः हम इसको व्यर्थ मानते हैं। गृहस्थ शैक्ष दोनों प्रकार के-निर्दिष्ट और अनिर्दिष्ट वस्त्र आदि क्षोभ करने के पश्चात् परिगृहीत करने पर वे साधुओं को लेने कल्पते हैं। यहां रत्नाकर-मेरु का दृष्टांत ज्ञातव्य है। (जैसे वहां प्रक्षिप्त तृण आदि भी स्वर्णमय बन जाता है, वैसे ही शैक्ष गृहस्थ द्वारा परिगृहीत सारा द्रव्य कल्पनीय हो जाता है।)

४२१०. जह उ कडं चरिमाणं, पडिसिद्धं तं हि मज्झिमोग्गहियं।

पडिवण्णपंचजामे, कप्पति तेसिं तहऽण्णेसिं॥

जैसे चरमतीर्थकर के मुनियों के लिए किया हुआ सारा प्रतिषिद्ध है, वही मध्यम तीर्थकरों के मुनियों के लिए ग्रहणीय है। जिन चतुर्यामिक मुनियों ने पंचयाम धर्म को स्वीकार कर लिया तो चतुर्यामिक मुनियों के लिए निर्मित वस्त्र आदि उनको तथा अन्य पंचयामिक मुनियों को लेने कल्पते हैं। इसी प्रकार प्रस्तुत प्रसंग में भी साधुओं के लिए निर्मित वस्त्र आदि का परिग्रहण मुनि नहीं करते किन्तु शैक्षगृहस्थ उनको आत्मीय बनाकर यदि साधुओं को देता है तो वह कल्पता है।

४२११. उग्गम-विसोधिकोडी, दुगादिसंजोगओ बहू एत्थं।

पत्तेग-मीसिगासु य, णिदिद्ध तथा अणिदिद्धा॥

उद्गमकोटि के भेद तथा विशोधिकोटि के भेद द्विक आदि के भेदों के आधार पर बहुत भंग होते हैं। वे प्रत्येकभंग

कहलाते हैं। इसी प्रकार उद्गमकोटि के भेदों का और विशोधिकोटि के भेदों का परस्पर द्विक आदि संयोग से निष्पन्न अनेक भंग होते हैं। वे मिश्रभंगक कहलाते हैं। इन सब प्रत्येक और मिश्र भंगों में कल्प्य और अकल्प्य प्रागुक्त प्रकार से जानने चाहिए।

४२१२. वत्था व पत्ता व घरे व हुज्जा,

वद्धुं पि कुज्जा णिउणो सयं पि।

णिज्जुत्तभंडं व रयोहरादी,

कोई किणे कुत्तियआवणातो॥

प्रायः वस्त्र और पात्र गृहस्थों के घरों में भी मिलते हैं। निर्युक्तभांड अर्थात् पात्रनियोग आदि उपकरण तथा रजोहरण आदि सर्वत्र प्राप्त नहीं होते। कोई बुद्धिमान् निपुण गृहस्थ उनको मुनियों के पास देखकर स्वयं बना लेता है अथवा कोई कुत्रिकापण से उन्हें खरीद लेता है।

४२१३. कुत्तियपरुवणया, उक्कोस-जहन्न-मज्झिमद्वाणा।

कुत्तिय भंडक्किणणा, उक्कोसं हुंति सत्तेव॥

यहां कुत्रिकापण की प्ररूपणा करनी चाहिए। वहां उत्कृष्ट, जघन्य और मध्यम-तीनों प्रकार के मूल्य होते हैं। कुत्रिकापण में भांड और उपकरणों का क्रय होता है। उत्कृष्ट रूप से समस्त श्रमण संघ के योग्य वस्त्र-पात्र प्राप्त होते हैं। सात निर्योग वहां से ग्रहीतव्य होते हैं। (यह चूर्णि का अभिप्राय है। विशेषचूर्णि के अनुसार मुमुक्षु स्वयं के लिए एक निर्योग ग्रहण करे। उत्कर्षतः सात निर्योग ग्रहण किए जा सकते हैं-तीन निर्योग स्वयं के लिए और चार निर्योग आचार्य आदि चार पूजनीय व्यक्तियों के लिए।)

४२१४. कुत्ति पुढवीय सण्णा, जं विज्जति तत्थ चेदणमचेयं।

गहणुवभोगे य खमं, न तं तहिं आवणे णत्थि॥

‘कु’ पृथ्वी की संज्ञा है। उसका त्रिक अर्थात् स्वर्ग, मर्त्य और पाताल। उसका ‘आपण’ अर्थात् हाट कुत्रिकापण। उन तीनों पृथ्वीयों में जो कुछ ग्रहण और उपभोग के योग्य चेतन और अचेतन पदार्थ है, वह जहां प्राप्त होता है वह है कुत्रिकापण। एक भी चेतन या अचेतन पदार्थ ऐसा नहीं है जो वहां प्राप्त न होता हो।

४२१५. पणतो पागतियाणं, साहस्सो होति इब्भमादीणं।

उक्कोस सतसहस्सं, उत्तमपुरिसाण उवधी उ॥

प्रव्रजित होने वाले सामान्य व्यक्तियों के लिए उपधि आदि का कुत्रिकापण में मूल्य है पांच रुपया, ईभ्य-श्रेष्ठी-सार्थवाह आदि मध्यमवर्गीय पुरुषों के लिए उसी का मूल्य है सहस्र रुपया तथा उत्तमपुरुषों-चक्रवर्ती, मांडलिक राजा

आदि उत्कृष्ट पुरुषों की उपधि का मूल्य है शतसहस्र अर्थात् लाख रुपया।^१

४२१६. विक्रितं तथा पप्प होइ रयणस्स तव्विहं मुल्लं।

कायगमासज्ज तद्वा, कुत्तियमुल्लस्स णिक्कं ति॥

जैसे रत्न का विक्रेता (क्रेता?) होगा वैसा ही रत्न का मूल्य होगा जैसे क्रेता ग्रामीण व्यक्ति है तो रत्न का मूल्य कम होगा और यदि क्रेता प्रबुद्ध होगा तो उसका मूल्य अधिक होगा। इसी प्रकार कुत्रिकापण में क्रायक-ग्राहक के आधार पर वस्तु के मूल्य का निष्क-परिमाण होता है। प्रतिनियत कुछ भी नहीं है।

४२१७. एवं ता ति विह जणे, मोल्लं इच्छाए दिज्ज बहुयं पि।

सिद्धमिदं लोगम्मि वि, समणस्स वि पंचगं भंडं॥

इस प्रकार वहां तीनों प्रकार के पुरुषों के लिए पंचक आदि रुपयों का परिमाण जघन्यतः है। फिर वे चाहें अधिक भी दे सकते हैं। लोक में यह सिद्ध है, प्रतीत है। श्रमण के लिए भांड का मूल्य है पांच रुपया। (जिस देश में जो सिक्का चलता है उसके प्रमाण से रुपया का मान जानना चाहिए।)

४२१८. पुव्वभविगा उ देवा, मणुयाण करिंति पाडिहेराइं।

लोगच्छेरयभूया, जह चक्कीणं महाणिहयो॥

कुत्रिकापण की उत्पत्ति कैसे?

पूर्वभूव के मित्र देव पुण्यवान् व्यक्तियों के प्रतिहार्य अर्थात् यथाभिलषित द्रव्य उपस्थित करते हैं। जैसे लोक में आश्चर्यभूत नौ महानिधियों का चक्रवर्तियों के समक्ष देवता प्रातिहार्य करते हैं, प्रस्तुत करते हैं।

४२१९. उज्जेणी रायगिहं, तोसलिनगरे इसी य इसिवालो।

दिक्खा य सालिभदे, उवकरणं सयसहस्सेहिं॥

प्राचीनकाल में उज्जयिनी और राजगृह नगर में कुत्रिकापण थे। एक बार तोसलिनगर के एक वणिक् ने उज्जयिनी के कुत्रिकापण से ऋषिपाल नाम का वानव्यन्तर खरीदा था। राजगृह नगर में शालिभद्र की दीक्षा के समय उपकरण शतसहस्र में खरीदे गए थे। इससे यह स्पष्ट होता है कि राजगृह में कुत्रिकापण था।

४२२०. पज्जोए णरसीहे, णव उज्जेणीय कुत्तिया आसी।

भरुयच्छवणियऽसहह, भूयऽद्धम सयसहस्सेणं॥

४२२१. कम्मम्मि अदिज्जंते, रुद्धो मारेइ सो य तं घेत्तुं।

भरुयच्छाऽऽगम, वावारदाण खिप्पं च सो कुणति॥

१. वृत्तिकार का कथन है कि यह सारा जघन्य मूल्य मानना चाहिए। उत्कृष्टतः तीनों प्रकार के पुरुषों के लिए मूल्य अनियत है। यहां जो मूल्यमान दिया गया है पांच रुपया जघन्य, सहस्र रुपया है मध्यम और शतसहस्र है उत्कृष्ट। यह अनियत है।

२. वृत्ति में कुछ और तालाबों का निदर्शन है। देखें कथा परिशिष्ट, नं. ९४।

४२२२. भीएण खंभकरणं, एत्थुस्सर जा ण देमि वावारं।

णिज्जित भूततलागं, आसेण ण पेहसी जाव॥

जब उज्जयिनी में महाराज नरसिंह चंडप्रद्योत का राज्य था, तब वहां नौ कुत्रिकापण थे। भृगुकच्छ का एक वणिक् कुत्रिकापण की बात पर विश्वास नहीं करता था। वह उज्जयिनी के एक कुत्रिकापण में गया और भूत खरीदने की इच्छा व्यक्त की। वहां के मालिक ने तेल की तपस्या कर उसे एक लाख रुपयों में भूत दे दिया। उसने उस वणिक् से कहा—यह भूत ऐसा है कि इसको कोई काम न देने पर यह रुष्ट होकर अपने स्वामी को मार डालता है। वह वणिक् भूत को लेकर भृगुकच्छ में आया और भूत को कार्य में व्यापृत कर दिया। वह भूत प्रत्येक कार्य को शीघ्र संपन्न कर देता था। सभी कार्यों की परिसमाप्ति हो जाने पर वणिक् भयभीत हो गया। उसने तब भूत से एक स्तंभ का निर्माण करा कर कहा—जब तक मैं दूसरा काम न दूं तब तक तुम इस स्तंभ पर उतरते-चढ़ते रहो। तब भूत बोला—‘तुमने मुझे जीत लिया है। मैं अपनी पराजय के चिह्नस्वरूप, तुम्हें एक वस्तु देना चाहता हूं। तुम अश्व पर बैठकर जाते समय जितनी दूरी तक पीछे नहीं देखोगे उतना लंबा-चौड़ा मैं एक तालाब निर्मित कर दूंगा।’ वह वणिक् अश्व पर आरूढ़ होकर चला और बारह योजन जाने के पश्चात् मुड़ कर पीछे देखा। भूत ने वहां एक तालाब निर्मित कर डाला। उसका नाम ‘भूत-तालाब’ रखा गया।^२

४२२३. एमेव तोसलीए, इसिवालो वाणमंतरो तत्थ।

णिज्जित इसीतलागे, रायगिहे सालिभहस्स॥

इसी प्रकार तोसलिनगर के एक वणिक् ने उज्जयिनी नगर के एक कुत्रिकापण से ऋषिपाल नामक वानव्यन्तर खरीदा। वणिक् के द्वारा पराजित होने पर उसी प्रकार ऋषितडाक नामक तालाब निर्मित किया। राजगृह के कुत्रिकापण से शालिभद्र की दीक्षा के समय रजोहरण तथा पात्र-प्रत्येक को एक-एक लाख रुपयों में खरीदा था।

४२२४. तिण्णि य अत्तडेती, चत्तारि य पूयणारिहे देति।

दित्तस्स य धित्तव्वो, सेहस्स विविचणं वा वि॥

गाथा ४२१३ में सात नियोगों का कथन हुआ है। प्रव्रज्या ग्रहण करने वाला मुमुक्षु सात नियोगों को ग्रहण कर प्रव्रजित हो। सात नियोगों में से वह शैक्ष तीन नियोगों को अपने लिए रखता है और शेष चार नियोग पूजनाई व्यक्तियों अर्थात्

आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्ती और संघाटक साधुओं को देता है। दिया जाने वाला नियोग शुद्ध हो तो ग्रहण करे और अशुद्ध हो तो गृहस्थशैक्ष को दे दे। अथवा उसका परिष्ठापन कर दे।

४२२५. सज्ज्ञाए पलिमंथो, पडिलेहणियाए सो हवइ सिग्गो।

एगं च देति तहितं, दोण्णि य से अप्पणो हुंति॥

तीन नियोगों को अपने पास रखने से उसके स्वाध्याय का पलिमंथु होता है। उनकी प्रत्युपेक्षणा से वह परिश्रान्त हो जाता है। तब वह एक नियोग आचार्य को दे देता है और तब उसके पास दो नियोग रह जाते हैं।

४२२६. निग्गमणे बहुभंडो, कत्तो कतरो व वाणिओ एइ।

बितियं पि देति तहियं, मा भंते! दुल्लहं होज्जा॥

जब वह वहां से निर्गमन करता है तब उसे बहुत उपकरणों को लेकर विहार करना होता है। यह देखकर लोग कहते हैं—‘यह कौन वणिक् (इतना भार लेकर) कहां से आया है?’ यह उपहास-वचन सुनकर वह एक और नियोग गुरु को दे देता है और कहता है—‘भंते! आपके उपकरण दुर्लभ न हों इसलिए आप इसे अपने पास रखें।’

४२२७. भारेण खंधं च कडी य बाहा,

पीलिज्जाए गिस्ससए य उच्चं।

तेणा य उवधीणमभिह्वेज्जा,

ण इत्तिया इति ममोवभोगं॥

शिष्य ने गुरु से कहा—मैं दो नियोगों के साथ विहार करता हूँ तो इतने भार से मेरे कंधे, कटि और बाहू अत्यधिक पीड़ित होते हैं और मैं निःश्वास से आकुल हो जाता हूँ। चोर उपधि के कारण मुझे लूटेंगे, भयभीत करेंगे। इतने वस्त्र-पात्र मेरे उपभोग में नहीं आयेंगे।

४२२८. जं होहिति बहुगाणं, इमम्मि धम्मचरणं पवण्णाणं।

तं होहिति अम्हं पी, तुम्हेहिं समं पवण्णाणं॥

ये उपकरण भगवान् के शासन के धर्माचरण करने वाले आप जैसे अनेक मुनियों के उपभोग में आयेंगे तथा आपके साथ-साथ चारित्र की आराधना करने वाले हमारे भी काम आयेंगे।

४२२९. सिद्धी वीरणसढए, अब्भुट्ठाणं पुणो अजाणंते।

कत कारितं च कीतं, जाणंते अधापरिग्गहिते॥

शिष्य ने पूछा—जो प्रव्रज्या को छोड़कर गृहवास में चला गया उसे पुनः प्रव्रज्या में अभ्युत्थान की सिद्धि कैसे होती है? इस प्रसंग में ‘वीरणसढक’ का दृष्टान्त वक्तव्य है। पुनः अभ्युत्थान दो प्रकार का होता है—जानने वाले मुमुक्षु का तथा अजानकार मुमुक्षु का। जो कल्प-अकल्प को जानता है वह है

जानने वाला और जो यह नहीं जानता है वह है अजानकार। अजानकार पुनः प्रव्रज्या ग्रहण कर कृत, कारित और क्रीत सभी कुछ ग्रहण कर लेता है और जो जानकार है वह यथापरिगृहीत अर्थात् शुद्ध को ही ग्रहण करता है।

४२३०. जह सो वीरणसढओ, णइतीररुहो जलस्स वेणेणं।

थोवं थोवं खणता, छूढो सोयं ततो वूढो॥

कोई एक ‘वीरण’—तृणविशेष का ‘सढक’—स्तम्ब नदी के तीर पर उगा हुआ था। पानी का वेग उसकी जड़ों को धीरे-धीरे खोदने लगा। कुछ ही समय के पश्चात् वह स्तम्ब नदी में गिर गया और पानी में बहता हुआ समुद्र में जा गिरा।

४२३१. ठिय-गमिय-दिट्ठ-ऽदिट्ठेहि

साधुहिं अहरिहं समणुसट्ठो।

उण्हेहुण्हतरेहि य,

चालिज्जति बद्धमूलो वि॥

इसी प्रकार कोई पश्चाद्कृत गृहवास करता हुआ एक गांव में स्थित था। उस गांव में साधुओं का आवागमन होता था। वे दृष्ट-अदृष्ट (पूर्व परिचित, अपरिचित) साधु उसे यथायोग्य उपदेश देते थे। वह उनके उष्ण-उष्णतर उपदेशों से प्रेरित होकर परिवार से बद्धमूल होने पर भी वह गृहवास से चलित होकर पुनः संयम को स्वीकार कर लेता है।

४२३२. कप्पा-ऽकप्पविसेसे,

अणधीए जो उ संजमा चलिओ।

पुव्वगमो तस्स भवे,

जाणंते जाइं सुद्धां॥

जो कल्प-अकल्प विशेष को न जानते हुए संयम से चलित हुआ था, उसके लिए पूर्वोक्त गम-प्रकार होता है अर्थात् शैक्षगृहस्थ का होता है। जो कल्प-अकल्प विधि को जानता है, उसके लिए शुद्ध ही ग्रहण करना कल्पता है।

निग्गंथीए णं तप्पढमयाए

संपव्वयमाणीए कप्पइ रयहरण-गोच्छग-

पडिग्गहमायाए चउहिं कसिणेहिं वत्थेहिं

आयाए संपव्वइत्तए। सा य पुव्वोवट्ठिया

सिया, एवं से नो कप्पइ रयहरण-

गोच्छग-पडिग्गहमायाए चउहिं कसिणेहिं

वत्थेहिं आयाए संपव्वइत्तए, कप्पइ से

अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं आयाए

संपव्वइत्तए॥

(सूत्र १५)

४२३३. एसेव गमो णियमा, निग्गंथीणं पि होइ नायव्वो।
जाणंतीणं कप्पति, घेतुं जे अधापरिग्गहिते॥

यही विकल्प नियमतः आर्याओं के लिए जानना चाहिए।
उनमें जो कल्प-अकल्प की विधि को जानती हैं उनके लिए
जो यथापरिगृहीत अर्थात् शुद्ध है, उसी का ग्रहण कल्पता है।

४२३४. समणीणं णाणत्तं, णिज्जोगा तासि अप्पणो चउरो।
चउरो पंच व सेसा, आयरिगादीण अद्दाए॥

आर्याओं के नियोग विषयक नानात्व है। प्रव्रजित होने
वाली आर्या को चार नियोग अपने लिए तथा शेष चार या
पांच नियोग आचार्य आदि के लिए होते हैं। यदि चार हों
तो—आचार्य, प्रवर्तिनी, गणावच्छेदिनी और संघाटक की
साध्वी के लिए। यदि पांच हों तो चार उपरोक्त तथा पांचवां
उपाध्याय के लिए।

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
पढमसमोसरणुद्देसपत्ताइं चेलाइं
पडिग्गाहित्तए॥

(सूत्र १६)

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
दोच्चसमोसरणुद्देसपत्ताइं चेलाइं
पडिग्गाहित्तए॥

(सूत्र १७)

४२३५. दिट्ठं वत्थग्गहणं, न य वुत्तो तस्स गहणकालो उ।
ओसरणम्मि अगेज्झं, तेण समोसरणसुत्तं तु॥

पूर्वसूत्र में वस्त्रग्रहण का कथन हुआ है। वहां वस्त्र के
ग्रहणकाल का निर्देश नहीं है। प्रस्तुत सूत्र में यह निर्देश है
कि प्रथम समवसरण (वर्षाकाल) में वस्त्र का ग्रहण नहीं
करना चाहिए। वह द्वितीय समवसरण (ऋतुबद्धकाल) में
ग्राह्य है, अतः समवसरण सूत्र का प्रारंभ किया गया है।

४२३६. अहवा वि सउवधीओ, सेहो दव्वं तु एयमक्खायं।
तं काले खित्तम्मि य, गज्झं कहियं अगज्झं वा॥

अथवा पूर्वसूत्र में सोपधिकशैक्षणक्षण द्रव्य का आख्यान
है वह द्रव्य किस काल में और किस क्षेत्र में ग्राह्य है और
कहां अग्राह्य है—यह प्रस्तुत सूत्र में निर्दिष्ट है।

४२३७. पढमम्मि समोसरणे, उद्देसकडं न कप्पती जस्स।
तस्स उ किं कप्पंती, उग्गमदोसा उ अवसेसा॥

शिष्य कहता है—यदि प्रथम समवसरण में उद्देशकृत वस्त्र
जिस मुनि को लेना नहीं कल्पता, क्या उसको अवशिष्ट

आधाकर्म आदि पन्द्रह उद्गमदोषदुष्ट वस्त्र ग्रहण करना
कल्पता है?

४२३८. उद्देसग्गहणेण व, उग्गमदोसा उ सव्वे जति गहिता।
उप्पादणादि सेसा, तम्हा कप्पंति किं दोसा॥

यदि औद्देशिक के ग्रहण से सभी उद्गमदोष गृहीत हो
जाते हैं तो उत्पादन आदि शेष दोष कैसे कल्प सकते हैं?

४२३९. अहवा उद्दिस्स कता, एसणदोसा वि होंति गहिता तु।
आदीअंतग्गहणे गहिया उप्पादणा वि तर्हिं॥

अथवा उद्दिष्टकृत एषणादोष भी यहां गृहीत हो जाते हैं।
इसी प्रकार आदि-अन्त के ग्रहण से यहां उत्पादना दोष भी
गृहीत जानने चाहिए। आद्य है—औद्देशिकदोष और अन्त्य
है—एषणादोष। इन दो के ग्रहण से मध्यस्थित उत्पादना दोष
भी गृहीत हो जाते हैं।

४२४०. एए अ तस्स दोसा, उडुबद्धे जं च कप्पते घित्तुं।
कोई भणिज्ज दोसु वि, ण कप्पति सुत्तं तु सूएति॥

द्वितीय समवसरण अर्थात् ऋतुबद्धकाल में ये सारे दोष
उस साधु को कल्पते हैं—ऐसा कहने पर आचार्य कहते हैं—
दोनों समवसरणों में नहीं कल्पता। तब कोई कहता है—सूत्र
में इसकी अनुज्ञा की सूचना है।

४२४१. एवं सुत्तविरोधो, दोच्चम्मिं कप्पति त्ति जं भणितं।
सुत्तणिवातो जम्मि त, तं सुण वोच्छं समासेणं॥

सूत्र में कहा गया है कि दूसरे समवसरण में कल्पता है,
अतः आपका कथन सूत्र से विरुद्ध है। आचार्य कहते
हैं—‘जिस अर्थ में सूत्र का निपात है—अवतरण है, उसे मैं
संक्षेप में कहूंगा, तुम सुनो।’

४२४२. समोसरणे उद्देसे, छव्विधे पत्ताण दोण्ह पडिसेधो।
अप्पत्ताण उ गहणं, उवधिस्सा सातिरेगस्स॥

प्रथम समवसरण, ज्येष्ठावग्रह और वर्षावास—ये तीनों
एकार्थक हैं। द्वितीय समवसरण और ऋतुबद्ध—ये दोनों शब्द
एकार्थक हैं। समवसरण में जो उद्देश है, उसके छह निक्षेप
होते हैं—नामोद्देश, स्थापनोद्देश, द्रव्योद्देश, क्षेत्रोद्देश,
कालोद्देश और भावोद्देश। इनमें से दो उद्देशों—क्षेत्रोद्देश और
कालोद्देश में वस्त्र आदि के ग्रहण का प्रतिषेध है। इन उद्देशों
में अप्राप्त स्थिति में सातिरेक उपधि का ग्रहण होता है।
(इसका विस्तार आगे)।

४२४३. दव्वेणं उद्देसो, उद्दिस्सति जो व जेण दव्वेणं।
दव्वं वा उद्दिसते, दव्वब्भूओ तदट्ठी वा॥

द्रव्य से अर्थात् रजोहरण आदि से जो उद्देश किया जाता
है, वह है द्रव्योद्देश अथवा जो जिस सचित्त आदि द्रव्य से
उद्दिष्ट होता है वह है द्रव्योद्देश। अथवा व्याधि के उपशमन

के लिए जो द्रव्य-औषध उद्दिष्ट किया जाता है वह है द्रव्योद्देश तथा द्रव्यभूत-अनुपयुक्त ज्ञाता जो अंग-श्रुतस्कंध आदि को उद्दिष्ट करता है वह द्रव्योद्देश है तथा द्रव्यार्थी अर्थात् द्रव्य के निमित्त धनुर्वेदादिक को उद्दिष्ट करता है वह द्रव्योद्देश है।

४२४४. खित्तम्मि जम्मि खित्ते, उद्दिस्सति जो व जेण खेत्तेण।

एमेव य कालस्स वि, भावो उ पसत्थमपसत्थो ॥

क्षेत्र विषयक उद्देश-जिस क्षेत्र में अंग-श्रुतस्कंध आदि का उद्देश किया जाता है-वर्णन किया जाता है अथवा जो जिस क्षेत्र से उद्दिष्ट होता है, जैसे-भरत में उद्दिष्ट होने वाला भारत, सुराष्ट्र में होने वाला सौराष्ट्र आदि वह सारा क्षेत्रोद्देश है। जिस काल में अंग आदि का उद्देश किया जाता है या जिस काल से उद्दिष्ट होता है, जैसे सुषमाकाल में होने वाला सौषम, शरद् काल में होने वाला शारद आदि-यह सारा कालोद्देश है। भावोद्देश दो प्रकार का है-प्रशस्त और अप्रशस्त।

४२४५. कोहाई अपसत्थो, णाणामादी य होइ उ पसत्थो।

उदओ वि खलु पसत्थो, तित्थकरा-ऽऽहारउदयादी ॥

क्रोध आदि अप्रशस्त भावोद्देश है और ज्ञान-दर्शन आदि प्रशस्त भावोद्देश है। तीर्थकर के आहारक-यश-कीर्ति आदि नामकर्म का उदय भी प्रशस्त भावोद्देश है।

४२४६. खित्तेण य कालेण य, पत्ता-ऽपत्ताण होति चउभंगो।

दोहि वि पत्तो ततिओ, पढमो बितिओ य एक्केणं ॥

क्षेत्र और काल से प्राप्त और अप्राप्त की चतुर्भंगी होती है-१. क्षेत्र से प्राप्त काल से नहीं।

२. काल से प्राप्त क्षेत्र से नहीं।

३. क्षेत्र और काल दोनों से प्राप्त।

४. क्षेत्र और काल दोनों से प्राप्त नहीं।

इसमें तीसरा विकल्प दोनों से प्राप्त है। चौथा विकल्प दोनों से प्राप्त नहीं है। पहला और दूसरा विकल्प एक-एक से प्राप्त है।

४२४७. वासाखित्त पुरोखड, उडुबद्ध ठियाण खेत्तओ पत्तो।

अद्धाणमादिएहिं, दुल्लभखित्ते व बीओ उ ॥

वर्षाक्षेत्र को पुरस्कृत कर पहले से ही ऋतुबद्धकाल में स्थित मुनियों के लिए 'क्षेत्र से प्राप्त' यह प्रथम भंग होता है। अध्व-प्रतिपन्न आदि कारणों से अथवा वर्षावास क्षेत्र की दुर्लभता के कारण, अपान्तराल क्षेत्रों में आषाढपूर्णिमा आ गई-यह दूसरा विकल्प है।

४२४८. आसाढपुण्णिमाए, ठिया उ दोहिं पि होति पत्ता उ।

तत्थेव य पडिसिज्झइ, गहणं ण उ सेसभंगेसु ॥

वर्षाक्षेत्र में आषाढपूर्णिमा को स्थित हो जाने पर क्षेत्र-काल-दोनों से प्राप्त होते हैं। यह तीसरा भंग है। जो मुनि आषाढी पूर्णिमा से पूर्व अपान्तराल क्षेत्र में स्थित हैं, यह चतुर्थ भंग है। तीसरे भंग में ही वस्त्र आदि का ग्रहण प्रतिषिद्ध है। शेष भंगों में उसका प्रतिषेध नहीं है।

४२४९. दुण्ह जओ एगस्सा, णिप्फज्जति जं च होति वासासु।

अग्गहणम्मि वि लहुगा, तत्थ वि आणादिणो दोसा ॥

दो मुनियों के जितने उपकरण होते हैं, उतने उपकरण एक मुनि के वर्षाकाल में होने पर एक परिपूर्ण प्रत्यवतार निष्पन्न होता है। क्योंकि वर्षाऋतु में वर्षाकल्प आदि की आवश्यकता होती है, अतः उपकरण दुगुने हो जाते हैं। जो इतने वस्त्र ग्रहण नहीं करता उसके चतुर्लघु का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं।

४२५०. दव्वोवक्खर-णेहादियाण तह खार-कडुय-भंडाणं।

वासारत्त कुडुंबी, अतिरेगं संचयं कुणइ ॥

कुटुम्बी जन भी वर्षारित्र में इन सबका अतिरिक्त संचय करते हैं-द्रव्य-हिरण्य आदि, उपस्कर, स्नेह-घृत, तैल आदि, खार-लवण आदि, कटुक-शुण्ठी, पिप्पली आदि, भांड-घट, पिठर आदि।

४२५१. वणिग्या ण संचरंती, हट्टा ण वहंति कम्मपरिहाणी।

गेलण्णाऽऽएसेसु व, किं काहिति अगहिते पुब्बिं ॥

वर्षाकाल में वणिक् क्रय-विक्रय के लिए गांवों में घूमते हैं, वर्षाऋतु में हाट नहीं लगते अतः यदि कुटुम्बीजन संचय न करें तो उनके कर्म अर्थात् हलकर्षण आदि की हानि होती है। ग्लानत्व हो जाने पर, प्राधूर्णक के आ जाने पर वे कुटुम्बी क्या कर सकते हैं, यदि संचित किया हुआ न हो तो।

४२५२. तह अन्नतित्थिगा वि य,

जो जारिसो तस्स संचयं कुणति।

इह पुण छण्ह विराहण,

पढमम्मि य जे भणिय दोसा ॥

तथा अन्यतीर्थिकः भी अपने-अपने प्रयोजन के अनुसार उसका अतिरिक्त संचय करते हैं। जैनशासन में यदि यतिवर्ग वर्षाऋतु के लिए अतिरिक्त उपकरण ग्रहण नहीं करते तो छह जीवनिकायों की विराधना होती है और प्रथमसमवसरण (वर्षाकाल) में उपकरण-ग्रहण के जो दोष कहे गए हैं वे दोष भी प्राप्त होते हैं।

१. सरजस्क-राख का, दकसौकरिक-मिठी का, बोटिक-छगण और लवण का। (वृ. पृ. ११५३)

४२५३. रजोहरणेणोल्लेगं, पमज्जणे फरुससाल पुढवीए।
गामंतरित गलणे, पुढवी उदगं च दुविहं तु॥

वर्षाक्रतु में मुनिवर्ग फरुसशाला-कुंभकारशाला में स्थित हैं। वे आर्द्र रजोहरण से प्रमार्जन करते हैं। उससे पृथ्वीकाय की विराधना होती है। भिक्षाचर्या के लिए ग्रामान्तर में जाते-आते वर्षा में रजोहरण आर्द्र हो गया हो, उससे पानी झर रहा हो तो पृथ्वी तथा दो प्रकार के उदक भौम और अंतरिक्ष-की विराधना होती है।

४२५४. अहवा अंबीभूए, उदगं पणओ य तावणे अगणी।
उल्लंडगबंध तसा, ठाणाइसु केण व पमज्जे॥

भीगे हुए रजोहरण से पानी सूखता नहीं, इसलिए वह अम्लीभूत हो जाता है। उससे प्रमार्जन करने पर पानी की विराधना होती है। रजोहरण में पनक-फूलन आ जाती है। इस दोष को मिटाने के लिए यदि अग्नि से उसको तपाया जाता है तो अग्निकाय की विराधना होती है। उदकार्द्र रजोहरण से प्रमार्जन करने पर उल्लंडक-मिट्टी के गोलक रजोहरण की फलियों से लग जाते हैं। उससे प्रमार्जन करने पर त्रसकाय की विराधना होती है। तो प्रश्न होता है कि स्थान, निषीदन आदि में किससे प्रमार्जन किया जाए?

४२५५. एमेव सेसगम्मिं, संजमदोसा उ भिक्खणिज्जोए।
चोल-निसिज्जा उल्ले, अजीर गेलणमायाए॥

इसी प्रकार शेष उपकरण तथा भिक्षानिर्योग (पटलक, पात्रकबंध आदि) ग्रहण करने पर भी संयमदोष होते हैं। वर्षा से चोलपट्ट और निषद्या के भीग जाने पर, प्रतिदिन उनका परिभोग करने पर, अजीर्ण रोग उत्पन्न हो जाता है और उससे ग्लानत्व होता है। इससे आत्मविराधना होती है।

४२५६. अद्धाणणिग्गतादी, परिता वा अहव णड्ड गहणम्मि।
जं च समोसरणम्मिं, अणेणहणे जं च परिभोगो॥

अध्वनिर्गत मुनियों के पास परीत-परिमित वस्त्र होते हैं अथवा नष्ट-अपहृत उपकरण वाले या प्रत्यनीक के द्वारा गृहीत उपकरण वाले होते हैं। उनका यदि वस्त्र से अनुग्रह न किया जाए तो दोष लगता है। यदि प्रथमसमवसरण में वस्त्र ग्रहण किया जाए तो दोष जाल प्राप्त होता है। यदि उपकरण ग्रहण नहीं करते और तृण आदि का परिभोग करते हैं तो अनेक दूषण प्राप्त होते हैं।

४२५७. अद्धाणणिग्गयादीणमदेंते होति उवधिनिष्फन्नं।
जं ते अणेसणऽग्गिं, सेवे देंतऽप्पणा जं च॥

अध्वनिर्गत मुनियों के आने पर यदि उनको वस्त्र नहीं

३. सद असत्ता-वस्त्र अनेषणीय प्राप्त हो रहा है। अथवा सभी मुनि वस्त्र-ग्रहण करने के लिए कल्पिक नहीं हैं, केवल एक कल्पिक है,

दिए जाएं तो उपधिनिष्पन्न प्रायश्चित्त आता है। वे यदि वस्त्र के अभाव में अनेषणीय उपकरण या अग्नि का सेवन करते हैं तो उसका प्रायश्चित्त वस्त्र न देने वाले मुनियों को प्राप्त होता है। यदि वे मुनि अपने स्वयं के वस्त्र देते हैं और स्वयं तृण आदि का उपभोग करते हैं तो तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त आता है।

४२५८. अत्तट्ट परट्टा वा, ओसरणे गेणहमाणे पण्णरस।
वाउ परिभोग छप्पति, डउरं उल्ले य गेलण्णं॥

प्रथमसमवसरण में स्वयं के लिए या दूसरों के लिए उपधि ग्रहण करने पर पन्द्रह उदगम दोष प्राप्त होते हैं। अपनी उपधि दूसरों को देकर स्वयं एक ही प्रत्यवतार का प्रतिदिन भोग करता है तो उसमें जूं आदि सम्मूर्च्छित हो जाती है। भक्त-पान में उनके गिर जाने पर, उसका परिभोग करने पर जलोदर रोग हो सकता है तथा आर्द्र वस्त्रों को धारण करने से अजीर्ण रोग हो जाता है।

४२५९. तम्हा उ गेण्हियव्वं, वितियपदम्मिं जहा ण गेण्हेज्जा।
अद्धाणे गेलन्ने, अहवा वि भवेज्ज असतीए॥

इसलिए अतिरिक्त वस्त्र ग्रहण किए जा सकते हैं। अपवादपद में अर्थात् अध्वनिर्गत, ग्लानावस्था या असत्ता में अतिरिक्त वस्त्र ग्रहण नहीं किया जा सकता है। (व्याख्या आगे)

४२६०. कालेणेवदिणं, पाविस्सामंतरेण वाघातो।
गेलण्णे वाऽऽत-परे, दुविधा पुण होति असती उ॥

मार्गगत मुनियों ने सोचा कि इतने समय में हम वर्षाक्षेत्र में पहुंच जायेंगे। परंतु मध्य में ही कोई व्याघात हो गया। इसलिए काल के अतिक्रान्त होने पर वर्षाक्षेत्र में पहुंचे। फिर भी अतिरिक्त उपधि ग्रहण न करे। अथवा स्वयं के या दूसरे के ग्लान हो जाने पर भी अतिरिक्त उपधि ग्रहण न करे। असत्ता दो प्रकार की होती है-सदअसत्ता और असदअसत्ता।^१ इन कारणों से अतिरिक्त वस्त्र ग्रहण न करने पर भी मुनि शुद्ध है।

४२६१. गहिए व अगहिए वा, अप्पत्ताणं तु होति अतिगमणं।
उवही-संथारग-पादपुंछणादीण गहणट्टा॥

वर्षावास के प्रायोग्य उपधि को ग्रहण कर लेने या ग्रहण न करने पर भी वर्षावास काल के अप्राप्त होने पर भी पांच दिन पहले वहां प्रवेश किया जा सकता है। उसका प्रयोजन है-वर्षाकल्प आदि उपधि, संस्तारक, पादप्रौंछन-रजोहरण आदि तथा तृण, डगलक आदि को ग्रहण करने के लिए।

४२६२. कालेण अपत्ताणं, पत्ता-ऽपत्ताण खेत्तओ गहणं।
वासाजोगोवधिणो, खेत्तम्मि तु डगलमादीणि॥

अतः सभी के योग्य अतिरिक्त वस्त्र ग्रहण करना शक्य नहीं है।

असद असत्ता-मार्गणा करने पर भी वस्त्र नहीं मिलता।

काल से अप्राप्त तथा क्षेत्र से प्राप्त या अप्राप्त—ये वर्षावासयोग्य पटलक, पात्रबंध आदि का ग्रहण करते हैं—इससे प्रथम और चौथा भंग सूचित किया है। कालतः प्राप्त या अप्राप्त और क्षेत्रतः प्राप्त—ये डगलक आदि ग्रहण करते हैं। इससे दूसरा और तीसरा भंग सूचित किया है।

४२६३. डगल-ससरक्ख-कुडमुह-

मत्तगतिग-लेव-पादलेहणिया।

संधार-पीढ-फलगा,

गिज्जोगो चव दुगुणो तु॥

डगलक, सरजस्क—राख, कुटमुख—घटकंठक, मात्रक—त्रिक—खेलमात्रक, कायिकीमात्रक, संज्ञामात्रक, लेप, पाद-लेखनिका, संस्तारक, पीढ, फलक, नियोग—पात्र संबंधी तथा द्विगुण प्रत्यवतार—ये उस समय ग्रहण किए जाते हैं।

४२६४. चत्तारि समोसरणे, मासा किं कप्पती ण कप्पति वा।

कारणिग पंच रत्ता, सव्वेसिं मल्लगादीणं॥

शिष्य ने पूछा—आर्यवर! आषाढ़ पूर्णिमा के पश्चात् प्रथम समवसरण के चार मास में पूर्व कथित द्रव्य लेने कल्पते हैं या नहीं? सूरी ने कहा—उत्सर्गतः नहीं कल्पते। किन्तु सभी मल्लक आदि उपकरणों के लिए कारणवश पांच-पांच दिन रात के प्रवर्धमानरूप से यावत् भाद्रवपद शुक्ला पंचमी को ग्रहण करके या न करके पर्युषण कल्प की नियमतः स्थापना कर देनी चाहिए।

४२६५. तेसिं तत्थ ठिताणं, पडिलेहुच्छुद्ध चारणादीसु।

लेवाईण अगहणे, लहुगा पुव्विं अगहिते वा॥

जो वर्षावास में स्थित हैं उनकी सामाचारी यह है—सभा, प्रपा आदि में पथिकों द्वारा उत्सुद्ध—परित्यक्त वस्त्र की प्रत्युपेक्षा करे। उसके अभाव में चारणों के यहां उसकी प्रत्युपेक्षा करे। वर्षाकाल में लेप आदि ग्रहण करने पर तथा पूर्व में यदि लेप आदि ग्रहण न किए हो तो—दोनों में चतुर्लघु का प्रायश्चित्त आता है।

४२६६. वासाण एस कप्पो, ठायंता चव जाव उ सकोसं।

परिभुत्त विप्पइणं, वाघातट्ठा निरिक्खंति॥

वर्षावास में रहने वालों की यह सामाचारी है—वहां रहने वालों के लिए चारों ओर सकोश एक योजन तक कार्पिकों के द्वारा परिभुक्त या विप्रकीर्ण अन्नपान आदि का, व्याघात होने पर, निरीक्षण करते हैं। व्याघात हैं—

४२६७. अद्धाणणिग्गतादी, झामिय वूढे व सेह परिजुण्णे।

आगंतु बाहि पुव्विं, दिट्ठं अस्सणि-सण्णीसु॥

अध्वनिर्गत आदि मुनि आ जाएं, स्वयं की उपधि जल जाए, अथवा वह प्रवाहित हो जाए, शैक्ष यदि प्रव्राजनीय हो,

उपधि परिजीर्ण हो जाए—इन कारणों से आगंतुक तालचर आदि से पहले मार्गणा करनी चाहिए, फिर क्षेत्र के बाहर रहने वाले असंजी से, संजी से पूर्व दृष्ट वस्त्र की मार्गणा करनी चाहिए, ग्रहण करना चाहिए।

४२६८. तालायरे य धारे, वाणिय खंधार सेण संबट्ठे।

लाउलिग-वइग - सेवग - जामाउग - पंथिगादीसुं॥

पहले निम्न से मार्गणा करे—तालाचार—नट, नर्तक, धार—देवछत्रधारक, वणिक, स्कंधावार, सेना, संवर्त—डाकुओं के भय से नायकाधिष्ठित अनेक ग्रामों की एकत्र संस्थिति, लाकुटिक, ब्रजिक, सेवक, जामातृक, पथिक आदि से।

४२६९. आगंतुगेषु पुव्वं, गवेसती चारणादिसू बाहिं।

पच्छा जे सग्गामं, तालायरमादिणो एंति॥

सक्रोशयोजनान्तरगत बाह्य ग्रामों में जो आगंतुक चारण आदि हैं, उनमें पहले गवेषणा कर, पश्चात् चारणों के अभाव में, स्वग्राम में आगंतुक तालाचर आदि में गवेषणा करे।

४२७०. लद्धूण णवे इतरे, समणाणं देज्ज सेव-जामादी।

चारण-धार-वणीणं, पडंति इयरे उ सट्ठितगा॥

सेवक, जामातृक आदि नये वस्त्रों को प्राप्त कर इतर अर्थात् पुराने वस्त्र श्रमणों को देते हैं। चारण तथा देवच्छत्र-धारकों को राजा नए वस्त्र देता है तब वे पुराने वस्त्र साधुओं को दे देते हैं। वणिक वर्ग के वस्त्र मार्ग में गिर जाते हैं, सफेद वस्त्र साधु ग्रहण कर लेते हैं। इतर अर्थात् पथिक श्रावक हो सकते हैं, वे साधुओं को वस्त्र देते हैं।

४२७१. बहि-अंत-ऽसणि-सणिसु,

जं दिट्ठं तेसु चव जमदिट्ठं।

केयि दुहओ वऽसणिसु,

गहिते सण्णीसु दिट्ठितरे॥

बहिः अर्थात् क्षेत्राभ्यन्तर में प्रतिवृषभग्राम में असंजी या संजी से पूर्वदृष्ट वस्त्र की मार्गणा करे अथवा जो पूर्व में अदृष्ट वस्त्र है, उसकी मार्गणा करे। कुछ आचार्य कहते हैं—दोनों अर्थात् बाह्य और अन्तर ग्राम में यथाक्रम दृष्ट और अदृष्ट की गवेषणा करे। पहले असंजी से ग्रहण कर लेने पर पश्चात् संजी से दृष्ट और अदृष्ट वस्त्र ग्रहण करे।

४२७२. कोई तत्थ भणेज्जा, बाहिं खेत्तस्स कप्पती गहणं।

गंतुं ता पडिसिद्धं, कारण गमणे बहुगुणं तु॥

इस कथन पर कोई जिज्ञासु प्रश्न करता है—क्षेत्र के बाहर यदि प्रतिवृषभग्राम में वस्त्र का ग्रहण कल्पता है, क्या वह सदा के लिए कल्पेगा? वर्षा में वहां जाना भी प्रतिषिद्ध है तो फिर वस्त्र-ग्रहण की बात ही क्या? आचार्य कहते हैं—कारण से वर्षाकाल में बाहर जाना बहुत गुणों के लिए होता है।

४२७३. एवं नामं कप्पति, जं दूरे तेण बाहि गिण्हंतु।

एवं भणंति गुरुगा, गमणे गुरुगा व लहुगा वा॥

आचार्य शिष्य को कहते हैं कि यदि तुम यह कहते हो कि ग्राम से दूर अर्थात् ग्राम से बाहर यदि प्रारंभ से ही वस्त्र ग्रहण करना कल्पता है जो सदा बाहर कल्पेगा? इस प्रकार कहने वाले को चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है। क्षेत्र से बाहर गमन करने पर गुरु या लघु प्रायश्चित्त आता है—नवप्रावृद्ध में चतुर्गुरु और शेष वर्षावास में चतुर्लघु।

४२७४. संबद्ध-भाविस्सु, कप्पति जा पंच जोयणे कज्जे।

जुण्णे व वासकप्पं, गेण्हति जं बहुगुणं चऽण्णं॥

जो साधर्मिक संबंध से संबद्ध क्षेत्र हैं, उनमें साधर्मिकों के समाचार वहन करते हुए वर्षाकाल में पांच योजन तक जाना कल्पता है और यदि उसका वर्षाकल्प परिजीर्ण हो गया हो तो नए वर्षाकल्प को बहुगुणवाला मानकर उसे ग्रहण कर लेता है। तथा कारणवश अन्य वस्त्र भी वह ग्रहण करता है।

४२७५. आहाकम्मुद्देसिय, पूतीकम्मे य मीसजाए य।

ठवणा पाहुडियाए, पादोकर कीत पामिच्चे॥

४२७६. परियट्टिए अभिहडे, उब्भिण्णे मालोहडे इ य।

अच्छिज्जे अणिसिद्धे, धोते रत्ते य घट्टे य॥

ग्रहण करने पर ये १६ दोष होते हैं।

- | | |
|----------------|-------------------------|
| १. आधाकर्म | ९. प्रामित्य |
| २. औद्देशिक | १०. परिवर्तित |
| ३. पूतिकर्म | ११. अभ्याहृत |
| ४. मिश्रजात | १२. उद्भिन्न |
| ५. स्थापना | १३. मालापहत |
| ६. प्राभृतिका | १४. आच्छेद्य |
| ७. प्रादुष्करण | १५. अनिसृष्ट |
| ८. क्रीत | १६. धौत, रक्त और घृष्ट। |

४२७७. एते सव्वे दोसा, पढमोसरणे ण वज्जिता होति।

जिणदिट्ठेहिं अगहिते, जो गेण्हति तेहि सो पुट्ठो॥

ये सारे दोष प्रथम समवसरण में वस्त्र आदि के ग्रहण में वर्जित नहीं हैं। जो मुनि वर्षावश उपकरणों को पहले ग्रहण न कर प्रथम समवसरण में ग्रहण करता है वह तीर्थंकरों द्वारा दृष्ट कर्मबंध के दोषों से स्पृष्ट होता है।

४२७८. पढमम्मि समोसरणे, जावतियं पत्त-चीवरं गहियं।

सव्वं वोसिरियव्वं, पायच्छित्तं च वोढव्वं॥

प्रथम समवसरण में वर्षावश जितने पात्र और वस्त्र ग्रहण किए हैं उन सबको व्युत्सृष्ट कर प्रायश्चित्त वहन करना चाहिए।

४२७९. सज्झायद्वा दप्पेण वा वि जाणंतए वि पच्छित्तं।

कारण गहियं तु विद्दु, धरंतऽगीएसु उज्झंति॥

गीतार्थ भी यदि स्वाध्याय के लिए अथवा दर्पवश भी वस्त्र आदि लेता है तो उसे भी प्रायश्चित्त आता है। यदि सारे गीतार्थ हों और कारणवश लिया हो तो वे उसे धारण कर सकते हैं। यदि गच्छ गीतार्थ मिश्र हो तो दूसरे उपकरण मिलने पर, उसका परित्याग कर दे।

४२८०. आसाढपुण्णिमाए, वासावासासु होति अतिगमणं।

मग्गसिरबहुलदसमी, उ जाव एक्कम्मि खेत्तम्मि॥

आषाढ पूर्णिमा के दिन वर्षावास के क्षेत्र में अतिगमन अर्थात् प्रवेश करना चाहिए और (अपवाद में) मृगशिर कृष्णा दशमी तक एक ही क्षेत्र में रहा जा सकता है। उत्सर्ग में कार्तिक पूर्णिमा को वहां से निर्गमन कर देना चाहिए।

४२८१. बाहि ठिया वसभेहिं, खेत्तं गाहेत्तु वासपाउज्जं।

कप्पं कधेत्तु ठवणा, सावणबहुलस्स पंचाहे॥

वृषभ मुनि वर्षाप्रायोग्य क्षेत्र के निकट ठहरे हुए हैं। वे वर्षाक्षेत्र की सामाचारी को ग्रहण करते हैं अर्थात् तृण, डगलक आदि वर्षाप्रायोग्य वस्तुओं को ग्रहण करते हैं। मुनि आषाढपूर्णिमा को प्रवेश कर प्रतिपदा से पांच दिनों में पर्युषणाकल्प का कथन कर श्रावण कृष्णा पंचमी को वर्षाकाल की सामाचारी की स्थापना करते हैं।

४२८२. एत्थ य अणभिग्गहियं, वीसतिरायं सवीसगं मासं।

तेण परमभिग्गहियं, गिहिणायं कत्तिओ जाव॥

श्रावण कृष्णा पंचमी को पर्युषणा की स्थापना कर देने पर भी अनवधारित है, ऐसा गृहस्थों के सामने कहना चाहिए। शिष्य पूछता है, इस अनवधारित का इयत्ताकाल कितना है? आचार्य कहते हैं—अभिवर्धित संवत्सर में बीस दिन-रात और चान्द्रसंवत्सर में एक मास बीस दिन—यह अनवधारित का इयत्ताकाल है। उसके पश्चात् अभिगृहीत अर्थात् निश्चित कर देना चाहिए। गृहस्थों के पूछने पर ज्ञापना कर देनी चाहिए कि हम यहां वर्षाकाल के लिए स्थित हैं। हम यहां कार्तिक मास तक रहेंगे। ऐसा गृहिज्ञात करना चाहिए।

४२८३. असिवाइकारणेहिं, अहवण वासं ण सुट्ठु आरद्धं।

अभिवद्धियम्मि वीसा, इयरेसु सवीसती मासे॥

शिष्य ने पूछा—अनवधारित काल इतना क्यों? सूरी कहते हैं—कदाचित् उस क्षेत्र में अशिव आदि हो जाए, अथवा वर्षा का बरसना अभी ठीक से प्रारंभ नहीं हुआ है, अतः अपवादों से बचने के लिए अभिवर्धित संवत्सर में बीस दिन और चान्द्र संवत्सर में एकमास बीस दिन का अनवधारित काल है।

४२८४. एत्थ उ पणंगं पणंगं, कारणिगं जा सवीसती मासो।
सुद्धदसमीठियाण व, आसाढीपुण्णिमोसरणं॥

अत्र अर्थात् आषाढ पूर्णिमा में स्थित साधु-साध्वी श्रावण कृष्णा पंचमी को पर्युषणा करते हैं। यदि आषाढी पूर्णिमा को वर्षावास के क्षेत्र को प्राप्त न हुए हों तो पांच दिन-रात तक वर्षावासप्रायोग्य उपधि को ग्रहण कर, दसमी को पर्युषणा करते हैं। इस प्रकार कारणवश पांच-पांच रात-दिन बढ़ाते हुए तब तक यह बढ़ाते रहें, जब तक कि एकमास और बीस दिन-रात न बीत जाएं। अथवा जो आषाढ शुक्ला दसमी को वर्षाक्षेत्र में स्थित हो गए हों तो वे आषाढी पूर्णिमा को समवसरण अर्थात् पर्युषणा करते हैं। यह उत्सर्ग विधि है। अपवाद में भी आषाढी पूर्णिमा से आगे एक मास और बीस रात का अतिक्रमण करना ही नहीं चाहिए अर्थात् भाद्रपद शुक्ला पंचमी को तो पर्युषणा कर ही लेना चाहिए।

४२८५. इय सत्तरी जहण्णा, असिती णउई दसुत्तर सयं च।
जति वासति मग्गसिरे, दस राया तिण्णि उक्कोसा॥

जो आषाढी पूर्णिमा से आगे एक मास और बीस दिन-रात को पर्युषणा करते हैं उनके ७० दिन का जघन्य वर्षावास होता है तथा भाद्रव शुक्ला पंचमी से कार्तिक पूर्णिमा तक भी ७० दिन ही रहते हैं। जो भाद्रव कृष्णा दशमी को पर्युषणा करते हैं, उनके ८० दिन का मध्यम वर्षावास होता है। जो श्रावणी पूर्णिमा को पर्युषणा करते हैं उनके कार्तिक पूर्णिमा तक ९० दिन का, श्रावण शुक्ला पंचमी को पर्युषणा करने वाले के १०० दिन का और श्रावण कृष्णा को पर्युषणा करने पर ११० दिन का वर्षावास होता है। यदि मृगसर मास में वर्षा होती है तो उत्कृष्टतः तीन दस रात्रियों तक (अर्थात् पूरे मृगसर मास तक) वहां रहा जा सकता है। फिर पौष की प्रतिपदा को अवश्य विहार कर देना चाहिए। यह पंचमासिक उत्कृष्ट वर्षावास है।

४२८६. काऊण मासकप्पं, तत्थेव ठिताणऽतीते मग्गसिरे।
सालंबणाण छम्मासिओ उ जेड्ढोग्गहो होति॥

जिस क्षेत्र में आषाढमासकल्प किया है और वहीं वर्षावास किया है और वर्षा आदि के कारण मृगसर मास में भी वहीं रहना पड़ता है तो ऐसे सालंबन मुनियों के छह मास का ज्येष्ठावग्रह-उत्कृष्ट वर्षावास होता है।

४२८७. अह अत्थि पदवियारो,

चउपाडिवयम्मि होति निग्गमणं।

अहवा वि अणित्ताणं,

आरोवण पुव्वनिदिट्ठा॥

यदि पाद विहार योग्य मार्ग हों तो चातुर्मास के बाद आने

वाली प्रतिपदा को निर्गमन कर देना चाहिए। यदि निर्गमन नहीं करते तो पूर्वनिर्दिष्ट आरोपणा प्रायश्चित्त (चतुर्लघु) आता है।

४२८८. पुण्णम्मि णिग्गयाणं, साहम्मियखेत्तवज्जिते गहणं।
संविग्गाण सकोसं, इयरे गहियम्मि गेण्हंति॥

वर्षावास पूर्ण होने पर निर्गत निर्ग्रन्थ साधर्मिकों द्वारा किए गए वर्षावास क्षेत्र को छोड़कर अन्य ग्राम-नगरों में उपकरण ग्रहण कर सकते हैं। सांभोगिक मुनियों का जो वर्षाक्षेत्र हो, उसका सक्रोशयोजन तक के क्षेत्र को छोड़कर उपकरण ग्रहण कर सकते हैं। इतर अर्थात् पार्श्वस्थ आदि का जो वर्षावासक्षेत्र हो वहां उनके द्वारा उपकरण ग्रहण कर लेने के पश्चात् मुनि वहां उपकरण ग्रहण कर सकते हैं।

४२८९. वासासु वि गिण्हंती, णेव य णियमेण इतरे विहरंती।
तहिंइं सुद्धमसुद्धे, गहिए गिण्हंति जं सेसं॥

पार्श्वस्थ आदि वर्षात्रतु में भी वस्त्र लेते हैं। वे नियमतः चतुर्मास के पश्चात् विहार नहीं करते। अतः शुद्ध या अशुद्ध रूप से गृहीत उपकरणों के पश्चात् शेष वस्त्र आदि मासद्वय के मध्य में लिए जा सकते हैं।

४२९०. सक्खेत्ते परखेत्ते वा, दो मासा परिहरेत्तु गेण्हंति।
जं कारणं ण णिग्गय, तं पि बहिंइंसियं जाणे॥

वह क्षेत्र जहां स्वयं ने वर्षावास किया था अथवा परक्षेत्र अर्थात् जहां संविग्न मुनियों ने वर्षावास किया हो, उन क्षेत्रों में दो मास का वर्जन कर तीसरे मास में वस्त्र आदि लिए जा सकते हैं। चतुर्मास के अनन्तर कारणवश जितने समय तक विहार न किया हो, उस काल को भी बहिर्निर्गत काल की भांति मानना चाहिए।

४२९१. चिक्खल-वास-असिवादिएसु

जहिं कारणेसु उ ण णिति।

दिते पडिसेधेत्ता,

गेण्हंति उ दोसु पुण्णेसु॥

मार्ग चिक्खलयुक्त हो गए हों, वर्षा अभी तक न रुकी हो, अशिव, दुर्भिक्ष आदि हों—इन कारणों से चतुर्मास के बाद विहार न हुआ हो और यदि वहां कोई वस्त्र आदि ग्रहण करने के लिए निमंत्रण दे तो उसका प्रतिषेध करे। दो मास पूर्ण हो जाने पर वस्त्र आदि ग्रहण किए जा सकते हैं।

४२९२. भावो उ णिग्गतेहिं, वोच्छिज्जइ दैति ताइं अण्णस्स।

अत्तद्धेति व ताइं, एमेव य कारणमणिते॥

वर्षावास में स्थित मुनियों के विहार कर जाने पर श्रद्धालुओं के वस्त्रदान के जो भाव थे वे व्यवच्छिन्न हो जाते हैं। वे फिर उन वस्त्रों को दूसरों को देते हैं अथवा उनका

स्वयं के लिए उपभोग करते हैं। यदि कारणवश वहीं रहना पड़े तो दो मास के पश्चात् उनको ग्रहण किया जा सकता है अथवा कारणवश दो मास के मध्य में भी उन्हें ग्रहण कर सकता है।

४२९३. गच्छे सबाल-बुद्धे, असती परिहर दिवह्मासं तु।
पणतीसा पणुवीसा, पण्णरस दसेव एक्कं च॥

सबाल-वृद्ध गच्छ में वस्त्र का यदि अभाव हो तो डेढ़ मास का वर्जन कर अन्तर वस्त्र लिए जा सकते हैं। यदि डेढ़मास का परिहार शक्य न हो तो २५ दिन का परिहार करे, यदि वह भी शक्य न हो तो पन्द्रह दिन या दस दिन या एक दिन का परिहार अवश्य करे।

४२९४. बाल-ऽसहु-बुद्ध-अतरंग-

खमग-सेहाउलम्मि गच्छम्मि।

सीतं अविसहमाणे,

गेण्हंति इमाए जयणाए॥

वस्त्र के अभाव में बाल, असहिष्णु, वृद्ध, ग्लान, क्षपक—इनसे आकुल गच्छ में शीत को सहना असंभव होता है अतः इस वक्ष्यमाण यतना से स्वक्षेत्र या परक्षेत्र में वस्त्र ग्रहण कर सकते हैं।

४२९५. पंचूणे दो मासे, दसदिवसूणे दिवह्मासं वा।
दस-पंचऽधियं मासं, पणुवीसदिणे व वीसं वा॥
४२९६. पन्नरस दस य पंच व, दिणाणि परिहरिय गेण्ह एगं वा।
अहवा एक्केकदिणं, अउणद्धिदिणाइं आरब्भ॥

मुनि कारणवश आषाढ मास में वर्षावासक्षेत्र में स्थित हुए हों तो पांच दिन न्यून दो मास छोड़कर वस्त्र ग्रहण करें। अथवा दस दिवस न्यून दो मास, डेढ़ मास अथवा दस या पांच दिवस अधिक एक मास, पचीस दिन, बीस दिन, पन्द्रह दिन, दस दिन, पांच दिन यथाक्रम से छोड़कर वस्त्र लिए जा सकते हैं। यदि शीत सहन करने में असमर्थ हों तो चार दिन, तीन दिन, दो दिन छोड़कर वस्त्र ग्रहण किए जा सकते हैं। अथवा यहां एक-एक दिन की हानि करनी चाहिए। जैसे—जहां वर्षावास किया है वहां साठ दिनों के पश्चात् वस्त्र ग्रहण किया जा सकता है। कारणवश उनसठ दिनों से आरंभ कर एक-एक दिन की हानि करते हुए, एक दिन शेष रहते वस्त्र ग्रहण किया जा सकता है।

४२९७. बिइयम्मि समोसरणे, मासा उक्कोसगा दुवे होंति।

ओमत्थगपरिहाणीय पंच पंचेव य जहण्णे॥

दूसरे समवसरण में अर्थात् ऋतुबद्धकाल में जहां उत्कृष्टतः एक मास रह चुके हैं तो दो मास उत्कृष्टतः

१. उत्कृष्टतः चतुर्लघु, मध्यम मासिक और जघन्यतः पंचक।

छोड़कर फिर वस्त्र ग्रहण करें। कारणवश अवाङ्मुख परिहानि से पांच-पांच दिनों की हानि करते हुए जघन्यतः एक दिन का परिहार कर फिर वस्त्र लें।

४२९८. अपरिहरंतस्सेते, दोसा ते च्चेव कारणे गहणं।
बाल-बुद्धाउले गच्छे, असती दस पंच एक्को य॥

ऋतुबद्धकाल में जहां एक मास रह गए वहां दो महीनों का परिहार करना चाहिए। यदि परिहार नहीं किया जाता है तो वे ही दोष प्राप्त होते हैं जो वर्षावास में दो महीनों का परिहार न करने पर होते हैं। कारण में वस्त्र-ग्रहण किया जा सकता है। बाल-वृद्धाकुल गच्छ में वस्त्र के अभाव में एक-एक की परिहानि से दस-पांच अथवा एक दिन की परिहानि पर्यन्त यह क्रम करें।

४२९९. करणाणुपालयाणं, भगवतो आणं पडिच्छमाणाणं।
जो अंतरा उ गेण्हति, तद्धानारोवणमदत्तं॥

जो मुनि चरण-करण के अनुपालक हैं तथा जो भगवान् वर्द्धमान स्वामी की आज्ञा को यथावत् स्वीकार करते हैं, उनके द्वारा अगृहीत वस्त्रों को जो लेते हैं, उनको स्वस्थान-प्रायश्चित्त आता है।^१ तथा वह अदत्त का ग्रहण भी होता है।

४३००. उवरिं पंचमपुण्णे, गहणमदत्तं गत त्ति गेण्हंति।
अणपुच्छ दुपुच्छा वा, तं पुण्णे गत त्ति गेण्हंति॥

परक्षेत्र में दो मास और पांच दिन न बीतने पर जो वस्त्र-ग्रहण करता है, उसके अदत्तादान दोष लगता है। यदि वे जान जाते हैं कि क्षेत्रस्वामी वहां से चले गए हैं तो अवधि पूर्ण होने से पूर्व भी वे ग्रहण करते हैं। यदि क्षेत्रस्वामी परदेश न गए हों तो वे बिना पूछे या दुःपृच्छा—अविधि से पूछकर ग्रहण करते हैं तो वे भी अदत्तादान दोष को प्राप्त होते हैं। अतः वे मुनि वस्त्र आदि का ग्रहण दो मास पूर्ण होने पर तभी करते हैं जब वे निश्चयरूप से जान लेते हैं कि क्षेत्रस्वामी परदेश चले गए हैं।

४३०१. गोवाल-वच्छवाला-कासग-आदेस-बाल-बुद्धाई।
अविधी विही उ सावग-महतर-धुवकम्मि-लिंगत्था॥

गोपाल, वत्सपाल, कृषक, अतिथि, बालक या वृद्ध—इनको पूछना अविधि पृच्छा है और श्रावक, महतर, धुवकर्मिक—लोहकार, रथकार आदि तथा लिंगस्थ—इनको पूछना विधिपृच्छा है।

४३०२. गंतूण पुच्छिऊण य, तेसिं वयणे गवेसणा होति।
तेसाऽऽगतेसु सुद्धेसु जत्तियं सेस अग्गहणं॥
क्षेत्रस्वामी के पास जाकर विधिवत् पूछा कर, उनके वचन अर्थात् अनुज्ञा से वस्त्र-गवेषणा करनी चाहिए। वस्त्र-

ग्रहण किया और वे क्षेत्रस्वामी आ गए तो उनको विधिपूर्वक पूछकर जितना वस्त्र शुद्ध हो अर्थात् उनकी अनुज्ञा हो उतना ग्रहण करें, शेष ग्रहण न करे।

४३०३.उत्पन्न कारणाऽऽगंतु पुच्छिउं तेहि दिण्ण गेण्हंति।

तेसाऽऽगयेसु सुद्धेसु जत्तियं सेस अग्गहणं॥

कारण उत्पन्न होने पर परक्षेत्र में वस्त्र-ग्रहण करने के लिए आते हैं। वे क्षेत्रस्वामी के पास जाकर पूछते हैं तथा उनके द्वारा अनुज्ञा प्राप्त कर वस्त्र-ग्रहण करते हैं। यदि शुद्ध अर्थात् मूल क्षेत्रस्वामी आ जाएं तो वे जितने वस्त्र-ग्रहण की अनुज्ञा देते हैं, उतना ही स्वीकार करे, शेष को न ले।

४३०४.पडिजग्गंति गिलाणं, ओसहहेऊहि अहव कज्जेहिं।

एतेहिं होति सुद्धा, अह संखडिमादि तह चेव॥

क्षेत्रिक मुनि मासद्वय पूर्ण जाने पर भी इन कारणों से नहीं आ पाते—वे ग्लान की परिचर्या में संलग्न हों, औषधि की गवेषणा कर रहे हों, अथवा कुल-गुण-संघ के कार्यों में व्यस्त हों—इन कारणों से रुके हुए मुनि शुद्ध हैं। जो संखडी आदि के कारण रुके हैं, वे अशुद्ध हैं अर्थात् दो मास तक तो वह उनका क्षेत्र था, पश्चात् वह क्षेत्र उनके स्वामित्व में नहीं रहता।

४३०५.तेणभय सावयभया,

वासेण णदीय वा वि (नि) रुद्धाणं।

दायव्वमदेताणं,

चउगुरु तिविहं च णवमं वा॥

विशुद्ध कारण ये हैं—स्तेनभय, श्वापदभय, वर्षाभय से तथा नदी के कारण अवरुद्ध हो गए हों—वे यदि विलंब से आते हैं तो भी उनके आने पर जो वस्त्र आदि पहले लिए हैं, उनको प्रत्यर्पित करे। जो ऐसा नहीं करता उसके तीन प्रकार का प्रायश्चित्त—पंचक, मासिक तथा चतुर्लघु अथवा 'नवक'—सूत्र के आदेश से अनवस्थाप्य प्राप्त होता है।

४३०६.परदेसगते णाउं, सयं व सेज्जातरं व पुच्छित्ता।

गेण्हंति असढ्ढभावा, पुण्णेसु तु दोसु मासेसु॥

क्षेत्रीय मुनियों को स्वयं भी परदेश गए हुए जानकर अथवा शय्यातर को पूछकर, अशठभाव से दो मास पूर्ण होने पर वस्त्र ग्रहण करता है।

४३०७.बिइयपदमणाभोगे, सुद्धा देता अदेते ते च्चेव।

आउट्टिया गिलाणादि जत्तियं सेस अग्गहणं॥

इसमें अपवादपद यह है—अनाभोग अर्थात् यह सम्यक् रूप से नहीं जान पाए कि यहां मुनियों ने वर्षाकल्प या मासकल्प किया या नहीं और वे परक्षेत्र में वस्त्र आदि ग्रहण कर लेते हैं, और सम्यग् जान लेने पर गृहीत वस्त्र आदि

क्षेत्रिकों को प्रत्यर्पित कर देते हैं, वे शुद्ध हैं। जो प्रत्यर्पित नहीं करते, उनके वे ही पूर्वोक्त दोष होते हैं। आकुट्टी अर्थात् आभोग से जानकर ग्लान के लिए ग्रहण किया, उसमें से ग्लान के लिए जितना आवश्यक हो उतना रखे, शेष का ग्रहण न करे।

आहाराइणियं वत्थादि-पदं

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा

अहाराइणियाए चेलाइं पडिग्गाहित्तए॥

(सूत्र १८)

४३०८.दिइं वत्थग्गहणं, तेसिं परिभायणे इमं सुत्तं।

अविणय असंविभागा, अधिकरणादी य णेवं तु॥

द्वितीय समवसरण में वस्त्रग्रहण की विधि देख ली गई, ज्ञात हो गई। प्रस्तुत सूत्र उसके विभाजन की विधि बताता है। शिष्य ने पूछा कि विभाजन का क्या प्रयोजन? आचार्य कहते हैं—इस प्रकार यथारात्निक वस्त्रों का विभाजन कर दिए जाने पर अविनय, असंविभाग तथा अधिकरण आदि दोष नहीं होते।

४३०९.संघाडएण एक्कतो, हिंडंती वंदएण जयणाए।

साधारणऽणापुच्छा, उ अदत्तं एक्कओ भागा॥

वस्त्रग्रहण करने के लिए एक दिशा में एक संघाटक घूमता है। उसे वस्त्र प्राप्त नहीं हुए तब अनेक साधु यतनापूर्वक घूमते हैं। वह क्षेत्र साधारण है अर्थात् अनेक आचार्यों के लिए समान है। उन सबको बिना पूछे वस्त्र आदि ग्रहण करना अदत्त दोष प्राप्त होता है, यह साधर्मिक स्तैन्य है। पृच्छापूर्वक लेकर उन वस्त्रों का एक समान भाग करने चाहिए।

४३१०.निस्साधारण खेत्ते, हिंडंतो चेव गीतसंघाडो।

उप्पादयते वत्थे, असती तिग्गमादिवंदेणं॥

निस्साधारण क्षेत्र अर्थात् एक आचार्य के प्रतिबद्ध क्षेत्र में गीतार्थ संघाटक वस्त्रों के लिए घूमता है और वह वस्त्रों का उत्पादन नहीं कर पाता तो तीन-चार-पांच साधुओं का समूह पर्यटन करता है और वस्त्रों की प्राप्ति करता है।

४३११.दुगमादीसामण्णे, अणपुच्छा तिविह सोधि णवमं वा।

संभोइयसामन्ने, तह चेव जहेक्कगच्छम्मि॥

जो क्षेत्र दो-तीन आदि आचार्यों का सामान्य क्षेत्र है, वहां बिना पूछे वस्त्र आदि ग्रहण करता है तो उसके तीन प्रकार की शोधि अर्थात् प्रायश्चित्त आता है—जघन्यतः पंचक,

मध्यम मासिक तथा उत्कृष्टतः चतुर्लघु अथवा नवक अर्थात् अनवस्थाप्य। यदि वह क्षेत्र सांभोगिक सामान्य हो तो वहां वस्त्रग्रहण की वही विधि है जो एक गच्छ में होती है।

४३१२.अमणुण्णकुलविरेगे, साही पडिवसभ-मूलगामे य।
अहवा जो जं लाभी, ठायंति जधासमाधीए॥

जो क्षेत्र असांभोगिक मुनियों के साथ में हो वहां कुलों का विभाजन करे, साहिका अर्थात् गृहपंक्तियों का अथवा प्रतिवृषभग्राम और मूलग्राम का विभाजन करे अथवा जो जिसको लाभ हो वह उसको ग्रहण करे। इनमें से कोई एक व्यवस्था को स्थापित कर यथासमाधि निवास करे।

४३१३.वत्थेहिं आणितेहिं, देंति अहारातिणिं तहिं वसभा।
अदाणे गुरुणो लहुगा, सेसे लहुओ इमे होंति॥

वस्त्रों को ले आने पर वृषभ मुनि यथारत्निकों के क्रम से उन वस्त्रों को देते हैं। यदि उन वस्त्रों में से गुरु को पहले वस्त्र नहीं देते हैं तो चतुर्लघु का प्रायश्चित्त आता है, शेष वस्त्रों को यथारत्निक के क्रम से न देने पर लघुमास का प्रायश्चित्त विहित है। रत्नाधिक ये आगे कहे जाने वाले होते हैं।

४३१४.विदु वखमा जे य मणाणुकूला,
जे योवजुज्जंति असंथरंते।

गुरुस्स साणुग्गहमप्पिणित्ता,

भाएंति सेसाणि उ झंझहीणा॥

वृषभ मुनि जानते हैं कि कौनसे वस्त्र दृढ़ हैं, मनोनकूल हैं, कौन से वस्त्र वस्त्राभाव वाले गच्छ में उपयोग में आ सकते हैं चाहे वे वस्त्र गुरु द्वारा उपभुक्त भी क्यों न हों। वे वस्त्र गुरु के सानुग्रह से उन मुनियों को अर्पित कर देते हैं। शेष वस्त्रों को यथारत्निक विभाजित कर देने से कलह आदि नहीं होता।

४३१५.उवसंपज्ज गिलाणे, परित्त सुत सोअव्वए य जाती य।
तव भासा लद्धीए, ओमे दुविहस्स अरिहा उ॥

रत्नाधिक ये माने जाते हैं—उपसंपन्न, ग्लान, परीत्त—परिमित उपधि वाला, सुत—बहुश्रुत, श्रोतव्य—जो व्याख्यान-मंडली में सूत्रार्थ के सुनने में ज्येष्ठ माना जाता है, जातिस्थविर, तपस्वी, अभाषिक—उस देश की भाषा से अनभिज्ञ, वस्त्र प्राप्ति की लब्धि से संपन्न, पर्यायस्थविर तथा ओम—अवमरत्नाधिक—ये सब मुनि यथाक्रम दोनों प्रकार

की उपधि—ओघउपधि और औपग्रहिकउपधि—के योग्य माने जाते हैं।

४३१६.एएसि परूवणया, जा य विणा तेहिं होति परिहाणी।
अहवा एक्केक्कस्स उ, अहोक्कंतीक्कमो होति॥

इनकी प्ररूपणा—व्याख्या की जा चुकी है। वस्त्राभाव के कारण इनके जो संयमविराधना आदि होती है, उससे निष्पन्न प्रायश्चित्त आता है। अथवा उपसंपन्न आदि एक-एक को अर्द्धापक्रांतिक्रम से वस्त्र देना चाहिए। वह इस प्रकार है—

४३१७.उवसंपज्ज गिलाणो,

अगिलाणो वा वि दोण्णि वि गिलाणा।

तत्थ वि य जो परित्तो,

एस गमो सेसगेसुं पि॥

उपसंपन्न दो प्रकार के होते हैं—ग्लान और अग्लान। ग्लान को पहले देना चाहिए। दोनों ग्लान हों तो परीत्त—परिमित उपधि वाले को पहले देना चाहिए। यही प्रकार शेष के विषय में जानना चाहिए। जैसे—दोनों परीत्तोपधि अथवा अपरीत्तोपधि हों तो बहुश्रुत को देना चाहिए। दोनों बहुश्रुत हों तो चिन्तनिकारक को (अर्थात् श्रोतव्य को), दोनों चिन्तनिकारक हों तो जातिस्थविर को। दोनों जातिस्थविर हों तो तपस्वी को, दोनों तपस्वी हों तो अभाषिक को, दोनों अभाषिक हों तो लब्धिमान् को देना चाहिए।

४३१८.आयरिए य गिलाणे, परित्त पूया पवत्ति थेर गणी।
सुत भासा लद्धीए, ओमे परियागरातिणिणिए॥

पहले आचार्य को वस्त्र देकर पश्चात् ग्लान को देना चाहिए। तत्पश्चात् परीत्त उपधिवाले को, फिर पूजनाहं^१ को (उपाध्याय तथा गुरु संबंधी पिता, चाचा आदि), प्रवर्ती, गणावच्छेदी, श्रुतसंपन्न, अभाषिक और लब्धिसंपन्न—इनको यथाक्रम देना चाहिए। अर्द्धापक्रान्तिचारणिका करनी चाहिए। तत्पश्चात् पर्यायस्थविर को, फिर अवमरत्निक को यथाक्रम देना चाहिए। यह विधि संघाटक द्वारा आनीत वस्त्रों के लिए है।

४३१९.गेगेहिं आणियाणं, परित्त परियाग खुभिय पिंडेत्ता।
आवलिया मंडलिया, लुद्धस्स थ सम्मता अक्खा॥

अनेक साधुओं द्वारा आनीत वस्त्रों के विभाजन की विधि यह है—आचार्य आदि के क्रम से परीत्तोपधि तक देकर न घूमने वाले पर्यायस्थविरों को देना चाहिए। वस्त्र लाने वाले

१. (क) अथवा अण्णा विइमा, अधरातिणिणिए होति परिवाडी।

आयरिए य गिलाणे, परित्त पुज्जे गुरूणं च॥

पूताऽआयरियपिमाती, ततो पवत्ती य थेरगण गच्छे।

सुत-भासा, लद्धीए, तोमे परिआगरायणिणिए॥ (वृ. पृ. ११६९)

(ख) पूयणारिहस्स उवज्झायस्स—चूर्णि, विशेषचूर्णि।

मुनि एकत्रित होकर क्षोभ कर सकते हैं, कलह हो सकता है। उनमें से कोई मुनि कहता है—वस्त्रों का विभाग आवलिका अथवा मंडलिका के आधार पर करना चाहिए। किसी लुब्ध मुनि का यह मत होता है कि पाशों को फेंककर वस्त्रों का विभाग करना चाहिए।

४३२०. गेण्हंतु पूया गुरवो जदिहं,

सच्चं भणामऽम्ह वि एयदिहं।

अणुण्हसंवद्वियऽककसंगा,

गिण्हंति जं अन्नि न तं सहामो ॥

वस्त्र लाने वाले मुनि कहते हैं—गुरु पूज्य होते हैं। वे अपने मनोनुकूल वस्त्र ग्रहण करते हैं तो वह सत्य है—उचित है, यह हम भी कहते हैं, यह हमें इष्ट भी है। परंतु जिन मुनियों ने वस्त्र लाने का श्रम किया ही नहीं, जिनके अंग-प्रत्यंग अनुष्ण, असंवर्तित और अकर्कश ही बने रहे, ऐसे अन्य मुनि यदि वस्त्र पहले प्राप्त करते हैं तो उसे हम सहन नहीं कर सकते।

४३२१. आगंतुगमादीणं, जइ दायव्वाइं तो किणा अम्हे।

कम्मरभिव्वुयाणं, गाहिज्जामो गइमसग्घं ॥

यदि हमारे आनीत वस्त्र आप आगंतुक—उपसंपन्न, ग्लान आदि मुनियों को देते हैं तो फिर हम क्यों कर्मकार भिक्षुओं की निन्दनीय गति को ग्रहण करें? अर्थात् देवद्रोणी वाहक मुनियों की भांति व्यर्थ ही वस्त्रों को लाने का भार क्यों वहन करें?

४३२२. विरिच्चमाणे अहवा विरिक्के,

खोभं विदित्ता बहुगाण तत्थ।

ओमेण कारिंति गुरु विरेगं,

विमज्झिमो जो व तहिं पडू थ ॥

वस्त्रों का विभाग किए जाने पर अथवा कर दिए जाने पर अनेक मुनियों का उस विभाग संबंधी क्षोभ जानकर गुरु पर्यायलघु वाले मुनि से अथवा विमध्यपर्यायवाले मुनि से जो पट्ट हो, उससे विभाग कराते हैं।

४३२३. आवलियाए जतिहं, तं दाऊणं गुरूण तो सेसं।

गेण्हंति कमेणेव उ, उप्परिवाडी न पूयेंति ॥

४३२४. मंडलियाए विसेसो, गुरूगहिते सेसगा जहावुहं।

भाए समे करेत्ता, गेण्हंति अणंतरं उभओ ॥

असंतुष्ट मुनि कहते हैं—आवलिका अथवा मंडलिका से वस्त्रों का विभाग करिए। उसकी विधि यह है—आवलिका अर्थात् ऋजु-आयत श्रेणी में वस्त्रों का व्यवस्थापन। ऐसा करने के पश्चात् गुरु को जो इष्ट हो वह श्रेणी गुरु को अर्पित कर शेष यथारत्निक के क्रम से ग्रहण करते हैं। जो

परिपाटी से विपरीत ग्रहण करते हैं, उनकी प्रशंसा नहीं होती।

मंडलिका पद्धति में भी इसी क्रम के अतिरिक्त कुछ विशेष भी है। जैसे—गुरु द्वारा ग्रहण कर लेने पर जो शेष रहा है उसको यथावृद्ध के क्रम से समान भागों में बांटकर, उभय अर्थात् आद्यन्त पार्श्व में अव्यवहित वस्त्रों को ग्रहण करते हैं। इसका तात्पर्य यह है—मंडलिका में वस्त्रों को स्थापित कर सबसे पहले आचार्य ग्रहण करते हैं। पश्चात् शेष मुनियों में जो रत्नाधिक होता है वह मंडलिका के प्रथम श्रेणी में स्थापित वस्त्र लेता है और अवमरात्निक अंतिम श्रेणी में स्थापित वस्त्र ग्रहण करता है। उससे अवमरात्निक मुनि वह प्रथम पंक्ति के अनन्तर पंक्ति के वस्त्र ग्रहण करता है, और उससे लघु उपान्त पंक्ति से। इस क्रम से सभी मुनि तब तक वस्त्र ग्रहण करते हैं जब तक मंडलिका समाप्त नहीं हो जाती।

४३२५. जइ ताव दलंतऽगालिणो,

धम्मा-ऽधम्मविसेसबाहिला।

बहुसंजयविंदमज्झके,

उवकलणे सि किमेव मुच्छितो ॥

इस विभाजन की पद्धति को भी यदि कोई नहीं मानता तो उसे कहना चाहिए—यदि धर्माधर्म को विशेष नहीं जानने वाले गृहस्थ भी मुनियों को वस्त्र देते हैं तो अनेक साधुओं के समूह के मध्य तुम अकेले ही उपकरणों में इतने क्यों मूर्च्छित हो रहे हो?

४३२६. अज्जो! तुमं चेव करेहि भागे,

ततो णु धेच्छामो जहक्कमेणं।

गिण्हाहि वा जं तुह एत्थ इहं,

विणासधम्मीसु हि किं ममत्तं ॥

अच्छा तो वत्स! तुम ही इन वस्त्रों का विभाग करो, हम यथाक्रम ग्रहण कर लेंगे। अथवा इन वस्त्रों में से तुम्हें जो इष्ट हों, उन्हें तुम ग्रहण कर लो। इन विनाशशील वस्त्रों के प्रति ममत्व क्यों कर रहे हो?

४३२७. तह वि अठियस्स दाउं, विगिंचणोवट्टिए खरंटणया।

अक्खेसु होंति गुरूगा, लहुगा सेसेसु ठाणेसु ॥

इतना कहने पर भी यदि वह शांत नहीं होता है तो उसे अभिरुचित वस्त्र देकर उसका गण से संबंधविच्छेद कर दे। फिर भी यदि वह कहे—आगे से मैं ऐसा नहीं करूंगा, तब उसकी खरंटना करे, उसकी भर्त्सना करे। जो ऐसा कहे कि पाशे फेंककर विभाजन करे, उसे चतुर्गुरु का और शेष विधियों का परामर्श देने वालों को चतुर्लघु का प्रायश्चित्त आता है।

४३२८. हिरन्न-दारं पसु-पेसवग्गं,

जदा व उज्झित्तु दमे ठितो सि।

किलेसलद्धेसु इमेसु गेही,

जुत्ता न कत्तुं तव खिसणेवं॥

उस मुनि की खरंटना करते हुए कहे-वत्स! तुम जब दम-संयम में स्थित हुए तब हिरण्य, सुवर्ण, पशु, प्रेष्य-कर्मकर वर्ग को छोड़कर दीक्षित हुए थे। आज इन कष्ट से प्राप्त वस्त्रों में गृह्य होना उपयुक्त नहीं है।

४३२९. सम्मं विदित्ता समुवट्टियं तु,

थेरा सि तं चैव कदाइ देज्जा।

अन्नेसि गाहे बहुदोसले वा

छोढूण तत्थेव करिंति भाए॥

वह मुनि पुनः मैं ऐसा नहीं करूंगा, इस प्रकार कहकर उपस्थित हुआ। उसे सम्यग् जानकर आचार्य उसको कदाचित् वे इष्ट वस्त्र दे दें। किन्तु उन वस्त्रों के प्रति अन्य मुनियों का भी आकर्षण है तथा जिसे वे वस्त्र दिए जा रहे हैं वह मुनि दोषबहुल है, द्वेषबहुल है अतः उसे वे वस्त्र देने पर अन्य मुनियों में अप्रीति हो सकती है इसलिए उन वस्त्रों को अन्य वस्त्रों के मध्य मिलाकर समविभाग कर लेते हैं।

४३३०. खमएँ लद्धूण अंबले, दाउ गुलूण य सो वलिद्धए।

बेइ गुलुं एमेव सेसए, देह जईण गुलूहिं वुच्चई॥

४३३१. सयमेव य देहि अंबले, तव जे लोयइ इत्थ संजए।

इइ छंदिय-पेसिओ तहिं, खमओ देइ लिसीण अंबले॥

अब क्षपक द्वारा लाए गए वस्त्रों के विभाजन की विधि- एक क्षपक को वस्त्र प्राप्त हुए। उसने उन वस्त्रों में से उत्तम वस्त्र गुरु को समर्पित कर कहा-गुरुदेव! शेष वस्त्रों को आप अन्य मुनियों को दें। गुरु कहते हैं-तुम स्वयं वस्त्रों को उन मुनियों को दो जो तुम्हें वस्त्र देने योग्य लगे। गुरु के इस अभिप्राय से प्रेरित वह क्षपक मुनियों को वस्त्र प्रदान करता है। (ये दोनों गाथाएं मागधभाषा के लक्षण के अनुसार 'र' के स्थान पर 'लकार' का आदेश हुआ है। जैसे-अंबले, गुलूण, गुलुं आदि आदि।)

४३३२. खमएण आणियाणं, दिज्जंतेगस्स वारणावयणं।

गहणं तुमं न याणसि, वंदिय पुच्छा तओ कहणं॥

क्षपक द्वारा आनीत तथा उसी के द्वारा दीयमान वस्त्रों को देखकर कोई एक मुनि वारणा-वचन कहता है कि कोई मुनि वस्त्र न लें। क्षपक पूछता है-क्यों? तब वह कहता है-क्षपक! तुम नहीं जानते कि वस्त्र कैसे ग्रहण किया जाता है? क्षपक बोला-जानता हूँ। उसने पूछा-कैसे? क्षपक ने

१. अभिषेक-सूत्रार्थ-तदुभयोपेत आचार्यपदस्थापनार्हः।

कहा-पहले वंदना कर फिर पूछना चाहिए। तब उस प्रश्नकर्ता ने क्षपक को वंदना कर पूछा। तब क्षपक ने कहा-

४३३३. तिविहं च होइ गहणं, सच्चित्ताऽचित्त मीसगं चैव।

एसंसि नाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए॥

ग्रहण तीन प्रकार का होता है-सचित्त का ग्रहण, अचित्त का ग्रहण और मिश्र का ग्रहण। इनमें भी नानात्व है, उसे मैं यथानुपूर्वी कहूंगा।

४३३४. सच्चित्तं पुण दुविहं, पुरिसाणं चैव तह य इत्थीणं।

एक्केक्कं पि य इत्तो, पंचविहं होइ नायव्वं॥

सचित्तग्रहण दो प्रकार का है-पुरुषों का तथा स्त्रियों का। मूलभेद की अपेक्षा से दोनों के पांच-पांच प्रकार होते हैं।

४३३५. उदगाऽगणि तेणोमे, अब्बाण गिलाण सावय पदुडे।

तित्थाणुसज्जणाए, अइसेसिगमुद्धरे विहिणा॥

आचार्य आदि जलप्रवाह में बहे जा रहे हैं, नगरदाह या अग्नि में जलने की संभावना है, अपहरण करने वाले चोरों का भय है, दुर्भिक्ष है, अध्वा-मार्ग में फंस गए हों, ग्लान हो गए हों, श्वापदों द्वारा घिर गए हों, राजा द्वारा प्रद्विष्ट हो गए हों-इनमें से जो अतिशायी हो, जो तीर्थ की अव्यवच्छिति में समर्थ हो उसका विधिपूर्वक उद्धार करना चाहिए, बचाना चाहिए।

४३३६. आयरिए अभिसेगे, भिक्खू खुडे तहेव थेरे य।

गहणं तेसिं इणमो, संजोगक (ग) मं तु वोच्छामि॥

पुरुषों के ये पांच प्रकार हैं-आचार्य, अभिषेक^१, भिक्षु, क्षुल्लक और स्थविर। इन पांचों का ग्रहण (उद्धारण) इस संयोगगम-संयोग के प्रकारों से करना चाहिए। उनको मैं आगे कहूंगा।

४३३७. सव्वे वि तारणिज्जा, संदेहाओ परक्कमे संते।

एक्केक्कं अवणिज्जा, जाव गुरू तत्थिमो भेदो॥

पराक्रम होने पर जलप्रवाह आदि संदेहों से सभी तारणीय हैं। यदि उतना पराक्रम न हो तो स्थविर के सिवाय चार, उसमें भी अशक्त हो तो क्षुल्लक-स्थविर के सिवाय तीन, उतना भी पराक्रम न हो तो आचार्य और अभिषेक तारणीय हैं, उतना भी पराक्रम न हो तो आचार्य तारणीय हैं। अर्थात् एक-एक का अपनयन करते हुए गुरु पर्यन्त ऐसा करे। उसमें यह भेद होता है।

४३३८. तरुणे निप्फन्न परिवारे, सलद्धिए जे य होति अब्भासे।

अभिसेगम्मि य चउरो, सेसाणं पंच चैव गमा॥

यदि दो आचार्य हों, एक तरुण और दूसरा स्थविर। शक्ति हो तो दोनों तारणीय हैं, अन्यथा तरुण तारणीय है।

यदि दोनों तरुण हों तो जो निष्पन्न है—सूत्रार्थ कुशल है, वह तारणीय है। दोनों निष्पन्न हों तो जो सपरिवार है, वह तारणीय है। दोनों सपरिवार हों तो जो लब्धिसंपन्न है उसको, दोनों लब्धिसंपन्न हों तो जो निकट है, वह तारणीय है। दोनों निकट हों तो जो तैरने में अशक्त हो वह तारणीय है। अभिषेक निष्पन्न ही होता है, अतः उसके साथ चार गम ही होते हैं। शेष भिक्षु आदि के साथ पांचों गम होते हैं।

४३३९. पवत्तिणि अभिसेगपत्ता,

थेरी तह भिक्खुणी य खुडी य।

गहणं तासिं इणमो,

संजोगक (ग) मं तु वोच्छामि॥

स्त्रियों के ये प्रकार हैं—प्रवर्तिनी, अभिषेकप्राप्ता—प्रवर्तिनीपदयोग्य, स्थविरा, भिक्षुणी और क्षुल्लिका। इन पांचों के ग्रहण विषयक यह संयोगगम—संयोग से अनेक प्रकार वाला है, उसे मैं कहूंगा।

४३४०. सव्वा वि तारणिज्जा, संदेहाओ परक्कमे संते।

एक्केक्कं अवणिज्जा, जा गणिणी तत्थिमो भेदो॥

४३४१. तरुणी निष्पन्न परिवारा,

सलद्धिया जा य होइ अब्भासे।

अभिसेगाए चउरो,

सेसाणं पंच चव गमा॥

पराक्रम होने पर जलप्रवाह आदि संदेहों से सभी तारणीय हैं। यदि उतना पराक्रम न हो तो स्थविरा के सिवाय चार, उसमें भी अशक्त हो तो क्षुल्लिका-स्थविरा के सिवाय तीन, उतना भी पराक्रम न हो तो प्रवर्तिनी और अभिषेका तारणीय हैं, उतना भी पराक्रम न हो तो प्रवर्तिनी (गणिणी) तारणीय हैं। अर्थात् एक-एक का अपनयन करते हुए गणिणी पर्यन्त ऐसा करे। उसमें यह भेद होता है।

यदि दो गणिणी हों, एक तरुणी और दूसरी स्थविरा। शक्ति हो तो दोनों तारणीय हैं, अन्यथा तरुणी तारणीय है। यदि दोनों तरुणियां हों तो जो निष्पन्न है—सूत्रार्थ कुशल है, वह तारणीय है। दोनों निष्पन्न हों तो जो सपरिवार है, वह तारणीय है। दोनों सपरिवार हों तो जो लब्धिसंपन्न है उसको, दोनों लब्धिसंपन्न हों तो जो निकट है, वह तारणीय है। दोनों निकट हों तो जो तैरने में अशक्त हो वह तारणीय है। अभिषेका निष्पन्न ही होती है, अतः उसके साथ चार गम ही होते हैं। शेष क्षुल्लिका आदि के साथ पांचों गम होते हैं।

४३४२. बाला य बुद्धा य अजंगमा य,

लोगे वि एते अणुकंपणिज्जा।

सव्वाणुकंपाए समुज्जएहिं,

विवज्जओऽयं कहमीहितो भे॥

बाल, वृद्ध और अजंगम—ये लोक में भी अनुकंपनीय होते हैं। अतः सभी के द्वारा अनुकंपनीय होने के कारण आपने विपरीतता कैसे स्वीकार की? बाल और स्थविर को छोड़कर आचार्य आदि का निस्तारण चाहते हैं, वृद्ध और अजंगम आचार्य को छोड़कर तरुण आचार्य को तारणीय मानते हैं?

४३४३. जइ बुद्धी चिरजीवी, तरुणो थेरो य अप्पसेसाऊ।

सोवक्कमम्मि देहे, एयं पि न जुज्जए वोत्तुं॥

यदि यह तुम्हारी बुद्धि है, विचारणा है तो सुनो, तरुण चिरजीवी होता है और स्थविर थोड़ी अवशिष्ट आयुष्य वाला होता है। देह सोपक्रम होता है, उसके विषय में चिरजीवी आदि कहना भी उचित नहीं है।

४३४४. अवि य हु असहू थेरो, पयरेज्जियरो कदाइ संदेहं।

ओरालमिदं बलवं, जं घेप्पइ मुच्चई अबलो॥

तथा स्थविर वृद्ध होने के कारण असहिष्णु होता है और इतर अर्थात् तरुण कदाचित् प्राणसंदेह का पार पा जाता है। आपका यह वचन भी स्थूल है कि बलवान् तरुण ग्रहण कर लेता है और अबल स्थविर छोड़ देता है।

४३४५. आय-परे उवगिण्हइ,

तरुणो थेरो उ तत्थ भयणिज्जो।

अणुवक्कमे वि थेवो,

चिद्धइ कालो उ थेरस्स॥

तब आचार्य कहते हैं—तरुण आचार्य स्वयं को और पर को नए-नए सूत्रार्थों से उपकृत करता है। स्थविर आचार्य की इसमें भजना है। अनुपक्रम के आधार पर भी स्थविर का आयुष्य थोड़ा ही होता है तथा तरुण का आयुष्य थोड़ा भी हो सकता है और लंबा भी हो सकता है।

४३४६. दुग्धासे खीरवती, गावी पुस्सइ कुडुंबभरणट्ठा।

मोत्तु फलदं च रुक्खं, को मंदफला-ऽफले पोसे॥

दुर्गास अर्थात् दुर्भिक्ष के समय कुटुंब का भरण-पोषण करने के लिए बहुदुग्धा गाय का पोषण किया जाता है। फल देने वाले वृक्षों को छोड़कर कौन व्यक्ति ऐसा होगा जो मन्द फल वाले अथवा फल न देने वाले वृक्षों का पोषण करेगा? इसी प्रकार हम भी तरुण आचार्य आदि का निस्तारण करते हैं, क्योंकि वे स्व और पर का उपग्रह करने में समर्थ होते हैं।

४३४७. एमेव मीसए वी, नेयव्वं होइ आणुपुव्वीए।

वोच्चत्थे चउगुरुगा, तत्थ वि आणाइणो दोसा॥

इसी प्रकार मिश्र विषय का ग्रहण (आचार्य, प्रवर्तिनी की परिपाटी से) आनुपूर्वी से ज्ञातव्य है। क्रम का उल्लंघन कर विपर्यास से ग्रहण करने पर चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं।

४३४८. मीसगग्रहणं तत्थ उ, विणिवाओ जो सभंड-मत्ताणं।

अहवा वि मीसयं खलु, उभओपक्खञ्चओ घोरो॥

जहां सभंड-मात्रक अर्थात् पात्र-मात्रक आदि उपकरण सहित साधु-साध्वी का विनिपात होता है, पानी के प्रवाह में गिरना होता है, उस स्थिति में जो ग्रहण होता है वह मिश्रग्रहण कहलाता है। अथवा उभय-दोनों का अर्थात् साधु-साध्वी का यह रौद्र प्रत्यपाय होता है उसमें से जो ग्रहण होता है वह मिश्र माना जाता है।

४३४९. सव्वत्थ वि आयरिओ, आयरियाओ पवत्तिणी होइ।

तो अभिसेगप्पत्तो, सेसेसु तु इत्थिया पढमं॥

दोनों अर्थात् आचार्य और प्रवर्तिनी के निस्तारण का सामर्थ्य हो तो, दोनों का निस्तारण करे। यदि न हो तो सर्वत्र पहले आचार्य का, फिर प्रवर्तिनी का पश्चात् अभिषेकप्राप्त मुनि का। और शेष में स्त्रियों का पहले निस्तारण करना चाहिए।

४३५०. अन्नस्स वि संदेहं, दडुं कंप्ति जा लयाओ वा।

अबलाओ पगइभयालुगाउ रक्खा अतो इत्थी॥

दूसरे पुरुष की संदेह-आपदा को देखकर भी स्त्रियां लताओं की भांति प्रकंपित होती हैं। क्योंकि अबलाएं-नारियां प्रकृति से भयबहुल होती हैं, इसलिए स्त्रियों की पहले रक्षा करनी चाहिए।

४३५१. जं पुण संभावेमो, भाविणमहियममुकातो वत्थुओ।

तत्थुक्कमं पि कुणिमो, छेओदइए वणियभूया॥

जब हम यह संभावना करते हैं कि यह क्षुल्लक अमुक आचार्य आदि से भी अधिक प्रभावकारी होगा तो हम विधि का उत्क्रमण करके भी उसका बचाव करेंगे। हम वणिकभूत हैं, अतः हम उसमें छेद-व्यय से अधिक औदयिक-आय को देखते हैं। क्योंकि वणिक भी वही व्यापार करता है जिसमें व्यय अल्प हो और आय अधिक।

४३५२. अगणी सरीरतेणे, ओमऽद्धाणे गिलाणमसिवे य।

सावयभय रायभए, जहेव आउम्मि गहणं तु॥

अग्नि के संभ्रम में, शरीरस्तेनों के संभ्रम में, अवम-दुर्भिक्ष, मार्ग में, ग्लान के विषय में, अशिव में, श्वापद-भय में, राजभय में भी जैसे अप्काय में ग्रहण किया है

वैसे ही इनके विषय में भी सचित्त-मिश्रभेद से कहना चाहिए।

४३५३. अच्चित्तस्स उ गहणं, अभिनवगहणं पुराणगहणं च।

उवठावणाए गहणं, तह य उवट्ठाविण गहणं॥

अचित्त का ग्रहण दो प्रकार का होता है-अभिनव-ग्रहण और पुराण-ग्रहण अर्थात् पहले से गृहीत चोलपट्ट आदि का ग्रहण। इसके दो प्रकार हैं-उपस्थापना में ग्रहण और उपस्थापित में ग्रहण।

४३५४. ओहे उवग्गहम्मि य, अभिनवगहणं तु होइ अच्चित्ते।

इयरस्स वि होइ दुहा, गहणं तु पुराणउवहिस्स॥

अचित्त का अभिनवग्रहण दो प्रकार का होता है ओघउपधि विषयक और औपग्रहिकउपधि विषयक। पुराण-उपधि का ग्रहण भी दो प्रकार का होता है-उपस्थापना-ग्रहण और उपस्थापितग्रहण।

४३५५. जायण निमंतणुवस्सय, परियावन्नं परिडुविय नट्टं।

पम्हुड्ड पडिय गहियं, अभिनवगहणं अणेगविहं॥

याचना से, निमंत्रण से, पर्यापन्न-उपाश्रय में पथिकों द्वारा विस्मृत, परिष्ठापित, नष्ट-हृत वस्त्र, विस्मृत, पतित, शत्रु द्वारा गृहीत वस्त्र-इन वस्त्रों की पुनः प्राप्ति होने पर जो वस्त्र गृहीत होते हैं इनको अभिनवग्रहण मानना चाहिए।^१

४३५६. जो चेव गमो हेट्ठा,

उस्सग्गाईसु वण्णिओ गहणे।

दुविहोवहिम्मि सो च्चिय,

कास ति य किं ति कीस ति॥

ग्रहण विषयक जो उत्सर्ग की बात पीठिका (गा. ६२२-६२४) में कही है वही यहां दो प्रकार की उपधि-औधिक और औपग्रहिक-के ग्रहण के विषय में जाननी चाहिए। इसमें तीन प्रश्न पूछे जाते हैं-

(१) ये वस्त्र-पात्र किसके अधीन में थे?

(२) किसके अधीनस्थ होंगे

(३) क्यों दे रहे हो?

इन तीनों प्रश्नों से वह परिशुद्ध माना जाता है।

४३५७. कोप्पर पट्टगहणं, वामकराणामियाए मुहपोत्ती।

रयहरण हत्थिदंतुन्नएहिं हत्थेहुवट्ठाणं॥

पुराणग्रहण के अंतर्गत उपस्थापना ग्रहण की विधि यह है-कूर्परों (कुहनी) से चोलपट्ट ग्रहण करके वाम हाथ की अनामिका अंगुली से मुखपोतिका को ग्रहण कर, हाथी दांत की भांति उन्नत हाथों से रजोहरण लेकर उपस्थापना

१. उपाश्रय में पर्यापन्न वस्त्र की ग्रहणविधि आगे इसी उद्देशक में बताई जाएगी। परिष्ठापित वस्तु का कारण में पुनः ग्रहण किया जाता है। उसका कथन

व्यवहाराध्ययन में किया जाएगा (वृ. पृ. ११७८)

करनी चाहिए अर्थात् शैक्ष को ब्रतों में स्थापित करना चाहिए।

४३५८. उवठावियस्स गहणं, अहभावे चेव तह य परिभोगे।

एकैकं पायादी, नेयव्वं आणुपुब्बीए॥

उपस्थापित के उपकरण का ग्रहण दो प्रकार का होता है—यथाभाव और परिभोग। इन दो प्रकार के ग्रहणों से एक-एक पात्र आदि आनुपूर्वी से ग्रहण करना चाहिए।

४३५९. पडिसामियं तु अच्छइ, पायाई एस होतऽहाभावो।

सहव्व-पाण-भिक्षा-निल्लेवण पायपरिभोगो॥

किसी स्वामी ने विवक्षित साधु के निमित्त पात्र आदि ग्रहण किए हैं, पर वह उनका परिभोग नहीं करता, यह यथाभाव है। पात्र का परिभोग उपयुक्त अवसर पर करना जैसे—अच्छे द्रव्य, पानक, भिक्षा, निर्लेपन—आचमन उस पात्र को उपयोग में लेना, यह पात्र का परिभोग है।

४३६०. पाणदय सीयमत्थुय,

पमज्ज चिलिमिलि निसिज्ज कालगते।

गेलन्न लज्ज असहू,

छेअण सागारिए भोगो॥

प्राणीदया के लिए मुनि वर्षाकल्प आदि, शीत निवारण के लिए कल्पत्रय, संस्तारक आस्तरण के लिए, रजोहरण प्रमार्जन के लिए, चिलिमिनिका दकतीर पर ज्योतिशाला के लिए, निषद्या बैठने के लिए, कालगत (मृत) के आच्छादन के लिए परदा आदि, ग्लान व्यक्ति के लिए चिलिमिलिका, लज्जा निवारण के लिए चोलपट्टक, अक्षम मुनियों के लिए कल्प आदि आवरण, नख आदि काटने के लिए छेदन—नखहरणिका—इस प्रकार सारा यथायोग औधिक और औपग्रहिक उपकरणों का परिभोग होता है।

४३६१. उवरिं कहेसि हिट्ठा, न याणसी वयणं न होइ एवं तु।

चतुरो गुरुगा पुच्छा, नासेहिसि तं जहा वेज्जो॥

जो पहले कहने योग्य था उसे तुम पश्चात् कह रहे हो, इसलिए तुम ग्रहण के स्वरूप को नहीं जानते। तुमने जो यह कहा (गा. ४३३२) कि 'वन्दित्वा विनयेन पृच्छ'—यह अहंकार दूषित वचन है। ऐसा नहीं होता, क्योंकि गुरु आदि पूजनीय होते हैं। जो ऐसा वचन कहता है उसको चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है। क्षपक ने पूछा—'मुझे प्रायश्चित्त क्यों?'

उसने कहा—'तुम्हारे में सिद्धांत का पूरा ज्ञान तो है नहीं, पल्लवग्राही ज्ञान है। अतः तुम भी उस वैद्य की भांति स्वयं और दूसरे का नाश करोगे।'^१

४३६२. वयणं न वि गव्वभालियं, एलिसयं कुसलेहिं पूजियं।

अहवा न वि एत्थ लूसिमो, पगई एस अजाणुए जणे॥

'मुझे वंदना कर विनय से पूछ'—इस प्रकार के अहंकार-भारगुरुक वचन की कुशल व्यक्तियों ने प्रशंसा नहीं की है। अथवा न हम यहां रोष करते हैं क्योंकि अज्ञ व्यक्तियों की यह प्रकृति होती है।

४३६३. मूलेण विणा हु केलिसे, तलु पवले य घणे य सोभई।

न य मूलविभिन्नए घडे, जलमादीणि धलेइ कण्हुई॥

मूल के बिना प्रवर और सघन (पत्र बहुल) वृक्ष भी कैसे शोभित हो सकता है? इसी प्रकार मूल में फूटा हुआ घट कभी भी जल आदि धारण करने में समर्थ नहीं होता।

४३६४. किं वा मए न नायं, दुविहे गहणम्मि जं जहिं कमती।

भन्नइ अभिनवगहणं, सच्चित्तं ते न विन्नायं॥

दो प्रकार के ग्रहण में जो अभिनव है या पुराण है, क्या मैंने नहीं जाना है, जो तुम कहते हो कि मैं ग्रहण को नहीं जानता? प्रत्युत्तर में दूसरा कहता है—मैंने यह कहा है कि तुम अभिनव सचित्त ग्रहण को नहीं जानते।

४३६५. अट्टारस पुरिसेसुं, वीसं इत्थीसुं दस नपुंसेसु।

पव्वावणाअणरिहा, अनला एएत्तिया वुत्ता॥

४३६६. अडयालीसं एते, वज्जित्ता सेसगाण तिण्हं पि।

अभिनवगहणं एयं, सच्चित्तं ते न विन्नायं॥

पुरुषों में अठारह, स्त्रियों में बीस तथा नपुंसकों में दस प्रकार—ये सारे ४८ प्रकार के व्यक्ति दीक्षा के लिए अयोग्य माने गए हैं। ये दीक्षा का पालन करने में असमर्थ होते हैं?^२

इन अडतालीस प्रकारों को छोड़कर तीनों में अर्थात् पुरुष, स्त्री, नपुंसकों में शेष व्यक्ति प्रब्रज्या के योग्य होते हैं। इस सचित्त का अभिनवग्रहण तुम नहीं जानते।

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
अहारायणियाए सेज्जा-संथारए
पडिग्गाहित्तए॥

(सूत्र १९)

१. वैद्य की कथा देखें गाथा ३२५९-३२६०।

२. बाले बुद्धे नपुंसे य, जडे कीवे व वाहिए।
तेणे रायावगारी य, उम्मत्ते व अदंसणे॥
दासे दुट्टे य मूडे य, अणत्ते जुंगिते इय।
ओवद्धए य भयए, सेहनप्फेडिते त्ति य॥

पंडए बाहए कीवे, कुंभी ईसालुय त्ति य।
सउणी तक्कमसेवी य, पक्खियापक्खिए या वि॥
सोगंधिए य आसत्ते, दस एते नपुंसगा।
संकिलिट्ठ त्ति साहूणं, पव्वावेडं अकप्पिया॥

४३६७. घेत्तुं जहक्कमेणं, उवही संथारएसु ठवयंति।
तेसिं पि जवा गहणं, तं पि हु एमेव संबंधो॥

सभी मुनि रत्नाधिक क्रम से उपकरण ग्रहण कर संस्तारक भूमी पर जाते हैं और अपने उपकरणों को वहां स्थापित करते हैं। संस्तारक (शयनस्थान) का जब ग्रहण होता है, वह भी यथारत्निक के क्रम से होता है।

४३६८. सेज्जासंथारो या, सेज्जा वसही उ थाण संथारो।
पुव्वणहम्मि उ गहणं, अणेणहणे लहुगो आणादी॥

शय्या-संस्तारक का अर्थ-शय्या अर्थात् वसति और संस्तारक अर्थात् स्थान-शयनयोग्यस्थान। शय्या-संस्तारक का ग्रहण पूर्वाह्न में ही कर लेना चाहिए। यदि ग्रहण नहीं किया जाता है तो मासलघु प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष प्राप्त होते हैं।

४३६९. चोयगपुच्छा दोसा, मंडलिबंधम्मि होइ आगमणं।
संजम-आयविराहण, वियालगहणे य जे दोसा॥

शिष्य ने कहा-आर्यवर! यह उचित है कि पूर्वाह्न में गांव में जाने पर शय्या-संस्तारक भी ग्रहण कर ले। परंतु यदि विकालवेला में ग्राम में आए तो गांव के बाहर आहार-पानी से निवृत्त होकर जाना होता है। आचार्य कहते हैं-इसमें अनेक दोष हैं। मंडलीरचना में भोजन करने पर कुतूहलवश अनेक गृहस्थों का आवागमन होता है। उनके साथ कलह आदि होने पर संयमविराधना और आत्मविराधना होती है। विकाल में वसति का ग्रहण करने से दोष होते हैं। तब तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त आता है।

४३७०. अइभारेण व इरियं, न सोहए कंटगाइ आयाए।
भत्तट्टिय-वोसरिया, अतित्तु एवं जढा दोसा॥

यदि भक्त-पान लेकर वसति की गवेषणा की जाए तो शिष्य कहता है-अतिभार के कारण ईर्यापथ का शोधन नहीं होता, इससे संयमविराधना होती है तथा कांटों आदि का भी शोधन नहीं होता, इससे आत्मविराधना भी होती है। इसलिए गांव के बाहर ही आहार-पानी करके तथा वहीं मलमूत्र की बाधा से निवृत्त होकर गांव में प्रवेश करे, जिससे सारे दोष परित्यक्त हो जाते हैं।

४३७१. आयरियवयण दोसा,
दुविहा नियमा उ संजमा-SSयाए।

वच्चह को वा सामी,

असंखडं मंडलीए वा॥

आचार्य कहते हैं-जो ग्राम के बाहर आहार-पानी करते हैं उनके नियमतः संयमविराधना और आत्मविराधना रूप दो प्रकार के दोष होते हैं। यदि वहां एकत्रित गृहस्थों को मुनि

कहे-यहां खड़े न रहें, चले जाएं तो गृहस्थ कह सकते हैं-क्या तुम इस स्थान के स्वामी हो जो हमें जाने के लिए कह रहे हो? इस प्रकार कलह हो सकता है। तथा मंडली में भोजन करने पर भी गृहस्थ उड्डाह आदि कर सकते हैं।

४३७२. भत्तट्टण सज्जाए, पडिलेहण रत्तिणेणहणे जं च।
पुव्वणहम्मि उ गहणे, परिहरिया ते भवे दोसा॥

मंडली में भोजन करना, स्वाध्याय और प्रत्युपेक्षा करना-इन क्रियाओं को देखकर गृहस्थ उड्डाह करते हैं। तब उनसे कलह हो सकता है तथा रात्री में वसति को ग्रहण करना-इनसे जो दोष होते हैं उनका प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इसलिए पूर्वाह्न में ही वसति का ग्रहण कर लेना चाहिए। इससे ये सारे दोष परिहृत हो जाते हैं।

४३७३. कोतूहल आगमणं, संखोहेणं अकंठगमणादी।
ते चेवऽसंखडादी, वसहिं च न देति जं चऽन्नं॥

मंडलीबंध में गृहस्थ कुतूहलवश आते हैं। उस समय किसी मुनि के संक्षोभवश आहार आहारनली में न जाकर अस्रोत में चला जाता है अथवा मुनि का गृहस्थों के साथ कलह आदि दोष होते हैं। यह देखकर मुनि वहां से गांव में जाते हैं। वे गृहस्थ उन मुनियों को वसति नहीं देते और जो देना चाहते हैं उनको भी न देने के लिए प्रेरित करते हैं।

४३७४. भारेण वेयणाए, न पेहई खाणुमाइए दोसे।
इरियाइ संजमग्गी, परिगलमाणे य छक्काया॥

उस स्थिति में भार और वेदना के कारण मुनि स्थाणु-कंटक आदि को नहीं देख पाता, इससे आत्मविराधना होती है तथा ईर्यापथ का शोधन न होने पर संयमविराधना होती है और भक्तपान का परिगलन होने पर छहकाय की विराधना होती है।

४३७५. पविसण मग्गण ठाणे, वेसिंत्थि दुगंछिए य सुण्णे य।
सज्जाए संथारे, उच्चारे चेव पासवणे॥

ग्राम में विकालवेला में प्रवेश करने पर, वसति की याचना करने पर तथा वेश्यापाटक अथवा जुगुप्सित स्थान में और शून्यगृह में निवास करने, स्वाध्याय तथा संस्तारक करने, उच्चार-प्रस्रवण का व्युत्सर्ग करने से अनेक दोष होते हैं।

४३७६. सावय तेणा दुविहा, विराहणा जा य उवहिणा उ विणा।
गुम्मिय गहणा-SSहणणा, गोणादी चमढणा रत्तिं॥

विकालवेला में प्रवेश करने पर श्वापद का भय रहता है। स्तेन दो प्रकार के होते हैं-शरीरापहारी और उपकरणापहारी। उपकरणों का हरण कर लेने पर तृण ग्रहण तथा अग्निसेवन करने पर, तन्निष्पन्न दोष लगता है। रात्री में गौल्मिक-

आरक्षिक पुरुष पकड़ लेते हैं, मारते हैं। रात्री में गाय-बैल आदि का उपद्रव भी हो सकता है।

४३७७. फिडियऽन्नोऽन्नाऽऽगारण, तेणय रत्तिं दिया व पंथम्मि।

साणाइ वेस कुच्छिय, तवोवणं मूसिगा जं च॥

यदि रात्री में मुनि गांव में पृथक् पृथक् रूप में वसति की गवेषणा करते हैं, बिछुड़े हुए वे एक-दूसरे को बुलाते हैं तो उनको चोर प्रताड़ित कर या उनको या उपकरणों को चुरा लेते हैं अथवा दूसरे दिन मार्ग में उन्हें लूट लेते हैं। कुत्ते उनको उपद्रुत करते हैं। रात्री में वे नहीं जान पाते कि यह वसति वेश्यापाटक के निकट है अथवा यह कुत्सितकुल के पास वाली है। वहां रहने पर लोक उड्डाह करते हुए कहते हैं—‘अहो! ये मुनि अपने तपोवन में रह रहे हैं या ये भी जुगुप्सित लोगों की तरह ही हैं जो जुगुप्सित कुल के निकट आकर रह रहे हैं।’^१

४३७८. अप्पडिलेहिय कंटा, बिलं व संथारणम्मि आयाए।

छक्कायाण विराहण, विलीण सेहऽन्नहाभावो॥

अप्रत्युपेक्षित वसति में कंटक तथा बिल हो सकते हैं। वहां संस्तारक बिछाने पर आत्मविराधना तथा षट्काय विराधना हो सकती है। वहां विलीन अर्थात् जुगुप्सित मल-मूत्र हो सकता है। इन सारी चीजों से शैक्ष का संयम के प्रति अन्यथाभाव हो सकता है।

४३७९. खाणुग-कंटग-वाला,

बिलम्मि जइ वोसिरिज्ज आयाए।

संजमओ छक्काया,

गमणे पत्ते अइंते य॥

अप्रत्युपेक्षित वसति में स्थाणु, कंटक, सर्प आदि के बिल हो सकते हैं। बिलों में यदि मल-मूत्र का विसर्जन होता है तो आत्मविराधना होती है और षट्कायमय भूभाग में व्युत्सर्ग किया जाता है तो संयमविराधना होती है। कायिकी भूमी को जाते, उसे प्राप्त कर व्युत्सर्जन कर पुनः लौटते समय दोनों विराधनाएं हो सकती हैं।

४३८०. मुत्तनिरोहे चक्खुं, वच्चनिरोहेण जीवियं चयइ।

उड्ढनिरोहे कोड्ढं, गेलन्नं वा भवे तिसु वि॥

मूत्र का निरोध करने से चक्षु, मलवेग का निरोध करने से

१. प्रस्तुत गाथा के अन्त में ‘जं च’ है। वृत्तिकार में इसकी व्याख्या इस प्रकार की है। रात्री में बिछुड़े मुनियों का परस्पर आलाप करने पर अधिकरण होता है, अतः उसका प्रायश्चित्त आता है। तथा रात्री में उपाश्रय में जाने पर हमने कालभूमी की प्रत्युपेक्षा नहीं की, इसलिए वे स्वाध्याय नहीं करते अतः सूत्रार्थ के नाश होने से प्रायश्चित्त आता है। यदि स्वाध्याय नहीं करते तो सामाचारी की विराधना होती है।

(व. पृ. ११८४)

मृत्यु हो सकती है। वमन का निरोध करने से कुष्ठ रोग, और तीनों के निरोध से अग्निमांघ का रोग होता है।

४३८१. पढम-बिइयाए तम्हा, गमणं पडिलेहणा पवेसो य।

पुव्वठियाऽसइ गच्छं, ठवेत्तु बाहिं इमे तित्ति॥

इसलिए दिन के प्रथम प्रहर या द्वितीय प्रहर में विवक्षित गांव में गमन कर वहां वसति की याचना कर, उसका प्रत्युपेक्षण तथा उसमें प्रवेश करना चाहिए। यदि वहां पूर्वस्थित साधु हों तो सभी साथ में प्रवेश करें। यदि पूर्वस्थित साधु न हों तो गच्छ को किसी वृक्ष आदि के नीचे बाहर बिठाकर इस प्रकार के दो तीन साधु गांव में प्रवेश करें।

४३८२. परिणयवय गीयत्था, ह्यसंका पुंछ चिलिमिली दोरे।

तित्ति दुवे एक्को वा, वसहीपेहइया पविसे॥

परिणतवयवाले तथा अशंकनीय गीतार्थ मुनि गुरु को पूछकर दंडप्रौछनक, चिलिमिली और दवरक लेकर तीन, दो या एक मुनि गांव में वसति की प्रत्युपेक्षा करने के लिए प्रवेश करते हैं।

४३८३. बिइयं ताहे पत्ता, पए व पत्ता उवस्सयं न लभे।

सुन्नघर देउले वा, उज्जाणे वा अपरिभोगे॥

द्वितीयपद यहां कहा जा रहा है—उसी समय विकालवेला में मुनि वहां आए अथवा प्रातःकाल गांव में आए, तुरंत उन्हें उपाश्रय नहीं मिला तब वे शून्यघर, देवकुल या जनोपयोग-रहित उद्यान में ठहरते हैं।

४३८४. आवाय चिलिमिणीए, रत्ते वा निब्भये समुद्दिसणं।

सभए पच्छन्नाऽसइ, कमढग कुरुया य संतरिया॥

शून्यगृह आदि में यदि लोगों का आना-जाना होता है तो चिलिमिलिका बांधकर आहार करे। अथवा भयरहित अरण्य में जाकर आहार करे। यदि अरण्य सभय हो तो प्रच्छन्न प्रदेश में और उसके अभाव में ‘कमठक’^२—कांस्यकटोरे के आकार के पात्र जो भीतर और बाहर—दोनों ओर से सफेद लेप से लिप्त हो, उसमें आहार करे। तदनन्तर ‘कुरुया’—कुरुकुचा^३—भोजनान्तर पादप्रक्षालन आदि करे। भोजन करते समय पर्याप्त अन्तराल से बैठें। (तदनन्तर कायिकी संज्ञा से निवृत्त होकर गांव में प्रवेश करे।)

२. कमठकेषु—शुक्ललेपेन सबाह्वाभ्यन्तरं लिप्तेषु कांस्यकरोकाकारेषु....।

(व. पृ. ११८५)

३. कुरुकुचा च—समुद्देशनानन्तरं पादप्रक्षालनादिका बहुना द्रवेण कर्त्तव्या।

(व. पृ. ११८५)

४३८५.कोट्टग सभा व पुव्वं, काल-वियाराइभूमिपडिलेहा।
पच्छा अतिंति रत्तिं, अहवण पत्ता निंसीं चेव॥
गांव में प्रवेश कर गोचरी में घूमते समय जो पहले कोष्टक, सभा आदि स्थान देखे थे वहां कालग्रहणयोग्यभूमी तथा विचारभूमी की प्रत्युपेक्षा करे। पश्चात् सभी मुनि उस वसति में रात्रि (प्रदोष समय) में प्रवेश करे। अथवा रात्री में ही वे साधु वहां आए।

४३८६.गोम्मिय भेसण समणा,

निब्भय बहि ठाण वसहिपडिलेहा।

सुन्नघर पुव्वभणिण,

कंचुग तह दारुदंडे य॥

गौल्मिक (स्थानरक्षपाल) यदि त्रस्त करते हों तो उनको कहे—‘हम श्रमण हैं, चोर नहीं।’ यदि वह सन्निवेश निर्भय हो तो गच्छ बाहर ही रहता है और वृषभ वसति के प्रत्युपेक्षण के लिए गांव में जाते हैं। वहां पूर्वकथित विधि के अनुसार शून्यगृह की प्रत्युपेक्षा करते हैं और गोपालकंचुक को पहनकर दारुदंड से वसति के उपरी भाग को प्रस्फोटित करते हैं, पश्चात् गच्छ प्रवेश करता है।

४३८७.संधारगभूमितिगं, आयरिए सेसगाण एक्केक्कं।

रुंदाए पुप्फकिन्ना, मंडलिया आवली इतरे॥

सबसे पहले आचार्य के लिए तीन संस्तारक भूमियों का निर्धारण करना चाहिए—एक निर्वात भूमी, एक प्रवातभूमी और एक निवात-प्रवात। शेष साधुओं के लिए एक-एक संस्तारक भूमी। वसति तीन प्रकार की होती है—विस्तीर्ण, छोटी, प्रमाणयुक्त। जो वसति रुन्द अर्थात् विस्तीर्ण होती है, उसमें पुष्पों की भांति अवकीर्ण रूप से सोया जाता है, क्षुल्लिका वसति में मंडलिका के रूप में और जो प्रमाणयुक्त होती है, उसमें पंक्तिबद्ध सोया जाता है।

४३८८.सीसं इतो य पादा, इहं च मे वेंटिया इहं मज्झं।

जह अगहियसंधारो, भणाइ लहुगोऽहिकरणादी॥

यदि मुनि विधि का उल्लंघन कर यह कहे—यहां मैं सिर करूंगा, इधर पैर और वेंटिका, भाजन आदि रखूंगा। यदि वह संस्तारक न कर अपनी इच्छा से यह कहता है तो उसे लघुमास का प्रायश्चित्त आता है तथा अधिकरण आदि दोष होते हैं।

४३८९.संधारग्गहणीए वेंटियउक्खेवणं तु कायव्वं।

संधारो चेत्तव्वो, माया-मयविप्पमुक्केणं॥

संस्तारक ग्रहण काल में वेंटिका का उल्क्षेपण किया जाए। जिसको जो संस्तारक (शयन स्थान) दिया जाता है उसे वह मुनि माया और मद से विप्रमुक्त होकर ग्रहण करे।

४३९०.सम-विसमाईं न पासइ,

दुक्खं च ठियम्मि ठायई अन्नो।

नेव य असंखडादी,

विणयो अममिज्जया चेव॥

यदि वेंटिका को नहीं उठाया जाता है तो शयनस्थान के विभाजनकाल में सम-विषम स्थान को नहीं देखा जा सकता तथा पहले ही वेंटिका सहित स्थित किसी साधु को उठाना भी मुश्किल होता है और वहां दूसरा मुनि भी बैठ नहीं सकता। वेंटिकाओं को उठा लेने पर असंखड़ी आदि दोष भी नहीं होते। तथा विनय प्रदर्शित होता है और संस्तारकभूमि विषयक ममत्व भी परिहृत होता है।

४३९१.संधारग्गहणीए, कंटग वीयार पासवण धम्मो।

पयलणे मासो गुरुओ, सेसेसु वि मासियं लहुगं॥

संस्तारकग्रहणकाल में कोई माया से प्रताड़ित होकर यह कहे—मैं यहां अभी कंटकोद्धरण करूंगा, विचारभूमी में जाऊंगा, शय्यातर के आगे धर्म कहूंगा, यह कहता हुआ वह वहां झपकियां लेने लगे—इस प्रकार माया करने पर आज्ञाभंग आदि दोष, गुरुमास का प्रायश्चित्त तथा कंटक आदि का माया पूर्वक कथन में लघुमास का प्रायश्चित्त आता है।

४३९२.दुक्खं ठिओ व निज्जइ, न याणुवाएण पेल्लिउं सक्का।

जो वि य णे अवणेहिइ, तं पि य नाहामि इति मंता॥

४३९३.संधारभूमिलुद्धो, भणाइ छेदेण भंते! गिण्हित्तो।

संधारगभूमीओ, कंटगमहमुद्धरामेणं॥

कोई मुनि सम स्थान में संस्तारक करना चाहता है, परंतु वहां कोई दूसरा मुनि बैठा हुआ है, उसे वहां से अन्यत्र ले जाना कष्टप्रद होता है। उसे अन्य किसी उपाय से उठने के लिए प्रेरित नहीं किया जा सकता। तब उससे कहा जाता है—‘जो भी मेरे कांटे को निकालेगा उसे भी मैं जान लूंगा’ यह मानकर संस्तारकभूमी में लुब्ध मुनि कहता है—भंते! आप वहां से उठकर अपनी इच्छानुसार दूसरी संस्तारकभूमी को ग्रहण करें। यहां मैं इसके इस कंटक को निकालता हूं। यह मायाकरण है।

४३९४.लग्गे व अणहियासम्मि कंटए उक्खिवावे अन्नेणं।

मज्झच्चगमवणेत्ता, कमागयं गेण्हह ममं पि॥

अथवा किसी मुनि के वास्तव में कांटा लग गया है। वह उसे सहन करने में असमर्थ है तब वेंटिका को दूसरे से उठाए और कहे—मेरा कांटा निकाल कर, क्रमागत मेरी भी संस्तारक भूमी को ग्रहण करें।

४३९५.एमेव य वीयारे, उज्जु अणुज्जू तहेव पासवणे।

धम्मकहालक्खेण व, आवज्जइ मासियं मादी॥

इसी प्रकार विचारभूमी और प्रसवणभूमी के विषय में भी मुनि ऋजु और अऋजु होता है अर्थात् मायी-अमायी होता है। कोई मुनि धर्मकथा के मिष से क्रमागत संस्तारक के विषय में माया करता है। उसे लघु मासिक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

४३९६.दुवियद्बुद्धिमलणं, सद्वा सेज्जायरेयराणं च।
तित्थविवद्धि पभावण, असारियं चेव कहयंते॥

धर्मकथा करने से ये गुण निष्पन्न होते हैं—दुर्विदग्धबुद्धि का मर्दन होता है अर्थात् विपरीतशास्त्रों की पल्लवग्राहिणी बुद्धि का खंडन होता है, श्रावकों की श्रद्धा बढ़ती है, शय्यातर तथा इतर व्यक्तियों की धर्म के प्रति आस्था वृद्धिगत होती है। तीर्थ की वृद्धि और प्रवचन की प्रभावना होती है। धर्मश्रवण के प्रति उदासीन व्यक्ति उपाश्रय में प्रवेश नहीं करते। अतः उस समय उपाश्रय असागारिक होता है और तब मुनि प्रत्युपेक्षा आदि सुखपूर्वक कर सकते हैं। धर्मकथा करने वाले के ये गुण निष्पन्न होते हैं।

४३९७.मा पयल गिण्ह संथारगं ति पयलाइ इय वि जइ वुत्तो।
को नाम न निग्गिण्हइ, खणमित्तं तेण गुरुओ से॥

किसी मुनि ने दूसरे मुनि से कहा—झपकियां मत लो। अपने संस्तारक (शयन करने योग्य स्थान) को ग्रहण कर लो। इतना कहने पर भी झपकियां लेते रहता है। इससे जानना चाहिए कि वह मायावी है। ऐसा कौन होगा जो क्षणमात्र (संस्तारक ग्रहण काल) के लिए भी निद्रा पर नियंत्रण नहीं कर सकता? वह तीव्र मायावी है। अतः उसे गुरुमास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

४३९८.विच्छिण्ण कोट्टिमतले, डहराए विसमए अ घेप्पंति।
होइ अहाराइणियं, राइणिया ते इमे होंति॥

विस्तीर्ण या संकीर्ण, वसति में या कुट्टिमतल में या विषम भूभाग में रत्नाधिक मुनि के क्रम से संस्तारक ग्रहण किया जाता है। वे रत्नाधिक ये होते हैं—

४३९९.उवसंपज्ज गिलाणे, परित्त खमए अवाउडिय थेरे।
तेण परं विच्छिण्णे, परियाए मोत्तिमे तिन्नि॥

आचार्य—गुरु के लिए तीन संस्तारकों का निर्धारण करने के पश्चात् जो उपसंपन्न है, ग्लान, परित्त उपधि वाला मुनि, क्षपक, रातभर अपावृत रहने वाला मुनि, स्थविर, संस्तारक ग्रहण करे। उसके बाद विस्तीर्ण प्रतिश्रय में पर्यायरत्नाधिक के क्रम से संस्तारक ग्रहण करने चाहिए। इन तीनों को छोड़कर—क्षुल्लक, शैक्ष और वैयावृत्यकर। (इनका कथन आगे किया गया है।)

४४००.कामं सकामकिच्चो, अभिग्गहो न उ बलाभिओगेणं।
तणुसाहारणहेतुं, तह वि निवाएण्हि ठावेति॥

यह सर्वथा अनुमत है कि अभिग्रह अपनी इच्छा से करना चाहिए, बलाभियोग से नहीं। मुनि शरीर के शीत उपद्रव के निवारण के लिए निर्वात प्रदेश में जाकर स्थित होता है।

४४०१.अन्नोन्नकारेण विनिज्जरा जा,
न सा भवे तस्स विवज्जयेणं।
जहा तवस्सी धुणते तवेणं,
कम्मं तहा जाण तवोऽणुमंता॥

जो विशिष्ट निर्जरा परस्पर वैयावृत्यकरण से होती है, वह उसके विपर्यय से नहीं होती। जैसे तपस्वी अपने तप के द्वारा कर्मों का धुनन करता है, नाश करता है, उसी प्रकार उस तपस्या का अनुमोदन करने वाला, उसका सहायक मुनि भी कर्मों का क्षय करता है। (इसीलिए अपावृत रहने वाले मुनि पर अनुग्रह करना उचित है।)

४४०२.बीभंत एव खुड्ढे, वेयावच्चकरे सेहे जस्स पासम्मि।
विसमऽप्ये तिन्नि गुरुणो, इतरे गहियम्मि गिण्हंति॥

क्षुल्लक मुनि स्वभावतः डरपोक होता है। अतः उसे उचित स्थान में सुलाया जाता है। वैयावृत्यकर ग्लान के पास तथा शैक्ष शिक्षक के पास सोए यह व्यवस्था है। विषम स्थान तथा संकीर्ण स्थान वाले उपाश्रय में गुरु के लिए तीन संस्तारकों का निर्धारण करने के पश्चात् उनके द्वारा ग्रहण कर लिए जाने पर इतर मुनि यथोक्तक्रम से संस्तारक ग्रहण करें।

४४०३.बीभेज्ज बाहिं ठवितो उ खुड्ढो,
तेणाइगम्मो य अजग्गिरो य।

सारेइ जो तं उभयं च नेई,
तस्सेव पासम्मि करंति तं तू॥

क्षुल्लक मुनि को बाहर सुलाने पर वह डरता है तथा वह चोरों (अपहर्त्ताओं) के लिए गम्य होता है। वह जगाने पर भी नहीं जागता अतः उसका जो संरक्षक मुनि है, उसे शिक्षा देने वाला है तथा जो उसकी कायिकी संज्ञा का परिष्ठापन करता है, उसको उसी के पास सुलाया जाता है।

४४०४.संथारगं जो इतरं व मत्तं,
उव्वत्तमादी व करेइ तस्स।

गाहेइ सेहं खलु जो व मेरं,
करंति तस्सेव उ तं सगासे॥

जो ग्लान का बिछौना करता है, जो उसकी छोटी-बड़ी संज्ञा का परिष्ठापन करता है, जो उसको उद्वर्तन-परावर्तन आदि कराता है, उसके वैयावृत्यकर को उसी के पास स्थापित करते हैं। जो शैक्ष को सामाचारी सिखाता है, उसी के पास शैक्ष को स्थापित करते हैं।

४४०५.सम-विसमा थेराणं, आवलिया तत्थ अप्पणो इच्छा।

खेल पवाय निवाए, पाहुणए जं विहिग्गहणं॥

यदि वसति संकीर्ण हो तो आवलिका-पंक्तिबद्ध पद्धति से संस्तारक करें। यदि इस विधि से स्थविरों के विषम भूमी आए तो वे अपनी इच्छा से तरुण मुनियों के साथ उसका परावर्तन करें। जिस मुनि के श्लेष्म का प्रकोप हो वह अपने बिछौने के मध्य अवकाश रखता है तो एकांत स्थान में संस्तारक करे। जो मुनि पित्त प्रकृति का है वह प्रवात स्थान में सोना चाहता है और जो वायु प्रकृति (वातल) का है वह निवात-वायु रहित प्रदेश में सोना चाहता है। दोनों परस्पर स्थान का परावर्तन करें। यदि कोई प्राघूर्णक आ जाए तो उसे विधिपूर्वक शयनस्थान अनुज्ञापित करे।

४४०६.विसमो मे संथारो, गाढं पासा मि एत्थ भज्जंति।

को देज्ज मज्झ ठाणं, समं ति तरुणा सयं वैति॥

किसी स्थविर का शयनस्थान विषमभूमी में आ गया। वह समभूमी वाले तरुण को कहता है-‘मेरा संस्तारक विषम है। यहां सोने पर मेरे दोनों पार्श्व अत्यंत पीड़ा करने लगते हैं। कौन मुझे सम स्थान देगा?’ तब तरुण मुनि स्वयं कहते हैं-‘हम आपको सम स्थान देंगे। आप हमारे शयनस्थान पर सोएं।’

४४०७.जइ पुण अत्थिज्जंता, न वैति ठाणं बला न दावैति।

दैति तहिं पुंछणादी, बहिभावाऽसंखडं मा वा॥

यदि याचना करने पर भी तरुण मुनि स्थान नहीं देते तो आचार्य आदि भी उनसे बलपूर्वक वह समस्थान नहीं दिलाते क्योंकि ऐसा करने पर तरुण मुनियों के मन में अन्यायाभाव आ सकता है अथवा कलह हो सकता है। अतः वे ऐसा नहीं करते। तब स्थविर मुनि विषम अवकाश में पादप्रोष्ठन आदि देकर सो जाते हैं।

४४०८.मज्झमि ठाओ मम एस जातो,

पासंदए निच्च ममं च खेलो।

ठाओ सरावस्स य नत्थि एत्थं,

सिंचिज्ज खेलेण य मा हु सुते॥

श्लेष्मल मुनि कहता है-मेरे संस्तारक के दोनों ओर यह स्थाय-अवकाश रहा है। मुझ में सदा श्लेष्मा उग्र बना रहता है। इस स्थिति में श्लेष्मा का मात्रक रखने का अवकाश ही नहीं है। मैं यहां सोकर मेरे पार्श्ववर्ती सुप्त मुनियों को श्लेष्मा से खरंटित करूं, यह मैं नहीं चाहता। तब एकान्त स्थान में सुप्त मुनि उसको अपनी संस्तारक-भूमी दे देता है।

४४०९.निदं न विदामिह उव्वरेणं,

को मे पवायमि दएज्ज भूमिं।

सीएण वाएण य मज्झ बाहिं,

न पच्चए अन्नमहऽन्न आह॥

पित्तल मुनि कहता है-यहां मैं उद्वर-गर्मी के उपताप से नींद नहीं ले पाता। कौन मुझे प्रवात-हवादार भूमी में शयन करने के लिए भूमी देगा? इतने में ही वातल मुनि कहता है-बाहर सोया हुआ मैं शीतल वायु से पीड़ित हो रहा हूं। उससे मेरा अन्न भी नहीं पच रहा है। (तब दोनों-पित्तल और वातल मुनि-परस्पर स्थान का परिवर्तन कर लेते हैं।)

४४१०.जोइंति पक्कं न उ पक्कलेणं,

ठावैति तं सूरहगस्स पासे।

एक्कमि खंभमि न मत्तहत्थी,

बज्जंति वग्घा न य पंजरे दो॥

जो पक्व अर्थात् कलहशील है, उसको दूसरे कलहशील के साथ योजित नहीं किया जाता। उसको शूरहक अर्थात् कलह आदि करने वालों को शिक्षित करने में समर्थ हो, उसके पास स्थापित करते हैं। एक ही आलानस्तंभ पर दो मत्त हाथियों को नहीं बांधा जाता और न एक ही पिंजरे में दो व्याघ्र रखे जाते हैं।

४४११.रायणिओ आयरिओ, आयरियस्सेव अक्कमइ ठाणं।

इतरो वसभद्वाए, ठायइ जे ते व दो ठागा॥

समागत प्राघूर्णक आचार्य से रत्नाधिक हैं, उनको वास्तव्य आचार्य का शयनीय स्थान प्राप्त होता है। वास्तव्य आचार्य वृषभ अर्थात् उपाध्याय के स्थान पर संस्तारक ग्रहण करते हैं। अथवा आचार्य के तीन स्थान निर्धारित होते हैं। उनमें से एक स्थान पर प्राघूर्णक आचार्य सो गए। अवशिष्ट दो स्थानों में से एक स्थान में वास्तव्य आचार्य सो जाते हैं।

४४१२.ओमो पुण आयरिओ, वसभोगासे अणंतरे वसभो।

संछोभरपरंपरओ, चरिमं सेहं च मोत्तूणं॥

यदि प्राघूर्णक आचार्य पर्याय से लघु हो तो वह वृषभ के स्थान पर सोता है। उसके पश्चात् वृषभ स्थान पाता है। यह संस्तारकों की ‘संक्षोभपरंपरा’ स्थानान्तरसंक्रमणरूप परंपरा तब तक जाननी चाहिए जब तक द्विचरम साधु न आ जाए। अर्थात् सर्वपश्चात्यवर्ती स्थान में सोनेवाले शैक्ष का स्थान न आ जाए। इनके संस्तारक का संक्रमण नहीं करना चाहिए।

४४१३.चरिमो बहिं न कीरइ, सेहं न सहायगा विजुयलेंति।

रंगिद्धिपुरिसनायं, सब्बे तत्थेव भावैति॥

‘चरम’ अर्थात् पर्यन्तवर्ती मुनि को बाहर नहीं करना चाहिए। वह शैक्ष अपने शिक्षक (सहायक) के साथ रहता है।

इस युगल को विलग नहीं करना चाहिए। यहां 'रंगभूमी में ऋद्धिमान् पुरुषों' का दृष्टांत ज्ञातव्य है। रंगभूमी खचाखच दर्शकों से भरी है। इतने में ही राजा, अमात्य, श्रेष्ठी आदि ऋद्धिमान् पुरुष आ गए। उनको अपने-अपने योग्यस्थान पर बिठाया जाता है। पहले समागत लोग भी स्थान का संक्षेपीकरण कर वहीं समा जाते हैं। इसी प्रकार मुनिजनों के आने वाले प्राघूर्णक भी प्रधानपुरुष सदृश होते हैं अतः उन्हें उनके योग्य संस्तारकभूमी देकर सभी मुनियों को अवशिष्ट स्थान में संस्तारक दे दते हैं। यह कार्य वृषभ मुनि का होता है।

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहारायणियाए किइकम्मं करेत्तए॥

(सूत्र २०)

४४१४.संधारं दुरुहंतो, किइकम्मं कुणइ वातिगं सायं।
पातो वि य पणिवायं, पडिबुद्धो एक्कमेक्कस्स॥

मुनि सायं अपने संस्तारक पर आरूढ़ होते समय वाचिक कृतिकर्म 'नमः क्षमाश्रमणेभ्यः' कहकर करता है और प्रातः जाग कर प्रत्येक रत्नाधिक मुनि को वन्दन करता है।

४४१५.किइकम्मं पि य दुविहं, अब्भुट्ठाणं तहेव वंदणगं।
वंदणगं तहिं ठप्पं, अब्भुट्ठाणं तु वोच्छामि॥

कृतिकर्म (वंदनक) के दो प्रकार हैं—अभ्युत्थान और वंदनक। इन दोनों में से एक (वंदनक) स्थाप्य अर्थात् पश्चाद् कथनीय है। अभ्युत्थान के विषय में अभी कहूंगा।

४४१६.अब्भुट्ठाणे लहुगा, पासत्थाद-उण्णतित्थि-गिहिण्णसु।
अहच्छंद अण्णतित्थिणि, संजइवग्गे अ गुरुगा उ॥

पार्श्वस्थ, अन्यतीर्थिक तथा गृहस्थों के प्रति अभ्युत्थान करने पर चतुर्लघु तथा यथाच्छंद, अन्यतीर्थिनीयों तथा संयती वर्ग के प्रति अभ्युत्थान करने पर चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

४४१७.उट्ठेइ इत्थिं जह एस एंतिं,

धम्मं ठिओ नाम न एस साहू।

दक्खिन्नपत्ता वसमेइ चेवं,

मिच्छत्तदोसा य कुलिगिणीसु॥

कोई मुनि आती हुई स्त्री को देखकर अभ्युत्थान करता है, तब देखने वाला श्रावक कहता है—यह मुनि धर्म में स्थित नहीं है। यह उस स्त्री का दाक्षिण्यवान् है। इससे वह उसका वशवर्ती होता है। इससे ब्रह्मचर्य की विराधना होती

है। तथा जो कुलिगिनियां होती हैं—तापसी, परिव्रजिका आदि होती हैं उनके प्रति अभ्युत्थान करने से मिथ्यात्व आदि दोष होते हैं।

४४१८.ओभावणा पवयणे, कुतित्थ उब्भावणा अबोही य।

खिंसिज्जंति य तप्पक्खिएहिं गिहिसुव्वया बलियं॥

अन्यतीर्थिकों के प्रति अभ्युत्थान करने पर प्रवचन की अपभ्राना—निन्दा होती है, कुतीर्थ की प्रभावना होती है, अबोधि अर्थात् प्रवचन की लघुता तथा जो गृहस्थ सुव्रत—अणुव्रत धारक हैं उनकी शाक्य आदि पक्षपाती उपासकों द्वारा अत्यधिक खिंसना होती है, भर्त्सना होती है, वे कहते हैं—हमारा दर्शन सर्वोत्तम है क्योंकि वह आपके गुरुओं के लिए भी गौरवाह है।

४४१९.ए चेव य दोसा, सविसेसयरउत्ततित्थिगीसुं पि।

लाघव अणुज्जियत्तं, तहागयाणं अवन्नो य॥

ये ही दोष विशेषरूप से अन्यतीर्थिकी स्त्रियों के प्रति अभ्युत्थान करने से होते हैं। विशेषरूप से लाघव, अनूर्जितत्व—वराकत्व तथा तीर्थकर आदि का अवर्णवाद होता है।

४४२०.पायं तवस्सिणीओ, करेति किइकम्म मो सुविहियाणं।

एसुत्तिट्ठइ वतिणिं, भवियव्वं कारणेणेत्यं॥

संयतीयों के प्रति अभ्युत्थान करते हुए देखकर, शैक्ष सोचता है—प्रायः तपस्विनी संयतियां सुविहित मुनियों का कृतिकर्म करती हैं। यह मुनि संयती के प्रति अभ्युत्थान करता है। इसमें कोई न कोई कारण होना चाहिए।

४४२१.आयरिए अभिसेगे, भिक्खुम्मि तहेव होइ खुडे य।

गुरुगा लहुगा लहुगो, भिन्ने पडिलोम बिइएणं॥

आचार्य, अभिषेक, भिक्षु और क्षुल्लक—इन प्राघूर्णकों के आने पर यदि अभ्युत्थान नहीं किया जाए तो प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। वह प्रायश्चित्त क्रमशः यह है—गुरुक, लघुक, लघुक और भिन्नमास। दूसरे आदेश से यही प्रायश्चित्त प्रतिलोम के क्रम से कहना चाहिए।

४४२२.आयरियस्सायरियं, अणुट्ठियंतस्स चउगुरू होंति।

वसभे भिक्खू खुडे, लहुगा लहुगो य भिन्नो य॥

प्राघूर्णक आचार्य के आने पर यदि आचार्य अभ्युत्थान नहीं करते तो प्रायश्चित्त है चतुर्गुरु। वृषभ द्वारा अभ्युत्थान न करने पर चतुर्लघु, भिक्षु द्वारा अभ्युत्थान न करने पर लघुमास और क्षुल्लक द्वारा अभ्युत्थान न करने पर भिन्नमास का प्रायश्चित्त है।

४४२३.सट्ठाण परट्ठाणे, एमेव य वसह-भिक्खु-खुट्ठाणं।

जं परठाणे पावइ, तं चेव य सोहि सट्ठाणे॥

इसी प्रकार वृषभ, भिक्षु और क्षुल्लक के भी स्वस्थान-परस्थान प्रायश्चित्त वक्तव्य है। स्वस्थान का तात्पर्य है वृषभ का वृषभ और परस्थान का तात्पर्य है वृषभ का आचार्य। इसी प्रकार भिक्षु और क्षुल्लक के भी स्वस्थान-परस्थान होता है। जो प्रायश्चित्त परस्थान में आचार्य को प्राप्त होता है वही वृषभ आदि को स्वस्थान में प्राप्त होगा। जैसे वृषभ आदि प्राघूर्णक आचार्य के आने पर अभ्युत्थान न करे तो चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त। वृषभ के आने पर अभ्युत्थान न करने पर चतुर्लघु। भिक्षु और क्षुल्लक के आने पर अभ्युत्थान न करने पर क्रमशः मासलघु और भिन्नमास। जो परस्थान में प्रायश्चित्त प्राप्त होता है वही स्वस्थान में प्राप्त होता है।

४४२४. दोहि वि गुरुगा एते, आयरियस्सा तवेण कालेण।

तवगुरुगा कालगुरु, दोहि वि लहुगा य खुडुस्स॥

आचार्य के ये सभी प्रायश्चित्त दोनों अर्थात् तप और काल से गुरु होते हैं। वृषभ के तपोगुरु, भिक्षु के कालगुरु और क्षुल्लक के तप और काल से लघु होते हैं।

४४२५. अहवा अविसिद्धं चिय, पाहुणयाऽऽगंतुए गुरुगमादी।

पावेंति अणुद्धिता, चउगुरु लहुगा लहुग भिन्नं॥

अथवा शब्द प्रायश्चित्त का प्रकारान्तर द्योतक है। आचार्य आदि विशेषण से विरहित आगंतुक प्राघूर्णक के प्रति अभ्युत्थान न करने वाले गुरु आदि अर्थात् आचार्य आदि यथाक्रम चतुर्गुरु, चतुर्लघुक, लघुमास और भिन्नमास का प्रायश्चित्त प्राप्त करते हैं। जैसे—कोई भी प्राघूर्णक के आने पर यदि आचार्य अभ्युत्थान नहीं करते हैं तो चतुर्गुरु, वृषभ को चतुर्लघु, भिक्षु को लघुमास और क्षुल्लक को भिन्नमास का प्रायश्चित्त है।

४४२६. अहवा जं वा तं वा, पाहुणगं गुरुमणुद्धिहं पावे।

भिन्नं वसभो सुक्कं, भिक्खु लहू खुडुए गुरुगा॥

अथवा जिस किसी प्राघूर्णक के लिए अभ्युत्थान न करने पर गुरु—आचार्य भिन्नमास को प्राप्त करता है, वृषभ शुक्लमास अर्थात् लघुमास, भिक्षु चतुर्लघु और क्षुल्लक चतुर्गुरुक को प्राप्त करता है।

४४२७. वायण-वावारण-धम्मकहण-सुत्तत्थचित्ताणसुं च।

वाउलिए आयरिए, विइयादेसो उ भिन्नाई॥

प्रश्न होता है कि द्वितीय आदेश का प्रवर्तन क्यों? आचार्य कहते हैं—आचार्य को वाचना देनी होती है, साधुओं को वैयवृत्त्य आदि में नियोजित करना, धर्मकथा करना, स्वयं को सूत्रार्थ की अनुप्रेक्षा करना—इन कार्यों में आचार्य निरंतर व्याकुल रहते हैं। अन्य मुनि इतने व्याकुलित नहीं

रहते, इसलिए भिन्नमास आदि का यह द्वितीय आदेश प्रवृत्त हुआ है।

४४२८. वेसइ लहुमुट्टेइ य, धूलीधवलो असंफुरो खुडो।

इति तस्स होंति गुरुगा, पालेइ हु चंचलं दंडो॥

प्रश्न होता है कि बाल साधु को गुरुतम प्रायश्चित्त क्यों? बाल साधु लघु शरीर होने के कारण सुखपूर्वक उठ-बैठ सकता है। वह धूलीधवल अर्थात् रजोगुण्डित देह वाला तथा असंवृत होता है। वह चपल होता है फिर भी यदि प्राघूर्णक या गुरु आदि के आने पर अभ्युत्थान नहीं करता है तो उसे गुरु प्रायश्चित्त आता है। वह चंचल होने के कारण दीयमान दंड का पालन कर लेता है।

४४२९. जइ ता दंडत्थाणं, पावइ बालो वि पयणुए दोसे।

ह णु दाणि अक्खमं णे, पमाइउं रक्खणा सेसे॥

दूसरे मुनि सोचते हैं—यदि इस बाल मुनि को भी थोड़े से दोष पर भी इस 'दंडस्थान' गुरु दंड को प्राप्त करता है तो हमें प्रमाद करना उचित नहीं है। इस प्रकार शेष साधुओं की प्रमाद से रक्षा हो जाती है।

४४३०. दिद्धंतो दुवक्खरणे, अब्भुद्धितेहिं जह गुणो पत्तो।

तम्हा उट्टेयव्वो, पाहुणओ गच्छे आयरिओ॥

यहां द्व्यक्षर (दास) का दृष्टांत वक्तव्य है। जो अभ्युत्थान आदि करते हैं, वे गुणों को प्राप्त करते हैं, अतः साधुओं के भी प्राघूर्णक आचार्य के आने पर अभ्युत्थान करने पर इह-परत्र गुणकारी होता है। प्राघूर्णक आचार्य सकलगच्छ के द्वारा अभ्युत्थातव्य होता है।

४४३१. आराहितो रज्ज सपट्टबंधं,

कासी य राया उ दुवक्खरस्स।

पसासमाणं तु कुलीयमादी,

नाढंति तं तेण य ते विणीया॥

एक दास ने राजा की आराधना की। राजा ने प्रसन्न होकर उसको पट्टबंध राजा बना दिया। वह राज्य पर प्रशासन करने लगा। परंतु कुलीन आदि सामन्त उसके प्रशासन को आदर नहीं देते। तब उस राजा ने उन सबको विनीत किया अर्थात् सबको अनेक उपायों से दंडित कर शिक्षा दी, उनको प्रणत किया।^१

४४३२. सव्वस्सं हाऊणं, निज्जूढा मारिया य विवदंता।

भोगेहिं संविभत्ता, अणुकूल अणुव्वणा जे उ॥

उस दास राजा ने प्रतिकूल व्यक्तियों का सर्वस्व हरण कर उन्हें नगर से निष्काशित कर दिया। जो विवाद करते उनको मार डाला। जो व्यक्ति अनुकूल और अगर्वित रहे

उनको राज्य के भोगों में संविभाग दिया। यह दृष्टांत है।
इसका अर्थोपनय यह है—

४४३३. अहिराया तित्थयरो, इयरो उ गुरु उ होइ नायव्वो।
साहू जहा व दंडिय, पसत्थमपसत्थगा होंति॥

तीर्थकर अधिराजा (मूल राजा) के सदृश होते हैं। इतर अर्थात् मूल राजा तीर्थकर द्वारा स्थापित दूसरे राजा के सदृश होते हैं गणाधिपति गुरु-आचार्य। तथा जैसे प्रशस्त-अप्रशस्तरूप दंडिक आदि होते हैं, वैसे ही दोनों स्वभाववाले होते हैं साधु।

४४३४. जह ते अणुद्धिहंता, हियसव्वस्सा उ दुक्खमाभागी।
इय णाणे आयरियं, अणुद्धिहंताण वोच्छेदो॥

जैसे राजा के प्रति अभ्युत्थान आदि न करने वाले व्यक्ति अपने सर्वस्व को गंवा कर दुःख के आभागी बन जाते हैं, इसी प्रकार जो साधु आचार्य आदि का अभ्युत्थान आदि से सत्कार नहीं करते उनके भी ज्ञान, दर्शन, चारित्र का व्यवच्छेद हो जाता है और वे अनेक प्रकार के दुःख पाते हैं।

४४३५. उट्टाण-सेज्जा-ऽऽसणमाइएहिं,

गुरुस्स जे होंति सयाऽणुकूला।

नाउं विणीए अह ते गुरु उ,

संगिण्हई देइ य तेसि सुत्तं॥

जो शिष्य आचार्य के प्रति अभ्युत्थान आदि में सजग रहते हैं, उनके शय्या, आसन आदि की रचना में जागरूक होते हैं—इन क्रियाओं में जो सदा गुरु के अनुकूल होते हैं, उनको गुरु विनीत जानकर उनका संग्रहण करते हैं अर्थात् उनका पालन करते हैं और उनको श्रुत की वाचना देते हैं।

४४३६. पज्जाय-जाई-सुततो य बुद्धा,

जच्यन्निया सीससमिद्धिमंता।

कुव्वंतऽवण्णं अह ते गणाओ,

निज्जूहई नो य ददाइ सुत्तं॥

जो शिष्य संयमपर्याय से वृद्ध, जन्म से वृद्ध, श्रुतसंपदा से वृद्ध होते हैं वे आचार्य को अवमरत्नाधिक, बालक और अल्पश्रुत मानकर तथा अपने को जाति से उच्च तथा शिष्य-संपदा से समृद्ध मानते हुए आचार्य को हीन जाति वाला तथा अल्पशिष्य परिवार वाला मानकर उनकी अवज्ञा करते हैं, आचार्य उनको गण से पृथक् कर देते हैं। यदि निर्यूहण करना—पृथक् करना शक्य न हो तो आचार्य उनको श्रुत की वाचना नहीं देते।

४४३७. मज्झत्थ पोरिसीए, लेवे पडिलेह आइयण धम्मे।

पयल गिलाणे तह उत्तिमट्ट सव्वेसि उट्टाणं॥

आचार्य को आते हुए देखकर गच्छ के साधु यदि

अभ्युत्थान नहीं करते, बैठे रहते हैं तो उन्हें तथा जो सूत्रार्थपौरुषी में संलग्न हों, पात्रों पर लेप लगा रहे हों, प्रतिलेखना कर रहे हों, आइयण अर्थात् आहार कर रहे हों, धर्मकथा कर रहे हों, झपकियां ले रहे हों, ग्लान हों, उत्तमार्थ-अनशन प्रतिपन्न हों—इन सबको आचार्य के आने पर समुत्थान करना चाहिए। यदि समुत्थान नहीं करते हैं तो प्रायश्चित्त आता है।

४४३८. दूरागयमुट्ठेउं, अभिनिग्गंतुं नमंति णं सव्वे।
दंडगहणं च मोत्तुं, दिट्ठे उट्टाणमन्नत्थ॥

दूर से अर्थात् अन्यत्र से आचार्य को आते हुए जानकर सभी मुनि उनकी अगवानी के लिए जाएं और वंदना करें। आचार्य जब उपाश्रय में प्रवेश करें तब उनका दंड ग्रहण करें। अन्यत्र गुरु को देखकर दंड को छोड़कर, अभ्युत्थान करें।

४४३९. परपक्खे य सपक्खे, होइ अगम्मत्तणं च उट्टाणे।
सुयपूयणा थिरत्तं, पभावणा निज्जरा चव॥

गुरु के प्रति अभ्युत्थान करने से परपक्ष तथा स्वपक्ष में गुरु की अनभिभवनीयता द्योतित होती है। श्रुत की पूजा, संयम में स्थिरत्व होता है, शासन की प्रभावना और निर्जरा होती है।

४४४०. अकारणा नत्थिह कज्जसिद्धी,

न याणुवाएण वदेति तण्णा।

उवायवं कारणसंपउत्तो,

कज्जाणि साहेइ पयत्तवं च॥

कार्यसिद्धि को जानने वाले कहते हैं कि कार्य की सिद्धि उसके उपादानकारण के बिना नहीं होती तथा उपाय के बिना भी नहीं होती। जो व्यक्ति उपायवान् तथा कारण से संप्रयुक्त होता है, वह प्रयत्नवान् पुरुष कार्यों को साध लेता है, कार्यों की संपूर्ति कर लेता है।

४४४१. धम्मस्स मूलं विणयं वयंति,

धम्मो य मूलं खलु सोग्गईए।

सा सोग्गई जत्थ अबाहया ऊ,

तम्हा निसेव्वो विणयो तदट्ठा॥

तीर्थकर कहते हैं—धर्म का मूल है विनय। धर्म सुगति का मूल है। सुगति वह है जहां कोई बाधा नहीं है। वह है सिद्धि। अतः सुगति प्राप्ति के लिए विनय का आचरण करना चाहिए।

४४४२. मंगल-सद्धाजणणं, विरियायारो न हाविओ चवं।
एएहिं कारणेहिं, अतरंत परिणण उट्टाणं॥

अतरंत अर्थात् ग्लान तथा परिणण—परिज्ञावान् (अनशनी) ये दोनों जब आचार्य के आने पर अभ्युत्थान करते हैं तो उनके मंगल होता है। उनको देखकर दूसरों में भी अभ्युत्थान

करने की श्रद्धा पैदा होती है तथा ग्लान और अनशनी का वीर्याचार त्यक्त नहीं होता।

४४४३. चंकमणे पासवणे, वीयारे साहु संजई सत्री।
सन्निणि वाइ अमच्चे, संघे वा रायसहिण वा॥

४४४४. पणगं च भिन्नमासो, मासो लहुगो य होइ गुरुगो य।
चत्तारि छ च्च लहु गुरु, छेदो मूलं तह दुगं च॥

आचार्य को चंक्रमण करते हुए देखकर अभ्युत्थान न करने पर पांच रात-दिन का, प्रसवण भूमी से आने पर भिन्नमास, संज्ञाभूमी से आने पर मासलघु, दूसरे साधुओं के साथ आने पर मासगुरु, साध्वियों के साथ आने पर चतुर्लघु, श्रावकों के साथ आने पर चतुर्गुरु, असंज्ञियों के साथ आने पर षडलघु, संज्ञिनी स्त्रियों के साथ आने पर षडगुरु, वादी के आने पर छेद, अमात्य के साथ आने पर मूल, संघ के साथ आने पर अनवस्थाप्य, राजा के साथ आने पर पारांचिक। (ये सारे प्रायश्चित्त आचार्य के आने पर अभ्युत्थान न करने पर आते हैं।)

४४४५. पूरंति पूइयं इत्थियाउ पाएण ताओ लहुसत्ता।
एएण कारणेणं, पुरिसेसुं इत्थिया पच्छा॥

स्त्रियां प्रायः पूजित की पूजा करती हैं। वे तुच्छ स्वभाववाली होती हैं। इन दो कारणों से पहले पुरुषों (साधु-श्रावकों) को अधिकृत कर लघु प्रायश्चित्त कह कर पश्चात् स्त्रियों (साध्वियों, श्राविकाओं) को अधिकृत कर गुरु प्रायश्चित्त कहा गया है।

४४४६. पाएणिद्धा एंति महाणेण समं तू,

फातिं दोसो गच्छइ एएसु तणू वि।

गज्झं वक्कं होज्ज कहं वा परिभूतो,

वेडुज्जं वा कुच्छियवेसम्मि मणूसे॥

(राजा के साथ गुरु के आने पर अभ्युत्थान न करने पर पारांचिक प्रायश्चित्त क्यों?)

राजा ऐश्वर्यशाली होते हैं। वे प्रायः सामन्त, मंत्री आदि महाजनों के साथ आते हैं। अतः इनके कारण लघु दोष भी बड़ा हो जाता है, विस्तार पा जाता है। साधुओं द्वारा अभ्युत्थान न करने पर आचार्य का पराभव माना जाता है। जो परिभूत हो उसका वचन ग्राह्य कैसे हो सकता है? जैसे कुत्सित वेश वाले मनुष्य के पास स्थित वैदूर्यमणि उपादेय नहीं होता।

४४४७. अवस्सकिरियाजोगे, वडंतो साहु पुज्जया।
परिफग्गुं तु पासामो, चंकम्मंते वि उट्ठणं॥

आचार्य यदि आवश्यक क्रियायोग में वर्तमान होकर आते हैं तो उनकी पूज्यता श्रेयस्करी है। किन्तु चंक्रमण

आदि क्रियाओं के समय अभ्युत्थान करना हम निरर्थक मानते हैं।

४४४८. कामं तु एअमाणो, आरंभाईसु वडई जीवो।
सो उ अणद्धा णेद्धो, अवि बाहूणं पि उक्खेवो॥

यह अनुमत है कि स्पन्दमान जीव आरंभ आदि में अर्थात् कर्मबंध के कारणों में प्रवृत्त होता है। जीव का स्पंदन निष्कारण नहीं माना गया है। बाहु का उत्क्षेप भी निरर्थक नहीं होता, फिर चंक्रमण आदि की बात ही क्या?

४४४९. मणो य वाया काओ अ, तिविहो जोगसंगहो।
ते अजुत्तस्स दोसाय, जुत्तस्स उ गुणावहा॥

योगसंग्रह तीन प्रकार का है—मनोयोग, वाग्योग और काययोग। जो व्यक्ति अनुपयुक्त होता है उसके ये तीनों योग दोष के लिए होते हैं अर्थात् कर्मबंध के लिए होता है और जो उपयुक्त होता है उसके ये तीनों योग गुणकारी होते हैं, अर्थात् निर्जरा के कारण बनते हैं।

४४५०. जह गुत्तस्सरियाई, न होंति दोसा तहेव समियस्स।
गुत्तीडिय प्पमायं, रंभइ समिई सचेट्ठस्स॥

जो मनो-वाक्-काय से गुप्त होता है उसके ईर्ष्यादि के दोष नहीं लगते। उसी प्रकार जो समित होता है, समितियों में उपयुक्त होता है उसके भी ईर्ष्यादि के दोष नहीं लगते। जो मुनि गुप्तियों में स्थित है, वह अगुप्तिजनक प्रमाद का निरोध कर लेता है। जो मुनि समितियों में स्थित है—वह सचेष्ट में होने वाले प्रमाद और उससे होने वाले कर्मबंध का निरोध करता है।

४४५१. समितो नियमा गुत्तो, गुत्तो समियत्तणम्मि भइअव्वो।
कुसलवइमुदीरंतो, जं वइसमितो वि गुत्तो वि॥

जो मुनि समित है, वह नियमतः गुप्त है। जो गुप्त है वह समितत्व में विकल्पनीय है। प्रश्न है कि जो समित है वह नियमतः गुप्त कैसे? जो कुशल अर्थात् निरवद्य वचन की उदीरणा करता है वह वाक्समित और गुप्त भी है।

४४५२. जो पुण काय-वतीओ, निरुज्झ कुसलं मणं उदीरेइ।
चिड्डइ एकग्गमणो, सो खलु गुत्तो न समितो उ॥

कोई शरीर और वाणी का निरोध कर कुशल मन की उदीरणा करता है और एकाग्रमन होकर बैठता है। वह गुप्त कहलाता है, समित नहीं।

४४५३. वाइगसमिई बिइया, तइया पुण माणसा भवे समिई।
सेसा उ काइयाओ, मणो उ सव्वासु अविरुद्धो॥

वाचिकसमिति (भाषासमिति) दूसरी वाग्गुप्ति है। तीसरी समिति है एषणा समिति। वह मानसिक उपयोग से निष्पन्न होती है। वह मनोगुप्ति है। शेष सारी समितियां कायगुप्ति के

अंतर्गत आती हैं। मानसिक उपयोग सभी समितियों में विद्यमान रहता है।

४४५४. वयसमितो च्चिय जायइ,

आहारादीणि कप्पणिज्जाणि।

एसणउवओगे पुण,

सोयाई माणसा न वई॥

जब मुनि कल्पनीय आहार आदि की याचना करता है तो वह वाग्समित ही है, मनोगुप्त नहीं है। जब वह श्रोत्र आदि के द्वारा एषणा में उपयोग करता है तब उसके मनोगुप्ति होती है। उस समय वाग्समिति नहीं होती।

४४५५. जा वि य ठियस्स चेद्वा, हत्थादीणं तु भंगियाईसु॥

सा वि य इरियासमिती, न केवलं चंक्रमंतस्स॥

केवलं चंक्रमण करने वाले के ही ईर्यासमिति नहीं होती। किन्तु जो बैठा है, उसकी भंगबहुलश्रुत में जो हाथ आदि की चेष्टाएं होती हैं वह भी ईर्यासमिति के अंतर्गत आती हैं।

४४५६. वायाई सद्वाणं, वयंति कुविया उ सन्निरुहेणं।

लाघवमग्गिपडुत्तं, परिस्समजतो य चंक्रमतो॥

एक स्थान पर बैठे रहने से सन्निरुद्ध वायु आदि धातुएं कुपित होकर स्वस्थान से चलित हो जाती हैं। चंक्रमण से वे अपने स्थान पर आ जाती हैं। शरीर में लाघवपन आता है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है तथा व्याख्यान आदि से उत्पन्न परिश्रम पर विजय प्राप्त होती है।

४४५७. चंक्रमणे पुण भइयं, मा पलिमंथो गुरुविदिन्नम्पि।

पणिवायवंदणं पुण, काऊण सइं जहाजोगं॥

गुरु के चंक्रमण करते समय शिष्य को अभ्युत्थान करना चाहिए या नहीं, यह विकल्पनीय है। सूत्रार्थ का परिमंथ न हो इसलिए आचार्य यदि अभ्युत्थान न करने की अनुज्ञा दे दे तो अभ्युत्थान करने की आवश्यकता नहीं है। परंतु एक बार अभ्युत्थान करके, गुरु को प्रणिपात-वंदना करने के पश्चात् यथायोग्य अपना कार्य करे।

४४५८. अइमुद्धमिदं वुच्चइ, जं चंक्रमणे वि होइ उद्वाणं।

एवमकारिज्जंता, भद्दगभोई व मा कुज्जा॥

यह अत्यंत अप्रबुद्धजनोचित वचन है कि आचार्य चंक्रमण करते हों तो भी शिष्य को अभ्युत्थान करना चाहिए। आचार्य कहते हैं-वत्स! यदि इस प्रकार न कराया

१. देखें कथा परिशिष्ट, नं. ९६।

२. आचार्य, उपाध्याय प्रवर्तक, स्थविर और गच्छावच्छेदी-ये पांच 'पंजर' कहलाते हैं। इनकी परतंत्रता, इनकी सारणा, प्रेरणा पंजर कहलाती है। जो इनकी प्रेरणा नहीं मानता वह पंजरभग्न होता है।

(वृ. पृ. १२०४)

जाए तो 'भद्रक-भोजिक'^१ की भांति शेष विनय-प्रसंगों में भी शिष्य अविनय न करे इसीलिए चंक्रमण से भी अभ्युत्थान कराया जाता है।

४४५९. वसभाण होंति लहुगा, असारणे सारणे अपच्छित्ता।

ते वि य पुरिसा दुविहा, पंजरभग्गा अभिमुहा य॥

वृषभ मुनि यदि अभ्युत्थान न करने वाले शिष्यों की सारणा नहीं करते हैं तो उनको चतुर्लघु का प्रायश्चित्त आता है और यदि सारणा करते हैं तो उन्हें कोई प्रायश्चित्त नहीं आता। गच्छ में प्रतीच्छक दो प्रकार के पुरुष होते हैं—पंजरभग्न^२ और संयमाभिमुख।

४४६०. भग्गऽह कडी अब्भुट्टणेण देइ य अणुट्टणे सोही।

अनिरुहसुहो वासो, होहिइ णे इत्थ अच्छामो॥

गच्छ में रहने वाले प्रतीच्छक शिष्य सोचते हैं—जहां हम थे वहां आचार्य के चंक्रमण करते समय बार-बार अभ्युत्थान करने के कारण हमारी कमर टूट गई। अभ्युत्थान न करने पर प्रायश्चित्त दिया जाता है। इस गच्छ में अनियंत्रण का सुख है, यहां सुखदायी वास है, इसलिए हम यहां निवास करें—यह सोचकर वे वहीं रह जाते हैं, अपने गच्छ में नहीं लौटते।

४४६१. जे पुण उज्जयचरणा, पंजरभग्गो न रोयए ते उ।

अन्नत्थ वि सइरत्तं, न लब्भई एति तत्थेव॥

उद्यतचरण वाले मुनि पंजरभग्न मुनि को रुचिकर नहीं लगते। पंजरभग्न सोचता है—अन्यत्र किसी भी गच्छ में स्वतंत्रता नहीं है। यह सोचकर वह अपने गच्छ में लौट जाता है।

४४६२. चरणोदासीणे पुण, जो विप्पजहाय आगतो समणो।

सो तेसु पविसमाणो, सद्धं वहेइ उभओ वि॥

जो श्रमण चारित्र के प्रति उदासीन पार्श्वस्थ आदि को छोड़कर आया है, वह गच्छान्तरीय साधुओं में प्रवेश करता हुआ दोनों (जिस गच्छ से आया है वहां के साधुओं को तथा जिस गच्छ में प्रवेश कर रहा है वहां के साधुओं) में श्रद्धा को बढ़ाता है।^३

४४६३. इत्थ वि मेराहाणी, एते वि हु सार-वारणामुक्का।

अत्रे वयइ अभिमुहो, तप्पच्चयनिज्जराहाणी॥

जो श्रमण आया है वह उस गच्छ में भी मर्यादा की हानि देखता है और सोचता है—यहां के मुनि भी स्मारणा-वारणा

३. जिस गच्छ में वह प्रवेश करता है, वहां के साधु सोचते हैं—यह हमें सुंदर समझ कर आया है। वे सुन्दरतर क्रिया करने में संलग्न हो जाते हैं। जिस गच्छ से आया है, वहां के मुनि सोचते हैं—यह हमें सुखशील मानकर गया है, इसलिए हमें उद्यत होना चाहिए।

(वृ. पृ. १२०५)

से मुक्त हैं, यहां कौन रहना चाहेगा? यह सोचकर वह संयमाभिमुख श्रमण दूसरे गच्छ में जाता है। उसके जाने से क्या हानि होती है? उस साधु के योग से होने वाली निर्जरा की हानि होती है।

४४६४. जर्हि नत्थि सारणा वारणा य पडिचोयणा य गच्छम्मि।

सो उ अगच्छो गच्छो, संजमकामीण मोत्तव्वो॥

जिस गच्छ में सारणा, वारणा और प्रतिनोदना नहीं है, वह गच्छ अगच्छ है। संयमकामी मुनि को चाहिए कि वह ऐसे गच्छ को छोड़ दे, उसमें न रहे।

४४६५. अयमपरो उ विकप्पो, पुव्वावरवाहय त्ति ते बुद्धी।

लोए वि अणेगविहं, नणु भेसज मो रुजोवसमे॥

प्रायश्चित्त का यह दूसरा विकल्प है, प्रकार है। इसे देखकर तुम सोचोगे कि यह कथन पूर्वापर व्याहृत है, पहले कुछ था और अब कुछ और है। रोग के उपशमन के लिए लोक में भी अनेकविध औषधियां प्रचलित हैं। इसी प्रकार एक ही अनभ्युत्थान के लिए अनेकविध प्रायश्चित्त है और वह भी सकारण है।

४४६६. वीयार-साहु-संजइ-निगम-घडा-राय-संघ-सहिते तु।

लहुगो लहुगा गुरुगा, छम्मासा छेद मूल दुगं॥

आचार्य के विचारभूमी से आने पर अभ्युत्थान न करने से मासलघु, साधुओं के साथ आने पर चतुर्लघु, साध्वियों के साथ आने पर चतुर्गुरु, निगम-पौरवणिग् के साथ आने पर षडलघु, घट-महत्तरो के साथ आने पर छेद, संघ के साथ आने पर मूल, राजा के साथ आने पर अनवस्थाप्य, राजा और संघ के साथ आने पर पारांचिक-ये भिन्न-भिन्न प्रायश्चित्त प्राप्त होते हैं।

४४६७. देसिय राइय पक्खिय, चाउम्मासे तहेव वरिसे य।

लहु गुरु लहुगा गुरुगा, वंदणए जाणि य पदाणि॥

द्वैसिक और रात्रिक आवश्यक में वंदना न देने पर मासलघु, पाक्षिक में न देने पर मासगुरु, चातुर्मासिक में चतुर्लघु, सांवत्सरिक में चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त है। वंदनक में जो पद हैं, उनको न करने पर असामाचारी निष्पन्न मासलघु का प्रायश्चित्त है।

४४६८. आयरियाइचउण्हं, तव-कालविसेसियं भवे एयं।

अहवा पडिलोमेयं, तव-कालविसेसओ होइ॥

यह उपरोक्त प्रायश्चित्त आचार्य, वृषभ, भिक्षु और क्षुल्लक-इन चारों के तप और काल से विशेषित होता है-(आचार्य के तप और काल से गुरु, वृषभ के तपोगुरु, भिक्षु के कालगुरु और क्षुल्लक के तप-काल से लघु।) अथवा इसे ही प्रतिलोम से कहा जाए-आचार्य के दोनों से

लघु, वृषभ के कालगुरु, भिक्षु के तपोगुरु और क्षुल्लक के तपो-कालगुरुक।

४४६९. दुगसत्तगकिइकम्मस्स अकरणे होइ मासियं लहुगं।

आवासगविवरीए, ऊणऽहिए चव लहुओ उ॥

द्वैसिक और रात्रिक में द्वि सप्तक अर्थात् चौदह वंदनक देने होते हैं। इनको न करने पर मासलघु का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। आवश्यक करते हुए विपरीत उच्चारण करने पर तथा कम या अधिक पदाक्षर बोलने पर मासलघु का प्रायश्चित्त है।

४४७०. दुओणयं अहाजायं, किइकम्मं बारसावयं।

चउसिरं तिगुत्तं च, दुपवेसं एगनिक्खमणं॥

दो अवनत (मस्तक झुकाकर प्रणमन), यथाजात-जब श्रमण हुआ तब जैसे वंदनक दिया, वैसे ही वंदनक देना, द्वादश आवर्त वाला कृतिकर्म (वंदनक), चार सिर से अवनमन, तीन गुप्तियों से गुप्त होकर वन्दनक देना, दो प्रवेश, एक निष्क्रमण-इन पचीस आवश्यकों को न करने पर प्रत्येक का मासलघु प्रायश्चित्त है।

४४७१. अणाढियं च थद्धं च, पविद्धं परिपिडियं।

टोलगइ अंकुसं चव, तहा कच्छभरिंणियं॥

४४७२. मच्छुव्वत्तं मणसा, य पउडुं तह य वेइयावद्धं।

भयसा चव भयंतं, मित्ती-गारव-कारणा॥

४४७३. तेणियं पडिणियं चव, रुद्धं तज्जियमेव य।

सढं च हीलियं चव, तहा विप्पलित्तं चियं॥

४४७४. दिट्ठमदिट्ठं च तहा, सिंगं च कर मोअणं।

आलिट्ठमणालिट्ठं, ऊणं उत्तरचूलियं॥

४४७५. मूयं च ढड्डरं चव, चुडलित्तं च अपच्छिमं।

बत्तीसदोसपरिसुद्धं, किइकम्मं पउंजए॥

अनावृत, स्तब्ध, प्रवृद्ध, परिपिंडित, टोलगति, अंकुश, कच्छपरिणित, मत्स्य उद्वृत्त, मन से प्रद्विष्ट, वेदिकाबद्ध, भय से वंदनक देते हुए, शर्त लगाकर वंदनक देना (भजमान वंदनक) मैत्री से, गौरव से, कारण से, चौर्य से, प्रत्यनीकता से, रुष्ट वंदनक, तर्जना से, शठ वंदनक, हीलितवंदनक, विपरिकुंचित, दृष्टादृष्ट, शृंग, कर, मोचन, आश्लिष्ट-अनाश्लिष्ट, न्यून, उत्तरचूलिका, मूक, ढड्डर, चुडलिक मुनि को चाहिए कि वह इन बत्तीस दोषों से परिशुद्ध कृतिकर्म का प्रयोग करे। इन दोषों की व्याख्या निम्न गाथाओं में हैं-

४४७६. आयरकरणं आढा, तव्विवरीयं अणाढियं होइ।

दव्वे भावे थद्धो, चउभंगो दव्वतो भइतो॥

आदर करना आढा है। उसके विपरीत अर्थात् आदर नहीं

करना अनादा है। इसका संस्कृत रूप है—अनादृत। यह पहला दोष है। स्तब्ध दो प्रकार के होते हैं—

द्रव्यतः और भावतः। इसकी चतुर्भगी होती है—

१. द्रव्यतः स्तब्ध, न भावतः।
२. भावतः स्तब्ध, न द्रव्यतः।
३. दोनों से स्तब्ध।
४. दोनों से स्तब्ध नहीं।

जो भावतः स्तब्ध है वह अशुद्ध है। जो द्रव्यतः स्तब्ध है, वह विकल्पित है।

४४७७. पविद्धमणुवयारं, जं अपिंतो ण जंतितो होति।

जत्थ व तत्थ व उज्झति, कतकिच्चो वक्खरं चव॥

पवृद्ध का अर्थ है—उपचाररहित। इसमें गुरु को जो वंदनक अर्पित किया जाता है वह अनियंत्रित होता है। वंदनक देनेवाला वह शिष्य यत्र-तत्र वंदनक को छोड़ देता है जैसे 'कृतकृत्य वक्खार की भांति' यत्र-तत्र अपने वक्खार-भांड को डाल देता है।^१

४४७८. परिपिंडिए व वंदइ, परिपिंडियवयण-करणओ वा वि।

टोलो व्व उप्फिडंतो, ओसक्क-ऽहिसक्कणं दुहओ॥

परिपिंडित अर्थात् एकत्र मिलित अनेक आचार्यों को एक साथ एक वंदनक करना। अथवा जिसके वचन और हाथ-पैर परिपिंडित हैं—अव्यवच्छिन्न हैं, उसके द्वारा किया जाने वाला वंदनक परिपिंडित कहलाता है। यह चौथा दोष है। कभी आगे सरक कर कभी पीछे हटकर टोल की भांति फुदक-फुदक कर वंदनक करना—यह पांचवां दोष है।

४४७९. उवगरणे हत्थम्मि व, धित्तु णिवेसेति अंकुसं बिति।

ठित-विद्धरिंणं जं, तं कच्छभरिंणियं नाम॥

आचार्य विश्राम कर रहे थे। शिष्य को वंदना करनी थी। उसने उनके उपकरण अथवा हाथ को खींच कर आसन पर बैठने के लिए विवश कर डाला। इस विधि से की जाने वाली वंदना 'अंकुश' कहलाती है। यह छठा दोष है। आचार्य स्थित हैं अर्थात् खड़े हैं या बैठे हुए हैं, उनको वंदना करने के लिए शिष्य उनके सम्मुख रेंगता है, यह कच्छपरिंणित वन्दनक कहलाता है। यह सातवां दोष है।

४४८०. उद्धितं णिवेसंतो, उव्वत्तति मच्छउ व्व जलमज्जे।

वंदिकामो वऽण्णं, झसो व्व परियत्तती तुरियं॥

जो शिष्य जल के मध्य रहने वाले मत्स्य की भांति उठने-बैठने में उद्वर्तित होता है, उसका वंदनक मत्स्योद्वृत कहलाता है। अथवा आचार्य को वंदनक कर जो शिष्य समीपस्थ किसी वन्दनार्ह को वंदना करने के लिए बैठा-बैठा

१. देखें कथा परिशिष्ट, नं. ९७।

ही मत्स्य की भांति अंगों को मोड़कर जाता है, वह भी 'मत्स्योद्वृत' वन्दनक कहलाता है। यह आठवां दोष है।

४४८१. अप्य-परपत्तिणं, मणप्पदोसो अपणेगउद्दाणो।

पंचेव वेइयाओ भयं तु णिज्जूहणाईयं॥

मानसिक प्रद्वेष के अनेक निमित्त होते हैं। वह प्रद्वेष दो प्रकार का होता है—आत्मप्रत्ययिक और परप्रत्ययिक। मानसिक प्रद्वेष से किया जाने वाला वंदनक मनःप्रद्विष्ट कहलाता है। यह नौवां दोष है। जानु के ऊपर हाथ रखकर, नीचे या पार्श्व में या गोद में एक जानु को दोनों हाथों के अन्दर करके वंदनक देना वेदिकाबद्ध वंदनक है। यह दसवां दोष है। गण से निष्काशन के भय आदि से वंदना करना भयवंदनक है। यह ग्यारहवां दोष है।

४४८२. भयति भयस्सति व ममं, इइ वंदति ण्होरगं णिवेसंतो।

एमेव य मेत्तीए, गारव सिक्खाविणीतोऽहं॥

आचार्य सोचते हैं—यह शिष्य मेरा अनुवर्तन करता है और आगे भी करता रहेगा तब शिष्य वंदना करने में निहोरक (शर्त) लगा कर वंदना करता है कि आचार्यश्री! हमारी वंदना को याद रखना—यह भजमानवन्दनक है। यह बारहवां दोष है। मैत्री के आधार पर वंदना करना 'मैत्री वंदनक' है। यह तेरहवां दोष है। गर्व से वंदना करना—गौरव वंदनक है। वह गर्व से यह प्रज्ञापित करता है कि मैं शिक्षाविनीत हूं। यह चौदहवां दोष है।

४४८३. नाणाइतिगं मुत्तुं, कारणमिहलोगसाहगं होइ।

पूया-गारवहेउं, णाणग्गहणे वि एमेव॥

ज्ञान, दर्शन और चारित्र—इस त्रिक को छोड़कर शेष सारे कारण इहलोक साधक होते हैं। पूजा और गौरव के लिए तथा ज्ञान ग्रहण करने के लिए विनय आदि करता है तो वह भी इहलोक साधक ही होता है। यह भी कारण-वन्दनक है। यह पन्द्रहवां दोष है।

४४८४. आयरतरेण हंदिं, वंदामि णं तेण पच्छ पणयिस्सं।

वंदणग मोल्लभावो, ण करिस्सइ मे पणयभंगं॥

प्रस्तुत गाथा में प्रयुक्त 'हंदि' शब्द इहलोक साधक कारण को बताने वाला है। मैं अतिशय आदरपूर्वक वन्दना करता हूं, जिससे आचार्य से पश्चात् याचना करूंगा। ये मेरी प्रार्थना का भंग नहीं करेंगे क्योंकि उनके भाव में—अभिप्राय में वंदनक का ही मूल्य है।

४४८५. हाउं परस्स चक्खुं, वंदंते तेणियं हवइ एतं।

तेणो इव अत्ताणं, गूहइ ओभावणा मा मे॥

दूसरों की दृष्टि को चुराकर, दूसरे न देख ले इस प्रकार

जो वन्दनक देता है वह स्तैन्य वंदना है। वंदना करते समय दूसरों से अपने आपको छुपाता है क्योंकि वह मानता है कि इसमें तो मेरा तिरस्कार है। यह न हो इसलिए वह गुप्तरूप से वंदना करता है। यह सोलहवां दोष है।

४४८६.आहारस्स उ काले, णीहारुभयो य होइ पडिणीयं।
रोसेण धमधमेंतो, जं वंदति रुद्धमेयं तु॥

आहार तथा नीहार के समय या दोनों समय वंदना करना प्रत्यनीक वंदनक है। यह सत्रहवां दोष है। क्रोध से जाज्वल्यमान होकर वंदनक करना रुष्ट वन्दनक है। यह अठारहवां दोष है।

४४८७.न वि कुप्पसि न पसीयसि,कद्धसिवो चेव तज्जियं एयं।
सीसंगुलिमादीहि व, तज्जेति गुरुं पणिवयंतो॥

तुम काष्ठघटित शिव की भांति वंदना न करने पर न रुष्ट होते हो और वंदना करने पर न प्रसन्न होते हो, इस प्रकार तर्जना करता हुआ शिष्य यदि वंदना करता है तो वह तर्जित वंदनक है अथवा गुरु को वंदना करते हुए सिर से तथा अंगुलि आदि से तर्जना करते हुए वंदना देता है तो वह भी तर्जित वंदनक है। यह उन्नीसवां दोष है।

४४८८.वीसंभङ्गाणमिणं, सन्भावजडे सढं हवइ एतं।
कवडं ति कययवं ति य, सढया वि य होंति एगड्ढा॥

यह वंदनक विश्वास का स्थान है। यह वंदनक सद्भाव से शून्य होने पर शठ वंदनक हो जाता है। शठ शब्द के ये पर्यायवाची शब्द हैं—कपट, कैतव, शठता। यह बीसवां दोष है।

४४८९.गणि! वायग! जिद्धज्ज!,

त्ति हीलियं किं तुमे पणमितेण।

देसीकहवित्तंते,

कधेति दरवंदिए कुंची॥

गणिन्! वाचक! ज्येष्ठार्य! तुमको वन्दना करने से क्या! इस प्रकार हीलना कर वंदना करना हीलित-वन्दनक होता है। यह इक्कीसवां दोष है। आधी वंदना कर देशीकथा के वृत्तान्त कहना वह विपरिकुंचित वंदनक है। यह बाईसवां दोष है।

४४९०.अंतरितो तमसे वा, ण वंदती वंदती उ दीसंतो।
एयं दिद्धमदिद्धं, सिंगं पुण कुंभगणिवातो॥

कुछेक मुनि वंदना कर रहे हों और कोई एक मुनि अन्तरित होकर या अंधकार प्रदेश में व्यवस्थित होकर बैठ जाता है, वंदना नहीं करता और किसी के द्वारा देखे जाने पर वंदना करता है, यह दृष्टादृष्ट वंदनक है। यह तेईसवां दोष है। कुंभ का अर्थ है—ललाट। वंदना करता हुआ जो रजोहरण

से ललाट का स्पर्श नहीं करता वह शृंग वंदनक है। यह चौबीसवां दोष है।

४४९१.करमिव मन्नइ दिंतो, वंदणं आरहंतिय करु त्ति।
लोइयकरस्स मुक्का, न मुच्चिमो वंदणकरस्स॥

वन्दनक देता हुआ जो उसे अरहंत का करभाग (टेक्स) मानता है वह 'कर' वंदनक है। यह पचीसवां दोष है। जो यह सोचता है कि हम लौकिक 'कर से मुक्त हो गए, किन्तु वंदनक कर से मुक्त नहीं हुए हैं। यह 'मोचन' वंदनक है। यह छबीसवां दोष है।

४४९२.आलिद्धमणालिद्धे, रयहर सीसे य होति चउभंगो।
वयण-करणेहिं ऊणं जहन्नकाले व सेसेहिं॥

आश्लिष्ट और अनाश्लिष्ट—इन दो पदों के आधार पर रजोहरण तथा सिर के विषय में चतुर्भंगी होती है।

१. रजोहरण हाथ से आश्लिष्ट कर सिर को लगाता है।
२. रजोहरण को श्लिष्ट करता है, सिर को नहीं।
३. सिर को श्लिष्ट करता है, रजोहरण को नहीं।
४. न रजोहरण को और न सिर को श्लिष्ट करता है।

इसमें पहला विकल्प शुद्ध है। यह सत्ताइसवां दोष है।

वचन अर्थात् आलापक तथा करण—अनाम आदि से हीन कर वंदना करना अथवा जघन्यकाल में वंदना समाप्त कर देना या शेष साधुओं द्वारा वंदना कर देने पर फिर वंदना करना यह न्यून वंदनक है। यह अट्ठाईसवां दोष है।

४४९३.दाऊण वंदणं मत्थएण वंदामि चूलिया एसा।
तुसिणी आवत्ते पुण, कुणमाणो होइ मयं तु॥

वंदना करने के पश्चात् 'मत्थेण वंदामि'—यह कहना उत्तरचूलिका वन्दनक है। यह उनतीसवां दोष है। मौन भाव से आवत्तों को करने वाले की वंदना मूक वन्दनक है। यह तीसवां दोष है।

४४९४.उच्चसेरणं वंदइ, ढड्ढर एयं तु होइ बोधव्वं।
चुडुलि व्व गिण्हिऊणं, रयहरणं होइ चुडुलीओ॥

उच्चस्वर से वंदना करना ढड्ढर वंदनक जानना चाहिए। यह इक्कीसवां दोष है। चुडली (उल्का) की भांति रजोहरण को घुमाते हुए वंदना करना चुडली वंदनक है। यह बत्तीसवां दोष है।

४४९५.थद्धे गारव तेणिय, हीलिय रुद्ध लहुगा सढे गुरुगो।
दुद्ध पडिणीय तज्जित, गुरुगा सेसेसु लहुगो तु॥

स्तब्ध, गौरव, स्तेनित, हीलित और रुष्ट—इन वंदनकों में प्रत्येक का प्रायश्चित्त है चतुर्लघु, शठ का है गुरुमास, दुष्ट, प्रत्यनीक और तर्जित का है चतुर्गुरु और शेष का है मासलघु।

४४९६.आयरिय-उवज्जाए, काऊणं सेसगाण कायव्वं।

उप्परिवाडी मासिण, मवरहिए तिण्णि य थुतीओ॥

सबसे पहले आचार्य और उपाध्याय का कृतिकर्म कर पश्चात् शेष साधुओं का कृतिकर्म करना चाहिए। उत्परिपाटी से वंदना करने पर लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। वंदनक मवरहित होकर देना चाहिए। अंत में तीन स्तुतियां कहनी चाहिए।

४४९७.जा दुचरिमो त्ति ता होइ वंदणं तीरिए पडिक्कमणे।

आइण्णं पुण तिण्हं, गुरुस्स दुण्हं च देवसिए॥

प्रतिक्रमण पूरा होने के पश्चात् अंतिम दो साधु शेष रहें तब तक सभी को वंदना करनी चाहिए, फिर क्षामणक देना चाहिए। यह विधि चौदह पूर्वधर, दशपूर्वधर आदि के काल में थी। वर्तमान में पूर्व आचार्यों द्वारा आचीर्ण यह विधि है—तीन को वंदनक देना चाहिए—एक गुरु और शेष बचे दो पर्याय ज्येष्ठ साधुओं को। यह दैवसिक-रात्रिक विधि है।

४४९८.धिइ-संघयणादीणं, मेराहाणिं च जाणिउं थेरा।

सेह-अगीतद्धा वि य, ठवणा आइण्णकप्पस्स॥

शिष्य ने पूछा—मौलिक विधि को बदलने की क्या आवश्यकता है? आचार्य ने कहा—धृति, संहनन आदि तथा मर्यादाहानि को जानकर स्थविर शैक्ष तथा अगीतार्थ मुनियों के लिए आचीर्णकल्प की स्थापना करते हैं।

४४९९.असडेण समाइण्णं, जं कत्थइ कारणे असावज्जं।

ण णिवारियमण्णेहिं य, बहुमणुमयमेतमाइण्णं॥

जो आचार्य अशठभाव से किसी भी कारणवश (पुष्टालंबन से) असावद्य प्रवृत्ति का आचरण करता है और जो दूसरों से निवारित नहीं है तथा जो बहुजन द्वारा अनुमत है, वह आचीर्ण कहलाता है। वह मान्य होता है।

४५००.वियडण पच्चक्खाणे, सुए य रादीणिगा वि हु करिंति।

मज्झिंल्ले न करिंती, सो चेव करेइ तेसिं तु॥

आलोचना तथा प्रतिक्रमण के समय तथा श्रुतदान आदि में रात्रिक मुनि भी अवमरात्रिक आचार्य को वंदना करते हैं। किंतु मध्य में जो क्षामणकवंदनक है, वह नहीं करते। आचार्य ही उन रात्रिकों का करते हैं।

४५०१.थुइमंगलमि गणिणा, उच्चारिते सेसगा थुती बेत्ति।

पम्हुइमेरसारण, विणयो य ण फेडितो एवं॥

जब गणी स्तुतिमंगल का उच्चारण कर लेते हैं तब शेष साधु स्तुति बोलते हैं। फिर मुनि गुरुचरणों में बैठ जाते हैं। यदि मर्यादा—सामाचारी शिष्य भूल गए हों तो गुरु उसकी स्मृति कराते हैं। गुरु के उपपात में बैठने से शिष्यों का विनय को भी त्यक्त नहीं होता।

४५०२.अन्नेसिं गच्छाणं, उवसंपन्नाण वंदणं तहियं।

बहुमाण तस्स वयणं, ओमे वाऽऽलोयणा भणिया॥

अन्यान्य गच्छों के आचार्य सूत्रार्थ के निमित्त किसी अवमरात्रिक आचार्य के पास उपसंपन्न होते हैं तो मध्यम वन्दनक अवमरात्रिक को करना चाहिए तथा आगत रात्रिक आचार्य को उस अवमरात्रिक आचार्य का वचनों के द्वारा बहुमान करते हुए कहना चाहिए—ये हमारे पूज्य हैं, गुणाधिक हैं आदि। अवमरात्रिक आचार्य आलोचना दे। यह भगवान् ने कहा है।

४५०३.सेढीठाणठियाणं, कितिकम्मं बाहिराण भयितव्वं।

सुत्त-ऽत्थजाणएणं कायव्वं आणुपुव्वीए॥

संयमश्रेणी के स्थानों में स्थित मुनियों का कृतिकर्म करना चाहिए। जो संयमश्रेणी के स्थानों से बाह्य हैं उनका कृतिकर्म विकल्पनीय है। सूत्रार्थ के ज्ञाता अर्थात् गीतार्थ मुनि को अनुपूर्वी (गाथा ४५४५) से कृतिकर्म करना चाहिए।

४५०४.सेढीठाणठियाणं, कितिकम्मं सेढि इच्छिमो पाउं।

तम्हा खलु सेढीए, कायव्व परूवणा इणमो॥

शिष्य कहता है—संयमश्रेणी स्थान में स्थित साधुओं का कृतिकर्म करना चाहिए, यह जो आपने कहा, हम सबसे पहले उस श्रेणी को जानना चाहते हैं। आचार्य कहते हैं—इसलिए हमें श्रेणी की प्ररूपणा करनी चाहिए। वह यह है—

४५०५.पुव्वं चरित्तसेढीठियस्स पच्छाठिएण कायव्वं।

सो पुण तुल्लचरित्तो, हविज्ज ऊणो व अहिओ वा॥

पहले जो सामायिक संयम या छेदोपस्थापनीय संयम में स्थित है उसका कृतिकर्म पश्चात्वर्ती संयमस्थित मुनि को करना चाहिए। संयमश्रेणी में पूर्वस्थित मुनि पश्चात् स्थित मुनि की अपेक्षा से तुल्यचरित्रवाला अथवा न्यून या अधिक हो सकता है।

४५०६.निच्छयओ दुन्नेयं, को भावे कम्मि वड्डई समणो।

ववहारओ य कीरइ, जो पुव्वठिओ चरित्तम्मि॥

निश्चयपूर्वक यह जानना कठिन है कि कौन श्रमण किस भाव अर्थात् चारित्र के अध्यवसाय में वर्तन कर रहा है, तो फिर कृतिकर्म का आधार क्या है? आचार्य कहते हैं—व्यवहारनय को स्वीकार कर चारित्र में जो पहले स्थित है उसको कृतिकर्म किया जाता है।

४५०७.ववहारो वि हु बलवं, जं छउमत्थं पि वंदई अरिहा।

जा होइ अणाभिन्नो, जाणंतो धम्मयं एयं॥

व्यवहार भी बहुत बलवान् होता है। अर्हत् अर्थात् केवली भी छद्मस्थ गुरु आदि को वंदना करते हैं। प्रश्न होता है कि वे कब तक वंदना करते हैं? जब तक वे केवली के रूप में

अनभिज्ञात होते हैं, तब तक वे अपने छद्मस्थ गुरु आदि को वंदना करते हैं। क्योंकि वे इसे व्यवहारलक्षणवाला धर्म जानते हैं।

४५०८. केवलिणा वा कहिए, अवंदमाणो व केवलिं अत्रं।
वागरणपुव्वकहिए, देवयपूयासु व मुणंति॥

वह केवली है, यह कैसे जाना जाता है? किसी अन्य केवली के कथन से, अन्य केवली को वंदना न करने पर, स्वयमेव उसका कथन करने पर, देवताओं द्वारा पूजा-महिमा किए जाने पर, जान लिया जाता है कि यह केवली हो गया है।

४५०९. अविभागपलिच्छेया, ठाणंतर कंडए य छट्ठाणा।
हिट्ठा पज्जवसाणे, बुद्धी अप्पाबहुं जीवा॥

४५१०. आलाव गणण विरहियमविरहियं फासणापरूवणया।
गणणपय सेट्ठिअवहार भाग अप्पाबहुं समयया॥

श्रेणी प्ररूपणा—अविभागपरिच्छेद प्ररूपणा, स्थानान्तर प्ररूपणा, कंडक प्ररूपणा, षट्स्थान प्ररूपणा, अधः प्ररूपणा, पर्यवसान प्ररूपणा, वृद्धि प्ररूपणा, अल्पबहुत्व प्ररूपणा तथा जीव प्ररूपणा।

जीव प्ररूपणा के प्रतिद्वार—आलाप प्ररूपणा, गणना प्ररूपणा, विरहित प्ररूपणा, अविरहित प्ररूपणा, स्पर्शना प्ररूपणा, गणनापद प्ररूपणा, श्रेष्यपहार प्ररूपणा, भाग प्ररूपणा, अल्पबहुत्व प्ररूपणा और समय (श्रमण) प्ररूपणा।

४५११. अविभागपलिच्छेदो, चरित्तपज्जव-पएस-परमाणु।
परमाणुस्स परूवण, चउव्विहा भावओऽणंता॥

अविभागपरिच्छेद—केवली की प्रज्ञा से परिच्छिन्न होने पर जो अविभजनीय अंश शेष रहता है, उसे अविभागपरिच्छेद संयमस्थान कहते हैं। उसे चारित्रपर्याय, चारित्रप्रदेश या चारित्रपरमाणु कहते हैं। परमाणु की प्ररूपणा चार प्रकार से होती है—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। चारित्रविभागपरिच्छेद अनन्तानन्तप्रमाण में होते हैं।

४५१२. ते कित्तिया पएस, सव्वागासस्स मग्गणा होइ।
ते जित्तिया पएस, अविभाग तओ अणंतगुणा॥

प्रश्न होता है कि चारित्र के प्रदेश कितने हैं? उत्तर में कहा गया है कि इसमें समस्त आकाश (लोकाकाश और अलोकाकाश) की मार्गणा होती है। जितने सर्वाकाश के प्रदेश हैं, उनसे चारित्र के अविभागपरिच्छेद अनन्तगुणा है। यह सर्वजघन्य संयमस्थान है।^१

४५१३. एयं चरित्तसेट्ठिं, पडिवज्जइ हिट्ठ कोइ उवरिं वा।
जो हिट्ठा पडिवज्जइ, सिज्जइ नियमा जहा भरहो॥

१. अन्यान्य संयमश्रेणियों की व्याख्या वृत्तिकार ने दी है।

इस चारित्रश्रेणी को कोई जीव अधःअर्थात् जघन्यसंयम-स्थानों में स्वीकार करता है और कोई जीव उपरी संयम-स्थानों में स्वीकार करता है। जो जीव अधस्तन संयमस्थानों में चारित्रश्रेणी को स्वीकार करता है, वह नियमतः उसी भव में सिद्ध हो जाता है, जैसे भरत।

४५१४. मज्जे वा उवरिं वा, नियमा गमणं तु हिट्ठिमं ठाणं।
अंतोमुहुत्त बुद्धी, हाणी वि तहेव नायव्वा॥

जो जीव मध्यमवर्ती संयमस्थानों या उपरितन संयम-स्थानों में चारित्रश्रेणी को स्वीकार करता है, वह नियमतः अधस्तन संयमस्थान तक गमन करता है और उसी भव में या अन्यभव में सिद्ध हो जाता है। अधस्तन संयमस्थान से उपरीतन संयमस्थान की वृद्धि तथा उपरितन से अधस्तन संयमस्थान की हानि अन्तर्मुहूर्त्तमात्र की जाननी चाहिए।

४५१५. सेढीठाणठियाणं, किइकम्मं बाहिरे न कायव्वं।
पासत्थादी चउरो, तत्थ वि आणादिणो दोसा॥

पूर्वोक्त संयमश्रेणी के स्थानों में स्थित मुनियों का कृतिकर्म करना चाहिए। जो श्रेणी से बाह्य हों उनका कृतिकर्म नहीं करना चाहिए। इस श्रेणी से बाह्य पार्श्वस्थ आदि चार प्रकार के मुनि हैं—पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, संसक्त और यथाच्छेद। इन पांचों का एक भेद हुआ। काथिक, प्राश्निक, मामाक और संप्रसारक—यह दूसरा भेद है। अन्यतीर्थिक—यह तीसरा भेद है और गृहस्थ—यह चौथा भेद है।

इनका कृतिकर्म करने पर आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं।

४५१६. लिंगेण निग्गतो जो, पागडलिंगं धरेइ जो समणो।

किध होइ णिग्गतो त्ति य, दिट्ठतो सक्करकुडेहिं॥
जो मुनि लिंग अर्थात् रजोहरण आदि से मुक्त हो गया है वह संयमश्रेणी से निर्गत होता है किन्तु जो श्रमण प्रकटलिंग धारण करता है वह संयमश्रेणी से निर्गत कैसे माना जा सकता है? आचार्य ने कहा—यहां शर्कराकुटों का दृष्टांत ज्ञातव्य है।

४५१७. दाउं हिट्ठा छारं, सव्वत्तो कंटियाहि वेडित्ता।
सकवाडमणाबाधे, पालेति तिसंझमिक्खंतो॥

४५१८. मुहं अविह्वंतीहिं कीडियाहिं स चालणी चेव।
जज्जरितो कालेणं, पमायकुडए निवे दंडो॥

एक राजा ने शर्करा से भरे दो घड़ों को मुद्रित कर दो व्यक्तियों को एक-एक घड़ा देते हुए कहा—इनकी सुरक्षा करना। जब मैं इनको मंगाऊँ तब मुझे देना। दोनों ने एक-एक घड़ा ले लिया। उनमें से एक व्यक्ति ने अपने घट के नीचे

राख लगा दी और उस घड़े को कपाटयुक्त अनाबाध प्रदेश में रख कर चारों ओर कांटों वाली बाड़ लगा दी। वह उस घट की तीनों संध्याओं में देखरेख करने लगा।

दूसरे व्यक्ति ने अपने घट को एक स्थान पर रखा। शर्करा की सुगंध से कीटिकाएं आने लगीं। मुद्रा को कोई हानि न पहुंचाती हुई घट को नीचे से चलनी कर डाला। समय के बीतते बीतते घट नीचे से जर्जरित हो गया। सारी शर्करा कीटिकाओं ने खाली। एक दिन राजा ने दोनों पुरुषों से घट मंगाए। दोनों ने अपने-अपने घट दिखाए। जिसने घट-रक्षण में प्रमाद किया, उसे राजा ने दंडित किया। जिसने प्रमाद नहीं किया उसको राजा ने सम्मानित किया।

इसका अर्थोपनय यह है—राजा स्थानीय हैं गुरु, पुरुष-स्थानीय हैं साधु, शर्करास्थानीय है—चारित्र, घटस्थानीय है आत्मा, मुद्रास्थानीय है रजोहरण, कीटिकास्थानीय हैं, अपराध, दंडस्थानीय है दुर्गतिप्राप्ति, सम्मानस्थानीय है—सुगतिप्राप्ति।

४५१९. निवसरिसो आयरितो, लिंगं मुद्दा उ सक्करा चरणं।

पुरिसा य ह्यंति साहू, चरित्तदोसा मुयिंगाओ॥

नृप के सदृश आचार्य, मुद्रा के समान है लिंग, शर्करा के समान है चारित्र, पुरुष के सदृश हैं साधु तथा चारित्रदोष के समान है मुयिं—कीटिका।

यह भाष्यकार का उपनय है।

४५२०. एसणदोसे सीयइ, अणाणुतावी ण चेव वियडेइ।

णेव य करेइ सोधिं, ण त विरमति कालतो भस्से॥

कोई मुनि एषणा के दोषों से दुष्ट भक्तपान ग्रहण करता है वह इस प्रकार करके भी अपने कृत्य पर न अनुताप करता है और न गुरु के समक्ष अपने दोष को प्रकट करता है, न प्रायश्चित्त लेता है और न अशुद्ध आहार ग्रहण करने से विरत होता है। वह कुछ काल के बाद संयम से भ्रष्ट हो जाता है।

४५२१. मूलगुण उत्तरगुणे, मूलगुणेहिं तु पागडो होइ।

उत्तरगुणपडिसेवी, संचयऽवोच्छेदतो भस्से॥

दोषों की प्रतिसेवना करने वाले दो प्रकार के होते हैं—मूलगुण प्रतिसेवक और उत्तरगुण प्रतिसेवक। मूलगुण की प्रतिसेवना करने वाला स्पष्टतः प्रतीत हो जाता है। वह चारित्र से शीघ्र ही भ्रष्ट हो जाता है। उत्तरगुण की प्रतिसेवना करने वाला दोषसेवन के परिणाम का व्यवच्छेद नहीं करता,

अतः दोषों का संचय होता जाता है और वह चारित्र से भ्रष्ट हो जाता है।

४५२२. अंतो भयणा बाहिं, तु निग्गते तत्थ मरुगदिद्वंतो।

संकर सरिसव सगडे, मंडव वत्थेण दिद्वंतो॥

(पूर्व गाथाओं से संबंध स्थापित करने के लिए प्रस्तुत गाथा का पहले उत्तरार्थ की व्याख्या की जा रही है। इस विभाग में ये दृष्टांत हैं—)

(१) संकर—संकर का अर्थ है—तृण आदि कचरे का ढेर। एक बगीचा था। उसको सारणी से पानी पिलाया जाता था। सारणी में तिनके गिरे। किसी ने उन्हें नहीं निकाला। तिनके गिरते गए। पानी का बहाव रुक गया। पानी के अभाव में बगीचा सूख गया। इसी प्रकार उत्तरगुणों की बार-बार प्रतिसेवना से दोषों का संचय होता है और प्रवहमान संयमजल अवरुद्ध हो जाता है, व्यक्ति चारित्र से च्युत हो जाता है।

(२) सर्षपशकट और मंडप—शकट और मंडप पर सरसों के दाने डाले, वे उसमें समा गए। प्रतिदिन डालते गए, वे समाते गए। एक दिन ऐसा आया कि सरसों के भार ने शकट और मंडप को तोड़ डाला। इसी प्रकार एक-एक दोष चारित्र पर अपना भार डालते रहें तो एक दिन चारित्र टूट जाता है।

(३) वस्त्र का दृष्टांत—नया वस्त्र। एक तैल बिन्दु उस पर पड़ा। उसका शोधन नहीं किया गया। उस पर धूल लग गई। दूसरी-तीसरी बार भी उस पर तैल पड़ा। शोधन नहीं हुआ। वह वस्त्र अत्यंत मलिन हो गया। इसी प्रकार चारित्र भी अपराधपदों से मलिन हो जाता है यदि उनका शोधन न किया जाए।

इसी श्लोक के पूर्वार्थ की व्याख्या—

जो मुनि संयमश्रेणी के मध्य में है उसके प्रति कृतिकर्म करने की भजना है और जो संयमश्रेणी से बाहर निर्गत हो गया है उसका कृतिकर्म नहीं करना चाहिए। यहां मरुक—ब्राह्मण का दृष्टांत है।

४५२३. पक्कणकुले वसंतो, सउणीपारो वि गरहिओ होइ।

इय गरहिया सुविहिया, मज्झि वसंता कुसीलाणं॥

पक्कणकुल—मातंगगृह में निवास करता हुआ शकुनी-पारग^१ (ब्राह्मण) भी गृहित होता है, इसी प्रकार सुविहित साधु भी कुशील साधुओं के मध्य रहता हुआ गृहित होता है।

१. शकुनी शब्द चौदह विद्या-स्थानों का द्योतक है—

अंगानि वेदाश्चत्वारो, मीमांसा न्यायविस्तरः।

पुराणं धर्मशास्त्रं च, स्थानान्यहुश्चतुर्दश॥

—अंग छह हैं—शिक्षा, व्याकरण, कल्प, छंद, निरुक्ति और ज्योतिष। शकुनीशब्देन चतुर्दश विद्यास्थानानि गृह्यन्ते.....।

(व. पृ. १२२२)

४५२४.संकिन्नवराहपदे, अणाणुतावी अ होइ अवरद्धे।

उत्तरगुणपडिसेवी, आलंबणवज्जिओ वज्जो॥

जो मुनि उत्तरगुणविषयक अपराधपदों से संकीर्ण है तथा जो अपराध कर अनुताप नहीं करता, वह उत्तरगुण प्रतिसेवी आलंबन के बिना (ज्ञान, दर्शन और चारित्र के आलंबन के बिना) प्रतिसेवना करता है तो वह कृतिकर्म के लिए वर्ज्य है। (मूलगुणप्रतिसेवी तो नियमतः अचारित्री ही होता है।)

४५२५.हिड्डाणठितो वी, पावयणि-गणड्डया उ अधरे उ।

कडजोगि जं निसेवइ, आदिणिगंठो व्व सो पुज्जो॥

अधस्तनस्थान (जघन्य संयमस्थान) में स्थित मूलगुण-प्रतिसेवी जो कृतयोगी है—गीतार्थ है वह प्रावचनिक—आचार्य, गुण, गच्छ के अनुग्रह के लिए अधर—अर्थात् आत्यन्तिक कारण उत्पन्न होने पर जो प्रतिसेवना करता है वह भी आदिनिर्ग्रन्थ—पुलाक की तरह पूज्य होता है।

४५२६.कुणमाणो वि य कडणं, कतकरणो णेव दोसमम्भेति।

अप्पेण बहुं इच्छइ, विसुद्धआलंबणो समणो॥

कृतकरण पुलाक मुनि कटकमर्द (सेना का नाश) करता हुआ भी दोष को प्राप्त नहीं होता। यह श्रमण विशुद्ध आलंबन के कारण स्वल्प संयम के व्यय से बहुत संयम की इच्छा करता है।

४५२७.संजमहेउं अजतत्तणं पि ण हु दोसकारगं विति।

पायण वोच्छेयं वा, समाहिकारो वणादीणं॥

पुलाक निर्ग्रन्थ संयम के निमित्त अयतना करता है, उसको दोषकारक नहीं कहा जाता। जैसे समाधिकारक अर्थात् वैद्य व्रण आदि पर लेपन कर उसे पकाता है और फिर उसका छेदन करता है या रोगी को लंघन आदि कराता है, यह सारी क्रिया परिणामसुन्दर होने के कारण सदोष नहीं मानी जाती।

४५२८.तत्थ भवे जति एवं, अण्णं अण्णेण रक्खए भिक्खू।

अस्संजया वि एवं, अन्नं अन्नेण रक्खंति॥

दूसरा यह सोच सकता है कि इस प्रकार पुलाक आदि भिक्षु अन्य अर्थात् आचार्य आदि की रक्षा अन्येन अर्थात् स्कन्धावार का मर्दन करता है (एक का विनाश कर एक का पालन करता है) तो इसी प्रकार गृहस्थ भी एक की दूसरे से रक्षा करते हैं अतः संयत और असंयत में कोई प्रतिविशेष नहीं है।

४५२९.न हु ते संजमहेउं, पालिति असंजता अजतभावे।

अच्छित्ति-संजमद्दा, पालिति जती जतिजणं तु॥

आचार्य ने कहा—वे गृहस्थ असंयम भाव में स्थित गृहस्थों का पालन-रक्षण करते हैं किन्तु संयम के लिए नहीं करते, अपनी आजीविका आदि के निमित्त करते हैं। मुनि मुनियों का पालन-रक्षण संयम के लिए तथा तीर्थ की अव्यवच्छिति के लिए करते हैं। यह साधुओं और गृहस्थों में प्रतिविशेष है।

४५३०.कुणइ वयं धणहेउं, धणस्स धणितो उ आगमं णाउं।

इय संजमस्स वि वतो, तस्सेवऽद्दा ण दोसाय॥

जैसे व्यापार करता हुआ धनिक आगम अर्थात् धन के लाभ को जानकर धन का व्यय भी करता है अर्थात् शुल्क, भाडा, कर्मकरों की नियुक्ति आदि करता है, इसी प्रकार संयम का व्यय संयम के लिए ही करना दोषकारी नहीं होता।

४५३१.तुच्छमवलंबमाणो, पडति णिरालंबणो य दुग्गम्मि।

सालंब-निरालंबे, अह विद्धंतो णिसेवंते॥

तुच्छ आलंबन लेने वाला या निरालंबन व्यक्ति गर्त आदि में गिर जाता है और जो पुष्ट आलंबन लेता है वह गर्त आदि से निकल जाता है। इसी प्रकार मूलगुणों की प्रतिसेवना करने वाले के लिए सालंब या निरालंब विषय का यह दृष्टांत घटित होता है। जो मुनि निरालंब अथवा अपुष्ट आलंबन से प्रतिसेवना करता है, वह संसार सागर में स्वयं को गिरा देता है। जो पुष्टालंबनयुक्त होता है, वह भवसागर से पार चला जाता है।

४५३२.सेदीठाणे सीमा, कज्जे चत्तारि बाहिरा होंति।

सेदीठाणे दुयभेययाए चत्तारि भइयव्वा॥

श्रेणीस्थान अर्थात् सीमास्थान। इसमें वर्तमान चार प्रकार के मुनि वक्ष्यमाण कार्य^१ से बाह्य होते हैं। श्रेणीस्थान में रहने वाले (गच्छप्रतिबद्ध, यथालंदिक आदि चार प्रकार के मुनि भी द्विकभेद वाले कार्य—वंदनकार्य और कार्यकार्य में भजनीय हैं, वे कार्य करते भी हैं और नहीं भी करते।

४५३३.पत्तेयबुद्ध जिणकप्पिया य सुद्धपरिहारऽहालंदे।

एए चउरो दुगभेदयाए कज्जेसु बाहिरगा॥

प्रत्येकबुद्ध, जिनकल्पिक, शुद्धपरिहारी और यथालंदिक—ये चारों द्विकभेदांतरगत कार्य—कृतिकर्म और कुलकार्य—इनसे बाह्य होते हैं।

४५३४.गच्छम्मि णियमकज्जं, कज्जे चत्तारि होंति भइयव्वा।

गच्छपडिबद्ध आवण्ण षडिम तह संजतीतो य॥

गच्छ में नियमतः होने वाले ये कार्य होते हैं—कुलकार्य, गणकार्य तथा संघकार्य—इनको करने के लिए ये चार प्रकार के मुनि विकल्पनीय होते हैं (कार्य करते भी हैं और नहीं भी

१. कार्य के दो प्रकार हैं—वंदनकार्य और कार्यकार्य। वंदनकार्य के दो प्रकार हैं—अभ्युत्थान और कृतिकर्म। कार्यकार्य—कुलकार्य, संघकार्य आदि के भेद से अनेक प्रकार का होता है। जो अवश्य कर्तव्यरूप कार्य होता है, वह कार्यकार्य है।

करते)–गच्छप्रतिबद्ध, यथालंघिक, आपन्नपरिहारी, प्रतिमा-
प्रतिपन्न तथा साध्वियां।

४५३५.अंतो वि होइ भयणा, ओमे आवण्ण संजतीओ य।

बाहिं पि होइ भयणा, अतिवालगवायगे सीसा॥

जो श्रेणी के अभ्यन्तर हैं, वे भी वंदना की अपेक्षा भजनीय हैं। जो अवमरालिक है वह आलोचना आदि कार्य में वन्दनीय है, अन्यथा नहीं। आपन्नपारिहारिक का भी कृतिकर्म नहीं किया जाता, वह आचार्य को वंदना करता है उत्सर्गतः साध्वियों को वंदना (केवल हाथ जोड़ना) नहीं की जाती। अपवादपद में यदि महत्तरा बहुश्रुता हो, किसी अपूर्वश्रुत की धारक हो तो उसको फेटा वंदना से वंदना की जा सकती है। जो श्रेणी से बाह्य हैं, उनके प्रति भी कृतिकर्म की भजना है। कारण में उनके प्रति भी कृतिकर्म न करने पर 'अजापालक-वाचक' के शिष्यों की भांति दोषभाक् होना पड़ता है।

४५३६.आलोयण-सुत्तद्वा, खामण ओमे य संजतीसुं च।

आवण्णो कज्जकज्जं, करेइ ण य वंदती अगुरुं॥

आलोचना और सूत्रार्थ के निमित्त अवम अर्थात् पर्याय में छोटा होने पर भी, उसको वन्दना करनी होती है। पाक्षिक आदि क्षमायाचना के समय छोटे को ही रत्नाधिक को वन्दना देनी होती है। साध्वियों को भी आलोचना और सूत्रार्थ के निमित्त वन्दना करनी होती है। जो आपन्नपारिहारिक है वह कार्यकार्य करता है। वह गुरु को छोड़कर और किसी को वन्दना नहीं करता। दूसरे साधु भी उसको वंदना नहीं करते।

४५३७.पेसविद्या पच्चंतं, गीतासति खित्तपेहग अगीया।

पेहियखित्ता पुच्छंति वायगं कत्थ रण्णे त्ति॥

४५३८.ओसकंते दडुं, संकच्छेती उ वातगो कुविओ।

पल्लिवति कहण रुंभण, गुरु आगम वंदणं सेहा॥

किसी आचार्य ने गीतार्थ साधुओं के अभाव में अगीतार्थ साधुओं को प्रत्यंतपल्ली में क्षेत्र प्रत्युपेक्षक के रूप में भेजा। क्षेत्र की प्रत्युपेक्षा करने के पश्चात् उन्होंने गांववालों से पूछा कि वाचक कहां रहता है? लोगों ने कहा—अरण्य में। वे मुनि अरण्य में गए और देखा कि वाचक बकरियों की रक्षा में प्रवृत्त है। उसे चारित्रभ्रष्ट जानकर वे वहां से धीरे-धीरे चल दिए। उन साधुओं को लौटते हुए देखकर शंकाच्छेदी वह वाचक कुपित हो गया। उसने पल्लीपति को कहकर सभी साधुओं को कारावास में डलवा दिया। गुरु को ज्ञात हुआ। वे वहां आए और वाचक को वंदना कर बोले—ये अगीतार्थ थे। इसलिए यह

१. यहां यतना का अर्थ है—पुरुष विशेष से संबंधित वन्दनविषयक यतना।

अविनय हुआ है। सभी शिष्यों को मुक्त करवा दिया। इसका फलित यही है कि कारण में संयमश्रेणी से बाह्य को भी वंदना करनी चाहिए।

४५३९.अहवा लिंग-विहाराओ पच्चुयं पणिवयत्तु सीसेणं।

भणति रहे पंजलिओ, उज्जम भंते! तव-गुणेहिं॥

अथवा लिंग से या संविग्नविहार से प्रच्युत अपने गुरु को एकान्त में मस्तक से प्रणिपात कर हाथ जोड़ कर कहे—भदन्त! आप तपस्या में और मूलोत्तरगुणों में उद्यम करें।

४५४०.उप्पन्न कारणम्मिं, कितिकम्मं जो न कुज्ज दुविहं पि।

पासत्थादीयाणं, उग्घाया तस्स चत्तारि॥

कारण उत्पन्न होने पर जो पार्श्वस्थ आदि का दोनों प्रकार का कृतिकर्म—अभ्युत्थान और वंदना नहीं करता उसे चार उद्घात मास अर्थात् चतुर्लघु का प्रायश्चित्त आता है।

४५४१.दुविहे किइकम्मम्मिं, वाउलिया मो गिरुद्धबुद्धीया।

आतिपडिसेहितम्मिं, उवरिं आरोवणा गुविला॥

पहले पार्श्वस्थ आदि के प्रति दोनों प्रकार के कृतिकर्म का प्रतिषेध कर पश्चात् उसकी अनुज्ञा देने पर हम आकुल-व्याकुल हो गए। अतः हमारी बुद्धि निरुद्ध हो गई, संशय में पड़ गई। अब यह कहा जा रहा है कि पार्श्वस्थ आदि को दोनों प्रकार की वंदना न करने पर चतुर्लघु की आरोपणा प्राप्त होती है और वह भी गुपिल—गंभीर। यह समझ में नहीं आता।

४५४२.गच्छपरिरक्खणद्वा, अणागतं आउवायकुसलेण।

एवं गणाधिवतिणा, सुहसीलगवेसणा कज्जा॥

गच्छ के परिपालन के लिए तथा अनागत बाधाओं से निपटने के लिए आय और उपाय में कुशल गणाधिपति सुखशील—पार्श्वस्थ आदि की गवेषणा करते हैं।

४५४३.बाहिं आगमणपहे, उज्जाणे देउले सभाए वा।

रच्छ उवस्सय बहिया, अंतो जयणा इमा होइ॥

उनकी गवेषणा इन स्थानों में करनी होती है—गांव के बाहर, भिक्षा के लिए जाने-आने के पथ में, उद्यान में, देवकुल में, सभा में, गली में, उपाश्रय से बाहर, उपाश्रय के भीतर—गवेषणा करने की यह यतना^१ है।

४५४४.मुक्कधुरा, संपागडअक्किच्चे चरण-करणपरिहीणे।

लिंगावसेसमित्ते, जं कीरइ तारिसं वोच्छं॥

जो संयमधुरा को छोड़ चुके हैं, जिनके अकृत्य संप्रकट हैं, प्रत्यक्ष हैं, जो चरण-करण से परिहीन हैं, जो केवल द्रव्यलिंगमात्र से युक्त हैं, उनको किस प्रकार का वंदनक किया जाता है, वह मैं कहूंगा।

४५४५.वायाए नमोक्कारो, हत्थुस्सेहो य सीसनमणं च।
संपुच्छणऽच्छणं छोभवंदणं वंदणं वा वि॥

किसी को वाणी मात्र से नमस्कार, किसी को हाथ जोड़कर नमस्कार, किसी को हाथ जोड़कर सिर नमाकर नमस्कार, किसी को कुशलक्षेम पूछना, किसी की पर्युपासना करना, किसी को छोभवंदनक या संपूर्ण वंदना करना।

४५४६.जइ नाम सूइओ मि,

त्ति वज्जितो वा वि परिहरति कोयी।

इति वि हु सुहसीलजणो,

परिहज्जो अणुमती मा य॥

किसी पार्श्वस्थ को वाणी मात्र से नमस्कार करने पर वह सोचता है—इसने मुझे सूचित—तिरस्कृत किया है। सर्वथा कृतिकर्म न करने पर सोचता है—इन्होंने मुझे वर्जित कर दिया, मेरा पराभव कर डाला, यह सोचकर कोई-कोई सुख-शीलविहारिता का परिहार कर देता है। इसलिए पार्श्वस्थ आदि कृतिकर्म में परिहार्य है। उसको कृतिकर्म देने पर उसकी सावधक्रिया का अनुमोदन होता है। वह न हो इसलिए उसको वंदनक नहीं देना चाहिए।

४५४७.लोए वेदे समए, दिट्ठो दंडो अकज्जकारीणं।

दम्मंति दारुणा वि हु, दंडेण जहावराहेण॥

लोकाचार में, शास्त्रों में, समय—राजनीतिशास्त्र में, अकार्य करने वालों को दंड का विधान देखा गया है। जो दारुण हैं—रौद्र हैं उनको अपराध के अनुरूप दंड दिया जाता है।

४५४८.वायाए कम्मणा वा, तह चिद्धति जह ण होति से मच्चं।

पस्सति जतो अवायं, तदभावे दूरतो वज्जे॥

यदि पार्श्वस्थ आदि का अपाय—संयमात्मविराधना देखे, ज्ञात हो तो मुनि उसको वाणी से अथवा कर्म से अर्थात् प्रणाम की क्रिया के द्वारा ऐसी चेष्टा करे जिससे उसके मन में तनिक भी मन्यु—अप्रीति न हो। यदि किसी भी प्रकार का अपाय न देखे तो उनका दूर से ही वर्जन करे।

४५४९.एताइं अकुब्बंतो, जहारिहं अरिहदेसिए मग्गे।

ण भवति पवयणभत्ती, अभत्तिमंतादिया दोसा॥

पार्श्वस्थों को उनके यथायोग्य वाङ्मनस्कार आदि न करने पर अर्हत् देशित मार्ग पर चलने वाले मुनि की प्रवचन-भक्ति नहीं होती, अभक्तिमत्ता आदि दोष होते हैं।

४५५०.परिवार परिस पुरिसं, खित्तं कालं च आगमं नाउं।

कारणजाते जाते, जहारिहं जस्स कायव्वं॥

पार्श्वस्थ के परिवार, परिषद्, पुरुष, क्षेत्र, काल और आगम—ज्ञान को जानकर तथा कारण—कुल, गण संघ के

प्रयोजन के प्रकारों को जानकर, उनके यथायोग्य वाचिक-कायिक वंदनक करना चाहिए। (व्याख्या आगे)

४५५१.परिवारो से सुविहितो, परिसगतो साहती व वेरग्गं।

माणी दारुणभावो, णिसंस पुरिसाधमो पुरिसो॥

४५५२.लोगपगतो निवे वा,अहवण रायादिविक्खितो होज्जा।

खित्तं विहमादि अभावियं व कालो यऽणाकालो॥

उस पार्श्वस्थ का परिवार सुविहित-विहितानुष्ठानयुक्त है। जो परिषद् में वैराग्य का उपदेश देता है। कोई पार्श्वस्थ अहंकारी है, स्वभाव से दारुण है, नृशंस है और पुरुषों में अधमपुरुष है। कोई पार्श्वस्थ बहुलोकसम्मत, नृपबहुमत अथवा उसने राजा आदि को दीक्षित किया है—यहां ऐसा पुरुष गृहीत है।

क्षेत्र अर्थात् कान्तार या अभावित गांव आदि (जो संविग्ण साधुओं से अभावित पर पार्श्वस्थ आदि से भावित) में रहना हो तो पार्श्वस्थ आदि का उपचार कर रहना चाहिए। काल अणाकाल अर्थात् दुष्काल हो तो पार्श्वस्थ पुरुष साधुओं का क्षेम करता है। इस प्रकार परिवार आदि कारणों को जानकर पार्श्वस्थ का कृतिकर्म करना चाहिए।

४५५३.दंसण-नाण-चरित्तं, तव-विणयं जत्थ जत्तियं जाणे।

जिणपत्रत्तं भत्तीइ पूयए तं तहिं भावं॥

जिस पार्श्वस्थ में जितना ज्ञान, चारित्र, तप और नियम है, वहां जिनप्रज्ञप्तभाव को अपने मन में स्थापित कर उतनी ही भक्ति से उसका कृतिकर्म आदि करना चाहिए।

अंतरगिह-पदं

नो कप्पइ निग्गंथाणं निग्गंथीण वा
अंतरगिहंसि चिद्धित्तए वा निसीइत्तए वा
तुयद्धित्तए वा निद्दाइत्तए वा पयलाइत्तए वा,
असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा
आहारमाहारेत्तए, उच्चारं वा पासवणं वा
खेलं वा सिंघाणं वा परिद्धवेत्तए, सज्झायं
वा करेत्तए, ज्ञाणं वा ज्ञाइत्तए, काउस्सग्गं
वा ठाणं ठाइत्तए॥

(सूत्र २१)

अह पुण एवं जाणेज्जा—वाहिए
जराजुण्णे तवस्सी दुब्बले किलंते
मुच्छेज्ज वा पवडेज्ज वा, एवं से कप्पइ

अंतरगिहंसि चिद्विज्ञे वा जाव
काउस्सगं वा ठाणं ठाइत्तए ॥

(सूत्र २२)

४५५४. राइणिओ य अहिगतो, स चावि थेरो अणंतरे सुत्ते।

तस्संतराणि कप्पंति चिद्विज्ञादीणि संबंधो ॥

रत्नाधिक का अधिकार चल रहा है। अनन्तरसूत्र में स्थविर (साठ वर्ष की पर्याय वाला) को रत्नाधिक माना है। उसको स्थान आदि के लिए दो गृहों के अंतराल में कल्पता है। यह पूर्वसूत्र से प्रस्तुत सूत्र का संबंध है।

४५५५. सम्भावमसम्भावे, दुण्ह गिहाणंतरं तु सम्भावे।

पास पुरोहड अंगण, मज्झमि य होतऽसम्भावं ॥

गृहान्तर दो प्रकार का है—सद्भाव और असद्भाव। दो गृहों का जो अन्तर-मध्य है वह सद्भाव गृहान्तर है तथा गृह के पास में, पुरोहड में, आंगन में या गृहमध्य में जो अन्तर है वह है असद्भाव गृहान्तर। इन दोनों प्रकार के गृहान्तरों में गोचरी के लिए गए हुए मुनि को स्थान—बैठना, खड़ा रहना आदि नहीं कल्पता।

४५५६. कुडंतर भित्तिए, निवेशण गिहे तहेव रच्छाए।

ठायंतगाण लहुगा, तत्थ वि आणादिणो दोसा ॥

दो भीतों के मध्य, भित्ति—शटित-पतित भीत के पास, निवेशन में, गृह के पार्श्व में, गली में—इन स्थानों में ठहरने वाले को चतुर्लघु का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि का दोष प्राप्त होता है।

४५५७. खरण खरिया सुण्हा, गट्टे वट्टक्खुरे व संकिज्जा।

खण्णे अगणिक्काए, दारे वति संकणा तिरिए ॥

दास, दासी, पुत्रवधू, वृत्तखुर—घोड़ा आदि जिन घरों से पलायन कर गए हों तो लोग उस साधु पर शंका करते हैं, जो उस स्थान पर खड़ा या बैठा था। किसी ने उन घरों पर सेंध लगाई हो, अग्नि लगाई हो, घर में द्वार से प्रवेश कर, वृत्ति को छेद कर किसी ने सुवर्ण आदि का अपहरण कर लिया हो, या तिर्यचो—गो, भैंस आदि का हरण कर लिया हो तो साधु पर शंका की जा सकती है, प्रहनन, ग्रहण भी हो सकता है। इसलिए उन स्थानों में बैठना, ठहरना नहीं चाहिए।

४५५८. उच्छुद्धसरिरे वा, दुब्बल तवसोसिते व जो होज्जा।

थेरे जुण्ण-महल्ले, वीसंभणवेस हतसंके ॥

उच्छुद्धशरीर अर्थात् रोगाघात शरीर वाला, दुर्बल, तप से शोषित शरीर वाला, जो स्थविर है, जो जीर्ण है, जो उस गण में वृद्धतर है—ये विश्राम करने के लिए गृहान्तर में बैठते

हैं। वे विश्रामभण वेश वाले अर्थात् संविग्णवेषधारी होते हैं। उन पर शंका नहीं की जा सकती।

४५५९. अहवा ओसहहेउं, संखडि संघाडए व वासासु।

वाघाए वा तत्थ उ, जयणाए कप्पती ठातुं ॥

अथवा औषध के लिए स्वामी की प्रतीक्षा करने वहां बैठते हैं, संखड़ी में जाने के लिए वेला की प्रतीक्षा करते हैं, अपने संघाटक साधु की प्रतीक्षा करते हैं, वर्षा के कारण, मार्ग में व्याघात होने के कारण—इन सभी कारणों से मुनि को यतनापूर्वक गृहान्तर में बैठना कल्पता है।

४५६०. पीसंति ओसहाइं, ओसहदाता व तत्थ असहीणो।

संखडि असतीकालो, उद्वित्ते वा पडिच्छंति ॥

औषधियों को पीसने के लिए, औषधदाता कहीं बाहर गया हुआ हो तो उसकी प्रतीक्षा में, संखड़ी में गोचरी करने का वह असत्काल है अर्थात् अभी वहां गोचरी की वेला नहीं हुई है, उस वेला की प्रतीक्षा में अथवा वहां गृहांगण में लोग भोजन करने बैठ गए हों तो उनके उठने की प्रतीक्षा में मुनि गृहान्तर में बैठ सकता है।

४५६१. एगयर उभयओ वा, अलंभे आहच्च वा उभयलंभो।

वसहिं जा गेएगो, ता इअरो चिद्वई दूरे ॥

एकतर अर्थात् भक्त या पानक का अथवा दोनों की प्राप्ति दुर्लभ हो और कदाचित् दोनों की प्रचुर प्राप्ति हो गई हो तो संघाटक का एक साधु एक पात्र को लेकर वसति में चला जाए और एक साधु गृहस्थों से दूर जाकर खड़ा रहे।

४५६२. वासासु व वासंते, अणुण्णवित्ताण तत्थऽणाबाहे।

अंतरगिहे गिहे वा, जयणाए दो वि चिद्वंति ॥

वर्षा यदि बरस रही हो तो गृहस्वामी की अनुज्ञा लेकर वहां अनाबाध स्थान में, अन्तरगृह में या गृह में दोनों मुनि यतनापूर्वक रहें।

४५६३. पडिणीय णिवे एंते, तस्स व अंतेउरे गते फिडिए।

वुग्गह णिव्वहणाती, वाघातो एवमादीसु ॥

कोई प्रत्यनीक आ रहा हो या राजा तथा उसका अन्तःपुर आ रहा हो, हाथी आ रहा हो और वे सब जब तक वहां से निकल न जाएं तब तक वहीं रहे। कोई विग्रह करते हुए आ रहे हों, वर-वधू महान् आडंबर के साथ आ रहे हों, गीतगायक मंडली आ रही हो—इन कारणों से व्याघात होने पर वहीं गृह में ठहर जाए। और इस यतना का पालन करे—

४५६४. आयाणगुत्ता विकहाविहीणा,

अच्छण्ण छण्णे व ठिया व विट्ठा।

अच्छंति ते संतमुहा णिविट्ठुं,

भजंति वा सेसपदे जहुत्ते ॥

इन्द्रियों से गुप्त, विकथा से विरत मुनि गृहान्तर में छत्र अथवा अच्छन्न प्रदेश में खड़े या बैठे हुए शांतमुख रहते हैं। बैठकर वे स्वाध्याय आदि के शेष पदों का यथायोग्य स्मरण करते हैं।

४५६५. थाणं च कालं च तद्देव वत्थुं,

आसज्ज जे दोसकरे तु ठाणे।

ते चेव अण्णस्स अदोसवन्ते,

भवन्ति रोगिस्स व ओसहाई॥

स्थान, काल और वस्तु—ये जैसे किसी व्यक्ति के लिए दोषकारी होते हैं, वे ही स्थान, काल और वस्तु दूसरे व्यक्ति के लिए अदोषकारी होते हैं। जैसे जो औषधियां एक रोगी के लिए दोष करने वाली होती हैं, वे ही औषधियां दूसरे रोगी के लिए कोई दोष उत्पन्न नहीं करतीं।

नो कप्पति निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
अंतरगिहंसि जाव चउगाहं वा पंचगाहं वा
आइक्खित्तए वा विभावेत्तए वा किट्टित्तए
वा पवेइत्तए वा। नण्णत्थ एगणाएण वा
एगवागरणेण वा एगगाहाए वा
एगसिलोएण वा। से वि य ठिच्चा, नो चेव
णं अट्टिच्चा॥

(सूत्र २३)

४५६६. अइप्पसत्तो खलु एस अत्थो,

जं रोगिमादीण कता अणुण्णा।

अण्णो वि मा भिक्खगतो करिज्जा,

गाहोवदेसादि अतो तु सुत्तं॥

पूर्वसूत्र में रोगी आदि को अन्तरगृह में स्थान आदि करने की अनुज्ञा दी है। यह अर्थ अतिप्रसंग पैदा करने वाला है। दूसरा भी कोई भिक्षा के लिए निर्गत मुनि वहां अन्तरगृह में स्थित होकर गाथोपदेश आदि न करे, इसलिए प्रस्तुत सूत्र का निर्माण किया गया है।

४५६७. संहियकङ्कणमादिक्खणं तु पदच्छेद मो विभागो उ।

सुत्तत्थोकिट्टणया, पवेतणं तप्फलं जाणे॥

भिक्षा के लिए निर्गत मुनि गृहस्थों के घर में बैठकर संहिताकर्षण आदि करता है। पदच्छेद और विभाग करता है। सूत्रार्थ का कथन करता है अर्थात् उनका उत्कीर्तन करता है। धर्म-फल का प्रवेदन करता है।

४५६८. एक्का वि ता महल्ली, किमंग पुण होंति पंच गाहाओ।

साहणे लहुगा आणादिदोस ते चेविमे अण्णे॥

एक गाथा भी यदि संहिता आदि के आधार पर व्याख्यायित की जाए तो वह महाप्रमाणवाली हो जाती है तो फिर पांच गाथाओं की तो बात ही क्या! यदि मुनि एक गाथा भी कहता है तो उसका प्रायश्चित्त है चतुर्लघु, आज्ञाभंग आदि दोष तथा अन्तरगृह में बैठने के दोष और ये वक्ष्यमाण अन्य दोष।

४५६९. गाहा अद्धीकारग, पोत्थग खररडणमक्खरा चेव।

साहारण पडिणत्ते, गिलाण लहुगाइ जा चरिमं॥

मुनि गोचरी के लिए निकला। गांव में एक व्यक्ति को अशुद्ध पाठ करते सुना। उसने उस व्यक्ति से कहा—गाथा का आधा भाग मैं बोलता हूं, आधा तुम बोलो। तुमने पुस्तकों से ही शास्त्र पढ़ा है, गुरुमुख से नहीं। तुम इस प्रकार खर-रटन—गधे की तरह रटन क्यों कर रहे हो? तुम केवल अक्षरों को ही जानते हो। पट्टिका लाओ, मैं तुम्हें सिखाता हूं। ऐसा करने पर ये दोष होते हैं—साधारण अर्थात् मंडली में भोजन करने वाले मुनि इस मुनि की प्रतीक्षा में बैठे रहते हैं। यदि इस मुनि से किसी ग्लान की सेवा करने की प्रतिज्ञा की हो तो वह ग्लान उसकी प्रतीक्षा में परिताप आदि का अनुभव करता है। इस स्थिति में उस मुनि को चतुर्लघु से प्रारंभ कर पारांचिक तक प्रायश्चित्त प्राप्त हो सकता है।

४५७०. भग्गविभग्गा गाहा, भणिइहीणा व जा तुमे भणिता।

अद्धं से करेमि अहं, तुमं से अद्धं पसाहेहि॥

गोचराग्र गया हुआ मुनि अशुद्ध गाथा को सुनकर उस गृहस्थ को कहता है—तुमने गाथा को भग्ग-विभग्ग और भणितिरहित कर डाला। उस गाथा के आधे भाग का अर्थ मैं कहता हूं और आधे भाग का अर्थ तुम करो।

४५७१. पोत्थगपच्चयपडियं, किं रडसे रासहु व्व असिलायं।

अकयमुह! फलयमाणय, जा ते लिक्खंतु पंचग्गा॥

तुमने पुस्तक पर विश्वास करके पढ़ा है, गुरुमुख से नहीं। तुम रासभ की भांति विस्वर में क्यों रटन लगा रहे हो? हे अकृतमुख! (अक्षर संस्कार से रहित) तुम एक फलक (पट्टिका) ले आओ, मैं तुम्हारे योग्य पंचाग्र—पांच अक्षर लिखकर दूंगा।

४५७२. लहुगादी छग्गुरुगा, तव-कालविसेसिया व चउलहुगा।

अधिकरणमुत्तरुत्तर, एसण-संकाइ फिडियम्मि॥

भिक्षा के लिए पर्यटन करता हुआ यह सारा प्रपंच करने वाले के लिए यह प्रायश्चित्त है—आधी गाथा की बात कहने पर चतुर्लघु, पुस्तक की बात पर चतुर्गुरु, अक्षर सिखाने पर षडलघु, खर-रटन पर षड्गुरु अथवा तप-काल से विशेषित चतुर्लघुक, अधिकरण—कलह और उत्तरोत्तर—उक्ति-प्रत्युक्ति

करने वाले मुनि के एषणा का काल बीत जाता है। काल बीत जाने पर वह मुनि एषणा की प्रेरणा करता है। इससे शंका आदि दोष उत्पन्न होते हैं।

४५७३. वामद्विति इय सो जाव तेण ता गहियभोयणा इयरे।

अच्छंते अंतरायं, एमेव य जो पडिण्णत्तो॥

भिक्षाटन करता हुआ वह मुनि जब तक उत्तर-प्रत्युत्तर में संलग्न रह कर व्याक्षेप से समय को गंवाता है तब तक इतर मुनि भोजन से निवृत्त होकर या गोचरी लाकर उस मुनि की प्रतीक्षा में बैठे रहते हैं। अतः अंतरायदोष लगता है तथा ग्लान के लिए प्रायोग्य आहार लाने की जो बात स्वीकृत की थी, वह समय पर न दिए जाने पर, उसके भी अंतराय होता है।

४५७४. कालाइक्कमदाणे, होइ गिलाणस्स रोगपरिवुद्धी।

परितावऽणगाढाती, लहुगाती जाव चरिमपदं॥

ग्लान के भक्त-पान के काल का अतिक्रमण होने पर उसके रोग-परिवृद्धि होती है। उसके अनागाढ़ तापनादिक होती है, तथा फलस्वरूप चतुर्लघु प्रायश्चित्त आता है तथा ग्लान की मृत्यु हो जाने पर चरमपद अर्थात् पारांचिक प्रायश्चित्त आता है।

४५७५. किं जाणंति वरागा, हलं जहित्ताण जे उ पव्वइया।

एवंविधो अवण्णो, मा होहिइ तेण कहयंति॥

गोचराग्र में प्रविष्ट मुनि भी दूसरे के द्वारा पूछे जाने पर अपवादपद में कुछ कह भी सकता है—कुछ न कहने पर लोग कहते हैं—ये बेचारे क्या जानते हैं। इन्होंने हलों को छोड़कर प्रवज्या ली है। इस प्रकार का अवर्णवाद न हो इसलिए पूछने पर कुछ कहते हैं।

४५७६. एगं नायं उदगं, वागरणमहिंसलक्खणो धम्मो।

गाहाहिं सिलोगेहि व, समासतो तं पि ठिच्चाणं॥

यदि कोई पूछे तो विवक्षित अर्थ का समर्थक एक दृष्टांत कहना चाहिए। वैसा 'उदक का दृष्टांत' मात्र कहना चाहिए। व्याकरण का अर्थ है—निर्वचन। किसी ने धर्म का लक्षण पूछा हो तो कहे—अहिंसा लक्षणो धर्मः—धर्म है अहिंसा। अथवा गाथाओं से या श्लोकों से संक्षेप में धर्मकथन करे। वह भी एक स्थान पर बैठकर। खड़े-खड़े अथवा भिक्षा के लिए घूमते-घूमते न करे।

४५७७. नज्जइ अणेण अत्थो, णायं दिट्ठंत इति व एगट्ठं।

वागरणं पुण जा जस्स धम्मता होति अत्थस्स॥

जिससे दार्ष्टान्तिक अर्थ जान लिया जाता है वह है ज्ञात और दृष्टांत एकार्थक हैं। व्याकरण का अर्थ है—जिस अर्थ की

जो धर्मता—स्वभाव है उसका निर्वचन।

उदक का दृष्टांत—

एक साधु दूसरे गांव में भिक्षा के लिए जा रहा था। बीच में एक गृहस्थ मिल गया। दोनों जा रहे थे। मार्ग के बीच पानी बह रहा था। उसको पार कर गृहस्थ अपने बहन के घर मेहमान बन कर रह गया। साधु भी भिक्षा के लिए घूमते-घूमते उसी घर में गया।.....

४५७८. पप्पं खु परिहरामो, अप्पप्पविवज्जओ ण विज्जति हु।

पप्पं खलु सावज्जं, वज्जेतो होइ अणवज्जो॥

हम प्राप्य अर्थात् शक्य का ही परिहार करते हैं। अप्राप्य जिसका परिहार नहीं किया जा सकता उसका परिहारकर्ता कोई नहीं होता। इसलिए अभी सामने जो सावद्य है उसका वर्जन करना अनवद्य—निर्दोष है।

४५७९. चिरपाहुणतो भगिणिं, अवयासितो अदोसवं होति।

तं चेव मज्झ सक्खी, गरहिज्जइ अण्णहिं काले॥

चिरकाल से समागत प्राधूर्णक भाई अपनी बहन का सस्नेह आलिंगन करता है, तब भी अदोषी है। मुनि ने कहा—इसके तुम ही मेरे प्रमाण हो क्योंकि अभी-अभी तुमने बहन का आलिंगन किया है। अन्य समय में यदि भाई बहन का आलिंगन करता है तो वह निन्द्य होता है।

४५८०. पादेहिं अधोतेहि वि, अक्कमित्ठुणं पि कीरती अच्चा।

सीसेण वि संकिज्जति, स च्चेव चितीकया छिविउं॥

प्रतिमा की जब तक प्रतिष्ठा नहीं होती तब तक अधौत पैरों से भी उस पर चढ़ा जा सकता है। यदि वही प्रतिमा मन्दिर में स्थापित कर दी जाती है तब उसका सिर से स्पर्श करने पर भी लोग शंका करते हैं।

४५८१. केइ सरीरावयवा, देहत्था पूइया न उ विउत्ता।

सोहिज्जंति वणमुहा, मलम्मि वूढे ण सव्वे तु॥

शरीर के कुछेक अवयव देहस्थ होने पर ही पूजे जाते हैं, विलग होने पर नहीं! व्रणमुख वाले कुछेक अवयव (कान, चक्षु, पायु)—जिनसे मल बहने पर भी कुछेक का ही शोधन किया जाता है, सबका नहीं।

४५८२. जइ एगत्थुवलद्धं, सव्वत्थ वि एव मण्णसी मोहा।

भूमीतो होति कणगं, किण्ण सुवण्णा पुणो भूमी॥

'एकत्र जो उपलब्ध होता है, सर्वत्र भी वह उपलब्ध होना चाहिए'—यदि तुम मोहवश मानते हो तो बताओ, भूमी से सोना उत्पन्न होता है तो सोने से भूमी उत्पन्न क्यों नहीं होती?

४५८३. तम्हा उ अणेगंतो, ण दिट्ठमेगत्य सव्वहिं होति।

लोए भक्खमभक्खं, पिज्जमपिज्जं च दिट्ठाइं॥

इसलिए यह नियम अनेकांतिक है। एक स्थान पर देखा गया सर्वत्र नहीं होता। संसार में भक्ष्य-अभक्ष्य, पेय-अपेय की पृथक्-पृथक् व्यवस्था देखी जाती है। प्राणी के अंग होने पर भी मांस, वसा आदि अभक्ष्य माने जाते हैं और ओदन, पक्वान्न आदि भक्ष्य। मद्य, रुधिर आदि अपेय और पानी, छाछ आदि पेय माने जाते हैं।

४५८४. जं इच्छसि अप्पणतो, जं च ण इच्छसि अप्पणतो।

तं इच्छ परस्स वि या, एत्तियगं जिणसासणयं॥

तुम जो अपनी आत्मा के लिए चाहते हो और जो नहीं चाहते, वही दूसरी आत्मा के लिए भी चाहो। यही जिनशासन का उपदेश है।

४५८५. सव्वारंभ-परिग्गहणिकखेवो सव्वभूतसमया या

एक्कग्गमणसमाहाणया य अह एत्तिओ मोक्खो॥

समस्त आरंभ (हिंसा आदि) और परिग्रह का त्याग करना, समस्त प्राणियों के प्रति समता रखना तथा एकाग्र-मनःसमाधानता रखना—यही मोक्ष है—इतना ही मोक्ष का उपाय है।

४५८६. सव्वभूतस्प्पभूतस्स, सम्मं भूताइं पासओ।

पिहियासवरस्स दंतस्स, पावं कम्मं न बंधईं॥

जो समस्त प्राणियों को अपनी आत्मा के समान जानता है, जिसने आस्रवों का द्वार बंद कर दिया है तथा जो दान्त है, उसके पाप कर्म का बंध नहीं होता।

४५८७. इरियावहियाऽवण्णो, सिद्धं पि न गिण्हए अतो ठिच्चा।

भदिही पडिणीए, अभियोगे चउण्ह वि परेण॥

चक्रमण करता हुआ मुनि जो धर्म कहता है, उसकी निन्दा होती है और उसका कहा हुआ धर्म कोई श्रोता ग्रहण भी नहीं करता। अतः बैठकर धर्म कहना चाहिए। कोई भद्रक धर्म पूछे तो उसे विस्तार से बताए। कोई प्रत्यनीक आ रहा हो तो, उसके चले जाने पर धर्म कहे। यदि बंडिक आदि की अभियोग-बलात् कहने की बात आए तो चार गाथाओं या श्लोकों के अतिरिक्त भी धर्म का प्रवचन करे।

४५८८. सिंगाररसुत्तुइया, मोहमई फुंफुका हसहसेति।

जं सुणमाणस्स कहं, समणेण न सा कहेयव्वा॥

जिस कथा को सुनकर श्रोता के मन में शृंगार रस उत्तेजित होता हो, मोहमयी ज्वाला जाज्वल्यमान होती हो वैसी कथा श्रमण को नहीं कहनी चाहिए।

४५८९. समणेण कहेयव्वा, तव-णियमकहा विरागसंजुत्ता।

जं सोऊण मणूसो, वच्चइ संवेग-णिब्बेयं॥

श्रमण को वैसी कथा कहनी चाहिए जिससे श्रोता के मन

में तप-नियम की भावना बढ़े, वह कथा वैराग्य से संयुक्त हो, जिसे सुनकर मनुष्य संवेग और निर्वेद की ओर बढ़े।

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
अंतरगिहंसि इमाइं पंच महव्वयाइं
सभावणाइं आइक्खित्तए वा विभावेत्तए वा
किट्ठित्तए वा पवेइत्तए वा, नण्णत्थ
एगणाएण वा एगवागरणेण वा एगगाहए
वा एगसिलोएण वा। से वि य ठिच्चा नो
चेव णं अठिच्चा॥

(सूत्र २४)

४५९०. गहिया-ऽगहियविसेसो, गाथासुत्तातो होति वयसुत्ते।

गिहिसकतो व भवे, परिमाणकतो व विण्णेतो॥

गाथासूत्र से व्रतसूत्र इस बात में विशेष है कि गाथासूत्र केवल ग्रथित होता है और व्रतसूत्र ग्रथित और अग्रथित—दोनों प्रकार का होता है। अथवा प्रस्तुत सूत्र में जो निर्देशकृत है वह यहां विशेष है—यहां इस सूत्र में भावनायुक्त पांच महाव्रतों की बात कही है। यही विशेष निर्देश है। अथवा पूर्वसूत्र में धर्म का स्वरूप कहा है, वही यहां महाव्रतपंचक के रूप में निर्दिष्ट है।

४५९१. पंचमहव्वयतुंगं, जिणवथणं भावणापिणिद्धाणं।

साहणे लहुगा आणाइ दोस जं वा णिसिज्जाए॥

जिनवचन पांच महाव्रतों से उत्तुंग मेरु के सदृश है और वह भावनाओं से नियंत्रित है। अन्तरगृह में बैठकर इसका वर्णन करने वाले मुनि को चतुर्लघु का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष प्राप्त होते हैं। इसके साथ-साथ गृहनिषद्या के जो दोष होते हैं, उनका प्रायश्चित्त भी आता है।

४५९२. पाणवहम्मि गुरुब्बिणि, कप्पड्ढोदाणए य संका उ।

भणिओ ण ठाइ कोयी, मोसम्मि थ संकणा साणे॥

गृह में बैठकर कोई मुनि धर्मकथा करता है और श्रोता के रूप में कोई गर्भिणी स्त्री बैठी है तो उसके गर्भस्थ शिशु के आहार का व्यवच्छेद होता है। इससे विपत्ति होती है, प्राणवध होता है। कोई स्त्री धर्मकथा सुनते-सुनते अपने छोटे बालक को वहीं छोड़कर शंका-निवारण के लिए जाती है। पीछे से कोई उस बालक को मार देता है तो लोग मुनि पर शंका करते हैं। गृहस्थ के द्वारा प्रतिषेध करने पर भी जो उस घर में प्रतिदिन जाता है तो भगवान् की आज्ञा का

उल्लंघन है। यह मृषावाद है। अथवा धर्मकथा सुन रही अपनी पत्नि से पति कहता है—अमुक वस्तु मुझे परोसो। पत्नी कहती है—वह वस्तु तो कुत्ता खा गया। पति तब कहता है—मैं उस कुत्ते को जानता हूँ। इस प्रकार उसके मन में मृषावाद विषयक शंका होती है।

४५९३. खुहिया पिपासिया वा, मंदक्खेणं न तस्स उद्वेइ।

गम्भस्स अंतरायं, बाधिज्जइ सन्निरोधेण॥

धर्मकथा सुनने के लिए बैठी हुई गर्भवती स्त्री भूखी और प्यासी हो सकती है, वह लज्जावश वहां से नहीं उठती, इससे गर्भ में अंतराय होता है। आहार के व्यवच्छेद रूपी सन्निरोध से गर्भ बाधित होता है।

४५९४. उक्खितो सो हत्था,

चुतो ति तस्सउग्गतो णिवाडित्ता।

सोतार वियारगते,

हा ह त्ति सवित्तिणी कुणती॥

स्त्री धर्म सुनते-सुनते, अपने शिशु को वहीं छोड़कर शौचार्थ विचारभूमी में चली गई। इतने में ही उसकी सोत आई और उस शिशु को हाथों में उठाया और साधु के आगे उसको पटक दिया और चिल्लाने लगी कि हा! हा! इस श्रमण ने इस शिशु को उठाया और इसके हाथ से च्युत होकर यह शिशु भूमी पर गिरा और मर गया। इस प्रकार मृषावाद से श्रमण ग्रस्त होता है।

४५९५. सयमेव कोइ लुद्धो, अवहरती तं पडुच्च कम्मकरी।

वाणिगिणी मेहुण्णे, बहुसो य चिरं च संका य॥

कोई मुनि घर में आभूषणों को देखकर कोई वस्तु उठा लेता है, अथवा कोई दासी किसी आभूषण का अपहरण कर सोचती है कि साधु पर शंका की जाएगी, मेरे पर नहीं। इस प्रकार अदत्तादान का दोष भी उस संयत पर आ सकता है। कोई प्रोषितभर्तृका गृहिणी है। कोई मुनि उसके घर बार-बार जाता है और लंबे समय तक ठहरता है। उस पर शंका होती है।

४५९६. धम्मं कहेइ जस्स उ, तम्मि उ वीयारणं गणं संते।

सारक्खणा परिग्गहो, परेण दिट्ठम्मि उड्ढाहो॥

मुनि जिस घर में धर्मकथा करता है, गृहस्वामी के शौचभूमी में जाने पर वह मुनि घर का संरक्षण करता है तो परिग्रहदोष का आभागी होता है। दूसरे के देख लेने पर उड्ढाह होता है।

इस प्रकार अन्तरगृह में बैठकर धर्मकथा करने के ये दोष हैं। अतः वहां बैठकर धर्मकथा नहीं करनी चाहिए।

४५९७. एगं णायं उदगं, वागरणमहिंसलक्खणो धम्मो।

गाहादि सिलोगेहि य, समासतो तं पि ठिच्चाणं॥

यदि कोई पूछे तो विवक्षित अर्थ का समर्थक एक वृष्टांत कहना चाहिए। वैसा 'उदक का वृष्टांत' मात्र कहना चाहिए। व्याकरण का अर्थ है—निर्वचन। किसी ने धर्म का लक्षण पूछा हो तो कहे—अहिंसा लक्षणो धर्मः—धर्म है अहिंसा। अथवा गाथाओं से या श्लोकों से संक्षेप में धर्मकथन करे। वह भी एक स्थान पर बैठकर।

सेज्जा संथारय-पदं

नो कप्पति निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
पाडिहारियं सिज्जा-संथारयं आयाए
अप्पडिहट्टु संपव्वइत्तए॥

(सूत्र २५)

४५९८. अविदिण्णमंतरगिहे,

परिकहणमियं पडदिण्णमिइ जोगो।

णिग्गमणं व समाणं,

बहिं व वुत्तं इमं अंतो॥

अन्तरगृह में उपदेश देना अवितीर्ण अर्थात् तीर्थकरों या गृहपति के द्वारा अनुज्ञात नहीं है। इसी प्रकार प्रातिहारिक शय्या-संस्तारक का न लौटाना भी अनुज्ञात नहीं है। यह योग है। संबंध है। पूर्वसूत्र और प्रस्तुत सूत्र दोनों में प्रतिश्रय से निर्गमन समान है। अथवा पूर्वसूत्र प्रतिश्रय से बाहर भिक्षा के लिए निर्गत भिक्षु को धर्मकथा करना नहीं कल्पता, यह कहा है। प्रस्तुत सूत्र में प्रतिश्रय के मध्य संस्तारक का निक्षेपण नहीं कल्पता, यह कहा है।

४५९९. सिज्जा संथारो या, परिसाडी अपरिसाडि मो होइ।

परिसाडि कारणमिं, अणप्पिणे मासो आणादी॥

शय्या अथवा संस्तारक के दो प्रकार हैं—परिशाटी तथा अपरिशाटी। परिशाटी तृणमय होता है और अपरिशाटी फलकमयी। परिशाटी कारण में ग्रहण कर उसको यदि पुनः बिना अर्पित किए विहार करता है, उसे मासलघु का प्रायश्चित्त और आज्ञाभंग आदि दोष प्राप्त होते हैं।

४६००. सोच्चा गत ति लहुगा,

अप्पत्तिय गुरुगं जं च वोच्छेओ।

कप्पट्ट खेल्लणे णयण उहण

लहु लहुग गुरुगा य॥

यदि संस्तारक स्वामी यह सुन ले कि साधु संस्तारक

को लौटाये बिना चले गए हैं, तो उसको चतुर्लघु, यदि स्वामी को अप्रीति उत्पन्न होती है तो चतुर्गुरु, उस द्रव्य का व्यवच्छेद हो गया हो तो चतुर्गुरु, उस शून्य संस्तारक पर बालक खेलते हैं तो मासलघु, उसको अन्यत्र ले जाते हैं तो चतुर्लघु, उसको जला देते हैं तो चतुर्लघु तथा दहन में प्राणियों की विराधना होती है, उसका भिन्न प्रायश्चित्त आता है।

४६०१.दिज्जन्ते वि तयाऽणिच्छित्तूण अप्पेमु भे त्ति नेतूणं।

कयकज्जा जणभोगं, काऊण कहिं गया भच्छा॥

पुनः अर्पित न किये जाने वाला संस्तारक दिये जाने पर भी मुनि तब नहीं चाहते। बाद में मासकल्पपूर्ण होने पर हम पुनः लौटा देंगे यह कहकर ले जाते हैं। अपना कार्य पूर्ण हो जाने पर उस संस्तारक को जनभोग्य कर, शून्य में डालकर वे भच्छ-दुर्वृष्टधर्मा मुनि कहीं चले जाते हैं।

४६०२.कप्पड्ड खेल्लण तुअट्टणे य लहुगो य होति गुरुगो य।

इत्थी-पुरिसतुयट्टे, लहुगा गुरुगा अणायारे॥

यदि उस संस्तारक पर बालक खेलते हैं तो प्रायश्चित्त है लघुमास। यदि वे बालक उस पर सोते हैं तो गुरुमास, यदि स्त्री-पुरुष सोते हैं तो चतुर्लघु, उस पर अनाचार का सेवन करते हैं तो चतुर्गुरु।

४६०३.वोच्छेदे लहु-गुरुगा, नयणे डहणे य दोसु वी लहुगा।

विहणिग्गयादऽलंभे, जं पावे सयं व तु णियत्ता॥

एक साधु और उसी एक द्रव्य का व्यवच्छेद होने पर चतुर्लघु, अनेक साधु और अन्य द्रव्यों का व्यवच्छेद होने पर चतुर्गुरु, ले जाने और दहन करने पर चतुर्लघु और व्यवच्छेद के कारण संस्तारक की प्राप्ति न होने पर अध्वनिर्गत मुनि जो परिताप आदि प्राप्त करते हैं, उसका प्रायश्चित्त तथा स्वयं निवृत्त होकर वहां आने पर संस्तारक न मिलने के कारण जिस विराधना को प्राप्त होते हैं, उसका प्रायश्चित्त आता है।

४६०४.माइस्स होति गुरुगो,

जति एकतो भागऽणप्पिए दोसा।

अह होंति अण्णमण्णे,

ते च्चेव य अप्पिणणे सुद्धो॥

मायावी के गुरुमास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। माया कैसे? एक ही घर से अनेक मुनि अनेक संस्तारक लाए हों और भाग अर्थात् प्रत्यर्पणकाल में अपना संस्तारक उस नीयमान संस्तारकों में प्रक्षिप्त कर देना, यह दोष है। अथवा अन्य-अन्य गृहों से लाए गए संस्तारक हों, उस समय माया करने पर भी वे ही दोष प्राप्त होते हैं। अतः जिस घर से

संस्तारक लाए, उसी घर में विधिपूर्वक प्रत्यर्पण करना शुद्ध है।

४६०५.संथारेगमणेगे, भयणऽड्डविहा उ होइ कायव्वा।

पुरिसे घर संथारे, एगमणेगे तिसु पतेसु॥

संस्तारक के एक-अनेक पदों से आठ प्रकार की भजना करनी चाहिए। वह इन तीन पदों से होती है—पुरुष, गृह और संस्तारक। आठ भंग इस प्रकार हैं—

(१) एक साधु एक घर से एक संस्तारक लाया।

(२) एक साधु एक घर से अनेक संस्तारक लाया।

(३) एक साधु अनेक घरों से एक संस्तारक लाया।

(४) एक साधु अनेक घरों से अनेक संस्तारक लाया।

इस प्रकार एक साधु के चार भंग हुए। अनेक साधु भी इसी प्रकार भंग प्राप्त करते हैं। ये सारे आठ भंग होते हैं।

४६०६.आणयणे जा भयणा, सा भयणा होति अप्पिणंते वि।

वोच्चत्थ मायसहिए, दोसा य अणप्पिणंतम्मि॥

संस्तारक के आनयन की जो भजना है वही भजना उसके प्रत्यर्पण में होती है। जो प्रत्यर्पण में व्यत्यय करता है, माया करता है या सर्वथा प्रत्यर्पण ही नहीं करता उसमें दोष होते हैं।

४६०७.विइयपय झामिते वा, देसुट्टाणे व बोधिकभए वा।

अद्धाणसीसए वा, सत्थो व पधावितो तुरियं॥

अपवादपद यह है। यदि संस्तारक जल जाए, संस्तारक का स्वामी गांव छोड़ कर चला गया हो, चोरों का भय उत्पन्न हो गया हो, मोर्चा लग गया हो अथवा कोई सार्थ आया और त्वरित प्रस्थान करने वाला था, इसलिए मुनि संस्तारक का प्रत्यर्पण न कर उस सार्थ के साथ चले गए।

४६०८.एतेहिं कारणेहिं, वच्चंते को वि तस्स उ णिवेदे।

अप्पाहंति व सागारियाइ असदऽण्णसाहूणं॥

इन कारणों से प्रत्यर्पण न करने पर कोई मुनि जाकर उस संस्तारक स्वामी को निवेदन करे कि सार्थ त्वरित चला गया, इसलिए प्रत्यर्पण नहीं कर सके। यदि अन्य साधु न हों तो गृहस्थ को संदेश दे कि हमने अमुक का संस्तारक अमुक गृहस्थ को दिया है।

४६०९.एसेव गमो नियमा, फलएसु वि होइ आपुपुव्वीए।

चउरो लहुगा माई, य नत्थि एयं तु नाणत्तं॥

यही विकल्प नियमतः क्रमशः फलक के विषय में होता है। फलकमय संस्तारक को प्रत्यर्पण न करने पर चतुर्लघु का प्रायश्चित्त है। इसमें माया नहीं होती। इसी प्रकार यह संस्तारक से नानात्व है।

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
सागारियसंतियं सेज्जा-संथारयं आयाए
अविकरणं कट्टु संपव्वइत्तए॥

(सूत्र २६)

४६१०.संथारगअहिगारो, अहवा पडिहारिगा उ सागारी।

नीहारिमो अणीहारिमो य इति एस संबंधो॥

प्रस्तुत सूत्र का संबंध—यह संस्तारक का अधिकार अनुवर्तित हो रहा है। अतः यह भी संस्तारक सूत्र है। अथवा पूर्वसूत्र में प्रातिहारिक संस्तारक का कथन था, प्रस्तुत सूत्र में सागारिकसत्क का संस्तारक कथित है। अथवा दो प्रकार का संस्तारक होता है—निहारिम और अनिहारिम। प्रस्तुत सूत्र का पूर्वसूत्र से यह संबंध है।

४६११.सागारिसंति विकरण, परिसाडिय अपरिसाडिए चेव।

तम्मि वि सो चेवं गमो, पच्छित्तुस्सग्ग-अववाए॥

सागारिकसत्क संस्तारक को ग्रहण कर वहां से प्रस्थान करते समय उसको बिखेर देना चाहिए। वह दो प्रकार का होता है—परिशाटी और अपरिशाटी। उस संस्तारक के विषय में भी वही पूर्वोक्त विकल्प है। तथा प्रायश्चित्त, उत्सर्ग और अपवाद भी पूर्वोक्त ही हैं।

४६१२.किड्ड तुअट्टण बाले, णयणे डहणे य होइ तह चेव।

विकरण पासुद्धं वा, फलग तणेसुं तु साहरणं॥

वह बालकों द्वारा खेलने, सोने, अन्यत्र ले जाने, जलाने में पूर्वोक्त दोष होते हैं, इसलिए उसको बिखेर देना चाहिए। विकरण करना अर्थात् फलक को एक पार्श्व में रखना या उसको खड़ा कर देना, तृणों का संहरण करना, कम्बिकाओं के बंधन को तोड़ना। यह विकरण है।

४६१३.पुंजे वा पासे वा, उवरिं पुंजेसु विकरण तणेसु।

फलगं जत्तो गहियं, वाघाए विकरणं कुज्जा॥

जो तृण जिस पुंज से आनीत हैं, उनको उसी पुंज में रखें, जो पार्श्व से आनीत हैं, उनको पार्श्व में रखें, फलक जहां से लाया है वहां ले जाकर स्थापित करे, कंबिकाओं का भी बंधन तोड़कर जहां से लाया है, वहीं रखे। यदि कोई व्याघात हो तो वैसा न कर सकने पर स्थान पर ही संस्तारक को रखकर नियमपूर्वक विकरण करे।

४६१४.बितियमहसंथडे वा, देसुड्डाणादिसू व कज्जेसु।

एएहिं कारणेहिं, सुद्धो अविकरणकरणे वि॥

अपवादपद में यथासंस्तृत का विकरण न करे। यथा-संस्तृत का अर्थ है—निष्प्रकंप चंपकपट्ट आदि। देश उजड़

गया हो अथवा पूर्वोक्त कार्यों के उपस्थित होने पर विकरण न करे। विकरण न करने पर भी वह शुद्ध है।

इह खलु निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
पाडिहारिए वा सागारियसंतिए वा
सेज्जासंथारए विप्पणसेज्जा, से य
अणुगवेसियव्वे सिया। से य
अणुगवेस्समाणे लभेज्जा, तस्सेव
पडिदायव्वे सिया। से य अणुगवेस्समाणे
नो लभेज्जा, एवं से कप्पइ दोच्चं पि
ओग्गहं अणुण्णवित्ता परिहारं
परिहरित्तए॥

(सूत्र २७)

४६१५.दोण्हेगयरं नट्टं, गवेसियं पुव्वसामिणो देंति।

अपमादट्टा अहिए, हिए य सुत्तस्स आरंभो॥

मुनि दो संस्तारक लाए। उसमें से एक कोई ले गया। मुनि ने गवेषणा की। वह प्राप्त हो गया। मुनि ने उसे पूर्वस्वामी को सौंप दिया। अतः अहत्त-अनष्ट, या हत्त, फिर भी अप्रमाद के लिए गवेषणा समाचारी करनी चाहिए, इसलिए इस सूत्र का प्रारंभ किया गया है।

४६१६.संथारो नासिहिती, वसहीपालस्स मग्गणा होति।

सुत्राई उ विभासा, जहेव हेट्टा तहेव इहं॥

संस्तारक कोई ले न जाए इसलिए वसति को सर्वथा शून्य न करने के लिए वसतिपाल की मार्गणा होती है। पीठिका गाथा ५४२ में 'सुत्रे बाल गिलाणे' में जो व्याख्या की है, वही व्याख्या यहां भी जाननी चाहिए।

४६१७.पढमम्मि य चउलहुगा, सेसेसुं मासियं तु नाणत्तं।

दोहि गुरू एक्केणं, चउथपदे दोहि वी लहुगा॥

वसति को शून्य करने पर प्रथम स्थान में चतुर्लघुक का प्रायश्चित्त है। और यदि वसतिपाल के रूप में बाल, ग्लान या अव्यक्त मुनि को स्थापित करे तो प्रत्येक के मासलघु का प्रायश्चित्त है। बालस्थापन में तपसा गुरुक और ग्लानस्थापन में कालगुरुक, चतुर्थपद-अव्यक्त स्थापन में दोनों-तप और काल से लघुक-यह सारा मूल प्रायश्चित्त के साथ जुड़ेगा।

४६१८.मिच्छत्त-बडुग-चारण-भडाण

मरणं तिरिक्ख-मणुयाणं।

आएस बाल निक्केयणे

य सुत्रे भवे दोसा॥

४६१९. बलि धम्मकहा किड्ढा,

पमज्जणाऽऽवरिसणा य पाहुडिया।

खंधार अगणि भंगे,

मालवतेणा य नाई य ॥

वसति को शून्य छोड़ने से ये दोष होते हैं—शय्यातर का मिथ्यात्वगमन, बटुक, चारण और भट का प्रवेश, पशु और मनुष्य का मरण, प्राघूर्णक और व्याल का प्रवेश, बेघर वाले तिर्यच और प्रसूत स्त्रियों का निष्कासन।

निम्न द्वारों से वे दोष वक्तव्य हैं—

- | | |
|--------------------|-------------------------------|
| १. बलिद्वार | ७. स्कंधावारद्वार |
| २. धर्मकथाद्वार | ८. अग्निद्वार |
| ३. क्रीड़ाद्वार | ९. भंगद्वार |
| ४. प्रमार्जनद्वार | १०. मालवस्तेनद्वार |
| ५. आवर्षणद्वार | ११. ज्ञातिद्वार। ^१ |
| ६. प्राभृतिकाद्वार | |

४६२०. संथारविप्पणासो, एवं खु न विज्जतीति चोएति।

सुत्तं होइ य अफलं, अह सफलं उभयहा दोसा ॥

दूसरा कहता है—इस प्रकार वसति को सुरक्षित करने पर संस्तारक का विनाश नहीं होगा—इससे प्रस्तुत सूत्र अफल हो जाएगा। बाल आदि दोषरहित वसतिपाल स्थापनीय यह भी अफल हो जाएगा। उभयथा भी दोष होते हैं।

४६२१. निज्जंताऽऽगिज्जंता, आयावणनीणितो व हीरेज्जा।

तेण-ऽगणि-उदगसंभम, बोहिकभय रद्धउट्टाणे ॥

प्रत्यर्पण के लिए संस्तारक को ले जाते हुए अथवा गृहस्थ के घर से लाते हुए कोई अपहरण कर लेता है। संस्तारक को धूप में देने के लिए बाहर निकालने पर कोई अपहरण कर लेता है। स्तेनों द्वारा या उदक और अग्नि के संभ्रम में अथवा बोधिक चोरों के भय से देश उजड़ गया हो तो संस्तारक का हरण हो सकता है।

४६२२. पडिसेहेण व लद्धो, पडिलेहणमादिविरहिते गहणं।

अणुसट्ठी धम्मकहा, वल्लभो वा निमित्तेणं ॥

गृहस्वामी ने संस्तारक का प्रतिषेध कर डाला, फिर दूसरे के कहने से वह उसे प्राप्त हुआ। वह मुनि उस संस्तारक को प्रत्युपेक्षण करने के लिए बाहर ले गया। वहां से उसे बाहर छोड़कर भीतर गया। उसके विरहित होने पर कोई उसे उठा ले गया। वह मांगने पर भी नहीं लौटाता। तब उसे धर्मकथा कहनी चाहिए। वह व्यक्ति यदि राजवल्लभ हो तो उसे निमित्त आदि से प्रसन्न करना चाहिए।

४६२३. दिन्नो भवव्विहेणेव एस णारिहसि णे ण दाउं जे।

अन्नो वि ताव देयो, दे जाणमजाणयाऽऽणीयं ॥

उसको कहे—तुम जैसे विशिष्ट व्यक्ति ने ही हमें यह संस्तारक दिया। इसलिए हम इसे दे नहीं सकते। तुमको दूसरा कोई भी संस्तारक दे देगा। दूसरे द्वारा हमको दिया गया इस संस्तारक से क्या प्रयोजन? तुम जानते हुए या अजानकारी से भी वह हमें लाकर दो।

४६२४. मंत णिमित्तं पुण रायवल्लभे दमग भेसणमदेंते।

धम्मकहा पुण दोसु वि, जति अवराहो दुहा वऽधिओ ॥

राजवल्लभ के प्रति मंत्र या निमित्त का प्रयोग करे और द्रमक को भय दिखाए और फिर दोनों को धर्मकथा कहे। यतियों के प्रति किया गया अपराध दोनों लोकों के लिए अहितकर होता है। ऐसा धर्मोपदेश दे।

४६२५. अन्नं पि ताव तेन्नं, इह परलोकेऽपहारिणामहियं।

परओ जायितलद्धं, किं पुण मन्नुप्पहरणेसु ॥

सामान्य लोगों की चोरी भी परलोक में चोरों के प्रति अहितकारी होती है, फिर यतियों की चोरी तो बहुत अहित पैदा करती है। ऋषि 'मन्युपहरणा' होते हैं। उनका एकमात्र शस्त्र है—मन्यु—क्रोध। इन ऋषियों को सब कुछ दूसरों से याचित ही मिलता है, इसलिए उनकी चोरी करना इहलोक के लिए अहितकर होती है।

४६२६. खंतं व भूणए वा, भोइग-जामाउगे असइ साहे।

सिद्धम्मि जं कुणइ सो, मग्गण दाणं व ववहारे ॥

पिता द्वारा संस्तारक लिए जाने पर पुत्र को कहा जाता है और पुत्र द्वारा लिए जाने पर पिता को कहा जाता है। अथवा उसकी भार्या को या जामाता को कहना चाहिए। इतने पर भी यदि नहीं देते हों तो महत्तर आदि तक बात पहुंचानी चाहिए। न मिलने पर संस्तारक स्वामी को उस संस्तारक का 'दान' मूल्य देना या फिर न्यायालय में जाना चाहिए।

४६२७. भूणगगहिए खंतं, भणाइ खंतगहिते य से पुत्तं।

असति त्ति न देमाणे, कुणति व्वावेति व न वा उ ॥

पुत्र द्वारा गृहीत होने पर पिता को कहना होता है और पिता द्वारा गृहीत होने पर पुत्र को कहना होता है। यदि नहीं देते हैं तो भोजिक आदि को कहना पड़ता है। यदि वे भय पैदा कर दिला देते हैं तो अच्छा, न दिलाएं तो भी वे ही प्रमाण होते हैं।

४६२८. भोइय उत्तरउत्तर, नेयव्वं जाव पच्छिमो राया।

दाणं विसज्जणं वा, दिद्धमदिट्ठे इमं होइ ॥

पहले भोजिक को, फिर देश के आरक्षक को यावद्

१. देखें—पीठिका गाथा ५५४-५६४ पर्यन्त अनुवाद।

अंतिमरूप में राजा तक बात पहुंचानी चाहिए। वे वह संस्तारक दिला दे अथवा वे कहें—आप विहार कर जाएं। हम संस्तारक को उसके स्वामी को सौंप देंगे। संस्तारक स्तेनक को विनिर्दिष्ट कर लेने पर वे ऐसा कहेंगे अन्यथा यह कहेंगे—

४६२९. खंताइसिद्धुदिते, महतर किच्चकर भोइए वा वि।
देसारक्खियऽमच्चे, करण निवे मा गुरु दंडो॥

पिता आदि को कहे जाने पर भी यदि नहीं देता है तो ग्राममहत्तर—ग्रामप्रधान को कहे। कृत्यकर—ग्रामस्वामी को कहे। वही भोजिक^१ होता है। फिर देश के आरक्षक, अमात्य, फिर न्यायालय में शिकायत करे, परंतु नृप तक न जाए। क्योंकि नृप का गुरुदंड होता है।

४६३०. ए उ दवावेत्ती, अहव भणेज्जा स कस्स दायव्वो।
अमुगस्स ति य भणिए, वच्चह तस्सऽप्पिणिस्सामो॥

ये व्यक्ति वह संस्तारक दिला देते हैं या वे पूछते हैं—वह संस्तारक किसको देना है। अमुक को देना है यह कहने पर वे कहते हैं—आप विहार करें। हम उसे संस्तारक अर्पित कर देंगे।

४६३१. जति सिं कज्जसमत्ती, वयंति इहरा उ घेत्तु संथारं।
दिट्ठे पाते चेवं, अदिट्ठुणाए इमा जयणा॥

यदि उन साधुओं का उस संस्तारक से कार्य समाप्त हो गया हो, मासकल्प पूरा हो गया हो तो भोजिक आदि द्वारा विसर्जित होने पर वे वहां से विहार कर दें अन्यथा दूसरा संस्तारक लेकर रहें। इस प्रकार संस्तारक के दृष्ट होने पर, स्तेन के ज्ञात होने पर विधि बतलाई गई है। अदृष्ट और अज्ञात होने पर यह यतना है।

४६३२. विज्जादीहि गवेसण, अदिट्ठे भोइयस्स व कधंति।
जो भइओ गवेसति, पंते अणुसट्ठिमाईणि॥

विद्या आदि से गवेषणा करनी चाहिए। अदृष्ट और अज्ञात होने पर भोगिक को कहना चाहिए। जो भोगिक भद्रक होता है, वह स्वयं गवेषणा करता है, जो प्रान्त होता है वह गवेषणा नहीं करता। फिर वहां अनुशिष्टि आदि का प्रयोग करना चाहिए।

४६३३. आभोगिणीय पसिणेण देवयाए निमित्ततो वा वि।
एवं नाए जयणा, स च्चिय खंतादि जा राया॥

आभोगिनी विद्या^२ का प्रयोग करना चाहिए। इसके जाप से चोर के मानस का भेद होता है। चोर पहचान लिया जाता है। या अंगुष्ठ प्रश्न आदि से, या क्षपक द्वारा दृष्ट देवता से,

निमित्त से चोर को जान लिया जाता है। इस प्रकार चोर ज्ञात हो जाने पर वही यतना करनी चाहिए जो पिता-पुत्र के विषय में है या अंतिम राजा को निवेदन करना चाहिए।

४६३४. विज्जादऽसई भोयादिकहण केण गहिओ न जाणऽम्हे।
दीहो हु रायहत्थो, भइओ आमं ति मग्गति य॥

विद्या आदि न हों तो भोजिक आदि को कहना चाहिए, हमारा संस्तारक कोई ले गया है, हम नहीं जानते किसने लिया है? राजा का हाथ लंबा होता है। वह यदि गवेषणा करे तो मिल सकता है। जो भोजिक भद्र होता है वह उसे ठीक मानकर उसकी गवेषणा करता है।

४६३५. जाणह जेण हडो सो, कत्थ विमग्गामि णं अजाणंतो।
इति पंते अणुसट्ठी-धम्म-निमित्ताइ तह चेव॥

जो भोजिक प्रान्त होता है, वह कहता है, उस संस्तारक चोर को लाओ। बिना चोर को जाने मैं उसकी खोज कैसे करूं? प्रान्त द्वारा यह कहने पर अनुशिष्टि, धर्मकथा तथा निमित्त आदि का प्रयोग करना चाहिए।

४६३६. असतीय भेसणं वा, भीया वा भोइयस्स व भएणं।
साहित्थ दारमूले, पडिणीय इमेसु वि छुभेज्जा॥

यदि भोजिक न हो तो साधु स्वयं व्यक्तियों को डराते हैं उस भय से स्तेन भयभीत होकर संस्तारक को द्वारमूल पर लाकर रख देता है। जो प्रत्यनीक होता है वह यत्र-तत्र निक्षिप्त कर देता है।

४६३७. भोइयमादीणऽसती, अदवावेत्ते व बिंति जणपुरओ।
मुज्झीहामो सकज्जे, किह लोगमयाइं जाणंता॥

भोगिक आदि के अभाव में, वे संस्तारक नहीं दिला पाते तो साधु लोगों के समक्ष कहते हैं—हम लोकमत को जानते हुए अपने कार्य के प्रति कैसे मूढ़ हो सकते हैं?

४६३८. पेहुणतंदुल पच्चय, भीया साहंति भोइगस्सेते।
साहित्थि साहरन्ति व, दोण्ह वि मा होउ पडिणीए॥

भोगिक अपने आदमियों को कहता है—पेहुणतंदुल को पकाओ। लोग डरकर भोगिक को बता देते हैं कि इस व्यक्ति ने संस्तारक लिया है। भयभीत लोग इस आशंका से कि ये मुनि चोर को पहचान लेंगे। ये राजा को कहेंगे। राजा इनका विश्वास कर लेगा। अतः वे संस्तारक की बात भोगिक को बता देते हैं अथवा उपाश्रय के द्वार पर उसको स्थापित कर चले जाते हैं। अथवा दोनों वर्गों—हमारे या लोगों के प्रत्यनीक न हों, यह सोचकर उस संस्तारक का संहरण कर वहां स्थापित कर देते हैं।

१. भोजिक और भोगिक एक हैं।

२. आभोगिनी नाम विद्या सा भण्यते या परिजपिता सति मानसं परिच्छेदमुत्पादयति। (वृ. पृ. १२५०)

४६३९. पुढ्वी आउक्काए, अगड वणस्सइ-तसेसु साहरइ।

घिनूण य दायव्वो, अदिड्ढ द्दहे य दोच्चं पि॥

कोई प्रत्यनीक साधु उस संस्तारक को सचित्त पृथ्वीकाय पर, अप्काय पर, वनस्पतिकाय पर या त्रस प्राणियों पर अथवा गर्ता में निक्षिप्त कर देता है, इसलिए कि स्वामी वहां से ग्रहण न कर सके। वहां पर निक्षिप्त संस्तारक वहां से ग्रहण करके भी मूल स्वामी को देना चाहिए। गवेषणा करने पर भी न मिला अथवा जला दिया गया—इन दोनों अवस्थाओं में दूसरी बार अवग्रह की अनुज्ञापना लेनी चाहिए।

४६४०. दिट्ठंत पडिहणेत्ता, जयणाए भदतो विसज्जेती।

मग्गंते जयणाए, उवहिग्गहणे ततो विवाओ॥

दृष्टान्त अर्थात् नोदक ने अपनी मति से जो अभिप्राय देखा है उसका निराकरण कर संस्तारक स्वामी के समक्ष यतनापूर्वक यथार्थ बात कहनी चाहिए। बात सुनकर वह भद्रक मुनियों से कहता है—आप जाएं। मैं कुछ भी नहीं कहूंगा। कोई प्रान्त संस्तारक स्वामी हो और वह संस्तारक की मार्गणा करे तो यतनापूर्वक प्रान्त उपधि देकर उसे संतुष्ट करना चाहिए। यदि वह बलपूर्वक सार-उपधि ग्रहण करता है तो राजकुल में विवाद ले जाना चाहिए।

४६४१. परवयणाऽऽउट्टेउं, संथारं देहि तं तु गुरु एवं।

आणेह भणति पंतो, तो णं दाहं ण दाहं वा॥

यहां पर प्रेरक का कथन है कि उस प्रान्त संस्तारक स्वामी को धर्मकथा से अनुकूल करना चाहिए। यदि मुनि उस संस्तारक स्वामी को कहता है कि उस संस्तारक को हमें निर्देजरूप (अप्रत्यर्पणीयरूप) में दे दो। यह माया है। गुरु कहते हैं—इसका प्रायश्चित्त है—चतुर्गुरुक! प्रान्त स्वामी कहता है—वह संस्तारक लाओ, फिर देखूंगा कि उसे दूं या न दूं।

४६४२. दिज्जंतो वि न गहिओ,

किं सुहसेज्जो इयाणि सो जाओ।

हिय नद्धो वा नूणं,

अथक्कजायाइ सूणो॥

मैं उस समय संस्तारक दे रहा था, उस समय आपने लिया नहीं, क्या अब वह सुखशय्या हो गया है। इस अथक्कयांचा—अकालप्रार्थना से यह अनुमान होता है कि वह नष्ट हो गया है अथवा अपहृत हो गया है।

४६४३. भदो पुण अग्गहणं, जाणंतो वा वि विप्परिणमेज्जा।

किं फुडमेव न सीसइ, इमे हु अन्ने वि संथारा॥

जो भद्रक संस्तारक स्वामी होता है वह साधुओं की मायापूर्ण प्रवृत्ति से विपरिणत होकर अग्रहण—अनादर करता

है। वह जानता है कि संस्तारक हृत या नष्ट हो गया है। परंतु मुनियों द्वारा माया किए जाने पर वह विपरिणत हो जाता है और कहता है—आप स्पष्टतया हमें क्यों नहीं कहते कि संस्तारक हृत या नष्ट हो गया है? मायापूर्वक याचना क्यों करते हैं? ये तथा अन्य संस्तारक भी हैं।

४६४४. इह चोयगदिट्ठंतं, पडिहंतुं सिस्सते से सम्भावो।

भदो सो मम नद्धो, मग्गामि न तो पुणो दाहं॥

इस प्रकार नोदक दृष्टान्त अर्थात् पराभिप्राय का खंडन कर संस्तारक स्वामी को सद्भाव का कथन करते हैं। भद्रक तब कहता है—वह संस्तारक मेरा नष्ट हुआ है, आपका नहीं। आज से मैं उसे नहीं मांगूंगा। यदि वह मिल गया तो मैं उसे पुनः आपको ही दूंगा।

४६४५. तुब्भे वि ताव मग्गह, अहं पि झोसेमि मग्गह व अन्नं।

नद्धे वि तुब्भऽणद्धा, वदंति पंतोऽणुसद्धादी॥

वह कहता है—आप भी उसकी खोज करें। मैं भी 'झोसेमि' अन्वेषण कर रहा हूं। आपको संस्तारक का प्रयोजन भी है, इसलिए आप दूसरा संस्तारक ले लें। प्रान्त कहता है, आप कहते हैं हमारा संस्तारक नष्ट नहीं हुआ है, परंतु उस संस्तारक को लाएं या उसका मूल्य चुकाएं। तब प्रान्त के प्रति अनुशिष्टि आदि का प्रयोग करना चाहिए।

४६४६. मोल्लं णत्थऽहिरण्णा, उवधिं मे देह पंतदायणया।

अन्नं व देंति फलगं, जयणाए मग्गिउं तस्स॥

तब कहे—हम अहिरण्य हैं। हमारे पास मूल्य नहीं है। वह कहता है—मुझे उपधि दो। तब उसे उस साधु के अन्त-प्रान्त उपधि बताने चाहिए। अन्य फलक यतनापूर्वक लाकर देना चाहिए।

४६४७. सव्वे वि तत्थ रुंभति, भदो मुल्लेण जाव अवरण्हे।

एणं ठवेउ गमणं, सो वि य जावऽड्ढमं काउं॥

कोई समर्थ हो तो वह सभी साधुओं को रोक देता है। जो कोई भद्रक श्रावक मूल्य देकर छुड़ाता है तो उसका प्रतिषेध नहीं करना चाहिए। यदि मुक्त नहीं करता है तो अपराह तक सभी मुनि वहीं रहे। यदि नहीं छोड़ता है तो एक क्षपक को वहां रखकर सभी चले जाएं। ऐसे को वहां स्थापित करना चाहिए जो अष्टम कर सकता है। वह अष्टम कर चला जाता है।

४६४८. लद्धे तीरियकज्जा, तस्सेवऽप्पेति अहव भुंजंति।

पभुलद्धे वऽसमत्ते, दोच्चोग्गह तस्स मूलाओ॥

संस्तारक प्राप्त हो जाने पर मुनि का प्रयोजन समाप्त हो जाता है। वे उस संस्तारक के मूल स्वामी को अर्पित कर देते हैं। अथवा उस संस्तारक का उपभोग करते हैं। जब

संस्तारक स्वामी को वह संस्तारक प्राप्त हुआ हो, साधुओं का कार्य अभी तक असमाप्त है तो दूसरी बार अवग्रह की अनुज्ञापना दी जाती है। यह सूत्रोक्त द्वितीय अवग्रह है।

४६४९. बितियं पभुनिव्विसए, णडुडिय सुन्न मयमणप्पज्जे।

असहू य रायदुट्टे, बोहिकभय सत्थ सीसे वा॥

यहां अपवादपद यह है—संस्तारक स्वामी को राजा ने देश से निकाल दिया, देश नष्ट हो गया, दुर्भिक्ष हो गया, घर शून्य कर कहीं चला गया, मर गया हो, साधु खोजने में असमर्थ हो, राजद्विष्ट हो गया हो, बोधिक भय, या अध्वशीर्षक—अटवी के कारण सार्थ के वशीभूत हो गया हो—इन कारणों से वह मुनि संस्तारक की गवेषणा नहीं करता, वह प्रायश्चित्त का भागी भी नहीं होता।

ओग्गह-पदं

जह्विसं समणा निग्गंथा सेज्जा-
संधारयं विप्पजहंति, तह्विसं अवेरे
समणा निग्गंथा हव्वमागच्छेज्जा, सच्चेव
ओग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठइ—
अहालंदमवि ओग्गहे॥

(सूत्र २८)

४६५०. उग्गह एव उ पगतो, सागारियउग्गहाउ साहम्मि।

रहितं व होइ खित्तं, केवतिकालेस संबंधो॥

प्रस्तुत सूत्र में अवग्रह ही प्रस्तुत है। पूर्वसूत्रद्वय में सागारिक अवग्रह कथित है। प्रस्तुत में सागारिक अवग्रह के अनन्तर साधर्मिक अवग्रह कहा जा रहा है। अथवा पूर्वसूत्र में यह कहा गया है कि संस्तारक को संभला कर विहार करना चाहिए, यहां यह प्रतिपाद्य है कि साधुओं के विहार कर देने पर भी वह साधुओं से विरहित क्षेत्र कितने समय तक अवग्रहयुक्त होता है, यह निरूपित है। यही पूर्वसूत्र से संबंध है।

४६५१. सुत्त-उत्थ-तदुभयविसारए य खमए य धम्मकहि वाई।

कालदुअम्मि वसंते, उवसंतो स-अण्णगामजणो॥

सचित्त विषयक अवग्रह (शैक्ष विषयक) की उत्पत्ति—किसी क्षेत्र में साधु दोनों कालों—ऋतुबद्ध और वर्षावास में रहते हैं। स्वग्रामजन या अन्यग्रामजन उनके प्रवचनों से उपशांत—प्रतिबुद्ध होते हैं। क्योंकि सूत्र, अर्थ और तदुभय के विशारद आचार्य विशिष्ट व्याख्यान करते हैं। कोई क्षपक, तपस्या करता है। कोई धर्मकथी धर्मकथा करता है। कोई

वादी मुनि दूसरे वादी का निग्रह करता है। इस प्रकार के उपक्रमों से प्रभावित होकर प्रव्रज्या के लिए प्रस्तुत होते हैं।

४६५२. नीरोगेण सिवेण य, वासावासासु णिग्गया साहू।

अण्णे वि य विहरंता, तं चेव य आगया खित्तं॥

कई मुनि स्वस्थ रहकर, बिना किसी उपप्लव के वर्षावास बिता कर उस क्षेत्र से विहार कर देते हैं। अन्य मुनि भी विहार करते हुए उसी क्षेत्र में आ गए। ऐसी स्थिति में अवग्रह का चिंतन होता है।

४६५३. खित्तोग्गहप्पमाणं, तह्विसं केति केतउहोरत्तं।

जं वेल णिग्गयाणं, तं वेलं अण्णदिवसम्मि॥

कुछ आचार्य क्षेत्रावग्रह का कालप्रमाण इस प्रकार बताते हैं—जिस दिन साधु गए, वही एक दिन। कुछ आचार्य अहोरात्र तक अवग्रह। आचार्य कहते हैं—ये दोनों अनादेश हैं। विधि यह है—जिस वेला में वे गए, दूसरे दिन उसी वेला तक उनका अवग्रह रहता है।

४६५४. खेत्तम्मि य वसहीय य, उग्गहो तहिं सेहमग्गणा होइ।

ते वि य पुरिसा दुविहा, रूवं जाणं अजाणं च॥

अवग्रह क्षेत्रसंबंधी भी होता है और वसति संबंधी भी होता है। वहां शैक्ष की मार्गणा होती है। उस क्षेत्र में प्रव्रजित होने वाले पुरुष दो प्रकार के होते हैं—एक प्रकार के पुरुष वे होते हैं जो रूप को जानते हैं (पहचानते हैं), और एक प्रकार के वे पुरुष होते हैं, जो रूप को नहीं जानते।

४६५५. जाणंतमजाणंता, चउव्विहा तत्थ होंति जाणंता।

उभयं रूवं सद्दं, चउत्थओ होइ जसकित्तिं॥

शैक्ष दो प्रकार के होते हैं—जानने वाले और नहीं जानने वाले। जानने वाले चार प्रकार के होते हैं—एक शैक्ष विवक्षित क्षेत्र में स्थित आचार्य के रूप और शब्द—दोनों को जानता है, दूसरा रूप को जानता है शब्द को नहीं, तीसरा न शब्द को जानता है और न रूप को, चौथा उनकी यश-कीर्ति को जानता है।

४६५६. उच्चार-चेइगातिसु, पासति रूवं विणिग्गयस्सेगो।

रत्तिं उर्वित णित्तो, कासगमादी सुणति सद्दं॥

४६५७. चउत्थो पुण जसकित्तिं,

सुणेइ सग्गाम-वसभवासी वा।

उभयं रूवं सद्दं,

कित्तिं च ण जाणते चरिमो॥

वास्तव्य शैक्ष पांच प्रकार के होते हैं—

१. आचार्य उच्चारभूमी तथा चैत्यवंदन आदि के लिए बाहर जाते हैं, तब वह उनके रूप को देखता है, शब्दों से उनको नहीं जानता।

२. दूसरा शैक्ष भी उनको रूप से जानता है, शब्द से नहीं, क्योंकि वह कभी उपाश्रय में नहीं जाता।
३. तीसरे प्रकार का शैक्ष कोई कृषक है। वह पूरा दिन अपने खेत में बिताता है और रात्री में लौटते समय अथवा प्रभात में पुनः खेत में जाते समय शब्द सुनता है, परन्तु वह रूप से परिचित नहीं होता।
४. चौथे प्रकार का शैक्ष स्वग्राम में रहता हुआ अथवा प्रतिवृषभ ग्राम में रहता हुआ न रूप से और न शब्द से परिचित होता है, परन्तु वह आचार्य की यशःकीर्ति को सुनता है, उससे वह परिचित होता है।
५. पांचवें प्रकार का शैक्ष वह होता है जो न रूप को जानता है, न शब्द को जानता है और न यशःकीर्ति को जानता है, परन्तु वह घर से निर्विण्ण होकर प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहता है।

४६५८. वायाहडो वि एवं, पंचविहो होइ आणुपुवीए।
एएसिं सेहाणं, पत्तेयं मग्गणा इणमो॥

वाताहत शैक्ष अर्थात् आगंतुक शैक्ष भी क्रमशः पांच प्रकार के होते हैं। इन दसों प्रकार के शैक्षों की, प्रत्येक की, इन द्वारों से मार्गणा-विचारणा होती है।

४६५९. अब्वाघाए पुणो दाइं, जावज्जीव पराजिए।
पढम-बिइयदिवसेसुं, कहं कप्पो उ जाणते॥

४६६०. जाणाविए कहं कप्पो, वत्थव्वे वाताहडे ति य।
उज्जू अणुज्जुए या वि, कहं कप्पोऽभिधारणे॥

४६६१. एगग्गामे अतिच्छंते, कहं कप्पो विहिज्जते।
दुविहा मग्गणा सीसे, एगविहा य पडिच्छए॥

४६६२. पडिसेहियवच्चंते, कहं कप्पो विहिज्जइ।
संगारदिण्णते यावि, कहं कप्पो विहिज्जइ॥

द्वार इन चार गाथाओं में कथित हैं-अव्याघात, पुणो दाइं-जब वे साधु पुनः आयेंगे तब प्रव्रज्या लूंगा, यावज्जीवन पराजित, पहले और दूसरे दिन प्रव्रज्या के लिए उपस्थित ज्ञायक शैक्ष के लिए किस प्रकार से कल्प-विधि होती है। वास्तव्य और वाताहत शैक्ष जो आचार्य के नाम को जानते हैं, उनका कल्प क्या है? ऋजु आचार्य वह होता है जो इन शैक्षों को पूर्व साधुओं के समीप भेज देता है। इससे विपरीत होता है अऋजु आचार्य। शैक्ष एक या अनेक साधुओं से प्रव्रज्या-ग्रहण के लिए अभिधारणा कर जाता है तो वहां आभाव्य, अनाभाव्य की विधि क्या है?

किसी ग्राम में क्षेत्रिक साधु हैं। वहां किसी धर्मकथी ने

किसी को प्रव्रजित किया। वह किसका आभाव्य होगा? वहां शिष्य विषयक दो प्रकार की मार्गणा होती है-सज्ञातक और असज्ञातक। प्रतीच्छक शिष्य विषयक मार्गणा एक प्रकार की होती है-सज्ञातक विषयक। भगवान् द्वारा प्रतिषिद्ध शैक्ष को प्रव्रजित कर अन्यत्र प्रेषित करने पर क्या विधि है? संकेतदत्त शैक्ष के लिए क्या विधि होती है?

(इन सारे तथ्यों का विस्तार से वर्णन आगे की गाथाओं में।)

४६६३. चत्तारि णवग जाणंतग्गम्मि जाणाविए वि चत्तारि।
अभिधारणम्मि एए, खित्तम्मि विपरिणया वा वि॥

इससे पूर्व चार प्रकार के ज्ञायक शैक्ष बताए गए हैं। (रूप, शब्द आदि को जानने वाले)। प्रत्येक चार प्रेषण विषयक होने पर नवक हो जाते हैं। जो शैक्ष नहीं जानता, उसको साधु कहते हैं-तुम हमारे आभाव्य नहीं हो, किन्तु पूर्व साधुओं के आभाव्य हो, इस प्रकार ज्ञापित होने पर भी चार नवक होते हैं। अभिधारण का अर्थ है-मन में करना। यदि क्षेत्रिक आचार्य को मन में करके ये अव्याघात आदि शिष्य आते हैं और वे विपरिणत होने पर भी क्षेत्रस्वामी के ही आभाव्य होते हैं।

४६६४. पियमप्पियं से भावं, वडुं पुच्छित्तु तस्स साहंति।
कत्थ गता ते भगवं, पुट्ठा व भणंति किं तेहिं॥

क्षेत्रवासी मुनि विहार कर गए और दूसरे मुनि वहां आ गए। कोई उभयज्ञ शैक्ष प्रव्रजित होने की इच्छा से वहां आता है। साधु उसके प्रिय-अप्रिय भावों को देखकर पूछते हैं। वह सारी बात बताता है। वे कहते हैं-वे साधु तो विहार कर गए। वह पूछता है-कहां गए हैं वे? ऐसा पूछने पर वे साधु कहते हैं-उनसे तुम्हारा क्या प्रयोजन है? तब वह कहता है-
४६६५. पव्वइहं ति य भणिते, अमुगत्थ गया वयं ति दिक्खेउं।

तेसि समीवं णेमो, ण य वाहणते तयं सो य॥

मैं दीक्षा लेना चाहता हूँ। तब वे मुनि कहते हैं-वे साधु तो अमुक गांव में चले गए। हम तुमको प्रव्रजित कर उनके पास ले जायेंगे। वह उनके इस वचन का खंडन नहीं करता, उसको स्वीकार कर लेता है। यह अव्याघात का उदाहरण है।

४६६६. संघाडग एगेणं, पंधुवएसे व मुंडिए तिण्णि।
इइ तरुण मज्झ थेरे, एक्केके तिन्नि नव एते॥

वे मुनि उसे दीक्षित कर एक संघाटक के साथ क्षेत्रिकों के पास भेज देते हैं। यदि संघाटक न हो तो एक साधु के साथ उसे भेजते हैं। यदि यह भी संभव न हो तो उसे अकेले मार्ग

१. गाथा ४६५६ तथा ४६५७ में पांच प्रकार के शैक्ष बताए गए हैं। उनमें प्रथम चार ज्ञायक होते हैं।

का उपदेश देकर भेज देते हैं। ये तरुण मुनि के तीन प्रकार हैं। मध्यम और स्थविर मुनियों के भी ये ही तीन-तीन प्रकार होते हैं। ये कुल मिलाकर नौ हो जाते हैं। यह पहला नवक है।

४६६७. पढमदिणे सग्गामे, एगो णवगो बितिज्जए बितिओ।

एमेव परग्गामे, पढमे बितिए य बे णवगा॥

यह प्रथम नवक प्रथम दिन स्वग्राम में प्रव्रजित कर भेजने पर होता है। दूसरे दिन इसी प्रकार दूसरा नवक। इस प्रकार स्वग्राम में दो नवक होते हैं। इसी तरह परग्राम में भी दो नवक होते हैं। अतः ये चार नवक मुंडित कर भेजने पर होते हैं।

४६६८. एमेव अमुंडिस्स वि, चउरो णवगा हवंति कायव्वा।

एमेव य इत्थीण वि, णवगाण चउक्कगा दुण्णि॥

इसी प्रकार अमुंडित कर भेजने पर भी चार नवक होते हैं। इस प्रकार ये दो नवक-चतुष्टय पुरुषों के कहे गए हैं। स्त्रियों के भी दो नवक चतुष्टय कर्तव्य हैं। यदि क्षेत्रिकों के पास न भेजकर स्वयं स्वीकार करते हैं तो उसका प्रायश्चित्त है चतुर्गुरुक।

४६६९. सागारियसंकाए, णिच्छति धिच्छंति वा सयं मा मे।

ते व अददुं पुणरवि, पच्चेहममुंडितो एवं॥

शैक्ष अपने गांव में प्रव्रज्या ग्रहण करना इसलिए नहीं चाहता कि सागारिक-सज्ञातकों की उसे आशंका रहती है कि कहीं वे उसे उत्प्रव्रजित न कर दें। अथवा ये मुनि मुझे प्रव्रजित कर अपने ही पास न रख लें। यदि मैं उन साधुओं को न देख लूं तो मैं पुनः प्रत्यागमन कर लूंगा—इन सारे कारणों से वह अपने आपको मुंडित नहीं करता। अतः अमुंडित को भेजते हैं।

४६७०. एसेव य णवगकमो, सइं रूवं व होइ जाणंते।

जो पुण किंति जाणति, ण ते बयं सिस्सते तस्स॥

जो शैक्ष शब्द या रूप को जानता है उसके प्रति ही यह नवक का क्रम होता है। जो शैक्ष केवल कीर्ति को जानता है उसे वे मुनि कहते हैं—हम नहीं जानते कि तुम किसके पास प्रव्रजित होना चाहते हो।

४६७१. किं व न कप्पइ तुब्भं, दिक्खेउं तेसि तं ण अहं ति।

तत्थ वि सो चेव गमो, णवगाणं जो पुरा भणितो॥

तब वह शैक्ष कहता है—क्या आपको प्रव्रज्या देना नहीं कल्पता? तब वे साधु कहते हैं—तुम उनके ही आभाव्य हो, हमारे नहीं। तब वह कहता है—यदि ऐसा है तो आप मुझे

प्रव्रज्या देकर वहां भेज दें अथवा अमुंडित ही मुझे विसर्जित कर दें। इसमें भी वही क्रम है, जो पूर्व में नवक विषयक कहा गया है।

४६७२. विप्परिणया वि जति ते, अम्हे तुज्झं भणंतऽलं तेहिं।

तह वि य ण वि ते तेसिं, अब्वाहयमादिया होंति॥

वे अव्याघात से वाताकृत पर्यन्त शैक्ष पूर्व साधुओं से विपरिणत होकर कहते हैं—हम आपके पास प्रव्रज्या ग्रहण करेंगे, पूर्व साधुओं से अब कोई प्रयोजन नहीं। ऐसा कहने पर भी वे सारे अव्याघात आदि शैक्ष उनके नहीं होते, वे पूर्व साधुओं के ही आभाव्य होते हैं।

४६७३. एहिंति पुणो दाइं, पुट्टे सिद्धंसि इयं भणमाणा।

बहुदोसे माणुस्से, अणुसासण णवग तह चेव॥

शैक्ष आगतुक साधुओं के पास आकर पूछते हैं—वे साधु कहां गए? अमुक गांव में गए हैं, ऐसा कहने पर वे कहते हैं—वे पुनः यहां आएंगे तब हम उनके पास दीक्षित हो जायेंगे। इस प्रकार कहने पर उनको कहना चाहिए—मनुष्य जन्म बहुत अंतराय वाला है। प्रमाद मत करो। इस प्रकार अनुशासन कर नवक के प्रकार से उनको प्रेषण करना चाहिए।

४६७४. जं कल्ले कायव्वं, णरेण अज्जेव तं वरं काउं।

मच्चू अकलुणहिअओ, न हु दीसइ आवयंतो वि॥

वे साधु उन शैक्षों को कहते हैं—मनुष्य को जो कल करना है, उसे आज ही करना श्रेष्ठ है। मृत्यु करुणाहीन हृदयवाली होती है, वह कब-कैसे आती है, किसी को दिखाई नहीं देती।^१

४६७५. तूरह धम्मं काउं, मा हु पमायं खणं पि कुब्बित्था।

बहुविग्घो हु मुहुत्तो, मा अवरणं पडिच्छाहि॥

भव्य प्राणियो! धर्म करने के लिए जल्दी करो। क्षणभर के लिए प्रमाद मत करो। मुहूर्त्तमात्र भी विघ्न बहुल होता है। इसलिए प्रव्रज्या आदि के लिए अपराह्न की भी प्रतीक्षा मत करो।

४६७६. बहुसो उवड्डियस्सा, विग्घा उट्ठित्ति जज्जिय जितो मि।

अणुसासण पत्थवणं, णवगा य भवे समुंडिये॥

कोई शैक्ष कहता है—मैं अनेक बार प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए उपस्थित हुआ। परंतु नए-नए विघ्न उपस्थित होते रहे। मैं यावज्जीवन विघ्नों से पराजित होता रहा हूं। उसे अनुशासन-शिक्षा देनी चाहिए कि भद्र! अब तेरे चरित्र के आवारक कर्मों का अनुदय है। शीघ्रता से दीक्षा ले लो। क्षेत्रिक आचार्य का इन्तजार मत करो। यह कहकर प्रस्थापना

१. श्वःकार्यमद्य कुर्वीत, पूर्वाह्ने अपराह्निकम्।

को हि तद्वेत्ति कस्याद्य, मृत्युसेनाऽपतिष्यति॥ (वृ. पृ. १२६०)

करनी चाहिए। इसमें मुंडित और इतर—प्रत्येक के चार नवक होते हैं।

४६७७. वाताहडे वि णवगा, तहेव जाणाविए य इयरे य।
एमेव य वत्थव्वे, णवगाण गमो अजाणंते।

वाताहत शैक्ष दो प्रकार के होते हैं—ज्ञापित और इतर। जो क्षेत्रिक साधुओं की यशःकीर्ति को भी नहीं जानता उसे आगंतुक साधु कहते हैं—तुम हमारे आभाव्य नहीं हो। जो यहां से विहार कर गए उनके आभाव्य हो। इस प्रकार यथार्थ बात कहने पर वह ज्ञापित कहलाता है। इतर अर्थात् यशःकीर्तिज्ञ। इनमें भी नवक होता है और वास्तव्य शैक्ष भी जो क्षेत्रिकों की यशःकीर्ति को नहीं जानता उसमें भी नवकों का प्रकार जानना चाहिए।

४६७८. वत्थव्वे वायाहड, सेवग परतित्थि वणिय सेहे य।
सव्वेते उज्जुगो अप्पिणाइ मेलाइ वा जत्थ॥

वास्तव्य या वाताहत शैक्ष जो राजकुल का सेवक हो, जो परतीर्थिक हो या वणिक हो—ये गुरु की यशःकीर्ति को नहीं जान पाते। जो आगंतुक आचार्य ऋजु होते हैं वे इन सबको क्षेत्रिक आचार्य को अर्पित कर देते हैं या जहां वे होते हैं वहां इनको प्रेषित कर देते हैं।

४६७९. माइल्ले बारसगं, जाणग जाणाविए य चत्तारि।
वत्थव्वे वायाहड, ण लभति चउरो अणुग्घाया॥

जो मायावी होता है, वह नहीं भेजता। उसके बारह प्रकार आगे बताए जायेंगे। ज्ञायक और ज्ञापित को समुदित करने पर चार प्रकार होते हैं। वास्तव्य और वाताहत शैक्ष को न भेजने पर चार अनुद्घातमास का प्रायश्चित्त है।

४६८०. सत्तरत्तं तवो होती, ततो छेदो पहावई।
छेदेण छिण्णपरियाए, तओ मूलं तओ दुगं॥

सात दिनों तक तप, उसके पश्चात् छेद, छेद के द्वारा अच्छिन्न पर्यायवाले मुनि को मूल, तदनन्तर द्विक अर्थात् अनवस्थाप्य और पारांचिक प्रायश्चित्त का विधान है।

४६८१. तरुणे मज्झिम थेरे, तद्दिण बितिए य छक्कगं इक्कं।
एमेव परग्गामे, छक्कं एमेव इत्थीसु॥

४६८२. पुरिसित्थिगाण एते, दो बारसगा उ मुंडिए होति।
एमेव य ससिहम्मि थ, जाणग जाणाविए भयणा॥

तरुण, मध्यम और स्थविर—प्रत्येक को उस दिन या दूसरे दिन न भेजने पर एक प्रकार का षट्क होता है। यह स्वग्रामविषयक है। परग्राम विषयक भी यही षट्क है। सभी बारह प्रकार के षट्क पुरुष विषयक है तथा स्त्रीविषयक भी बारह प्रकार के षट्क होते हैं। ये दो द्वादशक पुरुष और स्त्रीयों के मुंडित विषय में होते हैं। इसी प्रकार शिखावाले

शैक्ष के भी दो द्वादशक होते हैं। उनमें भी ज्ञायक और ज्ञापित—प्रत्येक के विकल्प करने पर चार द्वादशक होते हैं।

४६८३. अव्वाहए पुणो दातिं, जावज्जीवपरादिए।
तद्दिण बीयदिणे या, सग्गामियरे य बारसहा॥

अव्याहत, पुनः आने पर प्रव्रजित होऊंगा तथा यावज्जीव-पराजित—ये तीनों प्रकार के शैक्षों को उस दिन या दूसरे दिन न भेजन के छह प्रकार होते हैं। स्वग्राम और परग्राम के कारण बारह प्रकार के होते हैं।

४६८४. जाणंतमजाणंते, णेइ व पेसेइ वा अमाइल्लो।
सो चेव उज्जुओ खलु, अणुज्जुतो जो ण अप्पेति॥

जो अमायावी आचार्य होता है वह जानता हुआ या न जानता हुआ शैक्षों को क्षेत्रिकों के पास ले जाता है या उनको भेजता है। वही ऋजुक कहलाता है। अऋजु वह है जो न उन शैक्षों को क्षेत्रिक मुनियों को अर्पित करता है और न उनको वहां भेजता है।

४६८५. तुब्भ च्चिय णीसाए,

मि आगतो दिक्खितो बला णेहिं।

अम्हे किमपव्वइया,

पुट्ठा व ण ते परिकहेंसु॥

कहीं क्षेत्रिक आचार्य मिलने पर वे शैक्ष को पूछते हैं—तुमने प्रव्रज्या कहां—कैसे ली? वह कहता है—मैं तो आपकी निश्रा में ही आया था। परन्तु इन मुनियों ने मुझे बलात् दीक्षित कर दिया। इन्होंने कहा—क्या हम प्रव्रजित नहीं जो तुम उनको पूछते हो, अथवा बिना पूछे वे कुछ नहीं कहते।

४६८६. वायाहडो तु पुट्ठो, भणाइ अमुगदिण अमुगकालम्मि।
एतेहिं दिक्खितोऽहं, तुम्हे वि सुणामि तत्थाऽऽसी॥

वाताहत शैक्ष को पूछने पर कहता है—अमुक दिन और अमुककाल में मैं इनके द्वारा दीक्षित हुआ। दीक्षित होने के पश्चात् सुना कि आप भी वहीं थे।

४६८७. एमेव य जसकित्तिं, जाणंतो जो य तं ण जाणाति।
तस्स वि तहेव पुच्छा, पावयणी वा जदा जातो॥

इस प्रकार यशःकीर्ति को जानने वाले शैक्ष अथवा नहीं जानने वाले शैक्ष को पूछने पर ही ज्ञात होता है। जब यह प्रावचनिक बहुश्रुत हुआ तब स्वतः जान लेता है कि यह शैक्ष हमारा आभाव्य नहीं है।

४६८८. एमेव य अच्चित्ते, दुविहे उवधिम्मि मीसते चेव।
पुच्छा अपुव्वमुवहिं, ददूण अणुज्जुभूयाणं॥

पूर्व में सचित्त शैक्ष विषयक विधि बतलाई गई है। इसी प्रकार अचित्त के दो भेद हैं—ओघोपधियुक्त तथा औपग्रहोपधियुक्त। इन उपधियों से मिश्रक होने पर सोपधिक

शैक्ष कहा जाता है। अपूर्व उपधियुक्त शैक्ष को देखकर, अऋजु आचार्य पूछते हैं—कब-कहां तुम क्षेत्रिक आचार्य को प्राप्त कर सकोगे ?

४६८९. एवं वासावासे, उडुबद्धे पंथे जत्थ वा ठाति।
सव्वत्थ होति उग्गहो, केसिंचि पतीवदिडुंतो॥

यह वर्षावास या ऋतुबद्धकाल की सचित्त विषयक विधि जाननी चाहिए। अचित्त विषयक विधि यह है—वर्षावास, ऋतुबद्धकाल, मार्गगमन में, जहां आचार्य ठहरते हैं, वहां सर्वतः सक्रोशयोजन का अवग्रह होता है। कुछ आचार्य मानते हैं कि मार्ग में जाते समय पृष्ठतः अवग्रह नहीं होता। यह अनादेश है। यहां प्रदीप का दृष्टांत वक्तव्य है। प्रदीप सभी दिशाओं को प्रकाशित करता है, इसी प्रकार अवग्रह भी सर्वतः होता है।

४६९०. अक्खित्ते वसधीए, जाणम जाणाविए वि एमेव।

उज्जुगमणुज्जुगे या, सो चेव गमो हवइ तत्थ॥

अक्षेत्र अर्थात् इन्द्रकीलादियुक्त नगर में सक्रोश योजन का अवग्रह नहीं होता। वहां जिस वसति में जो मुनि स्थित होते हैं, वहां जो सचित्त आदि आता है वह उनका आभाव्य होता है, पश्चात् आने वालों का नहीं। जो गम क्षेत्र विषयक कहा है वही गम ज्ञायक, ज्ञापित, ऋजुक, अऋजुक विषयक जानना चाहिए।

४६९१. अणिदिट्ठ सण्णऽसण्णी,

गहिता-गहिए य ओह सच्छंदो।

णिदिट्ठ लिंगसहितो,

सण्णी तस्सेव णऽण्णस्स॥

अभिधारण का अर्थ है—प्रब्रज्या के लिए आचार्य का मन में संकल्प करना। उसके दो प्रकार हैं—निर्दिष्ट और अनिर्दिष्ट। अभिधारक के दो प्रकार हैं—संज्ञी और असंज्ञी। प्रत्येक के दो-दो प्रकार हैं—गृहीतलिंग और अगृहीतलिंग। इस प्रकार सारा ओघतः स्वच्छंद आभाव्य होता है। जिसके पास प्रब्रजित होता है उसी का आभाव्य होता है। निर्दिष्ट अभिधारण का अर्थ है—अमुक आचार्य के पास मैं प्रब्रजित होऊंगा, ऐसा निर्देश करना। यह भी दो प्रकार का है—संज्ञी और असंज्ञी। प्रत्येक के दो-दो प्रकार हैं—लिंगसहित और लिंगरहित। जिस लिंगसहित संज्ञी धर्माचार्य को अभिधारण कर चलता है, वह उसीका आभाव्य होता है, दूसरे का नहीं।

४६९२. निदिट्ठे अस्सण्णी, गहिया-ऽगहिए य अगहिए सण्णी।

तस्सेव अविपरिणते, विपरिणते जस्स से इच्छा॥

जो असंज्ञी गृहीतलिंग हो या अगृहीतलिंग, जो संज्ञी—श्रावक हो—ये तीनों अविपरिणत भाव से किसी निर्दिष्ट

आचार्य की अभिधारणा करते हैं वे उसी के आभाव्य होते हैं। उसके प्रति उनका भाव विपरिणत हुआ है, जिसके पास वे प्रब्रज्या लेना चाहते हैं, उसीके वे शिष्य होते हैं।

४६९३. चारिय-समुदाणट्ठा, तेणग गिहिपंत धम्मसट्ठा वा।

एहं लिंगसहितो, सण्णी व सिया असण्णी वा॥

वे लिंगसहित इसलिए जाते हैं कि चारिक-गुमचारों को उनके प्रति शंका न हो तथा समुदान-भिक्षा की कठिनाई न हो। अपान्तराल में स्तेन, गृहिप्रान्त, धर्म-श्रद्धालु आदि है तो संज्ञी या असंज्ञी लिंगसहित जाता है।

४६९४. णेगा उद्दिस्स गतो, लिंगेणऽष्फालितो तु एक्केणं।

दडुं च अचक्खुस्सं, णिदिट्ठणं गतो तस्स॥

अनेक आचार्यों को उद्दिष्ट कर लिंगसहित गया। एक आचार्य ने उसे आस्फालित—सादर आमंत्रित किया और वह यदि उसके पास गया तो वह उसी का शिष्य हो गया। अभावित होने पर भी अचक्षुष्य—अनिर्दिष्ट को देखकर निर्दिष्ट की भांति अन्य को प्राप्त होता है तो वह उसी का आभाव्य हो जाता है।

४६९५. निदिट्ठमणिदिट्ठं, अब्भुवगय लिंगि नो लभइ अण्णो।

लिंगी व अलिंगी वा, स च्छदेण अणिदिट्ठो॥

निर्दिष्ट अथवा अनिर्दिष्ट आचार्य की अभिधारणा कर लिंगसहित शैक्ष जाता है, वह उसी का आभाव्य होता है। अन्य को वह प्राप्त नहीं होता। जो अनिर्दिष्ट की अभिधारणा करता है, वह लिंगी हो या अलिंगी वह जिसको चाहता है उसी का आभाव्य होता है।

४६९६. एमेव असिहसण्णी,

णिदिट्ठस्सुवगतो ण अण्णस्स।

अब्भुवगतो वि ससिहो,

जस्सिच्छति दो व अस्सण्णी॥

इसी प्रकार अशिखाक संज्ञी भी निर्दिष्ट का आभाव्य होता है, दूसरे का नहीं। जो सशिखाक संज्ञी है, वह किसी आचार्य के पास गया परन्तु बाद में विपरिणत हो गया तो जिसके पास प्रब्रज्या लेना चाहता है, उसीका आभाव्य होता है। सशिखाक और अशिखाक दोनों असंज्ञी हैं उन्होंने किसी आचार्य के पास प्रब्रज्या ग्रहण करने की स्वीकृति दी, परन्तु बाद में विपरिणत होकर, स्वच्छंदरूप से जहां प्रब्रज्या ग्रहण करते हैं, उसीके वे आभाव्य होते हैं।

४६९७. निदिट्ठ सन्नि अब्भुवगतेतरे अट्ठ लिंगिणो भंगा।

एवमसिहे वि ससिहे, वि अट्ठ सव्वे वि चउवीसं॥

कोई संज्ञी—श्रावक किसी आचार्य को निर्दिष्ट कर प्रब्रज्या के लिए जाता है। इन तीन पदों तथा इतर अर्थात्

प्रतिपक्ष पदों के आधार पर आठ विकल्प होते हैं। इसी प्रकार सशिखाक और अशिखाक के भी आठ-आठ विकल्प होते हैं। सभी विकल्पों को मिलाने पर २४ विकल्प हो जाते हैं।

४६९८. पढम-बिति-ततिय-पंचम-सत्तम-नव-तेरसेसु भंगेसु।
विपरिणतो वि तस्सेव होइ सेसेसु सच्छंदो॥

इन विकल्पों में पहला, दूसरा, तीसरा, पांचवां, सातवां, नौवां और तेरहवें विकल्प में विपरिणत होने पर भी जिस आचार्य को निर्दिष्ट कर आया है, जिसको वह प्राप्त हुआ है, उसी का आभाव्य होता है। शेष विकल्पों—चौथे, छठे, आठवें, दसवें, ग्यारहवें, बारहवें, चौदहवें से चौबीसवें विकल्प पर्यन्त—अर्थात् इन सतरह विकल्पों में, उसकी अपनी इच्छा है, जिसको वह चाहता है, उसीका आभाव्य होता है।

४६९९. सव्वो लिंगी असिहो,

य सावतो जस्स अब्भुवगतो सो।

णिद्धिसणिलिंगी,

तस्सेवाणब्भुवगतो वि॥

सभी लिंगी, सशिखाक श्रावक जिसके पास गया है, उसी के ये आभाव्य होते हैं। लिंगसहित अभ्युपगत है, वह निर्दिष्ट या अनिर्दिष्ट संज्ञी या असंज्ञी हो—ये सारे जिसके पास अभ्युपगत हैं, उसी के आभाव्य होते हैं।

४७००. अस्सन्नी उवसमितो, अप्पणो इच्छाइ अण्णहिं तस्स।

दड्ढुणं च परिणए, उवसामिते जस्स वा खित्तं॥

किसी धर्मकथी ने एक मिथ्यात्वी को प्रव्रज्याभिमुख किया। वह क्षेत्र यदि अन्य आचार्य का हो तो उसकी अपनी इच्छा से वह आभाव्य होता है। क्षेत्र के बाहर उपशांत—प्रव्रज्याभिमुख होने पर वह उस उपशांत करने वाले का आभाव्य होता है। वह किसी को देखकर स्वयं उपशांत हुआ है, वह उनका आभाव्य होता है। अथवा वह जिसका क्षेत्र हो उसका आभाव्य होता है।

४७०१. परखित्ते वसमाणो, अइक्कमंतो व ण लभति असण्णिं।

छंदेण पुव्वसण्णिं, गाहितसम्माति सो लभति॥

परक्षेत्र अर्थात् मासकल्प या वर्षावास में रहता हुआ अथवा उसका अतिक्रमण करता हुआ वहां रहता है तो स्वयं द्वारा उपशमित भी उसका नहीं होता। पूर्वसंज्ञी अर्थात् जिसको पहले उपशांत किया था, वह उपशमक के अभिप्राय से प्राप्त होता है। वह उपशमिक या क्षेत्रिक जिसको चाहता है, उसका आभाव्य होता है। पूर्वसंज्ञी को जिसने सम्यक्त्व प्राप्त कराया है उसे वह प्राप्त होता है।

४७०२. मग्गंतो अन्नखित्ते, अभिधारंतो उ भावतो तस्स।

खित्तम्मि खित्तियस्सा, बाहिं वा परिणतो तस्स॥

कोई शैक्ष आचार्य को खोजता हुआ अन्य क्षेत्र में जाता है। वहां कोई धर्मकथी मिल जाता है। वह उसको आकृष्ट करने के लिए कुछ कहता है, परन्तु वह उसका आभाव्य नहीं होता। यदि वह धर्मकथी स्वभावतः कुछ कहता है तो वह धर्मकथी का आभाव्य हो जाता है। यदि क्षेत्र के भीतर उसे कुछ कहता है तो वह क्षेत्रिक का आभाव्य होता है और क्षेत्र के बाहर धर्मकथी का आभाव्य होता है। क्षेत्र में परिणत हुआ है तो क्षेत्रिक का आभाव्य है और बाहर परिणत हुआ है तो धर्मकथी का आभाव्य है।

४७०३. अभिधारितो वच्चति, पुच्छित्ता साह वच्चतो तस्स।

परिसागतो व कहई, कड्ढणहेउं न तं लभति॥

किसी आचार्य की अभिधारणा कर शैक्ष जा रहा है। मार्ग में किसी साधु ने पूछा और उसको आकर्षित करने के लिए 'साह'—धर्म कहता है। अथवा उसको साथ में लाकर परिषद् के अन्तर्गत उसे विशेषरूप से आकृष्ट करने के लिए धर्म कहता है। परंतु वह उसका आभाव्य नहीं होता। उसे वह नहीं मिलता। वह अभिधारित आचार्य का ही आभाव्य होता है।

४७०४. उज्जु कहए परिणतं, अंतो खित्तस्स खित्तिओ लभइ।

खित्तबहिं तु परिणयं, लभतुज्जु कही ण खलु मादी॥

यदि धर्मकथी ऋजुक होता है तो जो शैक्ष प्रव्रज्या में परिणत होता है, यदि क्षेत्र के अभ्यन्तर परिणत होने पर वह क्षेत्रिक का आभाव्य है। क्षेत्र के बाहर परिणत होता है तो वह धर्मकथी का आभाव्य है। मायावी धर्मकथी का वह आभाव्य नहीं होता।

४७०५. परिणमइ अंतरा अंतरा य भावो णियत्तति ततो से।

खित्तम्मि खेतियस्सा, बाहिं तु परिणतो तस्स॥

किसी शैक्ष का प्रव्रज्याभाव बीच-बीच में परिणत होता है तथा निवर्तित होता है। क्षेत्र में परिणत होने पर वह क्षेत्रिक का आभाव्य होता है और बाहर परिणत होने पर धर्मकथिक का आभाव्य होता है।

४७०६. माया पिया व भाया, भगिणी पुत्तो तहेव धूता य।

छप्पेते नालबद्धा, सेसे पभवन्ति आयरिया॥

माता, पिता, भ्राता, भगिनी, पुत्र तथा दुहिता—ये छहों अनन्तवल्ली के आधार पर नालबद्ध माने जाते हैं। शेष जो नालबद्ध नहीं होते वे प्रतीच्छक के आभाव्य नहीं होते, आचार्य के आभाव्य होते हैं।

४७०७. माउम्माथा य पिया, भाया भगिणी य एव पिउणो वि।

भातादिपुत्त-धूता, सोलसगं छ च्य बावीसं॥

४७०८. बावीस लभति एए, पडिच्छओ जति य तमभिधारंती।

अभिधारमणभिधारे, णायमणातेतरे ण लभे॥

माता से संबंधित चार जन—माता, पिता, भ्राता, भगिनी। पिता से संबंधित चार जन—पिता, माता, भ्राता, भगिनी। माता से संबंधित दो जन—पुत्र और पुत्री। भगिनी का अपत्य—भानेज और भानेजी—ये दो जन। पुत्र का अपत्य—पौत्र और पौत्री। पुत्री का अपत्य—दौहित्र और दौहित्री। ये सारे सोलह होते हैं— $४+४+२+२+२+२=१६$ । इनमें छह जन अनन्तरवल्ली के मिलाने पर बावीस होते हैं। यदि ये बावीस जन प्रतीच्छक की अभिधारणा करते हैं तो उसको ये सारे प्राप्त होते हैं। यदि ये अभिधारणा नहीं करते हैं तो सारे आचार्य के आभाव्य होते हैं। इनसे इतर चाहे अभिधारणा करते हैं या नहीं करते, वे चाहे ज्ञातक हों या अज्ञातक प्रतीच्छक को प्राप्त नहीं होते।

४७०९. नायगमणायगा पुण, सीसे अभिधारमणभिधारे य।

दोक्खर-खरदिट्ठता, सव्वे वि भवंति आयरिए॥

जो शिष्य के ज्ञातक अथवा अज्ञातक हैं, वे शिष्य की अभिधारणा करते हैं या नहीं करते, फिर भी वे सब आचार्य के आभाव्य होते हैं, शिष्य के नहीं। यहां द्वायक्षर-खरदृष्टान्त वक्तव्य है। 'दासेण मे खरो कीओ, दासो वि मे खरो वि मे।'

४७१०. पुव्वुप्पन्नगिलाणे, असंथरंते य चउगुरू छण्हं।

वयमाण एगे संघाडए य छप्पेते ण लभंति॥

एक गांव में गच्छ स्थित है। एक मुनि ग्लान हो गया। उसकी प्रतिचर्या में अनेक साधु व्यापृत हैं। सभी भिक्षा के लिए न जा पाने से पूरी भिक्षा नहीं आई। ऐसी स्थिति में एक शैक्ष आ गया। मुनि ग्लान कार्य में व्यापृत थे अतः शैक्ष की सारसंभाल नहीं कर पाए। इसीलिए भगवान् ने कहा—ऐसी स्थिति में शैक्ष को दीक्षित नहीं करना चाहिए। दीक्षित करने पर चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है। अतः वे छह प्रकारों में से किसी एक प्रकार से उसे अन्य आचार्य के पास भेज देते हैं। वे उसे मुंडित कर अकेले को अथवा साधुओं के साथ भेजते हैं। ये तीन प्रकार मुंडित शैक्ष के होते हैं। अमुंडित के भी ये ही तीन होते हैं। ये छहों उस शैक्ष को प्राप्त नहीं होते। जिनके पास वह शैक्ष भेजा जाता है, उसी आचार्य का वह आभाव्य होता है।

४७११. आयरिय-गिलाणे गुरुगा,

सेहस्सा अकरणम्मि चउलहुगा।

परितावणणिष्कण्णं,

उहतो भंगे य मूलं तु॥

शैक्ष को प्रव्रज्या देकर उसकी वैयावृत्य में व्यस्त होकर

आचार्य और ग्लान की वैयावृत्य नहीं करते हैं तो चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है। यदि शैक्ष की वैयावृत्य नहीं की जाती है तो चतुर्लघु का प्रायश्चित्त है। परितापना निष्पन्न प्रायश्चित्त पृथक् आता है। यदि शैक्ष का उन्निष्क्रमण होता है या ग्लान का मरण हो जाता है—ये दो भंग हैं। इनके होने पर मूल प्रायश्चित्त है।

४७१२. संथरमाणे पच्छा, जायं गहिते व पच्छ गेलत्तं।

अपव्वइए पव्वइए, संघाडेगे व वयमाणे॥

गच्छ में ग्लान है, परंतु आगाढ़ ग्लान नहीं है तो वे मुनि शैक्ष को प्रव्रजित करते हैं क्योंकि वे शैक्ष और आचार्य दोनों की वैयावृत्य कर सकते हैं। वे सब का संस्तरण कर सकते हैं। पश्चात् आगाढ़ ग्लानत्व हो गया। उसकी सेवा में जो साधु थे वे भिक्षा के लिए नहीं जा पाते थे। जो जाते वे भी सबके लिए पर्याप्त नहीं ला सकते थे। पहले ग्लानत्व नहीं था। प्रव्रजित करने के पश्चात् ग्लानत्व हो गया। उसे छह प्रकारों से भेज देना चाहिए—१. अप्रव्रजित-मुंडित २. प्रव्रजित-मुंडित ३. इन दोनों के तीन-तीन प्रकार हैं—संघाटक के साथ, एक साधु के साथ, वयमाण—एकाकी को भेजे।

४७१३. नागाढं पउणिस्सइ, अचिरेणं तं च जायमागाढं।

सेहं वट्टावेउं, ण तरंति गिलाणकिच्चं च॥

पहले अनागाढ़ ग्लानत्व था। शैक्ष आ गया। संतों ने सोचा—यह ग्लान मुनि शीघ्र स्वस्थ हो जाएगा। शैक्ष को प्रव्रजित कर दिया। ग्लान आगाढ़ हो गया। साधु शैक्ष को संभालने तथा ग्लानकृत्य करने में असमर्थ हो गए।

४७१४. अपडिच्छणेतरसिं, जं सेहवियावडा उ पावंति।

तं चैव पुव्वभणियं, परितावण-सेहभंगाइ॥

जिनके पास शैक्ष भेजा गया, यदि वे उसे स्वीकार नहीं करते, उनको चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है। जो शैक्ष-व्यापृत हैं उनको भी वही प्रायश्चित्त है तथा जो पूर्वकथित परितापना, शैक्षभंगादि दोष समूह भी यहां प्राप्त होता है। शैक्ष वैयावृत्य के अभाव में पलायन कर जाता है, ग्लान प्रतिचर्या न होने के कारण परितप्त होता है।

४७१५. संखडिए वा अट्ठा, अमुंडियं मुंडियं व पेसंती।

वयमाणे एग संघाडए य छप्पेए न लभंति॥

मुंडित अथवा अमुंडित शैक्ष को भी संखड़ी के लिए भेजते हैं। वहां भी 'वयमाणी' अर्थात् एकाकी को भेजने पर अथवा एक संघाटक के साथ या छह प्रकार से भेजने पर भी वह उनका आभाव्य नहीं होता।

४७१६. होहिति णवग्गाइं, आवाह-विवाह-पव्वयमहादी।

सेहस्स य सागारियं, विद्वाहिति मा व पेसंति॥

शैक्ष किसी आचार्य के पास गया। वहां आवाह-वधू का वर के घर में आना, विवाह, पर्वतमह, तडागमह, नदीमह आदि होते हैं। वहां शैक्ष का सागारिक-उत्प्रवाजन हो जाता है। वह विनष्ट हो जाता है। वह विनष्ट न हो, इसलिए उसे छह प्रकारों से भेजते हैं। परन्तु वह शैक्ष छहों का आभाव्य नहीं होता, केवल उनका आभाव्य होता है, जिनके पास भेजा जाता है।

४७१७. गिहियाणं संगारो, संगारं संजते करेमाणे।
अणुमोयति सो हिंसं, पव्वावितो जेण तस्सेव॥

शैक्ष गृहस्थ-संबंधी यह संगार-संकेत करता है कि इतने समय के पश्चात् मैं आपके पास प्रव्रजित होऊंगा, संयत भी यह संगार-संकेत देता है कि मैं अमुक दिन तुमको प्रव्रजित करूंगा, यह संकेत करने पर जब तक वह प्रव्रजित नहीं होता, तब तक उसके द्वारा की जाने वाली हिंसा का अनुमोदक वह संयत होता है। शैक्ष को जो प्रव्रजित करता है, वह उसीका आभाव्य होता है।

४७१८. विप्परिणमइ सयं वा,

परओ ओसण्ण अण्णतित्थी वा।

मोत्तुं वासावासं,

ण होइ संगारतो इहरा॥

संकेत करने के पश्चात् वह शैक्ष स्वयं विपरिणत हो जाता है या दूसरों से-स्वजनों से विपरिणत हो सकता है, या अवसन्नविहारी साधुओं में प्रव्रजित हो जाता है या परतीर्थिक हो जाता है। इसलिए वर्षावास में बिना पुष्ट आलंबन न होने पर न संगार देना चाहिए और न करना चाहिए।

४७१९. संखडि सण्णया वा, खित्तं मोत्तव्वयं व मा होज्जा।

एएहिं कारणेहिं, संगार करेते चउगुरुगा॥

संगार करने का कारण यह है कि उस ग्राम की संखड़ी को वह छोड़ नहीं सकता तथा उसके ज्ञातक वहां प्रचुर हैं, उनके आग्रह को वह टाल नहीं सकता। वह क्षेत्र अत्यंत स्निग्ध होने के कारण उसको छोड़ा नहीं जा सकता। इन कारणों से संगार करने पर चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है।

४७२०. रिण वाहिं मोक्खेउं, कुडुंबवित्तिं वडत्तिच्छित्ते गिम्हे।

एमादिअणाउत्ते, करिंति गिहिणो उ संगारं॥

ऋण या व्याधि का अपनयन करने के लिए, कुटुंब के निर्वहन के लिए, वृत्ति का संपादन करने के लिए अथवा ग्रीष्मऋतु अतिक्रान्त हो रहा है और वर्षावास का आगमन होने पर-इन सभी कारणों से अनायुक्त होकर गृहस्थ संगार करते हैं।

४७२१. अगविट्ठो मि त्ति अहं,

लब्भति असडेहिं विप्परिणतो वि।

चोयंतऽप्पाहेति व,

ते वि य णं अंतरा गंतुं॥

संगार करने के पश्चात् अशठ अर्थात् ग्लानकार्य में व्यापृत मुनियों द्वारा अगवेषित होने पर शैक्ष विपरिणत हो जाता है, फिर भी वह उनका ही आभाव्य होता है। वे भी साधु यदा-कदा जाकर उसको प्रेरणा करते हैं और संगार की याद दिलाते हैं और यदि साधुओं के स्वयं जाने की स्थिति न हो तो श्रावकों द्वारा संदेश भेजकर उसे प्रेरित करते हैं।

४७२२. एवं खलु अच्छिन्ने, छिन्ने वेला तहेव दिवसेहिं।

वेला पुण्णमपुण्णे, वाघाए होइ चउभंगो॥

यह अच्छिन्न-अनियत संगार की विधि कही गई है। छिन्न संगार की विधि यह है। छिन्न संगार का अर्थ है-क्षेत्र और काल से प्रतिनियत। काल का अर्थ है-वेला या दिवस। वेला पूर्ण या अपूर्ण होने पर व्याघात हो सकता है। उसकी चतुर्भंगी होती है-

१. संयत के व्याघात गृहस्थ के नहीं।

२. गृहस्थ के व्याघात संयत के नहीं।

३. दोनों के व्याघात।

४. दोनों के व्याघात नहीं।

४७२३. मंवट्टिगा ते तहियं च पत्तो,

जति मण्णते ते य सढा ण होंति।

सो लब्भती अण्णगतो वि ताहे,

दप्पट्टिया जे ण उ ते लभंती॥

जिस ग्राम के लिए संकेत किया था, उस ग्राम में शैक्ष पहुंच गया। साधु नहीं पहुंचे। शैक्ष ने सोचा-ये मेरे विषय में मंदार्थी हैं, इसीलिए यहां नहीं पहुंचे हैं। यदि वे साधु अशठ हैं-व्रजिका आदि में प्रतिबद्ध नहीं हैं, ग्लानकार्य में व्यापृत होने के कारण नहीं पहुंचे हैं तो शैक्ष अन्य आचार्य के पास जाने पर भी उन साधुओं का ही आभाव्य होता है। जो दर्प से वहां स्थित साधु हैं, उन्हें वह नहीं मिलता। जिसने उसे प्रव्रजित किया है, उसी का शिष्य होता है।

४७२४. पंथे धम्मकहिस्सा, उवसंतो अंतरा उ अन्नस्स।

अभिधारितो तस्स उ, इयरं पुण जो उ पव्वावे॥

मार्ग में जाता हुआ शैक्ष बीच में अन्य धर्मकथी की बातें सुनकर उपशांत होता है। वह जिसकी अभिधारणा कर जाता है, उसीका आभाव्य होता है। इतर अर्थात् अनभिधारयिता में जो उसको प्रव्रजित करता है उसका वह आभाव्य होता है।

४७२५.पुण्णेहिं पि दिणेहिं, उवसंतो अंतरा उ अण्णस्स।

अभिधारितो तस्स उ, इयरं पुण जो उ पव्वावे।।

दिनों के पूर्ण होने पर या न होने पर, मार्ग में चलता हुआ शैक्ष दूसरे से उपशांत होता है और वह अभिधारणा करता है कि मैं इनके पास प्रव्रज्या ग्रहण करूँ, परंतु मैं पूर्वाचार्य का ही शिष्य रहूँगा। किन्तु इतर अर्थात् जो उसको प्रव्रजित करता है, उसका ही वह शिष्य होता है।

४७२६.ण्हाणादिसमोसरणे, दद्वूण वि तं तु परिणतो अण्णं।

तस्सेव सो ण पुरिमे, एमेव पहम्मि वच्चंते।।

स्नान आदि समवसरण में पूर्वाचार्य को देखकर भी यदि दूसरे को प्राप्त हो गया है तो वह उसीका शिष्य है, पूर्व आचार्य का नहीं। इसी प्रकार मार्ग में जाते हुए भी आभाव्य और अनाभाव्य की विधि जान लेनी चाहिए।

४७२७.गेलन्न तेणग नदी, सावय पडिणीय बाल महि वासं।

इइ समणे वाघातो, महिगावज्जो उ सेहस्स।।

साधु ग्लान हो गया, चोर मिल गए, मार्गगत नदी पूर्ण रूप से बहने लगी, रास्ते में श्वापद की बहुलता है, प्रत्यनीक है, व्याल रास्ते में हैं, महिका या वर्षा प्रारंभ हो गई है—इस प्रकार श्रमण के व्याघात हो सकता है। शैक्ष के भी महिका के अतिरिक्त सारे व्याघात होते हैं।

४७२८.विप्परिणामियभावो, ण लब्भते तं च णो वियाणामो।

विप्परिणामियकहणा, तम्हा खलु होति कायव्वा।।

विपरिणामितभाव वाला शैक्ष विपरिणामक आभाव्य नहीं होता। शिष्य ने पूछा—विपरिणामक को हम नहीं जान सकते। आचार्य कहते हैं—अतः उसकी चर्चा हमें करनी चाहिए।

४७२९.दिट्ठमदिट्ठ विदेसत्थ गिलाणे मंदधम्म अप्पसुते।

णिप्फत्ति णत्थि तस्सा, तिविहं गरहं व से जणत्ति।।

किसी शैक्ष ने मार्ग में मिले साधु से पूछा—क्या तुमने अमुक आचार्य को देखा है अथवा नहीं? वह उस शैक्ष को विपरिणत करने के लिए कहता है—वे तो विदेश चले गए हैं। उनके पास दीक्षित होने का अर्थ है—ग्लान होना। वे मंदधर्मा तथा अल्पश्रुत हैं। उनके शिष्यों की निष्पत्ति नहीं है। तीन प्रकार की गर्हा—मानसिक, वाचिक और कायिक अथवा ज्ञान, दर्शन और चारित्र विषयक गर्हा करना विपरिणामना है।

४७३०.जइ पुण तेण ण विट्ठा,

णेव सुया पुच्छितो भणति अण्णे।

जति वा गया विदेसं,

तो साहइ जत्थ ते विसए।।

शैक्ष के पूछने पर यदि आचार्य को न देखा है और न सुना है तो कहे—मैं नहीं जानता। अन्य साधुओं को पूछो। यदि वे विदेश गए हों तो उसे वे कहां हैं, उस देश का नामोल्लेख करें। यदि यथार्थ बात नहीं कहता है तो यह विपरिणामना है।

४७३१.सेसेसु उ सन्भावं, णातिक्खति मंदधम्मवज्जेसु।

गूहयते सन्भावं, विप्परिणति हीणकहणे वा।।

मंदधर्मा के अतिरिक्त शेष ग्लान आदि पदों में यदि सद्भाव नहीं कहता है, यथार्थ कथन नहीं करता है, अथवा सद्भाव को छुपाता है, हीनकथन करता है, यह विपरिणामना है।

४७३२.सीसोकंपण गरिहा, हत्थ विलंबिय अहो य हक्कारे।

वेला कण्णा य दिसा, अच्छतु णामं ण घेत्तव्वं।।

शैक्ष किसी आचार्य को अपने पूर्व आचार्य के विषय में पूछता है। आचार्य तीन प्रकार की गर्हा करते हैं—सबसे पहले सिर को हिलाते हैं, हाथों को लटका कर गर्हा प्रगट करते हैं उनके पास प्रव्रज्या! हाय! हाय! ऐसे आचार्यों से ही लोक नष्ट हुआ है। हा! ऐसे आचार्य का वेला—नाम भी कहीं नहीं है, उसका नाम भी कभी नहीं सुना, वह जिस दिशा में है उस दिशा में भी नहीं ठहरना चाहिए, आंखें बंद कर लेता है अथवा कहता है ऐसे आचार्य का नाम भी नहीं लेना चाहिए।

४७३३.नाणे दंसण चरणे, सुत्ते अत्थे य तदुभए चेव।

अह होति तिहा गरहा, कायो वाया मणो वा वि।।

अथवा गर्हा तीन प्रकार की है—ज्ञान विषयक, दर्शन विषयक और चारित्र विषयक। अथवा सूत्र विषयक, अर्थ विषयक, और तदुभय विषयक। अथवा काय-वाक् और मन—यह तीन प्रकार की गर्हा होती है।

४७३४.पव्वयसि आम कस्स, ति सगासे अमुगस्स निदिट्ठे।

आयपराधिगसंसी, उवहणति परं इमेहिं तु।।

४७३५.अबहुस्सुताऽविसुद्धं, अधच्छंदा तेसु वा वि संसग्गिं।

ओसन्ना संसग्गी, व तेसु एक्केकए दुत्ति।।

किसी शैक्ष को एक साधु ने पूछा—क्या तुम प्रव्रज्या लेना चाहते हो? उसने कहा—हां! किस आचार्य के पास? उसने कहा—अमुक आचार्य के पास। ऐसा निर्दिष्ट करने पर स्वयं को दूसरे से अधिक बताने के अभिप्राय से, इन वचनों के द्वारा उपहास करते हुए कहता है—जिनके पास तुम प्रव्रजित होना चाहते हो, वे अबहुश्रुत हैं, विशुद्ध नहीं हैं, यथाच्छंद हैं—आग्रही हैं, आग्रही मनुष्यों से उनका संसर्ग है, अवसन्न—शिथिलाचारियों के साथ उनका संसर्ग है तथा पार्श्वस्थ आदि

संतों के प्रत्येक भेद में जो-जो दोष पाए जाते हैं, वे सारे दोष उनमें हैं।

४७३६. सीसोकंपण हत्थे,

कण्ण दिसा अच्छि कायिगी गरिहा।

वेला अहो य ह ति य,

णामं ति य वायिगी गरहा॥

४७३७. अह माणसिगी गरहा, सूतिज्जति णित्त-वत्तरागेहिं।

धीरत्तणेण य पुणो, अभिणंदइ गेय तं वयणं॥

कायिकी गर्हा—शिरोकंपन, हस्तविलंबन, कानों को स्थगित करना, अन्य दिशा में जाकर बैठना, आंखें बंद करना, अनिमेष लोचन रहना, क्षणभर के लिए बैठना। वाचिकी गर्हा—इस वेला में उनका नाम नहीं लेना चाहिए, अहो! कष्टकर है, हाहाकार करना, उनका कभी भी नाम नहीं लेना चाहिए।

मानसिकी गर्हा—नेत्र और मुंह के द्वारा जो रागभाव अर्थात् विकसित होना, मुरझा जाना आदि विकारों से मानसिकी गर्हा सूचित होती है। शैक्ष के वचन का अभिवंदन नहीं करना, धीरता से नहीं सुनना। इस प्रकार की गर्हा सुनकर शैक्ष के मन में अनेक आशंकाएं पैदा हो जाती हैं।

४७३८. एताणि य अण्णाणि य,

विप्परिणामणपदाणि सेहस्स।

उवहि-णियडिप्पहाणा,

कुब्बंति अणुज्जुया केई॥

शैक्ष को विपरिणामित करने की ये बातें तथा अन्यान्य बातें भी होती हैं। वे मुनि उस शैक्ष को द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव की अनुकूलता से भी अपने प्रति आकृष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। जो अक्रजु होते हैं वे उपधि^१—दूसरों को धोखा देने की मनोवृत्ति, निकृति^२—मायाचार करना—ये सब विकृतियां करते हुए भी भावभंगी को छुपाने में प्रधान-निपुण—ये सारे शैक्ष के विपरिणामन करने के प्रकार हैं।

४७३९. एएसामन्नयरं, कप्पं जो अतिचरेज्ज लोभेण।

थेरे कुल गण संघे, चाउम्मासा भवे गुरुगा॥

जो आचार्य इन कल्पविधियों के अतिरिक्त कल्पविधि का लोभवश आचरण करता है तो कुल, गण, संघ, स्थविर उससे शैक्ष को ले लेते हैं तथा उस आचार्य मुनि को चार मास का गुरुक प्रायश्चित्त देते हैं। यदि कुल, गण, संघ स्थविर के कहने पर भी वह शैक्ष को नहीं छोड़ता तो उसे कुल, गण, संघ से बाह्य कर देते हैं।

१. उपधि:—परवञ्चनाभिप्रायः। (वृ. पृ. १२७४)

अत्थि या इत्थ केइ उवस्सयपरियावन्ने
अचित्ते परिहरणारिहे, सच्चवेव ओग्गहस्स
पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठइ—अहालंदमवि
ओग्गहे॥

(सूत्र २९)

४७४०. असहीणेसु वि साहम्मितेसु इति एस उग्गहो वुत्तो।

अयमपरो आरंभो, गिहिविज्जे उग्गहे होइ॥

अस्वाधीन साधर्मिक (क्षेत्रान्तर गए हुए साधर्मिकों का भी) यही अवग्रह कहा गया है। प्रस्तुत सूत्र का आरंभ गृहस्थों द्वारा परित्यक्त प्रतिश्रय के अवग्रह संबंधी है।

४७४१. आहारो उवही वा, आहारो भुंजणारिहो कोयी।

दुविहपरिहारअरिहो, उवही वि य कोयि ण वि कोयि॥

सूत्र में किञ्चिद् शब्द है। उससे आहार अथवा उपधि गृहीत है। आहार दो प्रकार का होता है—भोजनार्ह और अभोजनार्ह। उपधि भी दो प्रकार की होती है—धारण करने योग्य और धारण करने के लिए अयोग्य।

४७४२. संसत्ताऽऽसव पिसियं, आहारो अणुवभोज्ज इच्चादी।

झुसिरतिण-वच्चगादी, परिहारो अणरिहो उवही॥

संसक्त—द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों से मिश्र भक्तपान, आसव—मद्य, पिशित—मांस आदि मुनियों के लिए अनुपभोज्य होते हैं। उसी प्रकार शुषिरतृण, वल्कल आदि भी परिभोग के योग्य नहीं होते।

४७४३. ठायंते अणुण्णवणा, पातोग्गे होइ तप्पढमयाए।

सो चेव उग्गहो खलु, चिट्ठइ कालो उ लंदक्खा॥

प्रतिश्रय में रहते हुए मुनियों ने प्रथमतया प्रायोग्य स्थान की अनुज्ञापना की वही अवग्रह होता है। सूत्र में जो लंद शब्द है, वह काल का वाचक है।

४७४४. पुब्बिं वसहा दुविहे, दब्बे आहार जाव अवरण्हे।

उवहिस्स ततियदिवसे, इतरे गहियम्मि गिण्हंति॥

प्रतिश्रय में पहले ही वृषभ दो प्रकार के द्रव्यों में उपयोग देते हैं—आहार और उपधि। जब तक अपराह्न नहीं होता तब तक वहां विस्मृत आहार को ग्रहण नहीं करते। उपधि तीसरे दिन के पश्चात् ग्रहण करते हैं। 'इतरन्' अर्थात् अर्थ आदि गृहस्थ वहां भूल गए हों तो एकान्त में निक्षिप्त कर देते हैं। यदि साहूकार उसको लेने लगे तो यथोक्त विधि से उसे ग्रहण करे।

२. निकृति:—कैतवार्थं प्रयुक्तवचनऽऽकाराच्छादनं। (वृ. पृ. १२७४)

४७४५. पायं सायं मञ्जन्ति ए व वसभा उवस्सय समंता।

पेहंति अपेहाए, लहुगो दोसा इमे तत्थ॥

प्रातः, सायं और मध्याह्न में वृषभ उपाश्रय की चारों ओर से प्रत्युपेक्षणा करते हैं। प्रत्युपेक्षणा न करने पर लघुमास का प्रायश्चित्त आता है तथा ये दोष होते हैं।

४७४६. साहम्मि अण्णधम्मिय,

गारत्थिणि खिवण वोसिरण रज्जू।

गिण्हण-कह्णण-ववहार-

पच्छकडुड्ढाह-णिव्विसए॥

साधर्मिणी—साध्वी, अन्यधर्मिणी, गृहस्थस्त्री कोई उस उपाश्रय के पास अर्थजात का निक्षेप कर दे अथवा बालक को छोड़कर चली जाए, परीषहों से घबरा कर कोई साधु फांसी में लटक जाए, यह राजपुरुषों को ज्ञात होने पर ग्रहण, आकर्षण, व्यवहार, पश्चात्कृत, उड्ढाह, देशनिकाला देना आदि दोष होते हैं।

४७४७. चोदणकुविय सहम्मिणि,

परउत्थिणिगी उ दिट्ठिराणेण।

अणुकंप जदिच्छा वा,

छुभिज्ज बालं अगारी वा॥

कोई साधर्मिणी साध्वी सन्मार्ग की ओर प्रेरित किए जाने पर कुपित होकर अपनी नाजायज संतान को उपाश्रय के पास छोड़ जाती है। कोई परतीर्थिनी दृष्टिरागवश उपाश्रय के पास बालक को रख देती है। कोई अगारी अपने दूधमुँहे बच्चे को उपाश्रय में इसलिए छोड़ जाती है कि ये मुनि शय्यातर को देकर इस बालक का भरण-पोषण करा देंगे। इस अनुकंपा या यदृच्छा से उपाश्रय में रख जाती है।

४७४८. हाउं व जरेउं वा, अचदंता तेणगाति वत्थादी।

एएहिं चिय जणियं, तहिं च दोसा उ जणदिट्ठे॥

स्तेन वस्त्र आदि को ढोने में असमर्थ होने पर उपाश्रय के पास उसे फेंक जाते हैं अथवा वस्त्र आदि को 'जरीतु' न करने के कारण वहीं निक्षिप्त कर जाते हैं। लोक जब बच्चे को वहां पड़ा देखते हैं तो सोचते हैं इन साधुओं ने ही इसे जन्म दिया है। सुवर्ण, वस्त्र आदि का अपहरण किया है। अतः वृषभ यदि प्रतिश्रय की प्रत्युपेक्षा नहीं करते हैं तो ये दोष होते हैं।

४७४९. अहवा छुभेज्ज कोयी, उब्भामग वेरियं व हंतूणं।

वेहाणस इत्थी वा, परीसहपराजितो वा वि॥

अथवा कोई प्रत्यनीक उद्भ्रामक—पारदारिक या वैरी को मारकर उपाश्रय के पास रख जाता है या कोई स्त्री या परीषहों से पराजित कोई मुनि फांसी लेकर मर जाए।

४७५०. दवियड्डसंखडे वा, पुरिसिन्धी मेहुणे विसेसो वि।

एमेव य समणम्मि वि, संकाए गिण्हणादीणि॥

कोई धन के लिए या वैरभाव के कारण किसी को मारकर उपाश्रय में निक्षिप्त कर दे, कोई स्त्री को मार कर, मैथुन विशेष के लिए हत्या कर उपाश्रय के पास फेंक देता है। इसी प्रकार इन कारणों से श्रमण की भी हत्या हो सकती है। संयत भी आशंका के भय से ग्रहण, आकर्षण आदि को प्राप्त होता है।

४७५१. कालम्मि पहुप्पंते, चच्चरमादी ठवित्तु पडियरणं।

रक्खंति साणमादी, छण्णे जा दिट्ठमण्णेहिं॥

अतः तीनों वेला में प्रतिश्रय की प्रत्युपेक्षा अपेक्षित है। वहां कोई बालक आदि को देखे तो उसे चौराहे पर जाकर रख दे और उसकी श्वान आदि से रक्षा करने के लिए ओट में बैठ जाए। वहां तब तक बैठा रहे जब तक कि दूसरे लोग उस बालक को देख न लें।

४७५२. बोलं पभायकाले, करिंति जणजाणणट्टया वसभा।

पडियरणा पुण देहे, परोग्गहे वेव उज्जंति॥

उपाश्रय की प्रतिलेखना करते समय यदि वृषभ हिरण्य-सुवर्ण वहां पड़ा देखे तो प्रभातकाल में ही लोगों को ज्ञात करने के लिए जोर-जोर से कहते हैं—किसी दुष्ट ने साधुओं को बदनाम करने के लिए यहां हिरण्य-सुवर्ण रख दिया है। व्यपरोपित यदि पुरुष देह उपाश्रय में पड़ा हो तो उसकी प्रतिचरणा करे किन्तु उसे दूसरे के अवग्रह में न रखें। कोई न देखे तो उसका परिष्ठापन कर दे।

४७५३. अप्पडिचर-पडिचरणे, दोसा य गुणा य वण्णिया एए।

एतेण सुत्त ण कतं, सुत्तनिवातो इमो तत्थ॥

उपाश्रय का अप्रतिचरण—अप्रत्युपेक्षण और प्रतिचरण—प्रत्युपेक्षण से होने वाले दोष और गुण वर्णित हुए हैं, किन्तु इनके कथन के लिए सूत्र का निर्माण नहीं हुआ है। सूत्रनिपात इसलिए हुआ है—

४७५४. आगंतारठियाणं, कज्जे आदेसमादिणो केई।

वसिउं विस्समिउं वा, छड्ढित्तु गया अणाभोगा॥

मुनि आगंतागार (धर्मशाला) में ठहरे हुए हैं। वे वहां किसी प्रयोजनवश ठहरे हैं—यही प्रस्तुत सूत्र बताता है। प्राघूर्णक आदि कई वहां रहकर अथवा विश्राम कर गए हैं। वे वहां कुछ द्रव्य (उपधि या भोजन) भूलकर गए हैं।

४७५५. समिइं-सत्तुग-गोरस-सिणेह-गुल-लोणमादि आहारे।

ओहे उवग्गहम्मि य, होउवही अट्टजातं वा॥

आहार में आटा या कणिका, सत्तू, गोरस, तैल या घी, गुड़, नमक आदि उपधि के दो प्रकार हैं—ओघ तथा औपगहिक। अर्थ भी वहां छोड़ गए हैं।

४७५६. काऊणमसागरिए, पडियरणाऽऽहार जाव अवरण्हे।
एमेव य उवहिस्स वि, असुण्ण सेधाइ दूरे य॥

वृषभ मुनि जब प्रतिश्रय की प्रत्युपेक्षणा करते हैं तब उस आहार के द्रव्य को असागारिक प्रदेश में एकत्रित कर उसकी प्रतिचरणा—संरक्षण अपराह तक करते हैं। उपधि की भी प्रतिचरणा करते हैं। उसे भी अशून्य स्थान में रखते हैं। शैख मुनियों को दोनों प्रकार के द्रव्यों से दूर रखते हैं।

४७५७. वोच्छिज्जई ममत्तं, परेण तेसिं च तेण जति कज्जं।
गिण्हंता वि विसुद्धा, जति वि ण वोच्छिज्जती भावो॥

अपराह के पश्चात् पथिकों का आहार के प्रति ममत्व व्यवच्छिन्न हो जाता है। यदि साधुओं को उस आहार से प्रयोजन हो और वे उसे लेते हैं तो वे शुद्ध हैं। यद्यपि उस आहार से उनका भाव व्यवच्छिन्न नहीं होता है, फिर भी अपराह के पश्चात् उसको ग्रहण करने में कोई दोष नहीं है।

४७५८. अब्बोच्छिन्ने भावे, चिरागयाणं पि तं पर्यसिंति।
पणवणमणिच्छंते, कप्पं तु करंति परिभुत्ते॥

उपधि तीन दिन पूर्ण होने के बाद ग्रहण करते हैं, क्योंकि उस अवधि में उसके प्रति ममत्व मिट जाता है। यदि पथिकों का वस्त्रों के प्रति भाव व्यवच्छिन्न न होने पर वे उसकी गवेषणा करते हुए आते हैं। चिरकाल से आए हुए उन पथिकों को मुनि वे वस्त्र दिखाते हैं और उनसे कहते हैं—हमने ये वस्त्र ले लिए हैं। आप उनकी अनुज्ञा दें। यदि अनुज्ञा देते हैं तो अच्छा है, अन्यथा उनका परिभोग करने के कारण कल्प कर उन्हें दे देते हैं।

४७५९. पच्चोनियत्तपुट्ठा, करादि दाएति पत्थ णं पेधे।
वरिसिंति अपिच्छंते, को पुच्छति केण ठवियं च॥

उपाश्रय में गिरे हुए अपने अर्थजात की गवेषणा करते हुए पथिक लौट कर आते हैं और साधुओं से पूछते हैं। तब मुनि हाथ के इशारे से बताते हुए कहते हैं—यहां देखो। यदि वे नहीं देखते हैं तो मुनि स्वयं उन्हें दिखाते हैं। यदि वे पूछें कि यहां किसने रखा तो उनसे कहे—कौन पूछता है? किसने रखा है? हम नहीं जानते।

४७६०. भडमाइभया णट्टे, गहिया-ऽगहिएसु तेसु सज्झादी।
गिण्हंति असंचइयं, संचइयं वा असंथरणे॥

राजपुरुषों के भय से पलायन कर गए शय्यातर पड़ौसी आदि तथा ऋणदाता और ऋणी के घर से असंचयिक आहार—दही, घृत आदि मुनि लेते हैं और यदि वह अपर्याप्त हो तो संचयिक—मिठाई आदि भी लेते हैं।

४७६१. साविकखेतर णट्टे, एमेव य होइ उवहिगहणं पि।
पच्चागएसु गहणं, भुंजति दिण्णेवमट्टे वि॥

यदि पड़ौसी आदि ने सापेक्षरूप से अर्थात् पुनः लौटने की भावना से पलायन किया है या निरपेक्षरूप से तो दोनों में आहार और उपधि के ग्रहण की यही विधि है। सापेक्षरूप से गए हुए जब लौट आते हैं तब उनके द्वारा दत्त या अनुज्ञात का वे भोग करते हैं। जो निरपेक्षरूप से गए हैं, उनके आहार का निर्विवादरूप से परिभोग करते हैं। अर्थजात का भी इसी प्रकार ग्रहण करते हैं।

४७६२. पाउग्गमणुण्णवियं, जति मण्णसि एवमतिपसंगो त्ति।
आउरभेसज्जुवमा, तह संजमसाहणं जं तु॥

प्रश्न है—साधुओं के लिए प्रायोग्य की अनुज्ञापना होती है, यदि तुम ऐसा मानते हो तो अर्थजात अप्रायोग्य है और उस अर्थजात को ग्रहण करना अतिप्रसंग होगा। भाष्यकार कहते हैं—अर्थजात एकान्ततः अप्रायोग्य नहीं है, क्योंकि यहां आतुर-रोगी और भेषज की उपमा दी जाती है। जैसे किसी रोग में जो औषधि प्रतिषिद्ध है, वही अन्य अवस्था में अनुज्ञापित होती है, इसी प्रकार पुष्टकारण के अभाव में अर्थजात प्रतिषिद्ध होता है, परन्तु दुर्भिक्ष आदि में संयम का साधक होने के कारण अनुज्ञात होता है।

से वत्थूसु अब्बावडेसु अब्बोगडेसु
अपरपरिग्गहिएसु अमरपरिग्गहिएसु
सच्चेव ओग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा
चिट्ठइ—अहालंदमवि ओग्गहे॥

(सूत्र ३०)

४७६३. गिहिउग्गहसामिजडे, इति एसो उग्गहो समक्खातो।
सामिजडे अजडे वा, अयमण्णो होइ आरंभो॥

स्वामी द्वारा परित्यक्त जो गृहस्थ संबंधी अवग्रह है, यह अवग्रह समाख्यात है। प्रस्तुत सूत्र में स्वामी द्वारा त्यक्त या अत्यक्त अवग्रह होता है। यही प्रस्तुत सूत्र का आरंभ है।

४७६४. खित्तं वत्थुं सेतुं, केतुं साहारणं च पत्तेयं।
अब्बावडमब्बोअडमपरममरपरिग्गहे चेव॥

क्षेत्र (खुली जमीन), वास्तु—गृह। क्षेत्र के दो प्रकार हैं—सेतु और केतु। जो क्षेत्र अरहट्ट से सींचा जाता है वह है सेतु और जो वर्षाजल से निष्पन्न होता है वह है केतु। क्षेत्र और गृह—दोनों दो-दो प्रकार के हैं—साधारण और प्रत्येक।

१. साधारण—बहूनां सामान्यम्। प्रत्येक—एकस्वामिकम्। (वृ. पृ. १२८०)

अव्यापृत, अव्याकृत, अपरपरिगृहीत, अमरपरिगृहीत—इनकी व्याख्या आगे है।

४७६५. दाइय-गण-गोडीणं, सेणी साहारणं व दुगमादी।

वत्थुम्मि एत्थ पगयं, ऊसित खाते तदुभए य॥

दामाद, गण, गोष्ठी, श्रेणी आदि दो, तीन आदि की संख्या में जन प्रतिनिधियों का जो क्षेत्र होता है वह साधारण कहा जाता है। प्रस्तुत में वास्तु का अधिकार है। वास्तु के तीन प्रकार हैं—उच्छ्रित—प्रासाद, खात—भूमीगत मकान (अन्डर-ग्राउंड), तदुभय—भूमीगत मकान सहित प्रासाद।

४७६६. सडिय-पडियं ण कीरइ, जहिंगं अवावडं तयं वत्थुं।

अव्वोगडमविभत्तं, अणहिद्वियमण्णपक्खेणं॥

जो गृह शटित और पतित होता है, जो किसी के काम नहीं आता, वह वास्तु अव्यापृत कहलाती है। अव्याकृत वह गृह है जो अभी तक दायादों द्वारा अविभक्त है। अपर-परिगृहीत अर्थात् दूसरे पक्ष द्वारा अगृहीत। उसका स्वामी ही शय्यातर होता है।

४७६७. अवरो सु च्चिय सामी, जेण विदिण्णं तु तप्पढमताए।

अमरपरिग्गहियं पुण, देउलिया रुक्खमादी वा॥

अपर का अर्थ है जिसने प्रथमतया साधुओं को वह दिया है, वह उसका स्वामी है। अमरपरिगृहीत अर्थात् देवकुलिका, वृक्ष आदि जो वानमन्तरदेव अधिष्ठित हों।

४७६८. अव्वावडे कुडुंबी, काणिड्डुअव्वोगडे य रायगिहे।

अपरपरे सो च्चव उ, अमरे रुक्खे पिसायघरे॥

अव्यापृत गृह संबंधी कुटुंबी का दृष्टांत है। अव्याकृत में राजगृह के वणिक् का दृष्टांत है जिसने काणिड्डु—पाषाणमय ईंटों से मकान बनाया था। अपरपरिगृहीत में भी यही दृष्टांत है। अमरपरिगृहीत में वृक्ष अथवा पिशाचगृह का निदर्शन है। इनका वर्णन आगे की गाथाओं में है।

४७६९. निम्मवणं पासाए, संखडि जक्ख सुमिणे य कंटीय।

अण्णं वा वावारं, ण कुणति अव्वावडं तेणं॥

एक कौटुंबिक ने प्रासाद बनवाया और सोचा—आज संखडी—जीमनवार कर कल में इस प्रासाद में प्रवेश करूंगा। रात्री में स्वप्न में वानव्यन्तरदेव ने कहा—यदि तुम इस घर में प्रवेश करोगे तो सारे कुटुंब को मार डालूंगा। तब कौटुंबिक ने उस प्रासाद के चारों ओर कांटों की बाड़ लगा दी। कोई उसको काम में नहीं लेता था। यह अव्यापृत का उदाहरण है।^१

४७७०. इद्वित्तणे आसि घरं महल्लं,

कालेण तं खीणधणं च जायं।

ते उम्मरीयस्स भया कुडीए,

दाउं ठिया पासि घरं जईणं॥

एक ऋद्धिमान् वणिक् ने बड़ा गृह बनवाया। कालान्तर में वणिक् निर्धन हो गया। वहां प्रति उदुम्बर (देहली) का एक-एक रुपये का कर लगता था। उस भय से वणिक् कुटीरक में रहने लगा। उसने उस घर को साधुओं के निवास के लिए दे दिया। यह अव्याकृत का उदाहरण है।^२

४७७१. पुव्वद्वियऽणुण्णवियं, ठायंतऽण्णे वि तत्थ ते य गता।

एवं सुण्णमसुण्णे, सो च्चव य उग्गहो होइ॥

अव्यापृत या अव्याकृत गृह में पहले से स्थित साधु अनुज्ञा लेकर ही वहां रह रहे थे। अन्य साधु भी वहां आकर ठहर जाते हैं। पूर्व साधु कल्प पूरा होने पर अन्यत्र चले जाते हैं। इस प्रकार शून्य या अशून्य होने पर वहां रहने वाले साधुओं के वही अवग्रह होता है, पुनः अनुज्ञापना करने की आवश्यकता नहीं होती।

४७७२. अपरपरिग्गहितं पुण, अपरे अपरे जती जइ उवेंति।

अव्वोकडं पि तं चिय, दोन्नि वि अत्था अपरसदे॥

अपरपरिगृहीत के दो अर्थ हैं—जिसने सबसे पहले साधुओं को वह दिया है, वही उसका स्वामी है—यह अपर का एक अर्थ है। जहां अपर-अपर मुनि आकर ठहरते हैं, वह है अपर। यह दूसरा अर्थ है। अव्याकृत का भी यही अर्थ है—जो सबके लिए साधारण है। इस प्रकार अपर शब्द के दोनों अर्थ हैं। (अपरपरिगृहीत का अर्थ है वृक्ष अथवा वृक्ष के नीचे बना हुआ मकान। वहां पहले से जो साधु अनुज्ञा लेकर स्थित हैं। शेष मुनियों के लिए भी वही अवग्रह है।)

४७७३. भूयाइपरिग्गहिते, दुमम्मि तमणुण्णवित्तु सज्झायं।

एणेण अणुण्णविए, सो च्चव य उग्गहो सेसे॥

जो द्रुम भूत आदि व्यन्तर देव से परिगृहीत है, वहां व्यन्तर की अनुज्ञा लेकर स्वाध्याय के लिए जाना होता है। एक द्वारा अनुज्ञापित होने पर शेष मुनियों के लिए वही अवग्रह है।

४७७४. सामी अणुण्णविज्जइ,

दुमस्स जस्सोग्गहो व्व असहीणे।

कूरसुरपरिग्गहिते,

दुमम्मि काणिड्डुगाण गमो॥

जो द्रुम का स्वामी है, वह अनज्ञा देता है। जिसका कोई

१-२. देखें कथा परिशिष्ट, नं. १०३-१०४।

स्वामी न हो, जो वृक्ष अस्वाधीन हो, वहां इस प्रकार कह कर अनुज्ञा ले—“जिस किसी के अधीन यह अवग्रह हो वह अनुज्ञा प्रदान करे”—यदि वह वृक्ष ‘क्रूरसुरपरिगृहीत’ हो तो ‘काणेष्टकाग्रह गम’ के अनुसार कायोत्सर्ग से देवता को आकंपित कर स्वाध्याय आदि करे।

४७७५.नेच्छंतेण व अत्रे, ईसालुसुरेण जे अणुण्णायं।

तत्थ वि सो च्चेव गमो, सगारिपिंडम्मि मग्गणता॥

ईष्यालु देवता ने गृहस्थों द्वारा न चाहते हुए भी जो वृक्षमूल साधुओं को अनुज्ञापित किया है, वहां भी वही विकल्प है—पूर्वानुज्ञापना अवस्थान जानना चाहिए। वहां स्थित मुनियों को सागारिकपिंड की मार्गणा करनी चाहिए।

४७७६.जक्खो च्चिय होइ तरो, बलिमादीगिण्हणे भवे दोसा।

सुविणे ओयरिए वा, संखडिकारावणमभिव्खं॥

जिस यक्ष ने जिस वृक्ष को परिगृहीत किया है, वही ‘तर’—शय्यातर होता है। जो बलि आदि दिया जाता है, वह शय्यातरपिंड है। उसको लेने से आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं। अथवा यक्ष वृक्षस्वामी को स्वप्न में आकर कहे—मुझे उद्दिष्ट कर बार-बार संखडी करे तो मैं कुछ भी नहीं कहूंगा। इस प्रकार बार-बार संखडी करने पर वह शय्यातरपिंड होता है। यह सोचकर उसे नहीं लेना चाहिए।

से वत्थूसु वावडेसु वोगडेसु
परपरिग्गहिएसु भिक्खुभावस्स अट्टाप
दोच्चं पि ओग्गहे अणुण्णवेयव्वे
सिया—अहालंदमवि ओग्गहे॥

(सूत्र ३१)

४७७७.सागारिगी उग्गहमग्गणेयं,

स केच्चिरं वाकड मो कहं वा।

इदाणि राउग्गहमग्गणा उ,

केणं विदिण्णो स कया कहं वा॥

सागारिक अवग्रह की मार्गणा की गई है। वह कितने काल का तथा कैसे होता है, यह पूर्वसूत्र में व्याख्यात है। अब राजावग्रह की मार्गणा की जाती है—उसको किसने कब, कैसे अनुज्ञात है? इसकी व्याख्या की जाती है।

४७७८.अणवट्टिया तर्हिं होंति उग्गहा रायमादिणो चउरो।

पासाणम्मि व लेहा, जा तित्थं ताव सक्कस्स॥

अवग्रह के पांच प्रकार हैं—देवेन्द्र अवग्रह, राजावग्रह,

गृहपति अवग्रह, सागारिक अवग्रह और साधर्मिक अवग्रह। इनमें राजावग्रह आदि चार अवग्रह अनवस्थित होते हैं। शक्र का अवग्रह पाषाण की रेखा की भांति तीर्थ पर्यन्त रहती है।

४७७९.सोऊण भरहराया, सव्विड्डी आगतो जिणसगासं।

वंदिय नमंसिया णं, भत्तेण निमंतणं कुणइ॥

एक बार महाराज भरत ने सुना कि भगवान् ऋषभ अष्टापद पर्वत पर समवसृत हुए हैं। तब वह पांच सौ शकट भक्तपान से भरकर साधुओं के लिए लेकर अपनी सर्वशक्ति से जिनेश्वरदेव के पास आया और वंदना, नमस्कार कर भक्तपान के लिए साधुओं को निमंत्रित किया।

४७८०.पीलाकरं वताणं, एय अम्हं न कप्पए घेत्तुं।

अणवज्जं गिरुवहयं, भुंजंति य साहुणो भिक्खं॥

तब साधुओं ने कहा—यह भक्तपान ब्रतों के लिए पीड़ाकारक है। इसे ग्रहण करने में हम नहीं कल्पता है। अतः साधु प्रासुक और निरुपहत—एषणीय भिक्षा लेते हैं और खाते हैं, अनेषणीय नहीं लेते।

४७८१.तं वयणं सोऊणं, महता दुक्खेण अदितो भरहो।

समणा अणुग्गहं मे, ण करिंति अहो! अहं चत्तो॥

साधुओं के वचन सुनकर भरत अत्यधिक मानसिक दुःख से पीड़ित हुआ। उसने सोचा—ये श्रमण मेरा अनुग्रह नहीं करते हैं। अहो! मैं इनसे परित्यक्त हो गया हूँ।

४७८२.नाऊण तस्स भावं, देवेदो तस्स जाणणट्टाप।

वंदिय नमंसिया णं, पंचविहं उग्गहं पुच्छे॥

देवेन्द्र ने भरत के भावों को जानकर उसको अवग्रह का स्वरूप ज्ञापित करने के लिए, भगवान् को वंदना, नमस्कार कर पांच प्रकार के अवग्रह के विषय में पूछा।

४७८३.अट्टावयम्मि सेले, आदिकरो केवली अमियनाणी।

सक्कस्स य भरहस्स य, उग्गहपुच्छं परिकहेइ॥

अष्टापद पर्वत पर आदिकर, केवली, अमितज्ञानी भगवान् ऋषभ शक्र तथा भरत के सम्मुख अवग्रह-पृच्छा का समाधान देते हैं।

४७८४.देविंद-रायउग्गह, गहवति सागारिए य साहम्मी।

पंचविहम्मि परुविते, णायव्वं जं जर्हिं कमइ॥

भगवान् ने पांच प्रकार के अवग्रहों का निरूपण किया—देवेन्द्र अवग्रह, राजावग्रह, गृहपति अवग्रह, सागारिक अवग्रह और साधर्मिक अवग्रह। इन पांच प्रकार के अवग्रहों की प्ररूपणा को जो जहां अवतरित है उसको जानना चाहिए (पीठिका गाथा ६७० आदि में जो निरूपित किया है, वह यहां भी जानना चाहिए।)

४७८५. तं वयणं सोऊणं, देविंदो वंदिकुण तित्थयरं।
वितरति अप्पणगे उग्गहम्मि जं साहुपाउग्गं॥

भगवान् के अवग्रह प्रतिपादक वचन को सुनकर देवेन्द्र ने तीर्थंकर को वन्दना कर अपने अवग्रह में जो साधुओं के प्रायोग्य सारा भक्तपान वितरण करता है अर्थात् उसकी अनुज्ञा देता है।

४७८६. सोउं तुद्धो भरहो, लद्धो मए एत्तिओ इमो लाभो।
वितरति जं पाउग्गं, केवलकप्पम्मि भरहम्मि॥

भगवान् के वचन सुनकर भरत तुष्ट हुआ और सोचा—अहो! मैंने इतना लाभ कमाया है। साधुओं के लिए प्रायोग्य भक्तपान को उसने संपूर्ण भरत में वितरित किया।

४७८७. पंचविहम्मि परूविते, स उग्गहो जाणएण घेतत्वो।

अण्णाणेणोग्गहिए, पायच्छित्तं भवे तिविहं॥

४७८८. इक्कड-कढिणे मासो, चाउम्मासा य पीढ-फलएसु।

कद्ध-कलिंवे पणंगं, छारे तह मल्लगाईसु॥

पांच प्रकार के अवग्रह की प्ररूपणा करने पर भी उस-उस अवग्रह को जानकर ग्रहण करना चाहिए। जो अज्ञानवश ग्रहण करता है उसको तीन प्रकार के प्रायश्चित्त प्राप्त होते हैं।

से अणुकुड्डेसु वा अणुभित्तीसु वा
अणुचरियासु वा अणुफरिहासु वा
अणुपंथेसु वा अणुमेरासु वा सच्चेव
ओग्गहस्स पुव्वाणुणवणा चिट्ठइ-
अहालंदमवि ओग्गहे॥

(सूत्र ३२)

४७८९. जे चैव दोन्नि षगता, सागारिय-रायउग्गहा होंति।

तेसिं इह परिमाणं, णिवोग्गहम्मि विसेसेणं॥

इक्कडमय तथा कठिनमय संस्तारक ग्रहण करने पर लघुमास, पीढफलक के चार लघुमास और काष्ठ, किलिञ्च, क्षार तथा मल्लक को ग्रहण करने पर पंचक—ये प्रायश्चित्त आते हैं।

४७९०. अणुकुड्डे भित्तीसुं, चरिया-पागारपंथ-परिहासु।

अणुमेरा सीमाणं, णायव्वं जं जहिं कमति॥

जो दो प्रकार के अवग्रह—सागारिक अवग्रह और राज अवग्रह पूर्वसूत्र में कहे गए हैं, उन्हीं का परिमाण प्रस्तुत सूत्र

में कहा गया है। उसमें भी नृप के अवग्रह का परिमाण विशेषरूप से कहा है।

अनुकुड्य, अनुभित्ती, अनुचरिका, अनुप्राकारपथ, अनुपरिखा। अनुमेरा का अर्थ है—मर्यादा, सीमा। अनुमर्यादा अर्थात् सीमा में। इससे ज्ञातव्य है कि सागारिक और राज अवग्रह की सीमा होती है।

४७९१. अणुकुड्डं उवकुड्डं, कुड्डसमीवं व होइ एगड्डं।

एमेव सेसएसु वि, तेसि पमाणं इमं होइ॥

अनुकुड्य, उपकुड्य, कुड्यसमीप—ये एकार्थक हैं। इसी प्रकार अनुभित्ति आदिपदों में जाननी चाहिए। उन अनुकुड्य आदि का अवग्रह विषयक प्रमाण यह होता है।

४७९२. वति-भित्ति-कडगकुड्डे, पंथे मेराय उग्गहो रयणी।

अणुचरियाए अट्ट उ, चउरो रयणीउ परिहाए॥

वृत्ति (बाड़), भित्ति, कटकमयीकुड्य तथा मार्गगत मर्यादा में एक हाथ प्रमाण का अवग्रह होता है। अनुचरिका में आठ हाथ का और परिखा में चार हाथ का अवग्रह होता है।

४७९३. वतिसामिणो वतीतो, हत्थो सेसोग्गहो णरवतिस्स।

तस्स तहिं ममकारो, जति वि य णिम्माणि जा भूमी॥

वृत्ति का जो स्वामी है उसकी वृत्ति के आगे हाथ प्रमाण का अवग्रह होता है। शेष सारा अवग्रह राजा का होता है। इसका कारण है कि उस गृहपति का वृत्ति के आगे हाथ प्रमाण भूभाग पर उसका ममत्व होता है। यद्यपि विवक्षितगृह तक ही उसकी भूमी, फिर भी वृत्ति के आगे एक हाथ प्रमाण तक उसका अवग्रह होता है।

४७९४. हत्थं हत्थं मोत्तुं, कुड्डादीणं तु मज्झिमो रण्णो।

जत्थ न पूरइ हत्थो, मज्झे तिभागो तहिं रत्तो॥

उन कुड्य आदि के दोनों घरों के बीच एक-एक हाथ भूभाग को छोड़ने पर मध्यगत सारा भूभाग राजा का अवग्रह होता है। जहां एक हाथ पूरा नहीं होता वहां मध्यगत तीनभाग राजा का अवग्रह और शेष दो भाग दो गृहस्वामियों का अवग्रह होता है। यह अवग्रह का परिमाण कहा गया है। (यदि उच्चार आदि तथा स्थान-निषदन आदि कुड्य आदि के हस्ताभ्यन्तर में किया जाता है तो वह गृहपति के अवग्रह में है। हाथ से बाहर चरिका, प्राकार, परिखा आदि में किया जाता है तो वहां राज अवग्रह की अनुज्ञा लेनी होती है। अटवी में भी यदि वह राज्य के अधीन हो तो वहां राज अवग्रह और यदि राजा का न हो तो वह देवेन्द्र अवग्रह के अन्तर्गत है।)

सेणा-पदं

से गामस्स वा जाव रायहाणीए वा बहिया सेणं सत्त्रिविद्धं पेहाए कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तद्धिवसं भिक्खायरियाए गंतूणं पडिएत्तए नो से कप्पइ तं रयणिं तत्थेव उवाइणावित्तए। जे खलु निग्गंथे वा निग्गंथी वा तं रयणिं तत्थेव उवाइणावेइ, उवाइणावेतं वा साइज्जइ, से दुहओ वि अइक्कममाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारद्वाणं अणुग्घाइयं॥

(सूत्र ३३)

४७९५. उवरोहभया कीरइ, सप्परिखो पुरवरस्स पागारो।

तेण र सेणासुत्तं, अणुअत्तइ उग्गहो जं च॥

शत्रुसेना के घिर जाने के भय से गांव के चारों ओर परिखायुक्त प्राकार का निर्माण किया जाता है। इसलिए 'र' सेनासूत्र का वाचक है। अवग्रह का पूर्वसूत्र से अनुवर्तन हो रहा है। अतः रोध होने पर राजा का अवग्रह अनुज्ञापित कर बहिर्गमन और प्रवेश किया जाता है।

४७९६. सेणादी गम्मिहिई, खित्तुप्पायं इमं वियाणित्ता।

असिवे ओमोरिए, भय-चक्काऽणिग्गमे गुरुगा॥

मासकल्पवाले क्षेत्र में स्थित साधुओं ने जाना कि शत्रु सेना आयेगी, तथा क्षेत्रोत्पात (परचक्र के उत्पात के चिह्न दिन में चक्रवाल से धूम निकलता है, अकाल में वृक्षों पर फल-फूल आते हैं, भूमी अत्यधिक शब्द से कंपित होती है चारों ओर क्रन्दन, कूजन आदि सुनाई देता है) होते हैं, उनको जानकर वहां से चले जाना चाहिए। इसी प्रकार अशिव, अवमौदर्य, बोधिक चोरों का भय, परचक्र का भय जानकर भी यदि वहां से निर्गमन नहीं करते हैं तो चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है।

४७९७. आणाइणो थ दोसा, विराहणा होइ संजमा-ऽऽयाए।

असिवादिम्मि परुवित्ते, अधिकारो होति सेणाए॥

तथा आज्ञाभंग आदि दोष तथा संयम और आत्मविराधना होती है। अशिवादिक प्ररूपित होने पर सेना का अधिकार होता है। (गाथा ३०६२ आदि)

४७९८. अतिसेस-देवत-णिमित्तमादि अवितह पवित्ति सोतूणं।

णिग्गमण होइ पुव्वं, अणागते रुद्ध वोच्छिण्णे॥

अवधिज्ञान के अतिशेष से स्वयंजान लिया, देवता ने कहा, नैमित्तिक ने बताया, अवितथ वार्ता को सुनकर ज्ञात हुआ—इन स्थितियों में पहले ही निर्गमन कर लेना चाहिए। यदि अनागत को नहीं जाना और नगरावरोध हो गया, मार्ग अवरुद्ध हो गए तो वहां से निर्गमन नहीं हो सकता।

४७९९. गेलन्न रोगि असिवे, रायडुट्टे तहेव ओमम्मि।

उवही-सरीरतेणग, णाते वि ण होति णिग्गमणं॥

ग्लान, रोगी, अशिव, राजद्विष्ट, अवमौदर्य, उपधि और शरीर के स्तेनों का भय—इनके ज्ञात हो जाने पर भी वहां से निर्गमन नहीं होता।

४८००. एएहि य अण्णेहि य, ण णिग्गया कारणेहिं बहुएहिं।

अच्छंति होइ जयणा, संवट्टे णगररोधे य॥

इन कारणों तथा अन्यान्य अनेक कारणों से वहां से निर्गमन न हुआ हो, वहीं रहने पर यतना करनी चाहिए। तथा संवर्त—परचक्र के भय से अनेक गांवों के लोग एकत्रित होकर रहते हैं, तथा नगररोध के समय क्या यतना होनी चाहिए—इसका विवेक आवश्यक है।

४८०१. संवट्टम्मि तु जयणा, भिक्खे भत्तट्टणाए वसहीए।

तम्मि भये संपत्ते, अवाउडा एक्कओ ठंति॥

संवर्त में रहते हुए भक्तार्थ के लिए भिक्षा में तथा वसति में यतना करनी चाहिए। उसमें परचक्र का भय होने पर अप्रावृत होकर एकरूप में रहते हैं।

४८०२. वइयासु व पल्लीसु व, भिक्खं काउं वसंति संवट्टे।

सव्वम्मि रज्जखोभे, तत्थेव य जाणि थंडिल्ले॥

व्रजिका और पल्लियों में भिक्षा कर, स्थंडिल में भोजन कर रात्री में संवर्त में आते हैं। यदि सर्वत्र राज्य का क्षोभ हो तो संवर्त में जो कुल स्थंडिल में स्थित हैं, उनमें भिक्षा करते हैं।

४८०३. पूवलिय-सत्तु-ओदणगहणं पडलोवरिं पगासमुहे।

सुक्खादीण अलंभे, अजविंता वा वि लक्खंति॥

वे भिक्षा में पूपलिका, सत्तू और शुष्क ओदन आदि शुष्क-द्रव्य जो पटल के ऊपर है उसे प्रकाशमुख वाले पात्र में लेते हैं। यदि शुष्क की प्राप्ति न हो और साधुओं के लिए पर्याप्त न मिले तो आर्द्र लेते समय वे लगे हुए खरंटक को सम्यक् प्रकार से देखते हैं।

४८०४. पच्छन्नासति बहिया,

अह सभयं तेण चिलिमिणी अंतो।

असतीय व सभयम्मि व,

धरंति अद्धेयरे भुंजे॥

संवर्त के अन्त में प्रच्छन्न प्रदेश में भक्तार्थन करना

चाहिए। यदि अन्त प्रच्छन्न न हो तो संवर्त के बाहर जाकर भोजन करना चाहिए। यदि बाहर भय हो तो संवर्त में चिलिमिलिका लगा कर भोजन करना चाहिए। यदि चिलिमिलिका न हो या भय के कारण उसको प्रगट न किया जाए तो आधे मुनि पात्र में भोजन करें और शेष 'कमठों' में। ४८०५. काले अपहुच्चंते, भए व सत्थे व गंतुकामम्भि।

कप्पुवरि भायणाइं, काउं इक्को उ परिवेसे॥

यदि बारी-बारी से खाने पर काल पूरा नहीं होता, भय के कारण शीघ्र भोजन करना हो या सार्थ वहां से जाने का इच्छुक हो कल्प के ऊपर भाजनों को स्थापित कर सभी कमठों में भोजन करते हैं और एक मुनि सबको परोसता है।

४८०६. पत्तेग वड्ढासति, सज्जिलगादेक्कओ गुरु वीसुं।

ओमेण कप्पकरणं, अण्णो गुरुणेक्कतो वा वि॥

प्रत्येक मुनि के लिए 'वड्ढक'—कमठक न हों तो सभी सहोदर होने के कारण एक वड्ढक में ही भोजन करें और गुरु पृथक् भोजन करते हैं। सभी भोजन कर चुकने पर जो लघु मुनि होता है, वह कमठकों को धोता-पौछता है, गुरु का कमठक उनके साथ नहीं मिलाता। दूसरा उसका धावन करता है।

४८०७. भाणस्स कप्पकरणं, दड्ढिल्लग मुत्ति कडुयुरुक्खे य।

तेसऽसति कमढ कप्पर, काउमजीवे पदेसे य॥

भाजनों का कल्पकरण अर्थात् धोना आदि दग्धभूमी या गोमूत्र से भावित भूभाग या कटकवृक्षों के नीचे करना चाहिए। उनके अभाव में कमठकों में या घट आदि के कर्पर में भाजनों का कल्प कर, पानी को अजीवप्रदेश में परिष्ठापित कर दे।

४८०८. गोणादीवाघाते, अलब्भमाणे व बाहि वसमाणा।

वातदिसि सावयभए, अवाउडा तेण जग्गणता॥

संवर्त के भीतर निराबाध प्रदेश में रहते हैं। यदि वहां गायों-बैलों का व्याघात हो तथा प्रासुक प्रदेश न हो, बाहर रहते हुए वहां श्वापद का भय हो तो जिस दिशा में हवा चल रही हो, उस दिशा को छोड़कर रहे। यदि परचक्र प्रवेश कर गया हो तो अपावृत होकर कायोत्सर्ग में स्थित हो जाएं और बारी-बारी से जागृत रहकर सारी रात बिताएं।

४८०९. जिणलिंगमप्पडिहयं, अवाउडे वा वि दिस्स वज्जंति।

थंभणि-मोहणिकरणं, कडजोगे वा भवे करणं॥

अचेलता लक्षण वाला जिनलिंग अप्रतिहत है। इस प्रकार रहने वाले के प्रति कोई उपद्रव नहीं करता। स्तेन भी अपावृत्तों को देखकर छोड़ देते हैं। वे मुनि स्तंभिनी, मोहनी

विद्या के द्वारा उन चोरों का स्तंभन-मोहन करते हैं। अथवा कोई कृतयोगी मुनि हो तो वह उनको शिक्षा देता है, उनका मुकाबला करता है।

४८१०. संवट्टणिग्गयाणं, गियट्टणा अट्ट रोह जयणाए।

वसही-भत्तट्टणया, थंडिल्लविगिंचणा भिक्खे॥

संवर्तनिर्गत अर्थात् गांव से निर्गत होकर संवर्त में स्थित वे मुनि भी पुनः प्रयोजनवश नगर के प्रति निवर्तना करते हैं। अथवा ग्लानत्व आदि के कारण पहले ही नगर से निवर्तन नहीं हुआ और वहां रहते आठ मास तक नगर का रोध चला तो वहां वास यतनापूर्वक करना चाहिए। वह यतना वसति, भक्तार्थन, स्थंडिल, विगिंचणा—परिष्ठापना, भैक्ष विषयक होती है।

४८११. हाणी जावेकट्टा, दो दारा कडग चिलिमिणी वसभा।

तं चेव एगदारे, मत्तग सुवणं च जयणाए॥

रोध के समय आठ वसतियों की प्रत्युपेक्षा करनी चाहिए। उनमें प्रत्येक ऋतुबद्धकाल में एक-एक मास रहे। आठ प्राप्त न हो तो सात और इस प्रकार हानि होते-होते संयत और संयतियों की एक ही वसति हो। उस एक वसति में रहने पर उसके दो द्वार होने चाहिए। अपान्तराल में कटक या चिलिमिलिका देनी चाहिए। जहां दो द्वार न हों तो एक द्वारवाली वसति में भी यही विधि है। कायिकीभूमी के अभाव में मात्रक का प्रयोग करे। यतना से स्वपन करे।

४८१२. रोहेउ अट्ट मासे, वासासु सभूमि तो णिवा जंति।

परबलरुद्धे वि पुरे, हाविति ण मासकप्पं तु॥

रोध के आठ मास बीत जाने पर वर्षावास में नृप अपनी भूमी में चले जाते हैं। साधु रोध में रहते हुये भी परबलरुद्ध नगर में मासकल्प की हानि नहीं करते। वे वहां आठ वसतियां और आठ भिक्षाचर्या की प्रत्युपेक्षा करते हैं।

४८१३. भिक्खस्स व वसहीय व,

असती सत्तेव चउरो जावेक्का।

लंभालंभे एक्केक्कगस्स

गेगा उ संजोगा॥

आठ वसतियां और भिक्षाचर्या की आठ स्थितियां न होने पर चार यावत् एक वसति और एक भिक्षाचर्या की प्रत्युपेक्षा करे। एक-एक के लाभ-अलाभ में संयोगतः अनेक विकल्प होते हैं।

४८१४. एगत्य वसंताणं, पिहहुवाराऽसतीय सयकरणं।

मज्झेण कडग चिलिमिणि, तेसुभयो थेर खुड्डीतो॥

साधु-साध्वी एकत्र रहते हुए अपान्तराल में चिलिमिलिका या कटक लगाना चाहिए। पृथक्द्वार न होने पर स्वयं भीत

बनाकर दूसरा द्वार कर लेना चाहिए। मध्य में कुड्य की स्थिति न हो तो कटक या चिलिमिलिका का प्रयोग करे। उन दोनों के पार्श्व में एक और स्थविर मुनि और दूसरी ओर क्षुल्लिका साध्वियां होती हैं।

४८१५. दारदुयस्स तु असती, मज्झे दारस्स कडग पुत्ती वा।
गिक्खम-पवेसवेला, ससद्द पिंडेण सज्झातो॥

दो द्वार न हों तो मध्य में कटक या चिलिमिलिका बांधकर दो विभाग कर ले। यदि वसति संकीर्ण हो और यह विभाग नहीं किया जा सकता तो एक साथ प्रवेश और निर्गमन का वर्जन करते हैं। निर्गमन करते समय एक साथ स्वाध्याय करते हैं।

४८१६. अंतम्मि व मज्झम्मि व,

तरुणी तरुणा य सव्वबाहिरतो।

मज्झे मज्झिम थेरी,

खुडी खुडा य थेरा य॥

जो तरुण साध्वियां हैं वे अन्त में या मध्य में होती हैं। तरुण साधुओं को सर्वतः बाह्य रखना चाहिए। मध्य में मध्यम, स्थविर और क्षुल्लिका साध्वियां होती हैं। फिर क्षुल्लक और स्थविर साधु होते हैं।

४८१७. पत्तेय समण दिक्खिय,

पुरिसा इत्थी य सव्वे एकत्था।

पच्छण्ण कडग चिलिमिणि,

मज्झे वसभा य मत्तेण॥

यदि प्रत्येक अर्थात् स्त्रीवर्जित-साध्वियों से वर्जित श्रमण तथा शाक्य आदि हों और वे सब एकत्र एक वसति में रहते हों और प्रव्रजित स्त्रियां भी एकत्र रहती हों तो साधु-साध्वियां प्रच्छन्न प्रदेश में रहे। प्रच्छन्न प्रदेश के अभाव में कटक या चिलिमिलिका बीच में बांधे और कायिकी के लिए मात्रक का प्रयोग करे।

४८१८. पच्छन्न असति निण्हग,

बोडिय भिच्छुय असोय सोया य।

पउरदव वड्डगादी,

गरहा य सअंतरं एक्को॥

प्रच्छन्न प्रदेश के अभाव में निहव के वहां, उसके अभाव में बोटिकों के वहां या भिक्षुक के वहां या अशौचवादी या शौचवादी के यहां रहे। वहां रहते हुए शौच आदि कार्य में प्रचुर पानी का उपयोग करे, कमढक में भोजन करे। शौचवादी गर्हा न करे वैसा आचरण करे। सान्तर बैठकर भोजन करे। एक क्षुल्लक मुनि कमढकों का कल्प करता है।

४८१९. पासंडीपुरिसाणं, पासंडित्थीण वा वि पत्तेगे।

पासंडित्थि-पुमाणं, व एकतो होतिमा जयणा॥

पाषंडी पुरुष तथा पाषंडी स्त्रियां अलग-अलग स्थित हैं, तथा दोनों एक साथ स्थित हों तो यह यतना है।

४८२०. जे जह असोयवादी, साधम्मी वा वि जत्थ तहिं वासो।

गिहुया य जुद्धकाले, ण वुग्गहो णेव सज्झाओ॥

जो अशौचवादी होते हैं, जो साधर्मिक होते हैं, उनके साथ साधु रहें। युद्ध के समय दोनों पक्ष निर्व्यापार होते हैं। स्वपक्ष के साथ न विग्रह करे और न स्वाध्याय करे।

४८२१. तं चेव पुव्वभणितं, पत्तेयं दिस्समाणे कुरुया य।

थंडिल्ल सुक्ख हरिए, पवायपासे पदेसेसु॥

स्थंडिल की यतना-पहले कथित (गाथा ४१९) की भांति है। प्रथम स्थंडिल की प्राप्ति न होने पर शेष स्थंडिलों में जाते समय प्रत्येक मुनि मात्रक ग्रहण करे और सागारिक के देखते हुए कुरुकुच (शौचक्रिया आदि) करे। शुष्क तृण हों वहां व्युत्सर्जन करे। उसके अभाव में हरित पर भी व्युत्सर्ग किया जा सकता है। प्रपाप, गर्त्ता आदि के पार्श्व में या यत्र-तत्र प्रदेश में व्युत्सर्ग करे।

४८२२. पढमासइ अमणुण्णेताराण गिहियाण वा वि आलोगं।

पत्तेयमत्त कुरुकुय, दवं च पउरं गिहत्थेसुं॥

४८२३. तेण परं पुरिसाणं, असोयवादीण वच्च आवातं।

इत्थी-नपुंसकेसु वि, परम्मुहो कुरुकुया सेव॥

प्रथम लक्षणवाले स्थंडिल के अभाव में अथवा वहां व्याघात होने पर मुनि दूसरे प्रकार के स्थंडिल अर्थात् अनापात-संलोक में जाए। पुरुषों का संलोक हो, वहां जाए और आचमन आदि यतनापूर्वक करे। प्रत्येक मुनि पात्र लेकर जाए और डगलकों से प्रमार्जन न करे और आचमन के पश्चात् कुरुकुच (मिट्टी से हाथ धोना) करे। 'त्रिविधे प्रत्येकं द्विविधो भेदः'-इसका तात्पर्य है कि परपक्ष तीन प्रकार का है-पुरुष, स्त्री, नपुंसक। प्रत्येक के दो-दो प्रकार हैं-शौचवादी, अशौचवादी अथवा श्रावक, अश्रावक। अथवा तीन प्रकार-स्थविर, मध्यम, तरुण अथवा प्राकृत, कौटुम्बिक, दंडिक। ये पुरुषों के भेद हैं। इसी प्रकार स्त्री, नपुंसक के भी भेद ज्ञातव्य हैं।

सामान्य पुरुषालोक वाले स्थंडिल के अभाव में अशौचवादी पुरुषालोक वाले स्थंडिल में जाए। इसके भी अभाव में स्त्री-नपुंसकालोक वाले स्थंडिल में जाए। वहां वह पराङ्मुख बैठे और कुरुकुच आदि की पूर्ववत् यतना करे।

४८२४. पच्छण्ण पुव्वभणियं,

विदिण्ण थंडिल्ल सुक्ख हरिए य।

अगड वरंडग दीहिय,

जलणे पासे पदेसेसु ॥

मुनि के शव को प्रच्छन्न—जहां सागारिक न देखें वहां परिष्ठापित करे या जैसे पहले कथित है उस प्रकार उसकी विवेचना करे। अथवा राजा द्वारा वितीर्ण—अनुज्ञात स्थंडिल का उपयोग करे। स्थंडिल में शुष्क तृण हों उसका उपयोग करे, उसके अभाव में हरियाली वाले स्थंडिल का या फिर राजा द्वारा अनुज्ञात अगड—गर्ता में, वरंडग—प्राकार के वरंडक में, या दीर्घिका में, अग्नि में या इनके पार्श्व वाली भूमी में परिष्ठापित करे।

४८२५. अन्नाए परलिंगं, उवओगद्धं तुलेत्तु मा मिच्छं।

णाते उड्ढाहो वा, अयसो पत्थारदोसो वा ॥

राजाज्ञा से शव को परलिंग करने के लिए अन्तर्मुहूर्त तक प्रतीक्षा कर फिर करे। उससे पूर्व करने पर मिथ्यात्व में वह न चला जाए। जो ज्ञात नहीं है, उसे परलिंग न करे। क्योंकि इससे उड्ढाह हो सकता है। उससे प्रवचन की अकीर्ति और प्रस्तारदोष अर्थात् कुल-गण-संघ का विनाश हो सकता है।

४८२६. न वि को वि कंचि पुच्छति,

गिंतमणितं व अंतो बाहिं वा।

आसंकिते पडिसेहो,

गिक्कारण कारणे जतणा ॥

रोध के समय यदि कोई कुछ नहीं पूछता, स्वेच्छा से आने-जाने या प्रवेश-निर्गमन करने में तो अन्तर, या बाहर गोचरी करते हैं। आशंकित होने पर निष्कारण प्रतिषेध में न जाए। कारण हो तो यतना रखे।

४८२७. पउरण्ण-पाणगमणे, चउरो मासा हवंतऽणुग्घाया।

सो त इयरे य चत्ता, कुल गण संघे य पत्थारो ॥

यदि अभ्यन्तर में प्रचुर अन्नपान प्राप्त होता हो तो बाहर जाए तो चतुर्मास अनुद्घात तथा आज्ञाभंग आदि दोष लगते हैं। वैसा करने वाला मुनि स्वयं को तथा अन्यान्य साधुओं को परित्यक्त कर देता है। इससे राजा कुल-गण-संघ का प्रस्तार—विनाश भी कर सकता है।

४८२८. अंतो अलब्भमाणे, एसणमाईसु होति जइतव्वं।

जावंतिए विसोधी, अमच्चमादी अलाभे वा ॥

यदि अभ्यन्तर में पर्याप्त भक्तपान प्राप्त न हो तो पंचक प्रायश्चित्त की विधि से एषणा आदि में प्रयत्न करे। यावन्तिका आदि विशुद्धकोटि के दोषों में प्रयत्न करने वाला चतुर्लघु प्रायश्चित्त का भागी होता है। यदि इस प्रयत्न से भी

पर्याप्त भक्तपान प्राप्त नहीं होता तो अमात्य, दानश्रद्धा वाले श्रावकों को ज्ञात कराता है। वे यदि अविशोधिकोटी दोष दृष्ट भक्तपान देते हैं तो वह ग्रहण करे।

४८२९. आपुच्छित आरक्खित,

सेट्ठी सेणावती अमच्च रायाणं।

गिग्गमण दिट्ठरूवे,

भासा य तहिं असावज्जा ॥

रोध के समय अभ्यन्तर में पर्याप्त भक्तपान न मिलने पर आरक्षिक को पूछे कि हम भिक्षा के लिए बाहर जाना चाहते हैं। उसके मनाही करने पर श्रेष्ठी, सेनापति, अमात्य या राजा को निवेदन करे। राजा तब द्वारपाल को बता देता है कि इन साधुओं को देख लो। ये भिक्षा के लिए बाहर जायेंगे, लौट कर आएंगे, इन्हें रोकना नहीं है। बाहर जाकर मुनि असावद्य भाषा बोले।

४८३०. मा वच्चह दाहामिं, संकाए वा ण देति गिग्गंतुं।

दाणम्मि होइ गहणं, अणुसट्ठादीणि पडिसेधे ॥

यदि आरक्षिक आदि कहे कि बाहर न जाएं हम आपको भोजन देंगे। वे आशंका के कारण बाहर जाने की मनाही करते हैं। वे जो कुछ देते हैं उसे ग्रहण कर लेना चाहिए। यदि आरक्षिक आदि बाहर न जाने देते हैं और न भक्तपान की व्यवस्था करते हैं तो उन्हें अनुशिष्टि देकर समझाना चाहिए।

४८३१. बहिया वि गमेतूणं, आरक्खितमादिणो तहिं गिति।

हित-णट्ट-चारिगादी, एवं दोसा जढा होति ॥

मुनि बाहर जाकर भी आरक्षिक, श्रेष्ठी आदि को बताकर भिक्षा करते हैं। ऐसा करने पर हत, नष्ट और चारिका आदि दोष परित्यक्त हो जाते हैं।

४८३२. पियधम्मे दढधम्मे, संबंधऽविकारिणो करणदक्खे।

पडिवत्तीसु य कुसले, तब्भूमे पेसए बहिता ॥

जो मुनि बाहर जाते हैं वे इन गुणों से युक्त हों—प्रियधर्मा, दृढधर्मा, जिनका अन्तर-बहि स्वजन संबंध होता है, अविकारी, करणदक्ष—भिक्षाग्रहण आदि में विवेक संपन्न, पडिवत्ति—प्रत्युत्तर देने में कुशल, उस भूमी से परिचित हों।

४८३३. केवतिय आस हत्थी, जोधा धण्णं व कित्तियं णगरे।

परितंतमपरितंतता, नागर सेणा व ण वि जाणे ॥

बाहर जाने वाले मुनि से बाह्य स्कंधावार वाले पूछते हैं—नगर के अभ्यन्तर में कितने अश्व, हाथी या योद्धा हैं? धान्य नगर में कितना है? रोध के कारण नागरिक उद्विग्न हैं या अनुद्विग्न? यह पूछे जाने पर मुनि कहे—मैं नहीं जानता।

४८३४. सुणमाणा वि न सुणिमो,

सज्झाय-ज्झाण निच्चमाउत्ता।

सावज्जं सोऊण वि,

ण हु लब्भाऽऽइक्खिउं जतिणो ॥

हम सदा स्वाध्याय-ध्यान में लीन रहते हैं अतः वार्त्ताओं को सुनते हुए भी नहीं सुनते। सावद्य बातों को सुनकर भी मुनि उन्हें बता नहीं सकते।

(मुनि कानों से बहुत सुनता है, आंखों से बहुत कुछ देखता है। किन्तु सारा देखा हुआ या सुना हुआ वह भिक्षु किसी को कह नहीं सकता, वह न कहे।)

४८३५. भत्तट्टणमालोए, मोत्तूणं संकिताइं ठाणाइं।

सच्चित्ते पडिसेधो, अत्तिगमणं दिट्ठरूवाणं ॥

भक्तार्थन अर्थात् भोजन प्रकाश में होता है। जो शंकित स्थान हों वहां भोजन न करे। जो सचित्त अर्थात् शैक्ष प्रव्रज्या लेना चाहे उसे प्रव्रजित न करे। आते समय द्वारपाल ने जिनको देखा है उनका ही अतिगमन-प्रवेश होता है।

४८३६. सावग-सण्णिट्ठाणे, ओतवितेकतर इतर भत्तइं।

तेसऽसती आलोए, वड्डग-कुरुयादि स च्वेव ॥

जहां श्रावक और श्राविका—दोनों साधु सामाचारी कुशल हों वहां भोजन करे। उनके अभाव में एक भी कुशल हो तो वहां भोजन करे। एक भी यदि खेदज्ञ न हो तो अखेद श्रावकों के समक्ष भी भोजन ले। उनके अभाव में अटवी में, आलोक में, अशंकनीय प्रदेश में भोजन करे। वड्डग और कुरुकुच आदि में यही यतना है।

४८३७. भत्तट्ठिय बाहाडा, पुणरवि घेतुं अतिंति पज्जत्तं।

अणुसट्ठी दारट्ठे, अण्णो वऽसतीय जं अंतं ॥

इस प्रकार भक्तपान पर्याप्त ग्रहण कर भोजन कर लेने के पश्चात् 'वाहाडित'—भुक्तन्यूनभाजन वाले वे मुनि नगर में प्रवेश करते हैं। द्वारपाल यदि भोजन मांगता है तो उसे अनुशिष्टि दे। यदि अन्य कोई देता है तो उसका निषेध न करे। उसके अभाव में जो अन्त-प्रान्त हो उसे दे।

४८३८. रुद्धे वोच्छिन्ने वा, दारट्ठे दो वि कारणं दीवे।

इहरा चारियसंका, अकालओखंदमादीसु ॥

द्वार रुद्ध हो या व्यवच्छिन्न हो तो साधु द्वारपाल के आगे दोनों—आभ्यन्तर और बाह्य कारणों को बताते हैं। यदि नहीं बताते हैं तो चारिका की आशंका हो सकती है। तथा अकाल और घाटी आदि से संबंधित चारिका की आशंका होती है।

४८३९. बाहिं तु वसिउकामं, अतिणेंती पेल्लणा अणेच्छंते।

गुरुगा पराजय जये, बितियं रुद्धे व वोच्छिण्णे ॥

बाहर निर्गत कोई साधु सोचता है—मैं मुक्त हो गया, अब

मैं बाहर ही रह जाऊं। उसे दूसरा मुनि कहता है—ऐसा करना हमें नहीं कल्पता। वे उस मुनि को प्रेरित कर या बलात् नगर में प्रवेश कराते हैं। कदाचित् अभ्यन्तर रहने वालों की पराजय और बाहर वालों की विजय हो जाए तो आशंका के कारण प्रस्तारदोष—विनाश हो सकता है। उसका अपवाद पद यह है—बाहर निर्गत मुनियों के लिए यदि नगर के सारे द्वार अवरुद्ध हों या व्यवच्छिन्न हों तो वहां रहना शुद्ध है।

से गामंसि वा जाव सत्तिवेसंसि वा
कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
सव्वओ समंता सकोसं जोयणं ओग्गहं
ओगिण्हित्ताणं चिट्ठित्तए परिहरित्तए ॥

—त्ति बेमि ॥

(सूत्र ३४)

४८४०. गामाइयाण तेसिं, उग्गहपरिमाणजाणणासुत्तं।

कालस्स व परिमाणं, वुत्तं इहइं तु खेत्तस्स ॥

अनन्तर सूत्रोक्त ग्राम आदि का कितना अवग्रह होता है। यह जापित करने के लिए प्रस्तुत सूत्र का प्रारंभ हुआ है। पूर्व सूत्रों में काल का परिमाण बताया गया है। प्रस्तुत सूत्र में क्षेत्र का परिमाण कथित है।

४८४१. उड्डमहे तिरियं पि य, सकोसगं होइ सव्वतो खेत्तं।

इंदपदमाइएस्सुं, छदिसि सेसेसु चउ पंच ॥

ऊर्ध्व दिशा, अधोदिशा और तिर्यक् दिशा में चारों ओर से सक्रोश योजन क्षेत्र का अवग्रह होता है। इन्द्रपद अर्थात् अजाग्रपदगिरि के चारों ओर ग्राम हैं। उन मध्यमश्रेणी वाले ग्राम में स्थित मुनियों के छहों दिशाओं में क्षेत्र होता है। शेष पर्वतों के चार या पांच दिशाओं में सक्रोश योजन क्षेत्र अवग्रह होता है।

४८४२. एणं व दो व तिन्नि व, दिसा अकोसं तु सव्वतो वा वि।

सव्वत्तो तु अकोसे, अग्गुज्जाणाओ जा खेत्तं ॥

एक, दो, तीन दिशाओं में पर्वत आदि के व्याघात से चारों ओर से अक्रोश क्षेत्र अवग्रह होता है। वहां सर्वतः अक्रोश गत ग्राम आदि में ग्रामोद्यान तक क्षेत्र होता है, उससे आगे अक्षेत्र होता है।

४८४३. संजम-आयविराहण, जत्थ भवे देह-उवहितेणा वा।

तं खलु ण होइ खेत्तं, उग्घेयव्वं च किं तत्थ ॥

जहां ग्राम आदि में संयमविराधना और आत्मविराधना होती है, जहां शरीर-स्तेन और उपधि स्तेन होते हैं, वह क्षेत्र

नहीं होता। वहां क्या अवग्रह हो सकता है—जिससे उसको क्षेत्र कहा जाए?

४८४४. खेत्तं चलमचलं वा, इंदमणिंदं सकोसमक्रोसं।
वाघातम्मि अकोसं, अडवि जले सावए तेणे॥

जहां क्षेत्र अवग्रह की विचारणा हो, वह क्षेत्र दो प्रकार का होता है—चल और अचल। प्रत्येक के दो-दो भेद हैं—ऐन्द्र, अनिन्द्र। इनमें से जो अचल और अनिन्द्र है उसके दो प्रकार हैं—सक्रोश और अक्रोश। जिस दिशा में व्याघात होता है, उसमें अक्रोश होता है। व्याघात क्या हो सकते हैं—अटवी, समुद्र या नदी, श्वापद और स्तेन।

४८४५. सेसे सकोस मंडल, मूलनिबंधं अणुमुयंताणं।
पुव्वुडिताण उग्गहो, सममंतरपल्लिगा दोणहं॥

शेष अर्थात् जहां व्याघात न हो वहां मंडल के चारों ओर सर्वतः सक्रोश योजन अवग्रह होता है। यह मूलनिबंध अर्थात् मंडल को न छोड़ते हुए माना गया है। जैसे—मूलग्राम से प्रत्येक दिशा में आधा-आधा योजन क्रोश से समधिक अवग्रह होता है। वह चारों दिशाओं में सक्रोश योजन होता है। जो सक्रोश या अक्रोश में पूर्वस्थित हैं उनके यह अवग्रह होता है। यदि संबद्ध क्षेत्रों में एक साथ अनुज्ञापित हुआ हो तो यदि दो अन्तरपल्ली हों तो एक की एक अन्तरपल्ली और शेष सबकी दूसरी अन्तरपल्ली होती है। यदि एक ही अन्तरपल्ली हो तो वह दोनों के लिए साधारण होती है।

४८४६. खेत्तस्संतो दूरे, आसण्णं वा ठिताण समगं तु।
अद्धं अद्धद्धं वा, दुगाइसाहारणं होइ॥

जहां अनेक अन्तरपल्लिकाएं हों वहां की विधि यह है—कोई क्षेत्र के अभ्यन्तर होती है, कोई दूर, कोई निकट है। (जहां से आनीत आहार क्षेत्रातिक्रान्त न हो), इनमें जो स्थित हैं उन सबमें ये अन्तरपल्लियां विभाजित कर बांट दी जाएं। आधी या पाव संख्या वाली अन्तरपल्लिकाएं तीन भाग कर या दो भाग कर—ये पल्लियां दो-तीन गच्छों के लिए साधारण होती हैं।

४८४७. तण-डगल-छार-मल्लग-संथारग-भक्त-पाणमादीणं।
सति लंभे अस्सामी, खेत्तिय ते मोत्तऽणुणवणा॥

तृण, डगल, क्षार, मल्लक, संस्तारक, भक्त-पान आदि का प्रचुर लाभ होने पर क्षेत्रिक उसके अस्वामी होते हैं। क्षेत्रिकों ने जिन तृण, डगल आदि की अनुज्ञापना की हो, उनको छोड़कर अर्थात् वे अक्षेत्रिकों की नहीं होतीं।

४८४८. ओहो उवग्गहो वि य, सच्चित्तं वा वि खेत्तियस्सेते।

मोत्तूण पाडिहारिं, असंथरंते वऽणुणवणा॥

ओघउपधि और औपग्रहिक उपधि तथा सचित्त अर्थात् शैक्ष क्षेत्रीय के आभाव्य होते हैं। प्रातिहारिक उपधि को छोड़कर वे दोनों प्रकार की उपधि को गृहस्थों से याचित करते हैं तो भी प्रायश्चित्त के भागी नहीं होते। यदि शीतकाल आदि में अपने पास वाले वस्त्रों से जीवन यापन न कर सकने पर वस्त्र आदि की अनुज्ञापना करे।

४८४९. जइ पुण संथरमाणा, ण दिति इतरे व तेसि गिण्हंति।

तिविधं आदेसो वा, तेण विणा जा य परिहाणी॥

यदि क्षेत्रिक मुनियों के पास निर्वाहयोग्य वस्त्र हों और वे यदि अक्षेत्रीय मुनियों को वस्त्र नहीं देते अथवा वे अक्षेत्रीय मुनि बलात् लेते हैं तो तीन प्रकार का प्रायश्चित्त (जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट) सूत्र के आदेश से प्राप्त होता है। तथा वस्त्र के बिना जो परिहानि होती है, उससे निष्पन्न प्रायश्चित्त भी आता है।

४८५०. जे खेत्तिया मो त्ति ण दंति ठाणं,

लंभे वि जाऽऽगंतुवयंते हाणी।

पेल्लंति वाऽऽगंतु असंथरम्मि,

चिरं व दोणहं पि विराहणा उ॥

यदि क्षेत्रीय मुनि भक्तपान का प्रचुरलाभ होने पर भी दूसरों को स्थान नहीं देते तो आगंतुक मुनियों के जो परिहानि होती है, उससे निष्पन्न प्रायश्चित्त आता है। यदि आगंतुक क्षेत्रीय मुनियों को प्रेरित कर वहां चिरकाल तक या अल्प काल तक रहते हैं तो क्षेत्रीय मुनियों के असंस्तरण से होने वाली विराधना का प्रायश्चित्त आता है।

४८५१. अत्थि हु वसभग्गामा, कुदेसणगरोवमा सुहविहारा।

बहुगच्छुवग्गहकरा, सीमच्छेदेण वसियव्वं॥

वहां वृषभग्राम हों जो कुदेश के नगर की उपमा वाले हों, सुखविहार वाले हों, अनेक गच्छों के उपग्रहकारक हों तो वहां सीमा बनाकर रहा जा सकता है।

४८५२. एक्कवीस जहण्णेणं, पुव्वुडिते उग्गहो इतरे भत्तं।

पल्ली पडिवसभे वा, सीमाए अंतरा गामो॥

वृषभग्राम उन्हें कहा जाता है जहां वर्षा ऋतु में इकतीस सन्त और ऋतुबद्धकाल में पन्द्रह सन्त रह सकते हैं। वहां जो पूर्वस्थित मुनि हैं, उनका अवग्रह होता है। जो केवल भक्तपान के लिए रहते हैं उन्हें सीमा करके रहना चाहिए। सीमा जैसे—तुम अन्तरपल्ली में पर्यटन करो, हम प्रति-वृषभग्राम—मूलगांव से आधे योजन की दूरी पर स्थित बड़े

गांव में पर्यटन करेंगे। अथवा प्रतिवृषभग्राम और मूलग्राम के मध्य में जो ग्राम है, उसमें आधे में आप पर्यटन करें आधे में हम पर्यटन करेंगे—यह सीमा बांधे।

४८५३. इंद्वकीलमणोग्गहो, जत्थ य राया जहिं च पंच इमे।

सेट्टि अमच्च पुरोहिय, सेणावति सत्थवाहे य॥

जहां इन्द्रकीलक—इन्द्रस्थूणा आरोपित होता है वहां अवग्रह नहीं होता। जहां राजा रहता है, वहां ये पांच होते हैं—श्रेष्ठी, अमात्य, पुरोहित, सेनापति और सार्थवाह। वहां भी अवग्रह नहीं होता।

४८५४. अद्धाणसीसए वा, समोसरणे वा वि ण्हाण अणुयाणे।

एतेसु णत्थि उग्गहो, वसहीए मग्गण अखेत्ते॥

अध्वशीर्षक, समवसरण, स्नान—अर्हत् प्रतिमा को स्नान कराने का स्थान, रथयात्रा—इन सबमें अवग्रह नहीं होता। अतः ये अवग्रह के अक्षेत्र होते हैं। इनमें रहते हुए अवग्रह की मार्गणा करनी चाहिए।

४८५५. बहुजणसमागमो तेसु होति बहुगच्छसन्निवातो य।

मा पुव्वं तु तदद्दा, पेल्लेज अकोविया खेत्तं॥

इन्द्रकीलक आदि स्थानों में बहुत सारे लोगों का समागम होता है। वहां उनके गच्छों का सन्निपात होता है। वहां कोई पहले आकर क्षेत्र को अपना न बना ले, इसलिए वहां अवग्रह नहीं होता।

४८५६. सद्धा दलंता उवहिं निसिद्धा,

सिट्ठे रहस्सम्मि करेज्ज मच्चुं।

पभावयंते य ण मच्छरेणं,

तित्थं सलद्धी दुहतो वि हाणी॥

वहां पहले जाने वाले मुनि को श्राद्ध वस्त्र आदि देते हैं, उनको निषेध कर देते हैं कि यह लेना हमें नहीं कल्पता। श्राद्धों को मन में मन्यु—अप्रीति उत्पन्न हो जाती है। वे मुनि लब्धि आदि से संपन्न हैं। वे सोचते हैं—हमें यहां कुछ भी लाभ नहीं होगा, इस मात्सर्यभाव से वे उस क्षेत्र को धर्मकथा आदि से प्रभावित नहीं करते। इस प्रकार दोनों ओर से हानि—न शैक्ष कोई प्राप्त होता है और न आहार, वस्त्र आदि प्राप्त होते हैं।

४८५७. एगालयट्टियाणं, तु मग्गणा दूरे मग्गणा नत्थि।

आसण्णे तु ठियाणं, तत्थ इमा मग्गणा होइ॥

एक वसति में रहने वाले मुनियों के अवग्रह की मार्गणा होती है। जो दूर स्थित है उनके अवग्रह की मार्गणा नहीं होती। जो निकट स्थित है उनके अवग्रह की मार्गणा होती है।

४८५८. सज्जाय काल काइय,

निल्लेवण अच्छणे असति अंतो।

वसहिगमो पेल्लंतो,

वसही पुण जा समापुण्णा॥

उपाश्रय में यदि स्वाध्यायभूमी, कालप्रतिलेखनाभूमी, कायिकीभूमी, पात्रनिर्लेपनभूमी, बैठने की भूमी—ये सारी एक साथ अनुज्ञापित हों तो सबके लिए साधारण होती हैं। जो वहां पूर्वस्थित हैं, उनके अवग्रह होता है, बाद में आने वालों का नहीं। यदि स्थान रिक्त हो और आने वालों की अनुज्ञापना नहीं करते हैं तो वसति संबंधी जो विकल्प है, वही प्रायश्चित्त इसमें लागू होता है। वसति यदि श्रमणों से पूर्ण हो और दूसरों को वहां प्रेरित करे तो वहां दोष होते हैं।

४८५९. वइगा सत्थो सेणा, संवट्ठो चउविहं चलं खेत्तं।

एतेसिं गाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए॥

ब्रजिका, सार्थ, सेना और संवर्त—ये चारों चल क्षेत्र हैं। मैं अब क्रमशः इनके नानात्व की चर्चा करूंगा।

४८६०. जेणोग्गहिता वइगा, पमाण तूह दुह भंडि परिभोजे।

समवइग पुव्व उग्गह, साहारण जं च णीसाए॥

जिस साधु ने जिस ब्रजिका का अवग्रहण कर लिया है, वह ब्रजिका का स्वामी होता है। कुछ आचार्य इसका प्रमाण मानते हैं—जितने भूभाग में गाएं चरने वाली हैं, वहां तक उसका अवग्रह होता है, जलपान के लिए गाएं जितने भूभाग में, कोई कहता है—जहां गाएं दुही जाती हैं—आचार्य कहते हैं—ये सारे अनादेश हैं। जितने स्थान में भण्डिका—शकट रहते हैं—यह अवग्रह का प्रमाण है। जहां साधुओं के दो वर्ग एक ही ब्रजिका में हों तो वहा ब्रजिका साधारण होती है—दोनों की होती है। एक वर्ग पूर्वस्थित हो तो उसका अवग्रह होता है। यदि दो वर्ग पारम्परिक निश्रा से उठरे हों तो अवग्रह साधारण होता है।

४८६१. ण गोयरो णेव य गोणिपाणं,

णावेट्ट दुज्झंति व जत्थ गावो।

अब्भत्थ गोणादिसु जत्थ खुण्णं,

स उग्गहो सेसमणुग्गहो तु॥

न गोचर, न गोपानस्थान, न गायों को दुहने का स्थान, अवग्रह होता है किन्तु ब्रजिका के आसपास जहां गाएं घूमती हैं जितनी भूमी शकटों से आक्रान्त हो, उतना ही अवग्रह होता है, शेष अवग्रह नहीं होता।

४८६२. जह समगं दो वइगा, ठिता तु साधारणं ततो खेत्तं।

अण्णवइगाए सहिता, तत्थेवउण्णे ठिता अपभू॥

यदि एक ही ब्रजिका में दो गच्छ स्थित हों तो दोनों के लिए क्षेत्र समान होता है। किसी ब्रजिका में पहले साधु स्थित हैं, फिर दूसरे साधु दूसरी ब्रजिका से वहां आएँ और वहीं स्थित हों तो पहले वाले साधु उस ब्रजिका के स्वामी हैं, पश्चात् आगत साधु प्रभु नहीं हैं।

४८६३.अन्नोन्नं णीसाए, ठिताण साहारणं तु दोण्हं पि।
णीसद्धिताए अपभू, तत्थ व अण्णत्थ व वसंता॥

जो मुनि परस्पर निश्रा में स्थित हों तो वह क्षेत्र दोनों के लिए साधारण होता है। निश्रा से स्थित साधु तथा आगंतुक साधु उसी ब्रजिका में स्थित हों तो वे पश्चात् आगत मुनि अप्रभु होते हैं, पूर्वस्थित साधु ही प्रभु होते हैं।

४८६४.दुग्गद्धिए वीरअहिद्धिए वा,

कते णिवाणे व ठिएहिं पुव्वं।

भएण तोयस्स व कारणेणं,

ठायंतगाणं खलु होइ णिस्सा॥

दुर्ग पर स्थित या अन्य निर्भयस्थान पर स्थित अन्य ब्रजिका अथवा वीर स्वामी द्वारा अधिष्ठित ब्रजिका अथवा पूर्वस्थित गोकुल द्वारा कृत निपानस्थान है वहां भय के कारण या पानी के कारण वहां रहने वालों के लिए दूसरे वे गोकुलिकों की निश्रा होती है।

४८६५.भयसा उद्धेतुमणा, वइगा अण्णा य तत्थ जइ एज्जा।
पच्छापते निस्सा, जे पुव्वठिया ण ते पभुणो॥

कोई ब्रजिका भय के कारण अपने स्थान से अन्यत्र जाना चाहती है, यदि नई ब्रजिका वहां आ जाए, यदि उसकी निश्रा पूर्व ब्रजिका लेती है तो पूर्वस्थित मुनि उसके अवग्रह के स्वामी नहीं होते, किन्तु पश्चात् आने वाले के होते हैं।

४८६६.वइगाए उद्धियाए, अच्छंते अहव होज्ज गेलन्नं।
अन्ने तत्थ पविट्ठा, तम्मि व अण्णम्मि वा तूहे॥

जिस ब्रजिका में साधु रहते थे वह ब्रजिका वहां से उठ गई, वहां रहने वाले मुनि अथवा कोई मुनि ग्लान हो गया तो मुनि वहीं रह रहे हैं और वहां अन्य गोकुलिक प्रविष्ट हो गए तो वहां 'तूहे'—गायों के पानी पीने का स्थान हो या अन्यत्र स्थान के अवग्रह की मार्गणा होती है।

४८६७.जइ वा कुडी-पडालिसु,पुव्विल्लकतासु ते ठिता संता।
अण्णम्मि वि पज्जेता, तूहे अस्सामिणो होंति॥

यदि वे आगंतुक गोकुलिक पूर्व गोकुलिकों द्वारा किए हुए कुटी, पडालिका में स्थित हों तो अन्य तीर्थ में गायों को पानी पिलाने पर भी अवग्रह के अस्वामी होते हैं। अतः पूर्वस्थित साधु यदि निष्कारण होते हैं तो वे अस्थायी हैं।

ग्लान आदि के कारण से स्थित हों तो वे अवग्रह के स्वामी होते हैं।

४८६८.अन्नत्थ वा वि ठाउं, पाइंति कइल्लए जइ निवाणे।

ते खलु ण होंति पहुणो, सभावतूहे पहू हुंति॥

अथवा पूर्वकृत कुटी या पडालिका को छोड़कर अन्यत्र स्थित हों और यदि पूर्वकृत निपान में गायों को पानी पिलाते हैं तो आगंतुक साधु अवग्रह के अप्रभु होते हैं। यदि स्वाभाविक निपान में पानी पिलाते हैं तो आगंतुक साधु प्रभु होते हैं।

४८६९.एमेव कासकप्पे, अतीरिए उद्धियाए पत्तिवरा।
पुव्विल्ला हुंति पहू, पुण्णे हट्ठा य न लहंति॥

इसी प्रकार असंपूर्ण मासकल्प वाले क्षेत्र में पूर्व ब्रजिका उत्थित हो गई और नई ब्रजिका आ गई तो पूर्वस्थित साधु अवग्रह के स्वामी होते हैं। जो स्वस्थ होने पर भी वहीं रहते हैं तो वे अवग्रह के स्वामी नहीं होते।

४८७०.फासुग गोयरभूमी, उच्चारे चव छण्ण वसही य।
हट्ठा वि लभंतेवं, तदभावे पच्छ जे पत्ता॥

यदि वहां प्रासुक गोचरभूमी और उच्चारभूमी हो और आच्छन्न वसति प्राप्त हो और नीरोग मुनि भी वहां रहें तो उन्हें अवग्रह का लाभ मिलता है। उन कारणों के अभाव में पूर्व मुनियों को नहीं, किन्तु पश्चात् प्राप्त मुनियों को अवग्रह का लाभ मिलता है।

४८७१.जेणोग्गहिओ सत्थो,

जेण य सत्थाहो समग दोण्हं पि।

जावइया पडिसत्था,

पुव्वठिय साहारणं जं च॥

जिस साधु ने सार्थ का पहले अवग्रहण कर लिया या जिसने सार्थवाह को पहले अनुज्ञापित कर लिया है उसका अवग्रह होता है। जितने भी प्रतिसार्थ—छोटे सार्थ होते हैं बड़े सार्थ से मिलते हैं और उनमें जो साधु होते हैं वे पूर्व साधुओं से उपसंपन्न होते हैं। वहां परस्पर निश्रा से रहने के कारण वह साधारण होता है, सबके लिए समान होता है।

४८७२.सत्थे अहप्पधाणा, एक्केणेक्केण सत्थवाहो उ।
आपुच्छिया विदिण्णे, दोण्ह वि मिलिया व एगट्ठा॥

सार्थ में जो प्रधानपुरुष होते हैं उनको एक साधु ने अनुज्ञापित कर डाला और एक ने सार्थवाह से पूछ लिया और उसने आज्ञा दे दी तो दोनों का वह साधारण क्षेत्र होता है।

४८७३.इंतं महल्लसत्थं, डहरागो पडिच्छए ण ते पभुणो।
तुरियं वा आधावति, भएण एमेव अस्सामी॥

किसी महान् सार्थ को कोई लघुतर सार्थ प्रतीक्षा करता है तो लघुतर सार्थ के साधु अवग्रह के स्वामी नहीं होते। जो सार्थ भय के कारण महान् सार्थ से मिलने के लिए त्वरा करता है वह भी अस्वामी होता है।

४८७४. अडवीमज्झम्मि णदी, दुग्गं वा एत्थ दो वि वसिऊणं।

बोलेहामो पभाए, णिस्सा साधारणं कुणइ॥

दो सार्थ एकत्र मिले। उन्होंने परस्पर यह निश्रा की—जो अटवी के मध्य नदी है वहां दोनों सार्थ रात्री में विश्राम कर प्रभात में आगे प्रस्थान करेंगे। दोनों के निश्रा के कारण सारा आभाव्य साधारण होता है, दोनों का होता है।

४८७५. सेणाए जत्थ राया, अणोग्गहो जत्थ वा पविट्ठो सो।

सेसम्मि उग्गहो जो, गमो उ वइगाए सो इहइं॥

जहां जिस सेना में राजा होता है, वहां अवग्रह नहीं होता तथा जिस नगर या गांव में राजा प्रवेश कर जाता है, वहां भी अवग्रह नहीं होता। शेष क्षेत्र में जो अवग्रह होता है, वह समान होता है। ब्रजिका के विषय में जो विकल्प कहा गया है, वह यहां भी लागू होता है।

४८७६. नागरगो संवट्ठो, अणोग्गहो जत्थ वा पविट्ठो सो।

सेसम्मि उग्गहो जो, गमो उ सत्थम्मि सो इहइं॥

नगर संबंधी संवर्त में अवग्रह नहीं होता तथा नागरक संवर्त जहां प्रविष्ट होता है, वहां भी अवग्रह नहीं होता। शेष अर्थात् ग्रामेयक संवर्त में अवग्रह होता है, परंतु सार्थ के विषय में जो विकल्प कहा है, वह यहां भी द्रष्टव्य है।

तीसरा उद्देशक समाप्त

चौथा उद्देशक
(गाथा ४८७७-५६८१)

चौथा उद्देशक

पायच्छित्त-पदं

तओ अणुग्घाइया पण्णत्ता, तं
जहा-हत्थकम्मं करेमाणे, मेहुणं
पडिसेवमाणे, राईभोयणं भुंजमाणे ॥

(सूत्र १)

४८७७.सुत्ते सुत्तं बज्झति, अंतिमपुप्फे व बज्झती तंतु।

इय सुत्तातो सुत्तं, गहंति अत्थातो सुत्तं वा ॥

सूत्र (तन्तु) के साथ सूत्र बांधा जाता है। अंतिम पुष्प में पहले तन्तु से दूसरा तन्तु बांधा जाता है। इस प्रकार सूत्र से सूत्र ग्रथित होता है। अथवा अर्थ से दूसरा सूत्र ग्रथित होता है। 'वा' शब्द के द्वारा अर्थ से अर्थ का संबंध भी होता है।^१

४८७८.घोसो त्ति गोउलं ति य, एगहं तत्थ संवसं कोई।

खीरादिविंधियतणू, मा कम्मं कुञ्ज आरंभो ॥

घोष और गोकुल—ये दोनों शब्द एकार्थक हैं। वहां रहने वाला कोई मुनि अपने शरीर को दूध आदि के सेवन से हृष्ट पुष्ट कर लेता है। वहां रहता हुआ वह हस्तकर्म आदि न करे, मैथुन का सेवन न करे, इसलिए प्रस्तुत सूत्र का प्रारंभ है।

४८७९.हेट्ठाऽणंतरसुत्ते, वुत्तमणुग्घाइयं तु पच्छित्तं।

तेण व सह संबंधो, एसो संदट्ठओ णामं ॥

तीसरे उद्देशक के अंतिम सूत्र के पश्चात्पूर्वी सूत्र 'रोधक सूत्र' में भिक्षाचर्या के लिए गया हुआ मुनि रात्री में वहीं रह जाता है तो उसको साक्षात् अनुद्घातिक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है यह कहा है, यहां (प्रस्तुत सूत्र में) भी यही कहा है, इसलिए उसके साथ (रोधक सूत्र के साथ) इसका 'संदष्टक'^२ नामक संबंध है।

४८८०.उवचियमंसा वतियानिवासिणो मा करेज्ज करकम्मं।

इति सुत्ते आरंभो, आइल्लपदं च सूएइ ॥

४८८१.तह वि य अटायमाणे, तिरिक्खमाईसु होइ मेहुत्तं।

निसिभत्तं गिरिजण्णे, अरुणम्मि व दुद्धमाईयं ॥

ब्रजिका में निवास करने वाले मुनि उपचितमांस वाले होकर हस्तकर्म न करें, यह प्रस्तुत सूत्र का विषय है। यही सूत्र का आदिपद सूचित करता है।

तथापि हस्तकर्म को न छोड़ने पर कदाचित् तिर्यञ्चों से भी मैथुन की प्रतिसेवना हो सकती है। वहां गिरियज्ञ आदि में रात्रीभक्त का वह सेवन कर सकता है तथा अरुणोदयवेला में दूध आदि भी ग्रहण कर सकता है।

४८८२.एक्कस्स ऊ अभावे, कतो तिगं तेण एक्कगस्सेव।

णिक्खेवं काऊणं, णिप्फत्ती होइ तिण्हं तु ॥

एक के अभाव में तीन कहां से होगा। इसलिए 'एक' का ही निक्षेप करने के पश्चात् तीन की निष्पत्ति होती है।

४८८३.नामं ठवणा दविए, मातुगपद संगहेक्कए चेव।

पज्जव भावे य तहा, सत्तेएक्केक्कगा होंति ॥

ये सात एक-एक होते हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, मातृकापद, संग्रह, पर्यव और भाव।

४८८४.दब्बे तिविहं मादुकपदम्मि उप्पण्ण-भूय-विगतादी।

सालि त्ति व गामो त्ति व, संघो त्ति व संगहेक्कं तु ॥

द्रव्य एकक तीन प्रकार का होता है—सचित्त, अचित्त और मिश्र। मातृकापद एकक भी तीन प्रकार का है—उत्पन्न, भूत और विगत संग्रह एकक बहुत्व होने पर भी एक वचन से अभिहित होता है—जैसे शालि, ग्राम, संघ आदि।

४८८५.दुविकप्पं पज्जाए, आदिट्ठं जण्ण-देवदत्तो त्ति।

अणादिट्ठं एक्को त्ति य, पसत्थमियरं च भावम्मि ॥

पर्याय एकक दो प्रकार का होता है—आदिष्ट—यज्ञदत्त, देवदत्त आदि, अनादिष्ट—कोई एक मनुष्य। भाव एकक के दो प्रकार हैं—प्रशस्त तथा अप्रशस्त।

४८८६.नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले य गण्ण भावे य।

एसो उ खलु तिगस्सा, निक्खेवो होइ सत्तविहो ॥

१. इसी प्रकार जिस अंतिम सूत्र से उद्देशक पूरा होता है, उस सूत्र से अगले उद्देशक का पहला सूत्र यदि सदृशविषयवस्तु वाला हो तो सूत्र से सूत्र बांधा जाता है। कहीं-कहीं अर्थ के आधार पर भी अपर सूत्र का संबंध होता है। (वृ. पृ. १३०७)

२. 'सन्दष्टको' नाम सदृशपूर्वापरसूत्रद्वयसन्दंशकगृहीत इव संबन्धो भवति। (वृ. पृ. १३०८)

त्रिक का निक्षेप सात प्रकार का होता है—नामत्रिक, स्थापनात्रिक, द्रव्यत्रिक, क्षेत्रत्रिक, कालत्रिक, गणनात्रिक और भावत्रिक।

४८८७. दब्बे सच्चित्तादी, सच्चित्तं तत्थ होइ तिविहं तु।
दुपय चतुप्पद अपदं, परूवणा तस्स कायव्वा॥

द्रव्यत्रिक के तीन प्रकार हैं—सचित्तत्रिक, अचित्तत्रिक और मिश्रत्रिक। सचित्तत्रिक के तीन प्रकार हैं—द्विपदत्रिक, चतुष्पदत्रिक और अपदत्रिक। उनकी प्ररूपणा करनी चाहिए।
४८८८. परमाणुमादियं खलु, अच्चित्तं मीसमं च मालादी।

तिपदेस तदोगाढं, तिण्णि व लोगा उ खेत्तम्मि॥

परमाणुत्रिकादि आदि शब्द से द्विप्रदेशिकत्रय यावत् अनन्तप्रदेशिकत्रय अचित्त है। मालादिविक मिश्रत्रिक है। तीन प्रदेशों में अवगाढ द्रव्य क्षेत्रत्रय है अथवा तीन लोक हैं—ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोक—ये क्षेत्रत्रय हैं।

४८८९. तिसमय तद्धित्तं वा, कालत्तिगं तीयमात्तिणो चेव।

भावे पसत्थमितरं, एक्केक्कं तत्थ तिविहं तु॥

तीन समय, तिसमयस्थितिक, या कालत्रिक—अतीत, अनागत और वर्तमान। भाव दो प्रकार का है—प्रशस्त और अप्रशस्त। प्रत्येक के तीन-तीन प्रकार हैं—ज्ञान, दर्शन और चारित्र—यह प्रशस्त है। मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति—यह अप्रशस्त है।

४८९०. उग्घातमणुग्घाते, निक्खेवो छव्विहो उ कायव्वो।

नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले य भावे य॥

उद्घातिक और अनुद्घातिक शब्द के छह-छह प्रकार के निक्षेप होते हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव।

४८९१. उग्घायमणुग्घाया, दव्वम्मि हलिहराग-किमिरागा।

खेत्तम्मि कण्हभूमी, पत्थरभूमी य हलमादी॥

द्रव्यतः उद्घातिक है—हरिद्राराग और अनुद्घातिक है—कृमिराग। क्षेत्रतः उद्घातिक है कृष्णभूमी और अनुद्घातिक है प्रस्तरभूमी। क्योंकि हल, कुलिक आदि से कृष्णभूमी खोदी जा सकती है, प्रस्तरभूमी अशक्य होती है।

४८९२. कालम्मि संतरं गिरंतरं तु समयो य होतऽणुग्घातो।

भव्वस्स अद्द पयडी, उग्घात्तिम एतरा इयरे॥

कालतः उद्घातिक है—सान्तर प्रायश्चित्त और अनुद्घातिक है—निरन्तर प्रायश्चित्तदान। भाव से उद्घातिक हैं भव्य प्राणी की आठ कर्म प्रकृतियां और अनुद्घातिक हैं अभव्य की कर्मप्रकृतियां।

४८९३. जेण खवणं करिस्सति, कम्माणं तारिसो अभव्वस्स।

ण य उप्पज्जइ भावो, इति भावो तस्सऽणुग्घातो॥

जिससे अभव्य व्यक्ति अपने कर्मों का क्षण कर सके

वैसा भाव उसमें उत्पन्न नहीं होता। उसका भाव अनुद्घात होता है, वह कर्मों का उद्घात नहीं कर सकता। अतः उसके कर्म अनुद्घातिक होते हैं।

४८९४. हत्थे य कम्म मेहुण, रातीभत्ते य होतऽणुग्घाता।

एतेसिं तु पदाणं, पत्तेय परूवणं वोच्छं॥

हस्तकर्म करना, मैथुनसेवन करना और रात्रीभोजन करना—इन तीनों का अनुद्घातिक प्रायश्चित्त (गुरु प्रायश्चित्त) आता है। इन तीनों पदों की पृथक्-पृथक् प्ररूपणा करूंगा।

४८९५. नामं ठवणाहत्थो, दव्वहत्थो य भावहत्थो य।

दुविहो य दव्वहत्थो, मूलगुणे उत्तरगुणे य॥

नामहस्त, स्थापनाहस्त, द्रव्यहस्त और भावहस्त—इस प्रकार हाथ चार प्रकार का होता है। द्रव्यहस्त दो प्रकार का है—मूलगुणनिर्वर्तित और उत्तरगुणनिर्वर्तित। मूलजीव के गुण से निर्वर्तित हस्तमूलगुणनिर्वर्तित हस्त तथा काष्ठ, चित्र लेप्य कर्म आदि में निर्वर्तितहस्त उत्तरकर्मनिर्वर्तित हस्त कहलाता है।

४८९६. जीवो उ भावहत्थो, णेयव्वो होइ कम्मसंजुत्तो।

बित्तियो वि य आदेसो, जो तस्स विजाणओ पुरिसो॥

जीव का कर्मसंयुक्त हस्त अर्थात् आदान-निक्षेप आदि क्रियायुक्त, भावहस्त जानना चाहिए। इस विषयक दूसरा आदेश—मत भी है—उस हस्त का ज्ञायक पुरुष भी भावहस्त है।

४८९७. नामं ठवणाकम्मं, दव्वकम्मं च भावकम्मं च।

दव्वम्मि तुण्णदसिता, अधिकारो भावकम्मणं॥

कर्मपद के चार निक्षेप हैं—नामकर्म, स्थापनाकर्म, द्रव्यकर्म और भावकर्म। द्रव्यकर्म है—तुनना, दशिकाओं को बांधना। यहां भावकर्म का अधिकार है। अतः भावहस्त से जो कर्म होता है वह हस्तकर्म है।

४८९८. दुविहं च भावकम्मं, असंकिलिद्धं च संकिलिद्धं च।

ठप्पं तु संकिलिद्धं, असंकिलिद्धं तु वोच्छामि॥

भावकर्म दो प्रकार का होता है—असंकिलिष्ट और संकिलिष्ट। जो स्थाप्य होता है वह संकिलिष्ट है। अब मैं असंकिलिष्ट भावकर्म की बात कहूंगा।

४८९९. छेदणे भेयणे चेव, घंसणे पीसणे तथा।

अभिघाते सिणेहे य, काये खारे त्ति यावरे॥

असंकिलिष्ट कर्म के आठ प्रकार हैं—छेदन, भेदन, घर्षण, पेषण, अभिघात, स्नेह, काय तथा क्षार।

४९००. एक्केक्कं तं दुविहं, अणंतरं परंपरं च णायव्वं।

अद्दाऽणद्दा य पुणो, होति अणद्दाय मासलहुं॥

ये छेदन आदि दो-दो प्रकार के होते हैं—शुषिर और अशुषिर। प्रत्येक दो-दो प्रकार के हैं—अनन्तर और परम्पर। ये पुनः दो-दो प्रकार के हैं—सार्थक और निरर्थक। अनर्थक या निरर्थक छेदन आदि करने वाले को मासलघु का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

४९०१. नह-दंतादि अणंतर, पिप्पल्लमादी परंपरे आणा।

छप्पइगादि असंजमे, छेदे परितावणातीया॥

नखों से, पैरों आदि से छेदन आदि करना अनन्तर छेदन कहलाता है। पिप्पलक आदि से छेदन परंपर छेदन है। अनन्तर तथा परंपर छेदन करने वाला आज्ञाभंग का भागी होता है। छेदन आदि करते हुए जूं आदि का विनाश हो जाता है। यह असंयम है। छेदन करते समय हाथ, पैर का छेदन हो जाता है। यह आत्मविराधना है। इसमें परिताप आदि महान् कष्ट होता है, उससे निष्पन्न पारांचिक प्रायश्चित्त भी आ सकता है।

४९०२. अञ्जुसिर झुसिरे लहुओ,

लहुगा गुरुगो य होंति गुरुगा य।

संघट्टण परितावण,

लहु-गुरुगऽतिवायणे मूलं॥

अशुषिर अनन्तर का छेदन करना है मासलघु, शुषिर का चतुर्लघु, अशुषिर परंपर का गुरुमास, शुषिर परंपर का चतुर्गुरुक—ये सारे प्रायश्चित्त प्राप्त होते हैं। छेदन आदि करता हुआ यदि द्वीन्द्रिय प्राणी का संघट्टन करता है चतुर्गुरु, परितापना देता है चतुर्गुरु, उपद्रवण करता है तो षड्लघु त्रीन्द्रिय आदि का संघट्टण करता है चतुर्गुरु, परितापन देता है षड्लघु, उपद्रवण करता है षड्गुरु, चतुरिन्द्रिय का संघट्टन करने पर षड्लघु, परितापना देने पर षड्गुरु, उपद्रवण करने पर छेद, पंचेन्द्रिय का संघट्टन करने पर षड्गुरु, उपद्रवण करने पर छेद और अतिपात करने पर मूल। सविस्तार यह प्रायश्चित्त (पीठिका गाथा ४६१) के अनुसार यहां भी जानना चाहिए।

४९०३. अञ्जुसिरऽणंतर लहुओ,

गुरुगो अ परंपरे अञ्जुसिरम्मि।

झुसिराणंतरे लहुगा,

गुरुगा तु परंपरे अहवा॥

अशुषिर अनन्तर में लघुमास, और परंपर में गुरुमास। शुषिर अनन्तर में चतुर्लघु और परंपर में चतुर्गुरुक। अथवा का अर्थ है कि प्रायश्चित्त का प्रकारान्तर भी है।

४९०४. एमेव सेसएसु वि, कर-पादादी अणंतरं होइ।

जं तु परंपरकरणं, तस्स विहाणं इमं होति॥

इसी प्रकार छेदनवत् शेष भेदन आदि पदों में भी

प्रायश्चित्त कहना चाहिए। हाथ, पैर आदि से होने वाला भेदन आदि अनन्तर होता है। जो भेदन आदि के परंपराकरण होता है उसका विधान इस प्रकार है।

४९०५. कुवणयमादी भेदो, घंसण मणिमादियाण कड्ढादी।

पट्टवरादी पीसण, गोप्फण-धणुमादि अभिघातो॥

लाठी आदि से घड़े का भेदन करना, यह परंपराभेदन कहलाता है। मणि आदि का घर्षण करना, अथवा चन्दन के काष्ठ आदि फलक का घिसना, गंधपट्ट को पीसना, चर्ममयी गोफण, धनुष्य आदि से पत्थर आदि फेंक कर अभिघात करना।

४९०६. विहुवण-णंत-कुसादी, सिणेह उदगादिआवरिसणं तु।

काओ तु बिंब सत्थे, खारो तु कलिंचमादीहिं॥

बीजनक, वस्त्र तथा कुश आदि से बीजना—यह भी प्राणियों का अभिघात करता है। स्नेह अर्थात् उदक, घृत, तैल आदि से आवर्षण करना। काय अर्थात् द्विपदादि के बिम्ब को शस्त्र रूप में पत्र छेदन आदि के रूप में निर्वर्तन करना, क्षार को शुषिर या अशुषिर में किलिंचक से प्रक्षिप्त करना—इनसे दोष उत्पन्न होते हैं।

४९०७. एक्केक्कातो पदातो, आणादीया य संजमे दोसा।

एवं तु अणट्टाए, कप्पइ अट्टाए जयणाए॥

भेदन आदि प्रत्येक पद में आज्ञाभंग आदि दोष होता है तथा आत्मविराधना और संयमविराधना भी प्राप्त होती है। ये दोष अनर्थक छेदन-भेदन से होते हैं, प्रयोजनवश यदि यतनापूर्वक छेदन-भेदन किया जाता है तो वह कल्पता है।

४९०८. असती अधाकडाणं, दसिगादिगछेदणं व जयणाए।

गुलमादि लाउणाले, कप्परभेदादि एमेव॥

यदि यथाकृत वस्त्र की प्राप्ति नहीं होती है तो किनारों आदि को यतनापूर्वक काटा जा सकता है। गुड़ के घड़े का भेदन, तुंबे की नाल का, घड़े के कपाल का यतनापूर्वक भेदन किया जा सकता है।

४९०९. अक्खाण चंदणे वा, वि घंसणं पीसणं तु अगतादी।

वघातीणऽभिघातो, अगतादि पताव सुणगादी॥

विषम अक्षों को घिसना, चंदन को घिसना, औषधियों को पीसना, व्याघ्र आदि का अभिघात करना, अगद आदि जब धूप में सुकाया जाता है तब कौए आदि वहां आते हैं, तब उनको पत्थर फेंक कर उड़ाना या डराना—ये सब कार्य करने होते हैं।

४९१०. बितिय दवुज्जण जतणा, दाहे वा भूमि-देहसिंचणता।

पडिणीगाऽसिवसमणी, पडिमा खारो तु सेल्लादी॥

इसमें अपवाद पद यह है। शेष बचे हुए घी, तैल आदि

को राख में मिलाकर उनका परिष्ठापन करे। पानक का परिष्ठापन यतनापूर्वक करे, गाढ़तर परितप्त उपाश्रय की भूमी में छिटकाव करे या प्यास से अभिभूत देह का सिंचन करे। कोई प्रत्यनीक कुछ मंत्र आदि करे तो उसके उपशमन के लिए अशिवप्रशमनी प्रतिमा का निर्माण करे। प्रसूति के प्रशमन के लिए क्षार का प्रक्षेपण करे। सेल्ल का अर्थ है—बालमय सिन्दूर। वहां क्षार का क्षेपण करना चाहिए।

४९११.कम्मं असंकिलिद्धं, एवमियं वणिग्यं समासेणं।

कम्मं तु संकिलिद्धं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए॥

इस प्रकार यह असंकलिष्ट हस्तकर्म संक्षेप में वर्णित है।

अब यथानुपूर्वी संकलिष्ट हस्तकर्म कहूंगा।

४९१२.वसहीए दोसेणं, द्दुं सरित्तुं व पुव्वभुत्ताइं।

एतेहिं संकिलिद्धं, तमहं वोच्छं समासेणं॥

वसति को दोष से, या स्त्रियों के आलिंगन आदि को देखकर या पूर्वभुक्त भोगों का स्मरण कर उत्पन्न होने वाला हस्तकर्म संकलिष्ट होता है। वह मैं संक्षेप में कहूंगा।

४९१३.दुविहो वसहीदोसो, वित्थरदोसो य रूवदोसो य।

दुविहो य रूवदोसो, इत्थिगत णपुंसतो चेव॥

वसतिदोष दो प्रकार का होता है—विस्तर दोष और रूपदोष। रूपदोष के दो प्रकार हैं—स्त्रीरूपगत और नपुंसक रूपगत।

४९१४.एक्केक्को सो दुविहो, सच्चित्तो खलु तहेव अच्चित्तो।

अच्चित्तो वि य दुविहो, तत्थगताऽऽगंतुओ चेव॥

इन दोनों के दो-दो प्रकार हैं—सचित्त और अचित्त। अचित्त भी दो प्रकार का है—तत्रगत और आगंतुक।

४९१५.कट्ठे पुत्थे चित्ते, दंतोवल मट्ठियं व तत्थगतं।

एमेव य. आगंतुं, पालित्तय बेट्ठिया जवणे॥

जो स्त्री की प्रतिमा काष्ठगत, पुस्तगत, अथवा चित्रगत होती है अथवा जिस वसति में स्त्रीप्रतिमा दन्तमय, उपलमय या मृत्तिकामय होती है वह तत्रगत है। इसी प्रकार आगंतुक होती है। यहां पादलिप्त आचार्य कृत राजकन्या का दृष्टांत है।^१ यवन देश में इस प्रकार के स्त्रीरूप प्रचुरता से होते थे।

४९१६.पडिवेसिग-एक्कधरे, सचित्तरूवं तु होति तत्थगयं।

सुण्णमसुण्णधरे वा, एमेव य होति आगंतुं॥

पडौसी के घर में अथवा एकगृह में अर्थात् कारणवश एक ही उपाश्रय में रहने पर जो स्त्रीरूप दिखता है वह तत्रगत सचित्तरूप है। अथवा शून्यगृह या अशून्यगृह में जो स्त्री का रूप दिखता है वह भी तत्रगत होता है। इसी प्रकार आगंतुक

सचित्त स्त्रीरूप होता है। प्रतिश्रय में जो स्त्री आती है वह आगन्तुक होती है।

४९१७.आलिंगणादी पडिसेवणं वा,

द्दुं सचित्ताणमचेदणे वा।

सदेहि रूवेहि य इंधितो तु,

मोहग्गि संदिप्पति हीणसत्ते॥

सचित्त—सचेतन स्त्रियों के आलिंगन आदि तथा प्रतिसेवना को देखकर अथवा अचेतन स्त्रियों के रूपों को देखकर अथवा प्रतिसेव्यमान स्त्रियों के शब्दों को सुनकर, उन शब्दों और रूपों से कामवासना के लिए प्रज्वलित होकर किसी शक्तिहीन मुनि के मोहाग्नि प्रदीप्त हो जाती है। तब अनेक दोष उत्पन्न होते हैं।

४९१८.कोतूहलं च गमणं, सिंगारे कुड्ढिइकरणे य।

दिट्ठे परिणय करणे, भिक्खुणो मूलं दुवे इतरे॥

उसके मन में कुतूहल उत्पन्न होता है कि निकटता से देखूं, तब वह उस ओर गमन करता है अथवा शृंगारयुक्त गीत गाने वाली के निकट जाता है या भीत में छिद्रकर उससे देखता है। देख कर वह मुनि भी उस भाव में परिणत होकर 'मैं भी ऐसा करूं' यह सोचकर वह आलिंगन आदि करता है। उस मुनि को 'मूल' तक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा 'दो इतर' अर्थात् उपाध्याय और आचार्य को क्रमशः अनवस्थाप्य और पारांचिक तक प्रायश्चित्त आता है।

४९१९.लहुतो लहुगा गुरुगा, छम्मासा छेद मूल दुगमेव।

दिट्ठे य गहणामादी, पुव्वुत्ता पच्छकम्मं च॥

वहां जाकर सुनने पर मासलघु, कुतूहल होने पर मासगुरु, वहां जाने पर चतुर्लघु, शृंगार सुनने पर चतुर्गुरु, भीत में छिद्र करने पर षडलघु, छिद्र से देखने पर षडगुरु, तद्भाव परिणत होने पर छेद, आलिंगन आदि करने पर मूल—यह भिक्षु के लिए प्रायश्चित्त है। उपाध्याय के मासगुरु से प्रारंभ होकर अनवस्थाप्य तक जाता है। आचार्य के चतुर्लघु से पारांचिक तक प्रायश्चित्त जाता है। आरक्षिक द्वारा देखे जाने पर ग्रहण-आकर्षण आदि पूर्वोक्त दोष तथा आलिंगन आदि करते समय प्रतिमा टूट सकती है। उससे पश्चात्कर्म दोष होता है।

४९२०.अप्पो य गच्छो महती य साला,

निक्कारणे ते य तर्हि ठिता उ।

कज्जे ठिता वा जतणाए हीणा,

पावंति दोसं जतणा इमा तू॥

एक छोटा गच्छ बड़े प्रतिश्रय में रह रहा है। साधु वहां

१. दृष्टान्त के लिए देखें कथा परिशिष्ट, नं. १०५।

निष्कारण रह रहे हैं। यदि वे कार्यवश भी ठहरे हैं तो वे सब यतना से हीन हैं—शून्य हैं। वे अनेक प्रकार के दोषों से युक्त हो जाते हैं। वहां रहते हुए यह यतना आवश्यक है।

४९२१. असिवादिकारणेहिं, अण्णाऽसति वित्थडाए ठायंति।

ओतप्पोत करिंती, संथारग-वत्थ-पादेहिं॥

अशिव आदि कारण उपस्थित होने पर, दूसरी वसति के अभाव में विस्तृत वसति में भी रहा जा सकता है। वहां वे उस वसति की भूमी को अपने संस्तारकों—वस्त्रों तथा पात्रों से ओतप्रोत कर देते हैं, भर देते हैं।

४९२२. भूमीए संथारे, अडुवियडे करंति जह दहुं।

ठातुमणा वि दिवसओ, ण ठंति रत्तिं तिमा जतणा॥

उस विशाल उपाश्रय में उन साधुओं को चाहिए कि वे वहां भूमी पर संस्तारक अस्त-व्यस्त रूप से करें, जिससे कि दिन में वहां बैठने का इच्छुक व्यक्ति बैठ न सके। रात्री में यह यतना है।

४९२३. वेसत्थीआगमणे, अवारणे चउगुरुं च आणादी।

अणुलोमण निग्गमणं, ठाणं अन्नत्थ रुक्खादी॥

वेश्यास्त्री यदि रात्री में उपाश्रय में आती है तो उसे मनाही करनी चाहिए। यदि उसका वर्जन न किया जाए तो चतुर्गुरु और आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं। उसको अनुकूल वचनों से प्रतिषेध करना चाहिए। यदि वेश्यास्त्री वहां से निर्गमन करना न चाहे तो साधुओं को अन्यत्र स्थान में चले जाना चाहिए। कोई स्थान न मिले तो वृक्ष आदि के नीचे रहना चाहिए।

४९२४. पुढवी ओस सजोती, हरिय तसा उवधितेण वासं वा।

सावय सरीतेणग, फरुसादी जाव ववहारो॥

यद्यपि अन्य वसति पृथ्वीकाय, अवश्याय, अग्नि, हरितकाय तथा त्रसप्राणी सहित हो तो भी वहां चले जाना चाहिए। बाहर उपधि स्तेन हों, वर्षा आ रही हो, श्वापद तथा शरीरस्तेन हों तो परुष वचनों से उस वेश्या को अपने उपाश्रय से बाहर निकल जाने के लिए कहना चाहिए। यदि इससे भी न माने तो व्यवहार करने में भी नहीं हिचकना चाहिए।

४९२५. अम्हे दाणि विसहिमो, इड्ढिमपुत्त बलवं असहणोऽयं।

णीहि अणिते बंधण, णिवकड्डण सिरिघराहरणं॥

साधु कहे—हम क्षमाशील हैं। हम अब सब कुछ सहन करते हैं। परंतु वह मुनि ऋद्धिमत्पुत्र है, बलवान् है, वह कुछ भी सहन नहीं करेगा। इसलिए तुम यहां से स्वयं चली जाओ। यदि चली जाती है तो अच्छा है, अन्यथा सभी साधु मिलकर उस वेश्या स्त्री को बांध ले, प्रातः उसे मुक्त कर दे।

वह यदि राजा के पास शिकायत करे तो साधु भी उसे न्यायाधीश के पास घसीटे। यहां श्रीगृह का उदाहरण है।

४९२६. अहिकारो वारणम्मिं, जत्तिय अप्फुण्ण तत्तिया वसही।

अतिरेग दोस भगिणी, रत्तिं आरद्धे णिच्छुभणं॥

४९२७. आवरितो कम्महिं, सत्तू विव उड्डितो थरथरंतो।

मुंचति य भेंडितातो, एक्केकं भे निवादेमि॥

४९२८. निग्गमणं तह चेवा, णिद्धोस सदोसऽनिग्गमे जतणा।

सज्झाए झाणे वा, आवरणे सहकरणे वा॥

यहां वर्जना का अधिकार चल रहा है। इसलिए मुनियों को उत्सर्गतः घंघशाला में नहीं ठहरना चाहिए। इसलिए जितने साधुओं से वसति 'अप्फुण्ण' व्याप्त हो जाए उस प्रमाण वाली वसति की खोज करनी चाहिए। इससे अतिरिक्त वसति में रहने पर पूर्वोक्त दोष होते हैं। कारणवश उसमें भी रहने पर कोई पुरुष स्त्री के साथ वहां आता है और कहता है यह मेरी भगिनी है। रात्री के प्रारंभ होने पर वह पुरुष उस स्त्री के साथ प्रतिसेवना करने लगता है। तब साधु उसकी भर्त्सना करते हैं और उसका वहां से निष्कासन कर देते हैं। वह व्यक्ति कर्मों से आवृत होने के कारण शत्रु की भांति उठकर, कांपता हुआ मुंह से 'भिंडिका' जोर से चिल्लाता हुआ कहता है—मैं एक-एक साधु को गिरा दूंगा।

उसके विरुद्ध हो जाने पर साधु उस वसति को छोड़कर अन्यत्र चले जाएं। यदि दूसरी वसति निर्दोष हो तो वहां चले जाएं। यदि वसति सदोष हो तो वहां से न जाए और यह यतना करे। जोर-जोर से स्वाध्याय करे या ध्यान में बैठ जाएं। यदि स्वाध्याय और ध्यान की लब्धि न हो तो कानों का स्थगन कर दे या जोर से बोलने लग जाए।

४९२९. वडपादव उम्मूलण, तिव्खम्मि व विज्जलम्मि वच्चंतो।

कुणमाणो वि पयत्तं, अवसो जह पावती पडणं॥

४९३०. तह समणसुविहितानं, सब्वपयत्तेण वी जतंताणं।

कम्मोदयपच्चइया, विराधणा कासति हवेज्जा॥

प्रश्न होता है कि प्रतिसेवना करते देखकर सुविहित मुनि के कर्मोदय कैसे होता है? भाष्यकार कहते हैं—वटवृक्ष अनेक स्थानों पर बद्धमूल होने पर भी गिरि नदी के पानी के वेग से उखड़ जाता है। तीक्ष्ण पानी के वेग में प्रयत्न करने पर भी मनुष्य बह जाता है। पंक बहुल स्थान में सावधानीपूर्वक चलने पर भी मनुष्य फिसल कर गिर पड़ता है। वह वहां अवश होकर संभल नहीं पाता। उसी प्रकार सुविहित श्रमण भी सप्रयत्नपूर्वक यतमान होने पर भी, कर्मोदय के कारण किसी-किसी के चारित्र की विराधना हो सकती है।

४९३१. पढमाए पोरिसीए, बितिया ततियाए तह चउत्थीए।

मूलं छेदो छम्मासमेव चत्तारि या गुरुगा॥

इस दुर्बल स्थिति का शिकार होकर कोई मुनि हस्तकर्म करता है। उसका प्रायश्चित्त विधान इस प्रकार है—प्रथम प्रहर में हस्तकर्म करता है तो मूल, दूसरे प्रहर में छेद, तीसरे प्रहर में छह मास, चौथे प्रहर में चार गुरुमास।

४९३२. निसि पढमपोरिसुब्भव, अदढधित्ती सेवणे भवे मूलं।

पोरिसिपोरिसिसहणे, एक्केक्कं ठाणगं हसइ॥

रात्री के प्रथम प्रहर में यदि अदृढ़ धृति वाले मुनि के मोहोद्भव हो जाए और वह हस्तकर्म का सेवन करता है तो उसे मूल, प्रथम प्रहर में सहन कर दूसरे प्रहर में हस्तकर्म का सेवन करने पर छेद, तीसरे प्रहर में सेवन करने पर छह मास और तीन प्रहर तक सहन कर चौथे प्रहर में सेवन करने पर चार गुरुमास का प्रायश्चित्त है। इस प्रकार एक-एक प्रहर को सहने से एक-एक प्रायश्चित्तस्थान कम होता जाता है।

४९३३. बितियम्मि वि दिवसम्मिं, पडिसेवंतस्स मासियं गुरुअं।

छट्ठे पच्चक्खाणं, सत्तमए होति तेगिच्छं॥

यदि प्रथम रात्री में सहन कर दूसरे दिन हस्तकर्म का सेवन करने पर मासगुरुक का प्रायश्चित्त है। उससे आगे सर्वत्र मासगुरुक का ही प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त में कमी नहीं होती। किसी के समक्ष वह आलोचना करे, यही प्रायश्चित्त आता है। छठा मुनि उसे कहता है—अब तुम भक्त-प्रत्याख्यान अंगीकार करो। सातवां कहता है—इस मोहोदय की चिकित्सा है—अवमौदर्य और निर्विकृतिक।

४९३४. पडिलाभणऽड्डमम्मिं, णवमे सङ्गी उवस्सए फासे।

दसमम्मि पिता-पुत्ता, एक्कारसमम्मि आयरिए॥

आठवां साधु प्रतिलाभना उपदेश देता है।^१ नौवां मुनि कहता है—किसी श्राविका को प्रतिश्रय में लाया जाए और वह तुम्हारे शरीर का स्पर्श करे। दसवां मुनि कहता है—तुम पिता-पुत्र हो। अपने सजातिक गांव में जाकर चिकित्सा कराओ। ग्यारहवां मुनि कहता है—जो आचार्य कहें वैसे करो। यह शुद्ध है। शेष के लिए प्रायश्चित्त कहा है।

४९३५. छट्ठो य सत्तमो या, अहसुद्धा तेसि मासियं लहुयं।

उवरिल्ल जं भणंती, थेरस्स वि मासितं गुरुगं॥

छठा और सातवां मुनि यथाशुद्ध हैं। वे दोषयुक्त उपदेश नहीं देते। वे गुरु के उपदेश के बिना स्वेच्छा से कुछ कहते हैं इसलिए उन्हें मासिकलघु का प्रायश्चित्त है। इनसे उपरितन अर्थात् आठ, नौ और दशवें मुनि सदोष उपदेश देते हैं, अतः

१. देखें गाथा ४९३७।

उनके प्रायश्चित्त है मासिकगुरु और स्थविर पिता को भी जो पुत्र के साथ सजातिक गांव में जाता है, उसके भी मासिकगुरु का प्रायश्चित्त है।

४९३६. संघाडगादिकहणे, जं कत तं कत इयाणि पच्चक्खा।

अविसुद्धो दुडुवणो, ण समति किरिया से कायव्वा॥

अपने संघाटक के संतों को या दूसरों को यह कहने पर कि मैंने हस्तकर्म का सेवन किया है और वे यदि कहें—जो किया वह कर डाला, अब भक्तप्रत्याख्यान करो। सातवां कहता है—‘दुष्टव्रण’ छेदन की क्रिया के बिना ठीक नहीं होता अतः तुम उसकी क्रिया करो। मोहोदय के व्रण के उपशमन के लिए अवमौदर्य, निर्विकृतिका क्रिया करो।

४९३७. पडिलाभणा उ सङ्गी, कर सीसे वंद ऊरु दोच्चंगे।

सूलादिरुयोमज्जण, ओअट्टण सङ्गिमाणेमो॥

आठवें मुनि ने कहा—किसी श्राविका को ले आओ। वह प्रतिलाभना करेगी। तब उसके दोनों ऊरु पात्र में स्थित होने पर यथाभाव से उन्हें मोड़ने पर ऊरु के मध्य से द्वितीय अंग आदि नीचे गिरता है। तब वह श्राविका हाथ से मुनि का स्पर्श करती है और सिर से वंदना करती हुई पैर छूती है। उससे मुनि स्खलित हो जाता है, उसके वीर्यपात हो जाता है। नौवां मुनि कहता है—शूल आदि या अन्य फोड़ा आदि होने पर श्राविका बुलाई जाती है। वह फोड़े का परिमार्जन आदि करती है, वह गाढ़कर परिमार्जन करती है। उससे बीज-निसर्ग हो जाता है।

४९३८. सन्नायपल्लि णेहिं (णं), मेहुणि खुड्ढंत णिग्गमोवसमो।

अविधित्तिगिच्छा एसा, आयरिकहणे विधिक्कारो॥

दसवां मुनि मोहोदय से ग्रस्त मुनि के पिता को कहता है—तुम अपने पुत्र को सजातकग्राम में ले जाओ और वहां मैथुनिका—मामे की पुत्री के साथ क्षुल्लक मुनि को स्पर्श आदि से क्रीड़ा करने को प्रेरित करो। उससे वीर्यपात होगा और मोह का उपशम हो जाएगा। यह सारी अविधि चिकित्सा है। आचार्य को कहो और वे जो कहे उस विधि से चिकित्सा करो। यह ग्यारहवें साधु का विधि-कथन है, यह उपयुक्त है।

४९३९. सारुवि गिहत्थ (मिच्छे),

परत्तिथिनपुंसगे य सूयणया।

चउरो य हुंति लहुगा,

पच्छाकम्मम्मि ते चेव॥

कोई कहता है—सारूपिक (सिद्धपुत्र) जो नपुंसक हो उससे हस्तकर्म कराओ। कोई कहता है—गृहस्थनपुंसक से,

कोई कहता है—मिथ्यादृष्टि नपुंसक से और कोई कहता है परतीर्थिक नपुंसक से हस्तकर्म कराओ। इन चारों को हस्तकर्म करने की प्रेरणा देने पर चतुर्लघु का प्रायश्चित्त, तप और काल से विशेषित होते हैं। इसमें वे हाथ आदि धोते हैं, यह पश्चात्कर्म होता है इसमें भी वही प्रायश्चित्त है।

४९४०. एसेव कमो नियमा, इत्थीसु वि होइ आणुपुव्वीए।

चउरो य अणुग्घाया, पच्छाकम्ममि ते लहुगा॥

यही क्रम नियमत क्रमशः स्त्री संबंधी होता है। जैसे—पहला कहता है सिद्धपुत्रिका से, दूसरा कहता है—गृहस्थ की स्त्री से, तीसरा कहता है—मिथ्यादृष्टि स्त्री से और चौथा कहता है—परतीर्थिकी स्त्री से हस्तकर्म कराना चाहिए। चारों में प्रायश्चित्त है—अनुद्घातिक गुरुमास। पश्चात्कर्म होने पर वे ही चारों लघुमास का प्रायश्चित्त है।

४९४१. मेहुणं पि य तिविहं, दिव्वं माणुस्सयं तिरिक्खं च।

ठाणाइं मोत्तूणं, पडिसेवणि सोधि स च्चेव॥

मैथुन भी तीन प्रकार का है—दिव्य, मानुष्य और तैरश्च। जिन स्थानों में इन मैथुनों की संभावना हो वहां नहीं रहना चाहिए। यदि वहां रहकर दिव्य आदि मैथुन की प्रतिसेवना करता है तो उसकी शोधि (प्रायश्चित्त) वही है जो प्रथम उद्देशक में गाथा २४७० में कहा है।

४९४२. मूलुत्तरसेवासुं, अवरपदमिं णिसिज्झती सोधी।

मेहुण्णे पुण तिविधे, सोधी अववायतो किण्णु॥

मूल और उत्तरगुण की प्रतिसेवना में उत्सर्ग से अपरपद अर्थात् अपवाद पद में शोधि (प्रायश्चित्त) का निषेध किया जाता है। इसी प्रकार तीनों प्रकार के मैथुन में अपवाद से प्रतिसेवना करने पर प्रायश्चित्त क्यों?

४९४३. राग-दोसाणुगया, तु दप्पिया कप्पिया तु तदभावा।

आराधणा उ कप्पे, विराधणा होति दप्पेणं॥

आचार्य कहते हैं—प्रतिसेवना दो प्रकार की होती है—दर्पिका और कल्पिका। राग-द्वेषयुक्त जो प्रतिसेवना होती है, वह दर्पिका प्रतिसेवना कहलाती है। कल्पिका प्रतिसेवना इन दोनों से मुक्त होती है। कल्प प्रतिसेवना से ज्ञान आदि की आराधना होती है और दर्प प्रतिसेवना से उनकी विराधना होती है।

४९४४. कामं सब्बपदेसु वि, उस्सग्ग-ऽववादधम्मता जुत्ता।

मोत्तुं मेहुणभावं, ण विणा सो राग-दोसेहिं॥

हमें सभी पदों में उत्सर्ग-अपवाद धर्मता अनुमत है। उत्सर्ग का प्रतिषेध और अपवाद की अनुज्ञा—यह अनुमत है। किन्तु मैथुनभाव को छोड़कर, क्योंकि इसमें उत्सर्ग धर्मता

ही घटित होती है, अपवाद नहीं। मैथुनभाव राग-द्वेष के बिना नहीं होता।

४९४५. संजमजीवितहेउं, कुसलेणालंबणेण वऽण्णेणं।

भयमाणे तु अकिच्चं, हाणी वड्डी व पच्छित्ते॥

संयमी जीवन जीने के लिए कुशल आलंबन के द्वारा अथवा अन्य किसी आलंबन से यदि अकृत्य का आसेवन करता है तो उसके प्रायश्चित्त की हानि या वृद्धि होती है।

४९४६. गीयत्थो जतणाए, कडजोगी कारणमि णिदोसो।

एगेसिं गीत कडो, अरत्तऽदुदो तु जतणाए॥

गीतार्थ मुनि जो कृतयोगी है, वह यदि यतनापूर्वक कारण में—प्रतिसेवना करता है तो वह निर्दोष है। गीतार्थ कृतयोगी निष्कारण प्रतिसेवना—यह द्वितीय भंग है, सदोष है। किन्हीं आचार्यों ने वहां पांच पद माने हैं—गीतार्थ कृतयोगी अरक्त-अद्विष्ट यतना से सेवन करता है—यह पहला भंग है। गीतार्थ कृतयोगी अरक्त-अद्विष्ट यतना-पूर्वक सेवन करता है—यह दूसरा भंग है। इस प्रकार पांच पदों से ३२ भंग होते हैं। यहां भी प्रथम भंग में कल्पिका प्रतिसेवना माननी चाहिए।

४९४७. जति सब्बसो अभावो, रागादीणं हविज्ज निदोसो।

जतणाजुतेसु तेसु तु, अप्पतरं होति पच्छित्तं॥

यदि मैथुन में राग आदि का सर्वथा अभाव हो तो वह निर्दोष हो सकता है। परन्तु यतनायुक्त गीतार्थ आदि मुनियों के अल्पतर प्रायश्चित्त होता है।

४९४८. कुलवंसमि पहीणे, रज्जं अकुमारगं परे पेत्तले।

तं कीरतु पक्खेवो, एत्थ य बुद्धीए पाधण्णं॥

किसी राजा का कुल और वंश प्रक्षीण हो जाने पर राज्य को अकुमारक जानकर दूसरे राजा उस पर आक्रमण कर देते हैं। अमात्य ने राजा से कहा—आप रानी में अपर पुरुष का बीज प्रक्षिप्त कराइए। यहां उपाय के निरूपण में बुद्धि का प्राधान्य है।

४९४९. सामत्थ णिव अपुत्ते,

सचिव मुणी धम्मलक्ख वेसणता।

अणहबियतरुणरोधो,

एगेसिं पडिमदायणता॥

अपुत्र नृप अमात्य के साथ 'सामत्थणं' पर्यालोचन करता है। अमात्य ने कहा—राजन्! आप अन्तःपुर में धर्मकथा के मिष से मुनियों को प्रवेश कराएं। राजा ने वैसे ही किया। तब उन साधुओं को लक्षणों से जानकर, एक तरुण साधु को जिसके सन्तानोत्पत्ति का बीज उपहत नहीं था, उसको वहीं रोक लिया और उसे बलात् भोग भोगने के लिए प्रेरित

किया। जिस किसी ने भोग भोगने की मनाही की उसे प्रतिमा का शिरच्छेद कर यह दिखाया कि मनाही करने वाले का इसी प्रकार शिरच्छेद कर दिया जायेगा।

४९५०.तरुणीण य पक्खेवो, भोगेहिं निमंतणं च भिक्खुस्स।

भोचुं अणिच्छमाणे, मरणं च तहिं ववसियस्स॥

तरुण साधुओं का तथा तरुण स्त्रियों का अन्तःपुर में प्रक्षेप किया। तरुण स्त्रियों ने भोग की प्रार्थना की। भोग का निमंत्रण पाकर एक भिक्षु ने इन्कार कर दिया। उसको मार डाला गया, उसका शिरच्छेद कर दिया गया।

४९५१.दड्ढुण तं विससणं, सहसा साभावियं कइतवं वा।

विगुरुव्विया य ललणा, हरिसा भयसा व रोमंचो॥

उस स्वाभाविक साधु का शिरच्छेद देखकर अथवा प्रतिमा का झूठा किया जाने वाला शिरच्छेद देखकर अथवा विकुर्वीत-अलंकृत-विभूषित ललना को देखकर किसी के हर्ष से या भय से रोमांच हो जाता है।

४९५२.सुद्धुल्लसिते भीए,

पच्चक्खाणे पडिच्छ गच्छ थेर विदू।

मूलं छेदो छम्मास चउर

गुरु-लहु लहुगमासो॥

जिसने भोग भोगने से विरत होकर मरण को स्वीकार किया वह शुद्ध है। जो भोग का निमंत्रण प्राप्त कर रोमांचित हुआ उसका प्रायश्चित्त है—मूल और जो भय से भोग भोगता है उसका प्रायश्चित्त है—छेद। जो भक्तप्रत्याख्यान कर भोग भोगता है, उसे षट्गुरु का प्रायश्चित्त आता है। मैं जीवित रहा तो प्रतीच्छक शिष्यों को वाचना दूंगा, यह सोच जो भोग भोगता है उसे षडलघु का प्रायश्चित्त आता है। मैं गच्छ की सारणा करूंगा, यह सोच कर जो भोग भोगता है उसे चतुर्गुरु, और जो स्थविरों की वैयावृत्य करने के लिए प्रतिसेवना करता है उसे चतुर्लघुक और कोई आचार्य की वैयावृत्य के लिए प्रतिसेवना करता है उसे मासलघु का प्रायश्चित्त आता है।

४९५३.निरुवहयजोणिथीणं, विउव्वणं हरिसमुल्लसिते मूलं।

भय रोमंचे छेदो, परिणण काहं ति छग्गुरुगा॥

४९५४.मा सीदेज्ज पडिच्छा, गच्छो फिट्ठेज्ज थेर संघेच्छं।

गुरुणं वेयावच्चं, काहं ति य सेवतो लहुओ॥

निरुपहतयोनि वाली स्त्रियों को विभूषित-मंडित देखकर जो हर्षित होता है और वह प्रतिसेवना करता है तो 'मूल', भय से रोमांच होने पर छेद, परिज्ञा-भक्तप्रत्याख्यान करूंगा, यह सोचकर जो प्रतिसेवना में परिणत होता है उसे षड्गुरुक। प्रतीच्छक दुःखी न हों, यह सोचता है उसे

षडलघुक, मेरे बिना गच्छ टूट जाएगा, यह सोचता है उसे चतुर्गुरु, मैं स्थविरों का संग्रहण करूंगा, यह सोचता है उसे चतुर्लघु और जो गुरु का वैयावृत्य करने के लिए प्रतिसेवना करता है उसे लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। यह प्रायश्चित्त की हानि का लेखा-जोखा है।

४९५५.लहुओ उ होति मासो,

दुब्भिवक्खऽविसज्जणे य साहूणं।

गेहाणुरागरत्तो,

खुड्डो चिय गेच्छए गंतुं॥

४९५६.कालेणेसणसोधिं, पयहति परितावितो दिग्गिछाए।

अलभंते चिय मरणं, असमाही तित्थवोच्छेदो॥

'यहां दुर्भिक्ष होगा' यह सोचकर यदि गुरु संघ को विसर्जित नहीं करता, उसे लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। दुर्भिक्ष में भिक्षा न मिलने पर गच्छ भूख से पीड़ित होता है। कालक्रम से गच्छ के मुनि एषणाशुद्धि को छोड़ देते हैं। भोजन न मिलने पर मुनियों का असमाधि मरण होता है और गच्छ का व्यवच्छेद भी हो जाता है। एक क्षुल्लक मुनि गाढ़ स्नेह से अनुरक्त होने के कारण उस आचार्य को छोड़ कर जाना नहीं चाहता था। (फिर भी उसे भेज दिया और वह वहां से भाग कर आचार्य के पास लौट आया।)

४९५७.भिक्खं पि य परिहायति,

भोगेहिं णिमंतणा य साहुस्स।

गिणहति एक्कंतरियं,

लहुगा गुरुगा चउम्मासा॥

४९५८.पडिसेवंतस्स तहिं, छम्मासा छेदो होति मूलं च।

अणवद्वप्पो पारंचिओ य पुच्छा य तिविहम्मि॥

वह स्वयं गोचरी जाने लगा। दुर्भिक्ष के कारण भिक्षा भी नहीं मिलती। उस साधु को एक स्त्री ने भोगों के लिए निमंत्रण दिया। उसको कहा—तू मेरे साथ रह, मैं तुझे प्रचुर भक्तपान दूंगी। वह मुनि एकान्तर तप स्वीकार कर प्रतिसेवना करता है। प्रथम दिन की प्रतिसेवना का चार लघुमास, दूसरे दिन मुनि अभक्तार्थ था। तीसरे दिन प्रतिसेवना का चार गुरुमास। इस प्रकार एकान्तरित भक्तपान लेकर प्रतिसेवना करते हुए मुनि के पांचवें और सातवें दिन छह लघु मास और छह गुरुमास, नौवें दिन छेद, ग्यारहवें दिन मूल और तेरहवें दिन अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त आता है। पन्द्रहवें दिन पारांचिक प्रायश्चित्त। शिष्य पूछता है—तीन प्रकार के मैथुन में इच्छा कैसे उत्पन्न होती है?

४९५९.वसहीए दोसेणं, दड्ढुं सरिउं व पुव्वभुत्ताइं।

तेगिच्छ सहमादी, असज्जणा तीसु वी जतणा॥

उस मैथुन की इच्छा की उत्पत्ति में ये कारण बनते हैं—वसति के दोष से अर्थात् स्त्री, पशु, पंडकयुक्त वसति में रहने से, स्त्री का आलिंगन आदि देखने से या पूर्वभुक्त भोगों की स्मृति करने से। उसकी चिकित्सा है—अवमौदर्य, निर्विकृतिका आदि। उसके अतिक्रान्त हो जाने पर शब्द की यतना करनी चाहिए। इसका तात्पर्य है कि जहां स्त्रीशब्द या रहस्यशब्द सुनाई देता हो वहां स्थविर मुनि के साथ रहना चाहिए। शब्द आदि के श्रवण में गृद्धि नहीं रखनी चाहिए। इस प्रकार द्विव्य आदि तीनों प्रकार के मैथुन की यतना होती है।

४९६०. बिड्यपदे तेर्गिच्छं, णिव्वीतियमादिगं अतिककंते।

सनिमित्तऽनिमित्तो पुण, उदयाऽऽहारे सरीरे य॥

अपवादपद में जब निर्विकृतिका आदि चिकित्सा अतिक्रान्त हो जाती है तब शब्द आदि की मर्यादा में रहना चाहिए। मैथुन की अभिलाषा सनिमित्त भी होती है और अनिमित्त भी। सनिमित्त में वसति के दोष आदि से होती है और अनिमित्त में उसके कारण हैं—(१) कर्मोदय (२) आहार तथा (३) शरीर की अभिवृद्धि।

४९६१. रातो य भोयणम्मिं, चउरो मासा हवंतऽणुग्घाया।

आणादिणो य दोसा, आवज्जण संकणा जाव॥

रात्रीभोजन करने पर चार अनुद्घातमास—गुरुमास का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं। तथा प्राणातिपात आदि विषयक तथा परिग्रह विषयक आदि दोष भी होते हैं। यहां यावत् शब्द से 'रात्रिभक्तसूत्र' (प्र. उद्दे. सू. ४२, ४३) जो अभिहित है, वह सारा यहां नेतव्य है।

४९६२. गिरुवद्धवं च खेमं च, होहिति रण्णो य कीरतू संती।

अद्धाणनिग्गतादी, देवी पूयाय अज्झियगं॥

इसमें अपवादपद यह है—निरूपद्रव अर्थात् अशिव तथा गलरोग का अभाव तथा क्षेम—शत्रुसेना के उपद्रव का अभाव होगा यह सोच कर राजा अपने राज्य में शांति के लिए तपस्वियों को रात्री में भोजन कराता है। अध्वनिर्गत साधु वहां पहुंचते हैं। अथवा राजा की किसी एक रानी ने वानव्यंतर देव की यह 'अज्झियकं'—मनौती की थी कि मेरा प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर मैं तपस्वियों को रात्रिभोजन कराऊंगी।

४९६३. अवधीरिया व पतिणा, सवत्तिणीए व पुत्तमाताए।

गेलण्णेण व पुट्ठा, वुग्गहउप्पादसमणे वा॥

वह रानी, पति के द्वारा अपमानित हो गई हो अथवा जो सौत हो, जो पुत्र की माता हो वह इसको बहुमान न देती हो, ग्लानत्व से वह अत्यंत स्पृष्ट हो, अथवा उससे कलह हो गया हो, उस विग्रह को मिटाने के लिए, उसके शमन के

लिए वानमन्तरदेव की पूजा करनी होती है और वह वानव्यंतर देव साधुओं को रात्री में भोजन कराने से ही संतुष्ट होता है।

४९६४. एककेक्कं अतिणेउं, निमंतणा भोयणेण विपुलेणं।

भोत्तुं अणिच्छमाणे, मरणं च तहिं ववसितस्स॥

इसलिए (अध्वनिर्गत साधु जो वहां पहुंचे थे, उनमें से) एक-एक साधु को राजभवन में बलपूर्वक प्रवेश कराकर विपुलसामाग्री युक्त भोजन के लिए निमंत्रित किया जाता है। जो भोजन करना नहीं चाहते उनका शिरच्छेद कर मरण प्राप्त करवा दिया जाता है।

४९६५. सुद्धुल्लसिते भीए,

पच्चक्खाणे पडिच्छ गच्छ थेर विदू।

मूलं छेदो छम्मास चउरो

मासा गुरुग लहुओ॥

जिस मुनि ने रात्री भोजन से विरत होकर मरण को स्वीकार किया वह शुद्ध है। जो रात्री भोजन का निमंत्रण पाकर रोमांचित हुआ उसको मूल, जिसने भय से रात्रीभक्त का सेवन किया उसको छेद, जो भक्तप्रत्याख्यान कर रात्रीभक्त का सेवन करता है उसे षड्गुरु, 'मैं जीवित रहा तो प्रतीच्छकों को वाचना दूंगा' ऐसा सोचकर रात्रीभक्त करने वाले को षड्लघु, गच्छ की सारणा करूंगा ऐसा सोचने वाले को चतुर्गुरु और स्थविरों की वैयावृत्य करूंगा ऐसा सोच कर रात्रीभक्त का सेवन करता है उसे चतुर्लघु, आचार्य की वैयावृत्य के लिए रात्रीभक्त का सेवन करता है उसको मासलघु का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

४९६६. तत्थेव य भोक्खामो, अणिच्छे भुंजामो अंधकारम्मि।

कोणादी पक्खेवो, पोट्टल भाणे व जति णीता॥

बलात् रात्री में भोजन करने के लिए कहने पर साधु कहे—हम अपने उपाश्रय में जाकर भोजन करेंगे। वे यदि इसके लिए तैयार न हों तो उनसे कहे—हम अंधकार में भोजन करेंगे। इस प्रकार अंधकारयुक्त स्थान में जाकर कहीं कौनों में कवल का प्रक्षेप करते रहें। अथवा वस्त्र में पोटली बांधकर फेंक देते हैं। यदि अपने साथ भाजन ले गए हों तो उनमें डाल देते हैं।

४९६७. गेलण्णेण व पुट्ठा, बाहाडऽरुची व अंगुली वा वि।

भुंजंता वि य असढा, सालंबाऽमुच्छिता सुद्धा॥

अथवा वे साधु कहते हैं—हम ग्लानत्व से स्पृष्ट हैं। हमने पहले बाहाड—बहुत खा लिया है अतः अब खाने की रुचि नहीं है। अथवा मुंह में अंगुली डालकर वमन कर देते हैं। इतना करने पर भी यदि वे नहीं हटते तो उस भोजन से थोड़ा

लेकर खा लेते हैं। वे मुनि अशठ-राग-द्वेष रहित, सालंबन और अमूर्च्छित होने के कारण शुद्ध हैं।

तओ पारंचिया पण्णत्ता, तं जहा-दुट्ठे
पारंचिए, पमत्ते पारंचिए, अण्णमण्णं
करेमाणे पारंचिए॥

(सूत्र २)

४९६८. एत्थं पुण अधिकारो, अणुघाता जेसु जेसु ठाणेसु।
उच्चारियसरिसाइं, सेसाइं विकोवणट्ठाए॥

प्रस्तुत सूत्र में अनुद्घातिक का अधिकार है-प्रयोजन है। जैसे-हस्तकर्म, मैथुन और रात्रीभोजन-ये सारे अनुद्घातिक प्रायश्चित्त के स्थान हैं। शेष लघुप्रायश्चित्त के स्थानों का निरूपण उच्चारितार्थ सदृश होने के कारण शिष्यों को बताने के लिए किया गया है।

४९६९. वुत्ता तवारिहा खलु, सोधी छेदारिहा अध इदाणिं।
देसे सब्बे छेदो, सब्बे तिविहो तु मूलादी॥

तपोर्ह शोधि पूर्वसूत्र में कही गई है। प्रस्तुत सूत्र में छेदाई शोधि कही जा रही है। छेद दो प्रकार का होता है-देशतः और सर्वतः। देशतः छेद पांच रातदिन से प्रारंभ होकर छह मासान्त तक होता है। सर्वछेद मूल आदि के भेद से तीन प्रकार का है-मूल, अनवस्थाप्य और पारांचिक। यहां पारांचिक छेद का अधिकार है।

४९७०. छेओ न होइ कम्हा, जति एवं तत्थ कारणं सुणसु।
अणुघाता आरुवणा, कसिणा कसिणेस संबंधो॥

शिष्य ने पूछा-सूत्र में छेद का उल्लेख क्यों नहीं? आचार्य कहते हैं-यदि तुम्हारी ऐसी बुद्धि है तो उसका कारण सुनो। अनन्तरोक्त सूत्र में अनुद्घात आरोपणा का कथन है। वह कृत्स्ना-गुरुक होती है। यहां भी पारांचिक आरोपणा कृत्स्ना है। इन दोनों कृत्स्नाओं का संबंध है।

४९७१. अंचु गति-पूयणम्मि य, पारं पुणऽणुत्तरं बुधा बिंति।
सोधीय पारमंचइ, ण यावि तदपूतियं होति॥

अञ्चु धातु के दो अर्थ हैं-गति और पूजा। जिस प्रायश्चित्त के पालन से साधक संसारसमुद्र के पार अर्थात् तीर सदृश निर्वाण को प्राप्त हो जाता है वह है पारांचिक प्रायश्चित्त। यह तीर्थंकरों की वाणी है। इसका दूसरा अर्थ है-साधक शोधि के पार चला जाता है, वह है पारांचिक। यह अंतिम प्रायश्चित्त है। इससे आगे कोई प्रायश्चित्त नहीं है।

यह प्रायश्चित्त अपूजित नहीं होता, किन्तु पूजित ही होता है। जो साधक इस तपस्या का पार पा जाता है, वह श्रमण संघ द्वारा पूजित होता है।

४९७२. आसायण पडिसेवी, दुविहो पारंचितो समासेणं।
एक्केक्कम्मि य भयणा, सचरित्ते चव अचरित्ते॥

संक्षेप में पारांचित के दो प्रकार हैं-आशातना पारांचित और प्रतिसेवना पारांचित। पुनः प्रत्येक में दो प्रकार की भजना है-ये दोनों सचारित्री के भी हो सकती हैं और अचारित्री के भी।

४९७३. सब्बचरित्तं भस्सति, केणति पडिसेवितेण तु पदेणं।
कत्थति चिद्धति देसो, परिणामऽवराहमासज्ज॥

किसी अपराधपद के आसेवन से सारा चारित्र भ्रष्ट हो जाता है और किसी एक अपराधपद के सेवन से चारित्र का एक देश रह जाता है। इसका कारण है परिणामों की तीव्रता, मंदता और अपराध की उत्कृष्टता, मध्यमता और जघन्यता।

४९७४. तुल्लम्मि वि अवराधे, परिणामवसेण होति णाणत्तं।
कत्थति परिणामम्मि वि, तुल्ले अवराहणाणत्तं॥

अपराध की तुल्यता में भी परिणामों की तीव्रता-मंदता के कारण उसमें वैचिन्त्य होता है, नानात्व होता है। कहीं-कहीं परिणामों की तुल्यता में भी अपराध का नानात्व होता है।

४९७५. तित्थकर पवयण सुते, आयरिए गणहरे महिद्धीए।
एते आसायंते, पच्छित्ते मग्गणा होइ॥

तीर्थंकर, प्रवचन, श्रुत, आचार्य, गणधर, तथा महर्षिक मुनि-जो इनकी आशातना करता है उसके प्रायश्चित्त की मार्गणा होती है।

४९७६. पाहुडियं अणुमण्णति, जाणंतो किं व भुंजती भोगे।
थीतित्थं पि य वुच्चति, अतिकक्खडदेसणा यावि॥

कोई कहता है-प्राभृतिका-देवविरचित समवसरण, महाप्रातिहार्यादि पूजा लक्षण वाले कार्य को अर्हत् मान्य करते हैं, यह उचित नहीं है। अर्हत् जानते हुए भी विपाक-दारुण भोगों को क्यों भोगते हैं? स्त्रीतीर्थंकर की बात भी समीचीन नहीं है। तीर्थंकरों की देशना अतिकर्कश होती है। दुरनुचर होती है।

४९७७. अण्णं व एवमादी, अवि पडिमासु वि तिलोगमहित्ताणं।
पडिरुवमकुव्वंतो, पावति पारंचियं ठाणं॥

इस प्रकार तथा अन्य प्रकार से भी तीर्थंकरों का अवर्णवाद बोलता है, त्रैलोक्यपूजित भगवान् की प्रतिमाओं की निन्दा करता है तथा उनकी वंदना-स्तुति नहीं करता वह पारांचिक स्थान को प्राप्त होता है।

४९७८. अक्रोस-तज्जणादिसु,

संघमहिक्खिवति संघपडिणीतो।

अण्णे वि अत्थि संघा,

सियाल-णंतिक्क -ढंकाणं ॥

प्रवचन अर्थात् संघ की आशातना—जो आक्रोश तथा तर्जना से संघ पर आक्षेप करता है, वह संघ का प्रत्यनीक है। वह कहता है—सियार, णंतिक्क (?), ढंका आदि के भी संघ होते हैं। यह श्रमणसंघ भी वैसा ही है।

४९७९. काया वया य ते च्चिय, ते चेव पमायमप्पमादा य।

मोक्खाहिकारियाणं, जोतिसविज्जासु किं च पुणो ॥

आगमों में षड्काय, व्रत, प्रमाद और अप्रमाद के स्थान वे ही हैं। उनका बार-बार उल्लेख है। यह उचित नहीं है। मोक्षाधिकारी मुनियों के लिए ज्योतिष विद्या से क्या प्रयोजन? आगमों में उसका प्रतिपादन है। यह श्रुत की आशातना है।

४९८०. इद्धि-रस-सातगुरुगा, परोवदेसुज्जया जहा मंखा।

अत्तद्धपोसणरया, पोसेंति दिया व अप्पाणं ॥

आचार्य ऋद्धि, रस, सात से गुरुक होते हैं। वे मंखों की भांति परोपदेश में उद्यत रहते हैं। वे अपने पोषण में रत रहते हैं। वे ब्राह्मणों की भांति अपना पोषण करते हैं।

४९८१. अन्भुज्जयं विहारं, देसिंति परेसि सयमुदासीणा।

उवजीवंति य रिद्धि, निस्संगा मो त्ति य भणंति ॥

गणधर अभ्युद्यत विहार की देशना देते हैं, किन्तु स्वयं इसमें उदासीन रहते हैं। वे ऋद्धियों का उपभोग करते हैं परंतु कहते हैं—हम तो निःसंग हैं।

४९८२. गणधर एव महिद्धी, महातवस्सी व वादिमादी वा।

तित्थगरपढमसिस्सा, आदिग्गहणेण गहिता वा ॥

गणधर ही सर्वलब्धिसंपन्न होने के कारण महर्द्धिक होते हैं। अथवा महातपस्वी तथा वादी, विद्यासिद्ध आदि मुनि महर्द्धिक माने जाते हैं। तीर्थकरों के प्रथम शिष्य होते हैं गणधर। आदि ग्रहण से अन्य महर्द्धिक भी गृहीत होते हैं।

४९८३. पढम-बितिएसु चरिमं, सेसे एक्केक्क चउगुरू होंति।

सव्वे आसादित्तो, पावति पारंचियं ठाणं ॥

पहले अर्थात् तीर्थकर और दूसरे अर्थात् प्रवचन (संघ) इनकी आशातना करने वाले को पारंचित, शेष की देशतः आशातना करने वाले प्रत्येक को चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त तथा सर्वतः आशातना करने वाले को पारंचिक प्रायश्चित्त आता है।

४९८४. तित्थयरपढमसिस्सं, एक्कं पाऽऽसादयंतु पारंची।

अत्थस्सेव जिणिंदो, पभवो सो जेण सुत्तस्सा ॥

तीर्थकर के एक भी प्रथम शिष्य—गणधर की आशातना करने वाले को पारंचिक प्रायश्चित्त आता है। क्योंकि जिनेन्द्र तो केवल अर्थ की उत्पत्ति के कारक होते हैं और गणधर सूत्र के प्रणेता होते हैं।

४९८५. पडिसेवणपारंची, तिविधो सो होइ आणुपुव्वीए।

दुट्टे य पमत्ते या गेयव्वे अण्णमण्णे य ॥

प्रतिसेवना पारंची क्रमशः तीन प्रकार का होता है—दुष्टपारंचिक, प्रमत्तपारंचिक और अन्योन्य करने वाला पारंचिक।

४९८६. दुविधो य होइ दुट्टो, कसायदुट्टो य विसयदुट्टो य।

दुविहो कसायदुट्टो सपक्ख परपक्ख चउभंगो ॥

दुष्टपारंचिक के दो प्रकार हैं—कषायदुष्ट और विषय-दुष्ट। कषायदुष्ट दो प्रकार का है—स्वपक्षदुष्ट और परपक्षदुष्ट। यहां चतुर्भंगी है—

(१) स्वपक्ष स्वपक्ष में दुष्ट

(२) स्वपक्ष परपक्ष में दुष्ट

(३) परपक्ष स्वपक्ष में दुष्ट

(४) परपक्ष परपक्ष में दुष्ट।

४९८७. सासवणाले मुहणंतए य उलुगच्छि सिहरिणी चेव।

एसो सपक्खदुट्टो, परपक्खे होति गेगविधो ॥

सरसों की भाजी, मुखवस्त्रिका, उलूकाक्ष, शिखरिणी—ये चार दृष्टान्त स्वपक्ष कषाय दुष्ट के हैं। परपक्षकषायदुष्ट अनेक प्रकार का होता है।

४९८८. सासवणाले छंदण, गुरु सव्वं भुंजे एतरे कोवो।

खामणमणुवसमंते, गणिं ठवेत्तऽण्णाहि परिण्णा ॥

४९८९. पुच्छंतमणक्खाए, सोच्चऽण्णतो गंतु कत्थ से सरीरं।

गुरु पुव्व कहितऽदातण, पडियरणं दंतभंजणता ॥

एक मुनि को गोचरी में सरसों की भाजी मिली। उसने आचार्य को उसके लिए निमंत्रित किया। गुरु ने सारी भाजी खाली। शिष्य इससे कुपित हो गया। गुरु ने क्षमायाचना की, पर वह उपशांत नहीं हुआ। तब गुरु ने उस गण के लिए दूसरे आचार्य की स्थापना कर स्वयं अन्य गच्छ में जाकर भक्तप्रत्याख्यान अनशन कर लिया। गुरु कालगत हो गए। उस दुष्ट शिष्य ने अपने साथी साधुओं से गुरु के विषय में पूछताछ की। किसी ने कुछ नहीं बताया तब दूसरे स्रोतों से सारी जानकारी कर वह वहां गया जहां गुरु ने अनशन कर शरीर को त्यागा था। वहां जाकर उसने पूछा—उनका शरीर कहां है? गुरु ने प्राणत्याग से पूर्व ही कह दिया था कि उस दुष्ट शिष्य को मेरे विषय में कुछ मत बताना। अतः उसके पूछने पर भी उन्होंने कुछ नहीं बताया। उसने अन्य स्रोत से

सारी जानकारी कर वहां पहुंचा जहां आचार्य के शरीर का परिष्ठापन किया था। उसने उस मृत शरीर को निकाला और गुरु के दांतों को तोड़ते हुए बोला—तुमने इन्हीं दांतों से सरसों की भाजी खाई थी। साधुओं ने यह देखा और सोचा—इस दुष्ट ने प्रतिशोध लिया है।

४९९०. मुहणंतगस्स गहणे, एमेव य गंतु णिसि गलग्गहणं।
सम्मूढेणियरेण वि, गलए गहितो मता दो वि॥

एक साधु को अत्यंत उज्ज्वल मुखवस्त्रिका प्राप्त हुई। उसने गुरु को दिखाई। गुरु ने उसको ले लिया। उसके मन में गुरु के प्रति प्रद्वेष उत्पन्न हो गया। गुरु ने यह जाना और भक्तप्रत्याख्यान अनशन ले लिया। रात्री में एकान्त पाकर शिष्य गुरु के निकट गया और गुरु के गले को जोर से दबाया। संमूढ होकर दूसरे शिष्य ने उस दुष्ट का गला पकड़कर जोर से दबाया। दोनों—गुरु और वह दुष्ट शिष्य—मृत्यु को प्राप्त हो गए।

४९९१. अत्थंगए वि सिव्वसि,

उलगच्छी! उक्खणामि ते अच्छी।

पढमगमो नवरि इहं,

उलगच्छीउ त्ति ढोक्केति॥

एक साधु सूर्यास्त के समय भी कपड़े सी रहा था। दूसरे मुनि ने कहा—अरे उलूकाक्ष! सूर्य के अस्तगत हो जाने पर भी सी रहा है? वह कुपित होकर बोला—‘तुम मुझे इस प्रकार कहते हो, मैं तुम्हारी दोनों आंखें उखाड़ दूंगा।’ शेष प्रथम आख्यान की भांति यहां भी मानना चाहिए। उस शिष्य के अनशनपूर्वक मरने के पश्चात् इस दुष्ट शिष्य ने उसकी दोनों आंखें उखाड़ कर ‘तुमने मुझे उलूकाक्ष कहा था’, यह कहते हुए दोनों आंखें निकाल ली।

४९९२. सिहरिणिलंभाऽऽलोयण,

छंदिए सव्वाइते अ उग्गिरणा।

भत्तपरिण्णा अण्णाहि,

ण गच्छती सो इहं णवरिं॥

एक बार एक शिष्य को भिक्षा में उत्कृष्ट सिखरिणी की प्राप्ति हुई। गुरु के समक्ष उसकी आलोचना की, उसे दिखाई और गुरु को उसके लिए आमंत्रित किया। गुरु ने स्वयं समूची सिखरिणी का पान कर लिया। तब उस दुष्ट शिष्य ने गुरु को मारने के लिए दंड उठाया। गुरु ने क्षमायाचना की, परन्तु वह शिष्य उपशांत नहीं हुआ। तब गुरु ने अपने गण में ही अनशन स्वीकार कर समाधिमरण को प्राप्त किया। गुरु अन्य गण में नहीं गए। तदनन्तर उस दुष्ट शिष्य ने गुरु के मृत शरीर को दंडे से खूब कूटा।

४९९३. तिक्कसायपरिणतो, तिक्क्यरागाणि पावइ भयाइं।

मयगस्स दंतभंजण, सममरणं ढोक्कणुग्गिरणा॥

तीव्र कषाय में परिणत जीव तीव्रतर भयों को प्राप्त होता है। प्रथम दृष्टांत में लोभ परिणत मृत आचार्य का दन्तभंजन, दूसरे दृष्टांत में तीव्र क्रोध परिणत आचार्य और शिष्य का सम-मरण, तीसरे दृष्टांत में आंखों को उखाड़ कर प्रस्तुत करना और चौथे दृष्टांत में दंडक को उठाना। पूर्वोक्त चतुर्भंगी का यह पहला भंग है।

४९९४. रायवधादिपरिणतो, अहवा वि हवेज्ज रायवहओ तु।

सो लिंगतो पारंची, जो वि य परिकद्धती तं तु॥

जो राजा, अमात्य आदि के वध में परिणत है अथवा जो राजवधक हो—इस प्रकार परपक्षदुष्ट अनेकविध होते हैं। इन सबको लिंगतः पारांचिक करना चाहिए। जो आचार्य आदि ऐसे राजवधक का सहयोगी होता है, उसे भी लिंग पारांचिक कर देना चाहिए।

४९९५. सन्नी व असन्नी वा, जो दुद्धो होति तू स पक्खम्मि।

तस्स निसिद्धं लिंगं, अतिसेसी वा वि दिज्जाहि॥

जो संज्ञी अथवा असंज्ञी-स्वपक्ष में दुष्ट होता है, उसको लिंग देना निषिद्ध है। जो अतिशयज्ञानी आचार्य हैं वे उसे लिंग दे सकते हैं।

४९९६. रत्तो जुवरत्तो वा,

वधतो अहवा वि इस्सरादीणं।

सो उ सदेसि ण कप्पइ,

कप्पति अण्णम्मि अण्णाओ॥

जो व्यक्ति राजा या युवराज का वधक है अथवा जो ईश्वर-धनाढ्य व्यक्तियों का घातक है, उसे स्वदेश में दीक्षा देना नहीं कल्पता, किन्तु अन्यदेश में अज्ञातरूप से दीक्षा देना कल्पता है।

४९९७. इत्थ पुण अधीकारो, पढमिल्लुग-बितियभंगदुद्धेहिं।

तेसिं लिंगविवेगो, दुचरिमे वा लिंगदानं तु॥

यहां प्रथम और द्वितीय भंगवर्ती दुष्ट का अधिकार है। (स्वपक्ष स्वपक्ष में दुष्ट तथा स्वपक्ष परपक्ष में दुष्ट) इन दो भंगों का अधिकार है। इनको लिंगविवेकरूप पारांचिक देना चाहिए। दुचरिमे अर्थात् तीसरे और चौथे भंगद्वय में विकल्प से लिंगदान हो सकता है। (परपक्ष स्वपक्ष में दुष्ट और परपक्ष परपक्ष में दुष्ट—इन दो भंगों में वर्तमान पुरुष यदि उपशांत हों तो लिंगदान करना चाहिए अन्यथा नहीं।)

४९९८. सव्वेहि वि घेत्तव्वं, गहणे य निमंतणे य जो तु विही।

भुंजती जतणाए, अजतण दोसा इमे होंति॥

सभी साधुओं को आचार्य के प्रायोग्य द्रव्य अपने-अपने

पात्र में ग्रहण करना चाहिए। ग्रहण और निमंत्रण में जो विधि है, वह सारी करनी चाहिए। आचार्य यतनापूर्वक भोजन करते हैं। अयतनापूर्वक भोजन करने से ये दोष आपादित होते हैं।

४९९९.सव्वेहि वि गहियम्मी, थोवं थोवं तु के वि इच्छंति।

सव्वेसिं ण वि भुंजति, गहितं पि बितिज्ज आदेसो॥

आचार्य के प्रायोग्य द्रव्य सभी शिष्य लाते हैं। आचार्य उनमें से थोड़ा-थोड़ा ग्रहण कर लेते हैं। यह पहला आदेश है। कुछेक आचार्य कहते हैं—एक ही शिष्य को गुरु-प्रायोग्य द्रव्य लाना चाहिए। सबका लाया हुआ गुरु नहीं खा पाते। यह दूसरा आदेश है।

५०००.गुरुभक्तिं जो हिययाणुकूलो,

सो गिण्हती णिस्समणिस्सतो वा।

तरसेव सो गिण्हति णेयरेसिं,

अलब्भमाणम्मि व थोव थोवं॥

जो शिष्य गुरुभक्ति से ओतप्रोत होता है, जो गुरु के हृदय के अनुकूल वर्तन करता है, जो गुरु के प्रायोग्य द्रव्यों को निश्चागृहो अथवा अनिश्चागृहो से ग्रहण करता है, उसी से आचार्य भक्तपान ग्रहण करते हैं, दूसरों से नहीं। यदि एक से पर्याप्त ग्रहण नहीं होता तो थोड़ा-थोड़ा सभी से ग्रहण करते हैं।

५००१.सति लंभम्मि वि गिण्हति,इयरेसिं जाणिऊण निब्बंधं।

मुंचति य सावसेसं, जाणति उवयारभणियं च॥

प्रचुर लाभ होने पर भी दूसरे साधुओं का आग्रह देखकर आचार्य उनका लाया हुआ भी लेते हैं। उनका आनीत भोजन करते हुए भी अवशिष्ट छोड़ते हैं। वे जानते हैं कि कौन उपचार से निमंत्रित करता है और कौन सद्भावना से।

५००२.गुरुणो (णं) भुत्तुव्वरियं, बालादसतीय मंडलिं जाति।

जं पुण सेसगगहितं, गिलाणमादीण तं दिंति॥

गुरु के भोजन कर लेने पर जो बचता है, उसे बाल मुनियों को दे दिया जाता है। उनके अभाव में उसे मंडली पात्र में डाल देते हैं। जिस भक्तपान को शेष मुनियों ने पात्रों में ग्रहण किया है उसको ग्लान आदि को दे दिया जाता है।

५००३.सेसाणं संसइं, न छुब्भती मंडलीपडिग्गहए।

पत्तेग गहितं छुब्भति, ओभासणलंभ मोत्तूणं॥

गुरु व्यतिरिक्त शेष साधुओं का संसृष्ट-अवशिष्ट भक्तपान मंडलीपात्र में नहीं डाला जाता। जो भक्तपान ग्लान आदि के लिए पृथक्-पृथक् पात्रों में गृहीत है, उसमें से बचा हुआ मंडली पात्र में डाल दिया जाता है। परंतु अवभाषित-प्रगट लाभ को छोड़ कर शेष उसमें डाला जाता है।

५००४.पाहुणगट्टा व तगं, धरेत्तुमतिबाहडा विगिंचंति।

इह गहण-भुंजणविही, अविधीए इमे भवे दोसा॥

अतिथियों के लिए तथा ग्लान के लिए लाया हुआ प्रायोग्य द्रव्य स्थापित कर यदि अत्यधिक हो तो उसे परिष्ठापित कर देते हैं। यह ग्रहण और भोजनविधि है। अविधि में ये दोष होते हैं।

५००५.तिव्वकसायपरिणतो, तिव्वतरागाइं पावइ भयाइं।

मयगस्स दंतभंजण, सममरणं ढोक्कणुगिरणा॥

तीव्र कषाय में परिणत जीव तीव्रतर भयों को प्राप्त होता है। प्रथम दृष्टांत में लोभ परिणत मृत आचार्य का दन्तभंजन, दूसरे दृष्टांत में तीव्र क्रोध परिणत आचार्य और शिष्य का सम-मरण, तीसरे दृष्टांत में आंखों को उखाड़ कर प्रस्तुत करना और चौथे दृष्टांत में दंडक को उठा कर शरीर को कूटना। यहां कषायदुष्ट का प्रकरण समाप्त हुआ। आगे विषयदुष्ट का प्रकरण चालू होता है।

५००६.संजति कप्पट्टीए, सिज्जायरि अण्णउत्थिणीए य।

एसो उ विसयदुट्टो, सपक्ख परपक्ख चउभंगो॥

यहां भी स्वपक्ष-परपक्ष की अपेक्षा चतुर्भंगी होती है—

१. स्वपक्ष स्वपक्ष में दुष्ट

२. स्वपक्ष परपक्ष में दुष्ट

३. परपक्ष स्वपक्ष में दुष्ट

४. परपक्ष परपक्ष में दुष्ट।

संयत कल्पस्थिका अर्थात् तरुण संयती में आसक्त है—यह प्रथम भंग है। संयत भी शय्यातर की लड़की या परतीर्थिकी में आसक्त है, यह दूसरा भंग है। गृहस्थ तरुण संयती में आसक्त है, यह तीसरा भंग है और गृहस्थ गृहस्थस्त्री में आसक्त है, यह चतुर्थ भंग है। इस प्रकार विषयदुष्ट चार प्रकार का होता है।

५००७.पढमे भंगे चरिमं, अणुवरए वा वि बितियभंगम्मि।

सेसेण ण इह पगतं, वा चरिमे लिंगदानं तु॥

प्रथम भंग में अनुपरत व्यक्ति के चरम प्रायश्चित्त-पारांचिक प्राप्त होता है। दूसरे भंग में भी पारांचिक प्रायश्चित्त है। शेष दो भंग यहां अधिकृत नहीं हैं। अथवा विकल्प से चरम भंग द्वय में लिंगदान करना चाहिए। यदि उपशांत हो तो अन्य स्थान में लिंगदान करना चाहिए अन्यथा नहीं।

५००८.लिंगेण लिंगिणीए, संपत्तिं जइ णियच्छती पावो।

सव्वजिणाणउज्जातो, संघो आसातिओ तेणं॥

यदि लिंग अर्थात् रजोहरण आदि से युक्त संयमी संयती के साथ प्रतिसेवना आदि करता है तो वह पापी

सभी तीर्थकरों की आर्याओं की तथा संघ की आशातना करता है।

५००९. पावार्णं पावयरो, दिङ्गिऽभासे वि सो ण वड्ढति हु।
जो जिणपुंगवमुद्दं, नमिऊण तमेव धरिसेति॥

वह सभी पापियों में पापतर होता है। वैसे व्यक्ति को दृष्टि के सामने भी नहीं रखना चाहिए जो जिनपुंगवमुद्दा को धारण करने वाली श्रमणी को नमस्कार करके, उसी को भ्रष्ट करता है।

५०१०. संसारमणवयग्गं, जाति-जरा-मरण-वेदणापउरं।
पावमलपडलछन्ना, भमंति मुद्दाधरिसणेणं॥

जो साक्षात् जिनमुद्दा-श्रमणी को भ्रष्ट करता है, वह जन्म, जरा, मरण और वेदना से संकुल तथा पापमलपटल से आच्छन्न इस अपार संसार में परिभ्रमण करता रहता है।

५०११. जत्थुप्पज्जति दोसो, कीरति पारंचितो स तम्हा तु।
सो पुण सेवीमसेवी, गीतमगीतो व एमेव॥

जिस क्षेत्र में जिसके संयती के धर्षण आदि का दोष उत्पन्न हुआ है या होगा उसे उस क्षेत्र से पारांचिक कर दिया जाता है। वह उस दोष का सेवी या असेवी हो सकता है, वह गीतार्थ या अगीतार्थ हो सकता है उसे संपूर्ण रूप से पारांचिक कर देना चाहिए।

५०१२. उवस्सय कुले निवेसण, वाडग साहि गाम देस रज्जे वा।
कुल गण संघे निज्जूहणाए पारंचितो होति॥

जिस उपाश्रय में, कुल में, निवेसन में, पाटक में, साही में-शालारूप में श्रेणीक्रम से स्थित गांव के घरों की एक ओर की श्रेणी में, गांव में, देश में या राज्य में दोष उत्पन्न होता है वहां से उस व्यक्ति को पारांचिक कर दिया जाता है। जो कुल से, गण से या संघ से अलग कर दिया जाता है वह क्रमशः कुलपारांचिक, गणपारांचिक तथा संघपारांचिक कहलाता है।

५०१३. उवसंतो वि समाणो, वारिज्जति तेसु तेसु ठाणेषु।
हंदि हु पुणो वि दोसं, तद्वाणासेवणा कुणति॥

प्रश्न होता है कि साधक को उपाश्रय आदि स्थानों से पारांचिक क्यों किया जाता है? ग्रंथकार कहते हैं-साधक को उपशांत हो जाने पर भी उन-उन स्थानों में विहार करने या जाने का निषेध किया जाता है क्योंकि उस स्थान में पुनः जाने से वही दोष पुनः हो सकता है।

१. सुहपडिबोहो निद्दा, दुहपडिबोहो य निद्दिनिद्दा।
पयला होइ ठियस्सा, पयलापयला उ चंक्रमतो॥
-जिससे जागना सुखपूर्वक होता है वह है निद्दा, जिससे जागना कष्टप्रद होता है वह है निद्दिनिद्दा, जो बैठे या खड़े-खड़े नींद आती है

५०१४. जेसु विहरंति तातो, वारिज्जति तेसु तेसु ठाणेषु।
पढमगभंगे एवं, सेसेसु वि ताइं ठाणाइं॥

जिस ग्राम या जिन स्थानों में संयतियां विहरण करती हैं, उन स्थानों में विहरण करने के लिए संयत की वर्जना की जाती है। यह प्रथम भंग की बात है-स्वपक्ष स्वपक्ष में दुष्ट। शेष द्वितीय आदि भंगों में वे स्थान भी वर्जनीय हैं।

५०१५. एत्थं पुण अहिगारो, पढमगभंगेण दुविह दुट्ठे वी।
उच्चारियसरिसाइं, सेसाइं विकोवणद्वाए॥

यहां द्विविध दुष्ट अर्थात् कषाय से तथा विषय से दुष्ट प्रथम भंग का अधिकार है। शेष द्वितीय भंग आदि उच्चारित सदृश हैं। वे शिष्य की मति को कुरेदने के लिए कहे गए हैं।

५०१६. कसाए विकहा विगडे, इंदिय निद्दा पमाद पंचविधो।
अहिगारो सुत्तम्मिं, तहिगं च इमे उदाहरणा॥

पांच प्रकार का प्रमाद है-कषाय, विकथा, विकट-मद्य, इन्द्रिय, निद्रा। निशीथ सूत्र की पीठिका में इनका विस्तार से वर्णन है। यहां सुप्त अर्थात् निद्रा का अधिकार है। निद्रा के पांच प्रकार हैं-निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानर्द्धिः।

५०१७. पोग्गल मोयग फरुसग, दंते वडसालभंजणे सुत्ते।
एतेहिं पुणो तस्सा, विविंचणा होति जतणाए॥

प्रस्तुत में पारांचिक का प्रसंग है। यहां स्त्यानर्द्धि निद्रा का अधिकार है। उसके ये उदाहरण हैं-पुद्गल-मांस, मोदक, कुंभकार, दांत, बटवृक्ष की शाखा को तोड़ना। इन लक्षणों से स्त्यानर्द्धि को जानकर उस साधु का यतनापूर्वक परित्याग कर देना चाहिए।

५०१८. पिसियासि पुव्व महिसं,
विगच्छियं दिस्स तत्थ निसि गंतुं।

अण्णं हंतुं खायति,

उवस्सयं सेसगं पेति॥

कोई एक व्यक्ति गृहवास में मांसभक्षी था। उसने दीक्षा ग्रहण कर ली। एक बार उसने एक महिष को काटते हुए देखा और उसको उस महिष के मांस खाने की लालसा उत्पन्न हो गई। वह उपाश्रय में सो गया। वह रात्री में महिषमंडल में गया और एक अन्य महिष को मारकर खाने लगा। जो मांस बचा उसे उपाश्रय में लाकर रख दिया। यह सारा स्त्यानर्द्धि नींद में उसने किया।

वह है प्रचला और जो गमन करते नींद आती है वह है प्रचलाप्रचला। स्त्यानर्द्धि निद्रा का अर्थ है-प्रबलदर्शनावरणीयकर्म के उदय से ऋद्धि-चैतन्यशक्ति कठिनीभूत होकर जम जाती है, तब जानने की शक्ति जागृत नहीं रहती, कुछ भी भान नहीं रहता।

५०१९.मोयगभक्तमलङ्कुं, भंतु कवाडे घरस्स निसि खाति।

भाणं च भरेऊणं, आगतो आवासए विगडे॥

एक साधु गोचरी में भिक्षा के लिए घूम रहा था। उसने एक घर में मोदकभक्त देखा। याचना करने पर भी उसे नहीं मिला। रात्री में वह वहां गया और कपाटों को तोड़कर मोदक खाने लगा। शेष मोदकों से पात्रों को भरकर उपाश्रय में ले आया। प्राभातिक आवश्यक में वह आलोचना करता है कि मैंने ऐसा स्वप्न देखा था। प्रभात में मोदक से भरे पात्र को देखकर जान लिया कि यह स्त्यानर्द्धि निद्रा का प्रतिफल है।

५०२०.अवरो फरुसग मुंडो, मट्टियपिंडे व छिदिउं सीसे।

एगंते अवयज्झइ, पासुत्ताणं विगडणा य॥

एक कुंभकार मुंडित-प्रव्रजित हो गया। रात्री में स्त्यानर्द्धि निद्रा का उदय हुआ और वह पूर्वाभ्यास के कारण मृत्तिकापिंड को छेदने की भांति पास में सोए हुए साधुओं के शिरो का छेदन करने लगा। उनको एकान्त में रखने लगा। बाद में वह स्वयं भी सो गया। प्रातःकाल आलोचना की कि उसने स्वप्न देखा है। यह सारा स्त्यानर्द्धि का फल था।

५०२१.अवरो वि धाडिओ मत्तहत्थिणा पुरकवाडे भंतूणं।

तस्सुक्खणित्तु दंते, वसही बाहिं विगडणा य॥

कोई एक साधु भिक्षा के लिए जा रहा था। एक मत्त हाथी ने उसे सूंड से पकड़ कर उछाल दिया। साधु के मन में हाथी के प्रति प्रद्वेषभाव उत्पन्न हो गया। उस साधु के स्त्यानर्द्धि निद्रा का उदय हुआ। रात्री में वह उठा। नगर के दरवाजे तोड़कर वह हस्तिशाला में गया और उस हाथी के दांत उखाड़ कर वसति के बाहर उन्हें रखकर सो गया। प्रभात में उसने स्वप्न की आलोचना की। सारी स्थिति ज्ञात हो गई।

५०२२.उब्भामग वडसालेण घट्टितो केइ पुव्व वणहत्थी।

वडसालभंजणाऽऽणण, उस्सग्गाऽऽलोयणा गोसे॥

एक बार मुनि उद्भ्रामक भिक्षा के लिए मूलगांव से पास वाले गांव में गया। रास्ते में एक विशाल वटवृक्ष था। वह भिक्षाचरी कर आ रहा था। अचानक उस वटवृक्ष की शाखा से उसका सिर टकरा गया। प्रचुर पीड़ा हुई। वटवृक्ष के प्रति मन में प्रद्वेष जाग उठा। रात्री में स्त्यानर्द्धि निद्रा की उदीरणा हुई और वह उठकर वटवृक्ष के पास गया। वटवृक्ष को उखाड़ कर उसकी शाखा को तोड़कर, उसे उपाश्रय में लाकर रख दिया। प्रातः उत्सर्ग-कायोत्सर्ग के समय आलोचना की। संचाई का पता लग गया।

कुछ आचार्य कहते हैं—वह पूर्वभव में वनहस्ती था। मनुष्य

भव में उसने दीक्षा ग्रहण कर ली। पूर्वभव के अभ्यास से उसने वटवृक्ष की शाखा को तोड़ डाला।

५०२३.केसवअद्धबलं पण्णवेति मुय लिंग णत्थि तुह चरणं।

णेच्छस्स हरइ संघो, ण वि एक्को मा पदोसं तु॥

तीर्थंकर आदि कहते हैं कि स्त्यानर्द्धि नींद वाले व्यक्ति में केशव अर्थात् वासुदेव के बल से आधा बल होता है। यह प्रथम संहननी की अपेक्षा से कहा है। वर्तमान में उसमें सामान्य मनुष्य के बल से दुगुना, तीन गुना, चार गुना बल होता है। स्त्यानर्द्धि वाले को कहे—तुम साधु वेश को छोड़ दो। तुम्हारे में चारित्र नहीं है। यदि वह वेश छोड़ना नहीं चाहता तो संघ उसके वेश का हरण कर देता है। संघ में एक नहीं अनेक व्यक्ति होते हैं, इसलिए एक पर उसका प्रद्वेष नहीं होता।

५०२४.अवि केवलमुप्पाडे, न य लिंगं देति अणतिसेसी से।

देसवत दंसणं वा, गिण्ह अणिच्छे पलायंति॥

अनतिशायीज्ञानी यह संभावना करता है कि यह स्त्यानर्द्धि निद्रा वाला मुनि इसी भव में केवलज्ञानी होगा, फिर भी वह उसको लिंग नहीं देता। उसका लिंगापहार करते समय उसे कहते हैं—तुम देशव्रत स्वीकार करो अथवा दर्शन-सम्यक्त्व ग्रहण कर लो। यदि वह लिंग को छोड़ना नहीं चाहता तो अन्य मुनि रात्री में उसे सोया हुआ छोड़कर देशान्तर में चले जाएं।

५०२५.करणं तु अण्णमण्णे, समणाण न कप्पते सुविहितानं।

जे पुण करंति णाता, तेसिं तु विविंचणा भणिया॥

सुविहित श्रमणों को परस्पर करण-मुख-पायुप्रयोग से सेवन करना नहीं कल्पता। जो करते हैं, उनकी जानकारी हो जाने पर उनका विवेचन-परित्याग कर देना चाहिए।

५०२६.आसग-पोसगसेवी, केई पुरिसा दुवेयगा हंति।

तेसिं लिंगविवेगो, बितियपदं रायपव्वइते॥

जो मुख और पायु का सेवन करने वाले होते हैं, वे कुछेक पुरुष-साधु द्विवेदक-स्त्री-नपुंसक वेद वाले होते हैं, उनका लिंग-विवेक कर देना चाहिए। इसमें अपवादपद यह है कि जो राजप्रव्रजित मुख-पायु सेवी हो तो उसका यतनापूर्वक परित्याग कर देना चाहिए।

५०२७.बिइओ उवस्सयाई, कीरति पारंचितो न लिंगातो।

अणुवरमं पुण कीरति, सेसा नियमा तु लिंगाओ॥

द्वितीय अर्थात् विषयदुष्ट मुनि को उपाश्रय आदि क्षेत्रतः पारांचिक किया जाता है, लिंग से नहीं। यदि वह दोषों से अनुपरत होता है तो उसे लिंग से भी पारांचिक कर दिया

जाता है। शेष अर्थात् कषायदुष्ट, प्रमत्त, अन्योन्यसेवी-ये नियमतः लिंगपारांचिक किए जाते हैं।

५०२८. इन्दिय-प्रमाददोसा, जो पुण अवराहमुत्तमं पत्तो।
सम्भावसमाउट्टो, जति य गुणा से इमे होंति॥

जो मुनि इन्द्रियदोष-प्रमाददोष से उत्कृष्ट अपराधपद को प्राप्त होता है, वह यदि सद्भावसमावृत अर्थात् पुनः ऐसा नहीं करूंगा-इस निश्चय से युक्त होता है, उसे तपःपारांचिक किया जाता है। यदि उसके ये गुण हों तो-

५०२९. संघयण-विरिय-आगम-सुत्त-ऽत्थ

विहीए जो समग्गे तु।

तवसी निग्गहजुत्तो,

पवयणसारे अभिगतत्थो॥

संहनन-वज्ररूपभनाराच हो, वीर्य-धृति हो, आगम अर्थात् नौवें पूर्व की तीसरी आचारवस्तु तक सूत्रतः और अर्थतः परिचित हो, इन सबकी विधि से जो संपूर्णरूप से भावित हो, तपस्वी हो, निग्रहयुक्त हो, प्रवचन के सारभूत अर्थ के रहस्यों का ज्ञाता हो।

५०३०. तिलतुसतिभागमित्तो,

वि जस्स असुभो ण विज्जती भावो।

निज्जूहणाइ अरिहो,

सेसे निज्जूहणा नत्थि॥

जिसके गच्छ से निर्यूद्ध हो जाने पर भी जिसके तिलतुषमात्र का भी अशुभभाव मन में नहीं आता, ऐसा मुनि निर्यूहण के योग्य होता है। इन गुणों से रहित व्यक्ति निर्यूहणा के योग्य नहीं होते।

५०३१. एयगुणसंपजुत्तो, पावति पारंचियारिहं ठाणं।

एयगुणविप्पमुक्के, तारिसगम्मी भवे मूलं।

इन गुणों से युक्त व्यक्ति पारांचिक योग्य स्थान को प्राप्त करता है। इन गुणों से विप्रमुक्त व्यक्ति यदि पारांचिकापत्ति प्राप्त करता है फिर भी उसको मूल प्रायश्चित्त ही प्राप्त होता है।

५०३२. आसायणा जहण्णे, छम्मासुक्कोस बारस तु मासे।

वासं बारस वासे, पडिसेवओ कारणे भतिओ॥

आशातनापारांचिक जघन्यतः छह मास और उत्कृष्टतः बारह मास तक गच्छ से निर्यूद्ध रहता है। प्रतिसेवना-पारांचिक जघन्यतः एक संवत्सर तक तथा उत्कृष्टतः बारह संवत्सर पर्यन्त संघ से निर्यूद्ध रहता है।

५०३३. इत्तिरियं णिक्खेवं, काउं अण्णं गणं गमित्ताणं।

दव्वादि सुभे विगडण, निरुवस्सग्गट्ट उस्सग्गो॥

जो पारांचिक स्वीकार करता है वह नियमतः आचार्य

होता है। इसलिए इत्तर गणनिक्षेप आत्मतुल्य शिष्य में करके आचार्य अन्य गण में जाकर वहां प्रशस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की आलोचना परगण के आचार्य के पास करे। दोनों आचार्य निरुपसर्ग के लिए कायोत्सर्ग करें।

५०३४. अप्पच्चय णिब्भयया, आणाभंगो अजंतणा सगणे।

परगणे न होंति एए, आणाथिरता भयं चेव॥

अपने गण में पारांचिक स्वीकार करने पर अगीतार्थ मुनियों का आचार्य के प्रति अविश्वास होता है। वे निर्भय हो जाते हैं। अपने गण में आज्ञाभंग और अयंत्रणा होती है। परगण में ये दोष नहीं होते। वहां भगवान् की आज्ञा-पालन में स्थिरता आती है तथा आत्मा में भय भी रहता है।

५०३५. जिणकप्पियपडिरूवी, बाहिं खेतस्स सो ठितो संतो।

विहरति बारस वासे, एगागी ज्ञाणसंजुत्तो॥

‘जिनकल्पिकप्रतिरूपी अर्थात् अलेपकृत भिक्षा लेनी चाहिए, तीसरे प्रहर में पर्यटन करना चाहिए’-इस जिनकल्प चर्या का पालन करता हुआ, क्षेत्र से बाहर रहकर वह एकाकी ध्यान में संयुक्त होकर बारह वर्ष बिताता है।

५०३६. ओलोयणं गवेसण, आयरितो कुणति सव्वकालं पि।

उप्पण्णे कारणम्मिं, सव्वपयत्तेण कायव्वं॥

जब तक पारांचिक प्रायश्चित्त वहन करता है, उस समस्त काल में आचार्य प्रतिदिन उसके पास जाकर उसका अवलोकन करते हैं, दर्शन करते हैं और उसके योगक्षेम की पृच्छा करते हैं। कारण अर्थात् ग्लानत्व आदि उत्पन्न होने पर आचार्य स्वयं सर्वप्रयत्नपूर्वक उसके भक्तपान की व्यवस्था करते हैं।

५०३७. जो उ उवेहं कुज्जा, आयरिओ केणई पमाणं।

आरोवणा उ तस्सा, कायव्वा पुव्वनिद्धिआ॥

जो आचार्य किसी प्रमादवश उसकी उपेक्षा करते हैं, तो उन्हें पूर्वनिर्दिष्ट आरोपणा करनी चाहिए।

५०३८. आहरति भत्त-पाणं उव्वत्तणमाइयं पि से कुणति।

सयमेव गणाहिवई, अह अगिलाणो सयं कुणति॥

पारांचिक यदि ग्लान हो गया हो तो गणाधिपति-आचार्य स्वयं भक्तपान लाते हैं। उसका उद्वर्तन, परावर्तन आदि करते हैं। जब वह स्वस्थ हो जाता है तो वह ये सारी क्रियाएं स्वयं करता है।

५०३९. उभयं पि दाऊण सपाडिपुच्छं,

वोढुं सरीरस्स य वट्टमाणिं।

आसासइत्ताण तवोकिलंतं,

तमेव खेतं समुवेति थेरा॥

आचार्य शिष्य तथा प्रतीच्छकों को सप्रतिपृच्छा (उत्तर

सहित) सुखपृच्छा करते हैं। सूत्र और अर्थ की वाचना देकर पारांचिक प्रायश्चित्त वहन करने वाले के पास आते हैं और उसके शरीर की वर्तमानिकी वार्ता को पूछते हैं। वह भी आचार्य को 'मस्तक से वंदना करता हूँ'—यह कहता हुआ फेटावन्दनक से वंदना करता है। वह यदि तप से क्लान्त होता है तो आचार्य उसे आश्वस्त कर उसी क्षेत्र में आ जाते हैं जहां गच्छ रहता है।

५०४०. असहू सुतं दातुं, दो वि अदाउं व गच्छति पए वि।

संघाडओ से भत्तं, पाणं चाऽऽणेति मग्गेणं॥

यदि आचार्य सूत्र और अर्थ की वाचना देने में असमर्थ हों तो केवल सूत्र की वाचना देकर जाए। यदि वैसा भी न हो सके तो वाचना दिए बिना ही प्रातःकाल उस पारांचिक प्रायश्चित्त वहन करने वाले आचार्य के पास चले जाएं। उनके पीछे-पीछे ही मुनियों का एक संघाटक भक्त-पान लेकर आता है।

५०४१. गेलण्णेण व पुट्ठो, अभिणवमुक्को ततो व रोगातो।

कालम्भि दुब्बले वा, कज्जे अण्णे व वाघातो॥

कदाचित् आचार्य न भी जाएं, उसके ये कारण हो सकते हैं—आचार्य रोग से स्पृष्ट हो गए हों, ग्लानत्व से अभी अभी मुक्त हुए हों, अथवा उस समय दुर्बलता अत्यधिक हो, अन्य किसी कार्यवश गमन में व्याघात हो रहा हो। वे कार्य क्या हो सकते हैं?

५०४२. वायपरायण कुवितो, चेइय-तह्व-संजतीगहणे।

पुव्वुत्ताण चउण्ह वि, कज्जाण हवेज्ज अन्नयरं॥

वाद पराजय से राजा कुपित हो गया हो, चैत्य-जिनायतन को अवष्टंभ से मुक्त कराने के लिए अथवा चैत्यद्रव्य संयती ने ग्रहण कर लिया हो, उसको मुक्त कराने के लिए अथवा पूर्वोक्त अर्थात् पहले उद्देशक (गाथा ३१२१) में प्रतिपादित चार कार्यों में कोई कार्य आ गया हो—

(१) राजा ने मुनियों को राज्य से बाहर निर्गमन का आदेश दे दिया हो।

(२) भक्तपान का निषेध कर दिया हो।

(३) उपकरण-हरण कर दिया हो।

(४) मृत्यु अथवा चारित्र के भेद की बात कही हो।

इन कार्यों से आचार्य नहीं भी जा सकते।

५०४३. पेसेइ उवज्जायं, अन्नं गीतं व जो तहिं जोग्गो।

पुट्ठो व अपुट्ठो वा, स चावि दीवेति तं कज्जं॥

आचार्य स्वयं न जा पाने की स्थिति में उपाध्याय को अथवा गीतार्थ मुनि को जो योग्य हो उसे भेजते हैं। पारांचिक मुनि के पूछने या न पूछने पर भी आचार्य के अनागमन का कारण बताते हैं।

५०४४. जाणंता माहप्पं, सयमेव भणंति एत्थ तं जोग्गो।

अत्थि मम एत्थ विसओ, अजाणए सो व ते बेति॥

उपाध्याय आदि उस पारांचिक के माहात्म्य को जानते हुए स्वयं उसे कहते हैं—इस प्रयोजन के लिए तुम योग्य हो। कुछ उद्यम करो। यदि उसकी शक्ति को नहीं जानते तब वह स्वयं उनको कहता है—यह मेरा विषय है।

५०४५. अच्छउ महाणुभागो, जहासुहं गुणसयागरो संघो।

गुरुगं पि इमं कज्जं, मं पप्प भविस्सए लहुयं॥

सैकड़ों गुणों का आकर संघ जो अचिन्त्य महिमा वाला है वह सुखपूर्वक अखंड रहे। यह बड़ा कार्य भी मेरे द्वारा लघु हो जाएगा। मैं इस कार्य को सहजता से कर डालूंगा। उसको उस कार्य की निष्पत्ति के लिए नियुक्त करने पर.....

५०४६. अभिहाण-हेउकुसलो बहूसु नीराजितो विसभासु।

गंतूण रायभवणे, भणाति तं रायदारट्ठं॥

५०४७. पडिहाररूवी! भण रायरूविं,

तमिच्छए संजयरूवि दट्ठं।

निवेदयित्ता य स पत्थिवस्स,

जहिं निवो तत्थ तयं पवेसे॥

वह अभिधान ओर हेतुकुशल (शब्द और तर्कशास्त्र में निपुण) पारांचिक मुनि जिसने अनेक विद्वद् सभाओं में विजय प्राप्त की थी, वह राजभवन में गया और तत्रस्थित द्वारपाल से बोला—हे प्रतिहाररूपिन्! तुम जाकर राजरूपिन् से कहो कि एक संयतरूपिन् तुमको देखना चाहता है। वह प्रतिहारी भीतर गया और पार्थिव से उसी प्रकार कहा और पार्थिव के कथनानुसार उस संयती को नृप के पास प्रवेश कराया।

५०४८. तं पूयइत्ताण सुहासणत्थं,

पुच्छिसु रायाऽऽगयकोउहल्लो।

पण्हे उराले असुए कयाई,

स चावि आइक्खइ पत्थिवस्स॥

साधु को वंदना कर राजा ने उसे शुभ आसन पर बिठा कर कुतूहलवश साधु से उदार-गंभीर अर्थ वाले तथा कभी भी न सुने हुए शब्दों का अर्थ पूछा।

५०४९. जारिसग आयरक्खा, सक्कादीणं न तारिसो एसो।

तुह राय! दारपालो, तं पि य चक्कीण पडिरूवी॥

तब साधु बोला—राजन्! जैसे आत्मरक्षक शक्र आदि के होते हैं वैसा आपका यह द्वारपाल नहीं है, इसलिए मैंने कहा—हे प्रतिहाररूपिन्! राजन्! तुम भी जैसे चक्रवर्ती होता है वैसे नहीं हो। तुम भी चक्रवर्ती के प्रतिरूपी हो, इसलिए मैंने कहा राजरूपिन्।

५०५०. समणाणं पडिरूवी, जं पुच्छसि राय! तं कहमहं ति।
निरतीयारा समणा, न तहाऽहं तेण पडिरूवी॥

तब राजा ने पूछा—तुमने स्वयं को श्रमणप्रतिरूपिन् कैसे कहा? साधु बोला—राजन्! तुम पूछ रहे हो कि मैं श्रमण-प्रतिरूपिन् कैसे हूँ? तो सुनो। श्रमण निरतिचार होते हैं। मैं वैसा नहीं हूँ। अतः श्रमणप्रतिरूपिन् हूँ।

५०५१. निज्जूढो मि नरीसर!,
खेत्ते वि जईण अच्छिउं न लभे।

अतियारस्स विसोधिं,

पकरेमि पमायमूलस्स ॥

हे नरेश्वर! मैं अभी संघ से निष्कासित हूँ। मैं अभी श्रमणों के क्षेत्र में रह भी नहीं सकता। वहाँ मुझे स्थान भी नहीं मिलता। मैं अभी प्रमाद के मूल अतिचार की विशोधी कर रहा हूँ, उसका प्रायश्चित्त वहन कर रहा हूँ। इसलिए मैं श्रमणप्रतिरूपिन् हूँ।

५०५२. कहणाऽऽउट्टण आगमणपुच्छणं दीवणा य कज्जस्स।
वीसज्जियं ति य मए, हासुस्सलितो भणति राया॥

राजा जो पूछे उसका प्रसंगतः उत्तर देना यह श्रमण का कर्तव्य है। राजा ने जब श्रमण को राजभवन में आने का प्रयोजन पूछा तो श्रमण का कर्तव्य है कि वह अपना प्रयोजन बताए। श्रमण ने अपना प्रयोजन बताया। राजा प्रहृष्ट होकर बोला—मैंने श्रमणों पर जो प्रतिबंध लगाया था, उसको विसर्जित कर श्रमणों को प्रतिबंधों से मुक्त करता हूँ।

५०५३. संघो न लभइ कज्जं, लद्धं कज्जं महाणुभाएणं।
तुब्भं ति विसज्जेमि, सो वि य संघो त्ति पूएति ॥

संघ को प्रतिबंधों से मुक्ति नहीं मिल पाती, किन्तु महानुभाग—अत्यन्त अचिन्त्यप्रभाव से उस पारांचिक मुनि ने इस प्रयोजन को प्राप्त कर लिया। राजा ने कहा—श्रमण! तुम्हारे कहने से मैं प्रतिबंधों को विसर्जित करता हूँ। श्रमण ने कहा—मैं हूँ ही क्या? संघ महान् है। राजा ने तब संघ को निमंत्रित कर उसकी पूजा की।

५०५४. अब्भत्थितो व रण्णा, सयं व संघो विसज्जति तु तुट्ठो।

आदी मज्झऽवसाणे, स यावि दोसो धुओ होइ ॥

राजा ने संघ से अभ्यर्थना की कि इस पारांचिक प्रायश्चित्त वहन करने वाले श्रमण को प्रायश्चित्त से मुक्त कर दे। तब संघ राजा के कहने पर या स्वयं उस मुनि पर तुष्ट होकर उसे प्रायश्चित्त से मुक्त कर दे। पारांचिक मुनि का वह प्रायश्चित्त उस समय आदि-मध्य और अवसान वाला हो सकता है, वह सारा दोष संघ की कृपा से धुल (धुत हो) जाता है।

५०५५. एक्को य दोन्नि दोन्नि य, मासा चउवीस होंति छब्भागे।
देसं दोण्ह वि एयं, वहेज्ज मुंचेज्ज वा सव्वं ॥

देश, देश-देश प्रायश्चित्त का स्वरूप—आशातना-पारांचिक जघन्यतः छह मास का और उत्कृष्टतः बारह मास का होता है। छह महीनों का छठा भाग एक मास और बारह महीनों का छठा भाग दो मास होता है। प्रतिसेवनापारांचिक जघन्यतः एक वर्ष और उत्कृष्टतः बारह वर्ष का होता है। यहां भी वर्ष का छठा भाग दो मास और बारह वर्षों का छठा भाग २४ मास होता है। दोनों प्रायश्चित्तों का यह 'देश' है। संघ इस प्रायश्चित्त को वहन करवाए या सारा विसर्जित कर दे।

५०५६. अट्टारस छत्तीसा, दिवसा छत्तीसमेव वरिसं च।
बावत्तरिं च दिवसा, दसभाग वहेज्ज बितिओ तु ॥

देशदेश—आशातनापारांचिक के छह महीनों के दसवें भाग अर्थात् १८ दिन और वर्ष के दसवें भाग अर्थात् ३६ दिन होते हैं। प्रतिसेवनापारांचिक संवत्सर के दसवें भाग अर्थात् ३६ दिन, १२ वर्षों का दसवां भाग अर्थात् एक वर्ष और ७२ दिन होते हैं। इस काल पर्यन्त जो वहन करता है वह है देश-देश पारांचिक।

५०५७. पारंचीणं दोण्ह वि, जहन्नमुक्कोसयस्स कालस्स।
छब्भागं दसभागं, वहेज्ज सव्वं व झोसिज्जा ॥

दोनों पारांचिकों—आशातना और प्रतिसेवनापारांचिक—का जघन्य और उत्कृष्ट काल का षड्भाग या दसवां भाग का वहन करे। अथवा संघ कृपा करके सारा विसर्जित कर दे, मुक्त कर दे।

ततो अणवट्टप्पा पण्णत्ता, तं
जहा—साहम्मियाणं तेणियं करेमाणे,
अण्णधम्मियाणं तेणियं करेमाणे,
हत्थादालं दलेमाणे ॥

(सूत्र ३)

५०५८. पच्छित्तमणंतरियं, हेट्ठा पारंचियस्स अणवट्ठो।
आयरियस्स विसोधी, भणिता इमगा उवज्जाते ॥

पारांचिक प्रायश्चित्त के अनन्तर अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त है। उसका कथन किया जाता है। अथवा पूर्वसूत्र में आचार्य की शोधि कही गई है। यह उपाध्याय विषयक शोधि है।

५०५९. आसायण पडिसेवी, अणवट्टप्पो वि होति दुविहो तु।
एक्केको वि य दुविहो, सचरित्तो चेव अचरित्तो ॥
अनवस्थाप्य के दो प्रकार हैं—आशातना अनवस्थाप्य और

प्रतिसेवी अनवस्थाप्य। प्रत्येक के दो-दो भेद हैं—सचारित्र और अचारित्र।

५०६०. तित्थयर पवयण सुते, आयरिए गणहरे महिह्णीए।
एते आसादेते, पच्छित्ते मग्गणा होइ॥

तीर्थकर, प्रवचन, श्रुत, आचार्य, गणधर और महर्षिक—इनकी आशातना करने पर प्रायश्चित्त की मार्गणा निम्न प्रकार से होती है।

५०६१. पढम-बितिएसु णवमं, सेसे एक्केक्क चउगुरु होंति।
सव्वे आसादेतो, अणवट्टप्पो उ सो होइ॥

प्रथम और द्वितीय अर्थात् तीर्थकर और प्रवचन—संघ की आशातना करने पर उपाध्याय को नवम् अर्थात् अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त आता है। शेष अर्थात् श्रुत आदि की आशातना करने पर प्रत्येक का प्रायश्चित्त है चतुर्गुरु। सबकी आशातना करने पर वह अनवस्थाप्य होता है।

५०६२. पडिसेवणअणवट्टो, तिविधो सो होइ आणुपुव्वीए।
साहम्मि अण्णधम्मिय, हत्थादालं व दलमाणे॥

प्रतिसेवना अनवस्थाप्य क्रमशः तीन प्रकार का होता है—साधर्मिकस्तैन्यकारी, अन्य धार्मिकस्तैन्यकारी और हस्त-ताल देने वाला।

५०६३. साहम्मि तेण्ण उवधी, वावारण झामणा य पट्टवणा।
सेहे आहारविधी, जा जहिं आरोवणा भणिता॥

साधर्मिकों की उपधि को चुरा लेना यह साधर्मिकस्तैन्य है। गुरु साधु को उपधि लाने के लिए भेजते हैं। उपधि प्राप्तकर गुरु को बिना कहे ही स्वयं उसको ले लेना, उपधि दग्ध हो गई, उसे गुरु को बिना पूछे नई उपधि का भोग करना, गुरु ने किसी को देने के लिए वस्त्र, पात्र आदि भेजा, उस व्यक्ति को वह न देकर बीच में स्वयं ले लेना, शैक्ष विषयक स्तैन्य करना, आहारविधि में अतिक्रमण करना—ये साधर्मिक स्तैन्य के रूप हैं। इनके लिए आरोपणा प्रायश्चित्त कहा गया है।

५०६४. उवहिस्स आसिआवण, सेहमसेधे य दिट्ठुदिट्ठे य।
सेहे मूलं भणितं, अणवट्टप्पो य पारंची॥

उपधि का आसियावण अर्थात् स्तैन्य शैक्ष या अशैक्ष, देखते हुए या न देखते हुए करे, उसमें शैक्ष को मूल पर्यन्त प्रायश्चित्त आता है, उपाध्याय को अनवस्थाप्य पर्यन्त और आचार्य को पारांचिक पर्यन्त प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

५०६५. सेहो त्ति अगीयत्थो, जो वा गीतो अणिहिसंपन्नो।
उवही पुण वत्थादी, सपरिग्गह एतरो तिविहो॥

शैक्ष पद से यहां अगीतार्थ मुनि अथवा गीतार्थ होने पर भी जो आचार्यपद आदि की समृद्धि को अप्राप्त है उसे भी

शैक्ष कहा गया है। उपधि अर्थात् वस्त्र, पात्र आदि। परिगृहीत या अपरिगृहीत भी हो सकता है। प्रत्येक तीन-तीन प्रकार का है—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट।

५०६६. अंतो बहिं निवेसण, वाडग गामुज्जाण सीमत्तिकंते।
मास चउ छच्च लहु गुरु, छेदो मूलं तह दुगं च॥

उपाश्रय के भीतर शैक्ष यदि साधर्मिक उपकरण का अदृष्ट स्तैन्य करता है तो मासलघु, उपाश्रय के बाहर करता है तो मासगुरु। निवेसन के भीतर मासगुरु, बहिर चतुर्लघु। वाटक के भीतर चतुर्लघु, बाहर चतुर्गुरु। ग्राम के अन्दर चतुर्गुरु, बाहर षडलघु। उद्यान के भीतर षडलघु, बाहर षडगुरु। सीमा के भीतर षडगुरु, सीमा का अतिक्रान्त हो जाने पर छेद। मूल और द्विक—अनवस्थाप्य और पारांचिक का कथन आगे.....।

५०६७. एवं ता अदिट्ठे, दिट्ठे पढमं पदं परिहवेत्ता।
ते चेव असेहे वी, अदिट्ठ दिट्ठे पुणो एक्कं॥

यह सारा अदृष्ट स्तैन्य करने पर शैक्ष के लिए प्रायश्चित्त कहा है। दृष्ट स्तैन्य में प्रथम पद अर्थात् मासलघु को छोड़कर मासगुरु से प्रारंभ कर मूल पर्यन्त वक्तव्य है। अशैक्ष अर्थात् उपाध्याय के भी अदृष्ट स्तैन्य के भी वे ही प्रायश्चित्त हैं। दृष्ट स्तैन्य में एक पद मासगुरु को छोड़कर चतुर्गुरु से अनवस्थाप्य पर्यन्त प्रायश्चित्त आता है। आचार्य के भी अदृष्ट में अनवस्थाप्य पर्यन्त और दृष्ट में चतुर्गुरु से पारांचिक पर्यन्त प्रायश्चित्त का विधान है।

५०६८. वावारिय आणेहा, बाहिं घेत्तूण उवहि गिण्हंति।
लहुगो अदिंति लहुगा, अणवट्टप्पो व आदेसा॥

गुरु ने शिष्यों को उपधि लाने के लिए भेजा। उन्होंने गृहस्थों से वस्त्र आदि प्राप्त कर लिए। उपधि को आचार्य के पास न लाकर बाहर ही उसका विभाजन कर ग्रहण कर लिया। इसमें मासलघु का प्रायश्चित्त है। आने पर भी वस्त्र गुरु को नहीं देते। उसमें चतुर्लघु। वे स्वच्छंदग्राहक साधु अनवस्थाप्य होते हैं। यह सूत्र का आदेश है।

५०६९. दट्ठु निमंतण लुब्धोऽणापुच्छा तत्थ गंतु णं भणति।
झामिय उवधी अह तेहि पेसितो गहित गातो य॥

एक श्रावक ने आचार्य को वस्त्र ग्रहण करने के लिए निमंत्रित किया। आचार्य ने उन वस्त्रों को ग्रहण करने की मनाही कर दी। एक साधु उन वस्त्रों के प्रति लुब्ध हो गया। वह आचार्य को बिना पूछे ही उस श्रावक के घर गया और बोला—हमारे वस्त्र दग्ध हो गए हैं। मुझे आचार्य ने तुम्हारे पास वस्त्र लाने भेजा है। उसने साधु को वस्त्र दिए। इतने में ही दूसरे साधु आ गए। उस गृहस्थ ने कहा—आपके वस्त्र

दग्ध हो गए हैं। एक साधु को मैंने वस्त्र दिए हैं। आपको चाहिए तो आप भी ले जाएं। वस्त्र आदि के दग्ध होने की बात झूठी है। उस श्रावक ने जान लिया कि गुरु को बिना पूछे ही उसने मेरे से वस्त्र लिया है।

५०७०. लहुगा अणुगहम्मिं, गुरुगा अप्पत्तियम्मि कायव्वा।

मूलं च तेणसहे, वोच्छेद पसज्जणा सेसे॥

फिर भी यदि श्रावक अनुग्रह मानता है, तो उस मुनि को चतुर्लघु का प्रायश्चित्त आता है। यदि श्रावक को अप्रीति उत्पन्न होती है तो चतुर्गुरु, यदि 'चोर शब्द' प्रचारित होता है तो मूल और शेष साधुओं के लिए अन्य द्रव्यों का व्यवच्छेद प्रसंगवश होता है तो अन्य प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

५०७१. सुव्वत्त ज्ञामिओवधि, पेसण गहिते य अंतरा लुद्धो।

लहुगो अदेते गुरुगा, अणवट्टप्पो व आदेसा॥

यथार्थ में ही उपधि दग्ध हो गई हो, गुरु ने शिष्य को वस्त्र लाने भेजा, वस्त्रग्रहण किया और उन वस्त्रों में प्रलुब्ध हो गया। स्वयं उनको ग्रहण कर लेता है तो लघुमास का, यदि गुरु को नहीं देता है तो चतुर्गुरु तथा सूत्र के आदेश से वह अनवस्थाप्य होता है।

५०७२. उक्कोस सनिज्जोगो, पडिग्गहो अंतरा गहण लुद्धो।

लहुगा अदेते गुरुगा, अणवट्टप्पो व आदेसा॥

एक आचार्य ने अपने शिष्य से कहा—यह उत्कृष्ट पात्र तुम अमुक आचार्य को दे देना। यह पात्र सनिर्योग—पात्रकबंध आदि से युक्त है। वह शिष्य उस पात्र को लेकर चला। उसमें लुब्ध होकर वह उसे ग्रहण करना चाहता था। उसे चतुर्लघु और उन आचार्य को वह उस पात्र को नहीं देता है तो चतुर्गुरु और सूत्र के आदेश से वह अनवस्थाप्य होता है।

५०७३. पव्वावणिज्ज बाहिं, ठवेत्तु भिक्खस्स अतिगते संते।

सेहस्स आसिआवण, अभिधारंते व पावयणी॥

कोई साधु प्रव्राजनीय शैक्ष को लेकर चला। उसको गांव के बाहर बिठाकर स्वयं भिक्षा के लिए गया। उसके चले जाने पर एक दूसरे मुनि ने उस शैक्ष का 'असियावण'—अपहरण कर डाला। वह शैक्ष किसी साधु को मन में धारण कर जा रहा है। उसको दूसरा मुनि ठगकर प्रव्रजित कर देता है। जब ये दोनों प्रावचनिक होते हैं तब दोनों अपना दिक्-परिच्छेद कर देते हैं।

५०७४. सण्णातिगतो अब्धाणितो व वंदणग पुच्छ सेहो मि।

सो कत्थ मज्झ कज्जे, छात-पिवासस्स वा अडति॥

५०७५. मज्झमिणमण्ण-पाणं, उवजीवऽणुकंपणाय सुद्धो उ।

पुट्टमपुट्टे कहणा, एमेव य इहरहा दोसो॥

संज्ञाभूमी में गए हुए किसी साधु ने या किसी पथिक साधु ने किसी शैक्ष को देखा। उसने साधु को वंदना की। साधु ने पूछा—तुम कौन हो? मैं शैक्ष हूँ। मैं अमुक साधु के साथ प्रस्थित हूँ। साधु ने पूछा—वह अब कहाँ गया है? शैक्ष बोला—वह मेरे कार्य के लिए अर्थात् मैं बुभुक्षित और पिपासित हूँ, मेरे लिए भक्त-पान लाने के लिए घूम रहा है।

उस साधु ने शैक्ष से कहा—मेरे पास अन्न-पान है। उसको खाओ। यदि अनुकंपा से भोजन देता है तो वह शुद्ध है। यदि शैक्ष के द्वारा पूछने पर या न पूछने पर अनुकंपा से धर्मकथा करता है तो शुद्ध है। अन्यथा उसका अपहरण करने के लिए धर्मकथा करता है या भक्तपान देता है तो वह दोष है। उसका गुरुक प्रायश्चित्त है।

५०७६. भत्ते पण्णवण निगूहणा य वावार झंपणा चेव।

पत्थवण-सयंहरणे, सेहे अव्वत्त वत्ते य॥

उस शैक्ष का अपहरण करने के लिए वह साधु उसे भक्त-पान देता है, या धर्मकथा करता है तब शैक्ष कहता है—मैं तुम्हारे पास ही दीक्षा लूंगा, परंतु पहले वाले साधु के समक्ष मैं ठहर नहीं सकता। अतः मुझे कहीं छुपा लो। तब वह मुनि उसे व्यापृत करता है कि तुम उस स्थान में छुप जाओ। जब वह वहाँ जाता है तब उसे पलाल आदि से ढंक देता है। अथवा उसको दूसरे के साथ अन्य स्थान में प्रस्थापित कर देता है या स्वयं उसका हरण कर अन्यत्र चला जाता है। व्यक्त अथवा अव्यक्त शैक्ष से संबंधित ये षट् पद होते हैं—भक्तप्रदान, धर्मकथा, निगूहनावचन, व्यापृत करना, झंपना—ढंकना, प्रस्थापन—स्वयंहरण। इन छह स्थानों का यह प्रायश्चित्त है।

५०७७. गुरुओ चउलहु चउगुरु,

छल्लहु छग्गुरुगमेव छेदो य।

भिक्खु-गणा-ऽऽयरियाणं,

मूलं अणवट्ट पारंची॥

अव्यक्त शैक्ष अर्थात् जिसके अभी तक दाढ़ी-मूँछ नहीं है, उससे संबंधित इन छह स्थानों का यह प्रायश्चित्त है। भक्तपान देना मासगुरु, धर्मकथा करना चतुर्गुरु, निगूहनवचन चतुर्गुरु, व्यापृत करना षड्लघु, झंपन करना षड्गुरु, प्रस्थापन—स्वयंहरण करना छेद। व्यक्त शैक्ष—दाढ़ी-मूँछ वाले शैक्ष के प्रायश्चित्त है चतुर्लघु से मूल पर्यन्त। गणी अर्थात् उपाध्याय के चतुर्लघु से अनवस्थाप्य पर्यन्त और आचार्य के चतुर्गुरु से पारांचिक पर्यन्त।

५०७८. अभिधारंत वयंतो, पुट्टो वच्चावऽहं अमुगमूलं।

पण्णवण भत्तदाणे, तहेव सेसा पदा णत्थि॥

उपरोक्त सारा कथन ससहाय शैक्ष के लिए कहा है, किन्तु जो असहाय शैक्ष है, उसके लिए निम्नोक्त कथन है— कोई शैक्ष अकेला किसी आचार्य के पास दीक्षित होने की भावना को धारण कर जाता है। बीच में किसी साधु ने पूछा— कहां जा रहे हो? वह कहता है मैं अमुक आचार्य के पास प्रव्रजित होने जा रहा हूं। वह मुनि यदि उस अव्यक्त शैक्ष को भक्तपान देने या धर्मकथा करता है तो प्रायश्चित्त आता है (भक्तपान—मासलघु, धर्मकथा—चतुर्लघु)। उपाध्याय और आचार्य के षडलघु और षडगुरु प्रायश्चित्त है। शैक्ष असहाय होने के कारण शेष पद—निगूहन आदि नहीं होते।

५०७९. आणादऽणंतसंसारियत्त बोहीय दुल्लभत्तं च।
साहम्मियतेण्णम्मिं, पमत्तल्लणाऽधिकरणं च॥

शैक्ष का अपहरण करने पर ये दोष और होते हैं—

१. आज्ञाभंग आदि दोष
२. अनन्तसंसारिकत्व
३. बोधि की दुर्लभता
४. साधर्मिकस्तैन्य में प्रमत्तता
५. प्रमत्त की प्रान्तदेवता द्वारा छलना
६. अधिकरण—कलह।

ये सारे पुरुष विषयक दोष हैं।

५०८०. एमेव य इत्थीए, अभिधारेतीए तह वयंतीए।
वत्तऽव्वत्ताए गमो, जहेव पुरिसस्स नायव्वो॥

प्रव्रज्या लेने की इच्छुक कोई बहिन आचार्य का अभिधारण कर जा रही है। वह व्यक्त है या अव्यक्त, उसके लिए पुरुष की भांति ही विकल्प हैं।

५०८१. एवं तु सो अवधितो, जाधे जातो सयं तु पावयणी।
निक्कारणे य गहितो, वच्चति ताहे पुरिल्लाणं॥

इस प्रकार वह शैक्ष अपहृत हो गया और जब स्वयं ही प्रावचनिक हो गया अथवा दूसरा कोई निष्कारण ही उसे गृहीत कर लिया, तब वह अपने आप ही दिक्परिच्छेद कर पुनः बोधिलाभ के लिए पूर्व आचार्य के पास ही जाता है।

५०८२. अन्नस्स व असतीए, गुरुम्मि अब्भुज्जएगतरजुत्ते।
धारेति तमेव गणं, जो य हडो कारणज्जाते॥

जिसने निष्कारण ही उस शैक्ष का अपहरण किया था, उसके गण में कोई अन्य आचार्य पद योग्य नहीं है और गुरु ने अभ्युद्यतविहार या अभ्युद्यतमरण को स्वीकार कर लिया है तो वही उस गण को धारण करता है जो कारणवश अपहृत हुआ है।

५०८३. नाऊण य वोच्छेदं, पुव्वगते कालियाणुजोगे च।
अज्जाकारणजाते, कप्पति सेहावहारो तु॥

पूर्वगत में तथा कालिकानुयोग में कुछ अंशों का व्यवच्छेद जानकर तथा उस गण में कोई आर्याओं का परिवर्तक नहीं, यह कारण जानकर किसी शैक्ष का अपहरण करना कल्पता है।

५०८४. कारणजाय अवहितो, गणं धरेंतो तु अवहरंतस्स।

जाहेगो निप्फण्णो, पच्छा से अप्पणो इच्छा॥

कारण जात में अपहृत शैक्ष जिस गण को धारण करता है, उसी गण का आभाव्य होता है। जब कारण पूरा हो जाता है तब वह शैक्ष पहले वाले का ही आभाव्य होता है, अपहरण करने वाले का नहीं। जब उस गण में एक भी मुनि गीतार्थरूप में निष्पन्न हो जाता है, उसके पश्चात् उसकी इच्छा है कि वह वहां रहे या पूर्व स्थान में चला जाए।

५०८५. ठवणाघरम्मि लहुगो, मादी गुरुगो अणुग्हे लहुगा।

अप्पत्तियम्मि गुरुगा, वोच्छेद पसज्जणा सेसे॥

दानश्राद्ध आदि के कुल को स्थापनागृह कहा जाता है। जो मुनि आचार्य की आज्ञा के बिना वहां गोचरी के लिए जाता है तो उसे मासलघु का प्रायश्चित्त आता है। जो मायापूर्वक वहां जाता है, उसे मासगुरुक का प्रायश्चित्त है। यदि श्राद्ध लोग अनुग्रह मानते हैं तो चतुर्लघु, यदि अप्रीतिक करते हैं तो चतुर्गुरु और तद् द्रव्य का व्यवच्छेद तथा शेष दोषों के प्रसंग से उस-उस दोष का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

५०८६. अज्ज अहं संदिट्ठो पुट्ठोऽपुट्ठो व साहती एवं।

पाहुणग-गिलाणट्ठा, तं च पलोट्ठेति तो बितियं॥

गुरु की आज्ञा के बिना स्थापनाकुल में प्रवेश कर मुनि से पूछने पर या बिना पूछे ही वहां कहता है—मुझे आचार्य ने यहां भेजा है। उसको मासलघु। घर के श्राद्ध कहते हैं— सन्दिष्ट संघाटक आया था, हमने उसको दे दिया। तब वह कहता है—मैं प्राघूर्णक तथा ग्लान के लिए आया हूं। इस प्रकार यदि श्राद्ध लोगों को भ्रम में डालता है तो द्वितीय मासगुरु।

५०८७. आयरि-गिलाण गुरुगा,

लहुगा य हवंति खमग-पाहुणए।

गुरुगो य बाल-वुडे,

सेसे सव्वेसु मासलहुं॥

जो श्राद्ध विपरिणत होकर यदि आचार्य और ग्लान के लिए प्रायोग्य द्रव्य नहीं देते तो उस मुनि को चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त और जो क्षपक और प्राघूर्णक के प्रायोग्य नहीं देते तो उनको चतुर्लघु, बाल-वृद्धों के योग्य न देने पर गुरुमास और शेष सभी मुनियों के प्रायोग्य न मिलने पर उस मुनि को मासलघु का प्रायश्चित्त आता है।

५०८८. परधम्मिया वि दुविहा, लिंगपविद्धा तहा गिहत्था य।

तेसिं तिण्णं तिविहं, आहारे उवधि सच्चित्ते।।

परधार्मिक दो प्रकार के होते हैं—लिंगप्रविष्ट और गृहस्थ। इन सबका स्तैन्य तीन-तीन प्रकार का होता है—आहार विषयक, उपधि विषयक और सचित्त विषयक।

५०८९. भिक्खूण संखडीए, विकरणरूवेण भुंजती लुद्धो।

आभोगण उद्धंसण, पवयणहीला दुरप्प ती।।

कोई मुनि बौद्ध भिक्षुओं की संखडी में विकरणरूप—लिंग विवेक कर भोजन करता है। यदि कोई उसे उपलक्षित कर लेता है तो चतुर्लघु और यदि उसकी निर्भर्त्सना होती है तो चतुर्गुरु। वे प्रवचन की हीलना करते हैं। वे कहते हैं—ये दुष्ट लोग भोजन के लिए ही प्रव्रजित होते हैं।

५०९०. गिहवासे वि वरागा, धुवं खु एते अदिद्धकल्लाणा।

गलतो णवरि ण वलितो, एएसिं सत्थुणा चेव।।

गृहवास में भी ये गरीब ही थे। निश्चित ही इन्होंने अपना कल्याण नहीं देखा है। इनके तीर्थंकरों ने इनके गलों को नहीं दबाया, और सब कुछ कर डाला।

५०९१. उवस्सए उवहि ठवेत्तं,

गतम्मि भिच्छुम्मि गिण्हती लहुगा।

गेण्हण कड्ढण ववहार

पच्छकडुड्ढाह णिव्विसए।।

कोई भिक्षुक अपने मठ में उपकरण रखकर भिक्षा के लिए गया। उसके जाने पर यदि उसकी उपधि चुरा ली जाती है तो चतुर्लघु। वह भिक्षु यदि उस मुनि को ग्रहण करता है तो चतुर्गुरु। राजकुलाभिमुख उसे घसीटता है तो षड्गुरु, व्यवहार करता है तो छेद, पश्चात्कृत करता है तो मूल और देश से निष्कासित कराता है, उड्ढाह करता है तो अनवस्थाप्य—ये प्रायश्चित्त विहित हैं।

५०९२. सच्चित्ते खुड्ढादी, चउरो गुरुगा य दोस आणादी।

गेण्हण कड्ढण ववहार पच्छकडुड्ढाह निव्विसए।।

सचित्त अर्थात् क्षुल्लक भिक्षु का अपहरण करने पर चतुर्गुरु और आज्ञाभंग आदि दोष। तथा ग्रहण, आकर्षण, व्यवहार, पश्चात्कृत, उड्ढाह, निर्विषयज्ञापना आदि दोष पूर्ववत् जानने चाहिए।

५०९३. गेण्हणे गुरुगा छम्मास कड्ढणे छेओ होइ ववहारे।

पच्छकडडम्मि मूलं, उड्ढण विरंगणे नवमं।।

५०९४. उद्दावण निव्विसए, एगमणेगे पदोस पारंची।

अणवदुप्पो दोसु य, दोसु उ पारंचित्तो होइ।।

यदि मुनि सच्चित्त स्तैन्य अर्थात् क्षुल्लक या अक्षुल्लक

का अपहरण करता है तो चतुर्गुरुक, आकर्षण करने पर षड्गुरुमास, व्यवहार—न्यायपालिका में ले जाने पर छेद, व्यवहार में यदि वह पश्चात्कृत—पराजित हो जाता है तो मूल, चौराहे आदि पर 'यह शिष्य को चुराने वाला है'—ऐसी उद्दहना (कलंक लगने) पर, हाथ पैर आदि काटे जाने पर नौवां अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त आता है। राजा द्वारा अपद्रावित अथवा देशनिष्काशन किए जाने पर अथवा राजा एक साधु पर अथवा अनेक साधुओं पर प्रद्विष्ट हो जाए तो पारांचिक तथा उद्दहन और व्यंगन (हाथ, पैर आदि काटने) करने पर—इन दोनों में अनवस्थाप्य तथा दोनों अपद्रावण और देशनिष्काशन करने पर पारांचिक प्रायश्चित्त आता है।

५०९५. खुड्ढं व खुड्ढियं वा, णेति अवत्तं अपुच्छियं तेणे।

वत्तम्मि णत्थि पुच्छा, खेत्तं थामं च णाऊणं।।

जो मुनि क्षुल्लक अथवा क्षुल्लिका जो अव्यक्त है, उसको उसके संबंधी को पूछे बिना ले जाता है वह अन्यधार्मिक स्तेनकारी होता है। व्यक्त के लिए कोई पुच्छा नहीं है। उसके क्षेत्र और शक्ति को जानना चाहिए।

५०९६. एमेव होति तेण्णं, तिविहं गारत्थियाण जं वुत्तं।

गहणादिगा य दोसा, सविसेसतरा भवे तेसु।।

इसी प्रकार गृहस्थों से संबंधित भी तीन प्रकार का स्तैन्य होता है। गृहस्थों के आहार आदि का स्तैन्य करने पर ग्रहण आदि दोष होते हैं। उनसे ये दोष विशेषतर होते हैं।

५०९७. आहारे पिद्धाती, तंतू खुड्ढादि जं भणित पुव्वं।

पिड्ढंडिय कब्बट्ठी, संखुभण पडिग्गहे कुसला।।

आहार विषयक—क्षुल्लिका साध्वी पिष्ट आदि चुरा लेती है। कोई मुनि तंतू—वस्त्र आदि चुरा लेता है। कोई क्षुल्लक या अक्षुल्लक का अपहरण कर लेता है। यह पहले कहा जा चुका है। एक क्षुल्लिका साध्वी गोचरी के लिए एक घर में गई। बाहर पिष्टपिडिका रखी गई थी। उसने उनमें से एक को अपने पात्र में रख दिया। गृहस्वामिनी ने देख लिया। उसने कुशलता से उसको अन्य साध्वी को दे दिया। यह भी स्तैन्य है।

५०९८. नीएहिं उ अविदित्रं, अप्पत्तवयं पुमं न दिक्खंति।

अपरिग्गहो उ कप्पति, विजढो जो सेसदोसेहिं।।

माता-पिता आदि निज पुरुषों की आज्ञा के बिना, अदत्त अप्राप्तवय वाले पुरुष को दीक्षित नहीं करना चाहिए। अपरिगृहीत अर्थात् अव्यक्त पुरुष यदि शेष दोषों से विप्रमुक्त हो तो उसे प्रव्रजित किया जा सकता है।

५०९९. अपरिगृहा उ नारी,

ण भवति तो सा ण कप्पति अदिण्णा।

सा वि य हु काय कप्पति,

जह पउमा खुडुमाता वा ॥

नारी प्रायः अपरिगृहीत नहीं होती, स्वतंत्र नहीं होती, वह पिता या पति से परिगृहीत होती है। उसे पिता या पति द्वारा बिना दिए प्रव्रज्या देना नहीं कल्पता। कोई अदत्त नारी भी प्रव्राजनीय होती है, जैसे करकंडु की माता पद्मावती देवी।^१

५१००. विइयपदं आहारे, अब्बाणे हंसमादिणो उवही।

उवउज्जिऊण पुब्बिं होहिंति जुगप्पहाण ति ॥

आहार, उपधि और सचित्तविषयक अपवाद यह है। मार्ग में जाने के इच्छुक हों अथवा मार्ग-गमन से निवृत्त हुए हों तो अदत्त भक्तपान भी ले सकते हैं। आगाढ़ कारण में हंस आदि से संबंधित प्रयोग से उपधि का उत्पादन किया जा सकता है। पहले ही उपयुज्य-परिभावित कर कि 'यह युगप्रधान होगा' इस दृष्टि से गृहस्थ क्षुल्लकों को या अन्यतीर्थिक क्षुल्लकों का अपहरण किया जा सकता है।

५१०१. असिंवं ओम विहं वा, पविसिउकामा ततो व उत्तिण्णा।

थलिं लिं गि अन्नतित्थिग, जातितु अदिण्णे गिण्हंति ॥

उस क्षेत्र में अशिव हो, अवम-दुर्भिक्ष हो, साधु वहां से चल पड़े हों और मार्गगत हों या मार्ग से उत्तीर्ण हो गए हों, स्वलिं गियों की जो स्थलिका-देवद्रोणी हो, वहां भोजन की याचना करते हैं, अन्यतीर्थिकों की स्थलिका में भी याचना करते हैं, यदि नहीं देते हैं तो जबरन ग्रहण कर लेते हैं। इसी प्रकार तंतु की न्यूनता होने पर उपधि की भी चोरी की जा सकती है।

५१०२. नाऊण य वोच्छेदं, पुव्वगते कालियाणुतोगे य।

गिहि अण्णतित्थियं वा, हरिज्ज एतेहिं हेतुहिं ॥

पूर्वगत या कालिकानुयोग का व्यवच्छेद जानकर गृहस्थ या अन्यतीर्थिक के मेधावी क्षुल्लक का स्वयं अपहरण कर लेते हैं।

५१०३. हत्थाताले हत्थालंबे, अत्थादाणे य होति बोधव्वे।

एतेसिं गाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥

हस्ताताल, हस्तालंब और अर्थादान-ये तीनों पाठ यहां हो सकते हैं। मैं क्रमशः तीनों का नानात्व कहूंगा।

५१०४. उग्गिण्णम्मि य गुरुगो, दंडो पडियम्मि होइ भयणा उ।

एवं खु लोइयाणं, लोउत्तरियाण वोच्छामि ॥

हस्त तथा अपने अंगों से आताडनं हस्ताताल कहा जाता

है। वह दो प्रकार का है-लौकिक और लोकोत्तर। लौकिक हस्ताताल में पुरुष वध के लिए उद्गीर्ण खड्ग आदि का गुरुक दंड होता है-अस्सी हजार रुपयों का। प्रहार पड़ने पर यदि पुरुष नहीं मरा तो दंड की भजना है। यदि मर गया तो अस्सी हजार रुपयों का दंड है। यह लौकिकों का दंड है। लोकोत्तरिकों का दंड आगे कहूंगा।

५१०५. हत्थेण व पादेण व अणवडुप्पो उ होति उग्गिण्णे।

पडियम्मि होति भयणा, उद्वणे होति चरिमपदं ॥

हाथ से या पैर से अथवा यष्टि-मुष्टि आदि से जो साधु प्रहार करता है, वह अनवस्थाप्य होता है। प्रहार पड़ने पर भी यदि नहीं मरता है तो भजना है, अर्थात् वही अनवस्थाप्य है। मर जाने पर चरमपद अर्थात् पारांचिक होता है।

५१०६. आयरिय विणयगाहण, कारणजाते व बोधिकादीसु।

करणं वा पडिमाए, तत्थ तु भेदो पसमणं च ॥

इसमें यह अपवादपद है-आचार्य शिष्य को सिखाते समय हस्ताताल भी देते हैं। कारण उत्पन्न होने पर बोधिक स्तेनों पर भी हस्ताताल का प्रयोग करते हैं।

हस्तालंब-अशिव आदि के प्रशमन के लिए प्रतिमा का पुत्तलक बनाकर अभिचारुकमंत्र का जाप करते हुए, वहीं प्रतिमा में भेद किया जाता है। उससे उपद्रव शांत हो जाता है।

५१०७. विणयस्स उ गाहणया, कण्णामोड-खडुगा-चवेडाहिं।

सावेक्ख हत्थतालं, दलाति मम्माणि फेडिंतो ॥

विनय अर्थात् शिक्षा देने के लिए आचार्य शिष्य के कानों को मरोड़ते हैं-सिर पर ठोले मारते हैं, थप्पड़ भी मारते हैं। आचार्य क्षुल्लक शिष्य के प्रति सापेक्ष होकर मर्मप्रदेशों का परिहार करता हुआ हस्ताताल भी देता है। शिष्य पूछता है-यह पर-पीड़ाकारक क्रिया अनुमत कैसे है?

५१०८. कामं परपरितावो, असायहेतू जिणेहिं पण्णत्तो।

आत-परहितकरो पुण, इच्छिज्जइ दुस्सले स खलु ॥

आचार्य कहते हैं-हम यह मानते हैं कि परपरिताप असाता का हेतु है-ऐसा जिनेश्वर देव ने कहा है। परंतु वह परिताप दुःशल अर्थात् वाणी से न समझने वाले अविनीत शिष्य के लिए आवश्यक है। यह आत्म-परहितकर होने के कारण वांछनीय है।

५१०९. सिप्पणोउणियद्धा, घाते वि सहंति लोइया गुरुणो।

ण य मधुरणिच्छया ते, ण होति एसेविहं उवमा ॥

शिल्प तथा नैपुण्य-लिपि, गणित आदि कला कौशल

१. वृत्तिकार ने यहां क्षुल्लककुमार की माता यशोभद्रा को प्रव्रजित किए जाने का कथन किया है और आवश्यक की हारिभद्रीया वृत्ति पत्र ७०१ का प्रमाण भी दिया है। (वृ. पृ. १३५९)

लौकिक गुरुओं से सीखते हैं और उनके घातों-प्रहारों को भी सहन करते हैं। वे प्रहार दारुण होते हैं। उस समय मधुर निश्चय-सुन्दर परिणाम वाले नहीं होते। फिर भी शिष्य उनको सहन करता है।

५११०. संविग्गो महविओ, अमुई अणुयत्तओ विसेसन्नु।
उज्जुत्तमपरितंतो, इच्छियमत्थं लहइ साहू॥

संविग्ग, मार्दविक, अमोचि-गुरु को नहीं छोड़ने वाला, गुरु का अनुवर्तक, विशेषज्ञ, उद्युक्त-स्वाध्यायशील, वैयावृत्य आदि में अपरितान्त-ऐसा मुनि अपनी इष्ट वस्तु पा लेता है।

५१११. बोहिकतेणभयादिसु, गणस्स गणिणो व अच्चए पत्ते।
इच्छंति हत्थतालं, कालातिचरं व सज्जं वा॥

बोधिक स्तेन आदि का भय उत्पन्न होने पर अथवा गण और गणी का अत्यंत विनाश की स्थिति प्राप्त होने पर कालातिक्रम से शीघ्र ही हस्तताल की इच्छा करते हैं।

५११२. असिवे पुरोवरोधे, एमादीवइससेसु अभिभूता।
संजायपच्चया खलु, अण्णेषु य एवमादीसु॥

५११३. मरणभएणअभिभूते, ते गातुं देवतं वुवासंते।
पडिमं काउं मज्झे, विंधति मंते परिज्वेंतो॥

अशिव, पुरावरोध आदि तथा इसी प्रकार के 'वैशस' दुःखों से अभिभूत पौरजनों को यह विश्वास होता है कि अमुक आचार्य इन दुःखों का प्रशमन कर सकते हैं, यह सोचकर वे केवल इन दुःखों के लिए ही नहीं, ऐसे अन्यान्य दुःखों के प्रशमन के लिए वे एकत्रित होकर उन गुरुचरणों की शरण में जाते हैं। तब आचार्य मरणभय से अभिभूत उन पौरजनों को, देवता की भांति स्वयं की (आचार्य की) पर्युपासना करने वाले जानकर, प्रतिमा करके अभिचारुक मंत्रों का जाप करते हुए उस प्रतिमा को मध्य में वींधता है, तब कुलदेवी भाग जाती है, सारा उपद्रव शांत हो जाता है। इस प्रकार का हस्तालंबदायी आता है तो तत्काल ही उसको उपस्थापना नहीं देते किन्तु कुछ समय पर्यन्त गच्छ में ही रखकर उसकी परीक्षा की जाती है।

५११४. अणुकंपणा णिमित्ते, जायण पडिसेहणा सउणिमेव।
दायण पुच्छा य तहा, सारण उब्भावण विणासे॥

अर्थादान, आचार्य की अनुकंपा, निमित्त के ज्ञाता आचार्य, याचना, प्रतिषेध, शकुनिका का दृष्टांत, रूपयों की नौली दिखाना, पूछना, सारणा, उद्भावना और विनाश। इस गाथा का विस्तार कथानक तथा निम्न गाथाओं में है।

५११५. उज्जेणी ओसण्णं, दो वणिगा पुच्छियं ववहरंति।
भोगाभिलास भच्चय, मुंचंति न रूवए सउणी॥

५११६. चंगोड गउलदायण, बितितेणं जत्तिए तहिं एक्को।
अण्णम्मि हायणम्मि य, गिण्हामो किं ति पुच्छंति॥

५११७. तण-कड्ड-नेह-धण्णे, गिण्हह कप्पास-दूस-गुलमादी।
अंतो बहिं च ठवणा, अग्गी सउणी न य निमित्तं॥

उज्जयिनी नगरी में एक अवसन्नाचार्य थे। वे नैमित्तिक थे। वहां दो व्यापारी उन आचार्यों को पूछकर व्यापार करते थे। वे आचार्य से पूछते-क्या यह भांड खरीदें या बेचें? इस प्रकार वे धनी हो गए। एक बार आचार्य का भानेज आचार्य के पास आया। वह भोगाभिलाषी था। उसके पास धन नहीं था। उसने आचार्य से धन मांगा। आचार्य ने उसे दोनों वणिक् मित्रों के पास भेज दिया। उसने एक वणिक् मित्र से धन मांगा। उसने कहा-क्या शकुनिका रूपये देती है? (क्या रूपये वृक्ष के लगते हैं)। तब वह दूसरे वणिक् के पास गया और रूपयों की याचना की। उसने रूपयों की नौलियां दिखाई और कहा जितनी चाहिए उतनी ले लो। तब उसने उनमें से एक नौली ले ली।

दूसरे वर्ष दोनों वणिकों ने आचार्य से पूछा-इस वर्ष हम कौन सा माल खरीदें? आचार्य ने पहले वणिक् से कहा-तुम इस बार कपास, वस्त्र, गुड़ आदि खरीदो और उनको घर के भीतर रखो। दूसरे वणिक् से कहा-तुम इस बार तृण, काष्ठ, बांस आदि खरीदो और उनको नगर के बाहर रखो। दोनों ने वैसा ही किया। उस वर्ष अनावृष्टि हुई। अग्नि का उत्पात हुआ। सारा नगर जल गया। जिस वणिक् ने कपास, वस्त्र आदि का संग्रह किया था, वे सारे जल गए और जिसने तृण, काष्ठ आदि खरीदे थे, वे सुरक्षित रह गए। जब शकुनीवादक ने आचार्य से इस विसंवादिता का कारण पूछा तो आचार्य ने कहा-शकुनी निमित्त नहीं देती।

५११८. एयारिसो उ पुरिसो, अणवट्टप्पो उ सो सवेसम्मि।
गेतूण अण्णदेसं, चिद्धउवट्टावणा तस्स॥

ऐसा पुरुष जो अर्थादानकारी होता है, वह स्वदेश में अनवस्थाप्य-महाव्रतों में अनवस्थाप्य होता है, उसे महाव्रत नहीं दिए जाते। उसे अन्य देश में ले जाकर वहां उसे उपस्थापना दी जा सकती है।

५११९. पुव्वब्भासा भासेज्ज किंचि गोरोव सिणेह भयतो वा।
न सहइ परीसहं पि य, णाणे कंडुं व कच्छुल्लो॥

पूर्वाभ्यास के कारण उस नैमित्तिक को निमित्त पूछते हैं और वह ऋद्धि के गौरव से, स्नेह से या भय से लाभ-अलाभ का कथन करता है। वह ज्ञान परीषह को सहन नहीं कर सकता। जैसे खुजली के रोग से पीड़ित व्यक्ति खुजली किए

बिना रह नहीं सकता, वैसे ही नैमित्तिक भी निमित्त कहे बिना रह नहीं सकता।

५१२०. तइयस्स दोन्नि मोत्तुं, दब्बे भावे य सेस भयणा उ।
पडिसिद्ध लिंगकरणं, कारणे अण्णत्थ तत्थेव॥

तीन पदों—हस्ताताल, हस्तालंब और अर्थादान—में से प्रथम दो को छोड़ कर शेष जो अर्थादान है, उसमें द्रव्यतः और भावतः लिंग देने की भजना है। निष्कारण अर्थादानकारी को लिंग देना निषिद्ध है। कारण में अन्यत्र अथवा वहीं लिंग देना अनुज्ञात है।

५१२१. हत्थातालो ततिओ, तस्स उ दो आइमे पदे मोत्तुं।
अत्थायाणे लिंगं, न दिति तत्थेव विसयम्मि॥

हस्ताताल पद तीसरा है। उसके दो आद्य पदों को छोड़ कर अर्थात् अर्थादान वाला पद शेष रहता है। उसके रहते हुए उसी देश में लिंग नहीं देते। वह अर्थादानकारी गृहस्थ या अवसन्न लिंगी हो सकता है।

५१२२. गिहिलिंगस्स उ दोण्णि वि,

ओसन्ने न दिति भावलिंगं तु।

दिज्जंति दो वि लिंगा,

उवट्टिए उत्तिमद्वस्स॥

जो गृहिलिंगी है उसे दोनों—द्रव्यलिंग और भावलिंग उस देश में नहीं दिया जाता। जो अवसन्न है उसके द्रव्यलिंग तो है ही, उसे उस देश में भावलिंग नहीं दिया जाता। दोनों—गृहस्थ और अवसन्न, उत्तमार्थ स्वीकार करने के लिए उद्यत हों तो उन्हें दोनों लिंग उस देश में भी दिए जा सकते हैं।

५१२३. ओमा-ऽसिवमाईहि व, तप्पिस्सति तेण तस्स तत्थेव।

न य असहाओ मुच्चइ, पुट्टो य भणिज्ज वीसरियं॥

अथवा ये कारण हो सकते हैं—अवम—दुर्भिक्ष, अशिव, राजद्वेष, अथवा यह गच्छ का उपग्रह करेगा—इन कारणों से उसी क्षेत्र में उसे लिंग दे देते हैं। उसको अकेला या असहाय नहीं छोड़ा जाता। लोगों के द्वारा निमित्त के विषय में पूछने पर वह कहता है—मैं निमित्त भूल गया हूँ।

५१२४. साहम्मिय-ऽन्नधम्मियतेण्णेषु उ तत्थ होतिमा भयणा।

लहुगो लहुगा गुरुगा, अणवद्वप्पो व आएसा॥

साधर्मिकस्तैन्य और अन्यधार्मिकस्तैन्य की प्रायश्चित्त भजना—रचना यह है—आहार का स्तैन्य लघुमास, उपधि का स्तैन्य चतुर्लघु, सचित्त का स्तैन्य चतुर्गु। आदेश (मतान्तर) के अनुसार अनवस्थाप्य।

५१२५. अहवा अणुवज्झाओ, एएसु पएसु पावती तिविहं।

तेसुं चव पएसुं, गणि-आयरियाण नवमं तु॥

अथवा जो अनुपाध्याय है—उपाध्याय नहीं है, सामान्य साधु है, वह इन पदों (आहार, स्तैन्य आदि) में तिगुना प्रायश्चित्त प्राप्त करता है। इन्हीं आहार आदि पदों में गणी—उपाध्याय तथा आचार्य को नौवां प्रायश्चित्त अनवस्थाप्य प्राप्त होता है। (शिष्य ने पूछा—सूत्र में सामान्यतः अनवस्थाप्य ही कहा है, फिर यह लघुमास आदि तीन प्रकार का प्रायश्चित्त कहां से आया? आचार्य ने कहा—आर्हतों का कथन कहीं भी एकान्तवाद युक्त नहीं होता।)

५१२६. तुल्लम्मि वि अवराहे, तुल्लमत्तुल्लं व दिज्जए दोण्हं।

पारंचिके वि नवमं, गणिस्स गुरुगो उ तं चव॥

आचार्य और उपाध्याय—दोनों ने तुल्य अपराध का सेवन किया है, परंतु दोनों को तुल्य या अतुल्य प्रायश्चित्त दिया जाता है। पारांचिक प्रायश्चित्त योग्य अपराध करने पर भी उपाध्याय को अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त ही दिया जाता है पारांचिक नहीं और आचार्य को उसी अपराध पर पारांचिक दिया जाता है।

५१२७. अहवा अभिक्खसेवी, अणुवरमं पावई गणी नवमं।

पावंति मूलमेव उ, अभिक्खपडिसेविणो सेसा॥

अथवा जो गणी—उपाध्याय साधर्मिकस्तैन्य आदि का बार-बार प्रतिसेवना करता है, उससे उपरत नहीं होता, उसको नौवां अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त आता है और शेष मुनि जो बार-बार प्रतिसेवना करते हैं, उन्हें मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

५१२८. अत्थादाणो ततिओ, अणवद्वो खेत्तओ समक्खाओ।

गच्छे चव वसंता, णिज्जूहिज्जंति सेसा उ॥

अर्थादान क्षेत्रतः तीसरा अनवस्थाप्य है। वह क्षेत्रतः समाख्यात है। उस व्यक्ति को उस क्षेत्र में उपस्थापना नहीं दी जाती। शेष हस्ताताल आदि मुनियों को गच्छ में रहते हुए को भी गच्छ से आलापना आदि पदों से बहिष्कृत कर दिया जाता है।

५१२९. संघयण-विरिय,

आगम-सुत्तत्थविहीय जो समग्गो तु।

तवसी निग्गहजुत्तो,

पवयणसारे अभिगयत्थो॥

५१३०. तिलतुसतिभागमेत्तो,

वि जस्स असुभो न विज्जती भावो।

निज्जूहणाए अरिहो,

सेसे निज्जूहणा नत्थि॥

५१३१. एयगुणसंपउत्तो, अणवद्वप्पो य होति नायव्वो।

एयगुणविप्पमुक्के, तारिसयम्मी भवे मूलं॥

५१३२. आसायणा जहण्णे, छम्मासुक्कोस बारस उ मासा।
 वासं बारस वासे, पडिसेवओ कारणे भइओ॥
 ५१३३. इत्तिरियं निक्खेवं, काउं चउत्तं गणं गमित्ताणं।
 दव्वाइ सुहे वियडण, निरुवस्सग्गइ उस्सग्गो॥
 ५१३४. अप्पच्चय निब्भयया, आणाभंगो अजंतणा सगणे।
 परगणे न होंति एए, आणाथिरया भयं चेव॥
 किस प्रकार के गुणों से युक्त मुनि को अनवस्थाप्य दिया जाता है?

संहनन—वज्ररूपभनाराच हो, वीर्य—धृति हो, आगम अर्थात् नौवें पूर्व की तीसरी आचारवस्तु तक सूत्रतः और अर्थतः परिचित हो, इन सबकी विधि से जो संपूर्णरूप से भावित हो, तपस्वी हो, निग्रहयुक्त हो, प्रवचन के सार में अर्थ के रहस्यों का ज्ञाता हो।

जो गच्छ से निर्यूद्ध हो जाने पर भी तिलतुषमात्र का भी अशुभभाव मन में नहीं है, ऐसा मुनि निर्यूहण के योग्य होता है। इन गुणों से रहित व्यक्ति निर्यूहणा के योग्य नहीं होते।

इन गुणों से युक्त व्यक्ति पारांचिक योग्य स्थान को प्राप्त करता है। इन गुणों से विप्रमुक्त व्यक्ति यदि पारांचिकापत्ति प्राप्त करता है, फिर भी उसके मूल प्रायश्चित्त ही प्राप्त होता है।

आशातनापारांचिक जघन्यतः छह मास और उत्कृष्टतः बारह मास तक गच्छ से निर्यूद्ध रहता है। प्रतिसेवना-पारांचिक जघन्यतः एक संवत्सर तक तथा उत्कृष्टतः बारह संवत्सर पर्यन्त संघ से निर्यूद्ध रहता है।

जो पारांचिक स्वीकार करता है वह नियमतः आचार्य होता है। इसलिए इत्वर गणनिक्षेप आत्मतुल्य शिष्य में करके आचार्य अन्य गण में जाकर वहां प्रशस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की आलोचना परगण के आचार्य के पास करे। दोनों आचार्य निरुपसर्ग के लिए कायोत्सर्ग करें।

अपने गण में पारांचिक स्वीकार करने पर अगीतार्थ मुनियों का आचार्य के प्रति अविश्वास होता है। वे निर्भय हो जाते हैं। अपने गण में आज्ञाभंग और अयंत्रणा होती है। परगण में ये दोष नहीं होते। वहां भगवान् की आज्ञा-पालन में स्थिरता आती है तथा आत्मा में भय भी रहता है।

५१३५. सेहाई वंदंतो, पग्गहियमहातवो जिणो चेव।
 विहरइ बारस वासे, अणवट्टप्पो गणे चेव॥
 शैक्ष मुनियों को भी वंदना करता हुआ, जिनकल्पी की भांति महान् तपस्या को स्वीकार कर विहरण करने वाला—
 अनवस्थाप्य मुनि बारह वर्ष तक गण में रहता है।

५१३६. अणवट्टं वहमाणो, वंदइ सो सेहमादिणो सव्वे।
 संवासो से कप्पइ, सेसा उ पया न कप्पंति॥
 जो अनवस्थाप्य को वहन कर रहा है, जो सभी शैक्ष मुनियों को वंदना करता है, उसके साथ संवास करना कल्पता है। शेष पद नहीं कल्पते। वे ये हैं—

५१३७. आलावण पडिपुच्छण, परियट्टुट्ठाण वंदणग मत्ते।
 पडिलेहण संघाडग, भत्तदाण संभुंजणा चेव॥
 आलपन—परस्पर बातचीत करना, प्रतिप्रच्छन, परिवर्तन, उत्थान—अभ्युत्थान, वंदनक, मात्रक का देना-लेना, प्रत्युपेक्षण, संघाटक, भक्तदान—आहार-पानी देना-लेना, साथ में आहार करना आदि।

पव्वज्जादि-अजोग्ग-पदं

तओ नो कप्पंति पव्वावेत्तए, तं
 जहा—पंडए वाइए कीवे॥

(सूत्र ४)

५१३८. न ठविज्जई वएसुं, सज्जं एण्ण होति अणवट्टो।
 दुविहम्मि वि न ठविज्जइ, लिंगे अयमन्न जोगो उ॥
 दोषों से उपरत व्यक्ति को तत्काल महाव्रतों में आरोपित नहीं किया जाता, इसलिए उसे अनवस्थाप्य कहा जाता है। यह अनन्तर सूत्र में कहा गया है। प्रस्तुत सूत्र में अन्य अर्थात् पंडक दोनों प्रकार के अर्थात् द्रव्य और भावलिंग में स्थापित नहीं किया जाता, यह प्रतिपाद्य है। यह योग है, संबंध है।

५१३९. वीसं तु अपव्वज्जा, निज्जुत्तीए उ वन्निया पुव्विं।
 इह पुण तिहिं अधिकारो, पंडे कीवे य वाईया॥
 बीस प्रकार के मनुष्य अप्रब्राज्य होते हैं, यह पहले नियुक्ति में वर्णित किया गया है। प्रस्तुत में तीन का अधिकार है, अर्थात् पंडक, क्लीव और वातिक—ये तीन प्रब्राजनीय नहीं होते क्योंकि ये गुरुतर दोष से दुष्ट होते हैं।

५१४०. गीयत्थे पव्वावण, गीयत्थे अपुच्छिऊण चउगुरुगा।
 तम्हा गीयत्थस्स उ, कप्पइ पव्वावणा पुच्छा॥
 गीतार्थ मुनि ही प्रब्राजना देने का अधिकारी है। गीतार्थ भी यदि बिना पूछे प्रब्रज्या देते हैं तो उन्हें चतुर्गुरुक का प्रायश्चित्त आता है। इसलिए गीतार्थ को भी पृच्छापूर्वक प्रब्राजना करना कल्पता है।

५१४१. सयमेव कोति साहति, मित्तेहिं व पुच्छिओ उवाएणं।
 अहवा वि लक्खणेहिं, इमेहिं नाउं परिहरेज्जा॥

दीक्षार्थी को पूछने पर वह स्वयं कह देता है कि वह तीसरे वेद में है। अथवा मित्रों से पूछकर उसके निर्वेद को जाना जा सकता है। अथवा उपाय से पूछने पर या लक्षणों से जान लिया जाता है कि यह कौन है। इन सब कारणों से उसको पंडक जानकर उसका परिहार करना चाहिए।

५१४२. नज्जंतमणज्जंते, निव्वेयमसङ्गे पढमयो पुच्छे।

अन्नाओ पुण भन्नइ, पंडाइ न कप्पई अम्हं॥

प्रब्रज्या लेने वाला ज्ञात भी हो सकता है और अज्ञात भी। यदि ज्ञात हो तो उसको सबसे पहले निर्वेद का कारण पूछना चाहिए। जो अज्ञात हो उसको कहना चाहिए कि हम पंडक आदि को दीक्षा नहीं देते।

५१४३. नाओ मि त्ति पणासइ, निव्वेयं पुच्छिया व से मित्ता।

साहंति एस पंडो, सयं व पंडो त्ति निव्वेयं॥

‘मैं इनसे जान लिया गया हूँ’—यह सोचकर वह वहां से भाग जाता है। मित्रों को उसके निर्वेद के विषय में पूछने पर वे कहते हैं—यह पंडक है। अथवा ‘मैं पंडक हूँ’ यह सोचकर वह स्वयं निर्वेद को—घृणा को प्राप्त होता है।

५१४४. महिलासहावो सर-वन्नभेओ,

मेण्ढं महंतं मउता य वाया।

ससहगं मुत्तमफेणगं च,

एयाणि छ प्पंडगलक्खणाणि॥

पंडक की पहचान के छह लक्षण हैं—

१. वह महिला स्वभाव वाला होता है।
- २-३. उसमें स्वरभेद और वर्णभेद होता है।
४. उसका शिश्न—जननेन्द्रिय लंबी होती है।
५. उसकी वाणी कोमल होती है।
६. उसका मूत्र सशब्द और फेन सहित होता है।

५१४५. गती भवे पच्चवलोइयं च,

मिदुत्तया सीयलगत्तया य।

धुवं भवे दोक्खरनामधेज्जो,

सकारपच्चंतंरिओ ढकारो॥

उसकी गति स्त्री की भांति मंद होती है। वह बार-बार मुड़ कर तथा दोनों ओर देखता हुआ चलता है। उसके शरीर की त्वचा मृदु होती है, अंगोपांग शीतलस्पर्श वाले होते हैं—इस प्रकार के लक्षण वाला व्यक्ति निश्चित ही दो अक्षर के नामवाला अर्थात् ‘षंढ’ होता है।

५१४६. गइ भास वत्थ हत्थे, कडि पट्टि भुमा य केसडलंकारे।

पच्छन्न मज्जणाणि य, पच्छन्नयरं च णीहारो॥

५१४७. पुरिसेसु भीरु महिलासु संकरो पमयकम्मकरणो य।

तिविहम्मि वि वेदम्मिं, तियभंगो होइ कायव्वो॥

उसकी गति स्त्री की तरह मंद होती है। वह स्त्री की भांति भाषा बोलता है, वस्त्र पहनता है, हाथों को कूर्पर के नीचे या कपोलों पर रखकर बोलता है, बार-बार कमर को हिलाता है, पीठ को वस्त्र से ढंक कर चलता है, बोलते समय दोनों भोहों को नचाता है, स्त्रियों की भांति केशों की रचना करता है, अलंकार पहनता है। गुप्त स्थान में स्नान आदि करता है, प्रच्छन्नतर प्रदेश में उच्चार-प्रसवण का विसर्जन करता है। वह पुरुषों के मध्य भीरु, महिलाओं में मीलन स्वभाव वाला, प्रमदाओं—महिलाओं की सारी क्रियाएं करने वाला होता है। तीनों प्रकार के वेदों के प्रत्येक के तीन-तीन भंग करने होते हैं—जैसे पुरुष पुरुषवेद का वेदन करता है, पुरुष स्त्रीवेद का वेदन करता है, पुरुष नपुंसक वेद का वेदन करता है। इसी प्रकार स्त्री-नपुंसक वेदों के विषय में भी कर्तव्य है।

५१४८. उस्सग्गलक्खणं खलु, फुंफग तह वणदवे णगरदाहे।

अववादतो उ भइओ, एक्केको दोसु ठाणेषु॥

तीनों वेदों का यह उत्सर्ग (सामान्य) लक्षण है—जैसे स्त्रीवेद फुम्फुकाग्नि समान होता है। पुरुषवेद वन की दवाग्नि के समान होता है और नपुंसकवेद नगरदाह के समान होता है। अपवाद से तीनों वेद परस्पर विकल्पित हैं अर्थात् प्रत्येक वेद अपने-अपने स्थान को छोड़कर शेष दो वेदों के स्थान में भी वर्तन करता है। जैसे कोई स्त्री स्त्रीवेद के समान अथवा पुरुषवेद के समान अथवा नपुंसकवेद के समान होती है। इसी प्रकार अन्यवेद भी।

५१४९. दुविहो उ पंडओ खलु, दूसी-उवघायपंडओ चेव।

उवघाए वि य दुविहो, वेए य तहेव उवकरणे॥

पंडक के दो प्रकार हैं—दूषितपंडक और उपघातपंडक। उपघातपंडक भी दो प्रकार का होता है—वेदोपघातपंडक और उपकरणोपघातपंडक।

५१५०. दूसियवेओ दूसिय, दोसु व वेएसु सज्जए दूसी।

दूसेति सेसए वा, दोहि व सेविज्जए दूसी॥

जिसका वेद दूषित है उसे दूषितवेद या दूषित कहा जाता है। जो दो वेदों अर्थात् नपुंसक-पुरुषवेद के साथ अथवा नपुंसक-स्त्रीवेद के साथ प्रसंग करता है वह दूषी कहलाता है। अथवा जो शेष वेदों—स्त्री-पुरुष वेदों की निन्दा करता है, वह दूषी है। जो आस्यक तथा पोसक—इन दोनों द्वारा सेवित होता है या स्वयं सेवन करता है, वह दूषी कहलाता है।

५१५१. आसित्तो ऊसित्तो, दुविहो दूसी उ होइ नायव्वो।

आसित्तो सावच्चो, अणवच्चो होइ ऊसित्तो॥

दूषी दो प्रकार से ज्ञातव्य है—आसित्त और उपसित्त।

आसिक्त अर्थात् सापत्य-जिसके बच्चा पैदा होता है। उपसिक्त वह होता है जो सन्तान के उत्पादन में असमर्थ होता है।

५१५२.पुब्बिं दुच्चिण्णाणं, कम्माणं असुभफलविवागेणं।
तो उवहम्मइ वेओ, जीवाणं पावकम्माणं॥

पहले किए हुए दुश्चीर्ण कर्मों के अशुभफलविपाक से जीवों के पापकर्मों के कारण वेद का उपहनन हो जाता है।

५१५३.जह हेमो उ कुमारो, इंदमहे भूणियानिमित्तेणं।
मुच्छिय गिद्धो य मओ, वेओ वि य उवहओ तस्स॥

जैसे हेमनामक कुमार इन्द्रमह में गया। वहां उसने अनेक रूपवती बालिकाओं को देखा। उनके निमित्त से वह मूर्च्छित हो गया और अत्यन्त आसक्ति के कारण वह मर गया। उसका वेद भी उपहत हो गया।^१

५१५४.उवहय उवकरणम्मिं, सेज्जायरभूणियानिमित्तेणं।
तो कविलगस्स वेओ, ततिओ जाओ दुरहियासो॥

शय्यातर की लड़की के निमित्त से कपिल का उपकरण अर्थात् अंगादान-लिंग छिन्न हो गया। उसके कारण उसके दुःसह्य तीसरे वेद (नपुंसक वेद) का उदय हो गया।^२ (उपहत उपकरण वाला यह व्यक्ति पुं-नपुंसकवेद के उदय से आस्य-पोषक प्रतिसेवी होता है। वह वेदोदय का निरोध नहीं कर सकता।)

५१५५.जह पढमपाउसम्मिं, गोणो धाओ तु हरियगतणस्स।
अणुसज्जति कोट्टिंबिं, वावण्णं दुब्धिगंधीयं॥

५१५६.एवं तु केइ पुरिसा, भोत्तूण वि भोयणं पतिविसिद्धं।
ताव ण होंति उ तुद्धा, जाव न पडिसेविओ भावो॥

प्रथम प्रावृद्ध में बलीवर्द (सांड) हरित घास खाकर दूध हो जाता है, और दुरभिगंधवाली मरियल गाय से समागम करता है। इसी प्रकार कुछेक पुरुष प्रतिविशिष्ट भोजन करके भी संतुष्ट नहीं होते जब तक कि वे आस्य-पोषक भाव का प्रतिसेवन नहीं करते।

५१५७.गहणं तु संजयस्सा, आयरियाणं व खिप्पमालोए।
बहिया व गिग्गयाणं, चरित्तसंभेयणी विकहा॥

वह पंडक प्रव्रजित हो जाने पर प्रतिसेवना के अभिप्राय से संयत का ग्रहण करता है। उस संयत को चाहिए कि वह शीघ्र ही आचार्य को यह बात कहे। यदि नहीं कहता है तो चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अथवा वह पंडक उपाश्रय में एकान्त न पाकर बाहर विचारभूमी में गए हुए संयतों में चारित्रसंभेदिनी विकथा करता है।

१.२. कथानक के लिए देखें-कथा परिशिष्ट, नं. ११७-११८।

५१५८.छंदिय गहिय गुरूणं, जो न कहे जो व सिद्धुवेहेज्जा।

परपक्ख सपक्खे वा, जं काहिति सो तमावज्जे॥

पंडक मुनि ने एक साधु को कहा-‘तुम मेरी प्रतिसेवना करो, मैं तुम्हारी प्रतिसेवना करूंगा’-यह निमंत्रण उस साधु को दिया। इस प्रकार जिसको निमंत्रित किया और जिस साधु को उसने ग्रहण किया-ये दोनों गुरु को यह बात नहीं कहते अथवा कहने पर भी गुरु उपेक्षा करते हैं तो सभी को चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है। वह पंडक स्वपक्ष या परपक्ष में प्रतिसेवना करता हुआ जो उद्वाह को प्राप्त होता है उसके भागी सभी होते हैं।

५१५९.इत्थिकहाउ कहित्ता, तासि अवन्नं पुणो पगासेति।
समलं सावि अगंधिं, खेतो य ण एयरे ताइं॥

वह पंडक स्त्रीकथा करते हुए कहता है-स्त्रियों का परिभोग सुखदायी होता है। और फिर उनका अवर्णवाद बोलता है। वह कहता है-स्त्रियां मलों का स्राव करती हैं, उनकी योनी दुर्गन्धयुक्त होती है, उनका परिभोग करने वाले पुरुष को खेद होता है। हमारे साथ प्रतिसेवना करने से ये दूषण नहीं होते।

५१६०.सागारियं निरिक्खति, तं च मलेऊण जिंघई हत्थं।
पुच्छति सेविमसेवी, अतिव सुहं अहं चिय दुहा वि॥

वह पंडक स्वयं का और दूसरे के सागारिक-लिंग को देखता है। वह सागारिक को अपने हाथों से मसलकर हाथों को सूंघता है। वह साधु को पूछता है-तुमने पहले कभी नपुंसक के साथ प्रतिसेवना की या नहीं? उसकी प्रतिसेवना में अत्यंत सुख मिलता है। मैं नपुंसक हूं। दोनों-आस्यक और पोषक से मैं प्रतिसेवनीय हूं।

५१६१.सो समणसुविहितेसुं, पवियारं कत्थई अलभमाणो।
तो सेविउमारद्धो, गिहिणो तइ अन्नतित्थी य॥

वह पंडक सुविहित श्रमणों में प्रविचार-मैथुन की भावना कहीं भी प्राप्त न कर सकने के कारण गृहस्थों और अन्यतीर्थिकों के साथ प्रतिसेवना करने लगता है।

५१६२.अयसो य अकित्तीया, तम्मूलागं तहिं पवयणस्स।
तेसिं पि होइ संका, सब्बे एयारिसा मत्ते॥

उससे प्रवचन का अयश और अकीर्ति होने लगी। जो नर्तक आदि थे उनके मन में भी यह शंका उत्पन्न हो गई कि ये सारे श्रमण भी ऐसे ही हैं, अर्थात् नपुंसक ही हैं।

५१६३.एरिससेवी सब्बे, वि एरिसा एरिसो व पासंडो।
सो एसो न वि अन्नो, असंखडं घोडमाईहिं॥

ये नपुंसक के साथ प्रतिसेवना करने वाले हैं। ये सभी

नपुंसक हैं। ऐसा ही इनका पाखंड है। गोचराग्र में गए हुए उन साधुओं को देखकर उपहास करते हुए लोग कहते हैं—अरे! यह वही है। दूसरा कहता है—नहीं, यह वह नहीं है, दूसरा है। यह उपहास सुनकर घोट-बटुकों आदि के साथ कलह हो सकता है।

५१६४. कीवस्स गोत्र नामं, कम्मदय निरोहे जायती ततिओ।

तम्मि वि सो चव गमो, पच्छित्तुस्सग्ग अबवादे।।

‘क्लीब’—यह गौण नाम है, गुणनिष्पन्न नाम है। ‘क्लीब्यते इति क्लीबः—मैथुन के अभिप्रायमात्र से जिसका अंगादान विकारग्रस्त हो जाता है और वीर्य के बिन्दु जिससे परिगलित होते रहते हैं वह है क्लीब। यह महामोह के कर्मोदय से होता है अथवा परिगलित होने वाले वीर्य का निरोध करने से यह तीसरा वेद होता है। क्लीब के चार प्रकार हैं—दृष्टिक्लीब, शब्दक्लीब, आदिग्धक्लीब तथा निमंत्रणाक्लीब। विपक्ष आदि को विवस्त्र देखकर स्खलित होने वाला दृष्टिक्लीब, मैथुन के शब्द को सुनकर स्खलित होने वाला शब्दक्लीब, विपक्ष द्वारा उपगूढ़ होने पर स्खलित होनेवाला आदिग्धक्लीब और विपक्ष द्वारा निमंत्रित होने पर स्खलित होने वाला निमंत्रणाक्लीब होता है। इन चारों के विषय में पंडक की भांति ही गम है। इनके वही प्रायश्चित्त तथा अपवाद होते हैं।

५१६५. उदण वादियस्सा, सविकारं जा ण तस्स संपत्ती।

तच्चनि-असंवुडीए, दिट्ठतो होइ अलभंते।।

मोहोदय से जिसका सागारिक विकारयुक्त हो जाता है तब वह वेद को धारण नहीं कर सकता, जब तक कि प्रतिसेवमान की संप्राप्ति नहीं हो जाती। वह वातिक नपुंसक होता है। एक बौद्ध उपासक नाव में आरूढ़ हुआ। उसके सामने वाले आसन पर एक असंवृत स्त्री आकर बैठ गई। तब उस बौद्ध उपासक का सागारिक स्तब्ध हो गया। वह वेद की उत्कटता से उस स्त्री को पकड़कर जनता के सामने प्रतिसेवना करने लगा। लोग उसे पीटने लगे,

१. (१-३) पंडक, वातिक और क्लीब की व्याख्या पहले दी जा चुकी है।

(४) कुंभी—इसके दो प्रकार हैं—

(क) जातिकुंभी—जिसकी इन्द्रिय बहुत लंबी होती है।

(ख) वेदकुंभी—उत्कटमोह के कारण प्रतिसेवना के अभाव में जिसका लिंग और वृषण सूज जाते हैं।

(५) ईर्ष्यालु—प्रतिसेवना को देखकर प्रतिसेवना की इच्छा होना।

(६) तत्कर्मसेवी—बीजनिसर्ग हो जाने पर श्वान की भांति लिंग को जीभ से चाटना।

(७) शकुनी—वेदोत्कटता से गृहचटक की भांति बार-बार प्रतिसेवना करने वाला।

फिर भी उसने स्त्री को नहीं छोड़ा। जब बीज का निसर्ग हो गया, तब उसने उसे छोड़ा। प्रतिसेवना के लिए कोई अप्राप्त होने पर निरुद्धवेद वाले नपुंसक के ऐसा होता है।

५१६६. पंडए वाइए कीवे, कुंभी ईसालुए ति य।

सउणी तक्कम्मसेवी य, पक्खियापक्खिते ति य।।

५१६७. सोगंधिए य आसित्ते, वद्धिए चिप्पिए ति य।

मंतोसहिओवहते, इसिसत्ते देवसत्ते य।।

नपुंसक के भेद—

१. पंडक	९. सौगन्धिक
२. वातिक	१०. आसक्त
३. क्लीब	११. वद्धित
४. कुंभी	१२. चिप्पित
५. ईर्ष्यालु	१३. मंत्रोपहत
६. तत्कर्मसेवी	१४. औषधि-उपहत
७. शकुनी	१५. ऋषिशम
८. पाक्षिक-अपाक्षिक	१६. देवशम।

इनमें प्रथम दस अप्रब्राजनीय हैं। शेष छह यदि अप्रतिसेवी हों तो प्रब्राजनीय हैं।^१

५१६८. दससु वि मूलाऽऽयरिए,

वयमाणस्स वि हवंति चउगुरुगा।

सेसाणं छण्हं पी,

आयरिए वदंति चउगुरुगा।।

जो आचार्य पंडक से आसक्त तक के १० नपुंसकों को प्रब्रज्या देता है उसे प्रत्येक का प्रायश्चित्त आता है मूल। जो इन दसों को प्रब्रजित करने के लिए कहता है उसे चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त है। वद्धित आदि शेष छह को प्रब्रजित करने वाले आचार्य तथा प्रब्रज्या के लिए कहने वाले को चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त है।

५१६९. थी-पुरिसा जह उदयं, धरंति झाणोववास-णियमेहिं।

एवमपुमं पि उदयं, धरिज्ज जति को तहिं दोसो।।

(८) पाक्षिक-अपाक्षिक—शुक्ल या कृष्ण किसी एक पक्ष में वेद की उत्कटता और दूसरे पक्ष में मन्द।

(९) सौगन्धिक—सागारिक की सुगंध को शुभ मानने वाला, सागारिक को सूंघने वाला तथा सागारिक को हाथों से मसल कर सूंघने वाला।

(१०) आसक्त—स्त्री के शरीर से आसक्त।

(११) वद्धित—जिसके बचपन से ही वृषण काट दिए गए हों।

(१२) चिप्पित—जन्मते ही वृषणों को मसल कर चपटा कर देना।

(१३-१६) मंत्र, औषधि, ऋषि और देवता द्वारा शापग्रस्त होने पर पुरुषत्व विलीन हो जाता है।

५१७०. अहवा ततिए दोसो, जायइ इयरेसु किं न सो भवति।
एवं खु नत्थि दिक्खा, सवेययाणं न वा तित्थं॥

शिष्य ने पूछा—जो स्त्री-पुरुष ध्यान-उपवास आदि नियमों में उपयुक्त रहते हुए वेद के उदय को धारण करते हैं वैसे ही अपुमान् अर्थात् नपुंसक यदि वेदोदय को धारण करता है तो उसको प्रव्रजित करने में क्या दोष है?

यदि तीसरे अर्थात् नपुंसक के वेदोदय से दोष होता है तो इतर अर्थात् स्त्री-पुरुषों के वेदोदय से दोष क्यों नहीं होगा? आपके कथनानुसार किसी भी संसारी जीव की दीक्षा नहीं हो सकती, क्योंकि सभी संसारी जीव सवेदक हैं। दीक्षा के अभाव में तीर्थ की परंपरा नहीं चलती।

५१७१. थी-पुरिसा पत्तेयं, वसंति दोसरहितेस ठाणेसु।
संवास फास दिट्ठी, इयरे वत्थंबदिट्ठतो॥

आचार्य ने कहा—महिलाएं प्रव्रजित होकर स्त्रियों अर्थात् साध्वियों के मध्य रहती हैं और पुरुष प्रव्रजित होकर पुरुषों—साधुओं के मध्य रहते हैं। वे दोनों दोषरहित स्थान में रहते हैं। इतर अर्थात् पंडक यदि साध्वियों के मध्य रहता है तो संवास से स्पर्श और दृष्टि से दोष होते हैं और मुनियों के साथ रहता है तो वे ही दोष होते हैं। यहां बछड़ा और आम्र का दृष्टांत है।

(बछड़ा मां को देखकर चूघना चाहता है और मां गाय अपने बच्चे को देखकर प्रसन्नविता होती है। किसी को आम खाते हुए देखकर मुंह में पानी आ जाता है वैसे ही नपुंसक के संस्तव से वेदोदय से मैथुन इच्छा उत्पन्न होती है।)

५१७२. असिवे आमोयरिए, रायहुट्टे भए व आगाढे।
गेलन्न उत्तिमट्टे, नाणे तह दंसण चरित्ते॥

इन कारणों से पंडक को प्रव्रज्या दी जा सकती है—अशिव, अवमौदर्य, राजद्विष्ट हो जाने पर, भय, आगाढ़-ग्लानत्व, उत्तमार्थ अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य में सहायक होगा। (व्याख्या आगे)

५१७३. रायहुट्ट-भएसुं, ताणट्ट निवस्स चव गमणट्टा।
विज्जो व सयं तस्स व, तप्पिस्सति वा गिलाणस्स॥

५१७४. गुरुणो व अप्पणो वा, नाणादी गिण्हमाण तप्पिहिति।
चरणे देसावक्कमि, तप्पे ओमा-ऽसिवेहिं वा॥

राजा के द्वेषी हो जाने पर, बोधिक स्तेनों का भय उत्पन्न होने पर, इनसे त्राण के लिए, राजा आदि के पास गमन करने के लिए, ग्लानत्व हो जाने पर, पंडक स्वयं वैद्य होने पर चिकित्सा कर देगा अथवा वैद्य तथा औषधि का प्रतिदर्पण कर उपकार कर सकेगा अथवा मेरे अनशन में सहायक हो सकेगा, यह सोचकर पंडक को प्रव्रज्या दी जा सकती है।

गुरु के अथवा स्वयं के ज्ञान आदि ग्रहण करने में संलग्न होने पर यह अन्यान्य कार्यों को संपादित कर सकेगा, चारित्र्य की परिपालना के लिए देशापक्रमण करने पर तथा दुर्भिक्ष और अशिव में यह सहायता करेगा—इस बुद्धि से उसे प्रव्रजित करता है।

५१७५. एहिं कारणेहिं, आगाढेहिं तु जो उ प्वावे।
पंडाईसोलसगं, कए उ कज्जे विगिंचणया॥

इन आगाढ़ कारणों के उपस्थित होने पर जो आचार्य पंडक आदि सोलह प्रकार के नपुंसकों को प्रव्रजित करता है, उसे चाहिए कि कार्य के संपन्न हो जाने पर उन नपुंसक मुनियों का विवेचन कर दे, उनको संघ से निकाल दे।

५१७६. दुविहो जाणमजाणी, अजाणगं पन्नवेति उ इमेहिं।
जणपच्चयट्टयाए, नज्जंतमणज्जमाणे वि॥

नपुंसक के दो प्रकार हैं—ज्ञायक और अज्ञायक। जो यह जानता है कि साधुओं को नपुंसक व्यक्तियों को प्रव्रज्या देना नहीं कल्पता, वह है ज्ञायक और जो यह नहीं जानता, वह है अज्ञायक। दीक्षा के लिए उपस्थित दोनों प्रकार के नपुंसकों को आचार्य प्रज्ञापना देते हैं—तुम दीक्षा के लिए अयोग्य हो, अतः श्रावकधर्म का पालन करो आदि। ऐसा न चाहने पर—ज्ञायक और अज्ञायक—दोनों को जनता के विश्वास के लिए आचार्य कटिपट्टक की प्रज्ञापना करते हैं, धारण करने के लिए कहते हैं।

५१७७. कडिपट्टए य छिहली, कत्तरिया भंड लोय पाढे य।
धम्मकह सन्नि राउल, ववहार विगिंचणा विहिणा॥

कटिपट्टक धारण करो, चोटी धारण करो या कैची या क्षुर से मुंडन करो या लोच कराओ। उसे परतीर्थिकों के सिद्धांतों को पढ़ाना चाहिए। कार्य हो जाने पर धर्मकथा करनी चाहिए, जिससे वह लिंग को छोड़ दे। यदि वह लिंग छोड़ना न चाहे तो श्रावकों से कहे, राजकुल में जाकर व्यवहार—न्याय के लिए कहे। इस प्रकार विधिपूर्वक उसकी विगिंचणा करे—संघ से बहिष्कृति कर दे।

५१७८. कडिपट्टओ अभिनवे,
कीरइ छिहली य अम्हऽवेवाऽऽसी।

कत्तरिया भंडं वा,

अणिच्छे एक्केक्कपरिहाणी॥

कटिपट्टक अभिनव दीक्षित के लिए है। शिर पर चोटी धारण करे। वह पूछे कि पूरा मुंडन क्यों नहीं करते? उसे कहे—हमारे भी पहले ऐसा ही किया था। मुंडन कर्तरी से या क्षुर से किया जाए। यदि वे ऐसा मुंडन करवाना न चाहे तो

लुंचन करे। एक-एक की परिहानि करते जाएं। शिखा तो सर्वत्र रखें।

५१७९. छिहलिं तु अणिच्छंते, भिक्खुगमादीमतं षडणिच्छंते।

परउत्थियवत्तव्वं, उक्कमदाणं ससमए वि॥

यदि वे शिखा रखना न चाहे तो सर्वमुंडन कर दें। आसेवनशिक्षा में क्रियाकलाप न सिखाये। ग्रहणशिक्षा में भिक्षुक-बौद्ध मत तथा कपिल आदि के मतों का अध्यापन कराए। यदि वह भी पढ़ना न चाहे तो शृंगार काव्य का अध्ययन कराए। यदि वह भी पढ़ना न चाहे तो द्वादशांग में जो परतीर्थिकवक्तव्यतानिबद्ध जो सूत्र हैं उनको पढ़ाए, उनको भी पढ़ाना न चाहे तो स्वसमय की वक्तव्यता को उत्क्रम से पढ़ाए।

५१८०. वीयार-गोयरे थेरसंजुओ रत्ति दूरे तरुणाणं।

गाहेह ममं पि ततो, थेरा गाहेति जत्तेणं॥

विचारभूमी या गोचरभूमी में स्थविर मुनि के साथ भेजे। रात्री में तरुण साधुओं से दूर रखें। साधु यदि उसको न पढ़ाए तो वह कहे-मुझे भी पाठ दें तब स्थविर मुनि उसे प्रयत्नपूर्वक पाठ की वाचना दे।

५१८१. वेरग्गकहा विसयाण णिंदणा उट्ट-निसियणे गुत्ता।

चुक्क-खलिएसु बहुसो, सरोसमिव चोदए तरुणा॥

जो सूत्र वैराग्यकथाओं में तथा विषय की निन्दा में निबद्ध हों उनको ग्रहण करवाए। उनके सामने उठते हुए या बैठते हुए मुनि पूर्ण गुप्त होकर बैठे। वे यदि समाचारी को विस्मृत कर देते हैं या उसमें स्वखलित हो जाते हैं तो तरुण मुनि रोष प्रगट करते हुए उनको अनेक बार टोकते हैं, जिससे कि वे उनमें अनुरक्त न हों।

५१८२. धम्मकहा पाडिज्जति, कयकज्जा वा से धम्ममक्खंति।

मा हण परं पि लोगं, अणुव्वता दिक्ख नो तुज्झं॥

उनको धर्मकथा पढ़ाई जाती है। जिस प्रयोजन से वे दीक्षित हुए हैं, उसकी उन्हें स्मृति दिलाते हुए, उस धर्म को उजागर करते हुए कहते हैं-तुम रजोहरण आदि लिंग को धारण करते हुए परभव में बोधि के उपघात करने के लिए तुम प्रयत्न कर रहे हो, इसलिए तुम परलोक का विनाश मत करो। तुम लिंग को छोड़ो और अणुव्रतों को धारण करो। तुम्हारे लिए दीक्षा उपयुक्त नहीं है।

५१८३. सन्नि खरकम्मिओ वा, भेसेति कतो इधेस कंचिक्को।

निवसिद्वे वा दिक्खितो, एतेहिं अणाते पडिसेहो॥

५१८४. अज्झाविओ मि एतेहिं चेव पडिसेधो किं वऽधीयं ते॥

छलियातिकहं कड्ढति, कत्थ जती कत्थ छलियाइं॥

जो खरकर्मी-आरक्षक या श्रावक हो, उसे कहे कि

हमने इस नपुंसक को प्रयोजनवश प्रव्रजित किया था। अब यह लिंग को छोड़ना नहीं चाहता। तुम इसको समझाओ। तब वह आरक्षक उन साधुओं के मध्य उसे पहचान कर, उसे डराते हुए कहता है-यहां से चले जाओ, अन्यथा मैं मार डालूंगा। तब वह राजा के पास जाकर कहता है-‘इन्होंने मुझे दीक्षा दी है। अब मुझे छोड़ रहे हैं।’ साधु कहे-‘यह जनता के द्वारा अज्ञात रहकर दीक्षित हुआ है, हमने इसको दीक्षा नहीं दी।’ तब वह कहता है-‘इन्होंने मुझे पढ़ाया है।’ तब उसका प्रतिषेध करते हुए कहे-‘हमने क्या पढ़ाया? तुमने क्या पढ़ा?’ तब वह छलित कथा आदि की बात कहे-कहां तो संयमी मुनि और कहां छलितादिकथा! न हम शृंगारकथा पढ़ते हैं और न पढ़ाते हैं।

५१८५. पुव्वावरसंजुतं, वेरग्गकरं सतंतमविरुद्धं।

पोराणमद्धमागहभासानियतं हवति सुत्तं॥

हम पूर्वापर संयुक्त सूत्र की वाचना देते हैं, वैराग्यकारक, अपने सिद्धांत से अविरोद्ध, पौराण-पूर्व पुरुषों तीर्थंकरों द्वारा प्रणीत, अर्धमागधी भाषा से नियत जो सूत्र हैं, उन्हें पढ़ाते हैं।

५१८६. जे सुत्तगुणा भणिया, तच्चिवरीयाइं गाहए पुव्विं।

नित्थिन्नकारणाणं, स च्चेव विणिचणे जयणा॥

जो सूत्रगुण कथित हैं, उनसे विपरीत सूत्रों को उन्हें पहले पढ़ाया जाता है, अतः प्रयोजन की समाप्ति पर वे ही सूत्र उनके विवेचन-निष्काशन में यतना होती है, कामयाब होते हैं। जिसका व्यवहार से परित्याग नहीं किया जा सकता है, उसके लिए यह विधि है-

५१८७. कावालिए सरक्खे, तच्चणिय वसभ लिंगरुव्वेणं।

वड्ढुंबगपव्वइए, कायव्व विहीए वोसिरणं॥

जो लिंगरूप से कापालिक, सरजस्क तथा बौद्ध है उसका वृषभ-गीतार्थ मुनि परित्याग कर देते हैं। यदि वह वड्ढुम्बक-बहुत स्वजनवाला प्रव्रजित है तो उसका निष्काशन विधि से करना चाहिए।

५१८८. निववल्लह बहुपक्खम्मि वा वि

तरुणविसहामिणं बिंति।

भिन्नकहा ओभट्टा,

न घडइ इह वच्च परतित्थिं॥

जो राजवल्लभ हो, बहुपाक्षिक हो तो उसके निष्काशन की यह विधि है-जब वह नपुंसक तरुण भिक्षु को प्रतिसेवना के लिए कहता है, भिन्नकथा करता है तब वह तरुण वृषभ यह कहता है-यहां मुनियों के बीच ऐसा करना उचित नहीं

है। यदि तुम ऐसा करना चाहते हो तो परतीर्थिकों में चले जाओ।

५१८९. तुमए समगं आमं, ति निग्गओ भिक्खुमाइलक्खेणं।

नासति भिक्खुगमादिसु, छोढूण ततो वि हि पलाति ॥

तब यदि वह कहे—मैं परतीर्थिकों के पास तुम्हारे साथ ही जाऊंगा। वह मुनि उसको लेकर जाता है। भिक्षुक आदि के वेष में जाकर उसे वहां छोड़कर भाग जाता है। यदि वहां भी उसे छोड़ना नहीं चाहता तो रात्री में उसे सोते हुए छोड़कर चला जाता है या भिक्षा आदि के लक्ष्य से बाहर चला जाता है।

तओ नो कप्पंति मुंडावेत्तए
सिक्खावेत्तए उवद्धावेत्तए संभुंजित्तए
संवासित्तए, तं जहा—पंडए वाइए कीवे ॥

(सूत्र ५)

५१९०. पव्वाविओ सिय त्ति उ, सेसं पणगं अणायरणजोग्गो।

अहवा समायरंते, पुरिमपदऽणिवारिता दोसा ॥

अज्ञात अवस्था में पंडक को प्रव्रजित कर दिया, ज्ञात होने पर मुंडन आदि शेष पंचक^१ के आचरण के लिए वह अयोग्य होता है। फिर भी यदि उनका समाचरण करता है तो पूर्व के प्रव्रजना पद के विषय में जो दोष कहे गए हैं वे अनिवारित होते हैं।

५१९१. मुंडाविओ सिय ती, सेसचउक्कं अणायरणजोग्गो।

अहवा समायरंते, पुरिमपदऽणिवारिया दोसा ॥

यदि वह अज्ञात अवस्था में मुंडित कर लिए जाने पर भी शेष चतुष्क (शिक्षापना आदि) के लिए अयोग्य होता है। यदि उनका आचरण करता है तो पूर्वपद दोष अनिवारित होते हैं।

५१९२. सिक्खाविओ सिय ती,

सेसतिगस्सा अणायरणजोग्गो।

अहवा समायरंते,

पुरिमपदऽणिवारिया दोसा ॥

५१९३. उवद्धाविओ सिय ती, सेसदुगस्सा अणायरणजोग्गो।

अहवा समायरंते, पुरिमपदऽणिवारिया दोसा ॥

५१९४. संभुंजित्तओ सिय ती, संवासेउं अणायरणजोग्गो।

अहवा संवासित्ते, पुरिमपदऽणिवारिया दोसा ॥

५१९५. मूलातो कंदादी, उच्छुविकारा य जह रसादीया।

मिप्पिंड-गोरसाण य, होंति विकारा जह कमेणं ॥

५१९६. जह वा णिसेगमादी, गब्भे जातस्स णाममादीया।

होंति कमा लोगम्मिं, तह छव्विह कप्पसुत्ता उ ॥

यदि उसे शिक्षापित भी कर दिया जाता है तो शेष तीन के लिए अनाचरण योग्य होता है। अथवा उसका आचरण करने पर पूर्वपद के दोष अनिवारित होते हैं। उपस्थापित करने पर शेष दो पदों के आचरण करने के लिए वह अयोग्य होता है। अथवा समाचरण करने पर पूर्वपद के दोष अनिवारित होते हैं। सहभोजन करने पर उसके साथ संवास करना (साथ रहना) अनाचरणयोग्य होता है। अथवा संवास करने पर पूर्वपद के दोष अनिवारित होते हैं।

वृक्ष के मूल से कन्द, स्कंध आदि, इक्षुविकार रस कक आदि, मृत्पिंड के स्थाश, कोश आदि, गोरस के दधि, नवनीत आदि—ये सारे विकार क्रमशः होते हैं। गर्भ में आए हुए जीव के निषेक आदि तथा नामकरण—चूड़ाकरण आदि—ये सारे लोक में क्रमशः होते हैं। इसी प्रकार षड् प्रकार के कल्पसूत्र (प्रव्रजना, मुंडापना आदि) क्रमशः होते हैं।

अवायणिज्ज-वायणिज्ज-पदं

तओ नो कप्पंति वाइत्तए, तं
जहा—अविणीए, विगईपडिबद्धे,
अविओसवियपाहुडे ॥

(सूत्र ६)

तओ कप्पंति वाइत्तए, तं जहा—विणीए
नो विगईपडिबद्धे, विओसवियपाहुडे ॥

(सूत्र ७)

५१९७. पंडादी पडिकुद्धा, छव्विह कप्पम्मि मा विदित्तेवं।

अविणीयमादितितयं, पवादए एस संबंधो ॥

षड्विध सचित्त द्रव्यकल्प में पंडक आदि तीन प्रतिक्रुष्ट हैं यह जानकर अविनीत, विगयप्रतिबद्ध, कलह को उपशांत न करने वाला—इन तीनों को वाचना न दे, इसलिए प्रस्तुत सूत्र का आरंभ है। यह संबंध है।

५१९८. सिक्खावणं च मोत्तुं, अविणियमादीण सेसगा ठाणा।

णेगंता पडिसिद्धा, अयमपरो होइ कप्पो उ ॥

अविनीत आदि तीनों को ग्रहणशिक्षा को छोड़कर शेष स्थान एकान्ततः प्रतिषिद्ध नहीं हैं। यह संबंध का दूसरा कल्प—प्रकार है।

१. पंचक यह हैं—मुंडन, शिक्षण, उपस्थापन, संभुंजन, संवास।

५१९९. विगइ अविणीए लहुगा,

पाहुड गुरुगा य दोस आणादी।

सो य इयरे य चत्ता,

बितियं अन्धानमादीसु॥

विकृतिप्रतिबद्ध अविनीत को वाचना देने पर चतुर्लघु, कलह को अनुपशांत करने वाले को वाचना देने पर चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं। वह और इतर मुनि परित्यक्त हो जाते हैं। विनय न करने वाला ज्ञानाचार की विराधना करता है, इसलिए वह परित्यक्त है, दूसरे उसको देखकर विनय से मुंह मोड़ लेते हैं, इसलिए परित्यक्त है। इसमें द्वितीयपद—अपवाद यह है—अध्व आदि में अविनीत आदि उपकार करते हैं अतः वे वाचनीय हैं।

५२००. अविणीयमादियारणं, तिण्ह वि भयणा उ अट्टिया होति।

पढमगभंगे सुत्तं, पढमं बितियं तु चरिमम्मि॥

अविनीत आदि तीनों पदों की अष्टभंगी होती है, जैसे—
१. अविनीत विकृतिप्रतिबद्ध अव्यवशमितकलह, २. अविनीत विकृतिप्रतिबद्ध व्यवशमितकलह यावत् आठवां भंग है—विनीत विकृति अप्रतिबद्ध व्यवशमितकलह। प्रथम भंग में पहला सूत्र और चरम अर्थात् आठवें भंग में दूसरा सूत्र आता है।

५२०१. इहरा वि ताव थब्भति, अविणीतो लंभितो किमु सुएण।

मा णट्ठो णस्सिहिती, खए व खारावसेओ तु॥

अविनीत व्यक्ति बिना ज्ञान दिए भी स्तब्ध होता है। यदि उसे श्रुत दे दिया जाए तो फिर कहना ही क्या? जो स्वयं नष्ट हो चुका है वह दूसरों को नष्ट न करे, क्षत पर कोई नमक न छिड़के, इसलिए अविनीत को वाचना नहीं देनी चाहिए।

५२०२. गोजूहस्स पडागा, सयं पयातस्स वड्ढयति वेगं।

दोसोदए य समणं, ण होइ न निदाणतुल्लं वा॥

गोयूथ स्वयं प्रस्थित है। अग्रगामी गोपाल जब उसको पताका दिखाता है तो उसका वेग बढ़ जाता है, यह श्रुति है। इसी प्रकार दुर्विनीत को ज्ञान देने से उसका अविनय बढ़ता ही है। रोग के तीव्रतर वेग में औषध शमनकारी नहीं होती और न वह निदान के अनुरूप ही होती हैं।

५२०३. विणयाहीया विज्जा, देंति फलं इह परे य लोगम्मि।

न फलंति विणयहीणा, सस्साणि व तोयहीणाइं॥

विनय से अधीत विद्या इहलोक और परलोक में फल देने वाली होती है। विनयहीन व्यक्तियों की विद्याएं फलवती नहीं होतीं, जैसे पानी के बिना धान नहीं फलते, खेती नहीं होती।

५२०४. रसलोलुताइ कोई, विगतिं ण मुयति दढो वि देहेणं।

अभंगेण व सगडं, न चलइ कोई विणा तीए॥

शरीर से हृष्टपुष्ट होने पर भी कोई मुनि रस की लोलुपतावश विकृतियों को नहीं छोड़ता, वह वाचना के लिए अयोग्य होता है। जैसे अभ्यंग के बिना शकट नहीं चलता वैसे ही कोई मुनि विकृति के बिना शरीर का निर्वाह नहीं कर सकता। यदि वह गुरु की आज्ञा से विकृति ग्रहण करता है तो वह वाचना के योग्य है।

५२०५. उस्सग्गं एगस्स वि, ओगाहिमगस्स कारणा कुणति।

गिण्हति व पडिग्गहए, विगतिं वर मे विसज्जिंता॥

कोई एक मुनि योगवाही है। वह अन्य कोई एक अवगाहिम लेने के कारण कायोत्सर्ग करता है अथवा वह अपने पात्र में विकृति ग्रहण करता है। वह सोचता है इस उपाय से भी मुझे विकृति प्राप्त होगी। इस प्रकार वह माया करता है।

५२०६. अतवो न होति जोगो,

ण य फलए इच्छियं फलं विज्जा।

अवि फलति विउलमगुणं,

साहणहीणा जहा विज्जा॥

श्रुत संबंधी व्यापार तप के बिना नहीं होता। तप के बिना श्रुतज्ञान रूप ग्रहण विद्या ईप्सित फलवाली नहीं होती, प्रत्युत विपुल अनर्थ फलित होता है। जैसे साधनहीन विद्या, बिना किसी उपचार के ग्रहण की जाने वाली विद्या उचितरूप में फलित नहीं होती।

५२०७. अप्पे वि पारमाणिं, अवराधे वयति खामियं तं च।

बहुसो उदीरयंतो, अविओसियपाहुडो स खलु॥

जो थोड़े से अपराध में भी पारमाणी—परम क्रोध समुद्घात को प्राप्त होता है, उस अपराध को उपशांत कर देने पर भी जो अनेक बार उसकी उदीरणा करता है वह 'अव्यवशमितकलह' होता है।

५२०८. दुविधो उ परिच्चाओ, इह चोदण कलह देवयच्छलणा।

परलोगम्मि य अफलं, खित्तम्मि व ऊसरे बीजं॥

ऐसे व्यक्ति को वाचना देने से दो प्रकार का परित्याग होता है—इहलोक का परित्याग और परलोक का परित्याग। इहलोक परित्याग—उसको यदि स्मारणा आदि से प्रेरित किया जाता है तो वह कलह करता है। अपात्र को वाचना देने से प्रान्तदेवता छल लेता है। परलोक परित्याग—ऐसे व्यक्ति को श्रुत देना अफलदायी होता है, जैसे ऊसर भूमि में बोया हुआ बीज निष्फल होता है।

५२०९. वाइज्जंति अपत्ता, हणुदाणि वयं पि एरिसा होमो।

इय एस परिच्चातो, इह-परलोगेऽणवत्था य॥

अपात्रों को वाचना दी जाती है तो दूसरे शिष्य भी सोचते

हैं, अहो! अब हम भी ऐसे ही बनें। इस प्रकार दुर्विनय में प्रवर्तमान उनके द्वारा इहलोक-परलोक-दोनों परित्यक्त होते हैं। इससे अनवस्था होती है। कोई विनय आदि नहीं करता।

५२१०. अद्धान-ओमादि उवग्गहम्मिं,

वाए अपत्तं पि तु वट्टमाणं।

बुच्छिज्जमाणम्मि व संथरे वी,

अण्णासतीए वि तु तं पि वाए॥

इनका अपवादपद यह है—मार्ग में, अवमौदर्य आदि परिस्थितियों में जो व्यक्ति गण के लिए उपकारी होता है, वह अपात्र हो तो भी वह वाचनीय है। उस आचार्य के पास कोई अपूर्वश्रुत है, पात्र शिष्य नहीं मिल रहा है, बिना संक्रामित किए वह अपूर्वश्रुत व्यवच्छिन्न हो जाएगा, तब न चाहते हुए भी अपात्र को वाचना दी जा सकती है। अथवा उसके सिवाय कोई अन्य शिष्य नहीं है, यह सोचकर उस अपात्रभूत शिष्य को भी वाचना दे।

दुसण्णप्प-सुसण्णप्प-पदं

तओ दुस्सण्णप्पा पण्णत्ता, तं

जहा—दुट्ठे मूढे वुग्गाहिए॥

(सूत्र ८)

५२११. सम्मत्ते वि अजोग्गा,

किमु दिक्खण-वायणासु दुट्ठादी।

दुस्सन्नप्पारंभो,

मा मोह परिस्समो होज्जा॥

दुष्ट, मूढ़ और व्युद्ग्राहित—ये तीनों सम्यक्त्व ग्रहण के लिए भी अयोग्य होते हैं तो प्रव्रज्या, वाचना के योग्य कैसे हो सकते हैं? इसलिए उनके प्रज्ञापन में प्रज्ञापक का परिश्रम निष्फल न हो, इसलिए दुःसंज्ञाप्य सूत्र का आरंभ किया जाता है।

५२१२. दुस्सन्नप्पो तिविहो, दुट्ठाती दुट्ठो वण्णितो पुव्विं।

मूढस्स य निक्खेवो, अट्ठविहो होइ कायव्वो॥

दुःसंज्ञाप्य तीन होते हैं—दुष्ट, मूढ़ और व्युद्ग्राहित। दुष्ट का वर्णन पूर्वसूत्रों में किया जा चुका है। मूढ़ के आठ प्रकार का निक्षेप है।

५२१३. दुट्ठे मूढे वुग्गाहिए य भयणा उ अट्ठिया होइ।

पढमगभंगे सुत्तं, पढमं बिइयं तु चरिमम्मि॥

१-४. दृष्टान्त के लिए देखें कथा परिशिष्ट, नं. १२०-१२३।

दुष्ट, मूढ़ और व्युद्ग्राहित—इन तीन पदों की अष्टिका भजना होती है, आठ भंग होते हैं। प्रथम भंग में प्रथम सूत्र तथा चरम भंग (आठवें भंग में) दूसरा सूत्र आता है।

५२१४. दव्व दिसि खेत्त काले, गणणा सारिक्ख अभिभवे वेदे।

वुग्गाहणमन्नाणे, कसाय मत्ते य मूढपदा॥

मूढ़ पद के आठ निक्षेप ये हैं—द्रव्यमूढ़, दिग्मूढ़, क्षेत्रमूढ़, कालमूढ़, गणनामूढ़, सादृश्यमूढ़, अभिभवमूढ़ और वेदमूढ़। व्युद्ग्राहणामूढ़, अज्ञान (मिथ्याज्ञान) मूढ़, कषायमूढ़, मत्तमूढ़—ये भी मूढ़पद होते हैं।

५२१५. धूमादी बाहिरतो, अंतो धत्तूरगादिणा दव्वे।

जो दव्वं व ण जाणति, घट्टिगावोद्धो व्व दिट्ठं पि॥

जो बाह्य अथवा आभ्यन्तर द्रव्य में मोहित होता है वह है द्रव्यमूढ़। जो बाह्य अर्थात् धूम आदि द्रव्य से आकुलित होकर जो मोहित होता है, जो अभ्यन्तर धत्तूर-कोद्रव आदि के भोग से आकुलित होता है, वह है द्रव्यमूढ़। अथवा जो पूर्वदृष्ट द्रव्य को कालान्तर में नहीं जानता वह है द्रव्यमूढ़। यहां घटिकावोद्ध नाम के वणिक का दृष्टांत है—

५२१६. दिसिमूढो पुव्वाऽवर, मण्णति खेत्ते तु खेत्तवच्चासं।

दिव-रातिविवच्चासो, काले पिंडारदिट्ठतो॥

दिग्मूढ़ पुरुष दिशाओं में मूढ़ होता है। वह दिशाओं को विपरीत समझता है—पूर्व को पश्चिम और पश्चिम को पूर्व। क्षेत्रमूढ़—क्षेत्र को नहीं जानता अथवा विपरीत जानता है। कालमूढ़—रात को दिन और दिन को रात मानता है। यहां पिंडार का दृष्टांत है—

५२१७. ऊणाधिय मन्नंतो, उट्ठारूढो व गणणतो मूढो।

सारिक्ख थाणु पुरिसो, कुडुंबिसंगामदिट्ठतो॥

गणनामूढ़ जैसे ऊंट पर चढ़ा हुआ पुरुष गिनते समय कम या अधिक गिनता है।^३ सादृश्यमूढ़—जैसे स्थाणु को पुरुष मानता है। इसमें कुटुम्बी—महत्तर और सेनापति के संग्राम का दृष्टांत है।^४

५२१८. अभिभूतो सम्मुज्झति,

सत्थ-ऽग्गी-वादि-सावयादीहिं।

अब्भुदय अणंगरती,

वेदम्मि तु रायदिट्ठतो॥

शस्त्र, अग्नि, वादी या श्वापदों आदि से अभिभूत होने पर जो सम्मोहित होता है वह है—अभिभवमूढ़। जो अभ्युदय अर्थात् प्रबल वेदोदय के कारण अनंगक्रीड़ा करता है वह है वेदमूढ़। यहां राजा का दृष्टांत है।

५२१९. राया य खंतियाए, वणि महिलाए कुला कुडुंबिम्मि।
दीवे य पंचसेले, अंधलग सुवण्णकारे य॥

राजा की स्वमाता में अनुरक्ति—यह वेदमूढ़ का दृष्टांत है। वणिक द्वारा अपनी भार्या को न पहचान पाना द्रव्यमूढ़, सेनापति और महत्तर—दोनों कुटुम्बियों के कुल सादृश्यमूढ़, द्वीपजात पुरुष, पंचशैल, अंधलक और स्वर्णकार—ये चारों व्युद्ग्राहणामूढ़ के दृष्टांत हैं। इनका विस्तार आगे की गाथाओं में।

५२२०. बालस्स अच्छिरोगे, सागारिय देवि संफुसे तुसिणी।
उभय चियत्तऽभिसेमे, ण ठाति वुत्तो वि मंतीहिं॥

५२२१. छोदूणऽणाहमडयं, झामित्तु घरं पतिम्मि उ पउत्थे।
धुत्त हरणुञ्ज पति अट्टि गंग कहिते य सहहणा॥

५२२२. सेणावतिस्स सरिसो,
वणितो गामिल्लतो णिओ पल्लिं।

णाहं ति रणपिसाई,

घरे वि दहो ति णेच्छंति॥

बालक राजकुमार अनंग अक्षिरोग से पीड़ित था। वह निरंतर रोता था। एक बार रानी ने उसकी जननेन्द्रिय का स्पर्श किया और उसने रोना बंद कर दिया। दोनों रानी और कुमार के लिए विषय सेवन प्रीतिकर था। वह बालक मां के साथ प्रतिसेवना करने लगा। मंत्रियों द्वारा कहने पर भी वह उपरत नहीं हुआ।

पति के प्रस्थित होने पर पत्नी ने घर को जलाकर, उसमें एक अनाथ व्यक्ति के शव को निक्षिप्त कर दिया। एक धूर्त व्यक्ति ने उसका अपहरण कर गंगातट पर चला गया। पति घर आया। जले हुए घर को देखा। सोचा, पत्नी जलकर मर गई है। उसने उस दग्ध अनाथ व्यक्ति की हड्डियों को पत्नी की हड्डियां मान उन्हें एकत्रित कर गंगा में प्रवाहित करने ले गया। पत्नी ने सेठ को पहचान लिया। पूरी बात बताने पर सेठ को विश्वास।

सेनापति के सदृश गांव का महत्तर। दोनों में संग्राम। चोर ने सेनापति को मार डाला। चोरों ने महत्तर को चोर सेनापति मानकर पल्ली में ले गए। महत्तर ने कहा—मैं चोर सेनापति नहीं हूं। चोरों ने सोचा—यह रणपिशाचकी है। महत्तर घर गया। घर वालों ने भी वह 'मर गया' यह सोचकर उसे स्वीकार नहीं किया।

५२२३. पोतविवत्ती आवण्णसत्त फलएण माहिया दीवं।

सुतजम्म वट्ठि भोगा, वुग्गाहण णाववणियाऽऽया॥

एक पोतवणिक अपनी गर्भिणी पत्नी को साथ लेकर

समुद्र यात्रा में गया। समुद्र के मध्य प्रवहण टूट गया। वणिक समुद्र में मर गया। वणिक पत्नी एक फलक के सहारे एक द्वीप में गई। पुत्र का प्रसव किया। पुत्र बड़ा हुआ। वह उसके साथ भोग भोगने लगी। उसे व्युद्ग्राहित कर दिया। कालान्तर में अन्य पोतवणिक वहां आए। उसे समझाया। ऐसा व्यक्ति अप्रज्ञापनीय होता है।^१

५२२४. पुब्बिं वुग्गाहिया केई, णरा पंडियमाणिणो।
णिच्छंति कारणं किंची, दीवजाते जहा नरे॥

पहले व्युद्ग्राहित पंडितमानी लोग कुछ भी कारण सुनना नहीं चाहते जैसे द्वीप में उत्पन्न मनुष्य।

५२२५. चंपा अणंगसेणो, पंचऽच्छर धेर णयण दुम वलए।
विहपास णयण सावग, इंगिणिमरणे य उववातो॥

चंपा नगरी में अनंगसेन नाम का स्वर्णकार रहता था। वह पंचशैल द्वीप वास्तव्य अप्सराओं से व्युद्ग्राहित। स्थविर द्वारा वहां ले जाया गया। द्रुम—वटवृक्ष। स्थविर का बलय में मरण। भारण्डपक्षियों द्वारा ले जाया जाना। श्रावक द्वारा इंगिनीमरण स्वीकार। पंचशैलद्वीप में उपपात।

५२२६. अंधलगभत्त पत्थिव,

किमिच्छ सेज्जऽण्ण धुत्त वंचणता।

अंधलभत्तो देसो,

पव्वयसंचाडणा हरणा॥

कोई पार्थिव अंधभक्त था। वह दूसरा जो कुछ चाहता उसको शय्या—अन्न आदि का दान करता था। एक धूर्त ने उसको ठगने की बुद्धि से कहा—एक अंधलभक्त देश है। मैं वहां तुमको ले जाऊंगा। यह कहकर एक पर्वत पर उनको एकत्रित किया। परस्पर एक-दूसरे का हाथ पकड़ाकर वहां उनको घुमाया। फिर वह उनके धन का हरण कर भाग गया।^२

५२२७. लोभेण मोरगाणं, भच्चग! छेज्जेज्ज मा हु ते कन्ना।
छादेमि णं तंबेणं, जति पत्तियसे ण लोगस्स॥

एक स्वर्णकार ने एक गरीब आदमी के कानों में असली स्वर्ण के कुंडल देखे। लोभाविष्ट हो वह उससे बोला—भागिनेय! कुंडलों के लोभ से कोई तुम्हारे कान न काट ले। यदि तुम लोगों पर विश्वास न करो तो मैं इन कुंडलों को तांबे—पीतल से आच्छादित कर देता हूं।^३

५२२८. जो इत्थं भूतत्थो, तमहं जाणे कलायमामो य।
वुग्गाहितो न जाणति, हितएहिं हितं पि भण्णंतो॥

यहां जो यथार्थ है उसको मैं तथा मेरा कलाद—स्वर्णकार—हम दोनों जानते हैं। किन्तु यह व्यक्ति जो स्वर्णकार से

व्युद्ग्राहित है यह हितकारी व्यक्तियों के हितयुक्त वचनों को भी नहीं जानता।

५२२९. रायकुमारो वणितो, एते मूढा कुला य ते दो वि।
वुग्गाहिया य दीवे, सेलंधल-भच्चए चव॥

उपरोक्त कथानकों में कौन मूढ़ है और कौन व्युद्ग्राहित—यह ज्ञातव्य है—माता में आसक्त राजकुमार, घटिकावोद्राख्य नाम का वणिक, सेनापति और महत्तर के कुल—ये मूढ़ के उदाहरण हैं। द्वीपजात, पंचशैलस्वर्णकार, भच्चक—स्वर्णकार का भागिनेय—ये व्युद्ग्राहित के उदाहरण हैं।

५२३०. मोत्तूण वेवमूढं, अप्पडिसिद्धा उ सेसका मूढा।
वुग्गाहिता य दुद्धा, पडिसिद्धा कारणं मोत्तुं॥

वेदमूढ़ को छोड़कर, शेष जो मूढ़ हैं—द्रव्यमूढ़, क्षेत्रमूढ़ आदि—ये प्रव्रज्या के लिए अप्रतिषिद्ध हैं, इनको दीक्षा दी जा सकती है। जो व्युद्ग्राहित और दुष्ट—कषायदुष्ट आदि हैं, कोई कारण को छोड़कर प्रतिषिद्ध हैं। कारण होने पर उन्हें प्रव्रजित किया जा सकता है।

५२३१. जं तेहिं अभिग्गहियं, आमरणंताए तं न मुंचंति।
सम्मत्तं पि ण लग्गति, तेसिं कत्तो चरित्तगुणा॥

व्युद्ग्राहित आदि व्यक्तियों ने जो स्वीकार कर लिया, उसे वे आमरणान्त नहीं छोड़ते। इस प्रकार उनमें सम्यक्त्व भी नहीं होता तो फिर उनमें चरित्रगुण कैसे हो सकते हैं?

५२३२. सोय-सुय-घोररणमुह-दारभरण-पेयकिच्चमइएसु ।
सग्गेसु देवपूयण-चिरजीवण-दाणदिट्ठेसु॥

५२३३. इच्चेवमाइलोइयकुस्सुइवुग्गाहणाकुहियकत्ता ।
फुडमवि दाइज्जंतं, गिण्हंति न कारणं केई॥

कुछेक व्यक्तियों के अंतःकरण स्वर्ग आदि से भावित होते हैं। वे मानते हैं—शौच रखने से, पुत्र को उत्पन्न करने से, घोरसंग्राम के मोर्चे पर जाने से, धर्मपत्नी का पोषण करने से, पिंड दान आदि प्रेत्यकर्म से, वैश्वानरदेव की पूजा करने से, चन्द्रसहस्र आदि रूप चिरकाल तक जीने से, गाय और जमीन का दान देने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। इस प्रकार की लौकिक कुश्रुति की व्युद्ग्राहणा से कुथित कान वाले वे लोग स्फुटरूप से दृश्यमान कारण को भी स्वीकार नहीं करते।

तओ ससण्णप्पा पण्णत्ता, तं
जहा—अदुट्ठे अमूढे अवुग्गाहिए॥

(सूत्र ९)

५२३४. कामं विपक्खसिद्धी, अत्थावत्तीइ होतऽवुत्ता वि।
तह वि विवक्खो वुच्चति, कालियसुयधम्मता एसा॥

यह अनुमत है कि विपक्ष के अर्थ की सिद्धि बिना कहे भी, अर्थापत्ति से हो जाती है, फिर भी विपक्ष की बात बताई है। यह कालिकश्रुत की धर्मता है, स्वभाव है, शैली है कि अर्थापत्ति से उपलब्ध अर्थ भी साक्षात् कहा जाता है।

५२३५. ववहार णऽत्थवत्ती, अणप्पिण्ण य चउत्थभासाए।
मूढणय अगमितेण य, कालेण य कालियं नेयं॥

व्यवहारनय के मत से कालिकश्रुत में अर्थापत्ति नहीं होती। कालिकश्रुत अनर्पित—विषय विभाग रहित होता है। यह चौथी भाषा—असत्यामृषा में निबद्ध होता है। कालिकश्रुत मूढनय अर्थात् नयविभाग से अव्यवस्थापित नय वाले होते हैं, तथा जो गमिक—सदृशपाठ वाले नहीं होते तथा जो काल से प्रतिबद्ध होते हैं।

गिलायमाण-पदं

निग्गंथिं च णं गिलायमाणिं पिता वा
भाया वा पुत्तो वा पलिस्सएज्जा, तं च
निग्गंथी साइज्जेज्जा, मेहुण-
पडिसेवणपत्ता आवज्जइ चाउम्मासियं
परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं॥

(सूत्र १०)

निग्गंथं च णं गिलायमाणं माया वा
भगिणी वा धूया वा पलिस्सएज्जा, तं च
निग्गंथे साइज्जेज्जा, मेहुणपडिसेवणपत्ते
आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं
अणुग्घाइयं॥

(सूत्र ११)

५२३६. उवहयभावं दव्वं, सच्चित्तं इति णिवारियं सुत्ते।
भावाऽसुभसंवरणं, गिलाणसुत्ते वि जोगोऽयं॥

सचित्त द्रव्य (मनुष्य आदि) जो उपहतभाव—दूषित परिणाम वाला है, उसकी प्रव्रज्या की पूर्वसूत्र में वर्जना की है। प्रस्तुत ग्लानसूत्र में भी अशुभ भावों के संवरण की बात है। यह योग है, संबंध है।

५२३७. कामं पुरिसादीया, धम्मा सुत्ते विवज्जतो तह वि।
दुब्बल-चलस्सभावा, जेणित्थी तो कता पढमं॥

यह अनुमत है कि धर्म पुरुषमुख्य होते हैं। फिर भी सूत्र में विपर्यास किया गया है। स्त्री धृतिदुर्बल और चंचल

स्वभाववाली होती है, इसलिए उसका निर्देश पहले किया गया है।

५२३८. वइणि त्ति णवरि णेम्मं,

अण्णा वि ण कप्पती सुविहियाणं।

अवि पसुजाती आलिंगिउं पि

किमु ता पलिस्सइउं॥

प्रस्तुत सूत्र में जो व्रतिनी-निर्ग्रन्थी का उल्लेख किया गया है, वह 'नेम' चिह्न-उपलक्षण मात्र है। सुविहित मुनियों को दूसरी स्त्री का आलिंगन करना भी नहीं कल्पता। इसीको स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि पशुजाति की स्त्री का भी आलिंगन करना नहीं कल्पता तो फिर मनुष्य-स्त्री के परिष्वंग की तो बात ही क्या?

५२३९. निग्गंथो निग्गंथिं, इत्थि गिहत्थं च संजयं चैव।

पलिसयमाणे गुरुगा, दो लहुगा आणमादीणि॥

निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थी का आलिंगन करता है तो चतुर्गुरु-तप और काल से गुरु, स्त्री का आलिंगन करता है तो वही प्रायश्चित्त तपस्या से गुरु, गृहस्थ का आलिंगन करता है तो चतुर्लघु काल से गुरु, संयत का आलिंगन करता है तो चतुर्लघु तप और काल से लघु। सर्वत्र आज्ञाभंग आदि दूषण होते हैं।

५२४०. निग्गंथी थी गुरुगा,

गिहि पासंडि-समणे य चउलहुगा।

दोहि गुरु तवगुरुगा,

कालगुरु दोहि वी लहुगा॥

निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थी का आलिंगन करता है तो चतुर्गुरु दोनों-तप और काल से गुरु, स्त्री का आलिंगन करने पर वही दोनों से गुरु, गृहस्थ का आलिंगन करने पर चतुर्लघु कालगुरु, पाषंडी पुरुष या श्रमण का आलिंगन करने पर चतुर्लघु, दोनों से लघु।

५२४१. मिच्छत्ते उड्डाहो, विराहणा फास भावसंबंधो।

आतंको दोणह भवे, गिहिकरणे पच्छकम्मं च॥

निर्ग्रन्थ को निर्ग्रन्थी का आलिंगन करते देखकर मिथ्यात्व का प्रसार होता है, प्रवचन का उड्डाह होता है, विराधना होती है, दोनों के परस्पर स्पर्श से भाव संबंध स्थापित हो जाता है। दोनों के कोई रोग हो तो एक दूसरे में संक्रामित हो जाता है। गृहस्थ का आलिंगन करने से पश्चात्कर्म का दोष हो सकता है।

५२४२. कोढ खए कच्छु जरे, अवरोप्पर संकमंते चउभंगो।

इत्थीणाति सुहीण य अचियत्तं गिणहणादीया॥

कुष्ठ, खांसी, खुजली, ज्वर आदि रोग परस्पर संक्रामित होते हैं। इसकी चतुर्भंगी यह है-

१. निर्ग्रन्थ संबंधी रोग निर्ग्रन्थी में संक्रामित हो जाते हैं।

२. निर्ग्रन्थी संबंधी रोग निर्ग्रन्थ में संक्रामित हो जाते हैं।

३. दोनों के रोग एक दूसरे में संक्रामित हो जाते हैं।

४. दोनों के रोग एक दूसरे में संक्रामित नहीं होते।

स्त्री के जातिजनों या सुहृद् व्यक्तियों के मन में यह अप्रीति उत्पन्न होती है कि यह श्रमण हमारी संबंधीनी स्त्री का इस प्रकार आलिंगन कर रहा है। वे उस श्रमण का ग्रहण-आकर्षण आदि करते हैं।

५२४३. गिहिएसु पच्छकम्मं भंगो ते चैव रोगमादीया।

संजय असंखडादी, भुत्ता-ऽभुत्ते य गमणादी॥

गृहस्थों के साथ आलिंगन करने से पश्चात्कर्म दोष होता है, वे स्नान आदि करते हैं। स्त्री के साथ आलिंगन करने से व्रतों की विराधना होती है, रोग आदि का संक्रमण होता है। संयत के साथ आलिंगन करने से कलह आदि दोष होते हैं। यह देखकर भुक्तभोगी तथा अभुक्तभोगी का प्रतिगमन हो सकता है।

५२४४. एमेव गिलाणाए, सुत्तऽफलं कारणे तु जयणाए।

कारणे एग गिलाणा, गिहिकुल पंथे व पत्ता वा॥

इसी प्रकार ग्लान संयती का आलिंगन करने पर वे ही दोष होते हैं। शिष्य ने कहा-यदि ऐसा हो तो फिर सूत्र अफल हो जाएगा। आचार्य ने कहा-कारण में यतनापूर्वक आलिंगन करने में सूत्र का अवतरण है। कारण में कोई संयती अकेली हो गई। वह गृहस्थकुल की निश्रा में रह रही है अथवा उसके निजी व्यक्ति-बहिन आदि उसके पास दीक्षित हो गए। वह मार्ग में या विवक्षित गांव को प्राप्त कर ग्लान हो गई।

५२४५. माता भगिणी धूता, तधेव सण्णातिगा य सद्धी य।

गारत्थि कुलिंगी वा, असोय सोए य जयणाए॥

५२४६. एयासिं असतीए, अगार सण्णाय णालबद्धो य।

समणो वऽनालबद्धो, तस्सऽसति गिही अवयतुल्लो॥

उस समय उस संयती की माता, भगिनी या पुत्री (जो दीक्षित है) उसको उठाती है, सुलाती है अथवा उसकी भानजी, पौत्री आदि या कोई श्राविका अथवा स्त्री अथवा कुलिंगिनी सारा कार्य करती है। उनमें भी प्राथमिकता है अशौचवादिनी को और फिर शौचवादिनी को।-इन स्त्रियों के अभाव में जो गृहस्थ उस संयती का स्वजन हो, नालबद्ध-पिता, भ्राता, पुत्र आदि हो वह उसको उठाना-बिठाना आदि करता है। उनके अभाव में नालबद्ध श्रमण उसके अभाव में असमानवयवाला अनालबद्ध श्रमण भी वे सारे कार्य करता है।

५२४७. दोन्नि वि अनालबद्धा उ, जुज्जंती एत्थ कारणे।

किन्ही कण्णा विमज्झा वा, एमेव पुरिसेसु वि॥

नालबद्ध के अभाव में दोनों—स्त्री पुरुष जो अनालबद्ध हों वे उस संयती के कार्य करते हैं। उनमें भी प्राथमिकता है—स्थविरा को, उसके अभाव में कन्यका, उसके अभाव में मध्यमा। इसी प्रकार पुरुषों में भी।

५२४८. असईय माउवग्गे, पिता व भाता व से करेज्जाहि।

दोण्ह वि तेसिं करणं, जति पंथे तेण जतणाए॥

मातृवर्ग अर्थात् स्त्रियों के अभाव में उस संयती के पिता, भ्राता उसको उठाना आदि कार्य करते हैं। दोनों को यह करणीय होता है। यदि मार्ग में वह संयती ग्लान हो जाती है तो यतनापूर्वक (गोपालकंचुकतिरोधानरूप से?) उसका परिकर्म किया जाता है।

५२४९. थी पुरिस णालऽणाले,

सपक्ख परपक्ख सोयऽसोये य।

आगाढम्मि उ कज्जे,

करेति सव्वेहि जतणाए॥

आगाढ़ कार्य (आत्यन्तिक ग्लानत्व में) स्त्री या पुरुष, नालबद्ध या अनालबद्ध, स्वपक्ष अथवा परपक्ष, शौचवादी या अशौचवादी—ये सभी यतनापूर्वक उसका परिकर्म करते हैं।

५२५०. पंथम्मि अपंथम्मि व,

अण्णस्सऽसती सती वऽकुणमाणो।

अंतरियकंचुकादी,

स च्विय जतणा तु पुव्वुत्ता॥

मार्ग में या अमार्ग में दूसरे के अभाव में या कहने पर भी जो करना नहीं चाहता तो स्वयं गोपालकंचुक आदि से अंतरित होकर करता है। यहां पूर्वोक्त यतना (गाया ३७६८) के अनुसार जान लेनी चाहिए।

५२५१. गच्छम्मि पिता पुत्ता, भाता वा अज्जगो व णत्तू वा।

एतेसिं असतीए, तिविहा वि करेति जयणाए॥

गच्छ में यदि पिता, पुत्र, भ्राता, आर्यक—दादा, नाना, पौत्र, हों तो ये उस संयती का परिकर्म करें। इनके अभाव में तीनों—स्थविर, मध्यम और तरुण मुनि यतनापूर्वक उसका परिकर्म करें।

५२५२. दोण्णि वि वयंति पंथं, एक्कतरा दोण्णि वा न वचंती।

तत्थ वि स एव जतणा, जा वुत्ता णायगादीया॥

संयती दोनों अर्थात् निजक और अनिजक के साथ मार्ग में जा रही हो अथवा किन्हीं एक के साथ जा रही हो अथवा अकेली जा रही हो—ये तीन प्रकार हैं। यहां पूर्वोक्त यतना ज्ञातक आदि के क्रम से जाननी चाहिए।

५२५३. एवं पि कीरमाणे, सातिज्जणे चउगुरू ततो पुच्छा।

तम्मि अवत्थाय भवे, तहिंगं च भवे उदाहरणं॥

इस प्रकार यतना दिए जाने पर भी यदि वह निर्ग्रन्थी पुरुष स्पर्श का आस्वादन करती है तो उसे चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है। अनन्तर शिष्य पूछता है—उस ग्लान अवस्था में भी मैथुनाभिलाषा होती है, इस पर श्रद्धा नहीं होती। इस अवस्था का यह उदाहरण है।

५२५४. कुलवंसम्मि पहीणे, सस-भसएहिं च होइ आहरणं।

सुकुमालियपव्वज्जा, सपच्चवाता य फासेणं॥

यहां शशक-मशक का उदाहरण है। सारा कुल-वंश नष्ट हो जाने पर सुकुमारिका को उन दोनों ने प्रव्रज्या दी। वह अत्यन्त रूपवती और सुकुमार स्पर्शवाली थी। ये दोनों—रूप और स्पर्श आपत्तिजनक हो गए।

५२५५. जियसत्तुनरवरिंदस्स अंगया सस-भसा य सुकुमाली।

धम्मं जिणपण्णत्ते, कुमारगा चव पव्वइता॥

५२५६. तरुणाइत्ते निच्चं, उवस्सए सेसिगाण रक्खट्ठा।

गणिणि गुरु-भाउकहणं, पिहुवसए हिंइए एक्को॥

५२५७. इक्खागा दसभागं, सव्वे वि य वण्हिणो उ छब्भागं।

अम्मं पुण आयरिया, अद्धं अद्धेण विभयंति॥

५२५८. हत-महित-विप्परद्धे, वण्हिकुमारेहिं तुरुमिणीनगरे।

किं काहिति हिंइंतो, पच्छा ससतो व भसतो वा॥

५२५९. भायऽणुकंप परिण्णा, समोहयं एगो भंडगं बितितो।

आसत्थ वणिय गहणं, भाउग सारिक्ख दिक्खा य॥

वाराणसी नगरी का राजा जितशत्रु था। उसकी पुत्री सुकुमालिका नाम की राजकुमारी थी। उसके शशक और मशक—ये दो भाई थे। कालान्तर में दोनों भाई जिनप्रज्ञप्त धर्म में प्रव्रजित हो गए। उन्होंने अपनी बहिन को भी प्रव्रजित कर दिया। वे तुरमिणी नगरी में गए और उन्होंने साध्वी सुकुमालिका को महत्तरिका को सौंप दी। वह अत्यंत रूपवती थी। वह जब भी भिक्षाचर्या के लिए या विचारभूमी में जाती तब-तब तरुण उसके पीछे-पीछे जाते। जब वह वसति में प्रवेश कर जाती तब भी युवक वसति में जाकर बैठ जाते। निर्ग्रन्थीयां प्रत्युपेक्षण आदि नहीं कर पाती थी। महत्तरिका ने गुरु से कहा। गुरु ने दोनों भाई मुनियों से कहा—तुम सुकुमालिका का संरक्षण करो। वे उसे पृथक् उपाश्रय में ले गए। एक भाई भिक्षा के लिए जाता। दूसरा भाई प्रयत्नपूर्वक उसका संरक्षण करता। प्रश्न होता है कि उन्होंने उसकी ऐसी रक्षा क्यों की? एक प्राचीन कथन है—इक्ष्वाकु राजा अपनी प्रजा का सम्यक् पालन करते हुए अथवा अपालन करते हुए क्रमशः उनके पुण्य-पाप का दसवां भाग और वृष्णी—हरिवंश

राजा इसी प्रकार षड्भाग प्राप्त करते हैं। हमारे आचार्य साधु-साध्वी का संरक्षण करते हुए उनके पुण्य-पाप का आधा-आधा विभाग लेते हैं। इसलिए वे दोनों सुकुमालिका का संरक्षण करते थे।

शशक-मशक यादवकुमार थे। उन्होंने तुरुमिणी नगरी में उपद्रवकारी तरुणों को हत-विहत किया, मथित और विप्रारब्ध किया—खर, परुष वचनों से विप्रतारित किया। इसलिए प्रभूत लोग विरोध में हो गए। शशक-मशक को भक्तपान मिलना कठिन हो गया।

तब सुकुमालिका ने भाइयों की अनुकंपा के वशीभूत होकर भक्त-प्रत्याख्यान अनशन कर लिया। वह मरण-समुद्घात से आहत हो गई लगता है यह कालगत हो गई, यह सोचकर एक भाई ने उसके भांड उठाए और दूसरे ने सुकुमालिका को उठाया। जाते हुए उसको पुरुषस्पर्श का अनुभव हुआ। रात में ठंडी हवा से वह सचेतन हुई। एक सार्थवाह पुत्र ने उसे देखा। दोनों एक दूसरे में अनुरक्त हो गए। वह उसकी भार्या के रूप हो गई। एक बार भाईयों ने गोचरी के लिए घूमते हुए उसे देखा। वह पुनः प्रव्रजित हो गई।

५२६०. एसेव गमो नियमा, निग्गंथीणं पि होति नायव्वो।

तासिं कुल पव्वज्जा, भत्तपरिण्णा य भातुम्भि॥

निर्ग्रन्थ का आलिङ्गन करने वाली निर्ग्रन्थी के लिए नियमतः यही विधान है। किसी निर्ग्रन्थी का कुल-भाई प्रव्रजित हुआ। उसने भी कालक्रम से भक्तपरिज्ञा ग्रहण कर ली।

५२६१. विउलकुले पव्वइते, कप्पड्डुग किट्ठियकालकरणं च।

जोव्वण तरुणी पेल्लण, भगिणी सारक्खणा वीसुं॥

५२६२. सो चेव य पडियरणे,

गमतो जुवतिजण वारण परिण्णा।

कालगतो त्ति समोहतो,

उज्झण गणिया पुरिसवेसी॥

एक नगर में एक विपुल कुल से दो सगी बहिनों ने प्रव्रज्या ग्रहण की। कालान्तर में पूरा कुल प्रक्षीण हो गया। एक बालक बचा। एक बार दोनों आर्थिकाएं अपने परिवार को दर्शन देने वहां आईं। उन्होंने माता आदि समस्तकुटुम्ब के कालकरण के समाचार सुने। तब उन्होंने अपने बालक भाई को प्रव्रज्या देकर गुरु को सौंपा। वह यौवन को प्राप्त हुआ। वह अत्यन्त रूपवान् और आकर्षक था। तरुण युवतियों द्वारा वह सताया जाने लगा। तब गुरु की आज्ञा से दोनों भगिनी आर्थिकाओं ने एक पृथक् उपाश्रय में भाई मुनि को ठहरा कर स्वयं उनकी रक्षा करने लगीं।

प्रतिचरण (रक्षण) में सुकुमालिकावत् गम जानना चाहिए। युवतिजन का वारण करने में भगिनीद्वय का कष्ट देखकर मुनि भाई ने भक्तपरिज्ञा अनशन कर दिया। उसको समवहत और कालगत जानकर उसका परिष्ठापन कर दिया। उस समय स्त्रीस्पर्श का अनुभव हुआ। पुनः चैतन्य प्राप्त कर लिया। यह देखकर एक पुरुषद्वेषिणी गणिका ने उसे अपने पास रख लिया। वह उसका पति हो गया। कालान्तर में दोनों भगिनी आर्थिकाएं वहां आईं और भाई को पहचान कर पुनः उसे प्रव्रजित कर दिया।

कालातिक्रंत-भोयण-पदं

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पढमाए पोरिसीए पडिग्गाहिता पच्छिमं पोरिसिं उवाइणावेत्तए। से य आहच्च उवाइणाविए सिया, तं नो अप्पणा भुंजेज्जा, नो अण्णेसिं अणुप्पदेज्जा, एगंते बहुफासुए थंडिले पडिलेहिता पमज्जिता परिट्टवेयव्वे सिया। तं अप्पणा भुंजमाणे अण्णेसिं वा दलमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्टाणं उग्घाइयं॥

(सूत्र १२)

खेत्तातिक्रंत-भोयण पदं

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा परं अद्धजोयणमेराए उवाइणावित्तए। से य आहच्च उवाइणाविए सिया, तं नो अप्पणा भुंजेज्जा, नो अण्णेसिं अणुप्पदेज्जा, एगंते बहुफासुए थंडिले पडिलेहिता पमज्जिता परिट्टवेयव्वे सिया। तं अप्पणा भुंजमाणे अण्णेसिं वा दलमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्टाणं उग्घाइयं॥

(सूत्र १३)

५२६३. भावस्स उ अतियारो, मा होज्ज इती तु पत्थुते सुत्ते।
कालस्स य खेत्तस्स य, दुवे उ सुत्ता अणतियारे॥

भाव अर्थात् ब्रह्मव्रत के परिणाम का अतिचार-अतिक्रम न हो—यह अनन्तर दो सूत्रों में प्रतिपादित है। काल और क्षेत्र का अतिक्रम न हो, इसके लिए प्रस्तुत दो सूत्र हैं।

५२६४. बितियाउ पढम पुब्बिं, उवात्तिणे चउगुरुं च आणादी।
दोसा संचय संसत्त दीह साणे य गोणे य॥

५२६५. अगणि गिलाणुच्चारो, अब्भुद्धाणे य पाहुण गिरोधे।
सज्झाय विणय काइय, पयलंत पलोद्धणे पाणा॥

द्वितीय पौरुषी से प्रथम पौरुषी पूर्व है, प्रथमा से द्वितीया पाश्चात्य है। तृतीया से द्वितीया पूर्वा है, द्वितीया से तृतीया पाश्चात्य है। चतुर्थी से तृतीया पूर्वा है, तृतीया से चतुर्थी पाश्चात्य है। प्रथम पौरुषी से द्वितीय पौरुषी में अशन आदि का अतिक्रमण करने पर चतुर्गुरुक और आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं तथा संचय, प्राणियों से संसक्त, दीर्घजातीय-सांप आदि तथा कुत्ता तथा गाय आदि उसको खा सकते हैं। अग्नि प्रज्वलित हो जाने पर उस भारी पात्र को निकाला नहीं जा सकता, वह जल जाता है। ग्लान का वैयावृत्य नहीं होता। उच्चार आदि की बाधा होने से उसका विसर्जन नहीं होता उससे अनेक रोग होते हैं। गुरु या प्राघूर्णक आने पर अभ्युत्थान नहीं होता। भूतभाजन के धारण करने से गात्रनिरोध होता है। स्वाध्याय, विनय आदि की प्रस्थापना नहीं होती। कायिकी का व्युत्सर्जन नहीं होता। नींद आने पर पात्र लुढ़क जाता है। उससे प्लावित पानक आदि से प्राणियों का व्यापादन होता है।

५२६६. निस्संचया उ समणा, संचयि तु गिहीव होंति धारंता।
संसत्ते अणुवभोगो, दुक्खं च विगिंचिउं होति॥

श्रमण निःसंचय होते हैं। इसलिए वे भी यदि प्राप्त कर गृहस्थ की भांति धारण करते हैं तो वे भी संचय करने वाले हैं। चिरकाल तक संचित रहने से वह भोजन प्राणियों से संसक्त हो जाता है। उसका उपभोग कल्प्य नहीं होता। उसकी विगिंचना-परिष्ठापना कष्टकर होती है।

५२६७. एमेव सेसएसु वि, एगतर विराहणा उभयतो वि।
असमाधि विणयहाणी, तप्पच्चयनिज्जराए य॥

इसी प्रकार शेष द्वारों की भी यतना जाननी चाहिए। एगतर विराधना भाजन की होती है। उभय अर्थात् आत्मा और संयम की विराधना होती है। असमाधि, विनय की हानि तथा उससे होने वाली निर्जरा की भी हानि होती है।

५२६८. पच्छित्तपरूवणता, एतेसि ठवेंतए य जे दोसा।
गहितकरणे य दोसा, दोसा य परिद्वेंतस्स॥

५२६९. तम्हा उ जहिं गहितं, तहिं भुंजणे वज्जिया भवे दोसा।
एवं सोधि ण विज्जति, गहणे वि य पावती बितियं॥

इन संचय आदि की प्रायश्चित्त प्ररूपणा करनी चाहिए। भक्तपान को स्थापित करने के दोष, भक्तपान ग्रहण करने के पश्चात् कार्य करते समय होने वाले दोष तथा परिष्ठापन के दोष होते हैं उनका कथन करना चाहिए। जब इतने दोष होते हैं तो जिस पौरुषी में भक्तपान ग्रहण किया है, उसी प्रहर में उसका उपयोग कर लेना चाहिए। ऐसा करने पर पूर्वोक्त दोष नहीं होते। शिष्य ने कहा—इस प्रकार शोधि नहीं होती, क्योंकि भिक्षा ग्रहण करते-करते दूसरा प्रहर आ जाता है।

५२७०. एवं ता जिणकण्णे, गच्छम्मि चउत्थियाए जे दोसा।
इतरासि किण्ण होंती, दव्वे सेसम्मि जतणाए॥

आचार्य बोले—ऐसा तो जिनकल्पी मुनियों के लिए कहा है कि जिस प्रहर में भक्तपान लिया उसी प्रहर में उसे खा लेना चाहिए। गच्छवासी मुनियों के लिए तो यह विधान है कि यदि वे पहले प्रहर में ग्रहण कर चौथे प्रहर में उपभोग करते हैं तो उन पूर्वोक्त सभी दोषों को प्राप्त होते हैं। पुनः प्रश्न हुआ कि क्या दूसरे-तीसरे प्रहर में खाने पर वे दोष नहीं होते? आचार्य ने कहा—बचे हुए भक्तपान को यतनापूर्वक धारण करने से दोष नहीं होते।

५२७१. पडिलाभणा बहुविहा,

पढमाए कदाचि णासिमविणासी।

तत्थ विणासिं भुंजेऽजिण्णे

परिण्णे य इतरं पि॥

शिष्य ने पूछा—आहार आदि शेष क्यों रह जाता है? आचार्य बोले—कभी-कभी भक्ष्य-भोज्य द्रव्यों की प्रति-लाभना बहुत हो जाती है। क्वचिद् प्रथम प्रहर में विनाशी और अविनाशी भोज्य द्रव्य आ जाते हैं। विनाशी द्रव्य दूध आदि साधु खा जाते हैं। अजीर्ण आदि होने के कारण तथा प्रत्याख्यात द्रव्य के कारण अथवा अन्य कारण से भी द्रव्य शेष रह जाता है।

५२७२. जइ पोरिसित्तया तं, गमेंति तो सेसगाण ण विसज्जे।
अगमेंताऽजिण्णे वा, धरंति तं मत्तगादीसु॥

पौरुषियों का प्रत्याख्यान करने वाले मुनि पौरुषी व्यतीत हो जाने पर सारे द्रव्य का आहार कर लेते हैं तो उस द्रव्य को अन्य मुनियों को न दे। यदि वे सारा समाप्त न कर सकें तो अन्य प्रत्याख्यातियों को भी दिया जा सकता है। अजीर्ण आदि हो जाने पर उस बचे हुए अशन आदि को मात्रक में स्थापित कर रखा जाता है।

५२७३. तं काउ कोइ न तरइ, गिलाणमादीण दाउमच्चुण्हे।
नाउं व बहुं वियरइ, जहासमाहिं चरिमवज्जं॥

गर्मी के कारण अत्यंत आतप में जाकर ग्लान आदि के लिए उष्ण आहार आदि लाना संभव न हो तो आहार आदि रखा जा सकता है। अथवा यह जानकर कि भिक्षा बहुत आ गई है तो गुरु उसका वितरण कर देते हैं। प्रथम प्रहर में प्रास अशन आदि को यथासमाधि दूसरे-तीसरे प्रहर में काम में ले ले। चौथे प्रहर का वर्जन करे।

५२७४. संसज्जिमेसु छुम्भइ, गुलाइ लेवाडे इयरे लोणाई।
जं च गमिस्संति पुणो, एसेव य भुत्तसेसे वि॥

स्थापित आहार आदि की यतना-संसक्तियोग्य तथा लेपकृत द्रव्यों में (गोरस आदि द्रव्यों में) गुड़ आदि डाला जाता है, जिससे वे संसक्त न हों। इतर अर्थात् अलेपकृत द्रव्यों में लवण आदि का प्रक्षेप किया जाता है। मुनि थोड़े समय पश्चात् पुनः खायेंगे यह सोचकर-भुक्तशेष बचे हुए के धारण करने की यही विधि है।

५२७५. चोएइ धरिज्जंते, जइ दोसा गिण्हमाणि किन्न भवे।
उस्सग्ग वीसमंते, उब्भामादी उदिक्खंते॥

यहां शंका होती है कि क्या यदि भुक्तशेष को धारण करने के ये दोष हैं तो क्या भक्तपान ग्रहण करने में ये नहीं हैं? ये दोष होते ही हैं। कायोत्सर्ग करते समय भी बाहु-परितापन आदि दोष होते हैं तो विश्राम करते समय भी ये ही दोष होते हैं। उद्भ्रामक भिक्षा की प्रतीक्षा करने वाले के भी वे ही दोष होते हैं।

५२७६. एवं अवातवंसी, थूले वि कंहं ण पासह अवाये।
हंदि हु गिरंतरोऽयं, भरितो लोगो अवायाणं॥

जिज्ञासु कहता है-आप सूक्ष्म अपायों को भी देखते हैं तो फिर स्थूल अपायों (भिक्षाचर्या में होने वालों) को क्यों नहीं देखते? निश्चितरूप से आप देखें कि यह संसार निरंतर अपायों से भरा पड़ा है।

५२७७. भिक्खादि-वियारगते, दोसा पडिणीय-साणमादीया।
उप्पज्जंते जम्हा, ण हु लम्भा हिंडिउं तम्हा॥

भिक्षाचर्या में तथा विचार आदि भूमी के लिए गए हुए मुनि के प्रत्यनीक, श्वान, गाय आदि से अनेक दोष उत्पन्न होते हैं, इसलिए वह अधिक धूम नहीं सकता।

५२७८. अहवा आहारादी, ण चेव गिययं हवंति घेत्तव्वा।
णेवाऽऽहारेयव्वं, तो दोसा वज्जिया हंति॥

अथवा आहार आदि सर्वदा नहीं लेना चाहिए, आहार करना ही नहीं चाहिए, जिससे सारे दोष निवारित हो जाएंगे, अपाय होंगे ही नहीं।

५२७९. भण्णति सज्झमसज्झं, कज्जं सज्झं तु साहए मतिमं।
अविसज्झं साधेतो, किलिस्सति ण तं च साधेति॥

कहा जाता है-कार्य के दो प्रकार हैं-साध्य और असाध्य। मतिमान् व्यक्ति साध्य कार्य को ही सिद्ध करता है। जो असाध्य कार्य को सिद्ध करने का प्रयत्न करता है, वह क्लेश को प्राप्त होता है और कार्य भी सिद्ध नहीं होता।

५२८०. जति एयविप्पहूणा, तव-णियमगुणा भवे निरवसेसा।
आहारमादियाणं, को नाम कंहं पि कुब्बेज्जा॥

यदि इन आहार आदि के झंझटों से सर्वथा मुक्त हो जाएं और निरवशेषरूप से तप, नियम आदि के गुणों की साधना में लग जाएं तो आहार आदि की कथा ही कौन करेगा? कौन इसके झंझट में फंसेगा?

५२८१. मोक्खपसाहणहेतू, गाणाती तप्पसाहणो देहो।
देहद्वा आहारो, तेण तु कालो अणुण्णातो॥

मोक्ष की साधना के हेतु हैं-ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य। उनका प्रसाधक है शरीर। देह के लिए आहार किया जाता है। इसलिए उसके ग्रहणकाल और धार्यमाण का काल अनुज्ञात है।

५२८२. काले उ अणुण्णाए, जति वि हु लग्गेज्ज तेहिं दोसेहिं।
सुद्धो बुवादिणंतो, लग्गति उ विवज्जए परेणं॥

भक्तपान का धारणकाल अर्थात् दिन के प्रथम तीन प्रहर जो अनुज्ञात है, यदि उस काल में पूर्वोक्त दोष लगते हैं, फिर भी वह शुद्ध है। अनुज्ञात काल का अतिक्रमण करता है वह अविद्यमान दोषों में भी प्रायश्चित्तभाक् होता है।

५२८३. पढ्माए गिण्हितूणं, पच्छिमपोरिसि उवादिणति जो उ।
ते चेव तत्थ दोसा, बितियाए जे भणिय पुव्विं॥

प्रथम पौरुषी में भक्तपान ग्रहण करके पश्चिम पौरुषी का अतिक्रमण करता है, उसमें भी वे ही दोष होते हैं जो जिनकल्पी मुनि के प्रथम प्रहर में ग्रहण कर द्वितीय पौरुषी का अतिक्रमण करने पर होते हैं।

५२८४. सज्झाय-लेव-सिब्बण-भायणपरिकम्म-सट्टरादीहिं ।
सहस अणाभोगेण व, उवादियं होज्ज जा चरिमं॥

स्वाध्याय में लीन होने पर, लेप परिकर्म करते हुए, वस्त्रों को सीते हुए, भाजन का परिकर्म करते हुए, सट्टर-आलजाल कथाएं कहते हुए आदि आदि कार्यों में जो अत्यंत व्यग्रता होती है, वह है सहसाकार तथा अत्यंत विस्मृति। इस सहसाकार या अनाभोग-अत्यंत विस्मृति से चरम पौरुषी भी अतिक्रान्त हो जाती है।

५२८५. आहच्चुवाइणाविय, विगिंचण परिण्णऽसंथरंतम्मि।
अन्नस्स गेण्हणं भुंजणं च असतीए तस्सेव॥

इन कारणों से कदाचित् अतिक्रान्त हो जाती है तो आहार का परिष्ठापन कर परिज्ञा-दिवस का चरम प्रत्याख्यान कर दे। यदि संस्तरण न होता हो तो भी दूसरे अशन आदि का ग्रहण और भोजन करे। यदि अन्य अशन प्राप्त न हो तो उसी का परिभोग करे।

५२८६. बिइयपण गिलाणस्स कारणा अधवुवातिणे ओमे।

अद्धाण पविसमाणो, मज्झे अहवा वि उत्तिण्णो॥

द्वितीयपद (अपवाद) में ग्लान के कारण अथवा दुर्भिक्ष में पर्यटन करते हुए चौथा प्रहर प्राप्त हो जाए अथवा मार्ग में प्रवेश करते हुए सार्थ के कारण चौथे प्रहर का अतिक्रमण हो जाए, अथवा मार्ग के मध्य में या मार्ग को पार कर देने के पश्चात् अतिक्रमण करने या भोजन करने पर भी कोई दोष नहीं है।

५२८७. परमद्धजोयणाओ, उज्जाण परेण चउगुरू होंति।

आणादिणो य दोसा, विराहणा संजमा-ऽऽयाए॥

अर्द्धयोजन से आगे अशन आदि ले जाता है तो चतुर्गुरू का प्रायश्चित्त आता है तथा आज्ञाभंग आदि दोष भी होते हैं। आत्मा और संयम की विराधना भी होती है।

५२८८. भारेण वेदणाए, ण पेहती खाणुमादि अभिघातो।

इरिया पगलिय तेणग, भायणभेदो य छक्काया॥

भार से और वेदना से अभिभूत होकर वह मार्गगत स्थाणु, कांटे आदि नहीं देख पाता, अभिघात भी हो जाता है ईर्या समिति का सम्यक् शोधन नहीं होता, अत्यधिक भार के कारण भक्तपान परिगलित होने पर पृथ्वीकाय आदि की विराधना होती है, स्तेन भोजन का अपहरण कर लेते हैं, पात्र आदि टूट जाते हैं तथा षट्काय की विराधना भी होती है।

५२८९. उज्जाण आरणं, तहियं किं ते ण जायते दोसा।

परिहरिया ते होज्जा, जति वि तहिं खेत्तमावज्जे॥

उद्यान से पहले ग्राम से भक्तपान लाने पर क्या वे दोष नहीं होते? वे दोष तीर्थकर के वचन के प्रामाण्य से परिहृत हो जाते हैं। अनुज्ञात क्षेत्र में वे दोष प्राप्त होते हैं।

५२९०. एवं सुत्तं अफलं, सुत्तनिवातो इमो तु जिणकप्पे।

गच्छम्मि अद्धजोयण, केसिंची कारणे तं पि॥

पुनः प्रश्न होता है—इस प्रकार सूत्र अफल हो जायेगा। यह सूत्रार्थ निपात जिनकल्पी मुनियों के लिए है। गच्छवासी मुनियों के लिए आधायोजन का नियम है। एक मत के अनुसार कारण में आचार्य, बाल, वृद्ध आदि के लिए वही आधा योजन निर्णीत है।

१. पूरे कथानक के लिए देखें कथा परिशिष्ट, नं. १३०।

५२९१. सक्खेत्ते जदा ण लभति, तत्तो दूरे वि कारणे जतति।

गिहिणो वि चित्तणमणागतम्मि गच्छे किमंग पुण॥

आचार्य आदि के प्रायोग्य द्रव्य की प्राप्ति यदि स्वक्षेत्र में नहीं होती है तो कारणवश दूर भी जाना पड़ता है। गृहस्थ भी अनागत अतिथियों के भक्तपान के लिए चिंता करते हैं तो फिर अनागत गच्छ के मुनियों के लिए चिंता क्यों नहीं करेंगे?

५२९२. संघाडेगो ठवणाकुलेसु सेसेसु बाल-वुद्धादी।

तरुणा बाहिरगामे, पुच्छा दिट्ठंतऽगारीए॥

आचार्य के प्रायोग्य लेने के लिए एक संघाटक स्थापना कुलों में जाता है। शेष कुलों में बाल, वृद्ध मुनियों के लिए अनेक संघाटक जाते हैं। तरुणमुनि गांव के बाहर घूमते हैं। शिष्य ने पूछा—क्या आदर से क्षेत्र की प्रत्युपेक्षा कर उसकी रक्षा करते हैं? आचार्य ने कहा—यहां अगरी का दृष्टांत है।

५२९३. परिमियभत्तपदाणे, णेहादवहरति थोवथोवं तु।

पाहुण बियाल आगत, विसण्ण आसासणा दाणं॥

वणिक् परिमित भक्त आदि देता था। उसकी पत्नी घी, तैल आदि से थोड़ा-थोड़ा बचा लेती थी। कालान्तर में प्रदोषकाल में वणिक् का मित्र अतिथि आ गया। वणिक् विषण्ण हो गया। पत्नी ने उसे आश्वस्त किया और अतिथि को भोजन करा दिया।

५२९४. एवं पीईवह्ठी, विवरीयऽण्णेण होइ दिट्ठतो।

लोगुत्तरे विसेसा, असंचया जेण समणा तु॥

इस प्रकार उस वणिक् की अपने मित्र के साथ प्रीति बढ़ी। इसके विपरीत एक अन्य दृष्टांत भी है जिसमें विपरीत प्रवृत्तियों के कारण मित्र के साथ मैत्री और प्रीति का हास हुआ। श्रमण असंचयशील होते हैं अतः लोकोत्तरदृष्टि से वे विशेष हैं।

५२९५. जणलावो परगामे, हिंडित्ताऽऽणेंति वसहि इह गामे।

देज्जह बालादीणं, कारणजाते य सुलभं तु॥

जनता में यह प्रवाद होने लगा कि ये मुनि परग्राम में गोचरी के लिए घूमते हैं और सारी भिक्षा यहां ले आते हैं। इस ग्राम में तो केवल रहते हैं, उनकी वसति यहां है। तब उस ग्राम के लोग कहते हैं—ये बालमुनि भी भिक्षा के लिए घूमते हैं, इन्हें भिक्षा दो। इस प्रकार के सोच से कारण-प्रयोजन होने पर भिक्षा सुलभ हो जाती है।

५२९६. पाहुणविसेसदाणे, णिज्जर कित्ती य इहर विवरीयं।

पुव्विं चमढणसिग्गा, न देंति संतं पि कज्जेसु॥

प्राधूर्णक को आदरपूर्वक भक्तपान देने से निर्जरा तथा कीर्ति होती है, अन्यथा ये नहीं होते। यह जानते हुए भी लोग दान नहीं देते, क्योंकि प्रतिदिन साधुओं के भिक्षा के लिए आगमन से वे कुल परिश्रान्त हुए रहते हैं अतः प्रयोजन होने पर भी तथा विद्यमान द्रव्यों को भी वे साधुओं को नहीं देते।

५२९७. बोरीइ य दिद्धंतो, गच्छे वायामो तहिं च पतिरिक्कं।

केइ पुण तत्थ भुंजण, आणेमाणे भणिय दोसा॥

बहिर्ग्राम में भिक्षाटन करने पर प्रचुर प्रायोग्य द्रव्य प्राप्त हो सकते हैं, यहां बदरी का दृष्टांत है। गच्छ की यह सामाचारी है कि तरुण मुनि को भिक्षाचार्या के लिए बहिर्ग्राम में जाना चाहिए। उससे व्यायाम होता है, एकान्त प्राप्त होता है। कुछेक आचार्यों का यह अभिमत है कि बहिर्ग्राम में ही भोजन कर लेना चाहिए। गोचरी को ठिकाने पर लाने में जो दोष बताए गए हैं, वहां भोजन करने पर परिहृत हो जाते हैं।

५२९८. गामऽब्भासे बदरी, नीसंदकडुप्फला य खुज्जा या

पक्काऽऽमाऽलस चेडा, खायंतियरे गता दूरं॥

५२९९. सिग्घतरं ते आता, तेसिऽण्णेसिं च विंति सयमेव।

खायंति एव इहइं, आय-परसुहावहा तरुणा॥

किसी गांव के निकट बदरी का वृक्ष था। वह वृक्ष गांव के निस्स्यंदपानी से संवर्धित होने के कारण कड़वे फल वाला हो गया। वह वृक्ष कुब्ज था। उस पर कोई भी सहजतया चढ़-उतर सकता था। उस पर कुछेक फल पके हुए और कुछेक कच्चे थे। कुछ बालक निकटवर्ती उस बदरीवृक्ष के फलों को खाते और कुछ बालक दूरवर्ती मीठे फलवाले बदरी के फल खाते। वे शीघ्र ही वहां से गठरियों में बदरी फल बांध कर ले आते। वे स्वयं उन फलों को खाते और दूसरों को भी खिलवाते थे।

इसी प्रकार तरुण मुनि स्वयं के लिए तथा दूसरों के लिए सुखावह होते हैं।

५३००. खीर-दहीमादीण य, लंभो सिग्घतर पढम पइरिक्के।

उग्गमदोसा विज्जढा, भवंति अणुकंपिया चित्तरे॥

वे तरुण मुनि बहिर्ग्राम में भिक्षाचार्या कर प्रचुर भक्त-पान लेकर शीघ्र ही आ जाते हैं और सबको प्रथमालिका कराकर स्वयं भी खा लेते हैं। इससे उद्गम आदि दोष परिहृत हो जाते हैं। और दूसरे भी अनुकंपित होते हैं।

५३०१. एवं उग्गमदोसा, विज्जढा पइरिक्कया अणोभाणं।

मोहतिगिच्छा य कता, विरियायारो य अणुचिण्णो॥

इस प्रकार बहिर्ग्राम में भिक्षाचार्या के लिए जाने पर

उद्गमदोष परित्यक्त हो जाते हैं। 'पइरिक्कय' प्रचुर भक्तपान का लाभ होता है। अपमान नहीं होता। मोह चिकित्सा कर ली जाती है। वीर्याचार का परिपालन होता है।

५३०२. उज्जाणतो परेणं, उवातिणंतम्मि पुव्व जे भणिता।

भारादीया दोसा, ते च्चेव इहं तु सविसेसा॥

उद्यान से आगे जाकर भिक्षा लाने में पूर्वोक्त भार आदि दोष कहे गए हैं वे यहां विशेषरूप से होते हैं।

५३०३. तम्हा तु ण गंतव्वं, तहिं भोत्तव्वं ण वा वि भोत्तव्वं।

इहरा भे ते दोसा, इति उदिते चोदगं भणति॥

इसलिए भक्तपान लेकर नहीं जाना चाहिए, वहीं भोजन कर लेना चाहिए। मतान्तर से कहा जाता है—बहिर्ग्राम में भक्तपान नहीं करना चाहिए। तो वे ही भार, वेदना आदि दोष प्राप्त होते हैं। ऐसा कहने पर आचार्य उसे कहते हैं—यदि वहां भोजन कर लेते हैं तो मासलघु का प्रायश्चित्त आता है। इससे आचार्य आदि परित्यक्त हो जाते हैं। उन्हें प्रायोग्य आहार प्राप्त नहीं होता।

५३०४. जइ एयविप्पहूणा, तव-नियमगुणा भवे णिरवसेसा।

आहारमाइयाणं, को नाम कहं पि कुव्वेज्जा॥

यदि आचार्य के बिना भी तप-नियमगुण निरवशेषरूप से होते हों तो प्रायोग्य आहार आदि की अन्वेषणा की बात ही कौन करेगा? कोई नहीं।

५३०५. जति ताव लोइय गुरुस्स लहुओ सागारिओ पुढविमादी।

आणयणे परिहरिया, पढमा आपुच्छ जतणाए॥

लोक में जो गुरु अर्थात् पिता, ज्येष्ठ भाई, कुटुंब के धारक हैं, उनके भोजन किए बिना कोई कुटुम्बी भोजन नहीं करता तो लोकोत्तर गुरु के भोजन किए बिना कौन शिष्य खाना चाहेगा? यदि खाता है तो मासलघु का प्रायश्चित्त है। वसति के अभाव में बहिर्ग्राम में भोजन करने पर, यदि गृहस्थ देखता है तो चतुर्लघु, अस्थंडिल में जाने पर पृथिवी आदि की विराधना होती है। भिक्षा को गुरु के समक्ष लाने पर ये सभी दोष परित्यक्त हो जाते हैं। अपवादपद में प्रथमालिका का गुरु की आज्ञा से यतनापूर्वक की जा सकती है।

५३०६. चोदगवयणं अप्पाऽणुकंपिओ ते य भे परिच्चत्ता।

आयरिए अणुकंपा, परलोए इह पसंसणया॥

प्रेरक कहता है—बहिर्ग्राम से गोचरी कर आचार्य के पास लानी चाहिए, इस प्रस्थापना से आपने अपनी आत्मा की अनुकंपा की है। गोचरी लाने वाले साधु परित्यक्त हो जाते हैं। गुरु ने कहा—वे आचार्य की वैयावृत्य में नियुक्त हैं। यह उनकी पारलौकिक अनुकंपा है, इहलोक में भी उनकी प्रशंसा होती है।

५३०७. एवं पि परिच्यता, काले खमए य असहुपुरिसे य।
कालो गिम्हो उ भवे, खमओ वा पढम-बितिएहिं॥

प्रेरक कहता है—इस प्रकार भी वे शिष्य परित्यक्त हो जाते हैं, क्योंकि वे बेचारे भूखे-प्यासे मार्ग में भार लेकर आते हैं और आप यहां आराम से बैठे हैं। आचार्य ने कहा—उन शिष्यों के काल (समय) को जानकर, तपस्या को तथा उनकी असहिष्णुता को देखकर प्रथमालिका करने की अनुमति दी है। काल ग्रीष्म ऋतु हो सकता है, तपस्या हो सकती है तथा पहले-दूसरे परीषह की असहिष्णुता हो सकती है।

५३०८. जइ एवं संसद्धं, अप्पत्ते दोसियाइणं गहणं।
लंबण भिक्खा दुविहा, जहण्णमुक्कोस तिय पणए॥

यदि इस प्रकार प्रथमालिका करते हैं तो सारा भक्त संसृष्ट हो जाता है। संसृष्ट भक्त गुरु आदि को देने से अभक्ति होती है। देश-काल के अप्राप्त होने पर दोषान्न-वासी भोजन ग्रहण करते हैं और वही प्रथमालिका में काम आता है। प्रथमालिका का प्रमाण दो प्रकार से होता है—कवल से और भिक्षा से। जघन्यतः तीन कवल और तीन भिक्षा तथा उत्कृष्टतः पांच कवल और पांच भिक्षा। शेष सारा मध्यम प्रमाण है।

५३०९. एगत्थ होइ भत्तं, बितियम्मि पडिग्गहे दवं होति।
गुरुमादीपाउग्गं, मत्तए बितिए य संसत्तं॥

दो साधुओं के दो पात्र और दो मात्रक होते हैं। एक पात्र में भक्त और दूसरे में पानक। एक मात्रक में आचार्य के प्रायोग्य और दूसरे मात्रक में संसक्त भक्त या पानक।

५३१०. जति रिद्धो तो दवमत्तगम्मि पढमालियाए गहणं तु।
संसत्त गहण दवदुल्लभे य तत्थेव जं पंतं॥

यदि द्रवमात्रक रिक्त हो तो उसमें प्रथमालिका ग्रहण करनी चाहिए। अथवा उस द्रवमात्रक में संसक्त द्रव लेना चाहिए। उस क्षेत्र में यदि द्रव दुर्लभ हो तो उसी भक्तपात्र में जो प्रान्त भक्त हो उसे एक ओर कर देना चाहिए।

५३११. बिइयपदं तत्थेवा, सेसं अहवा वि होइ सव्वं पि।
तम्हा गंतव्वं आणणं, व जति वि पुट्ठो तह वि सुद्धो॥

अपवादपद यह है—अत्यंत भूख लगी हो तो वहीं अपना संविभाग खा ले। शेष सारा ले आए। अथवा वहीं स्वयं का तथा पर का संविभाग खा ले। इसलिए विधिपूर्वक जाए, विधिपूर्वक जाए और विधिपूर्वक ही वहां भोजन करे। विधिपूर्वक करते हुए भी यदि दोषों से स्पृष्ट हो तो भी वह शुद्ध है।

५३१२. अंतरपल्लीगहितं, पढमागहियं व भुंजए सव्वं।
संखडि धुवलंभे वा, जं गहियं दोसिणं वा वि॥

अन्तरपल्लि (वह वसति जो मूल गांव से ढाई कोस दूर हो) में गृहीत अथवा प्रथम पौरुषी में गृहीत वह सारा खाले। यदि यह निश्चित रूप से ज्ञात हो कि संखड़ी में मिलेगा तो जो पहले लिया हुआ हो अथवा वासी भोजन लिया हो, वह सारा खाले।

५३१३. दरहिंणिएव भाणं, भरियं भुत्तुं पुणो वि हिंदिज्जा।
कालो वाऽतिक्रमई, भुंजेज्जा अंतरा सव्वं॥

अथवा कुछ घूमने पर ही पात्र भक्त से भर गया। उसमें से पर्याप्त खाकर पुनः भिक्षा के लिए घूमे। अथवा आचार्य के पास आते-आते काल अतिक्रान्त हो जाने की आशंका हो तो बीच में ही सारा खाले।

५३१४. परमद्धजोयणातो, उज्जाण परेण जे भणिय दोसा।
आहच्चुवातिणाविए ते चेवुस्सग्ग-अववाता॥

यदि आधे योजन के आगे से आ रहा हो तो जो उद्यान के आगे के अतिक्रमण के जो दोष हैं वे ही दोष प्राप्त होते हैं। यदि अजानकारी से काल अतिक्रान्त हो जाए तो वे ही उत्सर्ग और अपवाद जानने चाहिए। उत्सर्गतः नहीं खाना चाहिए, अपवादतः खा लेना चाहिए।

अणेसणिज्ज-पाण-भोयण-पदं

निग्गंथेण य गाहावइकुलं
पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठेणं अण्णतरे
अचित्ते अणेसणिज्जे पाण-भोयणे
पडिग्गाहिए सिया, अत्थि या इत्थ केइ
सेहतराए अणुवट्ठावियए, कप्पइ से तस्स
दाउं अणुप्पदाउं वा। नत्थि या इत्थ केइ
सेहतराए अणुवट्ठावियए, तं नो अप्पणा
भुंजेज्जा, नो अण्णेसिं दावए एगंते
बहुफासुए थंडिले पडिलेहिता पमज्जित्ता
परिट्ठवेयव्वे सिया॥

(सूत्र १४)

५३१५. आहार एव पगतो, तस्स उ गहणम्मि वण्णिया सोही।
आहच्च पुण असुद्धे, अचित्त गहिए इमं सुत्तं॥
पूर्वसूत्र में आहार का ही अधिकार था। उसमें आहार के ग्रहण संबंधी शोधि बताई थी। कदाचित् अशुद्ध अचित्त

आहार ग्रहण कर लिए जाने पर क्या विधि है? प्रस्तुत सूत्र इसी विषय का है।

५३१६.अहवण सचित्तदब्बं, पडिसिद्धं दब्बमादिपडिसेहे।

इह पुण अचित्तदब्बं, वारेति अणेसियं जोगो॥

अथवा पूर्वतरसूत्रों में द्रव्य आदि के प्रतिषेध में सचित्त द्रव्य का प्रतिषेध किया गया है। प्रस्तुत सूत्र में अनेषणीय अचित्तद्रव्य का वारण किया गया है। यह योग-संबंध है।

५३१७.अन्नतरऽणेसणिज्जं आउट्टिय गिण्हणे तु जं जत्थ।

अणभोग गहित जतणा, अजतण दोसा इमे होंति॥

उद्गम, उत्पादन आदि किसी एक प्रकार के दोष से अनेषणीय आहार को कोई मुनि आकुट्टिका-‘मैं स्वयं खाऊंगा तथा शैक्ष को दूंगा’-इस भावना से ग्रहण करता है तो उसे उस दोष का प्रायश्चित्त आता है जिस दोष से वह आहार दुष्ट है। अनाभोग से अनेषणीय आहार लेने पर उसे यतना-पूर्वक शैक्ष को देना चाहिए। अयतना के ये दोष हैं-

५३१८.मा सब्बमेयं मम देहमन्नं,

उक्कोसएणं व अलाहि मज्झं।

किं वा ममं दिज्जति सब्बमेयं,

इच्चेव वुत्तो तु भणाति कोई॥

शैक्ष कहता है-सारा भक्त मुझे न दें। यह उत्कृष्ट है इसलिए मुझे दे रहे हैं, उत्कृष्ट भक्त से मुझे क्या? यह सारा मुझे ही क्यों दे रहे हैं। शैक्ष के यह कहने पर कोई दूसरा कहता है-

५३१९.एतं तुब्भं अम्हं, न कप्पति चउगुरुं च आणादी।

संका व आभिओग्गे, एणेण व इच्छियं होज्जा॥

यह तुमको कल्पता है, हमें नहीं कल्पता। ऐसा कहने वाले के चतुर्गुरु और आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं। शैक्ष को आभियोग (कार्मण) विषयक शंका होती है। एक किसी को वह ईप्सित भी हो सकता है।

५३२०.कम्मोदय गेलत्ते, दडूण गतो करेज्ज उड्डाहं।

एगस्स वा वि दिण्णे, गिलाण वमिऊण उड्डाहो॥

किसी शैक्ष को कर्मोदय से ग्लानत्व हो गया। वह सोचता है, किसी ने आभियोग कराया है। यह देखकर-सोचकर वह गृहवास में चला जाता है और उड्डाह भी करता है। एक के ऐसा होने पर दूसरा भी व्रतों को छोड़कर उड्डाह करता है।

५३२१.मा पडिगच्छति दिण्णं,

से कम्मण तेण एस आगल्लो।

जाव ण दिज्जति अम्ह वि,

ह णु दाणि पलामि ता तुरियं॥

यह व्रतों को छोड़कर प्रतिगमन न कर दे, यह सोचकर

इसको कार्मण दिया है। इसलिए यह आगल्ल-ग्लान हुआ है। ये मुझे भी कार्मण न दे दें उससे पहले ही मैं भी शीघ्र ही पलायन कर जाऊंगा।

५३२२.भत्तेण मे ण कज्जं, कल्लं भिक्खं गतो व भोक्खामि।

अण्णं व देह मज्झं, इय अजते उज्झिणिगदोसा॥

अथवा कोई यह भी कहता है कि मुझे इस भक्त से क्या प्रयोजन। कल या भिक्षा से लाकर भोजन कर लूंगा। मुझे दूसरा भोजन दें। इस प्रकार अयतनापूर्वक दिए जाने पर परिष्ठापनिका का दोष होता है।

५३२३.ह णु ताव असंदेहं, एस मओ हं तु ताव जीवामि।

वग्धा हु चरंति इमे, मिगचम्मगसंवुता पावा॥

‘ह’ खेद है, ‘णु’-वितर्कणा करता है। यह मर गया है, इसमें कोई संदेह नहीं है। मैं तो अभी जीवित हूँ। ये पापी-दुष्ट श्रमण मृगचर्म से संवृत होकर व्याघ्र की भांति विहरण कर रहे हैं। जब तक ये मुझे मार न डाले, उससे पूर्व ही मैं यहां से चला जाऊँ। इस प्रकार एक के ग्लान होने पर दूसरा शैक्ष सोचता है।

५३२४.अभियोणपरज्झस्स हु,को धम्मो किं व तेण णियमेणं।

अहियक्करगाहीण व, अभिजोएंताण को धम्मो॥

वह शैक्ष सोचता है-आभियोग-कार्मण के प्रयोग से मैं इनके वशीभूत हूँ। मेरे कौन सा धर्म है? उन नियमों से मुझे क्या? अधिक करग्रहण करने वालों की भांति इन मुनियों का, जो आभियोग का प्रयोग करते हैं, कौन सा धर्म है? इस प्रकार सोचकर वह शैक्ष गृहवास की ओर पलायन कर जाता है।

५३२५.किच्छाहि जीवितो हं, जति मरिउं इच्छसी तहिं वच्च।

एस तु भणामि भाउग!, विसकुंभा ते महुपिहाणा॥

वह शैक्ष कहता है-मैं इन साधुओं के पास बहुत दुःख से जी रहा हूँ। यदि तू मरना चाहता है तो इन साधुओं के पास जा। भाई! मैं यह बात तुझे बता रहा हूँ कि वे मुनि विष से भरे हुए घड़े हैं, उन घड़ों पर मधु का ढक्कन है। दूसरे शब्दों में मधु के ढक्कन से ढके हुए वे विषकुंभ हैं।

५३२६.वातादीणं खोभे, जहण्णकालुत्थिए विसाऽसंका।

अवि जुज्जति अन्नविसे, णेव य संकाविसे किरिया॥

मुनियों द्वारा आहारदान के पश्चात् शैक्ष में वायु आदि क्षुब्ध हो जाने पर, तत्काल उत्थित उस पीड़ा के कारण वह यह आशंका करता है कि इन मुनियों ने मुझे विष दे डाला है। इस चिंतन से शीघ्र ही उसकी मृत्यु हो जाती है। क्योंकि अन्य सभी विषयों के लिए मंत्र आदि क्रियाएं हैं, किन्तु शंका के विषय की कोई चिकित्सा नहीं है।

५३२७. केइ पुण साहियव्वं, अस्समणो हं ति पडिगमो होज्ज
दायव्वं जतणाए, णाए अणुलोमणाऽऽउट्ठी॥

कुछेक आचार्य कहते हैं—उस शैक्ष को यह स्पष्टरूप से कहना चाहिए कि यह आहार तुम्हें कल्पता है, हमें नहीं। यह सुनकर वह मन ही मन सोचता है—यह श्रमणों को कल्पनीय नहीं है, मुझ अश्रमण को कल्पनीय है। मैं तो अश्रमण हूँ। वह प्रतिगमन कर देता है। अतः उसे यतनापूर्वक आहार देना चाहिए। यदि ज्ञात हो जाए तो उसे अनुलोम वचनों से प्रज्ञापना करनी चाहिए जिससे उसे आवृत्ति—समाधान मिल जाए।

५३२८. अभिनवधम्मो सि अभावितो सि

बालो व तं सि अणुकंपो।

तव चेवऽद्वा गहितं,

भुंजिज्जा तो परं छंदा।

५३२९. कप्पो च्चिय सेहाणं,

पुच्छसु अण्णे वि एस हु जिणाणा।

सामाइयकप्पठिती,

एसा सुत्तं चिमं बेत्ति॥

प्रज्ञापना की विधि यह है—

तुम अभिनवधर्मा हो—अभी प्रव्रजित हुए हो, अभावित हो—भिक्षा के भोजन से अपरिचित हो, बालक हो, अनुकंप्य हो, देखो, तुम्हारे लिए ही यह भक्तपान गृहीत है, आगे से तुम स्वच्छंद रूप से भोजन करना। यह शैक्ष मुनियों का कल्प है कि उनको अनेषणीय भी कल्पता है। अन्य गीतार्थ मुनियों को भी पूछ लो। यह जिनाज्ञा है। यह सामायिक कल्प की स्थिति है। यह सूत्र भी यही कहता है।

५३३०. परतित्थियपूयातो, पासिय विविहातो संखडीतो य।

विप्परिणमेज्ज सेधो, कक्खडचरियापरिस्संतो॥

किसी क्षेत्र में परतीर्थिकों की पूजा तथा विविध प्रकार की संखड़ियों को देखकर कोई शैक्ष निर्ग्रन्थ मुनियों की कर्कश-चर्या से परिश्रान्त होकर विपरिणत हो जाता है।

५३३१. नाऊण तस्स भावं, कप्पति जतणाए ताहे दाउं जे।

संथरमाणे देंतो, लग्गइ सद्धानपच्छित्ते॥

उस शैक्ष के भावों को जानकर यतनापूर्वक एषणीय के अभाव में अनेषणीय भक्त भी देना कल्पता है। यदि उसे न चाहते हुए भी दिया जाता है तो स्वस्थानप्रायश्चित्त प्राप्त होता है—जिस दोष से वह अशुद्ध है, तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त आता है।

५३३२. सेहस्स व संबंधी, तारिस्समिच्छंते वारणा णत्थि।

कक्खडे व महिद्धीए, वितियं अद्धाणमादीसु॥

शैक्ष के कोई संबंधी—स्वजन व्यक्ति उत्कृष्ट भक्तपान लाकर दे और वह भोजन करना चाहे तो उसका निषेध नहीं है। कक्खड—कर्कश अर्थात् अवमौदर्य की स्थिति में जो महद्विक्रम प्रव्रजित हुआ है, उसको प्रायोग्य अनेषणीय भक्तपान दिया जा सकता है। अध्वा आदि अपवाद पद होता है, स्वयं भी अनेषणीय लेते हुए भी शुद्ध हैं।

५३३३. नीया व केई तु विरूवरूवं,

आणेज्ज भत्तं अणुवट्ठियस्सा।

स चावि पुच्छेज्ज जता तु थेरे,

तदा ण वारेंति णं मा गुरुगा॥

शैक्ष के कुछेक निजी व्यक्ति अनुपस्थित शैक्ष के लिए अनेक प्रकार का भक्तपान लाते हैं। यदि वह स्थविर अर्थात् आचार्य को पूछे कि मैं वह भक्तपान ग्रहण करूँ या नहीं, तब गुरु शैक्ष को वर्जना नहीं करते, क्योंकि वर्जना करने पर चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है।

५३३४. लोलुग सिणेहतो वा, अण्णहभावो व तस्स वा तेसिं।

गिण्हह तुब्भे वि बहुं, पुरिमद्धी णिव्विगतिगा मो॥

५३३५. मंदक्खेण ण इच्छति, तुब्भे से देह बेह णं तुब्भे।

किं वा वारेमु वयं, गिण्हतु छेदेण तो वित्ति॥

वह शैक्ष लोलुपतावश या संज्ञातकों के स्नेह से भक्त लेना चाहे और गुरु उसका निषेध करें तो संज्ञातकों का तथा स्वयं शैक्ष का विपरिणमन हो सकता है। संज्ञातक यदि अन्य मुनियों को निमंत्रित कर कहे—भक्त प्रचुरमात्रा में है, आप भी लें। तब उन्हें कहे—हमें पुरिमद्ध का प्रत्याख्यान है या आज हम निर्विकृतिक हैं। तब संज्ञातक यह कहें कि यह शैक्ष मंदाक्ष है—लज्जालु हैं। यह ग्रहण करना नहीं चाहता। इसलिए आप ग्रहण कर उसे दें या उसको कहें कि वह ग्रहण करे। तब मुनि कहते हैं—हम उसको लेने का निषेध कहाँ कर रहे हैं? वह अपनी इच्छा से जितना चाहे उतना ग्रहण करे।

५३३६. वीसुं वोमे घेतुं, दिंति व से संथरे व उज्झंति।

भावंता विद्धिमतो, दलंति जा भावितोऽणेसिं॥

अवम अर्थात् दुर्भिक्ष के समय अनेषणीय को पृथक् पात्र में ग्रहण कर उसे शैक्ष को दे और उसके पर्याप्त हो जाने पर शेष बचे हुए की परिष्ठापना कर दे। मुनि प्रव्रजित ऋद्धिमान् व्यक्ति को भैक्ष—भोजन की भावना से भावित करने का प्रयास करते हैं और जब तक वह भावित नहीं होता तब तक अन्यान्य दोषयुक्त प्रायोग्य भोजन उसे लाकर देते हैं।

५३३७. तित्थिविवद्धी य पभावणा य ओभावणा कुलिंणीणं।

एमादी तत्थ गुणा, अकुव्वतो भारिया चतुरो॥

ऋद्धिमान के प्रव्रजित होने पर ये गुण होते हैं—तीर्थ की

वृद्धि और प्रभावना होती है। कुलिंगियों की अपभ्रान्तता होती है। उनकी (महर्द्धिक व्यक्तियों की) अनुवर्तना न करने पर चार भारिकमास (गुरुमास) का प्रायश्चित्त आता है।

५३३८.अब्जाणाऽसिव ओमे, रायहुद्रे असंथरंता उ।
सयमवि य भुंजमाणा, विसुद्धभावा अपच्छित्ता॥

अध्वा, अशिव, अवम, राजद्विष्ट, असंस्तरण में विशुद्ध-भाव से स्वयं भी अनेषणीय भोजन करने पर प्रायश्चित्त का भागी नहीं होता।

कप्पट्टिय-अकप्पट्टिय-पदं

जे कडे कप्पट्टियाणं कप्पइ से
अकप्पट्टियाणं, नो से कप्पइ कप्पट्टियाणं।
जे कडे अकप्पट्टियाणं नो से कप्पइ
कप्पट्टियाणं कप्पइ से अकप्पट्टियाणं।
कप्पे ठिया कप्पट्टिया, अकप्पे ठिया
अकप्पट्टिया॥

(सूत्र १५)

५३३९.सुत्तेणेव उ जोगो, मिस्सियभावस्स पन्नवणहेउं।
अक्खेव गिण्णओ वा, जम्हा तु ठिओ अकप्पम्मि॥

सूत्र से ही योग-संबंध किया गया है। मिश्रितभाववाले शैक्ष की प्रज्ञापना के लिए प्रस्तुत सूत्र का प्रारंभ किया जाता है। अथवा इसमें आक्षेप का निर्णय है। क्योंकि यह शैक्ष अकल्प अर्थात् सामायिकसंयमकल्प में स्थित है अतः उसे अनेषणीय भी कल्पता है।

५३४०.कप्पट्टिइपरूवणता, पंचेव महव्वया चउज्जामा।
कप्पट्टियाण पणगं, अकप्प चउज्जाम सेहे य॥

सबसे पहले कल्पस्थिति की प्ररूपणा करनी चाहिए। पांच महाव्रत-रूप कल्पस्थिति प्रथम और चरम तीर्थकर के मुनियों की तथा चतुर्यामिरूप कल्पस्थिति शेष बावीस तीर्थकरों के मुनियों की यह दो प्रकार की कल्पस्थिति है। जो कल्पस्थित हैं, उनके पांच महाव्रत होते हैं और जो अकल्पस्थित हैं, उनके चतुर्यामि होते हैं। पूर्व-पश्चिम तीर्थकरों का शैक्ष सामायिक संयम के कारण चातुर्यामिक और अकल्पस्थित होता है। जब वह उपस्थापित हो जाता है तब वह कल्पस्थित हो जाता है।

५३४१.साली घय गुल गोरस, णवेसु वल्लीफलेसु जातेसु।
पुण्णट्ट करण सद्दा, आहाकम्मे णिमंतणता॥

घर में नए शालि प्रचुर मात्रा में आए। श्रावक शालि, घृत, गुड़, गोरस तथा वल्लीफलों के होने पर पुण्यार्थ आधाकर्म कर साधुओं को ग्रहण करने का निमंत्रण देता है।

५३४२.आहा अहे य कम्मे, आताहम्मे य अत्तकम्मे य।
तं पुण आहाकम्मं, णायव्वं कप्पते कस्स॥

आधाकर्म के ये एकार्थक पद हैं—आधाकर्म, अधःकर्म, आत्मघ्न, आत्मकर्म। आधाकर्म किसको कल्पता है, यह जानना चाहिए।

५३४३.संघस्स पुरिम-पच्छिम-

मज्झिमसमणाण चेव समणीणं।

चउण्हं उवस्सयाणं,

कायव्वा मग्गणा होति॥

आधाकर्मकारी या तो सामान्य संघ को उद्दिष्ट करता है अथवा पूर्व, पश्चिम या मध्यम संघ को विशेषरूप उद्दिष्ट करता है, श्रमणों का या श्रमणियों का ओघतः प्रणिधान करता है। इसी प्रकार सामान्य या विशेषरूप से चारों प्रकार के उपाश्रयों की मार्गणा करनी होती है। चार प्रकार के उपाश्रय—

१. पंचयामिक श्रमणों का उपाश्रय
२. पंचयामिक श्रमणियों का उपाश्रय
३. चतुर्यामिक श्रमणों का उपाश्रय
४. चतुर्यामिक श्रमणियों का उपाश्रय।

५३४४.संघं समुद्दिसित्ता, पढ्मो बित्तिओ य समण-समणीओ।
तत्तिओ उवस्सए खलु, चउत्थओ एगपुरिसस्स॥

एक दानश्राद्ध संघ को उद्दिष्ट कर आधाकर्म करता है, दूसरा श्रमण-श्रमणियों को उद्दिष्ट कर करता है, तीसरा उपाश्रयों को उद्दिष्ट कर करता है और चौथा एक पुरुष को उद्दिष्ट कर करता है।

५३४५.जति सव्वं उद्दिसिउं, संघं कारेति दोण्ह वि ण कप्पे।
अहवा सव्वे समणा, समणी वा तत्थ वि तहेव॥

यदि ऋषभस्वामी का तीर्थ और अजितस्वामी का तीर्थ या पार्श्व का तीर्थ और महावीर का तीर्थ एकत्र मिला हुआ है और यदि सामान्य रूप से समस्त संघ को उद्दिष्ट कर कोई आधाकर्म करता है तो दोनों संघों—पंचयामिक और चतुर्यामिक को नहीं कल्पता। इसी प्रकार यदि सभी श्रमणों और श्रमणियों को उद्दिष्ट किया है तो दोनों को नहीं कल्पता।

५३४६.जइ पुण पुरिमं संघं, उद्दिसती मज्झिमस्स तो कप्पे।
मज्झिमउद्दिट्ठे पुण, दोण्हं पि अकप्पितं होति॥

यदि पूर्व संघ को समुद्दिष्ट करता है तो मध्यम संघ

(अजितस्वामी) को कल्पता है। यदि मध्यम संघ को समुद्दिष्ट करता है तो दोनों के लिए अकल्पिक होता है।

५३४७. एमेव समणवग्गे, समणीवग्गे य पुव्वमुद्दिहे।
मज्झिमगाणं कप्पे, तेसि कडं दोण्ह वि ण कप्पे॥

इसी प्रकार पूर्व के श्रमण श्रमणीवर्ग को उद्दिष्ट कर किया है वह मध्यम श्रमण श्रमणी वर्ग को कल्पता है। यदि मध्यम को उद्दिष्ट कर किया है तो दोनों को—पूर्व-मध्यम को नहीं कल्पता।

५३४८. पुरिमाणं एक्कस्स वि, कयं तु सब्बेसि पुरिम-चरिमाणं।
ण वि कप्पे ठवणामेत्तगं तु गहणं तहिं नत्थि॥

पूर्व के एक के लिए भी उद्दिष्ट दोनों को नहीं कल्पता। इसी प्रकार पश्चिम के भी एक के लिए उद्दिष्ट दोनों को नहीं कल्पता। यह तो केवल स्थापना मात्र है—प्ररूपणामात्र है। पूर्व-पश्चिम साधुओं का एकत्र समवाय असंभव है। परस्पर ग्रहण घटित ही नहीं होता।

५३४९. एवमुवस्सय पुरिमे, उद्दिह्णं तं तु पच्छिमा भुंजे।
मज्झिम-तव्वज्जाणं, कप्पे उद्दिह्णसम पुव्वा॥

इसी प्रकार सामान्य रूप से उपाश्रयों को उद्दिष्ट कर आधाकर्म करता है तो सभी के लिए अकल्प्य होता है। अथवा कोई आद्य तीर्थंकर साधुओं के उपाश्रय को उद्दिष्ट कर करता है तो पश्चिमवर्ती साधुओं को वह नहीं कल्पता। वे उसका उपभोग नहीं करते। वह मध्यम उपाश्रय के जितने मुनियों को उद्दिष्ट कर करता है, उनका वर्जन कर शेष श्रमणों और श्रमणियों को वह कल्पता है। पूर्व अर्थात् ऋषभ के साधु उद्दिष्टसम होते हैं, जिस साधु को उद्दिष्ट कर किया है, उसके तुल्य होते हैं। एक को उद्दिष्ट कर किया हुआ सबके लिए अकल्पनीय होता है।

५३५०. सब्बे समणा समणी,

मज्झिमगा चेव पच्छिमा चेव।

मज्झिमग समण-समणी,

पच्छिमगा समण-समणीतो॥

यदि सभी श्रमण और श्रमणियों को उद्दिष्ट कर किया है तो सबके लिए अकल्प्य है। यदि मध्यम श्रमण और श्रमणियों को उद्दिष्ट किया है तो मध्यम तथा पश्चिम सभी के लिए अकल्प है। यदि पश्चिम के लिए ही किया है तो उनके लिए अकल्प है, मध्यमों के लिए कल्प्य है। पश्चिम श्रमणों के लिए उद्दिष्ट पश्चिम साधु-साध्वियों को नहीं कल्पता। मध्यम के दोनों के लिए कल्प्य है। इसी प्रकार पश्चिम श्रमणियों के लिए उद्दिष्ट के लिए वक्तव्य है।

५३५१. उवस्सग गणिय-विभाइय,

उज्जुग-जड्ढा य वंक-जड्ढा य।

मज्झिमग उज्जु-पण्णा,

पेच्छा सण्णायगाऽऽगमणं॥

उपाश्रयों में साधुओं को गिनकर—पांच-दस आदि या विभाजित करता है—अमुक-अमुक का निर्धारण कर उद्दिष्ट करता है। मुनि तीन प्रकार के होते हैं—ऋजुजड, वक्रजड और ऋजुप्राज्ञ। प्रथम तीर्थंकर के मुनि ऋजुजड, अंतिम तीर्थंकर के साधु वक्रजड और मध्य तीर्थंकरों के मुनि ऋजुप्राज्ञ होते हैं। इन तीनों प्रकार के साधुओं के लिए सज्ञातककुल में आने पर उद्गमादि दोष करते हैं। यहां नटप्रेक्षण का दृष्टांत है।

५३५२. नडपेच्छं दड्ढुणं, अवस्स आलोयणा ण सा कप्पे।

कउयादी सो पेच्छति, ण ते वि पुरिमाण तो सब्बे॥

प्रथम तीर्थंकर के एक मुनि ने भिक्षा के लिए पर्यटन करते हुए नट का प्रेक्षण—खेल देखा और गुरु के पास आकर उसकी आलोचना की। आचार्य ने कहा—नटप्रेक्षण साधुओं को नहीं कल्पता। अब वह दूसरी बार 'कयोक'^१ आदि देखने लगा। पूछने पर उसने कहा—आपने तो नटप्रेक्षण की मनाही की थी, कयोका की नहीं। तब आचार्य ने कहा—कयोका आदि भी देखना नहीं कल्पता। तब वे मुनि सबका परिहार करते हैं।

५३५३. एमेव उग्गमादी, एक्केक निवारि एतरे गिण्हे।

सब्बे वि ण कप्पंति, ति वारितो जज्जियं वज्जे॥

इसी प्रकार पूर्व तीर्थंकर के साधु को एक-एक उद्गम आदि दोष युक्त भक्तपान ग्रहण न करने के लिए वर्जना की जाती है, तब वह निवारित दोष का ही वर्जन करता है, इतर दोषयुक्त का निवारण नहीं करता। जब उसे कहा जाता है कि उद्गम आदि सारे दोषयुक्त नहीं कल्पते तब वह सबका यावज्जीवन तक वर्जना करता है।

५३५४. सण्णायगा वि उज्जुत्तणेण कस्स कत तुज्झमेयं ति।

मम उद्दिह्णं कप्पइ, कीतं अण्णस्स वा पगरे॥

प्रथम तीर्थंकर के साधुओं के संज्ञातक भी पूछने पर कि यह भक्तपान किसके लिए बना है तो वे ऋजुतापूर्वक कह देते हैं कि यह आपके लिए ही बनाया है। तब साधु कहता है—हमारे लिए बना हुआ ग्रहण करना हमें नहीं कल्पता। तब वह क्रीतकृत अथवा अन्य दोषयुक्त भक्तपान बनाकर देता है अथवा अन्य साधु को उद्दिष्ट कर बनाया हुआ आधाकर्म भक्तपान देता है।

१. कयोक—वेषपरिवर्तनकारी नटविशेषः। (वृ. पृ. १४२१)

५३५५.सव्वजईण निसिद्धा, मा अणुमण्ण त्ति उग्गमा णे सिं।

इति कथिते पुरिमाणं, सव्वे सव्वेसि ण करेति॥

जब उन गृहस्थों के आगे यह कहा जाता है कि सभी मुनियों के लिए उद्गम आदि दोष निषिद्ध हैं। गृहस्थ सोचते हैं—हमारी उन दोषों के लिए अनुमति न हो, इसलिए वे सभी साधुओं के लिए कोई दोष नहीं करते। वे प्रथम तीर्थ के गृहस्थ भी ऋजुजड़ होते हैं।

५३५६.उज्जुत्तणं से आलोयणाए जडुत्तणं से जं भुज्जो।

तज्जातिए ण याणति, गिही वि अन्नस्स अन्नं वा॥

उनकी ऋजुता और जड़ता का स्वरूप—उनकी ऋजुता यह है कि वे अकृत्य करके भी आलोचना कर लेते हैं। उनकी जड़ता यह है कि वे उन दोषों के जातीय दोषों को नहीं जानते और न उनका वर्जन करते हैं। गृहस्थों की जड़ता यह है कि एक के लिए वर्जित दोष दूसरों के निमित्त कर लेते हैं। उनकी ऋजुता यह है कि वे यथार्थ बात बता देते हैं।

५३५७.उज्जुत्तणं से आलोयणाए पण्णा उ सेसवज्जणया।

सण्णायगा वि दोसे, ण करेत्तऽण्णे ण यऽण्णेसिं॥

ऋजुप्राज्ञ का स्वरूप—उनकी ऋजुता यह है कि वे अकृत्य की आलोचना करते हैं तथा उनका प्राज्ञत्व यह है कि वे तज्जातीय दोषों का स्वयं निवारण करते हैं। संज्ञातक भी साधुओं के लिए दोष नहीं करते, अन्य तज्जातीय दोषों का वर्जन करते हैं और न अन्य मुनियों को हेतु बनाकर दोषकारी कार्य करते हैं।

५३५८.वंका उ ण साहंती, पुट्ठा उ भणंति उण्ह-कंटादी।

पाहुणग सद्ध ऊसव, गिहिणो वि य वाउलंतेवं॥

वक्र-जड़ का स्वरूप—उनका वक्रत्व यह है कि वे अकृत्य कर स्वीकार नहीं करते। पूछने पर कहते हैं—मैं नटप्रेक्षण के लिए नहीं रुका था। गर्मी के कारण या कांटा चुभ जाने के कारण एक स्थान पर विश्राम करने बैठा था। आधाकर्म आदि निष्पन्न करने वाले गृहस्थ को पूछने पर कहता है—मेहमान आ गए थे, आज यह खाने के लिए मन हो गया, आज अमुक उत्सव है—इस प्रकार गृहस्थ भी साधुओं को व्याकुल कर देते हैं, यथार्थ नहीं बताते।

५३५९.आयरिए अभिसेगे,

भिकखुम्मि गिलाणए य भयणा उ।

तिक्खुत्तऽडवि पवेसे,

चउपरियट्ठे तओ गहणं॥

द्वितीयपद यह है—आचार्य, अभिषेक या भिक्षुओं में से कोई ग्लान हो जाए तो आधाकर्म की भजना होती है। अध्वा में प्रवेश करने से पूर्व ही शुद्ध अध्वकल्प की तीन बार

गवेषणा करे। यदि प्राप्त न हो तो चौथे परिवर्त में आधाकर्म का ग्रहण करे।

५३६०.चउरो चउत्थभत्ते, आयंबिल एगठाण पुरिमहं।

गिब्बीयग दायव्वं, सयं च पुव्वोग्गहं कुज्जा॥

आचार्य स्वयं चार कल्याणक का प्रायश्चित्त ग्रहण करते हैं। उसमें चार उपवास, चार आयंबिल, चार एकाशन, चार पुरिमह (पूर्वार्द्ध) और चार निर्वृति होते हैं। पंच कल्याणक में सभी पांच-पांच होंगे। आचार्य स्वयं ही पहले प्रायश्चित्त ग्रहण करे, जिससे कि शिष्य सुखपूर्वक उसे ग्रहण कर सकें।

५३६१.काल-सरीरावेक्खं, जगस्सभावं जिणा वियाणित्ता।

तह तह दिसंति धम्मं, झिज्जति कम्मं जहा अखिलं॥

काल और शरीर के अनुरूप जगत् का स्वभाव जानकर तीर्थकर उस-उस प्रकार से धर्म की देशना देते हैं, जिससे सारे कर्म क्षीण हो जाएं।

अण्णगण-उवसंपदा-पदं

भिकखू य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा
अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, नो
से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा
उवज्झायं वा पवत्तिं वा थेरं वा गणिं वा
गणहरं वा गणावच्छेइयं वा अण्णं गणं
उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए। कप्पइ से
आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव
गणावच्छेइयं वा अण्णं गणं
उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए। ते य से
वियरेज्जा, एवं से कप्पइ अण्णं गणं
उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए। ते य से नो
वियरेज्जा, एवं से नो कप्पइ अण्णं गणं
उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए॥

(सूत्र १६)

५३६२.कप्पातो व अकप्पं, होज्ज अकप्पा व संकमो कप्पे।

गणि गच्छे व तदुभए, चुत्तम्मि अह सुत्तसंबंधो॥

पूर्वसूत्र में कल्पस्थित और अकल्पस्थित बतलाए गए हैं। उनका स्थितकल्प से अस्थितकल्प में संक्रमण होता है और अस्थितकल्प से स्थितकल्प में संक्रमण होता है। अथवा

गणी-आचार्य या उपाध्याय में तथा गच्छ में सूत्र और अर्थ दोनों की विस्मृति होने पर गच्छान्तर में संक्रमण होता है। यह सूत्र के साथ संबंध है।

५३६३. तिद्धाणे अवकमणं, णाणद्धा दंसणे चरित्तद्धा।
आपुच्छिऊण गमणं, भीतो त नियत्तते कोती १॥

५३६४. चिंतंतो वड्ढादी, संखडि पिसुगादि अपडिसेहे य।
परिसिल्ले सत्तमए, गुरुपेसविए य सुद्धे य॥

तीन स्थानों-कारणों से गण से अपक्रमण होता है-ज्ञान के लिए, दर्शन के लिए और चारित्र के लिए। आचार्य को पूछकर अपक्रमण करना चाहिए। अपक्रमण करने वाले के ये अतिचार होते हैं-

१. कोई परगण के आचार्य के कर्कश चर्या से भीत होकर लौट आता है।
२. मैं जाऊं या नहीं इस चिंतन से जाता है।
३. ब्रजिका का प्रतिबंध करता है। दानश्राद्धों की दीर्घ गोचरी करता है।
४. संखडियों में प्रतिबंध करता है।
५. पिशुक-मत्कुण आदि के भय से निवर्तित हो जाता है।
६. वहां का आचार्य अप्रतिषेधक है।
७. जो पर्षद्वान् है।
८. मैं गुरु द्वारा प्रेषित हूँ-ऐसा कहता है।

(इन आठ पदों में उन-उन पदों का प्रायश्चित्त आता है।)

५३६५. पणगं च भिण्णमासो, मासो लहुगो य संखडी गुरुगा।

पिसुमादी मासलहू, चउरो लहुगा अपडिसेहे॥

५३६६. परिसिल्ले चउलहुगा, गुरुपेसवियम्मि मासियं लहुगं।

सेहेण समं गुरुगा, परिसिल्ले पविसमाणस्स॥

५३६७. पडिसेहगस्स लहुगा,

परिसेल्ले छ च्व चरिमओ सुद्धो।

तेसिं पि होंति गुरुगा,

जं चाऽऽभव्वं ण तं लभती॥

जो भीत होकर निवर्तित हो जाता है उसे पंचक, जो चिंतन करता है उसे भिन्नमास, ब्रजिका आदि में प्रतिबद्ध को मासलघु, संखडी में प्रतिबद्ध को चतुर्गुरु, पिशुकादि भय से निवर्तमान को मासलघु, अप्रतिषेधक के पास रहने से चारलघु। पर्षद्वान् आचार्य के पास रहने से चतुर्लघु, गुरु ने भेजा है यह कहने पर लघुमास, शौक्ष के साथ पर्षद्वान् गच्छ में जाने पर चतुर्गुरु, उपकरण सहित जाने पर उपधि निष्पन्न प्रायश्चित्त। प्रतिषेधक के पास जाने पर चतुर्लघु, पर्षद को मिलाने वाले के पास जाने पर षडलघु। जो भीत आदि दोष रहित है, वह शुद्ध है। अपने गच्छ में प्रवेश कराने वाले

प्रतिषेध आचार्यों के चतुर्गुरु। जो सचित्त या अचित्त आभाव्य है, उनको कुछ भी प्रायश्चित्त नहीं।

५३६८. संसाहगस्स सोउं, पडिपंथिगमादिगस्स वा भीओ।

आयरणा तत्थ खरा, सयं व णाउं पडिणियत्तो॥

संसाधक-पीछे से आने वाले साधु से सुनकर, प्रतिपंथिक-संमुखीन साधु से सुनकर अथवा स्वयं जानकर कि उस गच्छ में चर्या कर्कश है, यह जानकर भयभीत होकर जो मुनि निवर्तित हो जाता है, उसे पंचक का प्रायश्चित्त आता है।

५३६९. पुव्वं चित्तेयव्वं, णिग्गतो चित्तेति किं णु हु करेमि।

वच्चाभि नियत्तामि व, तहिं व अण्णत्थ वा गच्छे॥

जाने से पूर्व सोचना चाहिए। गच्छ से निर्गत होने के बाद सोचता है-मैं क्या करूं? जाऊं या लौट जाऊं? अथवा उस गच्छ में जाऊं या अन्यत्र चला जाऊं?

५३७०. उव्वत्तणमप्पत्ते, लहुओ खद्धस्स भुंजणे लहुगा।

णीसद्ध सुवणे लहुओ, संखडि गुरुगा य जं चऽण्णं॥

कोई चलते-चलते ब्रजिका की बात सुनकर मार्ग का उद्वर्तन कर ब्रजिका के पास आता है और अप्राप्त वेला की प्रतीक्षा करता है। वेला होने पर वहां अत्यधिक भोजन कर लेता है। उसको चतुर्लघु का प्रायश्चित्त आता है। वह वहां लंबे समय तक सो जाता है। उसको लघुमास का प्रायश्चित्त है। संखडी में अप्राप्तकाल की प्रतीक्षा करने तथा प्रचुरमात्रा में द्रव्य लेने पर चतुर्गुरु। वहां होने वाले अन्य-अन्य संघट्टन या आक्रमण के पृथक्-पृथक् प्रायश्चित्त आते हैं।

५३७१. अमुगत्थ अमुगो वच्चति, मेहावी तस्स कड्ढणद्धाए।

पंथ ग्गामे व पहे, वसधीय व कोइ वावारे॥

५३७२. अभिलावसुद्ध पुच्छा, रोलेणं मा हु भे विणासेज्जा।

इति कड्ढते लहुगा, जति सेहद्धा ततो गुरुगा॥

अमुक आचार्य के पास अमुक मेधावी शिष्य जा रहा है, उस शिष्य को अपनी ओर खींचने के लिए आचार्य अपने शिष्यों को व्यापृत करता है। उन्हें कहता है-वह मेधावी शिष्य मार्ग में या गांव में भिक्षा करेगा, अमुक मार्ग से आएगा, अमुक वसति में ठहरेगा। तुम वहां जाओ और अभिलापशुद्ध पाठ का परावर्तन करते हुए बैठो। यदि वह तुमसे पूछे कि तुम यहां क्यों बैठे हो? तो उसे कहना-हमारे वाचनाचार्य अभिलापशुद्ध से पाठ की वाचना देते हैं। वे हमें कहते हैं-यहां उपाश्रय में बहुत कोलाहल रहता है। यहां उस कोलाहल से अपने अभिलाप का विनाश मत करो। इसलिए हम यहां एकान्त में परावर्तन

कर रहे हैं। इस प्रकार आकर्षण करने पर चतुर्लघुक और यह शैक्ष मेरा हो—यह सोचकर आकर्षण करता है तो चतुर्गुरुक का प्रायश्चित्त आता है।

५३७३.अक्खर-वंजणसुद्धं, मं पुच्छह तम्मि आगए संते।
घोसेहि य परिसुद्धं, पुच्छह णिउणे य सुत्तथे॥

यदि वह शैक्ष यहां आता है तो उसके आने के पश्चात् तुम मुझे अक्षर-व्यंजन शुद्ध तथा घोष से परिशुद्ध सूत्रपाठ पूछना। उस समय निपुण सूत्रार्थ को पूछना। इस प्रकार उसकी अन्यत्र गच्छ में जाने का प्रतिषेध करते हैं।

५३७४.पाउयमपाउया घट्ट मट्ट लोय खुर विविधवेसहरा।
परिसिल्लस्स तु परिसा, थलिए व ण किंचि वारेति॥

जो आचार्य परिसिल्ल-पर्षदप्रिय होता है वह असंविग्न या संविग्न पर्षद का संग्रहण करता है। वहां कुछ मुनि प्रावृत, कुछ अप्रावृत, कुछ घृष्ट-मृष्ट, कुछ लुंचित और कुछ खुरमुंडित—इस प्रकार उसकी परिषद् विविध वेषधारी होती है। देवद्रोणी की भांति वह आचार्य कुछ भी वर्जना नहीं करता।

५३७५.तत्थ पवेसे लहुगा, सच्चित्ते चउगुरुं च आणादी।
उवहीनिप्फणं पि य, अचित्त चित्ते य गिण्हते॥

वैसे गच्छ में प्रवेश करने पर चतुर्लघु, शैक्ष (सचित्त) के साथ प्रवेश करने पर चतुर्गुरु और आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं। उपधि के साथ प्रवेश करने पर उपधिजनित प्रायश्चित्त भी आता है। सचित्त और अचित्त ग्रहण करने पर अन्य प्रायश्चित्त।

५३७६.ढिंकुण-पिसुगादि तहिं, सोतुं णाउं व सण्णिवत्तंते।
अमुगसुतत्थनिमित्तं, तुज्झम्मि गुरुहिं पेसविओ॥

ढिंकुण, पिशुण आदि क्षुद्र जंतुओं का उपद्रव सुनकर या जानकर वहां से निवर्तन करने पर मासलघु तथा अमुक-श्रुतग्रहण के निमित्त गुरु ने मुझे तुम्हारे पास भेजा है—इस प्रकार कहने पर मासलघु का प्रायश्चित्त है।

५३७७.आणाए जिणिंदाणं,
ण हु बलियतरा उ आयरियआणा।

जिणआणाए परिभवो,

एवं गब्बो अविणतो य॥

शिष्य ने पूछा—ऐसा कहने में क्या दोष है? आचार्य कहते हैं—जिनेन्द्रों की आज्ञा से आचार्य की आज्ञा बलवान् नहीं होती। इस प्रकार आचार्य की आज्ञा से श्रुत देने पर जिनेन्द्रों की आज्ञा का परिभव होता है। तथा भेजने वाले, उपसंपद्यमान और श्रुत देने वाले—तीनों को गर्व होता है और तीर्थंकर तथा श्रुत का अविनय होता है।

५३७८.अन्नं अभिधारेतुं, अप्पडिसेह परिसिल्लमन्नं वा।
पविसंते कुलादिगुरु, सच्चित्तादी व से हाउं॥

५३७९.ते वोऽवुवालभित्ता, अभिधारेज्जंते देति तं थेरा।
घट्टण विचालणं ति य, पुच्छा विप्फालणेगट्टा॥

अन्य आचार्य का अभिधारण कर अप्रतिषेधक या परिषद् प्रिय आचार्य या अन्य किसी के गण में प्रवेश करता है, उपसंपन्न होता है, उसे यदि कुलस्थविर, गणस्थविर या संघस्थविर जान लेते हैं तो वे सचित्त या अचित्त, जो कुछ उसने उपनीत किए हैं, उसका हरण कर, उस आचार्य और प्रतिच्छक को उपालंभ देते हैं तथा उसकी घट्टना कर वे स्थविर उसे अभिधारित आचार्य के पास भेज देते हैं। घट्टण, विचारणा, पृच्छना तथा विस्फालना—ये एकार्थकपद हैं।

५३८०.घट्टेउं सच्चित्तं, एसा आरोवणा उ अविहीते।
बितियपदमसंविग्गे, जयणाए कयम्मि तो सुद्धो॥

प्रतीच्छक को पूछकर उसे धारित आचार्य के पास भेज देते हैं। पहले जो आरोपणा कही गई है (प्रतिषेधकत्व तथा पर्षद् मीलन की) वह अविधि निष्पन्न है। द्वितीयपद में अभिधारित आचार्य यदि असंविग्न है तो यतनापूर्वक प्रतिषेधकत्व किया जा सकता है। वह शुद्ध है।

५३८१.अभिधारेतो पासत्थमादिणो तं च जति सुतं अत्थि।
जे अ पडिसेहदोसा, ते कुव्वंतो वि णिहोसो॥

जिनकी अभिधारणा कर वह जाता है वे आचार्य यदि पार्श्वस्थ आदि दोषदुष्ट हों, जो श्रुत यह पढ़ना चाहे वह यदि प्रतिषेधक के पास है तो जो प्रतिषेध करने के दोष हैं, उनको करता हुआ भी वह शुद्ध है।

५३८२.जं पुण सच्चित्ताती, तं तेसिं देति ण वि सयं गेण्हे।
बितियऽच्चित ण पेसे, जावइयं वा असंथरणे॥

प्रतीच्छक ने आते हुए जो सचित्त आदि प्राप्त किए थे, वे धारित आचार्य को देता है, स्वयं नहीं रखता। द्वितीयपद में जो वस्त्र आदि अचित्त प्राप्त किए थे, उनको वह नहीं भी भेजता। उसमें से जितना आवश्यक होता है, उतना रखता है, शेष भेज देता है। यदि पर्याप्त न हो तो सारा ग्रहण कर लेता है।

५३८३.नाऊण य वोच्छेयं, पुव्वगए कालियाणुओगे य।
सयमेव दिसाबंधं, करेज्ज तेसिं न पेसेज्जा॥

पूर्वगत श्रुत और कालिकानुयोग का व्यवच्छेद जानकर स्वयं ही उनके साथ आत्मीय दिग्बंध करे, पहले धारित के पास न भेजे।

५३८४.असहातो परिसिल्लत्तणं पि कुज्जा उ मंदधम्मेषू।
पप्प व काल-ऽद्धाणे, सच्चित्तादी वि गेण्हेज्जा॥

आचार्य यदि अकेला हो, असहाय हो तो परिषद् का ग्रहण करे। यदि शिष्य मंदमेधा वाले हों तो पर्षद्वत्व भी करे। दुर्भिक्ष आदि काल तथा मार्ग-गमन की वेला में उपग्रहकारी शिष्यों का संग्रहण करे। पूर्वोक्त कारणों से सचित्त आदि भी ग्रहण किया जा सकता है।

५३८५. कालगयं सोऊणं, असिवादी तत्थ अंतरा वा वि।
परिसेल्लय पडिसेहं, सुद्धो अण्णं व विसमाणो॥

अभिधारित आचार्य को कालगत सुनकर अथवा जहां जाना है वहां या बीच में अशिव आदि का प्रकोप जानकर परिषद् प्रिय आचार्य या प्रतिषेधक आचार्य या अन्य आचार्य के पास जाने वाला भी शुद्ध है।

५३८६. वच्चंतो वि य दुविहो, वत्तमवत्तस्स मग्गणा होति।
वत्तम्मि खेत्तवज्जं, अब्वत्ते अणप्पिओ जाव॥

जाने वाला प्रतीच्छक दो प्रकार का होता है—व्यक्त और अव्यक्त। उनकी मार्गणा करनी होती है। व्यक्त प्रतीच्छक के जो सचित्तादि का लाभ परक्षेत्र में होता है तो वह अभिधारित आचार्य का होता है। अव्यक्त प्रतीच्छक, जब तक वह आचार्य को समर्पित नहीं हो जाता तब तक परक्षेत्र को छोड़कर, उसके सहायक जो प्राप्त करते हैं वह पूर्वाचार्य का होता है।

५३८७. सुतअव्वत्तो अगीतो, वण्ण जो सोलसण्ह आरेणं।
तव्विवरीओ वत्तो, वत्तमवत्ते य चउभंगो॥

अव्यक्त के दो प्रकार हैं—श्रुत से अव्यक्त, अगीतार्थ और वय से अव्यक्त अर्थात् सोलह वर्ष से पहले। इनके विपरीत जो होता है, वह है व्यक्त। व्यक्त-अव्यक्त की चतुर्भंगी होती है—

१. श्रुत से अव्यक्त, वय से भी अव्यक्त।
२. श्रुत से अव्यक्त, वय से व्यक्त।
३. श्रुत से व्यक्त, वय से अव्यक्त।
४. श्रुत और वय—दोनों से व्यक्त।

५३८८. वत्तस्स वि दायव्वा, पहुप्पमाणा सहाय किमु इयरे।
खेत्तविवज्जं अच्चंतिएसु जं लब्भति पुरिल्ले॥

साधुओं की संपूर्ति करने वाले आचार्य को चाहिए कि व्यक्त को भी सहायक साधु देने चाहिए, अव्यक्त की तो बात ही क्या? सहायक दो प्रकार के हैं—आत्यन्तिक और अनात्यन्तिक। आत्यन्तिक सहायकों के साथ व्यक्त को परक्षेत्र को छोड़कर लाभ होता है, वह जिस आचार्य के अभिमुख जाता है, उसका होता है।

५३८९. जइ णेउं एतुमणा, जं ते मग्गिल्ले वत्ति पुरिमस्स।
नियमव्वत्त सहाया, णेतु णियत्तंति जं सो य॥
जो सहायक उसको पहुंचाकर लौट आना चाहते हैं।

उनको जो लाभ होता है, वह सब उस आचार्य का होता है, जिसके पास से वे चले हैं। नियमतः अव्यक्त को सहायक दिए जाते हैं। वे आत्यन्तिक होते हैं, उसको पहुंचा कर लौट आते हैं। तथा उसको जो लाभ होता है वह अभिधारित आचार्य का आभाव्य होता है।

५३९०. बितियं अपहुच्चंते, न देज्ज वा तस्स सो सहाए तु।
वइगादिअपडिबज्जंतगस्स उवही विसुद्धो उ॥

अपवाद पद में आचार्य यदि साधुओं की पूर्ति करने में असमर्थ हों तो वे उसको सहायक साधु नहीं देते, वह यदि श्रुत और वय से व्यक्त हो तो ब्रजिका आदि में उसकी प्रतिबद्धता वाले उसकी उपधि शुद्ध है, उसका उपघात नहीं होता। जो ब्रजिका आदि में प्रतिबद्ध होता है उसकी उपधि का उपघात होता है।

५३९१. एगे तू वच्चंते, उग्गहवज्जं तु लभति सच्चित्तं।
वच्चंत गिलाणे अंतरा तु तहिं मग्गणा होइ॥

जो व्यक्त एकाकी जाता है वह अन्य आचार्य के अवग्रह-वर्जित क्षेत्र में जो कुछ पाता है, उसमें सचित्त अभिधारित आचार्य का होता है। जो ज्ञान के निमित्त जाता है, वह दो तीन आचार्यों का अभिधारण कर चलता है। वह मध्य में ग्लान हो गया। आचार्यों ने सुना कि हमारी अभिधारण कर आने वाला साधु मार्ग में ग्लान हो गया। वहां यह आभाव्य-अनाभाव्य की मार्गणा होती है।

५३९२. आयरिय दोण्णि आगत, एक्के एक्के वडणागए गुरुगा।
ण य लभती सच्चित्तं, कालगते विप्परिणए वा॥

यदि वे दोनों आचार्य आए हैं तो उसने जो पाया है वह सारा दोनों का होता है। अथवा उन दोनों आचार्यों में एक आया है और एक नहीं आया है तो नहीं आने वाले को चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त तथा उसे सचित्त या अचित्त कुछ भी नहीं मिलता। यदि वह शिष्य कालगत हो जाता है तब भी जो उसकी गवेषणा में आगत है, उसीका आभाव्य होता है। यदि शिष्य विपरिणत हो गया है तो उस आचार्य को कुछ भी प्राप्त नहीं होता। विपरिणत होने से पूर्व जो लब्ध हुआ है, वह प्राप्त हो सकता है।

५३९३. पंथ सहाय समत्थो, धम्मं सोऊण पव्वयामि त्ति।
खेत्ते य बाहि परिणये, वाताहडे मग्गणा इणमो॥

ज्ञानार्थ प्रस्थित मुनि को कोई समर्थ सहायक वाताहत—वायु की भांति आकृष्ट की तरह—आकस्मिक ढंग से मिल गया। वह उसके पास धर्म सुनकर प्रव्रज्या लेने के लिए तैयार हुआ। उसका वह परिणाम साधु परिगृहीत क्षेत्र के भीतर या बाहर हुआ है, उसकी यह मार्गणा होती है।

५३९४. खेत्तम्मि खेत्तियस्सा, खेत्तबहिं परिणए पुरिल्लस्स।

अंतर परिणय विप्परिणए य णेगा उ मग्गणता॥

साधु परिगृहीत क्षेत्र में वह प्रब्रज्या परिणत होता है तो वह क्षेत्रिक का आभाव्य होता है। क्षेत्र के बाहर परिणत होने पर उसी साधु का (धर्मकथा कहने वाले का) आभाव्य होता है। क्षेत्र में ही प्रब्रज्या का परिणाम हुआ और क्षेत्र के भीतर ही विपरिणत हो गया तब धर्मकथिक की क्षेत्र-अक्षेत्रगत राग-द्वेष के आधार पर अनेक मार्गणा होती है।

५३९५. वीसज्जियम्मि एवं, अविसज्जिए चउलहुं च आणादी।

तेसिं पि हुंति लहुगा, अविधि विही सा इमा होइ॥

यह विधि आचार्य द्वारा विसर्जित शिष्य के लिए है। अविसर्जित जाने वाले शिष्य के लिए चतुर्लघु का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष हैं। जिनके पास वह जाता है, उनको भी चतुर्लघु। अविधि का निरूपण किया जा चुका है, विधि यह होती है।

५३९६. परिवार-पूयहेउं, अविसज्जंते ममत्तदोसा वा।

अणुलोमेण गमेज्जा, दुक्खं खु विमुंचिउं गुरुणो॥

आचार्य अपने शिष्य-परिवार के लिए, पूजा के निमित्त, ममत्व दोष के कारण शिष्य को विसर्जित नहीं करता तो उसे अनुकूल वचनों से प्रज्ञापित करे। यह सच है कि गुरु के लिए शिष्य को विमुक्त करना कष्टप्रद होता है।

५३९७. नाणम्मि तिण्णि पक्खा,

आयरि-उज्जाय-सेसगाणं च।

एक्केक्क पंच दिवसे,

अहवा पक्खेण एक्केक्कं॥

जो शिष्य ज्ञान के निमित्त गण से अपक्रमण करता है तो तीन पक्षों-आचार्य, उपाध्याय और शेष साधु को पूछ कर करना चाहिए। प्रत्येक को पांच-पांच दिन के लिए पूछे-यह एक पक्ष है। दूसरा और तीसरा पक्ष भी इसी प्रकार पूछे। अथवा पक्ष से एक-एक को पूछे-ये तीन पक्ष हो लाते हैं। यदि इतने पर भी विसर्जित नहीं करते हैं तो अविसर्जित ही वहां से प्रस्थान कर दे।

५३९८. एयविहिमागतं तू, पडिच्छ अपडिच्छणे भवे लहुगा।

अहवा इमेहिं आगते, एगादि पडिच्छती गुरुणा॥

इस विधि से आए हुए प्रतीच्छक को उपसंपदा देकर स्वीकार करे। स्वीकार न करने पर चतुर्लघु का प्रायश्चित्त है। इनमें से एक आदि कारणों से आए हुए को स्वीकार करने पर चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त है।

५३९९. एगे अपरिणते या, अप्पाहारे य थेरेए।

गिलाणे बहुरोगी य, मंदधम्मे य पाहुडे॥

वह एकाकी आचार्य को छोड़कर आया है। अथवा आचार्य के पास जो साधु हैं वे अपरिणत हैं, अथवा आचार्य अल्पाधार वाले हैं, आचार्य स्थविर हैं, आचार्य ग्लान या बहुरोगी हैं, शिष्य मंदधर्मा हैं। वह गुरु से कलह कर आया है।

५४००. एयारिसं विओसज्ज, विप्पवासो ण कप्पती।

सीस-पडिच्छा-ऽऽयरिए, पायच्छित्तं विहिज्जती॥

इस प्रकार के आचार्य का व्युत्सर्ग कर विप्रवास-गमन करना नहीं कल्पता। इसमें शिष्य, प्रतीच्छक और आचार्य-तीनों को प्रायश्चित्त आता है।

५४०१. विइयपदमसंविग्गे, संविग्गे चेव कारणागाढे।

नाऊण तस्सभावं, कप्पति गमणं अणापुच्छा॥

जो पहले कहा गया कि ज्ञानार्थ जाने वाले को तीन पक्षों को पूछ कर प्रस्थान करना चाहिए। प्रस्तुत गाथा उसका आपवादिक है। असंविग्ग आचार्य को तथा आगाढ़ कारण में संविग्ग आचार्य को बिना पूछे भी जा सकता है। गुरु के भावों को जानकर कि ये पूछने पर भी विसर्जित नहीं करेंगे तो वह बिना पूछे भी जा सकता है।

५४०२. अज्झयणं वोच्छिज्जति,

तस्स य गहणम्मि अत्थि सामर्थ्यं।

ण वि वियंरति चिरेण वि,

एतेणऽविसज्जिओ गच्छे॥

वह श्रुत का अध्ययन व्युच्छिन्न हो जायेगा परन्तु उसके ग्रहण में उस शिष्य का सामर्थ्य है और उसके ग्रहण के लिए गुरु चिरकाल तक भी उसे नहीं भेजेंगे, यह सोचकर गुरु द्वारा अविसर्जित किए जाने पर भी वह चला जाए।

५४०३. नाऊण य वोच्छेदं, पुव्वगते कालियाणुओगे य।

अविहि-अणापुच्छाऽऽगत, सुत्तत्थविजाणओ वाए॥

पूर्वगत और कालिक अनुयोग का व्यवच्छेद जानकर अविधि और आचार्य को पूछे बिना आए हुए शिष्य को सूत्रार्थ ज्ञायक अवश्य वाचना दे।

५४०४. णाऊण य वोच्छेदं, पुव्वगते कालियाणुओगे य।

सुत्तत्थजाणगस्सा, कारणजाते दिसाबंधो॥

पूर्वगत और कालिकानुयोग के व्यवच्छेद को जानकर सूत्रार्थज्ञायक को कारण उत्पन्न होने पर अनाभाव्य के साथ आत्मीय दिग्बंध करना चाहिए, अपने शिष्य की भांति उसे ग्रहण करना चाहिए।

१. आत्मीयां दिशं बध्नाति, स्वशिष्यत्वेन स्थापयति। (वृ. पृ. १४३५)

५४०५.ससहायअवत्तेणं, खेत्ते वि उवद्वियं तु सच्चित्तं।
दलियं णाउं बंधति, उभयममत्तद्वया तं वा॥

ससहायक एक अव्यक्त सचित्त शैक्ष परक्षेत्र में उपस्थित हुआ। वह पूर्वाचार्य और क्षेत्रिक साधुओं का आभाव्य होता है। फिर भी उसको 'दलिक' अर्थात् मेधावी और आचार्यपद योग्य जानकर अपने शिष्यत्व के रूप में स्थापित करता है। साधु-साध्वियों-दोनों का उसके प्रति ममत्व भाव है अथवा जो प्रतीच्छक आया है, वह भी ग्रहण-धारणा में समर्थ है तो उसे भी स्वशिष्य के रूप में स्थापित करता है—यह मान्य है।

५४०६.आयरिए कालगते, परियद्वइ तं गणं च सो चेव।
चोएति य अपदंते, इमा उ तहिं मग्गणा होइ॥

जिस शैक्ष और प्रतीच्छक को शिष्यरूप से स्वीकार किया है वे ही आचार्य के कालगत होने पर उस गण को स्वयं चलाते हैं। गण के जो साधु श्रुत नहीं पढ़ते उन्हें प्रेरणा देते हैं। यदि प्रेरणा देने पर भी नहीं पढ़ते तो इस आभवद् व्यवहार की मार्गणा होती है।

५४०७.साहारणं तु पढमे,

बितिए खित्तम्मि ततिय सुह-दुक्खे।

अणहिज्जंते सीसे,

सेसे एक्कारस विभागा॥

आचार्य के कालगत होने के प्रथम वर्ष में जो लाभ होता है वह साधारण होता है, सबके होता है। दूसरे वर्ष में जो क्षेत्रोपसंपन्न को लाभ होता है वह जो नहीं पढ़ते उनका होता है। तीसरे वर्ष में जो सुख-दुःख उपसंपन्न को प्राप्त होता है, वह उनका होता है और चौथे वर्ष में कालगत आचार्य के जो नहीं पढ़ने वाले शिष्य हैं उन्हें कुछ नहीं मिलता तथा शेष जो पढ़ने वाले हैं उनके ग्यारह विभाग हैं।

५४०८.खेत्तोवसंपयाए, बावीसं संथुया य मित्ता य।
सुह-दुक्ख मित्तवज्जा, चउत्थाए नालबद्धाइं॥

शिष्य ने पूछा—क्षेत्रोपसंपन्न और सुख-दुःखोपसंपन्न को क्या मिलता है? आचार्य कहते हैं—'क्षेत्रोपसंपदा से उपसंपन्न व्यक्ति को अनन्तर और परंपराबल्ली बद्ध माता-पिता आदि बावीस पुरुष प्राप्त होते हैं। तथा पूर्व-पश्चाद् संस्तुत और मित्र प्राप्त होते हैं। सुख-दुःखोपसंपन्न को मित्रवर्ज्य ये सारे मिलते हैं। चौथा अर्थात् श्रुतसंपन्न केवल बावीस नालबद्ध को प्राप्त करता है।'

५४०९.पुव्वुद्विडे तस्सा, पच्छुद्विडे पवाययंतस्स।

संवच्छरम्मि पढमे, पडिच्छए जं तु सच्चित्तं॥

जीवित अवस्था में आचार्य ने प्रतीच्छक को जो श्रुत

उद्दिष्ट किया था, उसी को पढ़ता हुआ प्रथम वर्ष में जो प्राप्त करता है वह कालगत आचार्य का आभाव्य होता है। यह एक विभाग है। पश्चात् उद्दिष्ट की वाचना देते हुए प्रथम वर्ष में जो प्राप्त होता है वह प्रवाचक का होता है। यह दूसरा विभाग है।

५४१०.पुव्वं पच्छुद्विडे, पडिच्छए जं तु होइ सच्चित्तं।
संवच्छरम्मि बितिए, तं सव्वं पवाययंतस्स॥

प्रतीच्छक पूर्वोद्दिष्ट पढ़े या पश्चाद् उद्दिष्ट पढ़े, उसे जो सचित्त आदि का लाभ होता है, वह दूसरे वर्ष में प्रवाचक का होता है। यह तीसरा विभाग है।

५४११.पुव्वं पच्छुद्विडे, सीसम्मि य जं तु होइ सच्चित्तं।
संवच्छरम्मि पढमे, तं सव्वं गुरुस्स आभवइ॥

शिष्य पूर्वोद्दिष्ट या पश्चात् उद्दिष्ट पढ़ता हुआ सचित्त आदि जो कुछ प्राप्त करता हुआ पहले वर्ष में, वह सारा गुरु का आभाव्य होता है।

५४१२.पुव्वुद्विडे तस्सा, पच्छुद्विडे पवाययंतस्स।
संवच्छरम्मि बितिए, सीसम्मि उ जं तु सच्चित्तं॥

जो शिष्य पूर्वोद्दिष्ट पढ़ रहा है तो दूसरे वर्ष में सचित्त आदि कालगत आचार्य का आभाव्य होता है। पश्चाद् उद्दिष्ट पढ़ने वाले शिष्य का सचित्त आदि लाभ प्रवाचक का आभाव्य होता है।

५४१३.पुव्वं पच्छुद्विडे, सीसम्मि य जं तु होइ सच्चित्तं।
संवच्छरम्मि ततिए, तं सव्वं पवाययंतस्स॥

तीसरे वर्ष में पूर्वोद्दिष्ट या पश्चाद् उद्दिष्ट पढ़ने वाले शिष्य द्वारा प्राप्त सचित्त आदि प्रवाचक का होता है। यह सातवां विभाग है।

५४१४.पुव्वुद्विडे तस्सा, पच्छुद्विडे पवाययंतस्स।
संवच्छरम्मि पढमे, सिस्सिणिए जं तु सच्चित्तं॥

जो शिष्या पूर्वोद्दिष्ट पढ़ती है, प्रथम वर्ष में प्राप्त सचित्तादि कालगत आचार्य का आभाव्य होता है। यह आठवां विभाग है। पश्चाद् उद्दिष्ट पढ़ने वाली शिष्या द्वारा प्राप्त सचित्त आदि प्रवाचक का आभाव्य होता है। यह नौवां विभाग है।

५४१५.पुव्वं पच्छुद्विडे, सिस्सिणिए जं तु होइ सच्चित्तं।
संवच्छरम्मि बीए, तं सव्वं पवाययंतस्स॥

पूर्वोद्दिष्ट अथवा पश्चाद् उद्दिष्ट पढ़ने वाली शिष्या का सचित्तादि का लाभ, दूसरे वर्ष में, प्रवाचक का होता है। यह दसवां विभाग है।

५४१६.पुव्वं पच्छुद्विडे, पडिच्छिगा जं तु होति सच्चित्तं।
संवच्छरम्मि पढमे, तं सव्वं पवाययंतस्स॥

प्रतीच्छिका शिष्या पूर्वोद्दिष्ट या पश्चाद् उद्दिष्ट पद्धती हुई, प्रथम वर्ष में जो प्राप्त करती है, वह सारा प्रवाचक का होता है।

५४१७. संवच्छराइं तिन्नि उ, सीसम्पि पडिच्छए उ तद्विसं।

एवं कुले गणे या, संवच्छर संघे छम्मासा॥

कुलसत्क आचार्य तीन वर्षों तक वाचना देता हुआ भी शिष्यों से कुछ नहीं लेता। जो प्रतीच्छक हैं उनको वाचना देता हुआ, जिस दिन आचार्य कालगत हुए हैं, उस दिन जो प्राप्त हो वह लेता है। इसी प्रकार कुलसत्क आचार्य की विधि है। गणसत्क आचार्य एक संवत्सर तक शिष्यों का सचित्तादिक नहीं लेता। संघसत्क आचार्य नियमतः छहमास तक कुछ नहीं लेता। इसलिए प्रतीच्छक आचार्य को वहां गण में तीन वर्ष तक अवश्य रहना चाहिए, आगे पुनः उनकी इच्छा।

५४१८. तत्थेव य निम्माए, अणिग्गए णिग्गए इमा मेरा।

सकुले तिन्नि तियाइं, गणे दुगं वच्छरं संघे॥

यदि आचार्य के निर्गत होने से पूर्व गच्छ में किसी शिष्य का निर्माण हो गया हो तो अच्छा है। यदि निर्माण न हुआ हो और आचार्य निर्गत हो गए हों तो यह मेरा-सामाचारी है। स्वकीय कुलस्थविर वाचनाचार्य की व्यवस्था करते हैं। वे त्रयत्रिक अर्थात् नौ वर्षों तक वाचना देते हैं। गण भी दो वर्षों तक वाचना देता है और संघ एक वर्ष की वाचना की व्यवस्था करता है। यह क्रम तब तक आगे से आगे चलता है जब तक गच्छ में एक भी शिष्य का निर्माण नहीं हो जाता।

५४१९. ओमादिकारणेहि व, दुम्मेहत्तेण वा न निम्माओ।

काऊण कुलसमायं, कुल थेरे वा उवडंति॥

शिष्य का निर्माण न होने के कारण-अवम, अशिव आदि कारणों, अनवरत पर्यटन के कारण तथा मेधा के अभाव में एक का भी निर्माण नहीं हुआ तब कुलसमवाय करके सभी कुलस्थविर के पास जाते हैं तब वे सबको उपसंपदा देते हैं।

५४२०. पव्वज्जएगपक्खिय, उवसंपय पंचहा सए ठाणे।

छत्तीसाऽतिक्कंते, उवसंपय पत्तुवादाए॥

१. पांचों प्रकार की उपसंपदा अपने-अपने स्थान में स्वीकृत करनी चाहिए। तात्पर्य है कि श्रुतोपसंपत् वाले का स्वस्थान है श्रुतज्ञानी, सुख-दुखोपसंपत् वाले का स्वस्थान है जहां वैयावृत्य करने वाले हों, क्षेत्रोपसंपत् का स्वस्थान है जहां भक्तपान की प्राप्ति सुलभ हो, मार्गोपसंपत् वाले का स्वस्थान है जहां मार्गज्ञ हो, विनयोपसंपत् वाले का स्वस्थान है जहां विनय करना युक्त है।

अथवा 'स्वस्थान' का तात्पर्य है-जहां श्रुत और प्रव्रज्या से

जो प्रव्रज्या से एकपाक्षिक है उसके पास उन सबको उपसंपदा ग्रहण कराते हैं। वह उपसंपदा पांच प्रकार की है। छत्तीस वर्षों के (२४+१२) अतिक्रान्त होने पर, अपना स्थान प्राप्त कर, उन सबको उपसंपदा देनी चाहिए।

५४२१. गुरुसज्जिलओ सज्जंतिओ व

गुरुगुरु गुरुस्स वा णत्तु।

अहवा कुलिच्चतो ऊ,

पव्वज्जाएगपक्खीओ॥

गुरु का सहाध्यायी^२, स्वयं का सब्रह्मचारी^३, गुरु का गुरु, गुरु का पौत्र-प्रशिष्य अथवा कुलसत्क-समान कुलोद्भव-ये सारे प्रव्रज्या के एकपाक्षिक माने जाते हैं।

५४२२. पव्वज्जाए सुएण य, चउभंगुवसंपया कमेणं तु।

पुव्वाहियवीसरिए, पढमासइ ततियभंगे उ॥

एक पाक्षिक दो कारणों से होता है-श्रुत से, प्रव्रज्या से। जिसके साथ श्रुत की एक वाचनिका ली हो, वह है श्रुत से एक पाक्षिक। यहां यह चतुर्भंगी होती है-

१. प्रव्रज्या से एक पाक्षिक, श्रुत से भी एक पाक्षिक।

२. प्रव्रज्या से एक पाक्षिक, श्रुत से नहीं।

३. श्रुत से एक पाक्षिक, प्रव्रज्या से नहीं।

४. न प्रव्रज्या से, न श्रुत से एक पाक्षिक।

इनके पास इस क्रम से उपसंपदा ग्रहण करनी चाहिए। पहले प्रथम भंग वाले के पास उपसंपन्न होना चाहिए। उसके अभाव में तीसरे भंग वाले के पास। क्योंकि जो पढ़ा हुआ श्रुत विस्मृत हो गया हो तो उसका सहजतया पुनरावर्तन किया जा सकता है, क्योंकि वह श्रुत से एक पाक्षिक है।

५४२३. सुय सुह-दुक्खे खेत्ते, मग्गे विणओवसंपयाए य।

बावीस संथुय वयंस दिट्ठभट्ठे य सब्बे य॥

उपसंपदा के पांच प्रकार हैं-

१. श्रुतउपसम्पत्

४. मार्गतोपसम्पत्

२. क्षेत्रोपसम्पत्

५. विनयोपसम्पत्।

३. सुख-दुःखोपसम्पत्

इन पांचों का आभवद् व्यवहार इस प्रकार है-

एकपाक्षिक हो वहां पहले उपसंपदा लेनी चाहिए, पश्चात् कुल और श्रुत से एकपाक्षिक के पास, फिर श्रुत और गण से एकपाक्षिक के पास, फिर श्रुत से एकपाक्षिक के पास, फिर प्रव्रज्या से एकपाक्षिक के पास, फिर जो श्रुत और प्रव्रज्या से एकपाक्षिक नहीं है, उसके पास भी उपसंपदा ली जा सकती है। (वृ. पृ. १४३९)

२. सज्जिलअ-सहाध्यायी।

३. सज्जंतिअ-सब्रह्मचारी।

श्रुतोपसम्पदा में बावीस नालबद्ध प्राप्त हो सकते हैं—

१. माता	७. नानी	१३. चाचा	१९. पौत्र
२. पिता	८. नाना	१४. बूआ	२०. पौत्री
३. भाई	९. मामा	१५. भतीज	२१. दोहिता
४. भगिनी	१०. मौसी	१६. भतीजी	२२. दोहित्री
५. पुत्र	११. दादी	१७. भानेज	
६. पुत्री	१२. दादा	१८. भानेजी	

ये ही बावीस श्रुतोपसम्पत् के आभाव्य होते हैं। सुख-दुःखोपसम्पत् वाला ये बावीस तथा पूर्वसंस्तुत और पश्चाद्संस्तुत तथा प्रपोत्र और श्वसुर आदि को प्राप्त करता है। क्षेत्रोपसम्पत् वाला इन सबके साथ-साथ सभी वयस्कों को प्राप्त करता है। मार्गोपसम्पत् वाला इन सबको तथा दृष्ट और भाषित सबको तथा विनयोपसम्पत् वाला इन सबके साथ दृष्ट-अदृष्ट, ज्ञात, अज्ञात को भी प्राप्त करता है। वह विनययोग्य व्यक्तियों का विनय करता है।

५४२४. सव्वस्स वि कायव्वं,

निच्छयओ किं कुलं व अकुलं वा।

कालसभावममत्ते,

गारव-लज्जाहिं काहिंति ॥

निश्चयरूप से श्रुतवाचनादि कार्य सबके पास करनी चाहिए। उसमें कुल और अकुल की विचारणा से क्या प्रयोजन? किन्तु दुःषमा लक्षण वाले इस काल के अनुभाव के कारण 'यह मेरा आत्मीय है' आदि तथा जो गौरव और लज्जा है, इनसे प्रेरित होकर वे सुखपूर्वक श्रुत-वाचना का कार्य करेंगे, इसलिए पहले प्रब्रज्या आदि से निकट वालों से उपसंपदा ग्रहण करता है।

५४२५. कालिय पुव्वगए वा,

णिम्माओ जति य अत्थि से सत्ती।

दंसणदीवगहेउं,

गच्छइ अहवा इमेहिं तु ॥

कोई शिष्य कालिकश्रुत तथा पूर्वगतश्रुत में निर्मित हो गया हो और उसमें और अधिक ग्रहण की शक्ति है तो अपने दर्शन को उज्ज्वल-उद्दीपन करने वाले ग्रंथों के अध्ययन के लिए अन्य गण में जाता है।

५४२६. भिक्खुगा जहिं देसे,

बोडिय-थलि-णिणहएहिं संसग्गी।

तेसिं पणवणं असहमाणे

वीसज्जिए गमणं ॥

जिस देश में भिक्षुक (बौद्ध), बोटिक, निहव आदि बहुत हों, उनकी वहां स्थली हो, उनके साथ जैन आचार्य की

संसर्गि-प्रीति हो, उनका आना-जाना हो और वे भिक्षु आदि अपने सिद्धांतों का प्रतिपादन करते हैं और वे आचार्य तर्कशास्त्र के अज्ञात होने के कारण मौन बैठे रहते हैं तो पास में बैठा शैक्ष उन अन्य मतावलंबी भिक्षुओं आदि की प्रज्ञापना को सहन न करता हुआ, सोचता है—मैं अन्य गण में जाकर दर्शनप्रभावकग्रंथों का अध्ययन करूं। ऐसा सोचकर वह आचार्य से आज्ञा लेता है। विसर्जित होने पर वह प्रस्थान कर देता है।

५४२७. लोए वि अ परिवादो, भिक्खुगमादी य गाढ चमढिंति।

विप्परिणमंति सेहा, ओभामिज्जंति सद्धा य ॥

आचार्य द्वारा मौन रहने पर लोकों में निन्दा होती है। भिक्षुक आदि जैनशासन की अत्यधिक अवहेलना करते हैं। शैक्ष यह सारा सुनकर-देखकर विपरिणत हो जाते हैं और श्रावक अन्य उपासकों द्वारा तिरस्कृत होते हैं।

५४२८. रसगिद्धो व थलीए, परतित्थियतज्जणं असहमाणो।

गमणं बहुस्सुतत्तं, आगमणं वादिपरिसा उ ॥

वे आचार्य रसगृह्य होने के कारण उस स्थली में कुछ परिवाद नहीं करते, मौन रहते हैं। शिष्य अन्यतीर्थिकों की तर्जनाओं को सहन न करता हुआ वह अध्ययन के लिए अन्य गण में जाता है और वहां बहुश्रुतत्व प्राप्त कर पुनः अपने गण में आता है, और वादकुशल परिषद् को परिचित कर वाद का समायोजन करता है। फिर उन परतीर्थिक भिक्षुओं के साथ वाद-विवाद कर उन्हें निरुत्तर करता है।

५४२९. वायपरायणकुविया, जति पडिसेहंति साहु लइं च।

अह चिरणुगओ अम्हं, मा से पवत्तं परिहवेह ॥

वाद में पराजित होने के कारण कुपित भिक्षु आदि उस आचार्य को उसका वंट (हिस्सा) देने का प्रतिषेध करते हैं। तब शिष्य सोचते हैं कि अच्छा हुआ! हम जैसा चाहते थे। वह हो गया। कोई भिक्षु आदि कहता है—ये आचार्य हमारे साथ लंबे समय से रह रहे हैं, इनका दोष क्या है? परंतु इनको पूर्वप्रवृत्त देने का निषेध मत करो।

५४३०. काऊण य प्पणामं, छेदसुतस्सा दलाह पडिपुच्छं।

अण्णत्थ वसहि जग्गण, तेसिं च णिवेदणं काउं ॥

गुरु के चरणों में प्रणाम कर निवेदन करना चाहिए—आप हमें छेदसूत्रों की प्रतिपृच्छा दें। यहां से दूसरी वसति में हम चलें। यदि आचार्य चलने के लिए तैयार न हों तो उन्हें रात भर जागरण कराये। उन अगीतार्थ मुनियों को निवेदन कर दें कि हम आचार्य को ले जायेंगे।

५४३१. सहं च हेतुसत्थं, अहिज्जओ छेदसुत्त णइं मे।

एत्थ य मा असुतत्था, सुणिज्ज तो अण्णहिं वसिमो ॥

मैं शब्दशास्त्र, हेतुशास्त्र-सन्मति आदि पढ़ता रहा, इसलिए मेरा पढ़ा हुआ छेदसूत्र नष्ट हो गया, विस्मृत हो गया। यहां इस वसति में अश्रुतार्थ-शैक्ष अथवा अपरिणामक शिष्य न सुनें, इसलिए हम अन्य वसति में चलें।

५४३२. खित्ताऽऽरक्खिणिवेयण,

इयरे पुव्वं तु गाहिया समणा।

जग्गविओ सो अ चिरं,

जह पिज्जंतो ण चेतती॥

यदि आचार्य वहां से जाना न चाहे तो वे आरक्षिक को निवेदन करे कि हमारा एक मुनि क्षिप्तचित्त हो गया है। हम उसे रात में वैद्य के पास ले जायेंगे। आप कुछ न कहें। तथा इतर श्रमणों को पहले ही बता दे कि हम आचार्य को इस प्रकार यहां से ले जायेंगे। शिष्यों ने उस रात्री में आचार्य को जगाए रखा और जब गहरी नींद आ गई तब उन्हें उठाकर ले गए। उन्हें कुछ भी ज्ञात नहीं हुआ।

५४३३. निण्हयसंसग्गीए,

बहुसो भण्णंतुवेह सो कुणइ।

तुह किं ति वच्च परिणम,

गता-ऽऽगते णीणिओ विहिणा॥

आचार्य को बहुत बार कहने पर भी वे निह्वों के संसर्ग को छोड़ना नहीं चाहते। उस कथन की उपेक्षा करते हैं। वे शिष्य को कहते हैं—तुम जहां जाना चाहो वहां जाओ। शिष्य गुरु के परिणाम को जानकर वहां से अन्य गण में जाकर शास्त्रों को पढ़कर लौट आता है। फिर विधिपूर्वक आचार्य को गण से निष्काशित कर देता है।

५४३४. एसा विही विसज्जिए,

अविसज्जिए लहुग दोस आणादी।

तेसिं पि हुंति लहुगा,

अविहि विही सा इमा होइ॥

यह विधि गुरु द्वारा विसर्जित शिष्य के लिए माननी चाहिए। अविसर्जित अवस्था में जाने वाले शिष्य के लिए चतुर्लघु और आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं। जो उसको स्वीकार कर पढ़ता है उसके भी चतुर्लघु का प्रायश्चित्त है। यह अविधि है। अतः विधि से जाना चाहिए।

५४३५. दंसणनिंते पक्खो, आयरि-उज्झाय-सेसगाणं च।

एक्रेक पंच दिवसे, अहवा पक्खेण सब्बे वि॥

जो दर्शन के प्रभावक शास्त्रों के अध्ययन के लिए जाता है वह आचार्य, उपाध्याय तथा अन्य श्रमणों को पांच-पांच दिन प्रत्येक की गणनानुसार एक पक्ष तक

पृच्छा करता है। अथवा एक पक्ष में सबको पूछता है अर्थात् प्रतिदिन तीनों को पूछता है, जब तक एक पक्ष पूरा न हो जाए।

५४३६. एतविहिआगतं तू,

पडिच्छ अपडिच्छणे भवे लहुगा।

अहवा इमेहिं आगत,

एगाणि (दि) पडिच्छणे गुरुगा॥

इस विधि से आए हुए शिष्य को स्वीकार करे। स्वीकार न करने पर चतुर्लघु का प्रायश्चित्त है। इन एक या अनेक कारणों से आए हुए को स्वीकार करने पर चतुर्लघु का प्रायश्चित्त है।

५४३७. एगे अपरिणए या, अप्पाहारे य थेरए।

गिलाणे बहुरोगी य, मंदधम्मे य पाहुडे॥

वह एकाकी आचार्य को छोड़कर आया है। अथवा आचार्य के पास जो साधु हैं वे अपरिणत हैं, अथवा आचार्य अल्पाधार वाले हैं, आचार्य स्थविर हैं, आचार्य प्लान या बहुरोगी हैं; उनके शिष्य मंदधर्मा हैं। वह शिष्य गुरु से कलह कर आया है।

५४३८. एतारिसं विओसज्ज, विप्पवासो न कप्पई।

सीस-पडिच्छा-ऽऽयरिए, पायच्छित्तं विहिज्जई॥

इस प्रकार के आचार्य का व्युत्सर्ग कर विप्रवास-गमन करना नहीं कल्पता। इसमें शिष्य, प्रतीच्छक और आचार्य-तीनों को प्रायश्चित्त आता है।

५४३९. विइयपदमसंविग्गे, संविग्गे चव कारणागाढे।

नाऊण तस्सभावं, होइ उ गमणं अणापुच्छा॥

पहले जो कहा गया कि ज्ञानार्थ जाने वाले को तीन पक्षों को पूछ कर प्रस्थान करना चाहिए। प्रस्तुत श्लोक उसका आपवादिक है। असंविग्ग आचार्य को तथा आगाढ कारण में संविग्ग आचार्य को बिना पूछे भी जा सकता है। गुरु के भावों को जानकर कि ये पूछने पर भी विसर्जित नहीं करेंगे तो वह बिना पूछे भी जा सकता है।

५४४०. चरित्तद्द देसे दुविहा, एसणदोसा य इत्थिदोसा य।

गच्छम्मि य सीयंते, आयसमुत्थेहिं दोसेहिं॥

चारित्र के लिए गमन दो प्रकार से होता है—देश दोषों के कारण तथा आत्मसमुत्थदोषों के कारण। देश दोष दो प्रकार के हैं—एषणादोष और स्त्रीदोष। आत्मसमुत्थदोष भी दो प्रकार के हैं—गुरुदोष और गच्छदोष। गच्छ यदि आत्मसमुत्थदोषों से दुःखी है तो गच्छ को एक पक्षकाल तक पूछता है, वहीं रहता है, पूछता है, उसके पश्चात् अन्य गच्छ में चला जाता है।

५४४१.जहियं एसणदोसा, पुरकम्माई ण तत्थ गंतव्वं।
उदगपउरो व देसो, जहिं व चरिगाइसंकिण्णो॥

जिस देश में पुरःकर्म आदि एषणा दोषों का प्रसंग हो वहां नहीं जाना चाहिए। जो देश जलप्रचुर हो, जैसे—सिंधु देश आदि वहां तथा जिस देश में चरिकाएं अर्थात् परिव्राजिकाएं, कापलिकी संन्यासिनियां आदि अधिक हों, वहां नहीं जाना चाहिए। उनसे आकीर्ण देश का वर्जन करना चाहिए।

५४४२.असिवाईहिं गता पुण, तक्कज्जसमाणिया तओ णिति।
आयरियमणिते पुण, आपुच्छिउ अप्पणा णिति॥

यदि उन देशों में अशिव आदि कारणों से साधु गए हुए हों तो कार्य की समाप्ति हो जाने पर वहां से लौट आते हैं। यदि आचार्य वहां से आना न चाहें तो शिष्य उन्हें पूछकर स्वयं लौट आते हैं।

५४४३.दो मासे एसणाए, इत्थिं वज्जेज्ज अट्ठ दिवसाइं।
गच्छम्मि होइ पक्खो, आयसमुत्थेगदिवसं तु॥

जहां एषणा की शुद्धि न होती हो, वहां यतनापूर्वक अनेषणीय भी ग्रहण करता हुआ, गुरु को पूछकर, दो मास तक प्रतीक्षा करे। जहां शय्यातरी आदि स्त्री का उपसर्ग हो, वहां स्वयं को दृढ़ रखते हुए, गुरु को पूछकर आठ दिन के पश्चात् उस क्षेत्र को छोड़ दे। जहां गच्छ दुःख पा रहा है, वहां एक पक्ष तक गच्छ की पूछताछ कर जाना चाहिए। स्वयं के आत्मसमुत्थ दोष (स्त्री संबंधी) में एक दिन पूछकर जाता है।

५४४४.सेज्जायरिमाइ सएज्झए व आउत्थ दोस उभए वा।
आपुच्छइ सन्निहियं, सण्णाइगतं व तत्तो उ॥

यदि स्वयं शय्यातरी आदि तथा पड़ौसी की स्त्री में अध्युपपन्न हो या परस्पर अध्युपपन्न हों तो, यदि आचार्य सन्निहित हों तो पूछकर जाए। यदि संजाभूमि आदि में गए हों तो आचार्य को निवेदन करने के लिए मुनियों को कहकर गमन कर दे।

५४४५.एयविहिमागयं तू, पडिच्छ अपडिच्छणे भवे लहुगा।
अहवा इमेहिं अगय, एगागि(दि) पडिच्छणे गुरुगा॥

इस विधि से आए हुए शिष्य को स्वीकार करे। स्वीकार न करने पर चतुर्लघु का प्रायश्चित्त है। इस एक या अनेक कारणों से आए हुए को स्वीकार करने पर चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त है।

५४४६.एगे अपरिणए या, अप्पाहारे य थेरए।
गिलाणे बहुरोगी य, मंदधम्मे य पाहुडे॥

वह एकाकी आचार्य को छोड़कर आया है। अथवा आचार्य के पास जो साधु हैं वे अपरिणत हैं, अथवा आचार्य अल्पाधार वाले हैं, आचार्य स्थविर हैं, आचार्य ग्लान या बहुरोगी हैं, शिष्य मंदधर्मा हैं। वह शिष्य गुरु से कलह कर आया है।

५४४७.एयारिसं विओसज्ज, विप्पवासो ण कप्पई।
सीस-पडिच्छा-SSयरिए, पायच्छित्तं विहिज्जई॥

इस प्रकार के आचार्य का व्युत्सर्ग कर विप्रवास-गमन करना नहीं कल्पता। इसमें शिष्य, प्रतीच्छक और आचार्य-तीनों को प्रायश्चित्त आता है।

५४४८.बिइयपदमसंविग्गे, संविग्गे चव कारणागाडे।
नाऊण तस्स भावं, अप्पणो भावं अणापुच्छा॥

इसका द्वितीयपद यह है—संविग्ग या असंविग्ग आचार्य के भावों को जानकर तथा अपने भावों का पर्यालोचन कर आगाढ़कारण में भी आचार्य को बिना पूछे ही यहां से प्रस्थान कर दे।

५४४९.सेज्जायरकप्पट्टी, चरित्तवणाए अभिगया खरिया।
सारुविओ गिहत्थो, सो वि उवाएण हायव्वो॥

आचार्य ने शय्यातर की बेटी में चारित्र की स्थापना कर दी अर्थात् वे उसकी प्रतिसेवना करने लगे। तदनन्तर द्व्यक्षरिका कोई दासी या जीवादि के ज्ञानवाली कोई श्राविका में आचार्य अध्युपपन्न हो गए। अतः वे सारूपिक^१ सिद्धपुत्रक (गृहस्थ) हो जाते हैं। अतः उनका उपाय से परिहार करना चाहिए।

गणावच्छेइए य गणाओ अवक्कम्म
इच्छेज्जा अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं
विहरित्तए, नो कप्पइ गणावच्छेइयस्स
गणावच्छेइयत्तं अनिक्खित्ता अण्णं गणं
उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए। कप्पइ
गणावच्छेइयस्स गणावच्छेइयत्तं
निक्खित्ता अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं
विहरित्तए। नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता
आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अण्णं
गणं उपसंपज्जित्ताणं विहरित्तए; कप्पइ से
आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव
गणावच्छेइयं वा अण्णं गणं

१. सारूपिक—जिसका शिर मुंडित हो, जो सफेद वस्त्र पहनता हो, कच्छा नहीं बांधने वाला, अभार्याक, भिक्षा के लिए घूमता हो। सिद्धपुत्रक—मुंड, शिखा रखने वाला, सभार्याक। (व. पृ. १४४४)

उपसंपज्जित्ताणं विहरित्तए। ते य से वियरेज्जा, एवं से कप्पइ अण्णं गणं उपसंपज्जित्ताणं विहरित्तए; ते य से नो वियरेज्जा, एवं से नो कप्पइ अण्णं गणं उपसंपज्जित्ताणं विहरित्तए॥

(सूत्र १७)

आयरिय-उवज्झाय य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अण्णं गणं उपसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, नो कप्पइ आयरिय-उवज्झायस्स आयरिय-उवज्झायत्तं अनिक्खिवित्ता अण्णं गणं उपसंपज्जित्ताणं विहरित्तए; कप्पइ आयरिय-उवज्झायस्स आयरिय-उवज्झायत्तं निक्खिवित्ता अण्णं गणं उपसंपज्जित्ताणं विहरित्तए। नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा गणावच्छेइयं वा अण्णं गणं उपसंपज्जित्ताणं विहरित्तए; कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा गणावच्छेइयं वा अण्णं गणं उपसंपज्जित्ताणं विहरित्तए। ते य से वियरेज्जा, एवं से कप्पइ अण्णं गणं उपसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, ते य से नो वियरेज्जा, एवं से नो कप्पइ अण्णं गणं उपसंपज्जित्ताणं विहरित्तए॥

(सूत्र १८)

५४५०. एमेव गणावच्छे, गणि-आयरिए वि होइ एमेव।

नवरं पुण नाणत्तं, ते नियमा हुंति वत्ता उ॥

भिक्षु की भांति गणावच्छेदिक की तथा उपाध्याय और आचार्य की भी अन्यगण में जाने की यही विधि है। यह विशेष है कि गणावच्छेदिक आदि नियमतः व्यक्त होते हैं।

५४५१. एसेव गमो नियमा, निग्गंधीणं पि होइ नायव्वो।

नाणइ जो उ नेई, सच्चित्त ण अप्पिणे जाव॥

यही विधि नियमतः निर्ग्रन्थियों की जाननी चाहिए। जो आर्यिकाओं को ज्ञान के लिए ले जाता है, उसे जो सचित्त आदि का लाभ होता है, उस लाभ को जब तक वह

वाचनाचार्य को अर्पित नहीं करता तब तक वह उसी का आभाव्य होता है।

५४५२. पंचणहं एगयरे, उग्गहवज्जं तु लभति सच्चित्तं।

आपुच्छ अइ पक्खे, इत्थीसत्थेण संविग्गो॥

आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर तथा गणावच्छेदक—इन पांचों में से कोई एक संयतियों को ले जाता है। वहां परक्षेत्रावग्रह को छोड़कर जो सचित्त प्राप्त होता है, वह उसी का होता है। जो निर्ग्रन्थी ज्ञान के लिए जाती है, वह आठ पक्षों को पूछती है। वह आचार्य, उपाध्याय, वृषभ तथा गच्छ को और संयती वर्ग में प्रवर्तिनी, गणावच्छेदिका, अभिषेका तथा शेष साध्वी वर्ग—इन सबको—एक-एक पक्ष तक पूछती है। वे प्रस्थित साध्वियां स्त्रीवर्ग के साथ तथा संविग्ग मुनि को साथ लेकर जाती हैं।

भिकखू य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा

अण्णं गणं संभोगपडियाए

उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, नो से कप्पइ

अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव

गणावच्छेइयं वा अण्णं गणं

संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं

विहरित्तए; कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं

वा जाव गणावच्छेइयं वा अण्णं गणं

संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं

विहरित्तए। ते य से वियरेज्जा, एवं से

कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए

उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, ते य से नो

वियरेज्जा, एवं से नो कप्पइ अण्णं गणं

संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं

विहरित्तए। जत्थुत्तरियं धम्मविणयं

लभेज्जा, एवं से कप्पइ अण्णं गणं

संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं

विहरित्तए; जत्थुत्तरियं धम्मविणयं नो

लभेज्जा, एवं से नो कप्पइ अण्णं गणं

संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं

विहरित्तए॥

(सूत्र १९)

५४५३.संभोगो वि हु तिहिं कारणेहिं नाण्ड दंसण चरित्ते।
संकमणे चउभंगो, पढमो गच्छम्मि सीयंते॥

संभोग (एक मंडली में भोजन करना) भी तीन कारणों से होता है—ज्ञान के लिए, दर्शन के लिए तथा चारित्र के लिए। गण से संक्रमण की विधि पूर्वोक्त ही है। चारित्र के लिए उपसंपन्न की चतुर्भंगी होती है—

१. गच्छ अनुत्साहित होता है, आचार्य नहीं।
२. आचार्य अनुत्साहित होता है, गच्छ नहीं।
३. दोनों अनुत्साहित होते हैं।
४. दोनों अनुत्साहित नहीं होते।

(यहां चरण-करण की क्रियाओं में अनुत्साहित होना है।)

यहां प्रथम भंग गच्छ अनुत्साहित होता है, यह मानना चाहिए।

५४५४.पडिलेह दियतुअट्टण,

निक्खिव आदाण विणय सज्झाए।

आलोग-ठवण-भत्तट्ट-भास-

पडल-सेज्जातराईसु ॥

गच्छ के साधु प्रत्युपेक्षण विधिपूर्वक तथा काल में नहीं करते, बिना कारण दिन में सोते हैं, दंड आदि लेने-रखने में प्रत्युपेक्षण नहीं करते, विनय और स्वाध्याय नहीं करते, सात प्रकार के आलोक का प्रयोग (ओघनि. गाथा ४६३) नहीं करते, स्थापना कुलों की स्थापना नहीं करते, भक्तार्थ-मंडली में भोजन नहीं करते, सावद्य भाषा बोलते हैं, पटल में लाया हुआ खाते हैं, शय्यातर का पिंड खाते हैं, उद्गम आदि अशुद्ध पिंड का भोग करते हैं।

५४५५.चोयावेइ य गुरुणा, विसीयमाणं गणं सयं वा वि।

आयरियं सीयंतं, सयं गणेणं च चोयावे॥

गण यदि चारित्र की क्रियाओं में विषादग्रस्त होता है तो गुरु उसको प्रेरणा देते हैं अथवा स्वयं गच्छ प्रेरित हो जाता है। आचार्य यदि विषाद पाते हैं तो गच्छ अथवा स्वयं की प्रेरणा से विषाद मिट जाता है। यह पहले तथा दूसरे भंग की बात है।

५४५६.दुन्नि वि विसीयमाणे, सयं व जे वा तहिं न सीयंति।

ठाणं ठाणाऽऽसज्ज उ, अणुलोमाईहिं चोएति॥

तीसरे भंग के अनुसार जहां गच्छ और आचार्य—दोनों सामाचारी पालन में अनुत्साहित होते हैं, वहां स्वयं प्रेरित होते हैं अथवा जो सामाचारी की पालना करते हैं, उनसे प्रेरित होते हैं। नोदना-योग्य पात्र को पाकर अनुलोम आदि योग्य वचनों से नोदना करते हैं।

५४५७.भणमाणे भणावित्ते, अयाणमाणम्मि पक्खो उक्कोसो।
लज्जाए पंच तिन्नि व, तुह किं ति व परिणय विवेगो॥

गच्छ या आचार्य को अथवा दोनों को अनुत्साहित देखकर स्वयं कहता हुआ या अन्य साधुओं के द्वारा कहलाता हुआ वहां रहता है। जहां यह नहीं जानता कि ये प्रेरित किए जाने पर भी उद्यम नहीं करेंगे, वहां उत्कृष्टतः एक पक्ष रहे। गुरु को अनुत्साहित देखकर लज्जा या गौरव से ज्ञानता हुआ भी प्रश्न या तीन दिन तक कुछ भी न कहने पर भी शुद्ध है। यदि गुरु या गच्छ कहे कि तुम्हें क्या? हम अनुत्साहित हैं तो हम उसका फल भोगेंगे। उनका भाव इस प्रकार परिणत होने पर उनका विवेक-परित्याग कर देना चाहिए।

५४५८.संविग्गविहाराओ, संविग्गा दुन्नि एज्ज अन्नयरे।

आलोइयम्मि सुद्धो, तिविहोवहिमग्गणा नवरिं॥

संविग्गविहारी गच्छ से दो संविग्ग मुनि-गीतार्थ और अगीतार्थ विलग हो जाते हैं और दोनों में से कोई एक मुनि पुनः गच्छ में आता है तो जिस दिन से वह उस गच्छ से विलग हुआ हो, उस दिन से सारी आलोचना करता है तो वह शुद्ध है। उस समय त्रिविध उपधि की मार्गण करनी चाहिए।

५४५९.गीयमगीतो गीते, अप्पडिबद्धे न होइ उवघातो।

अविगीयस्स वि एवं, जेण सुता ओहनिज्जुत्ती॥

वह संविग्ग मुनि गीतार्थ या अगीतार्थ हो सकता है। यदि गीतार्थ मुनि ब्रजिका आदि में अप्रतिबद्ध होकर आया है तो उसके न उपधि का उपघात होता है और न प्रायश्चित्त आता है। जिस अगीतार्थ ने ओघनिर्युक्ति सुनी है, उसके लिए भी यही विधि है।

५४६०.गीयाण विमिस्साण व, दुण्ह वयंताण वइयमाईसु।

पडिबज्झंताणं पि हु, उवहि ण हम्मि ण वाऽऽरुवणा॥

गीतार्थ और गीतार्थ विमिश्र-दोनों जाते हुए ब्रजिका आदि में प्रतिबद्ध होने पर भी उनकी उपधि का हनन नहीं किया जाता तथा उनको आरोपणा प्रायश्चित्त भी नहीं आता।

५४६१.आगंतुमहागडयं, वत्थव्वअहाकडस्स असईए।

मेलित्ति मज्झिमेहिं, मा गारवकारणमगीए॥

गीतार्थ या अगीतार्थ के तीन प्रकार की उपधि होती है—यथाकृत, अल्पपरिकर्मा और सपरिकर्मा। वहां वास्तव्य मुनियों के पास यथाकृत उपधि नहीं है, अल्पपरिकर्मा उपधि है तो उस मध्यम उपधि के साथ यथाकृत उपधि मिला लेते हैं। यदि न मिलाएँ तो अगीतार्थ के लिए वह गौरव का निमित्त बन जाता है।

५४६२. गीयत्ये ण मेलिज्जइ, जो पुण गीओ वि गारवं कुणइ।

तस्सुवही मेलिज्जइ, अहिकरण अपच्चओ इहरा॥

गीतार्थ यदि अगौरवी है तो उसकी उपधि अन्य उपधि के साथ नहीं मिलाई जाती। जो गीतार्थ होकर भी गौरव करता है, उसकी उपधि मिलाई जाती है। शिष्य ने पूछा—क्यों? आचार्य कहते हैं—उत्कृष्ट उपधि के साथ जघन्य उपधि का मिश्रण देखकर गीतार्थ कलह कर सकता है तथा शैक्षों को अप्रत्यय हो सकता है।

५४६३. एवं खलु संविग्गे, संविग्गे संकमं करेमाणे।

संविग्गमसंविग्गे, असंविग्गे यावि संविग्गे॥

इस प्रकार संविग्ग मुनि का संविग्ग मुनि के गच्छ में संक्रमण करने की विधि कही गई है। अब संविग्ग के असंविग्ग गच्छ में संक्रमण तथा असंविग्ग का संविग्ग में संक्रमण की विधि बतलाई जा रही है।

५४६४. सीहगुहं वग्घगुहं, उदहिं व पलित्तगं व जो पविसे।

असिवं ओमोयरियं, धुवं से अप्पा परिच्चत्तो॥

जो सिंह की गुफा में, व्याघ्र की गुफा में, समुद्र में या प्रदीप नगर में प्रवेश करता है तथा जो अशिव, अवमौदर्य वाले क्षेत्र में जाता है, उसने निश्चित ही अपनी आत्मा को परित्यक्त कर दिया है।

५४६५. चरण-करणप्पहीणे, पासत्थे जो उ परिवसए समणो।

जतमाणए पजहिउं, सो ठाणे परिच्चयइ तिण्णि॥

इसी प्रकार जो श्रमण चरण-करण रहित पार्श्वस्थ आदि में प्रवेश करता है वह यतमान अर्थात् संविग्ग मुनियों को छोड़कर तीन स्थानों—ज्ञान-दर्शन और चारित्र—से परित्यक्त हो जाता है।

५४६६. एमेव अहाछदे, कुशील-ओसन्न-नीय-संसत्ते।

जं तिन्नि परिच्चयई, नाणं तह दंसण चरित्तं॥

इसी प्रकार जो श्रमण यथाच्छंद तथा कुशील, अवसन्न, नित्यवासी तथा संसक्तों के स्थान में प्रवेश करता है वह पूर्वोक्त तीनों स्थानों—ज्ञान, दर्शन और चारित्र को परित्यक्त करता है।

५४६७. पंचणहं एगयरे, संविग्गे संकमं करेमाणे।

आलोइए विवेगो, दोसु असंविग्गे सच्छंदो॥

जो संविग्ग मुनि इन पांचों—पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, संसक्त तथा यथाच्छंद—में से किसी एक में संक्रमण करता हुआ पहले आलोचना करे, फिर अशुद्ध उपधि का विवेक—परित्याग करे। जो दो में अर्थात् ज्ञान और दर्शन में असंविग्ग है, वह उपसंपन्न होने में स्वच्छंद है उसे कोई प्रतीच्छक के रूप में स्वीकार न करे।

५४६८. पंचेगतरे गीए, आरुभियवते जयंतए तम्मि।

जं उवहिं उप्पाए, संभोइत सेसमुज्झंति॥

इन पार्श्वस्थ आदि पांचों में से कोई एक आता है और वह गीतार्थ है तो वह स्वयं महाव्रतों को अपने में आरोपित कर, यतमान होकर, उसमें जो प्राप्त करता है, वह सांभोगिक उपधि है, उसे रखकर शेष का परिष्ठापन कर देता है।

५४६९. पासत्थाईमुंडिए, आलोयण होइ दिक्खपभिइं तु।

संविग्गपुराणे पुण, जप्पभिई चव ओसण्णो॥

जो पार्श्वस्थ आदि से प्रव्रजित है, उसके दीक्षा दिन से आलोचना होती है। जो पहले संविग्ग था, फिर पार्श्वस्थ हो गया, उसके जब से वह अवसन्न हुआ है तब से आलोचना होती है।

गणावच्छेइए य गणाओ अवक्कम्म
इच्छेज्जा अण्णं गणं संभोगपडियाए
उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, नो से कप्पइ
गणावच्छेइयस्स गणावच्छेइयत्तं
अनिक्खित्ता अण्णं गणं संभोगपडियाए
उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए; कप्पइ
गणावच्छेइयस्स गणावच्छेइयत्तं
निक्खित्ता अण्णं गणं संभोगपडियाए
उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए। नो से कप्पइ
अणापुच्छित्ता आयरियं जाव
गणावच्छेइयं वा अण्णं गणं
संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं
विहरित्तए; कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं
वा जाव गणावच्छेइयं वा अण्णं गणं
संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं
विहरित्तए। ते य से वियरेज्जा, एवं से
कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए
उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, ते य से नो
वियरेज्जा, एवं से नो कप्पइ अण्णं गणं
संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं
विहरित्तए। जत्थुत्तरियं धम्मविणयं
लभेज्जा, एवं से कप्पइ अण्णं गणं
संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं

विहरित्तए; जत्थुत्तरियं धम्मविणयं नो लभेज्जा, एवं से नो कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए॥

(सूत्र २०)

आयरिय-उवज्झाए य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, नो कप्पइ आयरिय-उवज्झायस्स आयरिय-उवज्झायत्तं अनिक्खित्ता अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए; कप्पइ आयरिय-उवज्झायस्स आयरिय-उवज्झायत्तं निक्खित्ता अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए। नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए; कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए। ते य से वियरेज्जा, एवं से कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, ते य से नो वियरेज्जा, एवं से नो कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए। जत्थुत्तरियं धम्मविणयं लभेज्जा, एवं से कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए; जत्थुत्तरियं धम्मविणयं नो लभेज्जा, एवं से नो कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए॥

(सूत्र २१)

५४७०. एमेव गणावच्छे, गणि-आयरिए वि होइ एमेव। णवरं पुण णाणत्तं, एते नियमेण गीया उ॥ इसी प्रकार ही गणावच्छेदिक, गणी-उपाध्याय और आचार्य के भी यही विधि है। इसमें नानात्व यह है कि ये सभी नियमतः गीतार्थ होते हैं।

भिक्खू य इच्छेज्जा अण्णं आयरिय-उवज्झायं उदिसावेत्तए, नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अण्णं आयरिय-उवज्झायं उदिसावेत्तए; कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अण्णं आयरिय-उवज्झायं उदिसावेत्तए; ते य से नो वियरेज्जा, एवं से नो कप्पइ अण्णं आयरिय-उवज्झायं उदिसावेत्तए। नो से कप्पइ तेसिं कारणं अदीवेत्ता अण्णं आयरिय-उवज्झायं उदिसावेत्तए; कप्पइ से तेसिं कारणं दीवेत्ता अण्णं आयरिय-उवज्झायं उदिसावेत्तए॥

(सूत्र २२)

५४७१. सुत्तम्मि कड्डियम्मी, आयरि-उज्झाय उदिसावित्ति। तिण्हऽइ उदिसिज्जा, णाणे तह दंसण चरित्ते॥

सूत्रार्थ के कथन के पश्चात् निर्युक्तिविस्तार इस प्रकार है—अभिनव आचार्य और उपाध्याय को इन तीन प्रयोजनों से उद्दिष्ट करे—ज्ञान के लिए, दर्शन के लिए तथा चारित्र के लिए।

५४७२. नाणे महकप्पसुतं,

सिस्सत्ता केइ उवगए देयं।

तस्सऽइ उदिसिज्जा,

सा खलु सेच्छा ण जिणआणा॥

किसी आचार्य के पास महाकल्पश्रुत है। ज्ञानार्थ जाने वाला उसे पढ़ना चाहता है। आचार्य ने यह मर्यादा बना रखी है कि जो शिष्यत्व स्वीकार करेगा, उसी को वह श्रुत दिया जायेगा। उसके लिए उसको उद्दिष्ट करे। आचार्य ने जो मर्यादा की है वह जिनाज्ञा नहीं है, वह स्वेच्छागत है।

५४७३. विज्जा-मंत-निमित्ते, हेऊसत्थइ दंसणट्ठाए।

चरित्तट्ठा पुव्वगमो, अहव इमे हुंति आएसा॥

कोई विद्या, मंत्र, निमित्त तथा हेतुशास्त्र-गोविन्दनिर्युक्ति आदि के अध्ययन के लिए, दर्शनशास्त्र का अध्ययन करने के लिए जाता है। चारित्र के लिए जाने वाले के लिए ये ही पूर्वोक्त विकल्प हैं। अथवा ये आदेश-प्रकार हैं।

५४७४. आयरिय-उवज्झाए, ओसण्णोहाविते व कालगते।

ओसण्ण छव्विहे खलु, वत्तमवत्तस्स मग्गणथा॥

आचार्य अथवा उपाध्याय अवसन्न हो गया, या अवधारित हो गया (गृहस्थ बन गया), या कालगत हो गया। अवसन्न के छह प्रकार हैं—पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, संसक्त, नित्य-वासी तथा यथाच्छंद। उसका जो शिष्य है, वह आचार्यपद योग्य है, वह व्यक्त या अव्यक्त है, उसकी मार्गणा यह है।

५४७५. वत्ते खलु गीयत्थे, अव्वत्ते वएण अहव अगीयत्थे।

वत्तिच्छ सार पेसण, अहवाऽऽसण्णे सयं गमणं॥

व्यक्त-अव्यक्त की चतुर्भंगी यह है—

१. वय से व्यक्त (सोलह वर्ष का), श्रुत से भी व्यक्त (गीतार्थ)।

२. वय से व्यक्त, श्रुत से अव्यक्त।

३. वय से अव्यक्त श्रुत से व्यक्त।

४. वय और श्रुत—दोनों से अव्यक्त।

प्रथम भंगवर्ती शिष्य जो दोनों से व्यक्त है, यह उसकी इच्छा है कि वह अन्य आचार्य को उद्दिष्ट करे या न करे। तब दूरस्थ कोई अवसन्न आचार्य हैं, उनको प्रेरित करने के लिए एक मुनि संघाटक को भेजा जाता है। अथवा वे निकट हों तो आचार्य स्वयं जाकर उनको प्रेरित करे।

५४७६. एगाह पणग पक्खे, चउमासे वरिस जत्थ वा मिलइ।

चोएइ चोयवेइ व, णेच्छंते सयं तु वट्ठवेइ॥

प्रतिदिन या पांच दिनों से या पक्ष में, चातुर्मास में या वर्ष में अथवा जहां समवसरण आदि में मिलते हैं वहां स्वयं उनको प्रेरित करता है, दूसरों से प्रेरित करवाता है, फिर भी यदि वे नहीं चाहते तो स्वयं ही गण की बागडोर संभाले।

५४७७. उद्दिस्सइ व अन्नदिसं, पथावणट्ठा न संगहट्ठाए।

जइ णाम गारवेण वि, मुएज्ज णिच्चे सयं ठाई॥

अथवा वह उभयव्यक्त अन्य आचार्य को इसलिए उद्दिष्ट करता है कि वह निकटस्थ आचार्य उत्तेजित हो, गण के संग्रह के लिए ऐसा नहीं करता। वह आचार्य सोचता है—‘मेरे जीवित रहते ये अपर आचार्य को लाना चाहते हैं तो अच्छा है मैं पार्श्वस्थता को छोड़ दूँ।’ यदि इस गौरव से भी पार्श्वस्थता को छोड़ता है तो अच्छा है। वह गण के भार को

लेने का इच्छुक न होते हुए भी स्वयं ही गच्छाधिपति के रूप में संलग्न हो जाता है।

५४७८. सुअवत्तो वतऽवत्तो, भणइ गणं ते ण सारितुं सत्तो।
सारेहि सगणमेयं, अण्णं व वयामो आयरियं॥

जो श्रुत से व्यक्त है परंतु वय से अव्यक्त है, वह आचार्य को कहता है—मैं तुम्हारे गण की सार-संभाल करने में असमर्थ हूँ, इसलिए तुम अपने इस गण की देखरेख करो। हम दूसरे आचार्य को उद्दिष्ट करेंगे, उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लेंगे।

५४७९. आयरिय-उवज्झायं, निच्छंते अप्पणा य असमत्थे।

तिगसंवच्छरमब्धं, कुल गण संघे दिसाबंधो॥

ऐसा कहने पर यदि आचार्य अथवा उपाध्याय संयम में रहना नहीं चाहते और वह गण की सार-संभाल करने में असमर्थ हो तो कुलसत्कआचार्य या उपाध्याय को उद्दिष्ट करता है। वहां वह तीन वर्ष रहता है, उसके पश्चात् गणाचार्य को उद्दिष्ट कर एक संवत्सर तथा संघाचार्य का दिग्बंध स्वीकार कर छह मास तक वहीं रहता है।

५४८०. सच्चित्तादि हरंती, कुलं पि नेच्छामो जं कुलं तुब्भं।

वच्चामो अन्नगणं, संघं व तुमं जइ न ठासि॥

इसके पश्चात् आचार्य कहता है—तुम्हारे कुल और आचार्य हमारे सचित्त आदि का हरण करते हैं अतः हम कुल भी नहीं चाहते। यदि तुम हरण करने से अब भी विरत नहीं होते हो तो हम अन्य गण या कुल में चले जाते हैं।

५४८१. एवं पि अठायंते, ताहे तू अद्धपंचमे वरिसे।

सयमेव धरेइ गणं, अणुलोमेणं च सारेइ॥

यदि पूर्व आचार्य साढ़े पांच वर्षों तक प्रेरित होते हुए भी नहीं ठहरते तो वह स्वयं ही गण को धारण करे। अनुलोम वचनों से गण की सारणा करे।

५४८२. अहव जइ अत्थि थेरा, सत्ता परियट्ठिऊण तं गच्छं।

दुहओवत्तसारिसगो, तस्स उ गमओ मुणेयव्वो॥

अथवा यदि स्थविर हों और वे गण की सार-संभाल करने में समर्थ हों तो वे देखरेख करे और वह सूत्रार्थ वाचना दे। यहां द्विधाव्यक्तसदृश विकल्प जानना चाहिए।

५४८३. वत्तवओ उ अगीओ, जइ थेरा तत्थ केइ गीयत्था।

तेसंतिगे पढंतो, चोएइ स असइ अण्णत्थं॥

जो वय से व्यक्त हो, परंतु अगीतार्थ हो और उस गण के यदि स्थविर कोई गीतार्थ हो तो उनके पास पढ़कर गण की भी देखरेख करता है। वह अवसन्न आचार्य को प्रेरित भी करता है। गीतार्थ स्थविरों के अभाव में गण को अन्यत्र उपसंपन्न करता है।

५४८४. जो पुण उभयअवत्तो, वड्ढावग असइ सो उ उदिसई।
सव्वे वि उदिसंता, मोत्तूण उदिसंति इमे॥

जो वय और श्रुत—दोनों से अव्यक्त है और यदि गच्छ का वर्तापक न हो तो दूसरे आचार्य को उद्दिष्ट करता है। चारों भंगवर्ती यदि सभी अन्य आचार्य को उद्दिष्ट करते हैं तो इन आचार्य को छोड़कर करते हैं।

५४८५. संविग्गमगीयत्थं, असंविग्गं खलु तहेव गीयत्थं।
असंविग्गमगीयत्थं, उदिसमाणस्स चउगुरुगा॥

संविग्ग अगीतार्थ, असंविग्ग गीतार्थ, असंविग्ग अगीतार्थ—इन तीनों को आचार्य रूप में उद्दिष्ट करने वाले को चतुर्गुरुक प्रायश्चित्त आता है। ये क्रमशः काल से और तप से तथा तदुभय से गुरुक होते हैं।

५४८६. सत्तरत्तं तवो होइ, तओ छेओ पहावई।
छेदेण छिण्णपरियाए, तओ मूलं तओ दुगं॥

सात रात का तप, फिर छेद, छेद से पर्याय छिन्न होने से फिर मूल और फिर अनवस्थाप्य और पारांचिक।^१ यह जानकर संविग्ग गीतार्थ को उद्दिष्ट करना चाहिए। यह प्रायश्चित्तवृद्धि अयोग्य को उद्दिष्ट करने पर होती है।

५४८७. छट्ठाणविरहियं वा, संविग्गं वा वि वयइ गीयत्थं।
चउरो य अणुग्घाया, तत्थ वि आणाइणो दोसा॥

छह स्थानों से विरहित जो संविग्ग और गीतार्थ हो, वह यदि काथिक आदि दोष सहित हो, उसको यदि उद्दिष्ट किया जाता है तो चार अनुद्घात तथा आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं।

५४८८. छट्ठाणा जा नियगो, तव्विरहिय काहियाइता चउरो।
ते वि य उदिसमाणे, छट्ठाणगयाण जे दोसा॥

छह स्थानों—पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, संसक्त, यथाच्छंद तथा नित्यवासी—इन से विरहित जो काथिक, प्राश्निक, मामाक तथा सम्प्रसारक इन चारों में से किसी को उद्दिष्ट करता है तो षट्स्थान गत जो दोष होते हैं, वे सारे प्राप्त होते हैं।

५४८९. ओहाविय कालगते, जाधिच्छा ताहि उदिसावेइ।
अव्वत्ते तिविहे वी, णियमा पुण संगहट्ठाए॥

गुरु के अवधावन करने—गृहस्थ हो जाने पर या कालगत हो जाने पर, प्रथम भंग को वर्जित कर जो शेष तीनों भंगों के अनुसार अव्यक्त है, वह जब चाहता है तब अन्य आचार्य को उद्दिष्ट करता है। वह अव्यक्त होने के कारण नियमतः संग्रह और उपग्रह के लिए ही उद्दिष्ट करता है।

५४९०. ओहाविय ओसन्न, भणइ अणाहा वयं विणा तुज्जे।
कम सीसमसागरिए, दुप्पडियरगं जतो तिण्हं॥

अवधावित अथवा अवसन्न गुरु के पैरों में शिर रखकर एकांत में कहे—भंते! तुम्हारे बिना हम अनाथ हो गए हैं। तुम फिर संयम में स्थिर होकर हमें सनाथ करो। शिष्य ने प्रश्न किया—गृहस्थीभूत अचारित्री के चरणों में सिर कैसे दिया जाता है? आचार्य कहते हैं—ये तीन दुष्प्रतिकर होते हैं—माता-पिता, स्वामी और गुरु। इन तीनों के उपकार का बदला नहीं चुकाया जा सकता।

५४९१. जो जेण जम्मि ठाणम्मि ठाविओ दंसणे व चरणे वा।
सो तं तओ चुत्तं तम्मि चेव काउं भवे निरिणो॥

जिस आचार्य ने जिस शिष्य को दर्शन या चारित्र—जिस स्थान में स्थापित किया है, उस आचार्य को उन स्थानों से च्युत हुए देखकर उसको पुनः उस स्थान में स्थापित करने से शिष्य उनके ऋण से उन्मूढ हो सकता है।

गणावच्छेइए य इच्छेज्जा अण्णं
आयरिय-उवज्झायं उदिसावेत्तए, नो से
कप्पइ गणावच्छेइयत्तं अणिक्खिवेत्ता
अण्णं आयरिय-उवज्झायं उदिसावेत्तए;
कप्पइसे गणावच्छेइयत्तं निक्खिवेत्ता अण्णं
आयरिय-उवज्झायं उदिसावेत्तए। नो से
कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव
गणावच्छेइयं वा अण्णं आयरिय-उवज्झायं
उदिसावेत्तए; कप्पइ से आपुच्छित्ता
आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अण्णं
आयरिय-उवज्झायं उदिसावेत्तए। ते य से
वियरेज्जा, एवं से कप्पइ अण्णं आयरिय-
उवज्झायं उदिसावेत्तए, ते य से नो
वियरेज्जा, एवं से नो कप्पइ अण्णं आयरिय-
उवज्झायं उदिसावेत्तए, नो से कप्पइ तेसिं
कारणं अदीवेत्ता अण्णं आयरिय-उवज्झायं
उदिसावेत्तए; कप्पइ से तेसिं कारणं दीवेत्ता
अण्णं आयरिय-उवज्झायं उदिसावेत्तए॥

(सूत्र २३)

१. प्रस्तुत गाथा का तात्पर्य—

इन अयोग्य व्यक्तियों को आचार्यरूप में उद्दिष्ट करने पर यह प्रायश्चित्तवृद्धि होती है—प्रथम सप्तरात्र के प्रत्येक दिन चतुर्गुरु, दूसरे सप्तरात्र के प्रत्येक दिन षड्गुरु, तीसरे में षड्गुरु, चौथे में चतुर्गुरुकछेद, पांचवें में षड्गुरुकछेद, छठे में षड्गुरुकछेद—इस प्रकार बयांलीस

दिन व्यतीत हो जाने पर तैयांलीसवें दिन मूल, चौवांलीसवें दिन अनवस्थाप्य और पैतांलीसवें दिन पारांचिक। अथवा षड्गुरुक तप के पश्चात् पहले ही सप्तरात्र का षड्गुरुकछेद, तदनन्तर मूल, अनवस्थाप्य, पारांचिक-पूर्ववत्। अथवा तप के अनन्तर पंचकादि छेद सात सप्तक दिन का होता है। शेष पूर्ववत्।

आयरिय-उवज्झाए इच्छेज्जा अण्णं
 आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए, नो से
 कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्तं
 अण्णिक्खिवेत्ता अण्णं आयरिय-उवज्झायं
 उद्दिसावेत्तए; कप्पइ से आयरिय-
 उवज्झायत्तं निक्खिवेत्ता अण्णं आयरिय-
 उवज्झायं उद्दिसावेत्तए। णो से कप्पइ
 अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव
 गणावच्छेइयं वा अण्णं आयरिय-
 उवज्झायं उद्दिसावेत्तए; कप्पइ से
 आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव
 गणावच्छेइयं वा अण्णं आयरिय-
 उवज्झायं उद्दिसावेत्तए। ते य से
 वितरेज्जा, एवं से कप्पइ अण्णं आयरिय-
 उवज्झायं उद्दिसावेत्तए, ते य से नो
 वियरेज्जा, एवं से नो कप्पइ अण्णं
 आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए। नो से
 कप्पइ तेसिं कारणं अदीवेत्ता अण्णं
 आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए; कप्पइ
 से तेसिं कारणं दीवेत्ता अण्णं आयरिय-
 उवज्झायं उद्दिसावेत्तए॥

(सूत्र २४)

५४९२. तीसु वि दीवियकज्जा,

विसज्जिता जइ य तत्थ तं णत्थि।

णिक्खिविय वयंति दुवे,

भिवखू किं दाणि णिक्खिवत्तू॥

तीनों—ज्ञान, दर्शन और चारित्र के लिए गुरु को अपना प्रयोजन निवेदित कर, उनके द्वारा विसर्जित होने पर उस गण में जाते हैं जहां अवसन्नता आदि न हो। गणावच्छेदिक तथा आचार्य-उपाध्याय—ये दोनों जब ज्ञान आदि के लिए जाते हैं तो अपना गणावच्छेदिकत्व तथा आचार्य-उपाध्यायत्व को निक्षिप्त कर—छोड़कर जाते हैं। भिक्षु इस समय क्या निक्षिप्त करे? गण के अभाव में उसका कुछ भी निक्षेपणीय नहीं होता।

५४९३. दुण्हउद्दाए दुण्ह वि, निक्खिवणं होइ उज्जमंतेसु।

सीअंतेसु अ सगणो, वच्चइ मा ते विणासिज्जा॥

दोनों—गणावच्छेदिक और आचार्य-उपाध्याय यदि दो के लिए अर्थात् ज्ञान, दर्शन के लिए जाते हों तो वे अपने स्वगण का निक्षेपण संविग्न आचार्य के पास करे। यदि स्वगण अनुत्साहित होता है तो स्वगण को साथ लेकर जाते हैं। वहां उसका निक्षेपण नहीं करते, क्योंकि यह आशंका रहती है कि वहां शिष्यों को छोड़ने से वे कहीं नष्ट न हो जाएं।

५४९४. वत्तम्मि जो गमो खलु,

गणावच्छे सो गमो उ आयरिए।

निक्खिवणे तम्मि चत्ता,

जमुद्दिसे तम्मि ते पच्छा॥

जो विधि उभय व्यक्त के लिए कही गई है वही गणावच्छेदक और आचार्य के लिए जाननी चाहिए। असंविग्न के पास निक्षेपण करने से वे शिष्य परित्यक्त हो जाते हैं। अतः जिस आचार्य को वह गणावच्छेदिक तथा आचार्य उद्दिष्ट करते हैं, उनके पास ही अपने शिष्यों को भी पश्चात् उद्दिष्ट कर देते हैं।

५४९५. जह अप्पगं तहा ते, तेण पहुप्पंते ते ण घेत्तव्वा।

अपहुप्पंते गिण्हइ, संघाडं मुत्तु सव्वे वा॥

जैसे स्वयं को वैसे ही उन साधुओं को भी कहते हैं। यदि आचार्य के पास पर्याप्त साधु हों तो उन साधुओं को ग्रहण न करे। यदि पर्याप्त साधु न हों तो साधुओं का एक संघाटक उसको दे दें और शेष अपने पास रख लें। यदि सहायक साधु हों ही नहीं तो सबको ग्रहण कर ले।

५४९६. सहु असहुस्स वि तेण वि, वेयावच्चाइ सव्व कायव्वं।

ते तेसि अणाएसा, वावारेउं न कप्पंति॥

उस प्रतीच्छक आचार्य को भी उस असहिष्णु या सहिष्णु आचार्य का वैयावृत्य आदि सभी करना चाहिए। उन साधुओं को भी बिना आचार्य के आदेश के व्यापृत नहीं किया जा सकता।

वीसुंभवण-पदं

भिवखू य राओ वा वियाले वा आहच्च
 वीसुंभेज्जा, तं च सरीरगं केइ
 वेयावच्चकरे इच्छेज्जा एगंते बहुफासुए
 पएसे परिद्वेत्तए, अत्थि या इत्थ केइ
 सागारियसंतिए उवगरणजाए अचित्ते
 परिहरणारिहे, कप्पइ से सागारियकडं

गहाय तं सरीरगं एगंते बहुफासुए पएसे
परिद्वेत्ता तत्थेव उवनिक्खिवियव्वे
सिया ॥

(सूत्र २५)

५४९७. तिहिं कारणेहिं अन्नं, आयरियं उदिसिज्ज तहिं दुण्णि।
मुत्तं तइए पगयं, वीसुंभणसुत्तजोगोऽयं ॥

तीन कारणों से अन्य आचार्य को उद्दिष्ट करने का कथन किया गया है। दो लक्षणों—अवधावित और अवसन्न—को छोड़कर तीसरे लक्षण—कालगत का प्रसंग है। यह सूत्र का संबंध है।

५४९८. अहवा संजमजीविय, भवग्गहणजीवियाउ विगए वा।
अण्णुदेसो वुत्तो, इमं तु सुत्तं भवच्चाए ॥

अथवा संयमजीवन से या भवग्रहणजीवितव्य से विगत हो जाने पर अन्य आचार्य को उद्दिष्ट करने का कथन पूर्वसूत्र में कहा है। प्रस्तुत सूत्र भवजीवित के परित्याग से संबंधित है।

५४९९. पुव्विं दव्वोलोयण, नियमा गच्छे उवक्कमनिमित्तं।
भत्तपरिण्ण गिलाणे, पुव्वुग्गहो थंडिलस्सेव ॥

पहले वहां वास्तव्य गच्छवासी साधु नियमतः उपक्रम-निमित्त—मरण के निमित्त द्रव्य का—वहनकाष्ठ का अवलोकन करते हैं। वह मरण भक्तपरिज्ञा अनशन के कारण या ग्लानत्व के कारण हो सकता है। अतः पहले से ही स्थंडिल आदि का प्रत्युपेक्षण करना चाहिए।

५५००. पडिलेहणा दिसा णंतए य काले दिया व राओ य।
जग्गण-बंधण-छेयण, एयं तु विहिं तहिं कुज्जा ॥

५५०१. कुसपडिमाइ णियत्तण, मत्तग सीसे तणाइं उवगरणे।
काउस्सग्ग पदाहिण, अब्भुद्धाने य वाहरणे ॥

५५०२. काउस्सग्गे सज्झाए य खमणस्स मग्गणा होइ।
वोसिरणे आलोयण, सुभा-ऽसुभगइ-निमित्तद्वा ॥

सबसे पहले वहनकाष्ठ और स्थंडिल की प्रत्युपेक्षा करे। फिर दिशा का निर्धारण करे, अनन्तक—मृत के आच्छादन के लिए वस्त्र सदा अपने पास रखे। दिन में या रात्री में कोई भी कालगत हो सकता है, रात्री में शव को रखने पर जागरण, छेदन, बंधण—यह विधि करनी चाहिए।

नक्षत्र को देखकर कुश की प्रतिमा बनाए, जिस रास्ते से जाए उसी रास्ते से न लौटे, मात्रक में पानी ले जाए, मृतक का सिर गांव की ओर करे, तृणों को समानरूप से बिछाए, उसके उपकरण पास में रखे, स्थंडिल में कायोत्सर्ग न करे, प्रदक्षिणा

न दे, शव यदि उठ जाए तो वसति को छोड़ दे, जिसका व्याहरण—नामग्रहण करे उसका लुंचन करे, गुरु के पास आकर कायोत्सर्ग करे, स्वाध्यायक और क्षपण की मार्गणा करे, उच्चार आदि मात्रकों का परिष्ठापन करे। शुभाशुभगति को तथा निमित्त को जानने के लिए परिष्ठापित शव का अवलोकन करे। इन सबका विशद वर्णन इस प्रकार है—

५५०३. जं दव्वं घणमसिणं, वावारजडं च चिद्वए बलियं।
वेणुमय दारुगं वा, तं वहणद्वा पलोयंति ॥

जो द्रव्य वेणुमय या लकड़ी का हो, सघन और चिकना हो, पहले व्यापृत न हो, मजबूत हो और वह गृहस्थ के वहां पड़ा हो तो उस वहन करने योग्य काष्ठ को पहले ही देख ले, महास्थंडिल का भी प्रत्युपेक्षा कर ले।

५५०४. अत्थंडिलम्मि काया, पवयणघाओ य होइ आसण्णे।
छड्ढावण गहणाई, परुग्गहे तेण पेहिज्जा ॥

अस्थंडिल में शव का परिष्ठापन करने पर षट्काय की विराधना होती है। ग्राम आदि के निकट परिष्ठापन करने से प्रवचनघात होता है। दूसरों के अवग्रह में परिष्ठापित करने पर शव का छर्दान—बलपूर्वक अन्यत्र निक्षेप हो सकता है तथा ग्रहण-आकर्षण आदि दोष हो सकते हैं। अतः स्थंडिल की प्रत्युपेक्षा पहले करनी चाहिए।

५५०५. दिस अवरदक्खिणा दक्खिणा य

अवरा य दक्खिणापुव्वा।

अवरुत्तरा य पुव्वा,

उत्तर पुव्वुत्तरा चेव ॥

शव परिष्ठापन के लिए दिशा का अवलोकन करना चाहिए। सबसे पहले अपरदक्षिणा अर्थात् नैर्ऋती दिशा, उसके अभाव में दक्षिण, तत्पश्चात् पश्चिम, दक्षिणपूर्व—आग्नेयी, अपरा-उत्तरा—वायवी, पूर्व, उत्तर, उत्तरपूर्व। यह दिशाओं का क्रम है। इनका परिणाम—

५५०६. समाही य भत्त-पाणे, उवकरणे तुमंतुमा य कलहो य।
भेदो गेलन्नं वा, चरिमा पुण कड्ढए अण्णं ॥

प्रथम दिशा (निर्ऋती) में परिष्ठापन करने से भक्त-पान की प्राप्ति और उससे समाधि होती है। दक्षिण दिशा में भक्तपान की अप्राप्ति होती है। पश्चिम दिशा में उपकरणों की प्राप्ति नहीं होती। दक्षिण-पूर्व में करने से तू-तू, मैं-मैं, वायवी दिशा में कलह, पूर्व में करने से गणभेद या चारित्र्यभेद, उत्तर में ग्लानत्व, चरिमा अर्थात् पूर्वोत्तर में करने से एक साधु की और मृत्यु होती है।

५५०७. आसन्न मज्झ दूरे, वाघातद्वा तु थंडिले तिन्नि।
खेतुदय-हरिय-पाणा, णिविद्वमादी व वाघाए ॥

प्रथम दिशा में भी व्याघात न हो इसलिए तीन स्थंडिलों की प्रत्युपेक्षा—गांव के निकट, मध्य में तथा दूर—करनी चाहिए। ये व्याघात हो सकते हैं—उस प्रदेश को कोई खेत बना दे, पानी से आप्लावित हो जाए, हरियाली हो जाए, त्रसप्राणियों से संसक्त हो जाए, गांव उजड़ जाए, अथवा सार्थ आदि आकर वहां रह जाए।

५५०८. एसनपेल्लण जोगाण व हाणी भिण्ण मासकप्पो वा।

भक्तोवधीअभावे, इति दोसा तेण पढमम्मि॥

ऐसी स्थिति में अन्न-पान आदि का लाभ न होने पर एषणा की प्रेरणा करनी होती है, अन्यथा योगों की—आवश्यक प्रवृत्तियों की हानि होती है, मासकल्प भिन्न हो जाता है। भक्त तथा उपधि के अभाव में ये दोष होते हैं अतः प्रथम दिग्भाग में महास्थंडिल की प्रत्युपेक्षा करनी चाहिए।

५५०९. एमेव सेसियासु वि, तुमंतुमा कलह भेद मरणं वा।

जं पावंति सुविहिया, गणाहिवो पाविहिति तं तु॥

इसी प्रकार शेष दिशाओं में जो दोष कहे गए हैं, जैसे—कलह, तू-तू-मैं-मैं, गणभेद, मरण आदि जो सुविहित मुनि पाते हैं, वह सारा गणाधिपति भी प्राप्त करेंगे।

५५१०. वित्थारा-ऽऽयामेणं, जं वत्थं लब्भती समतिरेगं।

चोक्ख सुतिगं च सेतं, उवक्कमद्धा धरेतव्वं॥

शव-प्रच्छादन का वस्त्र ढाई हाथ चौड़ा और चार हाथ लंबा या कुछ और लंबा-चौड़ा जो प्राप्त हो वह ले। वह वस्त्र साफ, सुगंधित तथा सफेद हो। मृत्यु के समय में काम आने वाला ऐसा वस्त्र गच्छ में रखना चाहिए।

५५११. अत्थुरण्णा एगं, बिइयं छोदुमुवरिं घणं बंधे।

उक्कोसयरं उवरिं, बंधादीछादणद्वाए॥

गणना के आधार पर वे वस्त्र तीन होते हैं—एक वस्त्र मृतक के नीचे बिछाया जाता है। दूसरा वस्त्र मृतक को ढंक कर डोरे से कस कर बांधा जाता है और तीसरा उत्कृष्टतर वस्त्र सबसे ऊपर, बंधनों को आच्छादित करने के लिए, स्थापित किया जाता है। इस प्रकार जघन्यतः तीन वस्त्र और उत्कृष्टतः गच्छ के अनुपात में अधिक भी रखे जा सकते हैं।

५५१२. एतेसिं अग्गहणे, चउगुरु दिवसम्मि वण्णिया दोसा।

रत्तिं च पडिच्छंते, गुरुगा उद्धानमादीया॥

इस प्रकार के वस्त्रों का ग्रहण न करने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त है। दिन में शव को मलिन वस्त्रों में लपेट कर ले जाने पर दोष कहे जा चुके हैं। इन दोषों के भय से यदि रात्री की प्रतीक्षा की जाती है तो इसमें चतुर्गुरुक तथा उत्थान आदि दोष होते हैं।

५५१३. उज्झाए अवण्णो, दुविह णियत्ती य मइलवसणाणं।

तम्हा तु अहत कसिणं, धरंति पक्खस्स पडिलेहा॥

मलिन और कुचेल वस्त्रों से शव को आच्छादित करने पर लोगों में अवर्णवाद फैलता है। मलिनवस्त्रों को देखकर दो प्रकार की निवृत्ति होती है—सम्यक्त्व ग्रहण करने वाले तथा प्रव्रज्या ग्रहण करने वाले प्रतिनिवर्तित हो जाते हैं। इसलिए अहत—नया तथा कृत्स्न—प्रमाणोपेत वस्त्र सदा रखना चाहिए तथा पक्ष में एक बार उसकी प्रत्युपेक्षा करनी चाहिए।

५५१४. आसुक्कार गिलाणे, पच्चक्खाए व आणुपुव्वीए।

दिवसस्स व रत्तीइ व, एगतरे होज्जऽवक्कमणं॥

कोई मुनि आशुक्कार—आकस्मिक या शीघ्र मरण को प्राप्त होता है, कोई ग्लानत्व के कारण, कोई आनुपूर्वी—क्रमशः शरीर परिकर्म के द्वारा भक्त का प्रत्याख्यान कर दिन में या रात में—किसी एक काल में अपक्रमण—मरण को प्राप्त होता है।

५५१५. एव य कालगयम्मिं, मुणिणा सुत्त-ऽत्थगहितसारेणं।

न विसातो गंतव्वो, कातव्व विधीय वोसिरणं॥

इस प्रकार कालगत होने पर सूत्रार्थ का सार ग्रहण करने वाला मुनि विषाद से ग्रस्त न हो। किन्तु कालगत मुनि का विधिपूर्वक उत्सर्ग करे।

५५१६. आयरिओ गीतो वा, जो व कडाई तर्हि भवे साहू।

कायव्वो अखिलविही, न तु सोग भया व सीतेज्जा॥

वहां आचार्य, गीतार्थ या अन्य साधु जो इस प्रकार के कार्य में कृतकरण हो, निपुण हो, वह सारी विधि को संपन्न करे। शोक या भय से विधि के विधान में प्रमाद न करे।

५५१७. सव्वे वि मरणधम्मा, संसारी तेण कासि मा सोगं।

जं चऽप्पणो वि होहिति, किं तत्थ भयं परगयम्मि॥

सभी संसारी जीव मरणधर्मा हैं, इसलिए शोक नहीं करना चाहिए। मृत्यु स्वयं की भी होगी तो फिर पर की मृत्यु पर कौनसा भय?

५५१८. जं वेत्तं कालगतो, निक्कारण कारणे भवे निरोधो।

जग्गण बंधण छेदण, एतं तु विहिं तर्हि कुज्जा॥

जिस बेला में मृत्यु घटित हुई है उसी समय उसका निष्काशन कर देना चाहिए। कोई कारण हो तो उसका निरोध भी किया जा सकता है। जागरण, बंधन और छेदन—यह सारी विधि तब करनी चाहिए।

५५१९. हिम-तेण-सावयभया, पिहिता दारा महाणिणादो वा।

ठवणा नियगा व तर्हि, आयरिय महातवस्सी वा॥

यदि रात्री में बहुत हिमपात हो रहा हो अथवा रात अत्यंत ठंडी हो, चोरों का या श्वापदों का भय हो, नगर के द्वार बंद

हों, मृत मुनि महानिनाद—महाजनप्रख्यात हो, उस गांव-नगर की यह व्यवस्था हो कि रात्री में मृतक को नहीं निकालना चाहिए, वहां उस मृतक के निजक—संज्ञातक हों और वे कहते हों कि रात्री में मृतक को न ले जाएं, मृतक आचार्य हो या महातपस्वी हो तो रात-रात प्रतीक्षा करनी चाहिए।

५५२०. णंतक असती राया, वऽतीति संतेपुरो पुरवती तु।
णीति व जणणिवहेणं, दार निरुद्धाणि णिसि तेणं॥

नंतक—शवाच्छादन वस्त्र के अभाव में दिन में मृतक का निष्काशन न करे। राजा अपने अन्तःपुर के साथ या पुरपति नगर में प्रवेश करता हो, जनसमूह के साथ नगर से बाहर जाता हो, द्वार बंद हों, इसलिए मृतक को रात्री में निष्काशित करते हैं।

५५२१. वातेण अणकंते, अभिणवमुक्कस्स हत्थ-पादे उ।
कुव्वंतऽहापणिहिते, मुह-णयणाणं च संपुडणं॥

जब तक मृतक का शरीर वायु के द्वारा आक्रान्त—अकड़ नहीं जाता तब तक जीवमुक्त शरीर के हाथ-पैर यथाप्रणिहित अर्थात् जितने लंबे किए जा सकते हैं उतना करते हैं, मुंह और नयनों का संपुटन करते हैं।

५५२२. जितणिहुवायकुसला, ओरस्सबली य सत्तजुत्ता य।
कतकरण अप्पमादी, अभीरुगा जागरंति तहिं॥

वहां जो साधु जितनिद्र हों, उपायकुशल और सबली, सत्त्वयुक्त, कृतकरण, अप्रमादी और अभीरु हों, वे वहां जागते हुए बैठे रहते हैं।

५५२३. जागरणद्वाए तहिं, अत्तेसिं वा वि तत्थ धम्मकहा।
सुत्तं धम्मकहं वा, मधुरगिरो उच्चसहेणं॥

जागरण करने वाले मुनि परस्पर धर्मकथा करे या श्रावकों को धर्म सुनाये। मधुर तथा उच्चस्वरों में धर्म की आख्यायिकाओं का परावर्तन करे।

५५२४. कर-पायंगुद्वे दोरेण बंधिउं पुत्तीए मुहं छाए।
अक्खयदेहे खणणं, अंगुलिविच्चे ण बाहिरतो॥

हाथों के दोनों अंगुठों तथा दोनों पैरों के दोनों अंगुठों के डोरा बांधे। मुंह को मुंहपोतिका से आच्छादित करे। अक्षत देह में अंगुली के बीच में चीरा दे, बाहर से नहीं। यह छेदन है।

५५२५. अण्णाइद्धसरिरे, पंता वा देवतऽत्थ उद्वेज्जा।
परिणामि डब्बहत्थेण बुज्झ मा गुज्झगा! मुज्झा॥
इतना करने पर भी यदि शव अन्य व्यन्तर आदि देव से

१. सार्द्ध क्षेत्र के छह नक्षत्र होते हैं—उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढा, उत्तराभाद्रपदा, पुनर्वसु, रोहिणी तथा विशाखा। समक्षेत्र नक्षत्र पन्द्रह हैं—अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिर, पुष्य, मघा, पूर्वाफाल्गुनी,

आविष्ट हो जाए, प्रांत देवता—प्रत्यनीक देवता उस शरीर में प्रविष्ट हो जाए और शव उठ जाए तो बाएं हाथ में परिणामिनी—प्रस्रवण लेकर उस कलेवर का सेचन करे और कहे—‘गुह्यक! जागो, जागो! प्रमाद मत करो। संस्तारक से मत उठो।’

५५२६. वित्तासेज्ज रसेज्ज व, भीमं वा अट्टहास मुंचेज्जा।
अभिण सुविहिणं, कायव्व विहीय वोसिरणं॥

व्यन्तर अधिष्ठित वह कलेवर विकरालरूप दिखाकर डराये, जोर से आवाज करे, भयंकर अट्टहास करे तो भी सुविहित मुनि भयभीत न हो और विधिपूर्वक शव का परिष्ठापन कर दे।

५५२७. दोण्णि य दिवद्वेत्ते, दब्भमया पुत्तगऽत्थ कायव्वा।
समखेत्तम्मि य एक्को, अवद्ध अभिण ण कायव्वो॥

मुनि के कालगत होने पर नक्षत्र देखना चाहिए। न देखने पर चतुर्लघु का प्रायश्चित्त आता है। यदि नक्षत्र सार्द्ध क्षेत्र अर्थात् ४५ मुहूर्त योग्य (आधा दिन भोग्य) हो तो दर्भमय दो पुत्तलक बनाए जाते हैं। न बनाने पर दो और साधुओं की मृत्यु होती है। यदि नक्षत्र समक्षेत्र अर्थात् तीस मुहूर्त भोग्य हो तो एक ही पुत्तलक बनाया जाए। यदि नक्षत्र अपार्द्धक्षेत्र—पन्द्रहमुहूर्त भोग्य अथवा अभीचि नक्षत्र हो तो एक भी पुत्तलक नहीं बनाया जाता।^१

५५२८. थंडिलवाघाएणं, अहवा वि अतिच्छिण अणाभोगा।
भमिऊण उवागच्छे, तेणेव पहेण न नियत्ते॥

स्थंडिल का व्याघात हो जाने पर अथवा विस्मृति के कारण स्थंडिल अतिक्रान्त हो जाए तो घूमकर आ जाए किन्तु उसी मार्ग से न लौटे।

५५२९. वाघायम्मि ठवेउं, पुव्वं व अपेहियम्मि थंडिल्ले।
तह गेति जहा से कमा, ण होंति गामस्स पडिहुत्ता॥

स्थंडिल का व्याघात होने पर अथवा पहले स्थंडिल की प्रत्युपेक्षा न करने पर मृतक को एकान्त में रखकर, स्थंडिल की प्रत्युपेक्षा कर घुमाकर ले जाए, जिससे शव के पैर गांव के अभिमुख न हों।

५५३०. सुत्त-ऽत्थतदुभयविऊ, पुरतो घेतूण पाणग कुसे य।
गच्छति जइ सागरियं, परिद्धवेऊण आयमणं॥

सूत्र-अर्थविद् या तदुभयविद् मुनि मात्रक में पानक और कुश लेकर शव के आगे-आगे चलता है। वह पीछे मुड़कर नहीं देखता। यदि वहां गृहस्थ अधिक हों तो शव का

हस्त, चित्रा, अनुराधा, मूल, पूर्वाषाढा, श्रवणा, धनिष्ठा, पूर्वभाद्रपदा, रेवती। अपार्द्ध क्षेत्र के नक्षत्र—शतभिषग, भरणी, आर्द्रा, अश्लेषा, स्वाति, ज्येष्ठा। (वृ. पृ. १४६४, १४६५)

परिष्ठापन कर आचमन—हाथ-पैर आदि धोए, जिससे प्रवचन का उद्वाह न हो।

५५३१. जत्तो दिसाए गामो, तत्तो सीसं तु होइ कायव्वं।
उद्धंतरक्खणद्धा, अमंगलं लोगगरिहा य॥

जिस दिशा में गांव हो उस ओर शव का सिर करना चाहिए। यह इसलिए कि कारणवश शव उठ जाए तो प्रतिश्रय के प्रति न आए, इसकी रक्षा करने के लिए। गांव की ओर शव के पैर करने से अमंगल होता है तथा लोग गर्हा करते हैं।

५५३२. कुसमुट्टिएण एक्केणं, अव्वोच्छिण्णाए तत्थ धाराए।
संथारं संथरिज्जा, सब्वत्थ समो य कायव्वो॥

जब स्थंडिल का प्रमार्जन कर लिया जाता है तब एक मुनि कुश की एक मुष्टि से अव्यवच्छिन्न धारा से संस्तारक बिछाए, वह सर्वत्र सम हो।

५५३३. विसमा जति होज्ज तणा, उवरिं मज्झे तहेव हेद्धा य।
मरणं गेलन्नं वा, तिण्हं पि उ णिहिसे तत्थ॥

यदि तृण ऊपर, नीचे और मध्य में विषम हों तो तीन मुनियों का मरण या ग्लानत्व होने का निर्देश करे।

५५३४. उवरिं आयरियाणं, मज्झे वसभाण हेद्धि भिक्खूणं।
तिण्हं पि रक्खणद्धा, सब्वत्थ समा य कायव्वो॥

यदि तृण ऊपर में विषम हों तो आचार्यों का, मध्य में विषम हों तो वृषभों का और नीचे विषम हों तो मुनियों का मरण या ग्लानत्व होता है। इन तीनों की रक्षा के लिए सर्वत्र तृणों को सम करना चाहिए।

५५३५. जत्थ य नत्थि तिणाइं, चुण्णेहिं तत्थ केसरेहिं वा।
कायव्वोऽत्थ ककारो, हेद्ध तकारं च बंधेज्जा॥

जहां तृणों की प्राप्ति न हो वहां चूर्ण से अथवा नागकेशर से अविच्छिन्न धारा से 'ककार' करे और उसके नीचे तकार बांधे अर्थात् 'क्त' करे।

५५३६. चिंधद्धा उवगरणं, दोसा तु भवे अचिंधकरणम्भि।
मिच्छत्त सो व राया, कुणति गामाण वहकरणं॥

शव का परिष्ठापन कर उसके चिह्नस्वरूप यथाजात उपकरण उसके पास रखे। यथाजात उपकरण—रजोहरण, मुखपोतिका, चोलपट्टक। चिह्नस्वरूप ये उपकरण स्थापित न करने पर चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं। कालगत मुनि मिथ्यात्व को प्राप्त हो सकता है। राजा यह सोचकर कि इस पुरुष का वध आसपास के गांव वालों ने किया है, वह गांवों का वध करा सकता है।

५५३७. उवगरणमहाजाते, अकरणे उज्जेणिभिक्खुदिद्धंतो।
लिंगं अपेच्छमाणो, काले वइरं तु पाडेत्ति॥

यथाजात उपकरण शव के पास न रखने पर, देवलोक से वह अपना लिंग न देखकर मिथ्यात्व को प्राप्त हो सकता है। यहां उज्जयिनी के भिक्षु का दृष्टांत है। राजा के पास पुरुष-वध की शिकायत पहुंचने पर वह अवसर आने पर वैर का निर्यातन (बदला) करता है, अनेक लोगों का वध करता है।

५५३८. उद्धणाई दोसा, हवंति तत्थेव काउसग्गम्मि।
आगम्मुवस्सयं गुरुसमीव अविहीय उस्सग्गो॥

स्थंडिल भूमी में कायोत्सर्ग करने पर शवोत्थान आदि दोष होते हैं। अतः उपाश्रय में आकर गुरु के समीप अविधि-परिष्ठापन का कायोत्सर्ग करना चाहिए।

५५३९. जो जहियं सो तत्तो, णियत्तइ पयाहिणं न कायव्वं।
उद्धणादी दोसा, विराहणा बाल-वुद्धाणं॥

शव का परिष्ठापन कर जो जहां हो वहीं से वह निवर्तन कर दे। प्रदक्षिणा न करे। प्रदक्षिणा करने पर उत्थान आदि दोष तथा बाल-वृद्धों की विराधना होती है।

५५४०. जइ पुण अणीणिओ वा,
णीणिज्जंतो विविचिओ वा वि।

उद्धेज्ज समाइद्धो,

तत्थ इमा मग्गणा होति॥

कालगत मुनि अनिष्काशित है या निष्काश्यमान है या परिष्ठापित है? वह शव व्यन्तरसमाविष्ट होकर उठ जाए तो उसकी यह मार्गणा है।

५५४१. वसहि निवेशण साही, गाममज्झे य गामदारे य।
अंतर उज्जाणंतर, णिसीहिया उद्धिते वोच्छं॥

शव वसति में, निवेशन (मकान) में, गली में, गांव के मध्य में, गांव के द्वार पर, गांव और उद्यान के बीच में, उद्यान में, उद्यान और नैषेधिकी के मध्य में, नैषेधिकी—शव परिष्ठापन भूमी में—उत्थित होने पर जो विधि करनी होती है, वह मैं कहूंगा।

५५४२. उवस्सय निवेशण साही, गामद्धे दारे गामो मोत्तव्वो।
मंडल कंड हेसे, णिसीहियाए य रज्जं तु॥

शव यदि वसति में उठता है तो उपाश्रय को, निवेशन में उठता हो तो निवेशन को, गली में हो तो गली को, गांव के मध्य हो तो ग्रामार्द्ध को, ग्रामद्वार में हो तो गांव को, गांव और उद्यान के बीच में हो तो विषयमंडल को, उद्यान में हो तो कंड-देशखंड को, उद्यान और नैषेधिकी के मध्य हो तो देश को और नैषेधिकी में हो तो राज्य को छोड़ देना चाहिए। शव का परिष्ठापन कर गीतार्थ मुनि एक मुहूर्त शव की प्रतीक्षा करते हैं कि वह उठ न जाए। वे वहीं एकान्त में खड़े रहते हैं।

५५४३. वच्चंते जो उ कमो, कलेवरपवेशणम्मि वोच्चत्थो।

णवरं पुण्ण णाणत्तं, गामद्दारम्मि बोद्धव्वं॥

ले जाते समय कलेवर के उत्थान का जो क्रम कहा है वहीं क्रम विपर्यस्तरूप में परिष्ठापित कलेवर में पुनः प्रवेशन का क्रम जानना चाहिए। इसमें नानात्व अर्थात् विशेष यह है कि ग्रामद्वार में उत्थान करने पर ग्राम त्याग ही करना है, विपरीत कुछ नहीं।

५५४४. बिद्ध्यं वसहिमत्तिते, तगं च अण्णं च मुच्चते रज्जं।

तिप्पभित्तिं तिन्नेव उ, मुयंति रज्जाइं पविसंते॥

निर्युद्ध शव यदि दूसरी बार वसति में प्रवेश करता है तो उस राज्य का तथा अन्य राज्य को भी छोड़ देना चाहिए। यदि तीन, चार या अनेक बार वसति में प्रवेश करता है तो तीन राज्यों का त्याग कर देना चाहिए।

५५४५. असिवाई बहिया कारणेहिं,

तत्थेव वसंति जस्स जो उ तवो।

अभिगहिया-ऽणभिगहितो,

सा तस्स उ जोगपरिवुद्धी॥

यदि अशिव आदि कारणों से बाहर नहीं जाया जा सकता तो वहीं रहते हुए जिस मुनि की अभिगृहीत या अनभिगृहीत तपस्या चल रही है, वह उसकी वृद्धि करे। यह योगपरिवृद्धि कही जाती है।

५५४६. अण्णाइद्धसरीरे, पंता वा देवतऽत्थ उट्ठिज्जा।

काईय डब्बहत्थेण, भणेज्ज मा गुज्झया! मुज्झा॥

इतना करने पर भी यदि शव अन्य व्यन्तर आदि देव से आविष्ट हो जाए, प्रांत देवता-प्रत्यनीक देवता उस शरीर में प्रविष्ट हो जाए और शव उठ जाए तो बाएं हाथ में परिणामिनी-प्रस्रवण लेकर उस कलेवर का सेचन करे और कहे-‘गुह्यक! जागो, जागो! प्रमाद मत करो। संस्तारक से मत उठो।’

५५४७. गिण्हइ णामं एगस्स दोण्ह अहवा वि होज्ज सव्वेहिं।

खिप्पं तु लोयकरणं, परिण्ण गणभेद बारसमं॥

वह कलेवर एक, दो मुनियों का या सभी मुनियों का नाम ले, तो सबको लुंचन करना चाहिए। लुंचन शीघ्रता से कर उनको तप द्वादशरूप-उपवास पंचक कराना चाहिए। वे मुनि गणभेद भी कर सकते हैं, गण से बहिरभूत हो सकते हैं।

५५४८. चेइघरुवस्सए वा, हायंतीतो थुतीओ तो बिंति।

सारवणं वसहीए, करेति सव्वं वसहिपालो॥

५५४९. अविधिपरिद्धवणाए, काउस्सग्गो य गुरुसमीवम्मि।

मंगल-संतिनिमित्तं, थओ तओ अजितसंतीणं॥

शव की परिष्ठापना कर मुनि उपाश्रय में लौट आते हैं। वे चैत्यगृह में या उपाश्रय में जाकर संपूर्ण स्तुतियों का पाठ करते हैं। उससे पूर्व वसतिपाल संपूर्ण वसति का प्रमार्जन कर देता है तथा और भी अन्य सारे कृत्य संपन्न करता है। वे मुनि गुरु के समीप अविधिपरिष्ठापना के निमित्त कायोत्सर्ग करते हैं। मंगल और शांति के निमित्त अजितनाथ और शांतिनाथ की स्तवना करते हैं।

५५५०. खमणे य असज्झाए,

रातिणिय महाणिणाय णितए वा।

सेसेसु णत्थि खमणं,

णेव असज्झाइयं होइ॥

यदि कालगत मुनि रात्निक है या लोकविश्रुत है और उसके अनेक निजक-बंधु वहां रहते हों और वे बहुत शोक-विलाप कर रहे हों तो ऐसे मुनियों के लिए क्षपण और अस्वाध्यायिक करे। शेष साधुओं के कालगत होने पर क्षपण और अस्वाध्यायिक नहीं होती।

५५५१. उच्चार-पासवण-खेलमत्तगा य

अत्थरण कुस-पलालादी।

संथारया बहुविधा,

उज्झंति अण्णणगेलन्ने॥

उस कालगत मुनि के उच्चार-प्रस्रवण तथा खेल के मात्रक जितने हों उनको तथा बिछाने के लिए कुश-पलाल आदि के बहुविध संस्तारक हों, उनको परिष्ठापित कर देना चाहिए। यदि कोई अन्य ग्लान न हो तो उन पात्र आदि को विसर्जित कर दे, अन्य ग्लान के लिए वे काम में आते हों तो उनको धारण करे।

५५५२. अहिगरणं मा होहिति, करेइ संथारगं विकरणं तु।

सव्वुवहि विगिंचंती, जो छेवइतस्स छित्तो वि॥

‘छेवइय’-अशिव में गृहीत कोई मुनि कालगत हो जाए तो उसे जिस संस्तारक से ले जाया जाता है, उसका विकिरण-खंड-खंड कर परिष्ठापन कर देना चाहिए। उसके सारे उपकरणों का परिष्ठापन कर देना चाहिए। तथा उस कालगत मुनि की उपधि को या उसके शरीर से जो उपधि स्पृष्ट है, उस सबको परिष्ठापित कर देना चाहिए।

५५५३. असिवम्मि णत्थि खमणं,

जोगविवद्धी य णेव उस्सग्गो।

उवयोगद्धं तुलितुं,

णेव अहाजायकरणं तु॥

अशिव में मृत मुनि के लिए क्षपण नहीं होता। योगवृद्धि होती है। कायोत्सर्ग नहीं होता। उसकी यथाजात नहीं किया

जाता अर्थात् उसके पास यथाजात उपकरण नहीं रखे जाते। देवलोक में जाने के पश्चात् देवता एक अन्तर्मुहूर्त्त में उपयोग लगाता है। उस उपयोगाद्धा को जानकर इतने समय तक उसको उपाश्रय में ही रखते हैं।

५५५४.अवरज्जुगस्स य ततो, सुत्त-ऽत्थविसारएहिं धेरेहिं।

अवलोयण कायव्वा, सुभा-ऽसुभगती-निमित्तद्धा॥

दूसरे दिन सूत्रार्थ विशारद स्थविरों को उस कालगत मुनि की शुभ-अशुभ गति के निमित्त को जानने के लिए उसका अवलोकन अवश्य करना चाहिए।

५५५५.जं दिसि विगद्धितो खलु, देहेणं अक्खुण्ण संचिक्खे।

तं दिसि सिवं वदंती, सुत्त-ऽत्थविसारया धीरा॥

जिस दिशा में वह अशिव आदि से मृत मुनि अक्षत देह से स्थित है उस दिशा में सुभिक्ष होता है, ऐसा सूत्रार्थ-विशारद धीर मुनि कहते हैं।

५५५६.जति दिवसे संचिक्खति,

तति वरिसे धातगं च खेमं च।

विवरीए विवरीतं,

अकद्धिए सव्वहिं उदितं॥

जितने दिन उसको जिस दिशा में रखा जाता है उस दिशा में उतने वर्षों तक सुभिक्ष और मंगल होता है। विपरीत अर्थात् क्षतदेह होने पर विपरीत परिणाम आता है। जिस दिशा में क्षतदेह रखा जाता है, उस दिशा में दुर्भिक्ष होता है। अथवा उसे अन्यत्र न ले जाकर नहीं रखा जाता है तो सर्वत्र उदित अर्थात् सुभिक्ष होता है।

५५५७.खमगस्साऽऽयरियस्सा,

दीहपरिणस्स वा निमित्तं तू।

सेसे तथऽण्णधा वा,

ववहारवसा इमा य गती॥

यह क्षपक, आचार्य तथा दीर्घ अनशनी के निमित्त होता है। इनसे व्यतिरिक्त शेष के ऐसे भी हो सकता है और अन्यथा भी हो सकता है। व्यवहारतः ऐसी गति भी हो सकती है।

५५५८.थलकरणे वेमाणितो, जोतिसिओ वाणमंतर समम्मि।

गड्ढाए भवणवासी, एस गती से समासेण॥

यदि उसके शरीर को स्थल में रखा है तो वह वैमानिक देव बना है तथा समभूभाग में है तो ज्योतिष्क या व्यन्तरदेव बना है, गढ़े में हो तो भवनपति देव। यह संक्षेप में उसकी गति का वर्णन है।

५५५९.एक्केक्कम्मि उ ठाणे, हुंति विवच्चासकारणे गुरुगा।

आणाइणो य दोसा, विराहणा संजमा-ऽऽयाए॥

इस प्रकार एक-एक स्थान में विपर्यास करने पर चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त, आज्ञाभंग आदि दोष तथा आत्मा और संयम की विराधना होती है।

५५६०.एतेण सुत्त न गतं, सुत्तनिवातो तु दव्व सागारे।

उद्धवणम्मि वि लहुगा, छड्डणे लहुगा अतियणे य॥

यह जो द्वारों की व्याख्या की गई है, उससे सूत्र व्यर्थ नहीं हुआ है। यह सारा सामाचारी को बताने के लिए किया है। सूत्र-निपात गृहस्थ के अधीनस्थ शव-वहनकाष्ठ के लिए है। उसके लिए गृहस्थ को जगाने पर चतुर्लघु, वहनकाष्ठ को वहीं छोड़ देने पर भी चतुर्लघु और यदि गृहस्थ के कलह करने पर, उसको लाकर अतिगमन-प्रवेश करने पर चतुर्लघु प्रायश्चित्त आता है।

५५६१.मिच्छत्तऽदिन्नदाणं, समलावण्णो दुग्गुच्छितं चेव।

दिय रातो आसितावण, वोच्छेओ होति वसहीए॥

गृहस्थ वहनकाष्ठ को पुनः अर्पित किए जाने पर मिथ्यात्व को प्राप्त हो सकता है। उसके मन में यह आशंका होती है कि ये श्रमण अदत्त को ग्रहण करने वाले हैं, मलिन रहने वाले हैं, इस प्रकार उनका अवर्णवाद होता है। उनसे जुगुप्सा करते हैं। अतः रात हो या दिन मृतक का असियावण-निष्काशन कर देना चाहिए। वे गृहस्थ श्रमणों के लिए वसति का व्यवच्छेद कर सकते हैं कि ये मृतक को वहन कर वह काष्ठ मेरे घर में लाये हैं।

५५६२.अइगमणं एगेणं,

अण्णाए पतिट्ठवेति तत्थेव।

णाए अणुलोमण तस्स

वयण बित्तिं उट्ठाण असिवे वा॥

वहनकाष्ठ लाने की विधि-सर्वप्रथम एक मुनि उस गृहस्थ के घर में जाए जहां वहनकाष्ठ पड़ा हो। गृहस्थ अभी सो रहा हो तो उसको जगाए बिना उसकी अज्ञात अवस्था में ले आए और प्रयोजन संपन्न हो जाने पर उसे वहीं रख दे। गृहस्थ को जब ज्ञात हो कि वहनकाष्ठ को पुनः लाकर रख दिया है, और वह यदि कुपित हो जाए तो उसे अनुकूल वचनों से शांत करे। यदि वह शांत न हो और बोलता ही रहे तो गुरु उस साधु को निष्काशित कर दे।

अपवादपद में अशिव के कारण ग्राम खाली हो गया हो तो वहनकाष्ठ को वहीं विसर्जित कर दे, सागारिक को प्रत्यर्पित न करे।

५५६३.जइ नीयमणापुच्छा, आणिज्जति किं पुणो घरं मज्झ।

दुगुणो एसऽवराधो, ण एस पाणालओ भगवं!॥

सागारिक कहे कि तुम यह वहनकाष्ठ मुझे बिना पूछे ले

गए थे तो अब मेरे घर में लाकर क्यों रख रहे हो? यह तुम्हारा दुगुना अपराध है। भगवन्! मेरा यह घर पाण-चांडालों का घर नहीं है कि मृतक का उपकरण यहां लाकर रख दो।

५५६४. किमियं सिद्धमि गुरु, पुरतो तस्सेव णिच्छुभति तं तू।

अविजाणंताण कयं, अम्ह वि अण्णे वि णं बेति॥

आचार्य ने पूछा—यह क्या वृत्तान्त है? शेष साधुओं ने गुरु से कहा—अमुक साधु बिना पूछे गृहस्थ के घर से वहनकाष्ठ ले आया। तब गुरु ने शय्यातर के तथा अन्य साधुओं के समक्ष उस मुनि की भर्त्सना कर गण से निकाल देते हैं। अन्य साधु भी शय्यातर से कहते हैं—हमें ज्ञात किए बिना उस साधु ने ऐसा किया, अन्यथा हम उसे वैसा करने नहीं देते।

५५६५. वारेति अणिच्छुभणं, इहरा अण्णाए ठाति वसहीए।

मम णीतो णिच्छुभई, कइतव कलहेण वा बितिओ॥

सागारिक गुरु को निवेदन करता है, इस मुनि को गण से निष्काशित न करें, सागारिक के अवारित करने पर वह अन्य वसति में रहता है। कोई दूसरा मुनि कपटपूर्वक कहता है, मेरे निजक को निष्काशित करे तो मैं भी चला जाऊंगा। सागारिक के साथ जो कलह करता है, वह भी निष्काशित कर दिया जाता है। वह निष्काशित होने वालों में द्वितीय होता है।

अहिगरण-पदं

भिक्षू य अहिगरणं कट्टु तं अहिगरणं
अविओसवेत्ता नो से कप्पइ गाहावड्कुलं
भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा
पविसित्तए वा, बहिया वियारभूमिं वा
विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए
वा, गामाणुगामं वा दूइज्जित्तए, गणाओ
वा गणं संकमित्तए, वासावासं वा वत्थए।
जत्थेव अप्पणो आयरिय-उवज्झायं
पासेज्जा बहुस्सुयं बभभागमं तस्संतिए
आलोएज्जा पडिक्कमेज्जा निंदेज्जा
गरहेज्जा विउट्टेज्जा विसोहेज्जा
अकरणयाए अब्भुट्टेज्जा आहारिहं
तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा। से य

सुएण पट्टविए आइयव्वे सिया, से य सुएण
नो पट्टविए नो आइयव्वे सिया, से य सुएण
पट्टविज्जमाणे नो आइयइ, से
निज्जुहियव्वे सिया॥

(सूत्र २६)

५५६६. केण कयं कीस कयं, णिच्छुभऊ एस किं इहाणेती।

एमादि गिहीतुदितो, करेज्ज कलहं असहमाणो॥

गृहस्थ उस मुनि को कहता है—किस मुनि ने वहन-काष्ठ को यहां लाने का आयास किया? यहां क्यों ले आया? यहां क्यों लाता है? इसको निष्काशित करो। इस प्रकार कहने पर वह मुनि उसको सहन न करते हुए गृहस्थ के साथ कलह करता है। इसलिए प्रस्तुत अधिकरण सूत्र का प्रारंभ हुआ है।

५५६७. अचियत्तकुलपवेसे, अतिभूमि अणेसणिज्जपडिसेहे।

अवहारऽमंगलुत्तर, सभावअचियत्त मिच्छते॥

अधिकरण क्यों होता है के उत्तर में कहा गया—अप्रीतिकर कुल में प्रवेश करने पर, अतिभूमी—निषिद्धभूमी में जाने पर, अनेषणीय का प्रतिषेध करने पर, शैक्ष अथवा सजातक का अपहरण करने पर, यात्रा में प्रस्थित गृहस्थ द्वारा साधु के दर्शन को अमंगल मानने के कारण, प्रत्युत्तर देने में असमर्थ होने पर, स्वभावतः किसी साधु को अचियत्त—अनिष्ट करते हुए देख कर, अभिगृहमिथ्यादृष्टि के मन में साधु को देखकर अधिकरण हो सकता है।

५५६८. पडिसेधे पडिसेधो, भिक्षु वियारे विहार गामे वा।

दोसा मा होज्ज बहु, तम्हा आलोयणा सोधी॥

भगवान् ने यह प्रतिषेध किया है कि साधु अधिकरण न करे। इस प्रकार के प्रतिषेध में पुनः यह प्रतिषेध किया जाता है कि जब साधु किसी गृहस्थ के साथ अधिकरण कर ले तो वह उसका उपशमन किए बिना भिक्षा के लिए न जाए, विचारभूमी और विहारभूमी में न जाए, ग्रामानुग्राम विहार न करे, इसमें अनेक दोष होते हैं। इसलिए गृहस्थ के साथ अधिकरण का उपशमन कर गुरु के पास आलोचना करे और शोधि—प्रायश्चित्त ले।

५५६९. अहिगरण गिहत्थेहिं, ओसार विकहणा य आगमणं।

आलोयण पत्थवणं, अपेसणे होंति चउलहुगा॥

गृहस्थों के साथ अधिकरण करने वाले साधु का दूसरा मुनि अपसरण करे—दोनों को अलग-थलग कर दे। भुजा पकड़कर उसे दूर ले जाए। उसे लेकर उपाश्रय में आकर गुरु

के पास उसे आलोचना कराए। तदनन्तर गुरु वृषभ मुनियों को उस गृहस्थ के पास भेजे। यदि नहीं भेजते हैं तो उसका प्रायश्चित्त है चतुर्लघु।

५५७०. आणादिणो य दोसा, बंधण णिच्छुभण कडगमहो य।

वुग्गाहण सत्थेण व, अगणुवगरणं विसं वारे॥

आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं। वह गृहस्थ अनेक साधुओं का बंधन और निष्काशन करा सकता है, कोई समस्त साधुओं का व्यापादन कर सकता है। लोगों को व्युद्ग्राहित कर, वह शस्त्र से साधु को मार देता है। उपाश्रय को जला देता है, उपकरणों का अपहरण कर देता है, विष देकर प्राणघात कर सकता है, भिक्षा की वर्जना कर देता है।

५५७१. रज्जे देसे गामे णिवेसण गिहे णिवारणं कुणति।

जा तेण विणा हाणी, कुल गण संघे य पत्थारो॥

राज्य, देश, गांव, निवेशन और गृह का निवारण करा सकता है। अतः उससे जो हानि होती है उसका प्रायश्चित्त गुरु को प्राप्त होता है। वह गृहस्थ यदि प्रभावशाली हो तो कुल, गण और संघ का प्रस्तार-विनाश करा देता है।

५५७२. एयस्स णत्थि दोसो,

अपरिक्खियदिकखगस्स अह दोसो।

पभु कुज्जा पत्थारं,

अपभू वा कारवे पभुणा॥

गृहस्थ सोचता है—साधु का कोई दोष नहीं है। यह सारा दोष उनका है जिन्होंने परीक्षा किए बिना इसको दीक्षित किया है। अतः मैं उसका ही व्यापादन कर दूँ। यह सोचकर समर्थ होने पर वह स्वयं प्रस्तार—साधुओं को मार डालता है। समर्थ न होने पर राजा को कहकर मरवा देता है।

५५७३. तम्हा खलु पडुवणं, पुवं वसभा समं च वसभेहिं।

अणुलोमण पेच्छामो, गेंति अणिच्छं पि तं वसभा॥

अतः वृषभों को भेजना ही चाहिए। पहले वृषभ उस गृहस्थ के पास जाए, और अनुकूल वचनों से उस गृहस्थ को उपशांत करे। गृहस्थ कहे—उस कलहकारी को मैं देखना चाहता हूँ। तब वह साधु उस गृहस्थ के सम्मुख जाना चाहे या न चाहे, वृषभ उसको वहाँ अपने साथ ले जाएं।

५५७४. तस्संबंधि सुही वा, पगता ओयस्सिणो गहियवक्का।

तस्सेव सुहीसहिया, गमेंति वसभा तगं पुवं॥

५५७५. सो निच्छुम्भति साहू, आयरिए तं च जुज्जसि गमेतुं।

नाऊण वत्थुभावं, तस्स जती णिति गिहिसहिया॥

वे वृषभ उस गृहस्थ या मुनि के संबंधी या सूहृद् हो सकते हैं, वे लोक विश्रुत, ओजस्वी, आदेयवचन वाले हों, वे

उस गृहस्थ के सगे-संबंधियों के साथ जाते हैं और सबसे पहले उस गृहस्थ को प्रज्ञापित करते हैं और कहते हैं—जिस साधु ने तुम्हारे साथ कलह किया है, उसे आचार्य निष्काशित कर रहे हैं। आचार्य हमारी बात पूरी नहीं सुनते। इसके लिए तुम युक्त हो। तुम चलकर आचार्य को सही जानकारी दो। गृहस्थ के भावों को जानकर गृहस्थ मित्रों सहित साधु को साथ ले वृषभ वहाँ जाते हैं।

५५७६. वीसुं उवस्सए वा, ठवेति पेसंति फडुपतिणो वा।

देंति सहाते सव्वे, व गेंति गिहिते अणुवसंते॥

यदि गृहस्थ पूर्णरूप से उपशांत नहीं है तो उस साधु को अन्य उपाश्रय में स्थापित कर देते हैं अथवा स्पर्द्धकपति के पास भेज देते हैं। उसको सहायक देते हैं। जब मासकल्प पूर्ण हो जाता है तब सभी मुनि वहाँ से विहार कर जाते हैं। यह विधि गृहस्थ के उपशांत न होने की है।

५५७७. अविओसियम्मि लहुगा,

भिकख वियारे य वसहि गामे य।

गणसंकमणे भण्णति,

इहं पि तत्थेव वच्चाहि॥

यदि मुनि कलह को उपशांत किए बिना भिक्षा के लिए जाता है, विचारभूमी में जाता है, अन्य साधु की वसति में जाता है या विहार करता है तो उसे चतुर्लघु का प्रायश्चित्त आता है। यदि गण संक्रमण करता है तो उस गण के साधु कहते हैं—यहाँ भी गृहस्थ क्रोधी हैं, इसीलिए वहीं लौट जाओ।

५५७८. इह वि गिही अविसहणा,

ण य वोच्छिण्णा इहं तुह कसाया।

अन्नेसिं पाऽऽयासं,

जणइस्ससि वच्च तत्थेव॥

यहाँ भी गृहस्थ असहिष्णु हैं। यहाँ आने से तुम्हारे कषाय व्यवच्छिन्न नहीं हो जाएंगे। यहाँ रहकर तुम दूसरे साधुओं में भी आयास पैदा करोगे, इसीलिए वहीं चले जाओ।

५५७९. सिट्टम्मि न संगिण्हति, संकंतम्मि उ अपेसणे लघुगा।

गुरुगा अजयणकहणे, एगतपतोसतो जं च॥

अनुपशांत साधु गणान्तर में संक्रान्त हो जाने पर मूल आचार्य साधु संघाटक को वहाँ भेजे। उनके द्वारा कहने पर वहाँ के आचार्य उसको ग्रहण नहीं करते। यदि मूल आचार्य संघाटक को नहीं भेजते हैं तो उनको चतुर्लघु का प्रायश्चित्त है। वह संघाटक यदि अयतनापूर्वक बात कहता है तो चतुर्गुरु। और यदि लोगों के समक्ष उस साधु की बात अयतनापूर्वक कहता है तो वह साधु प्रद्वेषवश एकतर अर्थात्

उस गृहस्थ, संघाटक या मूल आचार्य के प्रति जो करेगा, उससे निष्पन्न प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

५५८०. उवसामितो गिहत्थो, तुमं पि खामेहि एहि वच्चाहि।

दोसा हु अणुवसंते, ण य सुज्झति तुज्झ सामङ्गं॥

गुरु उस मुनि को कहते हैं—वह गृहस्थ उपशांत हो गया है। तुम भी क्षमायाचना कर लो। चलो, हम उसके पास चलते हैं। अनुपशांत में अनेक दोष होते हैं। बिना क्षमायाचना किए तुम्हारी सामायिक शुद्ध नहीं होती।

५५८१. तमतिमिरपडलभूतो, पावं चिंतेइ दीहसंसारी।

पावं ववसिउकामे, पच्छित्ते मग्गणा होति॥

जैसे तमस्तिमिरपटल के सघनतम अंधकार में कुछ भी दृष्टिगत नहीं होता, वैसे ही वह पापी और दीर्घसंसारी श्रमण तीव्रतम कषाय के उदय से अंधा बना हुआ अपना हित न देखता हुआ गृहस्थ का अनिष्ट चिंतन करता है। उस पाप करने में प्रवृत्त होने वाले श्रमण के लिए प्रायश्चित्त की मार्गणा होती है।

५५८२. वच्चामि वच्चमाणे, चउरो लहुगा य होंति गुरुगा य।

उग्गिण्णम्मि य छेदो, पहरणे मूलं च जं जत्थ॥

गृहस्थ को मारने के लिए जाऊँ—ऐसा संकल्प करने पर चतुर्लघु, प्रस्थित होने पर चतुर्गुरु, मारने के लिए प्रहार करने पर छेद, मर जाने पर मूल। तथा जहाँ जहाँ जो जो परितापना होती है, उसका प्रायश्चित्त भी आता है।

५५८३. तं चेव णिद्धवेती, बंधण णिच्छुब्भण कडगमहो य।

आयरिए गच्छम्मि य, कुल गण संघे य पत्थारो॥

उस मुनि को वहाँ आया हुआ देखकर वह गृहस्थ उसको वहीं मार डालता है। बंधन से बांध देता है, गांव से निष्काशित कर देता है, कटकमर्द अर्थात् अनेक मुनियों का वध कर देता है। जैसे पालक ने स्कंदक आचार्य के गच्छ को नष्ट कर दिया था। इसी प्रकार कुल, गण और संघ का प्रस्तार—विनाश कर देता है।

५५८४. संजतगणे गिहिगणे,

गामे नगरे व देस रज्जे य।

अहिवति रायकुलम्मि य,

जा जहिं आरोवणा भणिया॥

साधु को अकेला वहाँ नहीं जाना चाहिए। वह संयतगण का या गृहस्थगण का सहयोग ले। वे गृहस्थ ग्राम, नगर, देश और राज्य के वास्तव्य हों। उनके जो अधिपति हैं उनकी सहायता ले। अथवा राजकुल के पुरुषों का सहयोग ले। जो एकाकी साधु की या जहाँ जो संकल्प आदि की आरोपणा कही गई है, वही यहाँ भी जाननी चाहिए।

५५८५. संजयगणो तदधिवो, गिही तु गाम पुर देस रज्जे वा।

एतेसिं चिय अहिवा, एगतरज्जुतो उभयतो वा॥

मुनिगण के अधिपति आचार्य होते हैं। गृहस्थों के ग्रामाधिपति, पुराधिपति, देशाधिपति, राज्याधिपति होते हैं। इनमें से किसी एक को अथवा दोनों को साथ ले वहाँ जाए।

५५८६. तहिं वच्चंते गुरुगा,

दोसु तु छल्लहुग गहणे छग्गुरुगा।

उग्गिणि पहरणे छेदो,

मूलं जं जत्थ वा पंथे॥

उनके साथ वहाँ जाने का संकल्प करने पर चतुर्लघु, प्रस्थित हो जाने पर चतुर्गुरु, प्रहरण देखने या मार्गणा करने पर—दोनों में षडलघु, ग्रहण करने पर षड्गुरु, प्रहार करने पर छेद, मर जाए तो मूल, अथवा जो जहाँ पृथिवी आदि की हिंसा होती है, तद्निष्पन्न प्रायश्चित्त आता है। मार्ग में जाते हुए प्रहरण ग्रहण करता है तो षडलघु, ग्रहण करने पर षड्गुरु आदि। यह भिक्षु के लिए प्रायश्चित्त है।

५५८७. एसेव गमो णियमा, गणि आयरिए य होति णायव्वो।

नवरं पुण नाणत्तं, अणवट्टप्पो य पारंची॥

यही विकल्प नियमतः गणी—उपाध्याय, आचार्य तथा गणावच्छेदिक के लिए जानना चाहिए। इसमें यह नानात्व है—जहाँ भिक्षु के लिए मूल प्रायश्चित्त है वहाँ उपाध्याय के लिए अनवस्थाप्य और आचार्य के लिए पारांचिक प्रायश्चित्त है।

५५८८. भिक्खुस्स दोहि लहुगा, गणवच्छे गुरुग एगमेणेण।

उज्झाए आयरिए, दोहि वि गुरुगं च णाणत्तं॥

भिक्षु के लिए ये सारे प्रायश्चित्त दोनों अर्थात् तप और काल से लघु, गणावच्छेदिक के लिए एकतर अर्थात् तप या काल से गुरु, और उपाध्याय और आचार्य के लिए तप और काल से गुरु होते हैं। यह नानात्व है।

५५८९. काऊण अकाऊण व, उवसंत उवट्ठियस्स पच्छित्तं।

सुत्तेण उ पट्टवणा, असुत्ते रागो व दोसो वा॥

गृहस्थ पर प्रहार करके या न करके उपशांत होकर प्रायश्चित्त के लिए उपस्थित हुआ है तो उस मुनि को प्रायश्चित्त देना चाहिए। सूत्र के द्वारा प्रायश्चित्त की प्रस्थापना करनी चाहिए। असूत्र के द्वारा प्रायश्चित्त की प्रस्थापना करने पर उस मुनि के मन में राग-द्वेष हो सकता है।

५५९०. थोवं जति आवण्णे, अतिरेगं देति तस्स तं होति।

सुत्तेण उ पट्टवणा, सुत्तमणिच्छंते निज्जुहणा॥

यदि थोड़े प्रायश्चित्त वाले को अधिक प्रायश्चित्त देते हों

तो वह अधिक प्रायश्चित्त उसी को वहन करना होता है जो प्रायश्चित्त देता है। इसलिए सूत्र के आधार पर प्रायश्चित्त की प्रस्थापना करनी चाहिए। यदि कोई सूत्र के अनुसार प्रायश्चित्त लेना नहीं चाहता, उसकी निर्यूहणा करनी चाहिए—उसे कहना चाहिए—अन्यत्र जाकर शोधि करो, प्रायश्चित्त लो।

५५९१. जेणऽधियं ऊणं वा, ददाति तावतिअमप्पणा पावे।

अहवा सुत्तादेसा, पावति चतुरो अणुग्घाता॥

जो अधिक या न्यून प्रायश्चित्त देता है, उतना उसे स्वयं को प्राप्त होता है। अथवा जो सूत्रादेश से अधिक या न्यून प्रायश्चित्त देता है, उसको चार अनुद्घात मास का प्रायश्चित्त आता है।

५५९२. बितियं उप्पाएउं, सासणपंते असज्झे पंच वि पयाइं।

आगाढे कारणम्मिं रायसंसारिए जतणा॥

इसका अपवादपद यह है। यदि वह शासनप्रान्त—शासन का प्रत्यनीक हो, असाध्य हो तो उसके साथ अधिकरण कर उसे शिक्षा दे। यदि स्वयं समर्थ न हो तो इन पांचों पदों की सहायता ले—संयत, ग्राम, नगर, देश और राज्य। आगाढ कारण में राजसंसारिक—दूसरे राजा की स्थापना करनी हो तो वह यतनापूर्वक करे—उसके स्थान पर उस वंश के अन्य राजा को राज्य का भार सौंप दे।

५५९३. विज्जा-ओरस्सबली, तेयसलद्धी सहायलद्धी वा।

उप्पादेउं सासति, अतिपंतं कालकज्जो वा॥

ऐसा संपादित करने वाले में ये गुण हों—विद्याबल, औरसबल, तेजोलब्धि संपन्न, सहायलब्धियुक्त।^१ ऐसा व्यक्ति अधिकरण को उत्पन्न कर अतिप्रान्त—अतीव प्रवचन-प्रत्यनीक पर अनुशासन करता है, जिस प्रकार कालकाचार्य ने गर्दभिल्ल राजा को शासित किया था।

परिहारकप्पट्टिय-पदं

परिहारकप्पट्टियस्स णं भिक्खुस्स
कप्पइ आयरिय-उवज्झाएणं तद्विवसं
एगगिहंसि पिंडवायं दवावेत्तए, तेण परं नो
से कप्पइ असणं वा पाणं वा खाइमं वा
साइमं वा दाउं वा अणुप्पदाउं वा। कप्पइ
से अण्णयरं वेयावडियं करेत्तए, तं
जहा—उद्दावणं वा निसीयावणं वा

तुयद्दावणं वा उच्चार-पासवण-खेल-
सिंचाणविगिंचणं वा विसोहणं वा
करेत्तए॥ (सूत्र २७)

अह पुण एवं जाणेज्जा—छिन्नावाएसु
पंथेसु आउरे झिंझिए पिवासिए, तवस्सी
दुब्बले किलंते मुच्छेज्ज वा पवडेज्ज वा
एवं से कप्पइ असणं वा पाणं वा खाइमं वा
साइमं वा दाउं वा अणुप्पदाउं वा॥

(सूत्र २८)

५५९४. पच्छित्तमेव पगतं, सहस्स परिहार एव न उ सुद्धो।

तं वहतो का मेरा, परिहारियसुत्तसंबंधो॥

प्रस्तुत सूत्र में प्रायश्चित्त का ही अधिकार है। समर्थ मुनि को परिहारतप ही प्रायश्चित्त के रूप में देना चाहिए। शुद्धतप नहीं। उसको वहन करने वाले की क्या मर्यादा है? इस जिज्ञासा के समाधान में प्रस्तुत सूत्र परिहारिक सूत्र का प्रारंभ किया जाता है। यह सूत्र-संबंध है।

५५९५. वीसुंभणसुत्ते वा, गीतो बलवं च तं परिद्वप्पा।

चोयण कलहम्मि कते, तस्स उ नियमेण परिहारो॥

मरणसूत्र में बलवान् गीतार्थ मुनि उस मृतक का परिष्ठापन कर वहनकाष्ठ ले आता है, गृहस्थ द्वारा कुछ कहने पर कलह करता है, उसको नियमतः परिहारतप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

५५९६. कंटगमादीसु जहा, आदिकडिल्ले तहा जयंतस्स।

अवसं छलणाऽऽलोयण, ठवणा जुत्ते य वोसग्गो॥

उसको परिहारतप क्यों के समाधान में कहा गया, जैसे—कंटकाकीर्ण और विषम मार्ग में यतनापूर्वक चलते हुए भी पैरों में कांटा चुभ जाता है वैसे ही आदिकडिल्ल—आघगहन उद्गम आदि दोष में अवश्य ही मुनि की छलना होती है, उसके आलोचना आती है तथा जो उन गुणों से युक्त हो, उसको स्थापना—परिहार तप आता है। उस मुनि के वह तपःकर्म निर्विघ्नरूप से पार लगे, इसके लिए सारे गच्छ को कायोत्सर्ग करना चाहिए।

५५९७. एस तवं पडिवज्जति,

ण किंचि आलवति मा ण आलवहा।

अत्तद्वचित्तगस्सा,

वाघातो भे ण कायव्वो॥

१. विद्याबलेन युक्तो यथा—आर्यखपट्टः, औरसेन वा बलेन युक्तो यथा—बाहुबली, तेजोलब्ध्या वा सलब्धिको यथा—ब्रह्मदत्तः सम्भूतभवे, सहायलब्धियुक्तो वा यथा—हरिकेशबलः। (वृ. पृ. १४८०)

आचार्य कहते हैं—यह मुनि परिहारतप स्वीकार कर रहा है। यह कुछ नहीं कहेगा। तुमको भी इसके साथ बात नहीं करनी है। यह आत्मचिंतन में लीन रहेगा, इसलिए कोई मुनि व्याघात न करे।

५५९८. आलावण पडिपुच्छण, परियदुद्धाण वंदणम मत्ते।
पडिलेहण संघाडग, भत्तदाण संभुंजणा चव॥

ये पद परस्पर न करें—आलपन, प्रतिपृच्छा, परिवर्तना (चितारना), उत्थापन, वंदनक, मात्रक लाकर देना, प्रतिलेखन, संघाटक रूप में उसके साथ होना, भक्त-पान देना, साथ में भोजन करना आदि।

५५९९. संघाडगाओ जाव उ, लहुओ मासो दसण्ह उ पयाणं।
लहुगा य भत्तदाणे, संभुंजण होतऽणुग्घाता॥

इन दस पदों में आलपन से संघाटक पर्यन्त का आचरण करने पर मासलघु, भक्तपान देने पर चतुर्लघु, साथ में भोजन करने पर चार अनुद्घात मास का प्रायश्चित्त आता है।

५६००. अद्वण्हं तु पदाणं, गुरुओ परिहारियस्स मासो उ।
भत्तपदाणे संभुंजणे य चउरो अणुग्घाया॥

संघाटक पर्यन्त आठ पदों का पारिहारिक मुनि के साथ आचरण करने पर गुरुमास, भक्तपान देने तथा साथ में भोजन करने पर अनुद्घात चार मास का प्रायश्चित्त है।

५६०१. कुव्वंताणेयाणि उ, आणादि विराहणा दुवेण्हं पि।
देवय पमत्त छलणा, अधिगरणादी य उदितम्मि॥

इन दस पदों को उसके साथ करने पर आज्ञाभंग आदि दोष तथा दोनों की—पारिहारिक साधु की तथा गच्छ के साधुओं की विराधना होती है। कोई देवता (प्रमत्त मुनि को) छल सकता है। तपस्वी द्वारा कुछ कहे जाने पर अधिकरण आदि दोष होते हैं।

५६०२. विउलं व भत्त-पाणं, दद्वुणं साहुवज्जणं चव।
नाऊण तस्स भावं, संघाडं देति आयरिया॥

साधुओं द्वारा विपुल भक्त-पान लाया हुआ देखकर उसके मन में उसे ग्रहण करने की इच्छा उत्पन्न हुई। साधुओं ने वर्जना की। उसके मन की भावना को जानकर आचार्य ने उसको मुनियों का एक संघाटक दिया।

५६०३. भावो देहावत्था, तप्पडिबद्धो व ईसि भावो से।
अप्पातित हयतण्हो, वहति सुहं सेसपच्छित्तं॥

भाव का अर्थ है—देह की अवस्था। उससे प्रतिबद्ध उस मुनि के मन में उस भोजन के प्रति एक बार थोड़ी भावना जागी। उस आहार को पाकर उसकी अभिलाषा शांत हो गई, तृप्त हो गई। अब वह शेष प्रायश्चित्त को सुखपूर्वक वहन करने लगा।

५६०४. देहस्स तु दोबल्लं, भावो ईसिं व तप्पडीबंधो।
अगिलाए सोहिकरणेण वा वि पावं पहीणं से॥

देह की दुर्बलता और मनोज्ञ आहारविषयक कुछ प्रतिबंध—यह भाव कहलाता है। अथवा अग्लानी से शोधि करने से उसका पाप प्रक्षीणप्राय है, यह भाव आचार्य जान लेते हैं।

५६०५. आगंतु एयरो वा, भावं अतिसेसिओ से जाणिज्जा।
हेऊहि व से भावं, जाणित्ता अणतिसेसी वि॥

आगंतुक मुनि या इतर अतिशयी ज्ञानी उसके इस प्रकार के भाव को जान लेता है। अथवा अनतिशयी ज्ञानी भी बाह्य हेतुओं से उसके भाव को जान लेता है।

५६०६. सक्रमहादी दिवसो, पणीयभत्ता व संखडी विपुला।
धुवलंभिग एगघरं, तं सागकुलं असागं वा॥

शक्रमह आदि के दिन प्रणीतभक्त वाली विपुल संखडी में उसे ले जाते हैं। एक ही घर में अवश्यलाभ होता है चाहे वह घर श्रावक का हो अथवा अश्रावक का।

(यदि वह पारिहारिक जाने में असमर्थ हो तो गुरु स्वयं जाकर वहां से लाकर देते हैं।)

५६०७. भत्तं वा पाणं वा, ण दिंति परिहारियस्स ण करंति।
कारणे उद्ववणादी, चोयग गोणीय दिद्धंतो॥

तत्पश्चात् पारिहारिक को भक्तपान नहीं देते और न उसके साथ बातचीत ही करते हैं। कारणवश दुर्बलता से उसको उत्थान आदि कराते हैं। जिज्ञासु के प्रश्न करने पर आचार्य ने गोदृष्टान्त कहा—जैसे नवप्रसूता गाय उठने में असमर्थ होती है तब ग्वाला उसे उठाता है—चरने के लिए जंगल में ले जाता है। चरने के लिए जाने में असमर्थ हो तो ग्वाला वहीं घर में चारा लाकर खिलाता है। इसी प्रकार पारिहारिक भी जितना कर सकता है, उतना उससे कराते हैं, न कर सकने पर अनुपारिहारिक करता है।

५६०८. उद्वेज्ज निसीएज्जा, भिक्खं हिंदेज्ज भंडगं पेहे।
कुवियपियबंधवस्स व, करेइ इयरो वि तुसिणीओ॥

पारिहारिक कहता है—मुझे उठाओ, बिठाओ, भिक्षा के लिए जाओ, भांडों का प्रत्युपेक्षण करो, यह सुनकर अनुपारिहारिक ये सब क्रियाएं इस प्रकार मौनभाव से संपादित करे जैसे कुपित प्रियबंधु की कोई बंधु संपादित करता है।

५६०९. णीणेति पवेसेति व, भिक्खगए उग्गहं तउग्गहियं।
रक्खति य रीयमाणं, उक्खिवइ करे य पेहाए॥

भिक्षा के लिए गए हुए पारिहारिक ने जो पात्र आदि लिए थे उनको अनुपारिहारिक पात्रबंध—झोली निकालता है अथवा

वहां दूसरे रखता है, बाहर जाते हुए की वह रक्षा करता है, भांडों को उठाने में असमर्थ उस पारिहारिक से वह अनुपारिहारिक हाथों में ले लेता है और वही उसकी प्रत्युपेक्षा करता है।

५६१०. एवं तु असदभावो, विरियायारो य होति अणुचिण्णो।

भयजण्णं सेसाण य, तवो य सप्पुरिसचरियं च॥

यथाशक्ति काम करने पर उसमें अशठभाव प्रदर्शित होता है। वीर्याचार का पालन होता है, शेष साधुओं में भी भय उत्पन्न होता है, तप का अनुपालन होता है तथा सत्पुरुष-चरित्र का पालन होता है।

५६११. छिण्णावात किलंते, ठवणा खेतस्स पालणा दोण्हं।

असहुस्स भत्तदाणं, कारणे पंथे व पत्ते वा॥

छिन्नपात (जनशून्य) मार्ग में जाने से पारिहारिक यदि क्लान्त हो जाता है तो उसके लिए क्षेत्र की स्थापना करनी चाहिए जिसमें वह भिक्षाचर्या के लिए जा सके। इससे दोनों की-पारिहारिक और अनुपारिहारिक की पालना हो सकती है। यदि पारिहारिक भिक्षा के लिए जाने में भी असमर्थ हो तो अनुपारिहारिक उसे भक्तपान लाकर दे। दोनों यदि कारणिक हो जाएं तो गच्छ के साधु भक्तपान लाकर दे। अब मार्ग और ग्राम-प्राप्त विषयक यतना कही जा रही है।

५६१२. उवयंति डहरगामं, पत्ता परिहारिए अपावंते।

तस्सऽद्वा तं गामं, ठविति अन्नेसु हिंडंति॥

मार्ग में जाते हुए यदि कोई छोटा गांव प्राप्त हो जाए और यदि पारिहारिक अभी तक नहीं पहुंचा हो तो उसे उसी ग्राम में स्थापित कर दे। वह वहां भिक्षा करे और गच्छ के साधु अन्य ग्राम में भिक्षा करे।

५६१३. वेलइवाते दूरम्मि य गामे तस्स ठाविउमद्धं।

अद्धं अडंति सो वि य, अद्धमडे तेहिं अडिते वा॥

यदि वह गांव दूर हो और वहां पहुंचते-पहुंचते भिक्षा की वेला का अतिपात हो जाता है तो उसी गांव का आधाभाग पारिहारिक के लिए और शेष आधे में अन्य साधु घूमते हैं, और यदि पूरा आहार न आए तो पारिहारिक के पर्यटन के पश्चात् वे पूरे गांव में जा सकते हैं।

५६१४. बिइयपथ कारणम्मिं, गच्छे वाऽऽगाढे सो तु जयणाए।

अणुपरिहारिओ कप्पडितो व आगाढ संविग्गो॥

अपवाद पद में कारण में अर्थात् कुलादिकार्य में तथा गच्छ में यदि आगाढ़ कारण हो जाए तो पारिहारिक यतनापूर्वक वैयावृत्य करता है। गच्छ के साधु आगाढ़ योग में लगे हुए हैं, उपाध्याय ग्लान हों या कालगत हो गए हों तो

अनुपारिहारिक या पारिहारिक या कल्पस्थित मुनि वाचना दे सकता है। वह वाचना देता हुआ संविग्ण ही है।

५६१५. मयण च्छेव विसोमे, देति गणे सो तिरो व अतिरो वा।

तब्भाणेषु सएसु व, तस्स वि जोगं जणो देति॥

मदनकोद्रव खाने से सारा गच्छ ग्लान हो गया हो, अशिव से ग्रस्त हो, किसी ने विष दे दिया हो, अवमौदर्य हो—इस प्रकार के आगाढ़ कारण में गच्छ फंसा हो तो पारिहारिक गच्छ के भाजनों में या स्वयं के भाजनों में अन्न-पान आदि लाकर देता है। वह तिरोहित अर्थात् अनुपारिहारिक आदि को देता है, वह गच्छ को दे देता है। यदि अनुपारिहारिक ग्लान हो जाता है तो अतिरोहित—स्वयमेव गच्छ को देता है। जनता उनके योग्य आहार-पानी देती है, वह लाकर उनको दे देता है और स्वयं के योग्य रख लेता है।

५६१६. एवं ता पंथम्मिं, जत्थ वि य ठिया तहिं पि एमेव।

बाहिं अडती डहरे, इयरे अद्ध अडिते वा॥

यह मार्गगत की विधि है। जहां वे स्थित हैं, वहीं भी यही क्रम है। छोटे ग्राम में गच्छ के साधु तथा पारिहारिक बहिर भिक्षा के लिए जाता है। अथवा आधे-आधे में दोनों गण के साधु और पारिहारिक भिक्षाचर्या करते हैं।

५६१७. कप्पडिय परिहारी, अणुपरिहारी व भत्त-पाणेणं।

पंथे खेत्ते व दुवे, सो वि य गच्छस्स एमेव॥

कल्पस्थित या अनुपारिहारिक मार्ग में या क्षेत्र में—पारिहारिक को भक्तपान लाकर देते हैं। पारिहारिक भी इसी प्रकार गच्छ का उपग्रह करता है।

महानदी-पदं

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
इमाओ पंच महण्णवाओ महानईओ
उद्धिद्धाओ गणियाओ वंजियाओ अंतो
मासस्स दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा
उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा। तं जहा—गंगा
जउणा सरऊ कोसिया मही॥

(सूत्र २९)

५६१८. अद्धाणमेव पगतं, तत्थ थले पुव्ववण्णिया मेरा।

जति होज्ज तत्थ तोयं, तत्थ उ सुत्तं इमं होति॥

पूर्वसूत्र में अध्वा का ही अधिकार था। वहां स्थलगत पूर्व

वर्णित मर्यादा का उल्लेख हुआ है। यदि स्थलगत मार्ग में पानी हो तो उसके लिए प्रस्तुत सूत्र है।

५६१९. इमाउ त्ति सुत्तउत्ता, उद्विद्ध नदीउ गणिय पंचेव।

गंगादि वंजिताओ, बहुओदग महण्णवातो तू॥

प्रस्तुत सूत्र में गिनती की ये पांच नदियां उदिष्ट हैं। गंगा आदि पदों से ये अभिव्यंजित हैं। ये बहुजला और महार्णव कहलाती हैं। (गंगा, यमुना, सरयू, कोशिका, मही—ये पांच नदियां हैं)

५६२०. पंचणहं गहणेणं, सेसा वि उ सूइया महासलिला।

तत्थ पुरा विहरिंसु य, ण य तातो कयाइ सुखंति ॥

इन पांचों के ग्रहण से शेष महासलिला—बहुजल वाली नदियां सूचित की गई हैं। ये पांच नदियां जहां प्रवाहित होती हैं, उन क्षेत्रों में मुनियों ने पहले विचरण किया था। ये नदियां कभी सूखती नहीं, इसलिए इसका ग्रहण हुआ है।

५६२१. पंच परूवेतुणं णावासंतारिमे उ जं जत्थ।

उत्तरणम्मि वि लहुगा, तत्थ वि आणाइणो दोसा ॥

इन पांचों नदियों की प्ररूपणा करके जो नदी जिस देश में जिस रूप में प्रवाहित हो उसका वर्णन करना चाहिए। जो नौका द्वारा पार की जाती हो, उसको पार करने पर षट्काय विराधना का निष्पन्न प्रायश्चित्त आता है। जंघा आदि से उत्तरण हो, संतरण रूप हो तो चतुर्लघु का प्रायश्चित्त और आज्ञाभंग आदि दोष निष्पन्न होते हैं।

५६२२. अणुकंपा पडिणीया, व होज्ज बहवो उ पच्चवाया ऊ।

एतेसिं णाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुब्बीए ॥

नौका आदि से नदी पार करने पर अनुकंपादोष, प्रत्यनीकदोष तथा अनेक प्रत्यवाय—आपत्तियां आती हैं। इनका नानात्व में क्रमशः कहूंगा।

५६२३. छुभणं जले थलातो, अण्णे वोयारिता छुभति साहू।

ठवणं व पत्थिताए, द्दुं णावं व आणेती ॥

साधु नदी पार करना चाहता है, यह जानकर नाविक, अनुकंपा वश नौका को स्थल से नदी के जल में उतारता है अथवा दूसरे यात्रियों को उतार कर साधु को नौका में चढ़ाता है, अथवा साधु नौका से उतरेंगे यह सोचकर नौका को खड़ी रखता है या साधुओं को देखकर नौका को दूसरे तट से लाता है।

५६२४. नावित-साधुपदोसो, णियत्तणऽच्छंतगा य हरियादी।

जं तेण-सावएहि व, पवहण अण्णाए किणणं वा ॥

नौका को लाते हुए देखकर लोग नाविक पर या साधु पर

१. पूरे कथानक के लिए देखें कथा परिशिष्ट नं. १३१।

२. पूरे कथानक के लिए देखें—आ. निर्यु. गा. ४६९-४७१, हारि. टी. पत्र १९९-२०१।

प्रद्वेष को प्राप्त हो सकते हैं। अथवा वे निवर्तमान या तट पर बैठे हुए हरित आदि की विराधना करते हैं अथवा स्तेनों या श्वापदों से उपद्रव को पाते हैं, वे दूसरी नौका प्रवाहित करते हैं या अन्य नौका का क्रय करते हैं—इनसे निष्पन्न प्रायश्चित्त के वे भागी होते हैं।

५६२५. मज्जणगतो मुरुंडो, णावं द्दुण अप्पणा णेति।

कहिगग जति अक्खेवा, तति लहुगा मग्गणा पच्छा ॥

स्नान करते हुए मुरुंड राजा ने साधुओं को देखा और स्वयं नौका लेकर गया। नौका में आरूढ़ होकर साधु कथा करने लगा। उस समय नौका चलाने में चप्पू के जितने आक्षेप होते हैं उतने चतुर्लघु का प्रायश्चित्त आता है। पश्चात् राजा ने साधुओं को अन्तःपुर में कथा करने के लिए प्रार्थना की।^१

५६२६. सुत्त-ऽत्थे पलिमंथो, णेगा दोसा य णिवघरपवेसे।

सइकरण कोउएण व, भुत्ता-ऽभुत्ताण गमणादी ॥

वहां जाने पर ये दोष होते हैं—सूत्रार्थ का पलिमंथ, स्मृतिकरण, कौतुक, भुक्त-अभुक्त भोगों की स्मृति, प्रतिगमन आदि अनेक दोष नृपगृह में प्रवेश करने पर होते हैं।

५६२७. वुब्भण सिंचण बोलण,

कंबल-सबला य घाडित्तिनिमित्तं।

अणुसट्ठा कालगता,

णागकुमारेसु उववण्णा ॥

कोई प्रत्यनीक साधुओं को नौका वाहन, सिंचन, जल में डुबोना आदि करता है। यहां एक दृष्टांत है—मथुरा में भंडीरयक्ष की यात्रा में कंबल-शबल नाम के दो बैलों को मित्र जिनदास को पूछे बिना वाहन में जोत दिया। उससे वैराग्य को प्राप्त होकर दोनों बैल श्रावक द्वारा अनुशिष्टि प्राप्त कर भक्त-प्रत्याख्यान से मृत्यु को प्राप्त कर नागकुमार देव में उत्पन्न हुए।

५६२८. वीरवरस्स भगवतो, नावारूढस्स कासि उवसग्गं।

मिच्छद्विद्धि परद्धो, कंबल-सबलेहिं तारिओ भगवं ॥

जब भगवान् महावीर नावारूढ़ होकर जा रहे थे, तब सुदादा नाम के नागदेव ने उपसर्ग किया। उस मिथ्यादृष्टि देव ने भगवान् को जल में डुबोने का प्रयत्न किया तब कंबल-शबल दोनों देवों ने भगवान् को उस उपसर्ग से मुक्त कर दिया।^२

५६२९. सीसगता वि ण दुक्खं, करेह मज्झं ति एवमवि वोत्तुं।

जा छुब्भंतु समुद्दे, भुंचति णावं विलग्गेसु ॥

सरसों के दाने शिर पर पड़े हुए भी दुःख नहीं देते—इस प्रकार कह कर भी जो प्रत्यनीक नावारूढ़ साधुओं की नौका को नदीमुख पर छोड़ता है, जिससे कि नौका समुद्र में प्रक्षिप्त हो जाए, और साधु क्लेश पाते हुए मर जाएं।

५६३०.सिंचति ते उवहिं वा, ते चेव जले द्युभेज्ज उवधिं वा।

मरणोवधिनिष्पन्नं, अणेसिग तणादि तरपणं॥

कोई प्रत्यनीक या नाविक साधुओं की उपधि को जल से सिंचित कर देता है अथवा उन साधुओं को और उपधि—दोनों को पानी में डुबो देता है। इस प्रसंग में आत्मविराधना में मरणनिष्पन्न तथा उपधि के विनाश में उपधिनिष्पन्न प्रायश्चित्त आता है। वह मुनि पुनः अनेषणीय उपधि ग्रहण करेगा, तृण आदि का उपयोग करेगा, उससे निष्पन्न प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। वह नाविक तरपणी (साधुओं का पात्र-विशेष) की मांग करता है, न देने पर साधुओं को रोक देता है। ये सारे प्रत्यनीक दोष हैं।

५६३१.संघट्टणाऽऽयसिंचणं, उवगरणे पडण संजमे दोसा।

सावत तेणे तिण्हेगतर, विराहणा संजमा-ऽऽयाए॥

त्रस प्राणियों की संघट्टना, स्वयं या उपकरणों की पानी से सेचन अथवा गिर पड़ना—ये संयम दोष हैं। श्वापदकृत या स्तेनकृत—यह आत्मविराधना है। तीनों में से—प्रत्यनीकता, अनुकंपा, तदुभयादिरूप में से किसी एक से संयमविराधना और आत्मविराधना होती है।

५६३२.तस-उदग-वणे घट्टणं,

सिंचण लोणे अ णावि सिंचणता।

वुब्भण उवधाऽऽतुभये,

मगरादि समुद्धतेणा य॥

पानी में उत्पन्न होने वाले त्रस प्राणियों का अथवा जल का या सेवालादिरूप वनस्पति का संघट्टन होता है। लोग अथवा नाविक साधु के उपकरणों का जल से सेचन कर देते हैं अथवा उपधि को या साधु को या दोनों को पानी में डुबो देते हैं। वहां मगरमच्छ आदि जानवर या समुद्री स्तेन होते हैं।

५६३३.ओहार-मगरादीया, घोरा तत्थ उ सावया।

सरीरोवहिमादीया, णावातेणा य कत्थई॥

वहां नदी में ओहार—मत्स्यविशेष तथा मगरमच्छ आदि भयंकर श्वापद होते हैं। वहां शरीरस्तेन, उपधिस्तेन तथा नौस्तेन कहीं-कहीं होते हैं।

५६३४.सावय तेणे उभयं, अणुकंपादी विराहणा तिण्णि।

संजम आउभयं वा, उत्तर-णावुत्तरंते वा॥

श्वापद, स्तेन या दोनों—यह त्रिक, अथवा अनुकंपा से,

प्रत्यनीकता से अथवा दोनों से—यह त्रिक, अथवा संयम-विराधना, आत्मविराधना या दोनों—यह त्रिक उदक में उतरते हुए, नौका में आरूढ़ होने पर, नौका से उतरते हुए—इस त्रिक में—इन चारों त्रिकों में प्रत्येक में अनेक प्रत्यपाय होते हैं।

५६३५.उत्तरणम्मि परुविते, उत्तरमाणस्स चउलहू होति।

आणाइणो य दोसा, विराहणा संजमा-ऽऽताए॥

उत्तरण का अर्थ है—नदी को नौका के बिना पार करना। उत्तरण की प्ररूपणा का यह तात्पर्य है—जो जंघा आदि से तैर कर नदी पार करता है उसके चतुर्लघु का प्रायश्चित्त, आज्ञाभंग आदि दोष, तथा संयमविराधना और आत्म-विराधना होती है।

५६३६.जंघद्धा संघट्टो, संघट्टवरिं तु लेवो जा णाभी।

तेण परं लेवोवरि, तुंबोडुव णाववज्जेसु॥

संघट्ट का अर्थ है—पादतल से आधी जंघा का पानी में डूबना। संघट्ट के ऊपर नाभि तक जल का होना लेप है। उस लेप के ऊपर अर्थात् नाभि से ऊपर सारा लेप के ऊपर माना जाता है। पानी की गहराई स्ताघ या अस्ताघ होती है। जिस पानी में नासिका नहीं डूबती वह स्ताघ और जिसमें नासिका डूब जाए वह अस्ताघ। इतने गहरे पानी में जो बिना नौका के उतरता है, वह उत्तरण कहलाता है। उसमें आत्मविराधना और संयमविराधना—दोनों होते हैं।

५६३७.संघट्टणा य सिंचणं, उवगरणे पडण संजमे दोसा।

चिक्खल्ल खाणु कंटग, सावत भय वुब्भणे आया॥

लोगों से साधु का संघट्टन होता है या साधु जल का संघट्टन करता है। उपकरणों का जल से सेचन होता है, वे जल में गिर जाते हैं—यह संयमदोष है। चिक्खल में गिर पड़ना, पैरों में लकड़ी या कांटा लग जाना, जल के श्वापदों का भय, नदी के प्रवाह में बह जाना—यह सब आत्म-विराधना है।

अह पुण एवं जाणेज्जा—एरावई कुणालाए जत्थ चक्किया एगं पायं जले किच्चा एगं पायं थले किच्चा एवण्हं कप्पइ अंतो मासस्स दुक्खत्तो वा तिक्खुत्तो वा उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा। जत्थ एवं नो चक्किया एवण्हं नो कप्पइ अंतो मासस्स दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा॥

(सूत्र ३०)

५६३८. एरवइ जम्हि चक्रिय, जल-थलकरणे इमं तु णाणत्तं।

एगो जलम्मि एगो, थलम्मि इहई थलाऽऽगासं॥

ऐरावती नदी में एक पैर जल में और एक पैर स्थल में— इस विधि से नदी को पार किया जा सकता है। इसमें यही नानात्व है कि पूर्वोक्त महानदियों में एक मास में दो-तीन बार नहीं उतरा जा सकता। इसमें उतरा जा सकता है। यहां स्थान का अर्थ है—आकाश।

५६३९. एरवइ कुणालाए, वित्थिण्णा अद्धजोअणं वहति।

कप्पति तत्थ अपुण्णे, गंतुं जा वेरिसी अण्णा॥

कुणाला नगरी के निकट ऐरावती नदी बहती है। वह आधी योजन विस्तीर्ण और अर्द्धजंघाप्रमाण ऊंडी है। ऋतुबद्ध काल में मासकल्प अपूर्ण होने पर उसमें से तीन बार भिक्षा आदि के लिए यतनापूर्वक जाना-आना कल्पता है। अथवा ऐसी ही अन्य नदी में भी आना-जाना कल्पता है।

५६४०. संकम थले य णोथल, पासाणजले य वालुगजले य।

सुद्धुदग पंकमीसे, परित्तऽणंते तसा चेव॥

नदी उतरने के तीन मार्ग हैं—संक्रम, स्थल और नोस्थल। नोस्थल के चार प्रकार हैं—

- | | |
|--------------|------------------|
| (१) पाषाणजल | (३) शुद्धोदक |
| (२) बालुकाजल | (४) पंकमिश्रितजल |

इन चारों से गमन करने से यथासंभव परीत्त, अनंतकाय तथा त्रसजीव की विराधना होती है।

५६४१. उदए चिक्खल्ल परित्त-ऽणंतकाइग तसे त मीसे त।

अक्कंतमणक्कंते, संजोए होति अप्पबहुं॥

उदक में चिक्खल्ल होता है। वहां परीत्तकायिक और अनन्तकायिक जीव तथा त्रसकायिक जीव होते हैं। ये सारे मिश्र-आक्रान्त-अनाक्रान्त, स्थिर-अस्थिर आदि होते हैं। उनके अल्पाबहुत्व में अनेक संयोग होते हैं।

५६४२. एगंगिय चल थिर पारिसाडि सालंब वज्जिए सभए।

पडिपक्खेसु त गमणं, तज्जातियरे व संडेवा॥

संक्रम के दो प्रकार हैं—एकांगिक और अनेकांगिक। एक फलक से बना हुआ एकांगिक तथा अनेक फलकों आदि से बना हुआ अनेकांगिक। ये चल-स्थिर, परिशाटि-अपरिशाटि, सालंब-निरालंब, सभय-निर्भय होते हैं। प्रतिपक्ष से गमन अर्थात् अनेकांगिक, चल, परिशाटि, निरालंब, सभय—इन पांच पदों के जो प्रतिपक्षी हों उनसे गमन करना चाहिए।

१. अर्थात् एकांगिक, स्थिर, अपरिशाटी, सालंब, निर्भय—इनसे गमन करना चाहिए।

२. संडेवक के दो प्रकार हैं—तज्जात और अतज्जात। स्वभावतः जात शिला आदि तज्जात और दूसरे स्थान से लाकर स्थापित ईंट, शिला आदि अतज्जात (वृ. पृ. १४९३)

उनमें भी जो बहुगुणतर है उससे गमन करना चाहिए।^१ संडेवक यह भी संक्रम का एक भेद है। उन तथा इतर संडेवकों से भी जाया जा सकता है। संडेवक का अर्थ है—ईंट आदि रखकर पार करना।^२

५६४३. नदिकोप्पर वरणेण व, थलमुदयं णोथलं तु तं चउहा।

उवलजल वालुगजलं, सुद्धमही पंकमुदगं च॥

नदीकूपर मुड़ी हुई कोहनी की तरह नदी का मुड़ना। वरण—जल पर पालि बांधना। इनसे उदक का परिहार कर गमन करना स्थल है। नोस्थल चार प्रकार का है—उपलजल—नीचे पाषाण ऊपर जल, बालुकाजल—नीचे बालुका ऊपर जल, शुद्धोदक—नीचे पृथ्वी ऊपर जल, पंकोदक—नीचे कर्दम ऊपर जल। पंकोदक संबंधी ये विधान हैं—

५६४४. लत्तगपहे य खुलए, तहऽद्धजंघाए जाणुउवरिं च।

लेवे य लेवउवरिं, अक्कंतादी उ संजोगा॥

जितने पैर पर अलक्तक लगाया जाता है उतनामात्र जिस पथ में पंक हो वह लत्तकपथ है। इसी प्रकार खुलक—पादघुंठक प्रमाण, अर्द्धजंघाप्रमाण, जानुप्रमाण, लेप—नाभि-प्रमाण, उससे ऊपर सारा लेपोपरी पंक—ये सारे कर्दम के भेद हैं। नोस्थल कर्दम के चारों प्रकारों में आक्रान्त-अनाक्रान्त, सभय-निर्भय आदि संयोग करने चाहिए। इस दोष से युक्त मार्ग का परिहार करना चाहिए।

५६४५. जो वि य होतऽक्कंतो, हरियादि-तसेहिं चेव परिहीणो।

तेण वि तु न गंतव्वं, जत्थ अवाया इमे होंति॥

जो भी मार्ग आक्रान्त होता है और जो हरित आदि तथा त्रस प्राणियों से परिहीन होता है, उससे भी नहीं जाना चाहिए, क्योंकि वहां ये अपाय होते हैं।

५६४६. गिरिनदि पुण्णा वाला-ऽहि-कंटगा दूरपारमावत्ता।

चिक्खल्ल कल्लुगाणि य, गारा सेवाल उवला य॥

जिस मार्ग में गिरिनदी पूर्वादि से बह रही हो, उसमें व्याल-मकर आदि तथा सर्प, कंटक आदि हों, जिसका पार दूर हो, जिसमें आवर्त हों, चिक्खल्ल हो, कल्लुक—जल पाषाण पर होने वाले द्वीन्द्रिय प्राणी जो पैरों को छेद डालते हैं वे हों, गार—पाषाण की नोकें हों, सेवाल और उपल हों—ये सारे अपाय हैं। इन अपायों से वर्जित स्थलमार्ग से जाना चाहिए, उसके अभाव में संक्रमण से, उसके अभाव में नोस्थल से।

५६४७.उवलजलेण तु पुवं, अक्कंत-निरच्चएण गंतव्वं।
तस्सऽसति अणक्कंते, गिरच्चएणं तु गंतव्वं॥

चार प्रकार के नोस्थल में से सबसे पहले उपलजल वाले मार्ग से जाना चाहिए। उसमें कर्दम नहीं होता। उसमें भी जो आक्रान्त-क्षुण्ण हो तथा निरत्यय-निष्प्रत्यपाय हो, उससे जाना चाहिए। उसके अभाव में अनाक्रान्त और निरत्यय से भी गमन किया जा सकता है।

५६४८.एमेव सेसएसु वि, सिगतजलादीहिं होंति संजोगा।
पंकं महुसित्थं लत्तगं, खुलऽब्जजंघा य जंघा य॥

इसी प्रकार ही सिकताजल आदि शेष पदों में आक्रान्त-अनाक्रान्त आदि संयोग होते हैं। पंकजल बहुत प्रत्युपाय वाला होता है अतः उपलजल आदि के अभाव में उससे जाया जाता है। उसमें भी पहले मधुसिकथाकृतिपंक अर्थात् केवल पादतल में लगने वाला पंक, उससे, उसके अभाव में अलक्तकमात्र वाले पंक से, फिर खुलकमात्र, फिर अर्द्धजंघामात्र, फिर जंघामात्र-जानुप्रमाण वाले पंक-पथ से गमन करे।

५६४९.अहोरुतमित्तातो, जो खलु उवरिं तु कदमो होति।
कंटादिजढो वि य सो, अत्थाहजलं व सावायं॥

जानुप्रमाण से जो ऊपरी पंक हो, वह कर्दम, कंटक आदि अपाय से वर्जित होने पर भी अथाह जलवाला होने के कारण अपाय सहित ही मानना चाहिए।

५६५०.जत्थ अचित्ता पुढ्वी, तहियं आउ-तरुजीवसंजोगा।
जोगिपरित्त-थिरेहि य, अक्कंत-गिरच्चएहिं च॥

जहां पृथ्वी अचित्त हो वहां अप्काय जीवों का तथा वनस्पतिकाय जीवों का संयोग-भंग करना चाहिए। परीत-योनिकस्थिरसंहनन, आक्रान्त तथा निरत्यय-निष्प्रत्यपाय-इन चारों के परस्पर भंग करने चाहिए। वे सोलह होते हैं। जैसे-प्रत्येकयोनिक-स्थिर, आक्रान्त, निष्प्रत्यपाय-यह पहला भंग है।

५६५१.एमेव य संजोगा, उदगस्स चउव्विहेहिं तु तसेहिं।
अक्कंत-थिरसरीरे-गिरच्चएहिं तु गंतव्वं॥

इसी प्रकार चार प्रकार के त्रस जीवों के साथ आक्रान्त आदि चार पदों के साथ उदक के संयोग-भंग करने चाहिए। जैसे-आक्रान्त, स्थिर, निष्प्रत्यपाय-यह पहला भंग है। इस प्रकार तीन पदों से आठ भंग होते हैं। इनको चारों प्रकार के त्रस जीवों के साथ संयोग करने से ३२ भंग हो जाते हैं। सान्तर-निरन्तर के साथ करने से ६४ भंग होते हैं। इन भंगों में से जो

१. वणे वि नियमा तसा अत्थि-निशीयचूर्णि।

आक्रान्त-स्थिर शरीर-निरत्यय, सान्तर त्रस वाले पथ से जाना चाहिए।

५६५२.तेऊ-वाउविहूणा, एवं सेसा वि सव्वसंजोगा।
उदगस्स उ कायव्वा, जेणऽहिगारो इहं उदए॥

तेजस्काय और वायुकाय में गमन नहीं होता अतः तेजोवायु विहीन शेष सभी संयोग करने चाहिए। अप्काय का वनस्पति और त्रस प्राणियों के साथ भंग होते हैं। यहां उदक का अधिकार है। शिष्य प्रश्न करता है-वनस्पति वाले मार्ग से जाना चाहिए या त्रस प्राणियों वाले मार्ग से? सूरी कहते हैं-सान्तर त्रस वाले मार्ग से, वनस्पतिवाले मार्ग से नहीं क्योंकि वहां नियमतः त्रस प्राणी होते हैं।^१

५६५३.एरवइ जत्थ चक्किय, तारिसए न उवहम्मती खेत्तं।
पडिसिद्धं उत्तरणं, पुण्णासति खेत्तऽणुण्णायं॥

ऐरावती नदी, जो कुणाला नगर में बहती है, उसमें उतरा जा सकता है क्योंकि वह अर्द्धयोजन विस्तीर्ण और जंघार्द्ध गहरी है। उसमें उतर कर भिक्षा के लिए जाने पर तीन उदक संघट्टन होते हैं। जाने-आने में छह। वर्षा में सात, जाने-आने में चौदह। इस प्रकार के उदक संघट्टन से क्षेत्र का उपहनन नहीं होता। इससे अधिक संघट्टन वाली नदी में उतरना प्रतिषिद्ध है। मासकल्प या वर्षावास पूर्ण होने पर यदि अनुस्तीर्ण मुनियों के लिए अपर मासकल्पयोग्य क्षेत्र हो तो नदी में नहीं उतरना चाहिए। यदि क्षेत्र न हो तो उनके लिए उतरना अनुज्ञात है।

५६५४.सत्त उ वासासु भवे, दगघट्टा तिन्नि होंति उडुबद्धे।
जे तु ण हणंति खेत्तं, भिक्खायरियं व न हणंति॥

वर्षा ऋतु में सात और ऋतुबद्ध में तीन उदक संघट्टन होते हैं। इतने से क्षेत्र और भिक्षाचर्या का उपहनन नहीं होता।

५६५५.जह कारणम्मि पुण्णे, अंतो तह कारणम्मि असिवादी।
उवहिस्स गहण लिंपण, णावोयग तं पि जतणाए॥

कारण के पूर्ण होने पर अर्थात् मासकल्प और वर्षावास की अवधि पूर्ण होने पर, अपरक्षेत्र के अभाव में नदी-उत्तरण विहित है तथा एकमास के अन्दर यदि अशिव आदि हो, उपधि के ग्रहण के लिए अथवा लेप को लाने के लिए नदी में उत्तरण किया जा सकता है। नौका से नदी पार करनी हो तो यतनापूर्वक संतरण करे।

५६५६.नाव थल लेवहेट्टा, लेवो वा उवरि एव लेवस्स।
दोण्णी दिवड्डमेक्कं, अब्बं णावाए परिहाती॥

यदि नौका उत्तरणस्थान से दो योजन पथ से जाया जाए तो उससे जाए, नौका में आरूढ़ न हो। लेप के नीचे उदक के

संघट्टन से यदि सार्द्धयोजन पथ से जाना पड़े तो, उससे जाए, लेप तक उदक हो तो योजन पथ का चक्कर लेकर उससे जाए, नौका से नहीं। लेपोपरी उदक से आधायोजन जाना पड़े तो उससे जाए, नौका से नहीं। इस प्रकार नौका के उत्तरणस्थान से स्थल आदि में योजनद्वय आदि का परिहार होता है।

५६५७. दो ज्योणाहं गंतुं, जहियं गम्मति थलेण तेण वए।

मा य दुरूहे नावं, तत्थावाया बहू बुत्ता॥

दो योजन जाकर यदि स्थल से जाया जाए तो उससे जाए। नौका पर आरूढ़ न हो क्योंकि उसमें अनेक अपाय कहे गए हैं।

५६५८. थलसंकमणे जयणा, पलोयणा पुच्छिऊण उत्तरणं।

परिपुच्छिऊण गमणं, जति पंथो तेण जतणाए॥

स्थल के संक्रमण में यतना करे—एक पैर जल में, एक पैर आकाश में रखते हुए संक्रमण करे। मुनि नौका से उतरने वाले यात्रियों को देखे, या दूसरों को पूछे और जहां अल्पतर पानी हो वहां उतरे। यदि दूसरा मार्ग हो तो पूछकर यतनापूर्वक उस मार्ग से जाए।

५६५९. समुदाणं पंथो वा, वसही वा थलपथेण जति नत्थि।

सावत-तेणभयं वा, संघट्टेणं ततो गच्छे॥

उस पथ में भिक्षा की प्राप्ति न हो, स्थलमार्ग ही न हो, यदि उस मार्ग पर वसति न हो, वहां श्वापदभय या स्तेनभय हो तो उस मार्ग को छोड़कर संघट्ट से जाए और उसके अभाव में लेपयुक्त मार्ग से जाए।

५६६०. णिभये गारत्थीणं, तु मग्गतो चोलपट्टमुस्सारे।

सभए अत्थग्घे वा, उत्तिण्णेषुं घणं पट्टं॥

यदि मार्ग निर्भय हो तो गृहस्थों के जल में उतर जाने के पश्चात् साधु पानी में उतरे। चोलपट्टक को ऊपर कर ले। यदि अथाह पानी के कारण भय हो तो गृहस्थों के उतर जाने पर मुनि चोलपट्टक को दृढ़ बांधकर, उनके पीछे उतरे।

५६६१. दगतीरे ता चिट्ठे, णिप्पगलो जाव चोलपट्टो तु।

सभए पलंबमाणं, गच्छति काएण अफुसंतो॥

यदि कोई उपकरण भीग जाए तो दकतीर—पृथिवी पर, तब तक बैठा रहे जब तक भीगे हुए चोलपट्ट से सारा पानी झर न जाए। यदि वहां बैठना सभय हो तो उस भीगे हुए वस्त्र को अपने शरीर पर प्रलंबरूप से लेकर हाथों से स्पर्श न करता हुआ चले।

५६६२. असइ गिहि णालियाए,

आणक्खेउं पुणो वि पडियरणं।

एगाभोगं च करे,

उवकरणं लेव उवरिं वा॥

गृहस्थों के अभाव में नालिका (आत्मप्रमाण से चार अंगुल लंबी) को साथ ले उससे पानी की गहराई का अनुमान कर परतीर से पुनः आ सकता है। वहां से आकर वह उपकरणों को एकाभोगं—एकत्र बांधकर ले जाता है। यह लेप तथा लेप के ऊपरी जल में जाने की विधि है।

५६६३. बिइयपय तेण सावय, भिक्खे वा कारणे व आगाढे।

कज्जुवहि मगर छुब्भण, नावोदग तं पि जतणाए॥

इसमें द्वितीयपद यह है—स्थल तथा संघट्ट आदि पथों में स्तेन, श्वापद आदि हों, भिक्षा की प्राप्ति न हो, अथवा आगाढ़ कारण हो, कुलादि कार्य करना हो, औषधि लानी हो, मगरमच्छ का भय हो, कदाचित् प्रत्यनीक ने पानी में फेंक दिया हो, यदि बलाभियोग से नौका का पानी उलीचने के लिए बाध्य किया जाए तो वह भी यतनापूर्वक करे।

५६६४. पुरतो दुरुहणमेगतो, पडिलेहा पुव्व पच्छ समगं वा।

सीसे मग्गतो मज्झे, बितियं उवकरण जयणाए॥

गृहस्थों के समक्ष वस्त्रों का प्रत्युपेक्षण न करे, नौका में चढ़ने से पूर्व एकान्त में उपकरणों का प्रत्युपेक्षण करे। नौका में आरोहण गृहस्थों से पहले, पश्चात्, या साथ में करे? यदि नाविक भद्र हो तो पहले, प्रान्त हो तो पश्चात् या साथ में करे। नौका के सिर पर नहीं बैठना चाहिए, वह देवता का स्थान होता है। पार्श्व में भी नहीं बैठना चाहिए, क्योंकि वह निर्यामक का स्थान होता है। मध्य में भी नहीं बैठना चाहिए, क्योंकि वह कूपक का स्थान है। दूसरे मध्य स्थान में बैठना चाहिए। नौका से उतरते समय न पहले उतरे और न बाद में, किन्तु मध्य में उतरना चाहिए। अन्तप्रान्त चीवर को धारण करे। यदि नाविक उपकरणों की मांग करे, तो यतनापूर्वक अन्तप्रान्त उपकरण दे। दूसरा कोई अनुकंपा कर नाविक को देता है तो प्रतिषेध न करे।

उवस्सय-पदं

से तणेसु वा तणपुंजेसु वा पलालेसु वा
पलालपुंजेसु वा अप्पण्डेसु अप्पपाणेसु
अप्पबीएसु अप्पहरिएसु अप्पुस्सेसु
अप्पुत्तिंग - पणग - दगमट्टिय - मक्खडा-
संताणएसु अहेसवणमायाए नो कप्पइ
निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तहप्पगारे
उवस्सए हेमंत-गिम्हासु वत्थए॥

(सूत्र ३१)

से तणेसु वा तणपुंजेसु वा पलालेसु वा
पलालपुंजेसु वा अप्पंडेसु अप्पपाणेसु
अप्पबीएसु अप्पहरिएसु अप्पुस्सेसु
अप्पुत्तिंग - पणग - दगमट्टिय - मक्कडा-
संताणएसु उप्पिंसवणमायाए कप्पइ
निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तहप्पगारे
उवस्सए हेमंत-गिम्हासु वत्थए॥

(सूत्र ३२)

से तणेसु वा तणपुंजेसु वा पलालेसु वा
पलालपुंजेसु वा अप्पंडेसु अप्पपाणेसु
अप्पबीएसु अप्पहरिएसु अप्पुस्सेसु
अप्पुत्तिंग - पणग - दगमट्टिय - मक्कडा-
संताणएसु अहेरयणिमुक्कमउडे नो कप्पइ
निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तहप्पगारे
उवस्सए वासावासं वत्थए॥

(सूत्र ३३)

से तणेसु वा तणपुंजेसु वा पलालेसु वा
पलालपुंजेसु वा अप्पंडेसु अप्पपाणेसु
अप्पबीएसु अप्पहरिएसु अप्पुस्सेसु
अप्पुत्तिंग - पणग - दगमट्टिय - मक्कडा-
संताणएसु उप्पिरयणिमुक्कमउडे कप्पइ
निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तहप्पगारे
उवस्सए वासावासं वत्थए॥

—त्ति बेमि॥

(सूत्र ३४)

५६६५.अद्धाणातो निलयं, उर्विति तहियं तु दो इमे सुत्ता।

तत्थ वि उडुम्मि पढमं, उडुम्मि वूइज्जणा जेणं॥

पूर्वसूत्र में जलपथ लक्षण अध्वा बताया गया था। वहां से मुनि निलय-उपाश्रय में आते हैं। उस विषय में ऋतुबद्ध और वर्षावास से संबंधित प्रत्येक के दो-दो सूत्र हैं। उसमें भी प्रथमसूत्र युगल ऋतुबद्ध विषयक और द्वितीयसूत्र युगल वर्षावास विषयक है। क्योंकि ऋतुबद्धकाल में मुनियों का विहार होता है, वर्षावास में नहीं।

५६६६.अहवा अद्धाणविही, वुत्तो वसहीविहिं इमं भणई।

सा वी पुव्वं वुत्ता, इह उ पमाणं दुविह काले॥

अथवा अध्वा की विधि पूर्वसूत्र में कही गई है। प्रस्तुत सूत्र में वसति की विधि कही जाती है। वह भी पूर्व सूत्रों में कही जा चुकी है। प्रस्तुत सूत्रों में दोनों प्रकार की ऋतुबद्ध और वर्षावास काल में उसके प्रमाण विषयक चर्चा है।

५६६७.तणगहणाऽऽरणतणा, सामगमादी उ सूइया सब्बे।

सालीमाति पलाला, पुंजा पुण मंडवेसु कता॥

तृण ग्रहण से आरण्यकतृण, श्यामाकतृण आदि सूचित होते हैं। पलाल के ग्रहण से शाल्यादि पलाल गृहीत होते हैं। तृणों के और पलाल के पुंज मंडपों में किए जाते हैं।

५६६८.पुंजा उ जहिं देसे, अप्पप्पाणा थ होंति एमादी।

अप्प तिग पंच सत्त य, एतेण ण वच्चती सुत्तं॥

जिन देशों में मंडपों में पुंज होते हैं, वे अल्पप्राण, अल्पबीज आदि होते हैं। अल्प शब्द से कोई यह सोच ले कि तीन-पांच-सात जीव वाले मानने चाहिए। इस परोक्त कथन के आधार पर सूत्र नहीं चलता। यहां अल्प शब्द अभाव वाचक है।

५६६९.वत्तव्वा उ अपाणा, बंधणुलोमेणिमं कयं सुत्तं।

पाणादिमादिएसुं, उंते सट्टाणपच्छित्तं॥

तब वह पर व्यक्ति कहता है—तब सूत्रालापक इस प्रकार होना चाहिए—अपाणेसु अभीएसु—आदि। गुरु कहते हैं—यह सूत्र बन्धानुलोम्य से कृत है। यदि दो-चार-पांच आदि प्राणी वाले मंडपों में रहते हैं तो प्राणियों की विराधना से स्वस्थान प्रायश्चित्त आता है।

५६७०.थोवम्मि अभावम्मि य,

विणिओगो होति अप्पसद्वस्स।

थोवे उ अप्पमाणो,

अप्पासी अप्पनिहो य॥

५६७१.निस्सत्तस्स उ लोए, अभिहाणं होइ अप्पसत्तो त्ति।

लोउत्तरे विसेसो, अप्पाहारो तुअट्टिज्जा॥

अल्प शब्द का विनियोग—व्यापार दो अर्थों में होता है—स्तोक और अभाव। स्तोक अर्थ में जैसे—अल्पमान, अल्पाशी, अल्पनिद्र। अभाववाची अल्प शब्द, जैसे—लोक में निःसत्त्व पुरुष अल्पसत्त्व कहलाता है। लोकोत्तर में भी यह विशेषरूप से प्रयुक्त है जैसे—अल्पाहार, अल्पत्वग्वर्तन करे—सोए, अल्पातंक—नीरोग आदि।

५६७२.बिय-मट्टियासु लहुगा,

हरिए लहुगा व होंति गुरुगा वा।

पाणुत्तिंग-दएसुं,

लहुगा पणए गुरु चउरो॥

बीज, मृत्तिकायुक्त तृणों पर बैठने से चतुर्लघु, प्रत्येक

वनस्पति पर चतुर्लघु और अनन्त पर चतुर्गुरु, प्राणियों पर—
द्वीन्द्रिय आदि पर, उत्तिंग और उदक पर बैठने से चतुर्लघु,
पनक पर चतुर्गुरु।

५६७३.सवणपमाणा वसही, अधिठंते चउलहुं च आणादी।

मिच्छत्त अवाउड पडिलेह वाय साणे य वाले य॥

जो वसति पुरुष के कानों से नीचे तक तृणयुक्त हो,
वैसी श्रवणप्रमाण वाली वसति में रहने से चतुर्लघु तथा
आज्ञाभंग आदि दोष होता है। जिन मुनियों का सागारिक
(प्रजनेन्द्रिय) अपावृत और वैक्रिय होता है उसे देखकर
लोग मिथ्यात्व को प्राप्त होते हैं। ऊपर प्रत्युपेक्षा नहीं होती।
झुककर चलने से कटी या पीठ वायु से जकड़ जाते हैं।
लटकते हुए सागारिक को कुत्ते काट डालते हैं, ऊपर सिर
लगने से सर्प डस लेता है।

५६७४.सवणपमाणा वसही, खेत्ते ठायंते बाहि वोसग्गो।

पाणादिमादिस्सुं, वित्थिण्णाऽऽगाढ जतणाए॥

अन्य क्षेत्रों में अशिव आदि हो तो अधःश्रवणप्रमाण वाली
वसति में रहने पर यह यतना है—वसति के बाहर आवश्यक
करते हैं। द्वितीयपद में सप्रमाण वाली वसति में रहे तो
यतनापूर्वक विस्तीर्ण भूभाग में रहे। आगाढ़ कारण में स्थित
मुनियों के लिए यह यतना है—बीज आदि से संसक्त स्थान को
राख से लक्षित करे, कुटमुख से हरियाली को ढंके, और
बीज आदि को एकान्त में स्थापित करे।

५६७५.वेउव्व-ऽवाउडाणं, वुत्ता जयणा णिसिज्ज कप्पो वा।

उवओग णितऽइंते, हु छिंदणा णामणा वा वि॥

जिन मुनियों का सागारिक विकुर्वणायुक्त है, वे पूर्वोक्त
यतना का पालन करे। वे पिछले भाग को निषधा या कल्प से
आच्छादित करते हैं। वे उपयोगपूर्वक जाते-आते हैं। जो तृण
ऊपर से लटकते हैं, उनका छेदन या नामन करते हैं।

५६७६.अंजलिमउलिकयाओ,

दोण्णि वि बाहा समूसिया मउडो।

हेट्ठा उवरिं च भवे,

मुक्कं तु तओ पमाणाओ॥

मुकुलित अंजलियों सहित दोनों भुजाओं को ऊपर करने
पर मुकुट की आकृति होती है। उतने प्रमाण को स्वीकार कर
संस्तारक पर बैठे हुए मुनि के नीचे और ऊपर जो अन्तराल
रहता है, ऐसी ऊपर से रत्निमुक्त मुकुट वाली वसति में
वर्षाकाल में रहा जा सकता है।

५६७७.हत्थो लंबइ हत्थं, भूमीओ सप्पो हत्थमुट्ठेति।

सप्पस्स य हत्थस्स य, जह हत्थो अंतरा होइ॥

फलक आदि पर सोए हुए मुनि का हाथ एक हाथ प्रमाण
से नीचे लटकता है। भूमी पर चलता हुआ सर्प एक हाथ
ऊपर उठ सकता है, इसलिए सर्प और हाथ के बीच एक
हाथ का अन्तर हो, वैसे करना चाहिए।

५६७८.माला लंबति हत्थं, सप्पो संथारए निविट्ठस्स।

सप्पस्स य सीसस्स य, जह हत्थो अंतरा होइ॥

मुनि संस्तारक पर बैठा है। माले से सर्प एक हाथ नीचे
लटकता है। सर्प के और सिर के बीच एक हाथ का अन्तर
हो वैसा बिछौना करे। ऐसे उपाश्रय में रहना चाहिए।

५६७९.काउस्सग्गं तु ठिए, मालो जइ हवइ दोसु रयणीसु।

कप्पइ वासावासो, इय तणपुंजेसु सव्वेसु॥

कायोत्सर्ग में स्थित मुनि से माला दो रत्नि ऊपर हो,
उस वसति में वर्षावास करना कल्पता है। इसी प्रकार सभी
तृणपुंजों के विषय में जानना चाहिए।

५६८०.उप्पिं तु मुक्कमउडे, अहि ठंते चउलहुं च आणाई।

मिच्छत्ते वालाई, बीयं आगाढ संविग्गो॥

ऊपर मुक्तमुकुट उपाश्रय में रहे। अधोमुक्तमुकुट
उपाश्रय में रहने पर चतुर्लघु, आज्ञाभंग आदि दोष,
मिथ्यात्व, व्याल आदि का उपद्रव होता है। अपवादपद भी
पूर्ववत् मानना चाहिए। आगाढ़ कारण में वहां रहने वाला
संविग्ग ही होता है।

५६८१.दीहाइमाईसु उ विज्जबंधं,

कुव्वंति उल्लोय कडं च पोत्तिं।

कप्पाऽसईए खलु सेसगाणं,

मुत्तुं जहण्णेण गुरुस्स कुज्जा॥

वसति में यदि सर्प आदि हों तो उनको विद्या द्वारा बांध
दिया जाता है। विद्या न होने पर ऊपर चंदोवा बांधते है।
चंदोवा के अभाव में चटाई, उसके अभाव में चिलिमिलिका
बांधते हैं। यदि उतने कल्प न हों तो शेष मुनियों को छोड़कर
जघन्यतः गुरु के ऊपर अवश्य बांध दे।

चौथा उद्देशक समाप्त

पांचवां उद्देशक
(गाथा ५६८२-६०५९)

पांचवां उद्देशक

मेहुणपडिसेवणा-पदं

देवे य इत्थिरूवं विउव्वित्ता निग्गंथं
पडिगाहेज्जा, तं च निग्गंथे साइज्जेज्जा,
मेहुणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं
परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥

(सूत्र १)

देवी य इत्थिरूवं विउव्वित्ता निग्गंथं
पडिगाहेज्जा, तं च निग्गंथे साइज्जेज्जा,
मेहुणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं
परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥

(सूत्र २)

देवी य पुरिसरूवं विउव्वित्ता निग्गंथिं
पडिगाहेज्जा, तं च निग्गंथी साइज्जेज्जा,
मेहुणपडिसेवणपत्ता आवज्जइ
चाउम्मासियं अणुग्घाइयं ॥

(सूत्र ३)

देवे य पुरिसरूवं विउव्वित्ता निग्गंथिं
पडिगाहेज्जा, तं च निग्गंथी साइज्जेज्जा,
मेहुणपडिसेवणपत्ता आवज्जइ
चाउम्मासियं अणुग्घाइयं ॥

(सूत्र ४)

५६८२. पाएण होंति विजणा, गुज्झगसंसेविया य तणपुंजा।

होज्ज मिह संपयोगो, तेसु य अह पंचमे जोगो ॥

प्रायः तृणपुंज विजन-जनसंपातरहित होते हैं। वे गुह्यक-
व्यंतर देवों से अधिष्ठित होते हैं। मुनियों का वहां रहने पर
परस्पर संप्रयोग होता है। यह पांचवें उद्देशक के आद्य-
सूत्रचतुष्टय से संबंध है।

५६८३. अवि य तिरिओवसग्गा,

तत्थुदिया आयवेयणिज्जा य।

इमिगा उ होंति दिव्वा,

ते पडिलोमा इमे इयरे ॥

‘अपि च’—यह संबंध का प्रकारान्तर द्योतक है। पूर्वसूत्र
में तिर्यच के उपसर्ग तथा आत्मसंवेदनीय उपसर्गों का वर्णन
था। प्रस्तुत में दिव्य उपसर्गों का वर्णन है। उपसर्ग दो प्रकार
के होते हैं—प्रतिलोम—प्रतिकूल और अनुकूल।

५६८४. अहवा आयावाओ, चउत्थचरिमम्मि पवयणे चव।

इमओ बंभावाओ, तस्स उ भंगम्मि किं सेसं ॥

अथवा चौथे उद्देशक के चरमसूत्र में आत्मापाय और
प्रवचनापाय के विषय में कहा गया था। प्रस्तुत सूत्र में
ब्रह्मव्रतापाय कहा जा रहा है। उसके भग्न होने पर शेष
अभग्न क्या रह जाता है?

५६८५. सरिसाहिकारियं वा, इमं चउत्थस्स पढमसुत्तेणं।

अन्नहिगारम्मि वि पत्थुतम्मि अन्नं पि इच्छंति ॥

चौथे उद्देशक के प्रथम सूत्र से प्रस्तुत सूत्र का
सदृशाधिकारिक है। अन्य अधिकार प्रस्तुत होने पर भी
आचार्य अन्य अधिकार चाहते हैं। यहां यह दृष्टांत है—

५६८६. जह जाइरूवधातुं, खणमाणो लभिज्ज उत्तमं वयरं।

तं गिण्हइ न य दोसं, वयंति तहियं इमं पेवं ॥

जैसे जातरूप-सुवर्ण धातु का खनन करते हुए उत्तम
वज्र की भी प्राप्ति होती है। वह उसे ग्रहण करता है, यह दोष
नहीं है। इस प्रकार प्रस्तुत अपर अधिकार के ग्रहण में कोई
दोष नहीं है।

५६८७. कणएण विणा वहरं, न भायए नेव संगहमुवेइ।

न य तेण विणा कणगं, तेण र अन्नोन्न पाहन्नं ॥

कनक के बिना वज्र शोभित नहीं होता। आश्रय के अभाव
में वह संबंध को भी प्राप्त नहीं होता। वज्र के बिना कनक भी
शोभित नहीं होता। इस कारण से दोनों की अन्योन्य
प्रधानता है।

५६८८. देवे य इत्थिरूवं, काउं गिण्हे तहेव देवी य।

दोसु वि य परिणयाणं, चाउम्मासा भवे गुरुगा ॥

देवता या देवी स्त्रीरूप की विकुर्वणा कर निर्ग्रन्थ को ग्रहण कर लेते हैं। दोनों प्रतिसेवना में परिणत होने पर चतुर्गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है।

५६८९. गच्छण्य निग्गए वा,

होज्ज तगं तत्थ निग्गामो दुविहो।

उवएस अणुवएसे,

सच्छदेणं इमं तत्थ॥

गच्छगत या गच्छनिर्गत निर्ग्रन्थ के यह वृत्तान्त होता है। गच्छ से निर्गम दो प्रकार से होता है—उपदेश से और अनुपदेश से। अनुपदेश या स्वच्छंद ये एकार्थक हैं। यह गच्छ से स्वच्छंदरूप से निर्गम कहा जाता है।

५६९०. सुत्तं अत्थो य बहू, गहियाइं नवरि मे झरेयव्वं।

गच्छम्मि य वाघायं, नाऊण इमेहिं ठाणेहिं॥

मैंने सूत्र और अर्थ बहुत ग्रहण कर लिया। अब मुझे पूर्वगृहीत का स्मरण करना है, उनको परिचित करना है। गच्छ में इन कारणों से व्याघात जानकर वह वहां से निर्गमन करता है।

५६९१. धम्मकह महिहीए, आवास निसीहिया य आलोए।

पडिपुच्छ वादि पाहुण, महाण गिलाणे दुलभभिक्षुं॥

वे व्याघात के स्थान या कारण ये हैं—धर्मकथा करना, महर्द्धिक व्यक्ति को धर्म सुनाना, गच्छ से आने-जाने वाले साधुओं की आवश्यकी-नैषेधिकी करने पर निरीक्षण करना, साधुओं की आलोचना में परावर्तन से व्याघात होता है, प्रतिपृच्छा करने वालों को प्रत्युत्तर देना, वादी से वाद करना, महान् गण में अनेक प्राघूर्णकों की सेवा करना, ग्लान की वैयावृत्य करना, दुर्लभभिक्षा वाले क्षेत्र में लंबे समय तक घूमना—ये सारे व्याघात होते हैं।

५६९२. कामं जहेव कत्थति, पुत्रे तह चेव कत्थई तुच्छे।

वाउलणाय न गिण्हइ, तम्मि य रुद्धे बहू दोसा॥

यह अनुमत है कि जैसे पूर्ण अर्थात् महर्द्धिक को धर्म कहा जाता है, वैसे ही तुच्छ—अमहर्द्धिक को भी धर्म कहना चाहिए। संभव है वह महर्द्धिक अपनी व्याकुलता के कारण धर्म को ग्रहण न कर सके, परंतु उसके रुष्ट होने पर अनेक दोष हो सकते हैं। वह देश से साधुओं का निष्काशन करा देता है अतः उसको विशेषरूप से धर्म कहना चाहिए।

५६९३. आवासिगा-ऽऽसज्ज-दुपेहियादी,

विसीयते चेव सवीरिओ वि।

विओसणे वा वि असंखडाणं,

आलोयणं वा वि चिरेण देती॥

आवश्यकी करने, नैषेधिकी करने, आसज्ज करने (?), दुःप्रत्युपेक्षित करने, दुःप्रमार्जन आदि करने पर समर्थ व्यक्ति भी प्रमाद के कारण विवादग्रस्त होता है। साधुओं में कलह होने पर उसके उपशमन में समय लगता है। साधुओं की संख्या अधिक होने के कारण चिरकाल से आलोचना होती है। ये सारे व्याघात होते हैं।

५६९४. मेरं ठवंति थेरा, सीदंते आवि साहति पवती।

थिरकरण सद्धहेउं, तवोकिलंते य पुच्छंति॥

स्थविर अर्थात् आचार्य मर्यादा स्थापित करते हैं, कोई मुनि सामाचारी के पालन में आलस्य करता है, उसकी बात आचार्य को निवेदित करनी होती है, अभिनव श्राद्ध को स्थिर करने के लिए, जो तपस्या से क्लान्त हैं, उनकी सुखपुच्छा करने के लिए—इनमें समय लगाने पर स्वाध्याय का पलिमंथु होता है।

५६९५. आवासिगा निसीहियमकरंते असारणे तमावज्जे।

परलोइगं च न कथं, सहायगतं उवेहाए॥

जो आचार्य आवश्यकी-नैषेधिकी सामाचारी का पालन न करने वाले मुनि की सारणा नहीं करते तो उसका प्रायश्चित्त आचार्य को वहन करना होता है। इस प्रकार उनका पारलौकिक सहायता भी अकृत होती है। क्योंकि यह आचार्य की उपेक्षा का परिणाम है।

५६९६. सम्मोहो मा दोण्ह वि, वियडिज्जंतम्मि तेण न पढंति।

पडिपुच्छे पलिमंथो, असंखडं नेव वच्छल्लं॥

कोई मुनि स्वाध्याय में संलग्न है और अन्यान्य मुनि आलोचना कर रहे हैं तो दोनों में व्यामोह न हो इसलिए अन्य मुनि जब आलोचना ले रहे हों तब नहीं पढ़ना चाहिए, यह भी स्वाध्याय का व्याघात है। कई मुनि प्रश्न आदि पूछने के लिए आते हैं, यह भी स्वाध्याय का पलिमंथु है। प्रत्युत्तर न देने पर कलह हो सकता है और साधर्मिक वात्सल्य का भी पालन नहीं होता।

५६९७. चिंतेइ वादसत्थे, वादिं पडियरति देति पडिवायं।

महइ गणे पाहुणगा, वीसामण पज्जुवासणया॥

५६९८. आलोयणा सुणिज्जति,

जाव य दिज्जइ गिलाण-बालाणं।

हिंडंति चिरं अन्ने,

पाओगुभयरस्स वा अट्ठा॥

५६९९. पाउग्गोसह-उव्वत्तणादि अतरंति जं च वेज्जस्स।

किमहिज्जउ खलुभिक्षे, केसवितो भिक्ष-हिंडीहिं॥

वादी का आगमन सुनकर वादशास्त्रों का चिंतन करता है। वादी की परिचर्या करना तथा प्रतिवाद करना होता है।

बड़े गण में प्राधूर्णक आते हैं, उनकी विश्रामणा और पर्युपासना करनी होती है।

आने वालों की आलोचना सुननी होती है, बाल और ग्लान को आलोचना देनी होती है, प्राधूर्णकों के लिए प्रायोग्य दोनों—भक्त और पान के लिए देर तक घूमना पड़ता है, दूसरे मुनि भिक्षा के लिए गए उस मुनि की प्रतीक्षा करते हैं। ग्लान के प्रायोग्य भक्त-पान तथा औषधि लानी होती है, उसको उद्वर्तन आदि कराना होता है, वैद्य के क्रियाकांड तक प्रतीक्षा करनी होती है, खुलक्षेत्र (अन्य भिक्षाप्राप्ति के क्षेत्र) में भिक्षा के लिए घूमते-घूमते बहुत क्लेश होता है—ऐसी स्थिति में क्या अध्ययन हो सकता है? ये सारे व्याघात हैं।

५७००.ते गंतुमणा बाहिं, आपुच्छंती तहिं तु आयरियं।

भणिया भणंति भंते!, ण ताव पज्जत्तगा तुब्भे॥

गण में इन सारे व्याघातों के कारण वे मुनि दूसरे गण में अध्ययन के लिए जाते हैं तब वे आचार्य को पूछते हैं। तब आचार्य कहते हैं—तुम अभी तक उपसर्ग सहन करने और विहार करने में पर्याप्त नहीं हो। तब वे शिष्य कहते हैं—भंते! आपकी कृपा से हम पर्याप्त बन जायेंगे।

५७०१.उप्पण्णे उवसग्गे, दिव्वे माणुस्सए तिरिक्खे य।

हंदि! असारं नाउं, माणुस्सं जीवलोगं च॥

दिव्य, मानुष्य और तैरश्च—इन तीन प्रकार के उपसर्गों के उत्पन्न होने पर हम उनको सम्यग्रूप से सहन करेंगे। भंते! हम मानुष्य और जीवलोक को असार जानकर उपसर्गों को सहन क्यों नहीं करेंगे?

५७०२.ते निग्गया गुरुकुला, अत्रं गामं कमेण संपत्ता।

काऊण विहरिसणं, इत्थीरूवेणुवस्सग्गो॥

यह कहकर वे साधु गुरुकुल से निकल पड़े। वे क्रमशः एक गांव में आए। वहां एक देवता ने विशेष दर्शनीय स्त्रीरूप की विकुर्वणा कर उपसर्ग किया।

५७०३.पंता व णं छलिज्जा, नाणादिगुणा व होंतु सिं गच्छे।

न नियत्तिहिंतऽछलिया, भद्देयर भोग वीमंसा॥

सम्यग्दृष्टि देवता सोचता है—ये साधु गुरु की आज्ञा के बिना आए हैं। कोई प्रान्त देवता इनको छल न ले। ज्ञान आदि गुण इनको गच्छ में निवास करते हुए हों, अछलित अवस्था में ये गण में नहीं लौटेंगे, यह विचार कर एक भद्रिका का रूप बनाया और दूसरी ने प्रान्त देवता का रूप बनाकर भोगार्थिनी के रूप में परीक्षा करने के लिए उद्यत हुई।

५७०४.भिक्षु गय सत्थ चेदी,

गुज्झक्खिणि अम्ह साविया कहणं।

विहवारूवविउव्वण,

किइक्कम्माऽऽलोचना इणमो॥

साधु भिक्षा के लिए चले गए। उस देवता ने तब एक सार्थ की विकुर्वणा कर स्वयं एक चेटी का रूप बनाकर मुनियों के पास आकर बोली—मेरी 'गुज्झक्खिणी'—स्वामिनी श्राविका है। उसको वंदना करने के लिए आने के लिए कहूंगी। वह चेटी रूप देवता वहां से निकल कर विधवा के रूप की विकुर्वणा कर आई और मुनियों का कृतिकर्म—वंदना कर बैठ गई। साधुओं के पूछने पर उसने यह आलोचना दी अर्थात् परिचय दिया।

५७०५.पाडलिपुत्ते जम्मं, साएतगसेट्ठिपुत्तभज्जत्तं।

पइमरण चेइवंदणछोम्मेण गुरु विसज्जणया॥

५७०६.पव्वज्जाए असत्ता, उज्जेणिं भोगकंखिया जाप्पिं।

तत्थ किर बहू साधू, अवि होज्ज परीसहजिय तथा॥

पाटलिपुत्र नगर में मेरा जन्म हुआ और साकेत नगर के एक श्रेष्ठीपुत्र की मैं भार्या बनी। पति की मृत्यु हो गई। मैं चैत्य-वंदन के मिष से गुरु अर्थात् श्वसुर के द्वारा विसर्जित करने पर—आज्ञा प्राप्तकर प्रस्थित हुई हूं। मैं प्रव्रज्या ग्रहण करने में असमर्थ हूं। मैं भोगों की अभिलाषा से उज्जयिनी नगरी में जा रही हूं। मैंने सुना है कि वहां अनेक साधु परीषह से पराजित होकर वहां रह रहे हैं, इसलिए मैं वहां जा रही हूं। आपको देखकर मेरा मन आगे जाने में असमर्थ हो रहा है।

५७०७.दूरे मज्झ परिजणो, जोव्वणकंडं चऽतिच्छए एवं।

पेच्छह विभवं मे इमं, न दाणि रूवं सलाहामि॥

५७०८.पडिरूववयत्थाया, किणा वि मज्झं मणिच्छिया तुब्भे।

भुंजामु ताव भोए, दीहो कालो तव-गुणाणं॥

मेरे परिजन दूर हैं। मेरा यौवनकांड—तारुण्य का अवसर ऐसे ही बीतता जा रहा है। आप भी युवा हैं। यह मेरा वैभव देखें। मैं अपने रूप की श्लाघा करना नहीं चाहती। आप मेरी अवस्था के प्रतिरूप हैं। किसी कारण से आप मेरे मन को बहुत भा गए हैं। हम भोग भोगें। तपोगुण का पालन करने के लिए दीर्घ काल सामने है।

५७०९.भणिओ आलिद्धो या, जंघा संफासणाय ऊरूयं।

अवयासिओ विसत्तो, छट्ठो पुण निप्पकंपो उ॥

वहां अनेक मुनि थे। एक कहने मात्र से स्खलित हो गया। दूसरा स्त्री के स्पर्श से, तीसरा जंघाओं का स्पर्श करने से

विषण्ण, चौथा ऊरु के संस्पर्श से, पांचवां जबरन आलिगन करने पर और छठा मुनि निष्प्रकंप रहा।

५७१०. पढमस्स होइ मूलं, बितिए छेओ य छग्गुरुगमेव।

छल्लहुगा चउगुरुगा, पंचमए छद्द सुद्धो उ॥

प्रथम को मूल, दूसरे को छेद, तीसरे को षड्गुरु, चौथे को षड्लघु, पांचवे के चतुर्गुरु—यह प्रायश्चित्त है। छठा शुद्ध है।

५७११. सव्वेहिं पगारेहिं, छंदणमाईहिं छद्दओ सुद्धो।

तस्स वि न होइ गमणं, असमत्तसुए अदिन्ने य॥

सभी प्रकार के छंदना आदि से अप्रकंप रहने के कारण छठा मुनि शुद्ध होने पर भी असमाप्तश्रुत होने के कारण उसे भी गुरु की अनुज्ञा के बिना गण से निर्गमन करना नहीं कल्पता।

५७१२. एए अण्णे य बहू, दोसा अविदिण्णनिग्गमे भणिया।

मुच्चइ गणममुयंतो, तेहिं लभते गुणा चेमे॥

गुरु की अनुज्ञा के बिना गण से निर्गमन करने पर ये तथा अन्य अनेक दोष होते हैं। जो गण को नहीं छोड़ता वह इन सारे दोषों से मुक्त हो जाता और वह इन गुणों को प्राप्त कर लेता है।

५७१३. नाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंसणे चरित्ते य।

धत्ता गुरुकुलवासं, आवकहाए न मुंचंति॥

जो गुरुकुलवास को यावज्जीवन नहीं छोड़ता वह ज्ञान का आभागी होता है, दर्शन और चारित्र में स्थिरतर होता है। ऐसे शिष्यों को धन्य हैं जो गुरुकुलवास को नहीं छोड़ते।

५७१४. भीतावासो रई धम्मे, अणाययणवज्जणा।

निग्गहो य कसायाणं, एयं धीराण सासणं॥

गुरुकुल में भीतावास होता है, आचार्य आदि से डरकर रहना होता है। वहां रहने पर धर्म में रति होती है। अनायतन का वर्जन होता है, कषायों का निग्रह होता है। यही धीर अर्थात् तीर्थंकरों का शासन है।

५७१५. जइमं साहुसंसग्गिं, न विमोक्खसि मोक्खसि।

उज्जतो व तवे निच्चं, न होहिसि न होहिसि॥

यदि तुम इस साधु संसर्ग को नहीं छोड़ोगे तो मुक्त हो जाओगे। यदि तुम प्रतिदिन तपस्या में उद्यत नहीं रहोगे तो अव्याबाध सुखी नहीं हो सकोगे।

५७१६. सच्छंदवत्तिया जेहिं, सग्गुणेहिं जढा जढा।

अप्पणो ते परेसिं च, निच्चं सुविहिया हिया॥

जिन साधुओं ने स्वच्छंदवर्तिता छोड़ दी है और जो सदज्ञान से रहित हैं, वे भी मुनि स्वयं के लिए तथा पर के लिए भी सदा सुविहित और हितकारी होते हैं।

५७१७. जेसिं चाऽयं गणे वासो, सज्जणाणुमओ मओ।

बुहाऽवाऽऽराहियं तेहिं, निव्विकप्पसुहं सुहं॥

जिन साधुओं को इस गण में वास करना मत है—मान्य है वे इस सज्जनानुमत—तीर्थंकरों द्वारा अनुमत गण में रह रहे हैं। वे मुनि निर्विकल्प सुख का अनुभव करते हैं। वे दोनों सुखों—श्रमणसुख और निर्वाणसुख की आराधना करते हैं।

५७१८. नवधम्मस्स हि पाएण, धम्मे न रमती मती।

वहए सो वि संजुत्तो, गोरिवाविधुरं धुरं॥

नये प्रव्रजित मुनि का धर्म-श्रुत-चारित्र में मति नहीं होती। वह भी अन्यान्य साधुओं के साथ संयुक्त होकर संयम धुरा को वहन करने में समर्थ हो जाता है। जैसे बैल दूसरे बैल के साथ संयुक्त होकर धुरा-शकटभार को वहन करने में समर्थ हो जाता है।

५७१९. एगागिस्स हि चित्ताइं, विचित्ताइं खणे खणे।

उप्पज्जंति विद्यंते य, वसेवं सज्जणे जणे॥

अकेले मुनि का चित्त क्षण-क्षण में विचित्र अध्यवसायों में परिणत होता रहता है। वे उत्पन्न होते हैं और विनष्ट हो जाते हैं। इसलिए साधु सुसाधुओं के मध्य में रहे।

५७२०. अहवा अणिग्गयस्सा,

भिव्ख वियारे य वसहि गामे य।

जहिं ठाणे साइज्जति,

चउगुरु बितियम्मि एरिसगो॥

अथवा जो गच्छ से अनिर्गत हैं वे मुनि भिक्षाचर्या तथा विचारभूमी में जाते हैं या वसति में रहते हैं या गांव के बाहर गमन करते हैं, जहां देवता स्त्रीरूप में निर्ग्रन्थ को ग्रहण कर लेता है और यदि निर्ग्रन्थ उसमें आसक्त होकर प्रतिसेवना करता है तो उसे चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है। यह प्रथम सूत्र की व्याख्या है। द्वितीय सूत्र में भी यही गम है, विकल्प है।

५७२१. एसेव गमो नियमा, निग्गंधीणं पि होइ नायव्वो।

नवरं पुण णाणत्तं, पुव्वं इत्थी ततो पुरिसो॥

यही विकल्प आर्याओं के लिए भी जानना चाहिए। यहां नानात्व यह है कि पहले देवी पुरुषरूप की विकुर्वणा कर आर्या से समागम करती है और दूसरा पुरुष सूत्र है उसमें उसमें देव पुरुषरूप की विकुर्वणा करता है।

५७२२. विगुरुव्विऊण रूवं, आगमणं डंबरेण महयाए।

जिण-अज्ज-साहुभत्ती, अज्जपरिच्छा वि य तहेव॥

सम्यग्दृष्टि देवता पुरुषरूप की विकुर्वणा कर आता है और महान् आडंबर से तीर्थ की विकुर्वणा करता है। जहां साध्वियां हैं वहां श्रावक का रूप बनाकर वंदना

करता है और साध्वियों से कहता है—मेरे साथ चलो, भोग भोगो, फिर जिनचैत्यों, आर्थिकाओं और साधुओं की भक्ति करेंगे। वह भी आर्थिकाओं की पूर्ववत् परीक्षा करता है।

५७२३. वीसत्थया सरिसए, सारुप्यं तेण होइ पढमं तु।
पुरिसुत्तरिओ धम्मो, निग्गंथो तेण पढमं तु॥

सदृश में विश्वस्तता होती है, इसलिए पहले दोनों पक्षों का सारूप्यसूत्र बताया गया है। 'पुरुषोत्तर धर्म' के अनुसार पहले निर्ग्रन्थों के दो सूत्र कहे गए हैं।

५७२४. खित्ताइ मारणं चा, धम्माओ भंसणं करे पंता।
भद्दाए पडिबंधो, पडिगमणादी व निंतीए॥

प्रान्तदेवता साधु को प्रतिसेवना में रत देखकर क्षिप्तचित्त कर देती है या मरण—धर्म से भ्रष्ट कर देती है। यदि साधु भद्रा देवी में प्रतिबंध करता है, वह जब चली जाती है तब वह मुनि प्रतिगमन कर देता है।

५७२५. वितियं अच्छित्तिकरो, बहुवक्खेवे गणम्मि पुच्छित्ता।
सुत्त-ऽत्थझरणहेतुं, गीतेहिं समं स निग्गच्छे॥

यह द्वितीयपद है। जो मुनि अव्यवच्छित्तिकर होता है वह गच्छ में बहुत व्याक्षेप जानकर गुरु को पूछकर, गीतार्थ साधुओं के साथ सूत्रार्थ के स्मरण के लिए गच्छ से निर्गमन करता है।

अहिगरण-पदं

भिक्खू य अहिगरणं कट्टु तं अहिगरणं
अविओसवेत्ता इच्छेज्जा अण्णं गणं
उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, कप्पइ तस्स
पंच राइंदियं छेयं कट्टु—परिणिव्वविय-
परिणिव्वविय दोच्चं पि तमेव गणं
पडिनिज्जाएयव्वे सिया, जहा वा तस्स
गणस्स पत्तियं सिया॥

(सूत्र ५)

५७२६. एगागी मा गच्छसु, चोइज्जंते असंखडं होज्जा।
ऊणाहिगमारुवणे, अहिगरणं कुज्ज संबंधो॥

'अकेले मत जाओ'—इस प्रकार कहने पर भी जो नहीं मानता तब कलह होता है। अथवा वह मुनि जब गण में पुनः प्रवेश करता है तब उसे न्यूनाधिक आरोपणा दी जाती है तब वह कलह करता है।

५७२७. सच्चित्तऽचित्त मीसे, वओगत परिहारिए य देसकहा।
सम्ममणाउट्टंते अधिकरण ततो समुप्पज्जे॥

५७२८. आभव्वमदेमाणे, गिण्हंते तमेव मग्गमाणे वा।
सच्चित्तेयरमीसे, वितहापडिवत्तितो कलहो॥

५७२९. विच्चामेलण सुत्ते, देसीभासा पवंचणे चेव।
अण्णम्मि य वत्तव्वे, हीणाहिय अक्खरे चेव॥

५७३०. परिहारियमठवित्ते, ठवित्ते अणद्वाइ गिण्विसंते वा।
कुच्छित्तकुले व पविसति, चोदितऽणाउट्टणे कलहो॥

५७३१. देसकहापरिकहणे, एक्के एक्के व देसरागम्मि।
मा कर देसकहं वा, को सि तुमं मम त्ति अधिकरणं॥

५७३२. अह-तिरिय-उट्टकरणे,
बंधण गिण्वत्तणा य गिक्खिवणं।

उवसम-खएण उट्टं,

उदएण भवे अहेकरणं॥

५७३३. जो जस्स उ उवसमती, विज्झवणं तस्स तेण कायव्वं।
जो उ उवेहं कुज्जा, आवज्जति मासियं लहुगं॥

५७३४. लहुओ उ उवेहाए, गुरुओ सो चेव उवहसंतस्स।
उत्तुयमाणे लहुगा, सहायगत्ते सरिसदोसो॥

५७३५. एसो वि ताव दमयतु, हसति व तस्सोमताइ ओहसणा।
उत्तरदाणं मा ओसराहि अह होइ उत्तुयणा॥

५७३६. वायाए हत्थेहि व, पाएहि व दंत-लउडमादीहिं।
जो कुणति सहायत्तं, समाणदोसं तगं बेत्ति॥

५७३७. परपत्तिया ण किरिया, मोत्तु परट्टं च जयसु आयट्टे।
अवि य उवेहा वुत्ता, गुणो वि दोसायते एवं॥

५७३८. जति परो पडिसेविज्जा, पावियं पडिसेवणं।
मज्झ मोणं करेत्तस्स, के अट्टे परिहायई॥

५७३९. गागा! जलवासिया!, सुणेह तस-थावरा!।
सरडा जत्थ भंडंति, अभावो परियत्तई॥

५७४०. वणसंडं सरे जल-थल-खहचर वीसमण देवता कहणं।
वारेह सरडुवेक्खण, धाडण गयणास तूरणता॥

५७४१. तावो भेदो अयसो, हाणी दंसण-चरित्त-नाणाणं।
साहुपदोसो संसारवट्ठणो साहिकरणस्स॥

५७४२. अतिभणित्त अभणिते वा, तावो भेदो य जीव चरणे वा।
रूवसरिसं ण सीलं, जिहं व मणे अयसो एवं॥

५७४३. अक्कुट्ट तालिए वा, पक्खापक्खि कलहम्मि गणभेदो।
एगतर सूयएहिं व, रायादीसिट्ठे गहणादी॥

५७४४. वत्तकलहो उ ण पढति, अवच्छलत्ते य दंसणे हाणी।
जह कोहादिविवट्ठी, तह हाणी होइ चरणे वि॥

५७४५. आगाढे अहिगरणे, उवसम अवकट्टणा य गुरुवयणं।
उवसमह कुणह ज्ञायं, छड्डणया सागपत्तेहिं॥

५७४६. जं अज्जियं समीखल्लएहिं तव-नियम-बंधमइएहिं।
तं दाइं पच्छ नाहिसि, छड्ढंतो सागपत्तेहिं॥

५७४७. जं अज्जियं चरित्तं, देसूणाए वि पुव्वकोडीए।
तं पि कसाइयमेत्तो, णासेइ णरो मुहुत्तेणं॥

५७४८. आयरिओ एग न भणे, अह एग णिवारे मासियं लहुगं।
राग-होसविमुक्को, सीतघरसमो उ आयरिओ॥

५७४९. वारेति एस एतं, ममं न वारेति पक्खराएणं।
बाहिरभावं गाढतरणं च मं पेक्खसी एकं॥

भावाधिकरण की उत्पत्ति के हेतु—सचित्त, अचित्त, मिश्र, वचोगत, परिहार, देशकथा—इन स्थानों में वर्तन न करने की प्रेरणा देने पर जो सम्यग् स्वीकार नहीं करता, इससे अधिकरण उत्पन्न होता है। (गाथा की विस्तृत व्याख्या आगे की गाथाओं में)।

किसी आचार्य के पास शैक्ष-शैक्षिका प्रब्रज्या लेने आते हैं, वे उस आचार्य के आभाव्य होते हैं। उनको यदि कोई दूसरा आचार्य ग्रहण कर लेता है, या पूर्वगृहीत आभाव्य की याचना करने पर वह आचार्य वितथप्रतिपत्तियों—झूठे तर्कों से उसे झुठला देता है तो कलह होता है। आभाव्य सचित्त, अचित्त और मिश्र हो सकता है। (सचित्त—शैक्ष-शैक्षिका। अचित्त—वस्त्र, पात्र आदि। मिश्र—सभांडोपकरण शैक्ष आदि।)

सूत्र विषयक व्यत्याग्नेडित्त (अन्यान्य सूत्रालयों को यत्र-तत्र मिलाकर बोलना), अपनी-अपनी देशीभाषा बोलने पर, प्रपंच—नाना प्रकार की चेष्टाएं करना, अन्य के बोलने के समय अन्य का बोलना, हीनाक्षर, अत्याक्षर पद बोलना—रोकने पर ये सब कलह के कारण होते हैं।

परिहारिक कुल वे होते हैं जहां गुरु, ग्लान, बाल आदि मुनियों के लिए प्रायोग्य भक्त-पान प्राप्त हो जाता है। यदि उनकी स्थापना न की जाए या स्थापित करने पर भी निष्कारण उनमें प्रवेश किया जाए और यदि उसमें जाने से रोका जाए तो कलह होता है। अथवा परिहारिककुल अर्थात् कुत्सित कुल में मुनि जाता है तो रोकने पर यदि नहीं रुकता है तो कलह होता है।

अनेक मुनि देशकथा में संलग्न हैं। अलग-अलग मुनियों की भिन्न-भिन्न देश के प्रति रागभाव होता है। वह उसकी प्रशंसा करता है, दूसरा उसका खंडन करता है। कोई कहता है देशकथा मत करो। कौन हो तुम मुझे कहने वाले, यह कहने पर कलह होता है।

कषायों का उदय भावाधिकरण है। अधोगति, तिर्यक्गति

१. असंयतों के प्रति की जाने वाली उपेक्षा गुण है, संयतों के प्रति की जाने वाली उपेक्षा महान् दोष है।

तथा ऊर्ध्वगतिगमन में उनका स्वरूप क्या होता है, उसकी मीमांसा करनी चाहिए। बंधन का अर्थ है—संयोजना, निर्वर्तना, निक्षेपणा और निसर्जना। कषायों के उदय से अधोगतिमान होता है और उपशम और क्षय से ऊर्ध्वगति गमन होता है।

जो साधु जिस साधु को कुपित कर देता है, वह उस क्रोध का उपशमन करे, उससे क्षमायाचना करे। जो उपेक्षा करता है, उसे लघुमासिक का प्रायश्चित्त आता है।

जो उपेक्षा करता है उसे लघुमास का प्रायश्चित्त और जो उपहास करता है उसे गुरुमास का प्रायश्चित्त तथा जो कलह करने वाले को उत्तेजित करता है उसे चार लघुक तथा जो कलह में सहायक होता है, उसे कलह करने वाले की भांति प्रायश्चित्त आता है अर्थात् चतुर्गुरुक का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

दो मुनि कलह कर रहे हैं। एक कुछ खिन्न हो रहा है। दूसरा मुनि कहता है इसका भी (जो खिन्न नहीं हो रहा है) दमन करना चाहिए। एक की अवमानना होने पर दूसरा हंसता है, यह उपहास है। दोनों के बीच कोई कहता है—उत्तर देते रहना। अपने निश्चय से मत हटना। तुम उससे हार मत मान लेना। यह उसको उत्तेजना देना है।

दो व्यक्ति कलह कर रहे हैं। एक पक्ष में होकर जो वाणी से, हाथों से, पैरों से, दांतों से तथा लकड़ी आदि से उनका सहयोग करता है, वह भी कलहकारी व्यक्तियों की भांति ही दोषी है, ऐसा तीर्थंकरों ने कहा है।

परप्रत्ययिक क्रिया—कर्मबंध हमारे नहीं होता। इसलिए परार्थ को छोड़कर आत्मार्थ में प्रयत्नशील रहना चाहिए। इसीलिए उपेक्षा की बात कही गई है। आचार्य कहते हैं—उपेक्षा गुण है परन्तु वह भी इस प्रकार दोष हो जाता है।^१ (उपेक्षा सर्वत्र गुणकारी नहीं होती।)

यदि कोई मुनि पापिका प्रतिसेवना—अकुशलकर्मरूप अधिकरण आदि की प्रतिसेवना करता है तो मेरा क्या! मौन का आचरण करने वाले मेरे क्या कोई ज्ञान आदि के अर्थ की परिहानि होती है? कुछ भी नहीं।

जो अधिकरण—कलह की उपेक्षा करते हैं, उससे क्या अनर्थ होता है वह निम्न निदर्शन से बताया गया है—

एक अरण्य के मध्य एक विशाल तालाब था। उसमें जलचर, स्थलचर और खेचर प्राणी थे। वहीं एक विशाल हस्तीयूथ था। वह यूथ उस तालाब में पानी पीने, क्रीड़ा करने और वृक्षों की छाया में विश्राम करने आता-जाता था। एक

दिन वहीं दो शरट परस्पर झगड़ने लगे। यह देखकर वनदेवता ने सबको सचेत करते हुए कहा—

‘हे हाथियों! हे सभी जलचर प्राणियों! तथा सभी त्रस और स्थावर जीवों! सुनो जो मैं कहता हूँ। जहाँ तालाब के पास शरट लड़ रहे हों तो तुम जान लो कि वहाँ विनाश होने वाला है।’

इतना सुनने पर भी उन प्राणियों ने सोचा—ये शरट हमारा क्या बिगाड़ लेंगे? इतने में दोनों शरट लड़ते-लड़ते विश्राम कर रहे हाथियों के निकट आ गए। एक शरट, बिल समझकर, हाथी के सूंड में घुस गया। दूसरा भी उसके पीछे उसी सूंड में घुस गया। भीतर शिरकपाल में जाकर वहाँ लड़ने लगे। हाथी को बहुत कष्ट होने लगा। वह आकुल-व्याकुल होकर उठा और उस वनखंड को चूर-चूर करता हुआ, उस तालाब में प्रविष्ट हो गया। वनखंड में अनेक स्थलचर प्राणी नष्ट हो गए। तालाब की पाल तोड़ डाली। सभी जलचर प्राणी विनष्ट हो गए।

इसलिए कलह छोटा हो या बड़ा, उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। उसके तत्काल उपशमन का प्रयत्न करना चाहिए।

अधिकरण के ये दोष हैं—ताप, भेद, अकीर्ति, ज्ञान-दर्शन और चारित्र की हानि, साधुओं में प्रद्वेष और संसार का प्रवर्धन।

ताप दो प्रकार का होता है—प्रशस्त और अप्रशस्त। अतिभणित प्रशस्त ताप है। व्यक्ति सोचता है—मैंने उसे बहुत ज्यादा कह डाला। अभणित अप्रशस्त ताप है। व्यक्ति सोचता है—मैंने उसे बहुत कम कहा। मुझे उसके ये-ये दोष उद्घाटित करने थे। भेद का अर्थ है—कलह करके स्वयं का जीवितभेद या चारित्रभेद कर देना। लोग कहने लगते हैं—इसके रूप के सदृश शील नहीं है। अथवा इसने कुछ लज्जनीय कार्य किया है, इसलिए यह म्लानवदन दिख रहा है। इस प्रकार उसका अयश होता है।

आकृष्ट या ताडित होने पर साधुओं का परस्पर पक्षग्रहण करने पर कलह होता है और उससे गणभेद हो जाता है। कोई एक पक्ष राजकुल में जाकर इस कलह की सूचना देता है अथवा सूचक—राजपुरुषों द्वारा राजा को ज्ञापित करने पर, ग्रहण-आकर्षण आदि दोष होते हैं।

कलह के समाप्त हो जाने पर भी जो पढ़ने से विमुख होता है, उसके ज्ञान की हानि होती है। साधु प्रद्वेष से साधर्मिक मुनियों का वात्सल्य नहीं रहता। इससे दर्शन की हानि होती

है। जैसे-जैसे कषायों की वृद्धि होती है, वैसे-वैसे चारित्र की हानि होती है।

कर्कश अधिकरण हो जाने पर दोनों को उपशांत करना चाहिए। पार्श्वस्थित मुनि दोनों का अपसारण करे। गुरु उनको कहे—कलह का उपशमन कर ध्यान करो, स्वाध्याय करो। अनुपशांत के न ध्यान होता है और न स्वाध्याय। तुम द्रमक की भांति कनकरस को शाकपत्रों के लिए क्यों फेंक रहे हो?

(एक परिव्राजक ने दीन-हीन द्रमक से पूछा—इतने चिंतातुर क्यों हो? उसने कहा—मैं दरिद्रता से अभिभूत हूँ। ‘परिव्राजक बोला—यदि तुम मेरे कथनानुसार चलोगे, करोगे तो मैं तुम्हें वैभवशाली बना दूंगा। उसने परिव्राजक की बात स्वीकार कर ली। दोनों चले। एक निकुंज में प्रविष्ट होकर परिव्राजक ने कहा—यह कनकरस है। इसके ग्रहण का उपचार—विधि यह है कि जो उसे ग्रहण करता है वह शीत, आतप, परिश्रम, क्षुधा, पिपासा सहन करता हुआ, ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ, अचित्त कंदमूल का भोजन करता हुआ, कषायों का उपशमन कर, शमीवृक्ष के पुटकों में इसे ग्रहण करे। यह इसको ग्रहण करने की विधि है।’ द्रमक ने वैसे ही किया। एक तुंबक को कनकरस से भरकर, दोनों वहाँ से चले। परिव्राजक ने कहा—यह बहुमूल्य रस है। इसको क्रोधवश फेंकना नहीं है।’ चलते-चलते परिव्राजक बार-बार कहता—तुम मेरे प्रभाव से धनी बन जाओगे। द्रमक ने एक-दो बार सुना। फिर रुष्ट होकर बोला—तुम्हारे प्रभाव से मैं धनी बनूँ, यह मुझे इष्ट नहीं है। उसने उस कनकरस को फेंक दिया।’ तब परिव्राजक बोला—अरे दुरात्मन्! यह तुमने क्या किया? कषाय के कारण इतने बड़े लाभ से हाथ धो बैठे?)

परिव्राजक ने कहा—जो तुमने तप, नियम, ब्रह्मचर्य से अर्जित गुण रूप कनकरस को तप आदि रूप शमीवृक्ष के पत्रपुटकों में एकत्रित किया था, उसको फेंक दिया। अब तुम जान पाओगे कि तुमने शाकवृक्ष के पत्रतुल्य कषाय के कारण स्वयं की आत्मा को गुणों से रिक्त कर डाला है।

जो चारित्र देशोनपूर्वकोटी वर्षों में अर्जित किया है, उसको भी कषायितमात्र व्यक्ति एक मुहूर्त में उसे विनष्ट कर देता है।

दो मुनि अधिकरण कर रहे हैं। आचार्य एक को कुछ नहीं कहते, एक को कलह करने से निवारित करते हैं। इस प्रवृत्ति से आचार्य को लघुमासिक का प्रायश्चित्त आता है। आचार्य शीतघर के समान होते हैं। वे राग-द्वेष से विप्रमुक्त होते हैं।

आचार्य अमुक मुनि को कलह से निवारित करता है।

तब दूसरा सोचता है—आचार्य मुझे परबुद्धि से देखते हैं, अतः मुझे निवारित नहीं करते, इस पक्षराग के कारण वह मुनि बाह्यभाव को प्राप्त हो जाता है अथवा कलह को बढ़ा देता है अथवा वह आचार्य को कहता है—आप मुझ एक को बाह्यरूप से देखते हैं।

५७५०. खर-फरुस-निटुराई, अध सो भणितं अभाणियव्वाइं।
निग्गमण कलुसहियए, सगणे अट्ठा परगणे वा॥

खर, परुष और निष्टुर वचन जो कहने योग्य नहीं है उनको कहकर वह कलुषित हृदय वाला मुनि अपने गण से निर्गमन करता है। उसके स्वगण और परगण में आठ-आठ स्पर्डक होते हैं—संघाटकों के साथ रहना होता है।

५७५१. उच्चं सरोस भणियं, हिंसग-मम्मवयणं खरं तं तू।
अक्कोस गिरुवचारिं, तमसब्भं णिट्ठुरं होती॥

सरोष उच्च स्वर में कुछ कहना हिंसक वचन है। मर्मोद्घाटक वचन खर होता है, निरुपचारी आक्रोशवचन परुषवचन, है, असभ्य वचन निष्टुरवचन कहलाता है।

५७५२. अट्ठसु अद्धमासा, मासा होंतऽट्ठ अट्ठसु पयारो।
वासासु असंचरणं, ण चेव इयरे वि पेसंति॥

एक-एक स्पर्डक में आधे मास के क्रम से संचरण करने पर आठ अर्द्धमास तथा परगण में एक-एक स्पर्डक में अध्वा मास के क्रम से संचरण करने पर आठ अर्द्धमास होते हैं। दोनों को मिलाने पर आठ मास हो जाते हैं। इन आठ महीनों में विहार होता है। वर्षाकाल में असंचरण होता है। वह मुनि जिस स्पर्डक में संक्रान्त है वे भी उसको उसके गण में नहीं भेजते।

५७५३. सगणम्मि पंचराइंदियाइं दस परगणे मणुण्णेषू।
अण्णेषु होइ पणरस, वीसा तु गयस्स ओसण्णे॥

अपने गण के स्पर्डकों में संक्रान्त वह मुनि यदि उपशांत नहीं होता है तो उसे प्रत्येक दिन पांच रातदिन का छेद आता है। परगण में मनोज्ञ अर्थात् सांभोगिक मुनियों में संक्रान्त हो तो वहां प्रतिदिन दस रातदिन का छेद आता है और अन्य सांभोगिक में रहे तो प्रतिदिन पन्द्रह रातदिन का छेद आता है। अवसन्न में जाने पर बीस रातदिन का छेद है। यह भिक्षु के प्रायश्चित्त का विवरण है।

५७५४. एमेव य होइ गणी, दसदिवसादी उ भिण्णमासंतो।
पण्णरसादी तु गुरु, चतुसु वि ठाणेषु मासंतो॥

इसी प्रकार गणी—उपाध्याय अधिकरण कर परगण में संक्रान्त हुआ है उसके लिए दस रात-दिन से प्रारंभ कर भिन्नमास पर्यन्त छेद आता है। इसी प्रकार गुरु—आचार्य के चारों स्थानों—स्वगण-परगण के सांभोगिक, अन्य सांभोगिक,

तथा अवसन्न में संक्रान्त होने पर पन्द्रह रात-दिन से मासिक का छेद—यह प्रायश्चित्त है।

५७५५. सगणम्मि पंचराइंदियाइं भिक्खुस्स तद्विवस छेदो।
दस होंति अहोरत्ता, गणि आयरिए य पण्णरस॥

स्वगण में संक्रान्त भिक्षु के उसी दिन से प्रारंभ कर प्रतिदिन पांच रातदिन का छेद है। उपाध्याय के दस रातदिन का छेद, और आचार्य के पन्द्रह रातदिन का छेद।

५७५६. अण्णगणे भिक्खुस्सा, दसेव राइंदिया भवे छेदो।
पण्णरस अहोरत्ता, गणि आयरिए भवे वीसा॥

अन्य गण में संक्रान्त भिक्षु के दस रातदिन का छेद, उपाध्याय के पन्द्रह रातदिन का छेद और आचार्य के बीस रातदिन का छेद।

५७५७. अट्ठाइज्जा मासा, पक्खे अट्ठहिं मासा हवंति वीसं तू।
पंच उ मासा पक्खे, अट्ठहिं चत्ता उ भिक्खुस्स॥

स्वगण में संक्रान्त भिक्षु के प्रतिदिन पंचकछेद से पक्ष में ढाई मास का छेद होता है। स्वगण में आठ स्पर्डक होते हैं, उनमें एक-एक पक्ष तक संचरण करने से बीस मास का छेद होता है। परगण में संक्रान्त भिक्षु के प्रतिदिन दस के छेद से पक्ष में पांच मास का छेद आता है और आठ स्पर्डकों के कारण सारे चालीस मास का छेद होता है।

५७५८. पंच उ मासा पक्खे, अट्ठहिं मासा हवंति चत्ता उ।
अद्धसु मास पक्खे, अट्ठहिं सट्ठिं भवे गणिणो॥

उपाध्याय के स्वगण में दस के छेद से पक्ष में पांच मास और आठ पक्षों में चालीस मास का छेद होता है। इन्हीं का परगण में संक्रान्त होने पर पन्द्रह दिन के छेद से पक्ष में साढ़े सात मास और आठ पक्षों में साठ मास का छेद होता है।

५७५९. अद्धसु मास पक्खे, अट्ठहिं मासा हवंति सट्ठिं तु।
दस मासा पक्खेणं, अट्ठहऽसीती उ आयरिए॥

आचार्य का स्वगण में संक्रान्त करने पर पन्द्रह दिन के क्रम से एक पक्ष में साढ़े सात मास और आठ पक्षों में साठ मास का छेद होता है। परगण में संक्रान्त होने पर बीस दिन के क्रम से एक पक्ष में दस मास का छेद और आठ पक्षों में अस्सी मास का छेद होता है।

इसी प्रकार भिक्षु, उपाध्याय और आचार्य के अन्य सांभोगिक तथा अवसन्न में संक्रान्त होने पर इसी विधि से छेद की संकलना करनी चाहिए।

५७६०. एसा विही उ निग्गए, सगणे चत्तारि मास उक्कोसा।
चत्तारि परगणम्मिं, तेण परं मूलं निच्छुभणं॥

यह विधि गच्छ से निर्गत मुनि की है। उत्कृष्टतः स्वगण

में चार मास, परगण में भी चार मास। इतने पर यदि उपशांत होता है तो मूल और उपशांत नहीं होता है तो गण से निष्काशन कर देना चाहिए।

५७६१. चोएइ राग-दोसे, सगण परगणे इमं तु नाणत्तं।
पंतावण निच्छुभणं, पर-कुलघर घाडिए ण गया॥

शिष्य कहता है—यह राग-द्वेष की प्रवृत्ति है। स्वगण में थोड़ा छेद और परगण में अधिक छेद। गुरु ने कहा—यह हमारा राग-द्वेष नहीं है। यहां एक वृष्टांत है—एक गृहस्थ के चार भाययिं थीं। चारों के समान अपराध पर उसने चारों को पीटकर घर से निकाल दिया। एक किसी परघर में चली गई। दूसरी कुलघर में, तीसरी गृहस्थ के मित्र के घर चली गई। चौथी पीटे जाने पर भी वहीं रही। गृहस्थ ने संतुष्ट होकर उसको घर की स्वामिनी बना दिया। तीसरी पत्नी जो मित्र के घर गई थी, उसे खरंटित कर बुला लिया। दूसरी पत्नी जो कुलगृह में गई थी, उसे भी उपालंभ देकर बुला लिया। पहली पत्नी जो परगृह में चली गई थी, उसे अत्यधिक दंडित कर बुला लिया। इसी प्रकार परस्थानीय होते हैं अवसन्न, कुलगृह स्थानीय अन्य सांभोगिक, मित्र स्थानीय होते हैं सांभोगिक, घर से न जाने के समान होता है स्वगच्छ।

५७६२. गच्छा अणिग्गयस्सा, अणुवसमंतस्सिमो विही होइ।

सज्झाय भिक्ख भत्तइ वासए चउर एकेके॥

गच्छ से अनिर्गत और अनुपशांत की यह विधि होती है। स्वाध्याय, भिक्षाचर्या के समय, भक्तार्थनकाल में तथा प्रादोषिक आवश्यक काल में—इन चारों के लिए एक-एक दिन में उस मुनि को प्रेरित न करे।

५७६३. दुप्पडिलेहियमादिसु, चोदिए सम्मं तु अपडिवज्जंते।

न वि पडुवेंति उवसम, कालो ण सुद्धो जियं वा सिं॥

दुष्प्रतिलेखन आदि में प्रेरित करने पर यदि वह सम्यग्रूप से स्वीकार नहीं करता है तो अधिकरण होता है। आचार्य कहते हैं—आर्य! उपशांत हो जाओ। ये मुनि स्वाध्याय की प्रस्थापना नहीं कर रहे हैं। वह कहता है—ठीक है, अवश्य ही काल शुद्ध नहीं है। अथवा इनके सूत्रार्थ परिचित है अतः ये स्वाध्याय की प्रस्थापना नहीं कर रहे हैं। इस प्रकार कहने पर मासगुरु का प्रायश्चित्त आता है।

५७६४. णोतरणे अभत्तइ, ण व वेला अभुंजणे ण जिण्णं सिं।

ण पडिक्रमंति उवसम, गिरतीयारा णु पच्चाह॥

तुम्हारे उपशांत हुए बिना साधु भिक्षाचर्या के लिए नहीं उठ रहे हैं। वह कहता है—या तो ये सब मुनि उपोसित हैं या अभी भिक्षा की बेला नहीं हुई है। उसे दूसरा मासगुरु आता है। साधु भोजन नहीं कर रहे हैं। वह कहता है—पूर्वभुक्त

आहार अभी इनके जीर्ण नहीं हुआ है। उसे तीसरा मासगुरु आता है। आर्य! साधु प्रतिक्रमण नहीं कर रहे हैं। तुम उपशांत हो जाओ। वह कहता है—सारे श्रमण निरतिचार हैं। उसे चौथा मासगुरु आता है। प्रभातकाल में अधिकरण होने पर यह विधि है।

५७६५. अन्नम्मि वि कालम्मिं, पढंत हिंडंत मंडली वासे।

तिन्नि व दोन्नि व मासा, होंति पडिक्रंते गुरुगा उ॥

अन्य काल में अर्थात् पढ़ते समय, भिक्षाचर्या के लिए घूमते समय, मंडली में भोजन करते समय तथा आवश्यक वेला में यदि अधिकरण होता है तो तीन या दो गुरुमास और प्रतिक्रमण कर लेने पर भी उपशांत न होने पर चार गुरुमास का प्रायश्चित्त है।

५७६६. एवं दिवसे दिवसे, चाउक्कालं तु सारणा तस्स।

जति वारे ण सारेती, गुरुगो गुरुगो तती वारे॥

इस प्रकार प्रतिदिन चतुष्काल उसकी सारणा करनी चाहिए। जितनी बार सारण नहीं की जाती उतनी बार मासगुरु का प्रायश्चित्त है।

५७६७. एवं तु अगीतत्थे, गीतत्थे सारिए गुरु सुद्धो।

जति तं गुरु ण सारे, आवत्ती होइ दोण्हं पि॥

यह सारणा विधि अगीतार्थ के लिए है। गीतार्थ मुनि की एक दिन चारों स्थिति में सारणा करने पर गुरु शुद्ध हैं। यदि गुरु सारणा नहीं करते हैं तो आचार्य और अनुपशांत मुनि—दोनों को प्रायश्चित्त आता है।

५७६८. गच्छो य दोन्नि मासे, पक्खे पक्खे इमं परिहवेति।

भत्तइण सज्झायं, वंदण लावं ततो परेणं॥

यदि गच्छ अनुपशांत का दो मास तक सारणा करता है और यदि वह उपशांत नहीं होता है तो पक्ष-पक्ष में इन चीजों की कमी होती जाती है। पहले पक्ष में उसके साथ भक्तार्थन, दूसरे पक्ष में स्वाध्याय, तीसरे पक्ष में वन्दनक तथा चौथे पक्ष में उसके साथ आलाप भी बंद कर देते हैं।

५७६९. आयरिय चउरो मासे, संभुंजति चउरो देइ सज्झायं।

वंदण लावं चउरो, तेण परं मूल निच्छुहणा॥

आचार्य चार मास तक उसके साथ भोजन करते हैं, चार मास तक उसको स्वाध्याय देते हैं और चार मास तक वंदना और आलापक करते हैं। उसके पश्चात् उपशांत हो जाने पर मूल का प्रायश्चित्त देते हैं और यदि उपशांत नहीं होता है तो उसे गण से निकाल देते हैं।

५७७०. एवं बारस मासे, दोसु तवो सेसए भवे छेदो।

परिहायमाण तदिवस तवो मूलं पडिक्रंते॥

इस प्रकार बारह मास में भी वह उपशांत नहीं होता है

तो गच्छ से निष्काशित होने पर प्रथम दो मास तक तप प्रायश्चित्त और शेष दस मासों में पांच रातदिन के छेद के क्रम से सांवत्सरिक पर्व तक छेद होता है। पर्युषणा रात्री में प्रतिक्रमण करने के पश्चात् अधिकरण होता है तो यह विधि है। पर्युषणा के पारणे वाले दिन से परिहीयमान उस दिन तक ले जाएं जहां तप या मूल प्रायश्चित्त दिया जाता है, छेद नहीं। प्रतिक्रमण करने पर अधिकरण हुआ है तो सांवत्सरिक प्रतिक्रमण कर लेने पर केवल मूल का ही प्रायश्चित्त आता है।

५७७१. एवं एकेकदिणे, हवेत्तु ठवणादिणे वि एमेव।
चेइयवंदण सारे, तम्मि वि काले तिमासगुरू॥

इस प्रकार एक-एक दिन कम करते करते स्थापना दिवस अर्थात् पर्युषणादिवस तक ले जाएं। उस दिन सूर्योदय से पूर्व कलह उत्पन्न हो तो इसी प्रकार करना चाहिए—पहले स्वाध्याय स्थापित करने वाले उसे उपशांत होने के लिए कहे, फिर वंदनार्थ जाने वाले उसे कहे, अनुपशांत होने पर प्रतिक्रमण की वेला में कहे। फिर भी अनुपशांत रहने पर उस मुनि को तीन गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है।

५७७२. पडिकंते पुण मूलं, पडिक्रमंते व होज्ज अधिकरणं।
संवच्छरमुस्सग्गे, कयम्मि मूलं न सेसाइं॥

पर्युषणा के दिन अधिकरणों की व्यवच्छिन्ति कर देनी चाहिए। यदि प्रतिक्रमण के पश्चात् अधिकरण रहता है तो उसे मूल का प्रायश्चित्त आता है। प्रतिक्रमण प्रारंभ कर सांवत्सरिक कायोत्सर्ग पर्यन्त यदि अधिकरण रहता है तो मूल प्रायश्चित्त ही आता है, शेष प्रायश्चित्त नहीं।

५७७३. संवच्छरं च रुद्धं, आयरिओ रक्खए पयत्तेण।
जति णाम उवसमेज्जा, पव्वयरातीसरिसरोसो॥

आचार्य उस रुष्ट मुनि की संवत्सर पर्यन्त रक्षा करते हैं कि वह तब तक उपशांत हो जाए। यदि संवत्सर में भी उपशांत नहीं होता है तो मानना चाहिए की उसका रोष पर्वतराजी सदृश है।

५७७४. अण्णे दो आयरिया, एकेकं वरिसमेत्तमेअस्स।
तेण परं गिहि एसो, बित्थिपदं रायपव्वइए॥

वह मुनि एक वर्ष के पश्चात् अपने मूलाचार्य के पास से निर्गत होकर अन्य दो आचार्यों के पास जाता है। वहां प्रत्येक के पास एक-एक वर्ष रहता है। वे उसका संरक्षण करते हैं। उसके बाद वह गृही हो जाता है। अपवादपद में राजप्रव्रजित होने पर उसके लिंग का अपहार नहीं किया जाता।

५७७५. एमेव गणा-ऽऽयरिए,

गच्छम्मि तवो उ तित्ति पक्खाइं।

दो पक्खा आयरिए,

पुच्छा य कुमारदिट्ठंते॥

इसी प्रकार उपाध्याय और आचार्य के विषय में जानना चाहिए। उपाध्याय यदि अनुपशांत होकर गण में रहते हैं तो तीन पक्षों तक तपःप्रायश्चित्त और पश्चात् छेद। अनुपशांत आचार्य को दो पक्ष तप और पश्चात् छेद। शिष्य ने पूछा—समान अपराध पर प्रायश्चित्त विषम क्यों? यहां कुमार का दृष्टांत है।^१

५७७६. पणयाल दिणा गणिणो, चउहा काऊण साहिएक्कारा।

भत्तट्टण सज्झाए, वंदण लावे य हावेति॥

गणी—उपाध्याय के ४५ दिनों में चार का भाग देने पर ११^१/_३ दिन हुए। गच्छ उपाध्याय के साथ इतने दिनों तक भक्तार्थन, इतने ही दिनों तक स्वाध्याय, वंदना और आलापना आदि करता है। पश्चात् दिन कम कर देता है।

५७७७. तीस दिणे आयरिए, अब्भट्ट दिणे य हावणा तत्थ।

गच्छेण चउपदेहि तु, णिच्छूढे लग्गती छेदो॥

आचार्य के तीस दिनों को चार का भाग देने पर साढ़े सात दिन होते हैं। गच्छ उनके साथ चारों—भक्तार्थन, स्वाध्याय, वंदनक और आलाप—साढ़े सात दिन—साढ़े सात दिन करता है। उसके पश्चात् जब गच्छ इन चारों पदों को छोड़ देता है और तब आचार्य पन्द्रह दिन के छेद के क्रम से संलग्न हो जाता है।

५७७८. संकंतो अण्णगणं, सगणेण य वज्जितो चतुपदेहिं।

आयरिओ पुण नवरिं, वंदण-लावेहि णं सारे॥

जब स्वगण में चारों पदों भक्तार्थन आदि से वर्जित हो जाता है तब आचार्य अन्य गण में संक्रान्त करता है। अन्य गण का आचार्य उसकी केवल वंदना और आलाप से एक वर्ष तक सारणा करता है।

५७७९. सज्झायमाइएहिं, दिणे दिणे सारणा परगणे वि।

नवरं पुण णाणत्तं, तवो गुरुस्सेतरे छेदो॥

परगण में संक्रान्त आचार्य की प्रतिदिन स्वाध्याय आदि पदों से सारणा की जाती है। यह नानात्व—विशेष है, यदि अन्य गण का आचार्य यदि सारणा नहीं करता है तो उसे तपःप्रायश्चित्त आता है तथा अधिकरणकारी आचार्य को छेद आता है।

५७८०. सरिसावराधे दंडो, जुवरणो भोगहरण-बंधादी।

मज्झिम बंध-वहादी, अवत्ति कत्तादि खिसा वा॥

प्रागुद्दिष्ट कुमार दृष्टान्त—

एक राजा के तीन पुत्र थे—ज्येष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ। तीनों ने सोचा—राजा को मारकर राज्य को तीन भागों में विभक्त कर लें। राजा ने उनका यह षडयंत्र जान लिया। उसने ज्येष्ठ पुत्र से कहा—तुम युवराज हो। ऐसा क्यों करते हो? उसको भोगहरण, बंधन, ताड़ना आदि से दंड दिया। मध्यमपुत्र का भोगहरण नहीं किया। उसको भी बंधन, खिंसना आदि से दंडित किया। कनिष्ठ के कान मरोड़ कर खिंसना की।

इसी प्रकार लोकोत्तर में उत्कृष्ट—मध्यम और जघन्य व्यक्ति को भी बड़ा, लघु या लघुतर दंड दिया जाता है।

५७८१.अप्पच्चय वीसत्थत्तणं च लोगगरहा दुरहिग्गम्मो।

आणाए य परिभवो, णेव भयं तो तिहा दंडो॥

सकषाय आचार्य को देखकर लोगों में उनके उपदेशों के प्रति विश्वास नहीं होता। सकषाय शेष मुनियों के प्रति भी विश्वस्तता नहीं रहती। लोगों में गर्हा होती है। क्रोधी आचार्य सभी शिष्यों के लिए दुरधिगम होते हैं। आज्ञा का परिभव होता है, उनमें भय नहीं होता। इसलिए पुरुष विशेष की अपेक्षा से दंड के तीन प्रकार किए गए हैं।

५७८२.गच्छम्मि उ पट्टविए,

जम्मि पदे स निग्गतो ततो बितियं।

भिकखु-गणा-SSयरियाणं,

मूलं अणवद्ध पारंची॥

गच्छ में जिस पद पर प्रस्थापित था उससे निर्गत हुआ है तो परगण में उस पद से दूसरा पद प्राप्त होता है। जैसे छेद में प्रस्थापित पद से परगण में संक्रान्त हुआ है तो वहां मूल प्राप्त करेगा। भिक्षु, गणी और आचार्य—इन तीनों के अंतिम प्रायश्चित्त आते हैं। भिक्षु के मूल, उपाध्याय के अनवस्थाप्य और आचार्य के पारांचिक। अथवा भक्तार्थन आदि जिस पद से गच्छ से निर्गत हुआ है तो परगण में उसके साथ भोजन नहीं किया जाएगा, स्वाध्याय किया जा सकेगा। इस प्रकार जो स्वाध्याय पद से निर्गत है, उसके साथ वंदनक करेगा, जो वंदनकपद से गया है तो उसके साथ आलाप करेगा, जो आलाप पद से निर्गत है तो उसके साथ चारों पदों का परिहार करेगा।

५७८३.कारणे अणले दिक्खा,

समत्ते अणुसट्ठि तेण कलहो वा।

कारणे सदे ठिताणं,

कलहो अण्णोण्ण तेणं वा॥

कारणवश किसी अयोग्य को दीक्षा दे दी गई। कारण

समाप्त होने पर उसे अनुशिष्टि दी जाती है। गच्छ से उसका निर्गमन न होने पर कलह होता है। कारण में शब्दप्रतिबद्ध वसति में रहते हैं तो परस्पर या उसके साथ कलह करते हैं, जिससे कि शब्द सुनाई न दें।

राईभोयण-पदं

भिकखू य उग्गयवित्तीए अणत्थ-
मियसंकप्पे संथडिए निव्वित्तिगिच्छे असणं
वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा
पडिग्गाहेत्ता आहारमाहारेमाणे अह पच्छा
जाणेज्जा—अणुग्गए सूरिए अत्थमिए वा,
से जं च मुहे जं च पाणिसि जं च पडिग्गहे
तं विगिंचमाणे वा विसोहेमाणे वा नो
अइक्कमइ, तं अप्पणा भुंजमाणे अण्णेसिं
वा दलमाणे राईभोयणपडिसेवणपत्ते
आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं
अणुग्घाइयं॥

(सूत्र ६)

भिकखू य उग्गयवित्तीए अणत्थ-
मियसंकप्पे संथडिए वित्तिगिच्छासमावत्ते
असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा
पडिग्गाहेत्ता आहारमाहारेमाणे अह पच्छा
जाणेज्जा—अणुग्गए सूरिए अत्थमिए वा,
से जं च मुहे जं च पाणिसि जं च पडिग्गहे
तं विगिंचमाणे वा विसोहेमाणे वा नो
अइक्कमइ, तं अप्पणा भुंजमाणे अण्णेसिं
वा दलमाणे राईभोयणपडिसेवणपत्ते
आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं
अणुग्घाइयं॥

(सूत्र ७)

भिकखू य उग्गयवित्तीए अणत्थ-
मियसंकप्पे असंथडिए निव्वित्तिगिच्छे
असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा
पडिग्गाहेत्ता आहारमाहारेमाणे अह पच्छा

जाणेज्जा—अणुग्गए सूरिए अत्थमिए वा,
से जं च मुहे जं च पाणिंसि जं च पडिग्गहे
तं विगिंचमाणे वा विसोहेमाणे वा नो
अइक्कमइ, तं अप्पणा भुंजमाणे अण्णेसिं
वा दलमाणे राईभोयणपडिसेवणपत्ते
आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारद्वाणं
अणुग्घाइयं ॥

(सूत्र ८)

भिक्षू य उग्गयवित्तीए अणत्थ-
मियसंकप्पे असंथडिए वितिगिच्छा-
समावन्ने असणं वा पाणं वा खाइमं वा
साइमं वा पडिग्गाहेत्ता आहारमाहारेमाणे
अह पच्छा जाणेज्जा—अणुग्गए सूरिए
अत्थमिए वा, से जं च मुहे जं च पाणिंसि
जं च पडिग्गहे तं विगिंचमाणे वा
विसोहेमाणे वा नो अइक्कमइ, तं अप्पणा
भुंजमाणे अण्णेसिं वा दलमाणे
राईभोयणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ
चाउम्मासियं परिहारद्वाणं अणुग्घाइयं ॥

(सूत्र ९)

५७८४.अण्णगणं वच्चंतो, परिणिव्ववितो व तं गणं एंतो।

विह संथरेतरे वा, गेण्हे सामाए जोगोऽयं ॥

अधिकरण करके, अनुपशांत अवस्था में, अन्य गण में
जाते हुए या पुनः उसी गण में परिनिर्वापित—आते हुए मार्ग में
पर्याप्त भोजन मिलने पर या न मिलने पर रात्री में आहार
ग्रहण करे। यह योग है, संबंध है।

५७८५.संथडमसंथडे या, निव्वितिगिच्छे तहेव वितिगिच्छे।

काले दब्बे भावे, पच्छित्ते मग्गणा होइ ॥

प्रस्तुत में चार सूत्र हैं—

- | | |
|--------------------------|---------------------------|
| १. संस्तृत निर्विचिकित्स | ३. असंस्तृत निर्विचिकित्स |
| २. संस्तृत विचिकित्स | ४. असंस्तृत विचिकित्स। |

प्रथम सूत्र में तीन प्रकार से प्रायश्चित्त की मार्गणा होती
है—काल से, द्रव्य से और भाव से।

५७८६.अणुग्गय मणसंकप्पे, गवेसणे गहणे भुंजणे गुरुगा।

अह संकियम्मि भुंजति, दोहि वि लहु उग्गते सुद्धो ॥

अभी तक सूर्योदय नहीं हुआ है, इस मनोगत संकल्प से

जो भक्तपान की गवेषणा, ग्रहण और भोजन करता है उसे
चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त तथा और काल से गुरु आता है। यदि
शक्ति मनःसंकल्प से भोजन करता है तो उसे काल और
तप—दोनों से लघु चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है। सूर्य
उदित हो गया है—इस निश्चित संकल्प से भोजन करने
वाला शुद्ध है।

५७८७.अत्थंगयसंकप्पे, गवेसणे गहणे भुंजणे गुरुगा।

अह संकियम्मि भुंजइ, दोहि वि लहुऽणत्थमिए सुद्धो ॥

‘सूर्य अस्तगत हो गया है’ इस संकल्प के साथ जो
भक्तपान की गवेषणा, ग्रहण और भोजन करता है उसे
चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त तप और काल से गुरु होता है। यदि
शक्ति अवस्था में भोजन करता है तो उसे चतुर्गुरु दोनों से
लघु प्रायश्चित्त होता है। सूर्य अस्तमित नहीं हुआ है, इस
निःसंदिग्ध चित्त से भोजन करता है वह शुद्ध है।

५७८८.उग्गयवित्ती मुत्ती, मणसंकप्पे य होति आएसा।

एमेव अणत्थमिए, धाए पुण संखडी पुरतो ॥

उद्गतवृत्ति—सूर्य के उदित होने पर जो वर्तन करता है
अथवा उद्गतमूर्ति—सूर्य के उदित होने पर जो मूर्ति—शरीर
वर्तन करता है। मनःसंकल्प के विषय में ये आदेश हैं—
(१) अनुदित सूर्य को भी मनःसंकल्प से उदित मानकर
भोजन करने वाला दोषी नहीं होता। (२) उदित होने पर भी
अनुदित मनःसंकल्प से भोजन करना सदोष है। इसी प्रकार
अनस्तमित में भी मानना चाहिए। धात-सुभिक्ष में संखड़ी
होती है। वह दो प्रकार की है—पुरःसंखड़ी, पश्चात् संखड़ी,
पूर्वाह्न में पुरःसंखड़ी और अपराह्न में पश्चात् संखड़ी होती
है। यहां अनुदित रवि के समय पुरः संखड़ी और अस्तमित
रवि के समय पश्चात् संखड़ी है।

५७८९.सूरे अणुग्गतम्मिं, अणुदित उदितो व होति संकप्पो।

एवं अत्थमियम्मि वि, एगतरे होति निस्संको ॥

सूर्य के अनुदित होने पर अनुदित संकल्प या उदित
संकल्प, उदित होने पर अनुदित अथवा उदित संकल्प होता
है। इसी प्रकार अस्तमित सूर्य के विषय में भी ऐसा मनः-
संकल्प होता है। अस्तमित सूर्य के विषय में भी एकतर-
अनस्तमित या अस्तमित निःशंक मनः संकल्प होता है।

५७९०.अणुदियमणसंकप्पे, गहणे गवेसी य भुंजणे चेव।

उग्गयऽणत्थमिए या, अत्थंपत्ते वि चत्तारि ॥

अनुदित मनःसंकल्प में भक्तपान की गवेषणा, ग्रहण और
भोजन करना—इन तीन पदों के साथ चार भंग उचित हैं—
प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ और अष्टम। उद्गत मनःसंकल्प के
साथ भी ये ही चार भंग हैं। अनस्तमित मनःसंकल्प तथा

अस्तंगत के साथ भी ये ही चार भंग होते हैं। तीसरा, पांचवां, छठा और सातवां—ये भंग असंभव हैं।

५७९१. अणुदितमणसंकल्पे,

गवेस-गह-भोयणम्मि पढमलता।

बितियाए तिसु असुद्धो,

उग्गयभोई उ अंतिमओ ॥

अनुदित मनःसंकल्प में अनुदितगवेषी, अनुदितग्राही और अनुदितभोजी—यह प्रथम लता है, प्रथम भंग है। दूसरी लता में तीन पदों—संकल्प, गवेषण और ग्रहण—इन तीन पदों में अशुद्ध और अंतिम पद—उद्गत भोजीत्वरूप से शुद्ध है।

५७९२. तइयाए दो असुद्धा, गहणे भोती य दोण्णि उ विसुद्धा।

संकप्पम्मि असुद्धा, तिसु सुद्धा अंतिमलया उ ॥

तीसरी लता में दो पद—संकल्प और गवेषण अशुद्ध होते हैं और ग्रहण और भोजन—ये दो पद शुद्ध होते हैं। अन्त्यलता तीन पदों में शुद्ध होती है और संकल्पपद में अशुद्ध होती है। इस प्रकार अनुदित मनःसंकल्प की चार लताएं कही गई हैं।

५७९३. उग्गयमणसंकल्पे, अणुदित गवेसी य गहण भोगी य।

एमेव य बितियलता, सुद्धा आदिम्मि अंते य ॥

५७९४. ततियलताए गवेसी, होइ असुद्धो उ सेसगा सुद्धा।

सव्वविसुद्धा उ भवे, चउत्थलतिया उदियचित्ते ॥

प्रथम लता उद्गतमनःसंकल्प अनुदितगवेषी, अनुदित-ग्राही और अनुदितभोजी। इसी प्रकार द्वितीय लता भी होती है। आदिपद और अन्त्यपद शुद्ध तथा मध्य दो पद अशुद्ध। तृतीय लता में गवेषणापद अशुद्ध है। शेष तीन पद शुद्ध हैं। चतुर्थी लता में चारों पद शुद्ध हैं। ये चारों लताएं उदित-चित्तविषय वाली हैं। शुद्ध हैं।

५७९५. अत्थंगयसंकल्पे, पढम धरंतेसि गहण भोगी य।

दोसंतेसु असुद्धा, बितिया मज्जे भवे सुद्धा ॥

५७९६. ततिया गवेसणाए, होति विसुद्धा उ तीसु अवि सुद्धा।

चत्तारि वि होंति पदा, चउत्थलतियाए अत्थमिते ॥

अस्तंगत संकल्प में प्रथम लता में सूर्य के रहते भक्त-पान की एषणा, ग्रहण और भोजन—सूर्य अस्तंगत हो गया है, इस बुद्धि से करता है। द्वितीय लता में दो पद—आदि और अन्त—अशुद्ध हैं, मध्यवर्ती दो पद शुद्ध हैं। तीसरी लता में गवेषणा में शुद्ध है, शेष तीन पद अशुद्ध हैं। चौथी लता में अस्तमित विषय के कारण चारों पद अविशुद्ध होते हैं।

५७९७. अणत्थंगयसंकल्पे, पढमा एसी य गहण भोगी य।

मण एसि गहण सुद्धा, बितिया अंतम्मि अवि सुद्धा ॥

५७९८. मण एसणाए सुद्धा, ततिया गह-भोयणेसु अवि सुद्धा।

संकल्पे नवरि सुद्धा, तिसु वि असुद्धा उ अंतिमिया ॥

प्रथम लता—अनस्तमितसंकल्प, अनस्तमितएषी, अनस्तमितग्रहण और भोजी। दूसरी लता—संकल्प, एषण और ग्रहण पद में शुद्ध और अन्त्यपद में अशुद्ध।

तीसरी लता—मनःसंकल्प और एषणा में शुद्ध तथा ग्रहण और भोजन में अशुद्ध। अन्त्य लता अर्थात् चौथी लता—संकल्प पद में शुद्ध, शेष तीन पदों—गवेषण, ग्रहण और भोजन में अशुद्ध।

५७९९. पढमाए बितियाए, ततिय चउत्थीए नवम दसमाए।

एक्कारस बारसीए, लताए चउरो अणुग्घाता ॥

पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी, नौवीं, दसवीं, ग्यारहवीं और बारहवीं—इन आठ लताओं में भावों की अविशुद्धि के कारण चार अनुद्घात का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

५८००. पंचम छ स्सत्तमिया, अद्धमिया तेर चोइसमिया य।

पन्नरस सोलसा वि य, लताओ एया विसुद्धाओ ॥

पांचवीं, छठी, सातवीं, आठवीं, तेरहवीं, चौदहवीं और सोलहवीं—ये आठ लताएं विशुद्ध हैं। क्योंकि सर्वत्र भाव की विशुद्धि होती है।

५८०१. दोण्ह वि कतरो गुरुओ,

अणुग्गतऽत्थमियभुंजमाणानं।

आदेस दोण्णि काउं,

अणुग्गए लहु गुरु इयरे ॥

शिष्य ने पूछा—सूर्य के अनुद्गत होने पर या सूर्य के अस्तमित हो जाने पर जो भोजन करता है—इन दोनों में महादोषी कौन है? आचार्य ने कहा—इस विषयक दो आदेश हैं, दो मान्यताएं हैं। कोई आचार्य कहते हैं—अनुद्गतभोजी से अस्तमित भोजी गुरुतर होता है। कोई आचार्य इससे विपरीत मानते हैं। वे कहते हैं—अस्तमितभोजी से अनुद्गतभोजी गुरुतर होता है। आचार्य कहते हैं—अस्तमित भोजी गुरुतर इसलिए है कि उसके परिणाम संक्लिष्ट होते हैं। दिन में भोजन कर लेने पर पुनः रात्री में भोजन करता है। उस समय काल अविशुद्धयमान होता है। अनुदितभोजी सारी रात भूख को सहन कर क्लान्त होकर भोजन करता है। वह काल विशुद्धयमान होता है। अतः वह लघुतर है। दूसरे कहते हैं—अस्तमितभोजी से अनुदितभोजी गुरुतर होता है। क्योंकि वह सारी रात सहनकर थोड़े समय की भी प्रतीक्षा नहीं कर पाता। इसलिए वह संक्लिष्ट परिणाम वाला होता है। दूसरा सोचता है—मुझे लंबे समय तक सहना पड़ेगा, अतः वह खा लेता है, वह लघुतर है। यह दोनों आदेश सूत्रों की बात है। उसका स्थितिपक्ष यह है—अनुद्गत सूर्य में प्रतिसमय विशुद्धयमान काल होता है अतः अनुदितभोजी लघुतर होता

है। अस्तमितभोजी के प्रतिसमय अविशुद्ध्यमान काल होता है, इसलिए वह गुरुतर है।

५८०२. गेणहण गहिए आलोयण, नमोक्कारे भुंजणे य संलेहे।
सुद्धो विगिंचमाणो, अविगिंचण सोहि दव्व भावे य॥

अनुदित और अस्तमित समय में ग्रहण करने के लिए प्रस्थित होना, यह गवेषणा ही है, गृहीत करने पर ज्ञात होना, आलोचना करते समय ज्ञात होना, भोजन करते समय नमुक्कार का स्मरण करते समय ज्ञात होना भोजन करते हुए ज्ञात होना, संलेखना कल्प करते समय ज्ञात होना—इन समयों में लिए हुए भक्त-पान को यदि परिष्ठापन कर देता है तो वह शुद्ध है। वह प्रायश्चित्ती नहीं होता। जो परिष्ठापन नहीं करता उसे द्रव्यतः और भावतः प्रायश्चित्त आता है।

५८०३. संलेह पण तिभाए,

अवह्व दोभाए पंच मोत्तु भिक्खुस्स।

मास चउ छ च्च लहु-गुरु,

अभिक्खगहणे तिसू मूलं॥

जो सूर्य के अनुदित और अस्तमित जानते हुए भी 'संलेख'-तीन कवल प्रमाण शेष बचे हुए को खाता है उसे मासलघु, जो पांच कवल प्रमाण को खाता है उसे मासगुरु, त्रिभाग-दस कवल में चतुर्लघु, अपार्थ-पन्द्रह कवल में चतुर्गुरु, दो भाग-बीस कवल में षडलघु, तीस में से पांच को छोड़कर अर्थात् पचीस कवल में षडगुरु। इस प्रकार जैसे-जैसे द्रव्य की वृद्धि होती है वैसे-वैसे प्रायश्चित्त की वृद्धि होती है। बार-बार ग्रहण करने पर, दूसरी बार में मासगुरु से प्रारंभ कर छेद पर्यन्त और तीसरी बार ग्रहण करने पर चतुर्लघु से प्रारंभकर मूल पर्यन्त प्रायश्चित्त आता है।

५८०४. एमेव गणा-ऽऽयरिए, अणवद्वप्पो य होति पारंची।

तम्मि वि सो चेव गमो, भावे पडिलोम वोच्छामि॥

इसी प्रकार गणी-उपाध्याय और आचार्य विषयक यही चारणिका है। उपाध्याय को प्रथम बार मासगुरु से प्रारंभ कर छेद पर्यन्त, दूसरी बार चतुर्लघु से प्रारंभ कर मूल पर्यन्त, तीसरी बार चतुर्गुरु से प्रारंभ कर अनवस्थाप्य पर्यन्त। आचार्य के प्रथम बार चतुर्लघु से मूल पर्यन्त, दूसरी बार चतुर्गुरु से अनवस्थाप्य पर्यन्त और तीसरी बार षडलघु से पारांचिक पर्यन्त। यह द्रव्य निष्पन्न प्रायश्चित्त है। भाव में प्रतिलोम प्रायश्चित्त कहूंगा। पूर्व में द्रव्यवृद्धि से प्रायश्चित्त वृद्धि बताई गई। यहां जैसे-जैसे द्रव्य की परिहानि होती है, वैसे-वैसे परिणामों की संक्लिष्टता बढ़ती जाती है, इससे प्रायश्चित्त की वृद्धि होती है, वह मैं कहूंगा।

५८०५. पंचूण तिभागऽद्धे, तिभाग सेसे य पंच मोत्तु संलेहं।

तम्मि वि सो चेव गमो, णायं पुण पंचहि गतेहिं॥

भावप्रायश्चित्त में जो द्रव्यनिष्पन्न चारणागम कहा है, वही यहां जानना चाहिए। यदि पांच कवल खाने के बाद ज्ञात हो कि सूर्य अनुदित है या अस्तमित है, उसके पश्चात् भी यदि शेष पचीस कवल को खाता है तो मासलघु। तीन भागहीन शेष बीस कवलों को खाता है तो मासगुरु। अर्द्ध अर्थात् पन्द्रह कवलों को खाता है तो चतुर्लघु। त्रिभाग-दस कवलों को खाता है तो चतुर्गुरु। पांच शेष कवल खाता है तो षडलघु। संलेखनाशेष खाने पर षडगुरु। तीस कवल थे। पांच कवलों को खाने के पश्चात् पचीस कवल अज्ञात अवस्था में खा लिए। शेष पांच कवलों को खाने से षडलघु।

५८०६. एमेवऽभिक्खगहणे, भावे ततियम्मि भिक्खुणो मूलं।

एमेव गणा-ऽऽयरिए, सपथा सपदं हसति इक्कं॥

इसी प्रकार बार-बार ग्रहण करने पर भावनिष्पन्न प्रायश्चित्त होता है। यह भिक्षु के लिए है। दूसरी बार मासगुरुक से छेद पर्यन्त जाता है। तीसरी बार चतुर्लघु से मूल पर्यन्त जाता है। इसी प्रकार उपाध्याय और आचार्य के विषय में जानना चाहिए। स्वपद से एकपद कम होता है। उपाध्याय के प्रथम बार में मासगुरु से प्रारब्ध होकर तीसरी बार में अनवस्थाप्य में ठहरता है। आचार्य के प्रथम बार में चतुर्लघुक से प्रारंभ कर तीसरी बार में पारांचिक में ठहरता है।

५८०७. संथडिओ संथरेंतो, संतयभोजी व होइ नाथव्वो।

पज्जत्तं अलभंतो, असंथडी छिन्नभत्तो य॥

संस्तृत वह होता है जो पर्याप्त भक्तपान मिलने पर निर्वाह कर लेता है अथवा जो सतत भोजी होता है वह संस्तृत होता है। जिसको पर्याप्त भक्तपान प्राप्त नहीं होता अथवा जो उपवास आदि से 'छिन्नभक्त' होता है वह असंस्तृत है।

५८०८. निस्संकमणुदितोऽतिच्छित्तो व सूरु ति गेणहती जो उ।

उदित धरेंते वि हु सो, लग्गति अवि सुद्धपरिणामो॥

जो मुनि निःशंकरूप से यह मानता हुआ कि सूर्य अनुदित है या अतिक्रान्त हो गया है फिर भी भक्तपान लेता है और यद्यपि सूर्य उदित है या अनस्तमित फिर भी अशुद्ध परिणामों के कारण वह प्रायश्चित्त का भागी होता है।

५८०९. एमेव य उदित ति व, धरइ ति व सोढमुवगतं जस्स।

स विवज्जए विसुद्धो, विसुद्धपरिणामसंजुत्तो॥

इसी प्रकार जिस मुनि के चित्त में यह अभिप्राय उत्पन्न होता है कि सूर्य उदित हो गया है या अभी तक अस्तंगत

नहीं हुआ है, इस विपर्यास में वह मुनि कुछ ग्रहण करता है तो भी वह विशुद्ध है क्योंकि उसका परिणाम विशुद्ध है।

५८१०. समि-चिचिणिमादीणं, पत्ता पुष्पा य णलिणिमादीणं।

उदय-ऽन्त्यमणं रविणो, कहिति विगसंत-मउलिता॥

सूर्य अनुदगत या अस्तमित है—यह कैसे जाना जाता है? भाष्यकार कहते हैं—शमी, चिचिणिका वृक्षों के पत्ते विकसित होने पर तथा नलिनी आदि के पुष्प विकसित देखकर जाना जा सकता है कि सूर्योदय हो गया है और ये सब मुकुलित है तो समझना चाहिए सूर्य अस्तंगत हो गया है, ऐसा कहा जाता है।

५८११. अब्भ-हिम-वास-महिया-महागिरी-राहु-रेणु-रयछण्णो।

मूढदिसस्स व बुद्धी, चंदे गेहे व तेमिरिए॥

आकाश में बादल हो, हिमपात होता हो, वर्षा या महिका गिर रही हो, पूर्व-पश्चिम दिशा में महान् पर्वत हो, राहु द्वारा ग्रस्त होने पर, रेणु अथवा रजों से आकाश आच्छन्न हो—इन सारे कारणों से सूर्य का उदय और अस्त ज्ञात नहीं होता। तथा कोई दिशामूढ व्यक्ति पश्चिम दिशा को पूर्व दिशा मानता हुआ, सूर्य को नीचे देखकर सूर्य उदित हुआ है, ऐसा जानकर भक्तपान लेता है, खाता है और अंधकार हुआ जानकर सोचता है, मैंने सूर्य के अस्त होने पर खाया है अथवा कोई व्यक्ति तैमिरिक है, घर के भीतर सोकर उठा है, प्रदोष में चन्द्रमा को सूर्य मानकर भोजन कर लेता है, ये सारे कारण सूर्य के उदित होने या अस्तमित होने का भ्रम पैदा करते हैं।

५८१२. सुत्तं पडुच्च गहिते, णातुं इहरा उ सो ण जेण्हंतो।

जो पुण गिण्हति णातुं, तस्सेगट्टाणगं वड्ढे॥

जिसने सूत्र के प्रामाण्य से भक्तपान ग्रहण किया, फिर ज्ञात हुआ कि सूर्य अनुदगत या अस्तमित हो गया था, इस स्थिति में वह सारे भक्तपान का परिष्ठापन कर दे। यदि पहले ज्ञात हो जाता तो वह ग्रहण ही नहीं करता। जो जानने के पश्चात् भी ग्रहण करता है उसके एक स्थान की वृद्धि होती है—प्रायश्चित्त की वृद्धि होती है।

५८१३. सव्वस्स छड्डण विगिंचणा उ मुह-हत्थ-पाददूढस्स।

फुसण धुवणा विसोहण, सकिं व बहुसो व णाणत्तं॥

अनुदित या अस्तंगत जानकर जो मुंह में प्रक्षिप्त है, हाथ में या पात्र में है, उन सबका परिष्ठापन करना वह विवेचना है। हाथ से आमर्शन तथा धोना—कल्प करना—यह विशोधन है। अथवा एक बार परिष्ठापन, स्पर्शन, धावन करना विवेचना है और बहुत बार करना विशोधन है। यही विवेचन और विशोधन में नानात्व है।

५८१४. नातिक्रमती आणं, धम्मं मेरं व रातिभत्तं वा।

अत्तट्टेगागी वा, सय भुंजे सेस देज्जा वी॥

जो विवेचन और विशोधन करता है, वह आज्ञा का, धर्म की मर्यादा का और रात्रीभक्तव्रत का अतिक्रमण नहीं करता। आत्मार्थी या एकाकी मुनि स्वयं खाता है, दूसरों को नहीं देता और जो अनात्मलाभी और अनेकाकी होता है, वह स्वयं भी खाता है और दूसरों को भी देता है।

५८१५. एवं वितिगिच्छो वी, दोहि लहू णवरि ते तु तव-काले।

तस्स पुण हवंति लता, अट्ट असुद्धा ण इतरातो॥

इस प्रकार जो विचिकित्स है उसके विषय में भी यही कथन है। उसके जो तपोर्ह प्रायश्चित्त हैं, वे तप और काल से लघु होते हैं। उसके केवल आठ अशुद्ध लताएं होती हैं, शुद्ध नहीं होतीं, क्योंकि उसका संकल्प शंकित होता है, उसमें प्रतिपक्ष का अभाव होता है।

५८१६. अणुदिय उदिओ किं नु हु, संकप्पो उभयहा अदिट्टे उ।

धरति ण व त्ति व सूरु, सो पुण नियमा चउणहेक्को॥

आदित्य अदृष्ट होने पर यह संकल्प होता है कि क्या सूर्य उदित हो गया अथवा अभी अनुदित है? अस्तयनवेला में भी यही संकल्प होता है कि क्या सूर्य अस्त हो गया अथवा नहीं? इन चार विकल्पों से एक में होता है—सूर्य अनुदित या उदित, अस्तमित या अनस्तमित। भंग इस प्रकार होते हैं—उदय को लेकर विचिकित्सित मनःसंकल्प हो तो विचिकित्सितगवेषी, विचिकित्सितग्राही, विचिकित्सितभोजी—ये आठ भंग होते हैं। इसी प्रकार अस्त को लेकर आठ भंग होते हैं। दोनों अष्टभंगियों में पहला, दूसरा, चौथा और आठवां भंग ग्राह्य हैं, शेष चार भंग अग्राह्य हैं।

५८१७. तव-गेलन्न-ऽद्धाणे, तिविहो तु असंथडी विहे तिविहो।

तवऽसंथड मीसस्सा, मासादारोवणा इणमो॥

असंस्तृत तीन प्रकार के हैं—तपस्या से क्लान्त, ग्लानत्व से असमर्थ, लंबे मार्ग में पर्याप्त न मिलने पर असमर्थ। मार्ग में असंस्तृत के तीन प्रकार हैं—अध्व के प्रवेश में, अध्व के मध्य में तथा अध्व के उत्तर में। तपो असंस्तृत के मासादिक की यह आरोपणा होती है, मिश्र का अर्थ है—विचिकित्सा समापन्न के भी मासादि की आरोपणा करनी चाहिए।

५८१८. एक-दुग-तिणि मासा, चउमासा पंचमास छम्मासा।

सव्वे वि होति लहुगा, एगुत्तरवड्ढिया जेणं॥

यदि संलेखनाशेष ज्ञात हो जाने पर खाता है तो एकमासिक, पांच कवल खाता है तो दुमासिक, दस कवल खाता है तो तीन मासिक, पन्द्रह कवल चार मास, बीस

कवल पंचमास, पचीस कवल छह मास—ये सारे प्रायश्चित्त लघुक हैं क्योंकि ये एकोत्तरवृद्धि से बढ़े हुए हैं।

५८१९.दुविहा य होइ बुद्धी, सद्वाणे चैव होइ परठाणे।
सद्वाणम्मि उ गुरुगा, परठाणे लहुग गुरुगा वा॥

वृद्धि दो प्रकार की होती है—स्वस्थानवृद्धि और परस्थान-वृद्धि। स्वस्थान में गुरुक होते हैं और परस्थान में लघुक और गुरुक—दोनों होते हैं।

५८२०.भिक्षुस्स ततियगहणे, सद्वाणं होइ दब्बनिष्पन्नं।
भावम्मि उ पडिलोमं, गणि-आयरिए वि एमेव॥

भिक्षु के दूसरी बार ग्रहण करने पर द्विमासिक से प्रारंभ कर छेद पर्यन्त, तीसरी बार ग्रहण करने पर त्रैमासिक से स्वस्थान—मूल पर्यन्त—यह द्रव्यनिष्पन्न प्रायश्चित्त है। भाव-निष्पन्न यही प्रतिलोमरूप में होता है। गणी और आचार्य के भी द्रव्य और भावसूत्र दोनों यही प्रायश्चित्त है।

५८२१.एमेव य गेलत्ते, पड्डवणा णवरि तत्थ भिण्णेणं।
चउहि गहणेहिं सपदं, कास अगीतत्थ सुत्तं तु॥

ग्लान असंस्तृत के भी प्रायश्चित्त विधान है। किन्तु इसमें भिन्नमास से प्रस्थापना करनी चाहिए। प्रथम बार पांच लघुमास, द्वितीय बार छह लघुमास, तृतीय बार छेद, चतुर्थ बार मूल। चार बार में भिक्षु को स्वपद प्रायश्चित्त मूल प्राप्त होता है। उपाध्याय के लघुमास से चार बार में अनवस्थाप्य और आचार्य के दो लघुमास से चार बार में पारांचिक। शिष्य ने पूछा—यह किसके लिए प्रायश्चित्त है? आचार्य ने कहा—यह सारा अगीतार्थ का सूत्र है। प्रस्तुत सूत्रोक्त प्रायश्चित्त है।

५८२२.अद्धाणासंथडिए, पवेस मज्झे तहेव उत्तिण्णे।
मज्झम्मि दसगबुद्धी, पवेस उत्तिणि पणएणं॥

अध्वा असंस्तृत के तीन प्रकार हैं—मार्ग के प्रवेश, मध्य और उत्तार में। भिक्षु के संलेक्षणा आदि छह स्थानों में दस रात-दिन से प्रायश्चित्त वृद्धि करनी चाहिए। यह मध्य अध्वा के विषय में है। प्रवेश और उत्तीर्ण अध्वा में पांच रात-दिन से प्रायश्चित्त वृद्धि होती है।

५८२३.उग्गयमणुग्गते वा, गीतत्थो कारणे णऽतिक्रमति।
दूताऽऽहिंडं विहारी, ते वि य होंती सपडिवक्खा॥

गीतार्थ अध्वप्रवेश आदि में कारण उत्पन्न होने पर सूर्य उद्गत या अनुद्गत होने पर भी यतनापूर्वक भोजन करता हुआ आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता। वे अध्वप्रतिपन्न तीन प्रकार के हैं—द्रवन्, आहिंडक, विहारी। ग्रामानुग्राम जाने वाला द्रवन्, सतत भ्रमणशील—आहिंडक, एक मास से विहार करने वाला विहारी। ये प्रत्येक सप्रतिपक्ष होते हैं।

५८२४.दूइज्जंता दुविधा, णिक्कारणिगा तहेव कारणिगा।
असिवादी कारणिता, चक्के थूभाइता इतरे॥

५८२५.उवदेस अणुवदेसा, दुविहा आहिंडगा मुणेयव्वा।
विहरंता वि य दुविधा, गच्छगता निग्गता चैव॥

दूइज्जंत (द्रवन्) दो प्रकार के होते हैं—निष्कारणिक और कारणिक। जो अशिव आदि कारणों से तथा अन्यान्य प्रयोजन से गमन करते हैं वे कारणिक हैं। जो उत्तरापथ में धर्मचक्र, मथुरा में देवनिर्मित स्तूप, कोशला में जीवन्तस्वामी प्रतिमा आदि को देखने के लिए जाते हैं वे निष्कारणिक हैं। आहिंडक के दो प्रकार हैं—उपदेश आहिंडक और अनुपदेश आहिंडक। गुरु के उपदेश से विभिन्न देशों के आचार, भाषा आदि को जानने के लिए घूमने वाले उपदेश आहिंडक कहलाते हैं। कौतुकवश घूमते हैं वे अनुपदेश आहिंडक कहलाते हैं। विहार करने वाले दो प्रकार के हैं—गच्छगत और गच्छनिर्गत। गच्छगत ऋतुबद्धकाल में मास-मास में विहार करते हैं। गच्छनिर्गत दो प्रकार के हैं—विधिनिर्गत और अविधिनिर्गत। विधि निर्गत चार प्रकार के हैं—जिनकल्पिक, प्रतिमाप्रतिपन्न, यथालंदिक और शुद्ध पारिहारिक। अविधि-निर्गत—जो सारणा आदि से त्यक्त हैं, जो एकाकीभूत हैं।

५८२६.निक्कारणिगाऽणुवदेसिगा य लग्गंतऽणुदिय अत्थमिते।
गच्छा विणिग्गता वि हु, लग्गे जति ते करेज्जेवं॥

निष्कारणिक, अनुपदेश आहिंडक तथा गच्छ से अविधि-निर्गत—ये अनुदित या अस्तमित सूर्य के होने पर ग्रहण करते हैं या खाते हैं तो पूर्वोक्त प्रायश्चित्त के भागी होते हैं। यदि गच्छनिर्गत जिनकल्पिक आदि ऐसा करते हैं तो वे भी प्रायश्चित्त से संलग्न होते हैं। परन्तु वे नियमतः वैसा नहीं करते क्योंकि वे त्रिकालविषयक ज्ञान से संपन्न होते हैं।

५८२७.अहवा तेसिं ततियं, अप्पत्तो अणुदितो भवे सूरौ।
पत्तो तु पच्छिमं पोरिसिं च अत्थंगतो होति॥

अथवा उन जिनकल्पिक आदि के तीसरा प्रहर न आने तक सूर्य अनुदित माना जाता है। पश्चिम पौरुषी में प्राप्त सूर्य अस्तंगत माना जाता है। इसलिए उनके भक्त और पंथा तीसरे प्रहर में ही होता है।

५८२८.वितिगिच्छ अन्धसंथड,
सत्थो उ पहावितो भवे तुरियं।

अणुकंपयाए कोई,

भत्तेण निमंतणं कुज्जा॥

अभ्रसंस्तृत अर्थात् हिमपात आदि के कारण सूर्य न दिखाई देने के कारण विचिकित्सा होती है। जिस सार्थ के साथ साधु आए हैं, वह सार्थ वहां से शीघ्र चला जाता है।

एक दूसरा सार्थ आया है। वह अनुकंपावश साधुओं को भक्तपान के लिए निर्मंत्रण देता है। वे सूर्य उदित हुआ या नहीं इस शंका से भक्तपान ग्रहण करते हैं। यहां भी तीन प्रकार से असंस्तृत होने पर वे ही आठ लताएं होती हैं। असंस्तृत अवस्था में निर्विचिकित्सा में उभयगुरुक तपःप्रायश्चित्त प्राप्त होता है। असंस्तृत विचिकित्सा में उभयलघु, शेष सारा प्राग्वत्।

उग्गाल-पदं

इह खलु निग्गंधस्स वा निग्गंधीए वा
राओ वा वियाले वा सपाणे सभोयणे
उग्गाले आगच्छेज्जा, तं विगिंचमाणे वा
विसोहेमाणे वा नो अइक्कमइ। तं
उग्गिलित्ता पच्चोगिलमाणे राईभोयण-
पडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं
परिहारद्वाणं अणुग्घाइयं॥

(सूत्र १०)

५८२९.निसिभोयणं तु पगतं, असंथरंतो बहुं च भोत्तूणं।
उग्गालमुग्गिलिज्जा, कालपमाणा व दव्वं तु॥
पूर्वसूत्र में निशिभोजन का अधिकार था। यहां भी वही कहा जा रहा है। अथवा भूख को सहन न कर सकने के कारण अत्यधिक खाकर रात्री में आने वाले उद्गार को निगल जाता है। उसके प्रतिषेध के लिए प्रस्तुत सूत्र है। पूर्वसूत्र में कालप्रमाण बताया गया था। प्रस्तुत में द्रव्यप्रमाण बताया है।

५८३०.उद्धरे वमिन्ता, आतिअणे पणगवुद्धि जा तीसा।
चत्तारि छ च्च लहु-गुरु, छेदो मूलं च भिक्खुस्स॥
ऊर्ध्वदर-सुभिक्ष में पर्याप्त भोजन कर, उसका वमन कर पुनः एक कवल से पांच कवल तक खाता है उसे चतुर्लघु, यह पंचकवृद्धि तीस पर्यन्त करनी चाहिए। जैसे-छह कवल से दस कवल तक चतुर्गुरु, ग्यारह से पन्द्रह तक षडलघु, सोलह से बीस तक षडगुरु, इक्कीस से पचीस तक छेद, छबीस से तीस तक मूल। यह भिक्षु के लिए प्रायश्चित्त है।

५८३१.गणि आयरिए सपदं, एगग्गहणे वि गुरुग आणादी।
मिच्छत्तऽमच्चबडुए, विराहणा तस्स वऽण्णस्स॥
गणी-उपाध्याय के चतुर्गुरु से स्वपद अर्थात्

अनवस्थाप्य पर्यन्त और आचार्य के षडलघु से स्वपद अर्थात् पारांचिक पर्यन्त जानना चाहिए। रात्री में यदि एक सिक्थ भी खाता है तो चतुर्गुरु और आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं। दूसरों में मिथ्यात्व पैदा होता है। उस वान्ताशी की अथवा दूसरे मुनियों की विराधना होती है। यहां अमात्यबटुक का दृष्टांत है।^१

५८३२.एवं ताव दिवसतो, रातो सित्थे वि चउगुरू होंति।
उद्धरगहणा पुण, अववाते कप्पए ओमे॥

कवलपंचक आदि की बात दिवस संबंधी है। रात्री में एक सिक्थ भी खाने से चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है। ऊर्ध्वदर का ग्रहण इस बात का सूचक है कि अपवादपद में दुर्भिक्ष में उद्गार को निगलना भी कल्पता है।

५८३३.रातो व दिवसतो वा, उग्गाले कत्थ संभवो होज्जा।
गिरिजण्णसंखडीए, अट्टाहिय तोसलीए वा॥

रात में या दिन में उद्गार कहां संभव हो सकता है? सूरी कहते हैं-गिरियज्ञ संखड़ियों में अथवा तोसली देश में अष्टाह्निक उत्सवों में प्रमाणातिरिक्त खाने से उद्गार होता है।

५८३४.अद्धाणे वत्थव्वा, पत्तमपत्ता य जोअण दुगे य।
पत्ता य संखडिं जे, जतणमजतणाए ते दुविहा॥

संखड़ीभोजी साधु दो प्रकार के होते हैं-अध्वप्रतिपन्न और वास्तव्य। वास्तव्य दो प्रकार के हैं-संखड़ीप्रेक्षी और संखड़ीअप्रेक्षी। अध्वप्रतिपन्न दो प्रकार के हैं-वहीं जाने वाले अथवा अन्यत्र जाने वाले। अन्यत्र जाने वाले दो प्रकार के हैं-प्राप्तभूमिक और अप्राप्तभूमिक। प्राप्तभूमिक वे मुनि हैं जो आधे योजन से संखड़ी में पहुंच जाते हैं। अप्राप्तभूमिक वे हैं जो एक योजन से, दो योजन से या बारह योजन से भी संखड़ी में पहुंच जाते हैं। संखड़ी ग्राम को प्राप्त मुनि दो प्रकार के हैं-यतनाप्राप्त और अयतनाप्राप्त। जो सूत्रार्थपौरुषी करते हुए आते हैं वे यतनाप्राप्त हैं और जो सूत्रार्थ का परिहार करते हुए अत्यंत उत्सुकता से आते हैं वे अयतनाप्राप्त हैं।

५८३५.वत्थव्व जतणपत्ता, एगगमा दो वि होंति णेयव्वा।
अजयण वत्थव्वा वि य, संखडिपेही उ एक्कगमा॥

जो वास्तव्य संखड़ीप्रलोकी नहीं हैं और यतनाप्राप्त मुनि हैं-ये दोनों प्रायश्चित्त चारणिका में एकगम वाले होते हैं। जो वास्तव्य संखड़ीप्रलोकी हैं और जो मुनि अयतनाप्राप्त हैं-ये दोनों प्रायश्चित्त चारणिका में एकगम वाले होते हैं।

५८३६.तत्थेव गंतुकामा, वोलेउमणा व तं उवरिएणं।
पदभेद अजयणाए, पडिच्छ उव्वत्त सुतभंगे॥

१. देखें-कथा परिशिष्ट, नं. १३४।

जो मुनि जहां संखड़ी हो, वहीं जाना चाहते हों अथवा उस गांव के ऊपर से निकलना चाहते हों, अथवा पदभेद करते हैं, दिनों की प्रतीक्षा करते हैं पर अवेला में उद्वर्तन करते हैं तब वे अयतना से प्राप्त कहे जाते हैं। क्योंकि वे सूत्रार्थपौरुषी का भंग भी कर लेते हैं।

५८३७.संखडिमभिधारंता, दुगाउया पत्तभूमिगा ह्येति।

जोयणमाई अप्पत्तभूमिया बारस उ जाव।।

यदि संखड़ी का अभिधारण कर जो मुनि दो गव्यूती से आते हैं तब वे प्राप्तभूमिक होते हैं और जो एक योजन से, दो योजन से यावत् बारह योजन से आते हैं वे सारे अप्राप्तभूमिक होते हैं।

५८३८.खेत्ततो खेत्तबहिया, अप्पत्ता बाहि जोयण दुगे य।

चत्तारि अट्ट बारसऽजग्ग सुव विगिंचणाऽऽदियणा।।

जो संखड़ी की बात सुनकर क्षेत्र के अन्तर्गत डेढ़ कोश से आते हैं वे प्राप्तभूमिक हैं और जो क्षेत्र से बाहर एक, दो, चार, आठ और बारह योजन से आते हैं वे अप्राप्तभूमिक हैं। ये सभी संखड़ी में अतिमात्रा में खाकर सो जाते हैं और प्रदोष वेला में भी नहीं जागते। वे वैरात्रिक वेला में भी सोते ही रहते हैं। उद्गार की विगिंचणा नहीं करते, उसी को निगल जाते हैं। इन चार पदों में यह आरोपणा है—

५८३९.वत्थव्व जयणपत्ता, सुद्धा पणगं च भिण्णमासो य।

तव-कालेहिं विसिद्धा, अजतणमादी वि उ विसिद्धा।।

संखड़ीप्रलोकी वास्तव्य मुनि तथा यतनापूर्वक आए हुए आगन्तुक मुनि वहां भोजन कर आचार्य को पूछकर सोते हैं तो वे शुद्ध हैं। वे यदि वैरात्रिक स्वाध्याय नहीं करते तब पांच रातदिन का तपोलघु और कालगुरु का प्रायश्चित्त आता है। यदि वे उद्गार की विगिंचणा कर देते हैं तो भिन्नमास तपोगुरु और काललघु। उद्गार को निगल जाते हैं तो मासलघु तप और काल से गुरु। जो संखड़ी में अयतना से प्राप्त हैं तथा जो संखड़ीप्रलोकी वास्तव्य मुनि हैं—ये दोनों यदि संखड़ी में खा-पीकर सो जाते हैं और प्रादोषिक स्वाध्याय नहीं करते उनको मासलघु तप और काल से लघु। वे वैरात्रिक स्वाध्याय नहीं करते मासलघु और कालगुरुक। उद्गार की विगिंचणा करने पर मासलघु तपोगुरुक। उद्गार को निगलने पर मासगुरु और तप और काल से भी गुरु।

५८४०.तिसु लहुओ गुरु एगो,

तीसु य गुरुओ उ चउलहू अंते।

तिसु चउलहुगा चउगुरु,

तिसु चउगुरु छल्लहू अंते।।

५८४१.तिसु छल्लहुगा छग्गुरु,

तिसु छग्गुरुगा य अंतिमे छेदो।

छेदादी पारंची,

बारसगादीसु त चउक्कं।।

तीन स्थानों—प्रादोषिक स्वाध्याय तथा वैरात्रिक स्वाध्याय न करने, उद्गार विवेचन करने—इनमें लघुमास, उद्गार—निगलने में गुरुमास, अन्यत्र जाने के इच्छुक प्राप्तभूमिक मुनि संखड़ी के लिए अर्द्धयोजन से आए हैं, उनके प्रादोषिक स्वाध्याय आदि तीन स्थानों में मासगुरु, अन्त्यस्थान में चतुर्लघु। जो अप्राप्तभूमिक हैं तथा जो संखड़ी के लिए एक योजन से आए हैं, उनके प्रादोषिक आदि तीन पदों में चतुर्लघु, अन्त्यपद में चतुर्गुरु। जो दो योजन से आए हैं, उनके तीनों पदों में चतुर्गुरु और अन्त्यपद में षडलघु। जो चार योजन से आए हैं उनके तीन पदों में षडलघु और अन्त्यपद में षडगुरु। जो आठ योजन से आए हैं, उनके तीन पदों में षडगुरु और अन्त्यपद में छेद। जो बारहयोजन से आए हैं, उनके प्रादोषिक स्वाध्याय न करने पर छेद, वैरात्रिक न करने पर मूल, उद्गार की विगिंचणा करने पर अनवस्थाप्य और उसे निगलने पर पारांचिक। जो द्वादशयोजन आदि स्थान हैं, प्रत्येक के साथ प्रादोषिक आदि चतुष्क मानना चाहिए। चारों स्थानों में तपोई प्रायश्चित्त, तप और काल से विशेषित जानना चाहिए।

५८४२.खेत्ततो खेत्तबहिया, अप्पत्ता बाहि जोयण दुगे य।

चत्तारि अट्ट बारसऽजग्ग सुव विगिंचणाऽऽदियणा।।

५८४३.पणगं च भिण्णमासो, मासो लहुओ उ पढमतो सुद्धो।

मासो तव-कालगुरु, दोहि वि लहुओ अ गुरुओ य।।

५८४४.लहुओ गुरुओ मासो,

चउरो लहुगा य ह्येति गुरुगा य।

छम्मासा लहु-गुरुगा,

छेदो मूलं तह दुगं च।।

५८४५.जह भणिय चउत्थस्स य,

तह इयरस्स पढमे मुणेयव्वं।

पत्ताण होइ भतणा,

जे जतणा जं तु वत्थव्वे।।

पूर्वोक्त चार गाथाओं (गा. ५८३८-५८४१) में प्रज्ञप्त अर्थ के सुखावबोध के लिए इन चार गाथाओं में प्रस्तार-रचना के प्रारूप का निर्देश दिया गया है।

सर्वप्रथम ऊर्ध्व-अधः क्रम से आठ घरों की स्थापना करें तथा उनमें क्रमशः वास्तव्य यतनाकारी वास्तव्य अयतनाकारी आदि आठ पुरुषों की स्थापना करें। तिर्यक्

दिशा में चार घर बनाए उनमें क्रमशः प्रदोष में न जागना, वैरात्रिक स्वाध्याय काल में सो जाना, आई हुई उद्गार का विवेचन (परित्याग) तथा उद्गार का पुनः निगलना—इन चार पदों की स्थापना करें। इस प्रकार ये बत्तीस घर बन जाते हैं।

प्रथम पंक्ति में द्वितीय घर से क्रमः पनक, भिन्नमास और लघुमास—इन प्रायश्चित्तस्थानों की स्थापना करें। प्रथम पंक्ति का प्रथम घर शुद्ध है। चतुर्थ घर में स्थापित लघुमास तप और काल दोनों से गुरु है। इसी प्रकार प्रथम पद में कथित प्रायश्चित्त दोनों से लघु तथा मध्यम पद का प्रायश्चित्त क्रमशः तप और काल से गुरु होता है। द्रष्टव्य चार्ट—

द्वितीय पंक्ति में तीन घरों में लघुमास तथा चौथे में गुरुमास, तृतीय पंक्ति में प्रथम तीन घरों में गुरुमास तथा चौथे में चतुर्लघु, इस क्रम से सातवीं पंक्ति के चौथे घर में छेद प्रायश्चित्त की स्थापना करें। आठवीं पंक्ति के चार घरों में क्रमशः छेद, मूल, तथा द्विक—अनवस्थाप्य और पारांचिक प्रायश्चित्त की स्थापना करें।

इस प्रकार पूर्व पंक्ति के चतुर्थ स्थान में जो प्रायश्चित्त कहा गया है वही अग्रिम पंक्ति के प्रथम तीन घरों में जानना चाहिए। इसी प्रकार वास्तव्य अयतनाकारी भंग के आधार पर प्राप्तभूमिक (तृतीय पंक्ति) की भजना—भंग रचना करनी चाहिए।

५८४६. एण सुत्त न गतं, सुत्तनिवाते इमे तु आदेसा।

लोही अ ओम पुण्णा, केइ पमाणं इमं बेत्ति॥

यह सारा प्रसंगतः कहा गया है। इससे सूत्र समाप्त नहीं हुआ है। सूत्रनिपात में ये आदेश हैं। आचार्य कहते हैं—गुणकारी होने से थोड़ा खाना चाहिए। कुछेक आचार्य इसका

चार्ट—

प्रमाण यह कहते हैं। यहां 'लोही कवल्ली' का दृष्टांत है।

५८४७. अतिभुत्ते उग्गालो, तेणोमं भुज जण्ण उग्गिलसि॥

छड्डिज्जति अतिपुण्णा, तत्ता लोही ण पुण ओमा॥

अति भोजन करने पर उद्गार आता है। इसलिए थोड़ा खाए, जिससे उद्गार नहीं आएगा। कवल्ली (कड़ाही) को यदि अतिमात्रा में भर देंगे तो अग्नि पर तप्त होकर वह सारा निकल जाएगा। जो कवल्ली कुछ खाली रहेगी तो वैसा नहीं होगा। (यदि कवल्ली (हांडी) में कुछ न्यून डालते हैं तो अग्नि पर गर्म करने पर भी हांडी से बाहर नहीं निकलता। यदि वह कंठ तक भरी है तो उसमें डाला हुआ उबलने पर बाहर निकलेगा ही। इसी प्रकार कम खाने से शरीरांत वायु सुखपूर्वक विचरण कर सकेगी। वह यदि सुखपूर्वक विचरण करती है तो उद्गार नहीं आयेगा। यदि अतिमात्रा में खाते हैं तो अन्तर्वायु के वेग से प्रेरित होकर उद्गार बाहर निकलता है।)

५८४८. तत्तऽत्थमिते गंधे, गलग पडिगते तहा अणाभोए।

एते ण होंति दोण्णि वि, मुहण्णिग्गत पातुमोगिलणा॥

तप्त तवे पर पड़ा जलबिन्दु तत्काल नष्ट को जाता है, इसी प्रकार उतना ही खाना चाहिए जो तत्काल जीर्ण हो जाए। इसी प्रकार दूसरा कहता है—रवि के अस्तमित होने पर जीर्ण हो जाए गंध रहित या सहित उद्गार आता है, वैसा खाना चाहिए। एक कहता है—गले तक उद्गार आकर बिना ज्ञात हुए ही चला जाता है, ऐसा भोजन करना चाहिए। गुरु ने कहा—ये दोनों प्रकार नहीं होते। अर्थात् जो दिन में प्रथम और द्वितीय उद्गार का प्रतिषेध करते हैं और जो रात्री में तीसरे-चौथे उद्गार को मान्य करते हैं—ये दोनों घटित नहीं

	१	२	३	४
	प्रदोषे अजागरण शुद्ध	वैरा. स्वपन पंचक	उद्गार विवे. भिन्नमास	उद्गार प्रत्यवगिलन मासलघु (त.का.गु.)
१. वास्तव्य यतनाकारी	शुद्ध	पंचक	भिन्नमास	मासलघु (त.का.गु.)
२. वास्तव्य अयतनाकारी	लघुमास (त.का.ल.)	लघुमास (त.गु. का.ल.)	लघुमास (त.ल. का.गु.)	गुरुमास (त.का.गु.)
३. प्राप्तभूमिक	गुरुमास	गुरुमास	गुरुमास	चतुर्लघु
४. अप्राप्तभूमिक एक योजन से आगत	चतुर्लघु	चतुर्लघु	चतुर्लघु	चतुर्गुरु
५. दो योजन से आगत	चतुर्गुरु	चतुर्गुरु	चतुर्गुरु	षड्गुरु
६. चार योजन से आगत	षड्लघु	षड्लघु	षड्लघु	षड्गुरु
७. आठ योजन से आगत	षड्गुरु	षड्गुरु	षड्गुरु	छेद
८. बारह योजन से आगत	छेद	मूल	अनवस्थाप्य	पारांचिक

होते। मुख निर्गत उद्गार को जानकर जो उसे निगल जाता है, उसके लिए सूत्र का निपात है।

५८४९. भणति जति ऊणमेवं, तत्तकवल्ले य बिंदुणासणता।

बितिओ न संथरेवं, तं भुंजसुं सूरे जं जिज्जे॥

५८५०. निग्गंधो उग्गालो, ततिए गंधो उ एति ण उ सित्थं।

अविजाणंत चउत्थे, पविसति गलगं तु जो पप्प॥

एक कहता है कि थोड़ा खाना चाहिए जैसे तम तवे पर उदक बिन्दु गिरते ही नष्ट हो जाता है वैसे ही भोजन खाते ही जीर्ण हो जाता है वैसे भोजन करें। दूसरा कहता है—ऐसा करने से तृप्ति न हो तो वैसे भोजन करो जो सूर्यास्त तक जीर्ण हो जाए। तीसरा कहता है वैसे खाओ जिससे अन्नगंधरहित उद्गार आए। एक कहता है उद्गार में गंध आए तो आए, उसके साथ सिकथ न आए वैसे भोजन करो। ये दोनों तीसरा आदेश है। चौथा कहता है—ससिकथ उद्गार गले में प्रवेश कर जाता है तो खा ले। ये चारों अनादेश हैं।

५८५१. पढम-बितिए दिया वी, उग्गालो णत्थि किं पुण निसाए।

गंधे य पडिगते या, ते पुण दो वी अणाएसा॥

पहले और दूसरे आदेश में दिन में भी उद्गार नहीं है तो रात्री की तो बात ही क्या? ये आदेश हैं। गंध आती है तथा उद्गार गले में प्रवेश कर जाता है—ये दोनों अनादेश हैं।

५८५२. पडुपन्नऽणागते वा, संजमजोगाण जेण परिहाणी।

ण वि जायति तं जाणसु, साहुस्स पमाणमाहारे॥

वर्तमान और अनागत काल में जितने भोजन से संयम योगों की परिहानि नहीं होती, उतना मात्र भोजन करना, उसको तुम साधु के आहार का प्रमाण जानो।

५८५३. एवं पमाणजुत्तं, अतिरेगं वा वि भुंजमाणस्स।

वायादीखोभेण व, एज्जाहि कंहंचि उग्गालो॥

इस प्रकार प्रमाणयुक्त आहार करता हुआ अथवा कारणवश अतिरेक आहार लेता हुआ वायु आदि के क्षोभ से कथंचित् उद्गार आता है तो क्या करना चाहिए?

५८५४. जो पुण सभोयणं तं, दवं व णाऊण णिग्गतं गिलति।

तहियं सुत्तनिवाओ, तत्थाऽऽएसा इमे होंति॥

जो उस उद्गार को सभोजन या द्रवरूप में आया हुआ जानकर मुख से आने पर भी उसे निगल जाता है, उसके लिए प्रस्तुत सूत्र का निपात है। वहां ये आदेश होते हैं।

५८५५. अच्छे ससित्थ चब्बिय,

मुहणिग्गतकवल भरियहत्थे य।

अंजलि पडिते दिट्ठे,

मासादारोवणा चरिमं॥

ससिकथ द्रव मुंह से निकला है और वह उसे चबाता है तो चतुर्लघु, मुखनिर्गतकवल एक हस्तपुट में भरा गया उसे निगलता है तो षड्गुरु, अंजली भरने के पश्चात् नीचे भूमी पर गिरा हुआ निगलता है तो छेद। यह सारा अदृष्ट का प्रायश्चित्त है, दृष्ट का प्रायश्चित्त इससे गुरु है। यह भिक्षु के विषय का है। उपाध्याय के लिए मासगुरु से प्रारंभ कर अनवस्थाप्य पर्यन्त और आचार्य के चतुर्लघु से चरम-पारांचिक पर्यन्त। इस प्रकार मास आदि से चरम पर्यन्त आरोपणा माननी चाहिए।

५८५६. दिव्य रातो लहु-गुरुगा, बितियं रयण सहितेण दिट्ठंतो।

अद्धाणसीसए वा, सत्थो व पहावितो तुरियं॥

अथवा ससिकथ या असिकथ दृष्ट या अदृष्टरूप में दिन में निगलता है तो चतुर्लघु, रात्री में चतुर्गुरु। द्वितीयपद में—कारण में वान्त को पीने पर भी कोई प्रायश्चित्त नहीं है। यहां रत्नसहित वणिक् का दृष्टांत है। अध्वशीर्षक—मार्ग के अंत में मनोज्ञ भोजन किया। उसका वमन हो गया। अन्यत्र वह प्राप्त नहीं होता। सार्थ त्वरित गति से चला गया। तब उसी वान्त भोजन को सुगंधित कर खा लिया जाता है।

५८५७. जल-थलपहेसु रयणाणुवज्जणं तेण अडविपच्चंते।

निक्खणण फुट्टपत्थर, मा मे रयणे हर पलावो॥

५८५८. घेत्तूण णिसि पलायण, अडवी मडदेहभावितं तिसितो।

पिबिउ रयणाण भागी, जातो सयणं समागम्म॥

एक रत्नवणिक् ने जल-स्थल पथ से गुजरते हुए रत्न उपार्जित किए। घर लौटते समय म्लेच्छ देश की एक अटवी पार करनी थी। उसमें म्लेच्छ जाति के लोग रहते थे। वे चोरी कर आजीविका चलाते थे। उस रत्नवणिक् ने चोरों के भय से एक स्थान पर उत्खनन कर रत्न उसमें गाड़ दिए और पत्थर के टुकड़ों को कपड़े में बांधकर चला। अटवी में वह 'मेरे रत्नों का हरण मत करो'—यह प्रलाप करता हुआ जा रहा था। चोरों ने पूछा—रत्न कहां हैं। उसने पत्थर के टुकड़े दिखाए। चोरों ने उसे पागल समझ कर छोड़ दिया। रात्री में वह गाड़े हुए रत्नों को लेकर पलायन कर गया। अटवी में प्यास से वह व्याकुल हो उठा। वहां मृत कलेवरों से भरे पानी के कुंड से उसने दुर्गन्धित पानी पीया और रत्नों को सुरक्षित लेकर अपने स्वजनों से जा मिला।

५८५९. वणियत्थाणी साहू, रतणत्थाणी वता तु पंचेव।

उदयसरिसं च वंतं, तमादितुं रक्खते ताणि॥

वणिक् स्थानीय साधु, रत्नस्थानीय पांच महाव्रत, तस्करस्थानीय चोर, उदकसदृश वान्त, उसको कारणवश खाकर उन महाव्रतों की रक्षा करता है।

५८६०.दिवरातो अण्ण गिण्हति,

असति तुरंते व सत्थे तं चेव।

णिसि लिंगेणऽण्णं वा,

तं चेव सुगंधदब्बं वा॥

मनोज्ञ आहार खाया परंतु वमन हो गया तो दिन या रात में दूसरा ग्रहण करता है। न मिलने पर अथवा सार्थ का त्वरित गति से चले जाने पर रात्री में अन्यलिंग के वेश में दूसरा ग्रहण कर लेता है। वह भी प्राप्त न होने पर उसी वमन को सुगंधित द्रव्यों से वासित कर खा लेने में कोई दोष नहीं है।

आहारविहि-पदं

निग्गंथस्स य गाहावइकुलं पिंडवाय-
पडियाए अणुप्पविट्ठस्स अंतोपडिग्गहंसि
पाणे वा बीए वा एए वा परियावज्जेज्जा, तं
च संचाएइ विगिंचित्तए वा विसोहेत्तए वा
तं पुब्बामेव लाइया विसोहिया विसोहिया
ततो संजयामेव भुंजेज्ज वा पिबेज्ज वा। तं
च नो संचाएइ विगिंचित्तए वा विसोहेत्तए
वा तं नो अप्पणा भुंजेज्ज नो अण्णेसिं
दावए, एगंते बहुफासुए पएसे पडिलेहिता
पमज्जेत्ता परिट्ठवेयव्वे सिया॥

(सूत्र ११)

५८६१.वंतादियणं रत्तिं, णिवारितं दिवसतो वि अत्थेणं।

वंतमणेसियगहणं, सिया उ पडिवक्खओ सुत्तं॥

रात्री में वान्त का आपान करना निवारित है तथा दिन में भी अर्थात्: निवारित है। अनेषणीय भक्त-पान भी साधुओं द्वारा वान्त ही है, अतः वह प्रस्तुत सूत्र में प्रतिषिद्ध है। प्रस्तुत सूत्र स्याद् प्रतिपक्षतः अथवा अप्रतिपक्षतः। प्रतिपक्षतः जैसे—पूर्वसूत्र में रात्री में वान्तापान निवारित है, प्रस्तुत सूत्र में दिन में अनेषणीय वान्त का ग्रहण निषिद्ध है। अप्रतिपक्षतः जैसे—पूर्वसूत्र में वान्त का प्रत्यापान अयुक्त है, प्रस्तुत सूत्र में भी वान्त अनेषणीय का ग्रहण अयुक्त माना गया है।

५८६२.पाणग्गहणेण तसा, गहिया बीएहि सब्ब वणकाओ।

रतगहणा होति मही, तेऊ व ण सो चिरड्ढाई॥

यहां प्राणग्रहण से त्रस गृहीत हैं। बीजग्रहण से सम्पूर्ण वनस्पतिकाय सूचित है। रजोग्रहण से पृथ्वीकाय गृहीत है

तथा तेजःकाय चिरस्थायी नहीं होता अतः उसका विवेचन आदि नहीं होता।

५८६३.ते पुण आणिज्जंते, पडेज्ज पुब्बिं व संसिया दब्बे।

आगंतु तुब्भवा वा, आगंतूहिं तिमं सुत्तं॥

वे त्रस आदि जीव लाये जाने वाले भक्तपान में गिर जाते हैं, अथवा पहले ही ये जीव भक्तपान में स्थित होते हैं। वे दो प्रकार के हैं—आगंतुक और उससे उद्भूत। प्रस्तुत सूत्र आगंतुक त्रस आदि विषयक है।

५८६४.रसता पणतो व सिया,

होज्ज अणागंतुगा ण पुण सेसा।

एमेव य आगंतू,

पणगविवज्जा भवे दुविहा॥

रसज और पनक आदि—ये अनागंतुक अर्थात् तद् उद्भव होते हैं, शेष पृथ्वीकायिक आदि जीव नहीं। इसी प्रकार पनक विवर्जित दो प्रकार के जीव—त्रस और स्थावर—ये सारे आगंतुक होते हैं।

५८६५.सुत्तम्मि कड्ढियम्मिं, जयणा गहणं तु पडितो दट्ठव्वो।

लहुओ अपेक्खणम्मिं, आणादि विराहणा दुविहा॥

‘सुत्तम्मि कड्ढियम्मिं’—सूत्र का आकर्षण अर्थात् सूत्र का उच्चारण कर, पदच्छेद कर यह सूत्रार्थ है ऐसा कहना। तत्पश्चात् साधु यतना से भक्तपान का ग्रहण करे। यतना यह है—गृहस्थ के हाथ में जो पिंड है उसका निरीक्षण करे। शुद्ध हो तो ग्रहण करे। फिर पात्र में गिरे हुए उस पिंड को देखे। यदि प्रेक्षा नहीं की जाती तो लघुमास का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष। इसमें संयमविराधना और आत्म-विराधना—दोनों होती हैं।

५८६६.अहिगारो असंसत्ते, संकप्पादी तु देस संसत्ते।

संसज्जिमं तु तहियं, ओदण-सत्तू-दधि-दवाई॥

जिस देश में भक्तपान त्रसजीवों से संसक्त नहीं होता वहां असंसक्त का अधिकार है अर्थात् साधुओं को वहीं विहरण करना चाहिए। संसक्त देश में संकल्प आदि पद होते हैं उसका प्रायश्चित्त होता है। वहां संसक्तियोग्य ओदन, सक्त, दही, द्रव आदि द्रव्य होते हैं।

५८६७.संकप्पे पयभिंदण, पंथे पत्ते तहेव आवण्णे।

चत्तारि छच्च लहु गुरु, सट्ठणं चेव आवण्णे॥

जिस देश में भक्त आदि प्राणियों से संसक्त होते हैं, वहां जाने का संकल्प करने पर चतुर्लघु, पदभेद करने पर चतुर्गुरु, मार्ग में चलने पर षड्लघु, उस देश में चले जाने पर षड्गुरु, वहीं द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों का संघट्टन करने पर स्वस्थान प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

५८६८. असिवादि एहिं तु तहिं पविद्धा,
संसज्जिमाइं परिवज्जयंति।
भूइद्धसंसज्जिमदव्वलंभे,
गेण्हंतुवाएण इमेण जुत्ता ॥

अशिव आदि कारणों से संसक्तदेश में प्रविष्ट होने पर संसज्जिम-संसक्त द्रव्य का परिवर्जन करते हैं। वहां यदि संसज्जिम द्रव्य प्रभूततर प्राप्त होते हों तो इन उपायों से युक्त होकर ग्रहण करें।

५८६९. गमणाऽऽगमणे गहणे, पत्ते पडिए य होति पडिलेहा।
अगहिय दिट्ठ विवज्जण, अह गिण्हइ जं तमावज्जे ॥

भिक्षा के लिए गमनागमन करने, दायक के हाथ से ग्रहण करने, दायक के हस्तगत पिंड को देखने, पात्र-पतित पिंड का निरीक्षण करने तथा उसका प्रत्युपेक्षण करना चाहिए। यदि अगृहीत पिंड में त्रस आदि देखा जाए तो उसका विवर्जन कर देना चाहिए। यदि ग्रहण कर लिया जाता है तो उससे निष्पन्न प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

५८७०. पाणाइ संजममिं, आता मयमच्छि कंटग विसं वा।
मूइंग-मच्छि-विच्छुग-गोवालियमाइया उभए ॥

त्रस प्राणी की विराधना होती है यह संयमविराधना। आत्मविराधना में मृतमक्षिका आदि संमिश्र भोजन करने पर रोग उत्पन्न होता है, भोजन में कंटक या विष भी हो सकता है। पिपीलिका, मक्खी, बिच्छु, गोपालिक आदि जीवों को भक्त के साथ खा लेने पर संयमविराधना, आत्मविराधना तथा मेधा आदि का उपघात होता है।

५८७१. पवयणघातिं व सिया, तं वियडं पिसियमद्धजातं वा।
आदाण किलेसऽयसे, दिट्ठतो सेट्टिकव्वहे ॥

गृहस्थ शत्रुभाव से विकट-मद्य, मांस तथा अर्थजात-स्वर्ण आदि भी दे सकता है। इससे प्रवचन का उपघात होता है। इसलिए पतित पिंड का प्रत्युपेक्षण करना चाहिए। प्रत्युपेक्षण न करने पर वह अर्थजात किसी के लिए 'आदान'-आजीविका का साधन भी बन सकता है। अर्थजात का ग्रहण हो जाने पर उसके रक्षण का महान् क्लेश उठाना पड़ता है, अयश होता है। यहां काष्ठश्रेष्ठी का दृष्टांत है।

५८७२. तम्हा खलु दद्वव्वो, सुक्खग्गहणं अगिण्हणे लहुगा।
आणादिणो य दोसा, विराहणा जा भणिय पुव्विं ॥

इसलिए निश्चितरूप से पात्र पतित पिंड को देखना चाहिए। अन्य पात्र में शुष्ककूर का ग्रहण करना चाहिए। न करने पर चतुर्लघु और आज्ञाभंग आदि दोष और पूर्वकथित आत्मविराधना और संयमविराधना-दोनों होती हैं।

५८७३. संसज्जिममिं देसे, मत्तग सुक्ख पडिलेहणा उवरिं।
एवं ताव अणुण्हे, उण्हे कुसणं च उवरिं तु ॥

संसज्जिम देश में शुष्क पिंड मात्रक में लेकर उसकी प्रत्युपेक्षा करे और उसे प्रतिग्रह के ऊपर डाल दे। यह अनुष्ण की विधि है। उष्ण कूर या कुसण हो वह असंसक्त ही होता है, उसे प्रतिग्रह के सभी द्रव्यों से ऊपर ग्रहण करे।

५८७४. गुरुमादीण व जोग्गं, एगम्मिंतरमि पेहिउं उवरिं।
दोसु वि संसतेसुं, दुल्लह पुव्वेतरं पच्छा ॥

गुरु आदि के योग्य एक पात्र में ग्रहण करे, दूसरे पात्र में संसक्त पिंड की प्रत्युपेक्षा कर ऊपर ग्रहण करे। यदि भक्त-पान दोनों संसक्त हों, तो जो भक्त-पान दुर्लभ हो वह पहले ग्रहण करे और जो सुलभ हो उसको पश्चात्।

५८७५. एसा विही तु दिट्ठे,

आउट्टियगेण्हणे तु जं जत्थ।

अणभोगगह विगिंचण,

खिप्पमविचिंति य जं जत्थ ॥

यह विधि दृष्ट-ग्रहण की है। अप्रत्युपेक्षित संसक्त ग्रहण करने पर जहां जो परितापना आदि होती है, उसका प्रायश्चित्त आता है। अज्ञानकारी में संसक्त ग्रहण करने पर उसकी शीघ्र ही परिष्ठापना करनी चाहिए। यदि शीघ्र परिष्ठापना नहीं की जाती तो जब तक जिस प्राणी का विनाशन होता है उसका यथायोग्य प्रायश्चित्त आता है।

५८७६. सत्त पदा गम्मंते, जावति कालेण तं भवे खिप्पं।
कीरंति व तालाओ, अद्दुयमविलंबितं सत्ता ॥

क्षिप्र का अर्थ है उतना समय जितने समय में सात पैर जाया जाए। जितने काल में अद्भुत-अविलंबित सात ताल किये जाते हैं उतना काल विशेष क्षिप्र कहलाता है।

५८७७. तम्हा विविंचितव्वं, आसन्ने वसहि दूर जयणाए।
सागारिय उण्ह ठिए, पमज्जणा सत्तुग दवे य ॥

इसलिए प्राणीसंसक्त द्रव्य का परिष्ठापन कर देना चाहिए। यदि वसति निकट हो तो वहां परिष्ठापन कर दे। अथवा वसति दूर हो तो शून्यगृह आदि यतनापूर्वक परित्याग कर देना चाहिए। यदि सागारिक देख रहा हो और भूभाग उष्ण हो, तथा मुनि वहां खड़ा-खड़ा परिष्ठापित करता है तो प्रायश्चित्त का भागी होता है। परिष्ठापन भूमी का प्रमार्जन करना चाहिए। सत्तू और द्रव का परिष्ठापन छाया में करना चाहिए।

५८७८. जावइ काले वसहिं, उवेति जति ताव ते ण विट्ठति।
तं पि अणुण्हमदवं तो, गंतूणमुवस्सए एडे ॥

जितने समय में वसति में पहुंचता है उतने समय में यदि प्राणी विनष्ट नहीं होते तो वसति में ले जाएं। वह द्रव्य अनुष्ण और अद्रव होना चाहिए। अनुष्ण और अद्रव द्रव्य उपाश्रय में ले जाकर 'एडयेत्'—परिष्ठापन कर दे। उष्ण और द्रव पदार्थ शून्यगृह में परिष्ठापित करे। यदि वसति दूर हो तो अनुष्ण भी शून्यगृह में परिष्ठापित करे।

५८७९. सुष्णघरादीणऽसती, दूरे कोण वतिअंतरीभूतो।

ऊकडु पमज्ज छाया, वति-कोणादीसु विक्खिरणं॥

यदि शून्यगृह न हों तो दूर एकान्त में जाकर, वृत्ति से अन्तरित होकर एक कोने में ऊकडू बैठकर, भूमी को प्रमार्जित कर, छाया में वृत्ति के कोने में परिष्ठापित कर दे।

५८८०. सागारिय उण्ह ठिए, अपमज्जंते य मासियं लहुगं।

वोच्छेदुड्ढाहादी, सागारिय सेसए काया॥

सागारिक वहां हो, उष्ण प्रदेश में स्थित होकर यदि अप्रमार्जित भूमी में परिष्ठापित करता है तो लघुमास। सागारिक के देखते परिष्ठापित करने पर भक्तपान का व्यवच्छेद और उड्ढाह आदि होता है। शेष अर्थात् उष्णादि त्रय में परिष्ठापित करने पर पृथिवी आदि काय की विराधना होती है।

५८८१. इइ ओअण सत्तुविही, सत्तू तद्विणकतादि जा तिण्णि।

वीसुं वीसुं गहणं, चतुरादिदिणाइ एगत्थ॥

यह ओदन जो संसक्त हो, उसके परिष्ठापन की विधि कही गई है। संसक्त सत्तू के परिष्ठापन की विधि यह है। उसी दिन बने हुए सत्तू ग्रहण करे। दूसरे, तीसरे दिन बने हुए सत्तू ग्रहण करने हों तो पृथक्-पृथक् ग्रहण करने चाहिए। तत्पश्चात् चार दिन आदि में बने हुए सत्तू एकत्र ग्रहण किए जा सकते हैं। उनकी प्रत्युपेक्षणा विधि भिन्न है।

५८८२. नव पेहातो अदिट्ठे, दिट्ठे अण्णाओ होंति नव चेव।

एवं नवगा तिण्णी, तेण परं संथरे उज्जे॥

यदि उन सत्तूओं की नौ बार प्रत्युपेक्षणा करने पर भी प्राणजातीय न दिखाई दें तो वे सत्तू खाए जा सकते हैं। यदि दिखाई दें तो पुनः नौ बार प्रत्युपेक्षा करे। फिर तीसरी बार नौ प्रत्युपेक्षा कर उन्हें खाए। यदि शुद्ध न हों तो उनका परिष्ठापन कर दे। यदि उनके बिना निर्वाह न हो तो और प्रत्युपेक्षा तब तक करे, जब तक वे शुद्ध न हों।

५८८३. आगरमादी असती, कप्परमादीसु सत्तुए उरणी।

पिंडमलेवाडाण य, कातूण दवं तु तत्थेव॥

यदि सत्तूओं में जीव-जन्तु हों तो आकर आदि में परिष्ठापित करें। यदि आकर न हों तो कर्पर आदि में सत्तू

रखकर, चारों ओर पाल बांधकर अनाबाध प्रदेश में रख दें। जो सत्तू शुद्ध हों और अलेपकृत हों उन्हें पिंडित कर, उसी पात्र में द्रव पदार्थ लेकर उसके साथ उसे खा ले।

५८८४. आयामु संसद्धुसिणोदगं वा,

गिण्हंति वा णिव्वुत चाउलोदं।

गिहत्थभाणेषु व पेहिऊणं,

मत्ते व सोहेत्तुवरिं छुभंति॥

कांजी यदि संसक्त हो जाए तो आयाम-अवसावण, संसृष्टपानक-गोरस के बर्तन का धावन, निर्वृत्त उष्णोदक, चाउलोदक ग्रहण करते हैं। इनके अभाव में उसी कांजी का गृहस्थ के भाजन में प्रत्युपेक्षणा करे, उसको स्वयं के पात्र में डालकर शोधित करे, यदि असंसक्त हो तो उसे पात्र के ऊपर प्रक्षिप्त करे।

५८८५. बिइयपद अपेक्खणं तू,

गेलण्ण-ऽद्धाण-ओममादीसु।

तं चेव सुक्खगहणे,

दुल्लभ दव दोसु वी जयणा॥

अपवादपद में ग्लानत्व, अध्वा, अवम आदि कारणों में पिंड का अप्रत्युपेक्षण भी विहित है। यह द्वितीय पद शुष्क ओदन के ग्रहण के विषय में मानना चाहिए। यदि द्रव पदार्थ दुर्लभ हो और वह पहले ले लिया गया हो, शुष्क के लिए दूसरा पात्र न हो तो दोनों—अप्रत्युपेक्षणा और शुष्कग्रहण के विषय में यह यतना करनी चाहिए।

५८८६. अच्चाउर सम्मूढो, वेलाऽतिक्रमति सीयलं होइ।

असद्धो गिण्हण गह्ति, सुज्जेज्ज अपेक्खमाणो वि॥

कोई मुनि अतीव ग्लानत्व के कारण समूढ है और वह जितनी वेला में प्रत्युपेक्षण करता है, उतने में वेला अतिक्रान्त हो जाती है और वह पदार्थ शीतल हो जाता है। इस अशठ-विशुद्धभाव से ग्रहण करता हुआ या गृहीत पिंड की प्रत्युपेक्षणा न करता हुआ भी वह शुद्ध है, उसे प्रायश्चित्त नहीं आता।

५८८७. ओमाणपेल्लितो वेलाऽतिक्रमो चलिउमिच्छति भयं वा।

एवंविहे अपेहा, ओमे सतिकाल ओमाणे॥

कोई सार्थ 'अवमानप्रेरित' अर्थात् अनेक भिक्षाचरों से आकीर्ण है, जितने समय में प्रत्युपेक्षा की जाती है उतने समय में वह सार्थ वहां से चल पड़ता है। उसके पश्चात् जाने से भय बना रहता है। ऐसी स्थिति में अप्रेक्षा-प्रत्युपेक्षा के बिना भी पिंड लिया जा सकता है। अवम में प्रत्युपेक्षा करने पर 'सत्काल'—भिक्षाकाल बीत जाता है अथवा अवमान-भिक्षाचरों से भर जाता है।

५८८८.तो कुञ्जा उवओगं, पाणे द्दूण तं परिहरेज्जा।
कुञ्जा ण वा वि पेहं, सुज्झइ अतिसंभमा सो तु॥

यदि उपरोक्त कारणों से प्रत्युपेक्षा नहीं होती है तो उपयोग करना चाहिए। यदि उपयोग करने पर प्राणी दिखाई दें तो उस भक्त-पान का परिहार कर देना चाहिए। वह प्रेक्षा करे या न करे, अति-संभ्रम के कारण वह मुनि शुद्ध है।

५८८९.वीसुं घेप्पइ अतरंतगस्स बितिए दवं तु सोहेति।
तेण उ असुक्खगहणं, तं पि य उण्हेयरे पेहे॥

ग्लान के लिए पृथक् पात्र में लिया जाए। द्वितीय पात्र में द्रव का शोधन किया जाए। तीसरा पात्र न होने के कारण उसी पात्र में शुष्क भी ले ले। दोनों-द्रव और शुष्क एक ही पात्र में आ जायेंगे। वह भी उष्ण ले। इतरत् शीतल की प्रत्युपेक्षा करे। यदि वह असंसक्त हो तो ले, अन्यथा नहीं।

५८९०.अद्धाणे ओमे वा, तहेव वेलातिवातियं गातुं।
दुल्लभदवे व मा सिं, धोवण-पियणा ण होहिंति॥

अध्वा में, अवमौदर्य में, वेला का अतिक्रम जानकर तथा शुष्क को पृथक् ग्रहण न करे। द्रव प्राप्त होना दुर्लभ है इसलिए साधुओं को पात्र धोने या पीने के लिए अभाव न हो, इसलिए शुष्क और द्रव एक ही पात्र में ले।

५८९१.आउट्टिय संसत्ते,

देसे गेलण्णऽद्धाण कक्खडे अखिप्पं।

इयराणि य अद्धाणे,

कारण गह्दिते य जतणाए॥

‘आकुट्टी से’ अर्थात् जानते हुए भी संसक्त देश में जाते हैं और संसक्त पानक लेते हैं और ग्लानत्व, अध्वा, कर्कश-अवमौदर्य में उसका शीघ्र परित्याग नहीं करते। ‘इतर’ सागारिक के देखते परिष्ठापन करना आदि अध्वा में करते हैं। कारण में उस गृहीत संसक्त पानक का यतनापूर्वक विवेचन-विधि ज्ञातव्य है।

५८९२.आउट्टि गमण संसत्त गिण्हणं न य विविंचए खिप्पं।

ओम गिलाणे वेला, विहम्मि सत्थो वइक्कमइ॥

आकुट्टि-संसक्त देश में गमन, संसक्त ग्रहण और उसका क्षिप्र विगिंचणा न करना-यह मान्य है। क्योंकि अवमौदर्य में वेला बीत जाती है, ग्लान के लिए वेला का अतिक्रमण हो जाता है, मार्ग में सार्थ व्यतिक्रान्त हो जाता है, अतः संसक्त का क्षिप्र परित्याग नहीं करना चाहिए।

५८९३.असिवादी संसत्ते, संकप्पादी पदा तु जह सुज्झे।

संसद्ध सत्तु चाउल, संसत्तऽसती तहा गहणं॥

अशिव आदि कारणों से संसक्त देश में संकल्प आदि पदों को करने वाला भी शुद्ध है। यदि वहां असंसक्त पानक

प्राप्त न हो तो संसक्त पानक, तंदुलोदक, संसक्त सक्तू को ग्रहण करे।

५८९४.ओवग्गहियं चीरं, गालणहेउं घणं तु गेण्हंति।

तह वि य असुज्झमाणे, असती अद्धाणजयणा उ॥

औपग्रहिक चीवर अर्थात् सघन चीवर संसक्त पानक को छानने के लिए ग्रहण किया जाता है। यदि उससे भी छानने पर शुद्ध नहीं होता है और न तंदुलधावन आदि प्राप्त होता है तो मार्ग में जाते हुए जो पानकयतना गाथा २९२२ में कही गई है, वह करणीय है।

५८९५.संसत्त गोरसस्सा, ण गालणं णेव होइ परिभोगो।

कोडिदुग-लिंगमादी, तहिं जयणा णो य संसत्तं॥

यदि संसक्त गोरस प्राप्त होता है तो न उसको छानना चाहिए और न उसका परिभोग करना चाहिए। किन्तु दो कोटियों-विशोधिकोटि से तथा अविशोधिकोटि से भक्तपान ग्रहण करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। अन्यलिङ्ग करके भी भक्तपान का उत्पादन करे किन्तु संसक्त गोरस ग्रहण न करे।

५८९६.सागारिय सव्वत्तो, णत्थि य छाया विहम्मि दूरे वा।

वेला सत्थो व चले, ण गिसीय-पमज्जणे कुञ्जा॥

मार्ग में जाते हुए चारों ओर सागारिक हैं, छाया नहीं है, अथवा दूर मार्ग पर छाया है, वहां तक पहुंचने पर वेला अतिक्रान्त हो जाती है, सार्थ प्रस्थित हो जाता है, वहां न बैठे, न प्रमार्जन करे। ऐसी स्थिति में उष्ण भूभाग में भी परिष्ठापन कर दे।

पाणगविहि-पदं

निग्गंथस्स य गाहावइकुलं पिंडवाय-
पडियाए अणुप्पविट्ठस्स अंतोपडिग्गहंसि
दए वा दगरए वा दगफुसिए वा
परियावज्जेज्जा, से य उसिणे भोयणजाए
भोत्तव्वे सिया, से य सीए भोयणजाए तं नो
अप्पणा भुंजेज्जा, नो अन्नेसि दावए, एगंते
बहुफासुए पएसे पडिलेहिता पमज्जिता
परिट्ठवेयव्वे सिया॥

(सूत्र १२)

५८९७.आहारविही वुत्तो, अयमण्णो पाणगस्स आरंभो।
कायचउक्काऽऽहारे, कायचउक्कं च पाणम्मि॥

पूर्वसूत्र में आहारविधि का निरूपण किया गया है। यह अन्य पानकविधि का सूत्रारंभ किया जाता है। आहार के सूत्र में काय-चतुष्क का ग्रहण किया गया है—प्राणग्रहण से त्रस, बीजग्रहण से वनस्पति, रजोग्रहण से पृथ्वी और अग्निकाय। प्रस्तुत सूत्र में भी कायचतुष्क—शीतोदक अप्काय, उष्णोदक अग्निकाय, नालिकेरपानक आदि वनस्पतिकाय, दुग्ध—त्रस-काय। पानक में भी ये चार काय हैं।

५८९८. परिमाणे नाणत्तं, दग्बिंदुं दगरयं वियाणाहि।

सीभरमो दग्फुसितं, सेसं तु दगं दव खरं वा॥

इनके परिमाण में नानात्व है। दक बिन्दु को दकरज जानो। सीभर को दकस्पर्शित जानो। शेष जो प्रभूत उदक है उसे दक कहते हैं। वह द्रव या खर कहलाता है।^१

५८९९. एमेव बितियसुत्ते, पलोगणा गिण्हणे य गृहिते य।

अणभोगा अणुकंपा, पंतत्ता वा दगं देज्जा॥

पूर्वसूत्र से यह द्वितीय सूत्र है। पानक को ग्रहण करते या ग्रहण कर लेने पर प्रत्युपेक्षण करना चाहिए। उदक तीन कारणों से दिया जाता है—अनाभोग-विस्मृति के कारण, अनुकंपावश, प्रत्यनीकता से।

५९००. सुद्धम्मि य गहियम्मी, पच्छा णाते विगिंचए विहिणा।

मीसे परूविते उण्ह-सीतसंजोग चउभंगो॥

यदि वह उदक शुद्ध पात्र में लिया गया है, फिर ग्रहण करने के पश्चात् यह ज्ञात हुआ कि यह शुद्ध नहीं है तो विधिपूर्वक उसका परिष्ठापन कर दे। मिश्र अर्थात् पात्र में पहले उष्ण द्रव लिया हुआ है, पश्चात् पानी ले लिया गया, वह मिश्र कहलाता है। उष्ण-शीत के संगम से चतुर्भंगी होगी।

५९०१. तत्थेव भायणम्मी, अलब्भमाणे व आगरसमीवे।

सपडिग्गहं विगिंचइ, अपरिस्सव उल्लभाणे वा॥

रिक्त पात्र में जो उदक लिया उसके परिष्ठापन की यह विधि है। गृहस्थ ने जिस भाजन से वह उदक दिया है, उसी में उसको डाल दे। यदि गृहस्थ उस पात्र में न डालने दे तो उसे आकर के समीप जाकर उसकी परिष्ठापना कर दे। या पात्र सहित उसको वृक्ष की छाया में रख दे। यदि अन्य पात्र न हो तो अपरिस्रावी आर्द्र भाजन में डाल दे।

५९०२. दव्वं तु उण्हसीतं, सीउण्हं चेव दो वि उण्हाइं।

दुण्णि वि सीताइं चाउलोद तह चंदण घते य॥

१. कांजिक और पानी का पात्र पास-पास रखे हुए हैं। कोई विस्मृतिवश कांजिक के बदले पानी दे देता है। ग्रीष्म का समय। अनुकंपावश शीतल पानी दे देता है। कोई प्रत्यनीकता से जानबूझकर कांजिक के बदले पानी दे देता है।

२. सुत्त—मदिरा खोल यह देशविशेष में प्रसिद्ध कोई द्रव्य-विशेष। (वृ. पृ. १५५७)

द्रव्य के चार प्रकार हैं—

१. उष्ण-शीत ३. उष्ण-उष्ण

२. शीत-उष्ण ४. शीत-शीत।

चाउलोदक, चंदन और घृत—ये शीत-शीत होते हैं।

५९०३. आयाम अंबकंजिय,

जति उसिणाणुसिण तो विवागे वी।

उसिणोदग-पेज्जाती,

उसिणा वि तणुं गता सीता॥

आयाम, अम्लकांजी—ये यदि उष्ण हैं तो इनका विपाक भी उष्ण ही होता है, उष्णोदक-पेय आदि द्रव्य उष्ण होने पर भी शरीर में जाकर शीत हो जाते हैं।

५९०४. सुत्ताइ अंबकंजिय-घणोदसी-तेल्ल-लोण-गुलमादी।

सीता वि होंति उसिणा, दुहतो वुण्हा व ते होंति॥

सुत्त^२—मदिराखोल, अम्लकांजी, अम्लघनविकृति—अम्ल-तक्र, तैल, लवण, गुड़ आदि—ये द्रव्य शीत होने पर भी उष्ण परिणाम वाले होते हैं। ये सारे द्वितीय भंग में आते हैं। तृतीय भंग में उष्ण और उष्ण परिणाम वाले द्रव्य आते हैं।

५९०५. परिणामो खलु दुविहो, कायगतो बाहिरो य दव्वाणं।

सीओसिणत्तणं पि य, आगंतु तदुग्भवं तेसिं॥

परिणाम दो प्रकार का है—कायगत और बाह्य। यह द्रव्यों का परिणाम है। शरीर में आहारित द्रव्यों का जो शीत आदि परिणाम होता है वह कायगत है और जो आहारित द्रव्यों का मूल परिणाम है वह बाह्य है। बाह्य परिणाम दो प्रकार का है—शीत या उष्ण। वह भी दो प्रकार का है—आगंतुक और तदुदभव।

५९०६. साभाविया व परिणामिया व सीतादतो तु दव्वाणं।

असरिससमागमेण उ, णियमा परिणामतो तेसिं॥

द्रव्यों के शीत आदि पर्याय स्वाभाविक या परिणामिक होते हैं। असदृशसमागम से नियमतः उन द्रव्यों का परिणाम—पर्यायान्तर होता है।

५९०७. सीया वि होंति उसिणा,

उसिणा वि य सीयगं पुणरुवेति।

दव्वंतरसंजोगं,

कालसभावं च आसज्ज॥

द्रव्यान्तर के संयोग से तथा काल-स्वभाव से शीत द्रव्य

भी उष्ण और उष्ण द्रव्य भी शीत हो जाते हैं। यह आगंतुक परिणाम है।

५९०८. तावोदगं तु उसिणं, सीथा मीसा य सेसगा आवो।
एमेव सेसगाइं, रूवीदव्वाइं सव्वाइं॥

तापोदक उष्ण होता है। शेष अप्काय द्रव्य शीत तथा शीत-उष्ण उभयस्वभाव वाले होते हैं। इसी प्रकार शेष सभी रूपी द्रव्य (अप्कायविरहित) उष्ण, शीत या शीतोष्ण होते हैं।

५९०९. एण सुत्त न गतं, जो कायगताण होइ परिणामो।
सीतोदमिस्सियम्मि उ, दव्वम्मि उ मग्गणा होति॥

जो यह कायगत द्रव्यों का परिणाम कहा गया है यह कोई सूत्र का विषय नहीं है। सूत्र में शीतोदकमिश्रित द्रव्य का अधिकार है। वहां यह मार्गणा होती है।

५९१०. दुहतो थोवं एक्केक्कण अंतम्मि दोहि वी बहुगं।
भावुगमभावुगं पि य, फासादिविसेसितं जाणे॥

पूर्वगृहीत द्रव्य में यदि शीतोदक गिरता है तो यहां चतुर्भगी होती है—

१. स्तोक में स्तोक गिरा।
२. स्तोक में बहुत गिरा।
३. बहुत में स्तोक गिरा।
४. दोनों बहुत अर्थात् बहुत में बहुत गिरा।

जो द्रव्य गिरता है या जहां गिरता है वह विशेष स्पर्श आदि से भावुक या अभावुक होता है।

५९११. चरमे विगिंचियव्वं,
दोसु तु मञ्जिल्ल पडिए भयणा उ।
खिप्पं विविंचियव्वं,

मायविमुक्केण समणेणं॥

चरम अर्थात् शीत में शीत गिरा, स्तोक में स्तोक या बहुक में बहुक—तो शीघ्र परिष्ठापन कर देना चाहिए। दोनों मध्यम भंगों—उष्ण में शीत गिरा और शीत में उष्ण गिरा—इन दोनों में परिष्ठापन की भजना है। उष्ण में शीत गिरा उसका शीघ्र परिष्ठापना कर देना चाहिए। श्रमण माया से मुक्त होकर सहजभाव से वैसा करे।

५९१२. थोवं बहुम्मि पडियं, उसिणे सीतोदगं ण उज्झंती।
हंदि हु जाव विगिंचति, भावेज्जति ताव तं तेणं॥

बहुक में स्तोक गिरा—उष्ण पानी बहुत है और उसमें स्तोक शीतोदक गिरा तब उसका परित्याग नहीं करते। जब तक वे उसका परिष्ठापन करते हैं तब तक वह शीतोदक उस उष्णोदक से परिणत हो जाता है।

५९१३. जं पुण दुहतो उसिणं, सममतिरेगं व तक्खणा चेव।
मञ्जिल्लभंगएसुं, चिरं पि चिट्ठे बहुं छूढं॥

जो दोनों प्रकार से उष्ण हो—उष्ण में उष्ण गिरा। दोनों तुल्य हैं। ठीक हैं। दोनों में एक अधिकतर हो तो तत्क्षण सचित्तभाव का अपहार नहीं होता। जो दो मध्यम भंग हैं—उष्ण में शीत और शीत में उष्ण—यदि इनमें स्तोक में बहुत क्षिप्त हैं तो वह चिरकाल तक सचित्त ही रहेगा। उसका भी परिष्ठापन कर देना चाहिए।

५९१४. वण्ण-रस-गंध-फासा, जह दव्वे जम्मि उक्कडा होति।
तह तह चिरं न चिट्ठइ, असुभेसु सुभेसु कालेणं॥

जिस द्रव्य में वर्ण, गंध, रस और स्पर्श उत्कट होते हैं, उस द्रव्य के साथ मिश्रित उदक चिरकाल तक सचित्त नहीं रहता। जो अशुभ वर्ण आदि उत्कट हैं तो क्षिप्र परिणमन हो जाता है और यदि शुभ वर्ण आदि उत्कट हैं तो काल से परिणमन होता है।

५९१५. जो चंदणे कडुरसो, संसद्धजले य दूषणा जा तु।
सा खलु दगस्स सत्थं, फासो उ उवग्गहं कुणति॥

तंदुलोदक चन्दन के साथ मिश्रित हो गया। चंदन का कटुक रस तंदुलोदक का शस्त्र होता है। किन्तु चन्दन का स्पर्श शीतल होने के कारण जल का उपग्रह करता है, इसलिए वह चिरकाल से परिणत होता है। इसी प्रकार संसृष्टजल की जो दूषणा अर्थात् अम्लरसता है वह उदक का शस्त्र है, किन्तु उसका स्पर्श शीतल होने के कारण वह उसका उपग्रह करता है, वह चिरकाल के बाद परिणत होता है।

५९१६. घयकिट्ठ-विस्सगंधा, दगसत्थं मधुर-सीतलं ण घतं।
कालंतरमुप्पण्णा, अबिलया चाउलोदस्स॥

घृतकिट्ठ तथा कच्चे मांस की गंध—ये दोनों उदक के शस्त्र हैं। जो रस से मधुर और स्पर्श से शीतल है वह उदक का उपग्रह करता है अतः चिरकाल से परिणत होता है। चाउलोदक में कुक्कुसों के द्वारा कालांतर में उत्पन्न अम्लता भी उदक का शस्त्र होती है।

५९१७. अब्बुक्कंते जति चाउलोदए छुब्भते जलं अण्णं।
दोण्णि वि चिरपरिणामा, भवन्ति एमेव सेसा वि॥

अव्युत्क्रान्त—अपरिणत चाउलोदक में दूसरा सचित्त जल डाला जाता है तो दोनों उदक चिरकाल से परिणत होते हैं। इसी प्रकार शेष भी। जैसे—संसृष्टपानक, फलपानक आदि में भी यदि सचित्त पानी डाला जाता है तो वे भी चिरकाल से परिणत होते हैं।

५९१८. थंडिल्लस्स अलंभे, अद्धाणोम असिवे गिलाणे वा।
सुद्धा अविविचंता, आउट्टिय गिण्हमाणा वा॥
स्थंडिल न मिलने पर, अध्वा, दुर्भिक्ष, अशिव, ग्लानत्व
आदि कारणों में अपरिणत पानक की परिष्ठापना न करते
हुए तथा जानते हुए भी अपरिणत पानक को लेते हुए भी
शुद्ध हैं।

मेहुणपडिसेवणा-पदं

निग्गंथीए राओ वा वियाले वा उच्चारं
वा पासवणं वा विगिंचमाणीए वा
विसोहेमाणीए वा अण्णयरे पसुजातीए वा
पक्खिजातीए वा अण्णयरं इंदियजायं
परामुसेज्जा, तं च निग्गंथी साइज्जेज्जा,
हत्थकम्मपडिसेवणपत्ता आवज्जइ मासियं
अणुग्घाइयं॥

(सूत्र १३)

निग्गंथीए य राओ वा वियाले वा
उच्चारं वा पासवणं वा विगिंचमाणीए वा
विसोहेमाणीए वा अण्णयरे पसुजातीए वा
पक्खिजातीए वा अण्णयरंसि सोयंसि
ओगाहेज्जा, तं च निग्गंथी साइज्जेज्जा,
मेहुणपडिसेवणपत्ता आवज्जइ
चाउम्मासियं अणुग्घाइयं॥

(सूत्र १४)

५९१९. पढमिल्लुग-ततियाणं,
चरितो अत्थो वताण रक्खद्धा।
मेहुणरक्खद्धा पुण,

इंदिय सोए य दो सुत्ता॥

पूर्वसूत्र में पहले और तीसरे महाव्रत की रक्षा के
लिए अर्थ-उपाय बताए गए हैं। प्रस्तुत दो सूत्रों में मैथुन-
व्रत की रक्षा के लिए इन्द्रिय विषयक तथा श्रोतविषयक
चर्चा है।

५९२०. वानर छगला हरिणा, सुणगादीया य पसुगणा होंति।
बरहिण चासा हंसा, कुक्कुडग-सुगादिणो पक्खी॥
वानर, छगल, हरिण, शुनक आदि पशुगण होते हैं।
मयूर, चास, हंस, कुक्कुट, शुक आदि पक्षी होते हैं।

५९२१. जहियं तु अणाययणा, पासवणुच्चार तहिं पडिक्कट्टं।
लहुगो य होइ मासो, आणादि सती कुलघरे वा॥
जहां ये पशु, पक्षी होते हैं वह अनायतन कहलाता है।
वहां आर्याओं का अवस्थान, प्रसवण और उच्चार आदि के
लिए जाना प्रतिकुष्ट है, निषिद्ध है। यदि वहां जाती हैं तो
लघुमास तथा आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं। वहां भुक्तभोगिनी
के स्मृति उभरती है और स्वजन पुनः उन्हें अपने घर ले
जाना चाहते हैं।

५९२२. भुत्ता-ऽभुत्तविभासा, तस्सेवी काति कुलघरे आसि।
बंधव तप्पक्खी वा, दडूण लयंति लज्जाए॥
जो भुक्तभोगिनी होती है, उसके स्मृति होती है और जो
अभुक्तभोगिनी होती है उसके कौतुक होता है। वह जब अपने
कुलघर में थी तब पशु-पक्षी गण के साथ प्रतिसेवना करती
थी। उनको देखकर वह प्रतिगमन कर सकती है। अथवा
उसके बन्धु जैसे अनायतन में रहने वाली साध्वी को अपने
घर ले जाते हैं।

५९२३. आलिंगणादिगा वा, अणिहुय-मादीसु वा निसेविज्जा।
एरिसगाण पवेसो, ण होति अंतेपुरेसुं पि॥
वे पशु उस आर्यिका का आलिंगन करते हैं, वह भी
उनका आलिंगन करती है। वे वानर आदि स्वभावतः
अनिभूत-कन्दर्पबहुल और मायावी होते हैं। वह आर्यिका
उनसे क्रीड़ा करती है। ऐसे पशु-पक्षियों का प्रवेश अन्तःपुर
में भी नहीं होता।

५९२४. कारणे गमणे वि तहिं, विविंचमाणीए आगतो लिहेज्जा।
गुरुगो य होति मासो, आणाति सती तु स च्चेव॥
कारणवश जैसे अनायतन में रहने पर उच्चारभूमी तथा
प्रसवणभूमी में वह आर्या परिष्ठापन के लिए जाती है तब
वानर आदि आकर उसका आलिंगन करे और वह आर्या
उसके स्पर्श को मन से चाहे तो उसे गुरुमास का
प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष तथा पूर्वोक्त स्मृति
आदि दोष होते हैं।

५९२५. वदेण दंडहत्था, निग्गंतुं आयरंति पडिचरणं।
पविसंते वारिंति य, दिवा वि ण उ काइयं एक्का॥
आर्यायें वृन्द-समूहरूप में हाथ में दंड लेकर बाहर
निकलें और कायिकी आदि करे। वानरों की दंड से ताड़ना
करे और प्रतिश्रय में उनके प्रवेश को रोके। दिन में भी
कायिकीभूमी में एकाकिनी न जाए।

५९२६. एवं तु इंदिएहिं, सोते लहुगा य परिणए गुरुगा।
वितियपद कारणम्मिं, इंदिय सोए य आगाढे॥
इस प्रकार इन्द्रियसूत्र में प्रायश्चित्त विधि बताई है। जहां

पशु-पक्षी स्रोतोवगाहन करते हैं वहां रहने वाली आर्याओं के चतुर्लघु और यदि आर्या उसमें परिणत होती है तो चतुर्गुरु प्रायश्चित्त आता है। द्वितीय पद में आगाढ़ कारण में इन्द्रिय और श्रोत (योनि) में परामर्श को चाहती है।

५९२७. गिहिणिस्सा एगागी, ताहिं समं णिंति रत्तिमुभयस्सा।

दंडगसारक्खणया, वारिंति दिवा य पेल्लंते॥

कारणवश कोई एकाकिनी साध्वी गृहस्थ की निश्रा में रहती है तो वह रात्री में प्रस्रवण और उच्चार के व्युत्सर्जन में वहां की स्त्रियों के साथ बाहर जाती है और वानर आदि के उपद्रव में डंडे से अपना संरक्षण करती है। वह दिन में भी प्रतिश्रय में प्रवेश करने वाले वानरों का निवारण करती है।

५९२८. अट्टाण सह आलिंणणादिपाकम्मऽतिच्छिता संती।

अच्चित्त बिंब अणिहुत्त, कुलघर सट्टादिगे चव॥

किसी साध्वी के मोहोद्भव हो गया तो उसे उस स्थिति में शब्दप्रतिबद्ध वसति में रखना चाहिए। वहां से वह स्त्रियों के साथ किए जाने वाले आलिंणन आदि को देख सके। इससे मोहकर्म उपशांत न हो तो पादकर्म, उससे भी यदि उपशांत न हो तो अचित्त बिंब से प्रतिसेवना कराई जाती है। यदि उससे भी उपशांत न हो तो जो अनिभृत पुरुष-नपुंसक से सब कुछ कराए, तत्पश्चात् कुलगृह में भगिनी या भोजाई के साथ होने वाले आलिंणन आदि दिखाए जाते हैं। उसके अभाव में श्राविका का या यथाभद्रिका का दिखाया जाता है।

बंधचेरसुरक्खा-पदं

नो कप्पइ निग्गंथीए एगाणियाए
गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए निक्खमित्तए
वा पविसित्तए वा, बहिया वियारभूमिं वा
विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए
वा, एवं गामाणुगामं वा दूइज्जित्तए वा
वासावासं वा वत्थए॥

(सूत्र १५)

५९२९. बंधवरक्खणट्टा, एगधिगारा तु होंतिमे सुत्ता।

जा एगपाससायी, विसेसतो संजतीवग्गे॥

ब्रह्मव्रत की रक्षा के लिए पूर्वोक्त दो सूत्र कहे गए हैं। प्रस्तुत सारे 'एकपार्श्वशाधिसूत्र' पर्यन्त सभी सूत्र

एकाधिकार वाले उसी ब्रह्मव्रत की रक्षा के लिए कहे जाते हैं। विशेषतः संयतीवर्ग के लिए ये सारे सूत्र हैं। इनमें किंचित् निर्ग्रन्थों के लिए है, जैसे—एकाकिसूत्र।

५९३०. एगागी वच्चंती, अप्पा त महव्वता परिच्चत्ता।

लहु गुरु लहुगा गुरुगा, भिक्ख वियारे वसहि गामे॥

अकेली जाती हुई निर्ग्रन्थी आत्मा को तथा महाव्रतों को परित्यक्त कर देती है। यदि भिक्षाचर्या में एकाकिनी जाती है तो लघुमास, बहिर्विचारभूमी में जाने पर गुरुमास, वसति में एकाकी जाने पर चतुर्लघु, ग्रामानुग्राम एकाकी जाने पर चतुर्गुरु।

५९३१. मासादी जा गुरुगा, थेरी-खुडी-विमज्झ-तरुणीणं।

तव-कालविसिद्धा वा, चउसुं पि चउण्ह मासाई॥

स्थविरा यदि अकेली भिक्षा आदि के लिए जाती है तो मासलघु, क्षुल्लिका का मासगुरु, विमध्यमा का चतुर्लघु और तरुणी का चतुर्गुरु। अथवा क्षुल्लिका के इन चारों स्थानों में चार मास गुरु तप और काल से विशेषित करने चाहिए। विमध्यमा के चारों स्थानों में चारलघु, तप और काल से विशेषित तथा तरुणी के चारों स्थानों में चतुर्गुरु तप और काल से विशेषित।

५९३२. अच्छंती वेगागी, किं णहु हु दोसे ण इत्थिगा पावे।

आमोसग तरुणेहिं, किं पुण पंथम्मि संका य॥

शिष्य ने पूछा—क्या अकेली स्त्री प्रतिश्रय में रहती हुई दोषों को प्राप्त नहीं होती कि जिससे भिक्षाटन आदि अकेली के लिए प्रतिषेध करते हैं? आचार्य कहते हैं—अकेली रहने पर वहां भी दोष को प्राप्त होती है। परंतु मार्ग में अकेली स्त्री को देखकर स्तेन और तरुण अनेक दोष उत्पन्न करते हैं। अकेली साध्वी को देखकर शंका होती है।

५९३३. एगाणियाए दोसा,

साणे तरुणे तहेव पडिणीए।

भिक्खऽविसोहि महव्वत,

तम्हा सबित्तिज्जियागमणं॥

अकेली साध्वी भिक्षाचर्या के लिए जाती है तो ये दोष होते हैं—कुत्ता काट सकता है, तरुण उपसर्ग करता है, प्रत्यनीक मारपीट कर सकता है, अनेक कारणों से भिक्षा की विशोधि नहीं रहती, महाव्रतों की विराधना होती है—इन दोषों के कारण भिक्षाचर्या में दो साध्वियां जाएं।

५९३४. असिवादि मीससत्थे, इत्थी पुरिसे य पूतिते लिंगे।

एसा उ पंथ जयणा, भाविय वसही य भिक्खा य॥

अशिव आदि कारणों से अकेली भी होती है। ग्रामान्तर जाते समय वह स्त्रीसार्थ के साथ जाए। उसके अभाव में

पुरुषमिश्रित स्त्रीसार्थ के साथ, उसके अभाव में केवल पुरुष सार्थ के साथ या पूजित लिंग धारण कर जाए। यह मार्गगत यतना है। ग्राम को प्राप्तकर साध्वी साधु-भावित कुल में ठहरे और वहीं भिक्षा करे।

नो कप्पइ निग्गंथीए अचेलियाए
होत्तए॥

(सूत्र १६)

५९३५. वुत्तो अचेलधम्मो, इति काइ अचेलगतणं ववसे।
जिनकप्पो वऽज्जाणं, निवारिओ होइ एवं तु॥

भगवान् ने अचेलक धर्म की प्ररूपणा की है, यह सोचकर कोई आर्यिका अचेलकत्व करना चाहे, उसके निषेध के लिए प्रस्तुत सूत्र है। अचेलकत्व के प्रतिषेध से आर्यिकाओं के लिए प्रस्तुत सूत्र से जिनकल्प भी निवारित हो जाता है।

५९३६. अजियम्मि साहसम्मी, इत्थी ण चए अचेलिया होउं।
साहसमन्नं पि करे, तेणेव अइप्पसंगेण॥

५९३७. कुलडा वि ताव णेच्छति,

अचेलयं किमु सई कुले जाया।

धिक्कारथुक्कियाणं,

तित्थुच्छेओ दुलभ वित्ती॥

जब तक साध्वी तरुणों द्वारा कृत 'उपसर्गों के भय से नहीं उबरती तब तक वह अचेलिका नहीं हो सकती। यदि होती है तो फिर उसी अचेलता के अतिप्रसंग से वह दूसरा अनाचार सेवन का भी साहस कर सकती है। कुलटा स्त्री भी अचेलकता नहीं चाहती तो फिर कुल में उत्पन्न साध्वी उसकी इच्छा कैसे करेगी? अचेलता प्रतिपन्न आर्यिकाओं को, जो धिक्कारथुक्कित-लोकापवाद से जुगुप्सित हैं, उनसे तीर्थ का उच्छेद होता है और वृत्ति-भक्तपान की प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है।

५९३८. गुरुगा अचेलिगाणं, समलं च दुगंछियं गरहियं च।
होइ परपत्थणिज्जा, बिइयं अब्बाणमाईसु॥

जो आर्यिका अचेलिका होती है, उसके चतुर्गुरु और आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं। चेलरहित साध्वी को मैलसहित देखकर लोग जुगुप्सा और गर्हा करते हैं। अचेलका स्त्री दूसरों के लिए प्रार्थनीय होती है। यहां द्वितीयपद मार्ग में बिछुड़ जाने वाली आर्या का मानना चाहिए।

५९३९. पुणरावत्ति निवारण, उदिण्णमोहो व द्दु पेल्लेज्जा।
पडिबंधो गमणाई, डिंडियदोसा य निगिणाए॥

अचेल आर्या को देखकर प्रव्रज्या लेने वाली कुलस्त्री का मन पलट जाता है। कोई दूसरा व्यक्ति उसको प्रव्रज्या से निवारण कर देता है। कोई उदीर्ण मोहवाला व्यक्ति उस अप्रावृत आर्या को देखकर अपने साथ आने के लिए प्रेरित करता है। वह भी उसी में प्रतिबंध कर उसके साथ गृहस्थरूप में चली जाती है। 'डिंडिमदोष' अर्थात् गर्भोत्पत्ति आदि होती है। ये सारे नग्न रहने के दोष हैं। अतः आर्या को अचेल नहीं होना चाहिए।

नो कप्पइ निग्गंथीए अपाइयाए
होत्तए॥

(सूत्र १७)

५९४०. गोणे साणे व्व वते, ओभावण खिसणा कुलधरे य।
णीसइ खइयलज्जा, सुण्हाए होति दिट्ठतो॥

प्रस्तुत सूत्र का कथन है कि साध्वियों को पात्र रहित होना नहीं कल्पता।

पात्र के बिना उनको यत्र-तत्र भोजन करना पड़ता है। यह देखकर लोग कहते हैं—इन्होंने गोव्रत और श्वाव्रत ले रखा है। जैसे गाय और कुत्ता-यत्र-तत्र जो मिलता है उसे खा लेते हैं, वैसे ही ये साध्वियां हैं। इस प्रकार उनकी अपभ्राजना होती है। लोग खिसना करते हैं। उन साध्वियों के कुलधर में जाकर निंदा करते हैं। लोगों के समक्ष खाने से वे कहते हैं—ये बहुभक्षिका हैं। इन्होंने लज्जा को परित्यक्त कर दिया है। यहां स्नुषा का दृष्टांत है। वह दो प्रकार का है—प्रशस्त और अप्रशस्त।

५९४१. उच्चासणम्मि सुण्हा,

ण णिसीयइ ण वि य भासए उच्चं।

णेव पगासे भुंजइ,

गूहइ वि य णाम अप्पाणं॥

प्रशस्त दृष्टांत—जैसे वधू ऊंचे आसन पर नहीं बैठती, जोर से नहीं बोलती, प्रकाश में भोजन नहीं करती और अपना नाम नहीं बताती। वैसे ही साध्वियों को होना चाहिए।

५९४२. अहवा महापदाणि, सुण्हा ससुरो य इक्कमेक्कस्स।

दलमाणाणि विणासं, लज्जाणासेण पावंती॥

अप्रशस्त दृष्टांत—अथवा स्नुषा और श्वसुर दोनों को परस्पर महापद अर्थात् विकृष्टतर पैरों से प्रहार करते हुए लज्जानाश से विनाश को प्राप्त होते हैं वैसे ही निर्लज्ज साध्वी भी विनष्ट हो जाती है। जैसे—एक ब्राह्मण की भार्या

मर गई। पुत्र माता की अस्थियां गंगा नदी पर ले गया। इधर श्वसुर और स्नुषा—दोनों हास्यक्रीड़ा कर रहे थे। निर्लज्जता से दोनों निश्रेणी पर चढ़कर अभिप्रायपूर्वक परस्पर विकृष्टतर पैर प्रहार करते हुए एक दूसरे का योनिघात कर डाला। दोनों नष्ट हो गए। इस प्रकार निर्लज्जता से विनाश हो गया।^१

५९४३. पायासह तेणहिए, झामिय बूढे व सावयभए वा।

बोहिभए खित्ताइ व, अपाइया हुज्ज विइयपदे॥

द्वितीयपद—पात्र के अभाव में, स्तेन द्वारा हत हो जाने पर, अग्नि में जल जाने पर, जलप्रवाह में बह जाने पर, श्वापद और बोधिक स्तेन का भय होने पर शीघ्र ही पात्रों को छोड़कर भाग जाने पर, वह द्वितीयपद में पात्ररहित होती है।

नो कप्पइ निग्गंथीए वोसइकाइयाए
होत्तए॥

(सूत्र १८)

५९४४. वोसइकाय पेल्लण-तरुणाई गहण दोस ते चेव।

दव्वावइ अगणिम्मि य, सावयभय बोहिए वितियं॥

आर्यिका को व्युत्सृष्टकाय^२ होना नहीं कल्पता। क्योंकि वह तरुणों द्वारा प्रेरित होती है, गृहीत होती है तथा पूर्वोक्त दोष होते हैं। द्वितीय पद में अर्थात् द्रव्य आपदा में, अग्नि के संभ्रम से, श्वापद तथा बोधिक का भय होने पर आर्यिका व्युत्सृष्टकाय भी हो सकती है।

नो कप्पइ निग्गंथीए बहिया गामस्स
वा जाव सन्निवेसस्स वा उहं बाहाओ
पगिज्झिय-पगिज्झिय सूराम्भिमुहीए
एगपाइयाए ठिच्चा आयावणाए
आयावेत्तए॥

(सूत्र १९)

कप्पइ से उवस्सयस्स अंतोवगडाए
संघाडिपडिबद्धाए पलंबियबाहियाए
समतलपाइयाए ठिच्चा आयावणाए
आयावेत्तए॥

(सूत्र २०)

५९४५. आयावणा य तिविहा, उक्कोसा मज्झिमा जहण्णा य।

उक्कोसा उ गिवण्णा, गिसण्ण मज्झा ठिय जहण्णा॥

आतापना के तीन प्रकार हैं—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य। उत्कृष्ट है—निपन्न, मध्यम है—निषण्ण, जघन्य है—खड़े रहना।

५९४६. तिविहा होइ निवण्णा, ओमत्थिय पास तइयमुत्ताणा।

उक्कोसुक्कोसा उक्कोसमज्झिमा उक्कोसगजहण्णा॥

निपन्न आतापना के तीन प्रकार हैं—उत्कृष्ट-उत्कृष्ट, उत्कृष्टमध्यम, उत्कृष्टजघन्य। ओंथे मुंह लेटकर की जाने वाली उत्कृष्ट-उत्कृष्ट, पार्श्वतः लेटकर की जाने वाली उत्कृष्टमध्यम और खड़े होकर की जाने वाली तीसरी आतापना है—उत्कृष्टजघन्य।

५९४७. मज्झुक्कोसा दुहओ, वि मज्झिमा मज्झिमाजहण्णा य।

अहमुक्कोसाऽहममज्झिमा य अहमाहमा चरिमा॥

निषण्ण की जो मध्यम आतापना है उसके तीन प्रकार हैं—मध्यम-उत्कृष्ट, मध्यम-मध्यम और मध्यम-जघन्य। जघन्य आतापना के भी तीन प्रकार हैं—अधम उत्कृष्ट, अधममध्यम और अधम-अधम। यहाँ अधम शब्द जघन्य वाचक है।

५९४८. पलियंअ अद्ध उक्कुडुग, मो य तिविहा उ मज्झिमा होइ।

तइया उ हत्थिसुंडेगपाद समपादिगा चेव॥

मध्यम आतापना के तीन प्रकार हैं—मध्यम-उत्कृष्ट पर्यकासनसंस्थित, मध्यम-मध्यम अर्द्धपर्यक, मध्यम-जघन्य उत्कटिक। तीसरे प्रकार की आतापना अर्थात् खड़े-खड़े की जाने वाली के तीन भेद कहे गए हैं—जघन्य-उत्कृष्ट हस्तिशुंडिका, जघन्य-मध्यम एकपादिका, जघन्य-जघन्य-समपादिका।

५९४९. सव्वंगिओ पतावो, पताविया घम्मरस्सिणा भूमी।

ण य कमइ तत्थ वाओ, विस्सामो णेव गत्ताणं॥

निपन्न (शयित) की आतापना उत्कृष्ट होती है, क्योंकि उसमें सर्वांगीण ताप लगता है। सूर्य की घर्मरश्मियों से भूमी प्रतापित हो जाती है। वहाँ वायु का प्रचार नहीं होता। शरीर के अंगों को विश्राम नहीं मिलता।

५९५०. एयासी णवण्हं पी, अणुणाया संजईण अंतिल्ला।

सेसा नाणुन्नाया, अद्ध तु आतावणा तासिं॥

इन नौ प्रकार की आतापनाओं में से अंतिम आतापना अर्थात् समपादिका आतापना आर्यिकाओं के लिए अनुज्ञात है। शेष आठ आतापनाएं उनके लिए अनुज्ञात नहीं हैं।

१. कथानक के लिए देखें कथा परिशिष्ट, नं. १३६।

२. मुझे दिव्य उपसर्ग सहन करने हैं—इस अभिग्रह से शरीर का व्युत्सर्ग कर अभिनव कायोत्सर्ग में स्थित होना। (वृ. पृ. १५६७)

५९५१. पालीहिं जत्थ दीसइ,

जत्थ य सइरं विसंति न जुवाणा।

उग्गहमादिसु सज्जा,

आयावयते तहिं अज्जा॥

आर्या को ऐसे स्थान में आतापना लेनी चाहिए जहां से वह प्रतिश्रय की पालिका संयतिओं द्वारा देखी जा सके। जहां स्वच्छंद रूप से युवा व्यक्ति आ-जा न सके, वहां अवग्रह, अनन्तक तथा संघाटिक आदि से उपकरणों आयुक्त होकर आर्यिका बाहुयुगल को प्रलंबित कर आतापना ले।

५९५२. मुच्छाए निवडिताए, वातेण समुद्धते व संवरणे।

गोतरमजयणदोसा, जे वुत्ता ते उ पाविज्जा॥

आतापना लेती हुई वह आर्या मूर्च्छावश नीचे गिर जाए, वायु से प्रावरण इधर-उधर हो जाए, तो अवग्रह और अनन्तक के बिना गोचरचर्या में अयतना से प्रविष्ट आर्या के जो दोष बताए गए हैं वे दोष होते हैं, उसे प्राप्त होते हैं।

नो कप्पइ निग्गंथीए ठाणाययाए
होत्तए॥

(सूत्र २१)

नो कप्पइ निग्गंथीए पडिमट्टाइयाए
होत्तए॥

(सूत्र २२)

नो कप्पइ निग्गंथीए—नेसज्जियाए,
उक्कुडुगासणियाए वीरासणियाए,
दंडासणियाए, लगंडसाइयाए,
ओमंथियाए, उत्ताणियाए, अंबखुज्जियाए,
एकपासियाए—होत्तए॥

(सूत्र २३)

५९५३. उद्धट्टाणं ठाणायतं तु पडिमाउ होंति मासाई।

पंचेव णिसिज्जओ, तासि विभासा उ कायव्वा॥

५९५४. वीरासणं तु सीहासणे व जह मुक्कजण्णुक णिविद्धो।

दंडे लगंड उवमा, आयत खुज्जाय दुण्हं पि॥

स्थानायत अर्थात् ऊर्ध्वस्थान, प्रतिमास्थायी—मासिकी आदि प्रतिमा में स्थित, पांच प्रकार की निषद्याएं। निषद्या का अर्थ है—उपवेशन की विधि। उनकी विभाषा करनी चाहिए। वह इस प्रकार है—निषद्याएं पांच हैं—समपादपुता,

गोनिषधिका, हस्तिशुंडिका, पर्यका, अर्धपर्यका। वीरासन अर्थात् सिंहासन पर बैठा हुआ व्यक्ति भूमि पर दोनों पैर टिकाए हुए है, उसके पीछे से सिंहासन निकाल देने पर सिंहासन पर बैठे हुए कि भांति मुक्तजानुक होकर निरालंब में बैठना। यह दुष्कर होता है इसलिए इसको वीरासनिक कहते हैं। दंडासन, लगंडासन—दंडासनिका, लगंडशायिका—इन पदद्वय में क्रमशः आयत और कुब्जता—दोनों से उपमा करनी चाहिए। जैसे—दंड की भांति आयत अर्थात् पैरों के प्रसारण से लंबा जो आसन है वह हैं दंडासन। लगंड का अर्थ है—दुःसंस्थित काष्ठ। उसकी भांति कुब्जता से, मस्तिष्क और कोहनी को भूमि पर लगाकर, पीठ को ऊपर उठाकर सोना, यह लगंडशायी है। ये सारे अभिग्रह विशेष आर्याओं के लिए निषिद्ध हैं।

५९५५. जोणीखुब्भण पेल्लण, गुरुगा भुत्ताण होइ सइकरणं।

गुरुगा सर्वेटगम्मी, कारणे गहणं व धरणं वा॥

ऊर्ध्वस्थान के स्थानविशेष में स्थित आर्यिका के योनि-क्षोभ हो सकता है। तरुण इस प्रकार से स्थित साध्वी को देखकर उसे प्रतिसेवना के लिए प्रेरित करते हैं। इसलिए प्रस्तुत सूत्रगत अभिग्रहों को लेने वाली आर्यिका के चतुर्गुरु। भुक्तभोगिनी आर्या के स्मृतिकरण का हेतु होता है तो अन्यान्य श्रमणियों के कौतुक का विषय बनता है। आर्या यदि सर्वेटक तुम्बक ग्रहण करती है तो चतुर्गुरु। कारण में उसका ग्रहण और धारण अनुज्ञात है।

५९५६. वीरासण गोदोही, मुत्तुं सव्वे वि ताण कप्पंति।

ते पुण पडुच्च चेदं, सुत्ता उ अभिग्गहं पप्पा॥

अनन्तरोक्त आसनों में वीरासन और गोदोहिकासन को छोड़कर शेष ऊर्ध्वस्थान आदि सभी आसन आर्यिकाओं को कल्पता है। वे सूत्र में प्रतिषिद्ध हैं तो फिर अनुज्ञात कैसे हैं? आचार्य कहते हैं—शेष सारे स्थान चेष्टारूप में कल्पते हैं, अभिग्रहरूप में नहीं। सूत्र अभिग्रहरूप में प्रवृत्त है, इसलिए यह कह जाता है कि आर्यिकाओं को आभिग्रहरूप ऊर्ध्वस्थान आदि नहीं कल्पता, सामान्यतः आवश्यक आदि के समय जो किए जाते हैं वे कल्पते हैं।

५९५७. तवो सो उ अणुण्णाओ, जेण सेसं न लुप्पति।

अकामियं पि पेल्लिज्जा, वारिओ तेणऽभिग्गहो॥

शिष्य ने पूछा—भगवान् ने अभिग्रहरूप तप कर्म निर्जरा के लिए कहा है। उसका प्रतिषेध क्यों? आचार्य ने कहा—भगवान् ने तप वही अनुज्ञात किया है जिससे शेष व्रतों का विनाश न हो। दंडायत आदि स्थान स्थित आर्यिका को देखकर, उसकी इच्छा न होते हुए भी कोई उसको

प्रतिसेवना के लिए प्रेरित कर दे। इस कारण से उनके लिए ऐसे अभिग्रह का वारण किया है।

५९५८.जे य दंसादओ पाणा, जे य संसप्पगा भुवि।

चिद्दुस्सग्गट्टिया ता वि, सहंति जह संजया॥

कायोत्सर्ग के दो प्रकार हैं—चेष्टा कायोत्सर्ग और अभिभव कायोत्सर्ग। अभिभव कायोत्सर्ग आर्यिकाओं के लिए प्रतिषिद्ध है। चेष्टा कायोत्सर्ग में स्थित आर्यिकाएं दंश-मशक आदि प्राणियों के तथा जो पृथ्वी पर संचरणशील—उन्दुर, कीट आदि के उपद्रवों को मुनियों की भांति सहन करती हैं।

५९५९.वसिज्जा बंभचेरंसी, भुज्जमाणी तु कादि तु।

तहावि तं न पूयंति, थेरा अयसभीरुणो॥

कोई आर्या प्रतिसेवित होती हुई भी भावरूप से ब्रह्मचर्य में वास करती है, फिर भी अयशभीरु स्थविर मुनि उन आर्यिकाओं की प्रशंसा नहीं करते अर्थात् पूजा नहीं करते।

५९६०.तिव्वाभिग्गहसंजुत्ता, थाण-मोणा-SSसणे रता।

जहा सुज्झंति जयओ, एगा-SSणेगविहारिणो॥

५९६१.लज्जं बंभं च तित्थं च, रक्खंतीओ तवोरता।

गच्छे चव विसुज्झंती, तहा अणसणादिहिं॥

तीव्र अभिग्रहों में संलग्न, स्थान, मौन तथा आसनों में रत, एक अर्थात् जिनकल्पी की साधना करने वाले तथा अनेक-विहारी—स्थविरकल्प के साधक मुनि जैसे शुद्ध होते हैं, वैसे ही आर्यिकाएं लज्जा, ब्रह्मचर्य तथा तीर्थ की रक्षा करती हुई, तप में संलग्न, गच्छ में रहती हुई अनशन आदि का पालन करती हुई शुद्ध होती हैं।

५९६२.जो वि दहिंघणो हुज्जा, इत्थिचिंधो तु केवली।

वसते सो वि गच्छमी, किमु त्थीवेदसिंधणा॥

जो भी दग्धेन्धन—वेदमोहनीय कर्म को भस्मसात् कर देता है, जो स्त्री चिह्न से लक्षित केवली होता है, वह भी गच्छ में रहता है तो सेन्धना—स्त्रीवेद युक्त संयती गच्छ में क्यों न रहे? उनको गच्छ में ही रहना चाहिए।

५९६३.अलायं घट्टियं ज्झाई, फुंफुगा हसहसायई।

कोवितो वड्ढती वाही, इत्थीवेदे वि सो गमो॥

अलात को घुमाने से वह प्रज्वलित होता है, फुम्फुक को घट्टित करने से वे दीप्त होते हैं, व्याधि कुपित होने पर बढ़ती है, स्त्रीवेद के विषय में भी यही विकल्प है। वह भी घट्टित होने पर प्रज्वलित होता है।

५९६४.कारणमकारणम्मि य, गीयत्थम्मि य तहा अगीयम्मि।

एए सब्बे वि पाए, संजयपक्खे विभासिज्जा॥

ये जो व्युत्सृष्टकायिक आदि पद कहे गए हैं वे कारण या अकारण में गीतार्थ तथा अगीतार्थ मुनि को सारे पद कल्पते हैं।

आकुंचणपट्टादि-पदं

नो कप्पइ निग्गंथीणं आकुंचणपट्टं
धारित्तए वा परिहरित्तए वा॥

(सूत्र २४)

कप्पइ निग्गंथाणं आकुंचणपट्टं
धारित्तए वा परिहरित्तए वा॥

(सूत्र २५)

५९६५.बंभवयपालणट्टा, तहेव पट्टाइया उ समणीणं।

विइयपदेण जईणं, पीढग-फलए विवज्जित्ता॥

जैसे ब्रह्मव्रतपालन के लिए आर्याओं को अचेलकत्व आदि नहीं कल्पता, वैसे ही ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए पट्ट आदि। (दारुक दंड पर्यन्त) नहीं कल्पते। द्वितीयपद में साधुओं को वे कल्पते हैं पर पीठ और फलक का वर्जन करना चाहिए। ये तो साधुओं को बिना अपवाद पद के भी कल्पते हैं।

५९६६.गव्वो अवाउडत्तं, अणुवधि पलिमंथु सत्थुपरिवाओ।

पट्टमजालिय दोसा, गिलाणियाए उ जयणाए॥

पर्यस्तिकापट्ट को धारण की हुई साध्वी को देखकर लोग कहते हैं—देखो! इसमें कितना गर्व है? कोई अप्रावृत साध्वी पर्यस्तिका में बैठ जाती है। पर्यस्तिकापट्ट अनुपधि है, उपधि नहीं है। उपधि वह होती है जो उपकारी हो। इसके प्रत्युपेक्षण में सूत्रार्थ का परिमन्थ होता है, शास्ता का परिवाद होता है। द्वितीयपद में जो ग्लान है स्थविरा है, वह यतना पूर्वक अर्थात् जहां सागारिक न हों वहां पर्यस्तिकापट्ट धारण करे, वह जालरहित हो। जाल सदृश में शुषिर दोष होते हैं। इसी प्रकार यतियों को भी बिना कारण पर्यस्तिका करने वालों को चतुर्लघु और गर्व आदि दोष लगते हैं।

५९६७.थेरे व गिलाणे वा, सुत्तं काउमुवरिं तु पाउरणं।

सावस्सए व वेद्धो, पुव्वकतमसारिए वाए॥

सूत्रपौरुषी या अर्थपौरुषी शिष्यों को देते समय स्थविर या ग्लान वाचनाचार्य पर्यस्तिका कर ऊपर आवरण कर दे। जो आचार्य वृद्ध हों वे पूर्वकृत सावश्रय—अवष्टम्भ वाले आसन पर बैठकर एकान्त में शिष्यों को वाचना दे।

५९६८. फल्लो अचित्तो, अह आविओ वा,
चउरंगुलं वित्थडो असंधिमो अ।

विस्सामहेउं तु सरीरगस्सा,
दोसा अबट्ठंभगया ण एवं॥

वह पर्यास्तिकापट्ट सौत्रिक, अकबुर, अथवा आविक-भेड़ की ऊन से बना हो। वह चार अंगुल विस्तृत, संधिरहित हो। ऐसा पर्यास्तिकापट्ट शरीर के विश्राम के लिए ग्रहण किया जाता है। जो अवष्टंभगत दोष हैं वे आकुंचनपट्ट पहनने पर नहीं होते।

नो कप्पइ निग्गंथीणं सावस्सयंसि
आसणंसि आसइत्तए वा तुयट्ठित्तए वा॥
(सूत्र २६)

कप्पइ निग्गंथाणं सावस्सयंसि
आसणंसि आसइत्तए वा तुयट्ठित्तए वा॥
(सूत्र २७)

नो कप्पइ निग्गंथीणं सविसाणंसि
पीढंसि वा फलगंसि वा आसइत्तए वा
तुयट्ठित्तए वा॥
(सूत्र २८)

कप्पइ निग्गंथाणं सविसाणंसि पीढंसि
वा फलगंसि वा आसइत्तए वा तुयट्ठित्तए
वा॥
(सूत्र २९)

५९६९. सविसाणे उड्ढाहो, पाकम्मादी य तो पडिक्कुडं।
थेरीए वासासुं, कप्पइ छिण्णे विसाणम्मि॥
जैसे कपाट के दोनों ओर शृंग होते हैं वैसे ही शृंग वाले पीढ-फलक पर बैठने से आर्यिकाओं का उड्ढाह होता है, पादकर्म आदि दोष होते हैं अतः उस पर बैठने पर प्रतिषेध है। द्वितीयपद में वर्षाऋतु में विषाणों को छिन्न कर स्थविरा साध्वी को उस पर बैठना कल्पता है।

५९७०. जं तु न लब्भइ छेत्तुं, तं थेरीणं दलंति सविसाणं।
छायंति य से दंडं, पाउंछण मट्ठियाए वा॥
पीढ-फलक विषाण का छेदन करने की अनुमति से प्राप्त न हो सके तो मुनि स्थविरा साध्वी को सविषाण पीढ-फलक

लाकर दे। साध्वियों के दंड-पादप्रौंछन से उसे आच्छादित कर दे या मिट्टी से उसे ढंक दे।

५९७१. समणाण उ ते दोसा, न होंति तेण तु दुवे अणुण्णाया।
पीढं आसणहेउं, फलगं पुण होइ सेज्जट्ठा॥
श्रमणों के वे दोष नहीं होते इसलिए दोनों-पीढ और फलक अनुज्ञात हैं। पीढ बैठने के लिए तथा फलक शय्या के लिए, सोने के लिए।

५९७२. कुच्छण आय दयट्ठा, उज्झायगमरिस-वायरक्खट्ठा।
पाणा सीतल दीहा, रक्खट्ठा होइ फलगं तु॥
आर्द्र भूमि में स्थापित निषद्या कुथित हो जाती है। भोजन जीर्ण नहीं होता, अतः आत्मविराधना होती है। दया के निमित्त वर्षा में भूमि पर नहीं बैठना चाहिए। 'उज्झायग'-भूमि की आर्द्रता के कारण उपधि जुगुप्सनीय हो जाती है। अर्श क्षुब्ध हो जाते हैं। वायु अत्यधिक कुपित हो जाती है। अतः इनकी रक्षा के लिए पीढ-फलक पर बैठना चाहिए। शीतल भूमि में अनेक प्रकार के प्राणी सम्मूर्छित होते हैं। सर्प आदि इस सकते हैं। अतः इन सबकी रक्षा के लिए फलक ग्रहण किया जाता है।

नो कप्पइ निग्गंथीणं सवेंटयं लाउयं
धारित्तए वा परिहरित्तए वा॥

(सूत्र ३०)

कप्पइ निग्गंथाणं सवेंटयं लाउयं
धारित्तए वा परिहरित्तए वा॥

(सूत्र ३१)

५९७३. ते चेव सवेंटम्मिं, दोसा पादम्मि जे तु सविसाणे।
अइरेग अपडिलेहा, बिइय गिलाणोसहट्ठवणा॥
साध्वी को वृन्त सहित अलाबुपात्र रखना अनुज्ञात नहीं है। उसमें पादकर्म आदि वे ही दोष हैं जो सविषाण वाले आसन में हैं। इसमें अतिरिक्त पात्र रखने का दोष, अप्रत्युपेक्षा होती है। द्वितीय पद में ग्लान योग्य औषधि रखने के लिए उसे ग्रहण किया जा सकता है।

नो कप्पइ निग्गंथीणं सवेंटियं
पायकेसरियं धारित्तए वा परिहरित्तए वा॥

(सूत्र ३२)

कप्पइ निग्गंथाणं सर्वेणियं पायकेसरियं
धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥

(सूत्र ३३)

५९७४.लाउयपमाणदंडे, पडिलेहणिया उ अग्गए बद्धा।
सा केसरिया भन्नइ, सनालए पायपेहड्डा ॥
अलाबु जितना ऊंचा हो उतने प्रमाण का दंड बनाकर
उसके अग्रभाग में बद्ध प्रत्युपेक्षणिका होती है, उसे सवृन्ती
पादकेसरिका कहते हैं। वह कारणवश गृहीत सनाल पात्र के
प्रत्युपेक्षण के लिए होती है। आर्थिकाएं उसे लेती हैं तो
चतुर्गुरु और वही प्रतिसेवना आदि विराधना। उत्सर्गतः
निर्ग्रन्थो को भी नहीं कल्पता।

नो कप्पइ निग्गंथीणं दारुदंडयं
पायपुंछणं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥

(सूत्र ३४)

कप्पइ निग्गंथाणं दारुदंडयं पायपुंछणं
धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥

(सूत्र ३५)

५९७५.ते चेव दारुदंडे, पाउंछणगम्मि जे सनालम्मि।
दुण्ह वि कारणगहणे, चप्पडए दंडए कुज्जा ॥
जो सनालपात्र के विषय में दोष कहे गए हैं, वे ही दोष
दारुदंडक, पादप्रौछनक के विषय में हैं। दोनों अर्थात्
सनालपात्र और दारुदंडक कारणवश आर्याएं ग्रहण कर
सकती हैं। ग्रहण करने पर चतुष्पल दंडक (?) करे।

पासवण-पदं

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
अण्णमण्णस्स मोयं आइयत्तए वा
आयमित्तए वा, नण्णत्थ गाढागाढेहिं
रोगायंकेहिं ॥

(सूत्र ३६)

५९७६.बंधवधपालणद्धा, गतोऽहिगारो तु एगपक्खम्मि।
तस्सेव पालणद्धा, मोयाऽऽरंभो दुपक्खे वी ॥
ब्रह्मव्रत पालन करने के लिए संयती लक्षण वाले एकपक्ष

का अधिकार समाप्त हुआ। उसी व्रत के पालन के लिए दोनों
पक्षों—संयत-संयती विषयक मोक सूत्र का प्रारंभ होता है।

५९७७.मोएण अण्णमण्णस्स आयमणे चउगुरुं च आणाई।
मिच्छते उड्डाहो, विराहणा भावसंबंधो ॥

अन्योन्य अर्थात् एक दूसरे का—संयत संयती का और
संयती संयत का मोक—प्रसवण को निशाकल्प मानकर रात्री
में आचमन करते हैं तो चतुर्गुरु और आज्ञाभंग आदि दोष,
मिथ्यात्व, उड्डाह, संयमविराधना और आत्मविराधना तथा
भावसंबंध भी हो जाता है।

५९७८.दिवसं पि ता ण कप्पइ,

किमु णिसि मोएण अण्णमण्णस्स।

इत्थंगते किमण्णं,

ण करेज्ज अकिच्चपडिसेवं ॥

दिन में भी उसका आचमन नहीं कल्पता, तो फिर रात्री
में तो बात ही क्या? रात्री में यदि एक दूसरे के प्रसवण का
आचमन किया जाता है तो फिर ऐसा कौनसा दूसरा अकृत्य
है जिसका प्रतिसेवन न किया जाए?

५९७९.वुत्तुं पि ता गरहितं, किं पुण घेत्तुं जे कर बिलाओ वा।
घासपइद्धो गोणो, दुरक्खओ सस्सअब्भासे ॥

मोक के आचमन का कथन करना भी गृहीत है तो फिर
आर्या के हाथ से या बिल-योनि से मोक का ग्रहण कैसे—
गृहीत नहीं होगा? घास चरने के लिए प्रविष्ट बैल जो धान्य
के निकट चर रहा है, उसको धान्य खाने से रोकना कष्टप्रद
होता है। इसी प्रकार यह मुनि भी संयती के मोक का
आचमन करता हुआ प्रसंगवश अन्यान्य क्रियाएं भी कर
सकता है।

५९८०.दिवसओ सपक्खे लहुगा,

अद्धाणाऽऽगाढ गच्छ जयणाए।

रत्तिं च दोहिं लहुगा,

बिइयं आगाढ जयणाए ॥

दिन में सपक्ष में भी—संयत संयत का और संयती संयती
का यदि मोकाचमन करती है तो चतुर्लघु का प्रायश्चित्त है।
द्वितीयपद में अद्धा में वर्तमान गच्छ का तथा आगाढ कारण
में यतनापूर्वक दिन में स्वपक्ष के मोक का आचमन करे और
रात्री में यदि निष्कारण मोक का आचमन करते हैं तो चतुर्लघु
का प्रायश्चित्त आता है। वे भी तप और काल से लघु होते
हैं। द्वितीयपद में कारण में यतनापूर्वक रात्री में भी मोक का
आचमन किया जा सकता है।

५९८१.अद्विसरक्खा वि जिया, लोए णत्थेरिसऽऽन्नधम्मोसु।

सरिसेण सरिससोही, कीरइ कत्थाइ सोहेज्जा ॥

जब शैक्ष ऐसा आचरण देखता है तो उसके मन में अन्यथा भाव आ जायेगा। परतीर्थिक उद्वाह करने लग जाते हैं—‘अहो! इन श्रमणों ने तो अस्थिसरजस्क साधुओं को भी जीत लिया है, उनसे भी आगे बढ़ गए हैं। लोक में अन्य धर्मों में ऐसी शोधि नहीं है। सदृश से सदृश की शोधि ये श्रमण करते हैं तो क्या कहीं शोधि की जा सकती है? अशुचि से अशुचि का शोधन नहीं हो सकता।’

५९८२. निच्छुभई सत्थाओ, भत्तं वारेइ तक्करदुगं वा।

फासु दवं च न लब्भइ, सा वि य उच्चिद्विज्जा उ॥

यदि सार्थवाह प्रत्यनीक हो तो वह सार्थ से निष्काशित कर देता है। भक्तपान का वर्जन कर देता है। दोनों प्रकार के तस्कर—उपधिस्तेन और शरीरस्तेन—उपद्रुत करते हैं। कोई साधु अभी शौच से निवृत्त हुआ है, प्रासुक द्रव न मिलने पर मोक से आचमन लेकर उच्छिष्ट विद्या का जाप करे। वह आभिचारुका विद्या उस सार्थवाह को अनुकूल कर सकती है।

५९८३. अच्चुक्कडे व दुक्खे, अप्पा वा वेदणा खवे आउं।

तत्था वि सु च्चेव गमो, उच्चिद्वगमंत-विज्जाऽऽसु॥

किसी मुनि के अति उत्कट दुःख उत्पन्न हो गया, सर्प आदि के इसने से अल्पवेदना है परन्तु वह आयु का क्षय कर सकती है। वहां भी यही विकल्प है। प्राशुक द्रव न मिलने पर मोक से आचमन करे। वहां भी उच्छिष्ट मंत्र या विद्या का जाप कर साधु को वेदनामुक्त करे।

५९८४. मत्तग मोयाऽऽयमणं,

अभिगए आइण्ण एस निसिकप्पो।

संफासुडाहादी,

अमोयमत्ते भवे दोसा॥

मात्रक में मोक लेकर आचमन करे। यह निशाकल्प गीतार्थ के द्वारा आचीर्ण है। मोकमात्रक न होने पर स्वपक्ष सागारिक से मोक लेते हैं तो संस्पर्श—उद्वाह आदि दोष होते हैं। इस प्रकार रात्री में मोक से आचमन ले, उसके लिए द्रव न रखे। अपवादपद में द्रव रखा जा सकता है।

५९८५. पिट्ठं को वि य सेहो जइ सरई मा व हुज्ज से सत्ता।

जयणाए ठवेंति दवं, दोसा य भवे निरोहम्मि॥

यदि किसी शैक्ष के ‘पिट्ठं सरई’—अत्यधिक मल व्युत्सर्ग हो रहा हो, रात्री में अकस्मात् व्युत्सर्ग-संज्ञा न हो, इसलिए यतनापूर्वक द्रव रखे। मलनिरोध करने से अनेक दोष होते हैं।

५९८६. मोयं तु अन्नमन्नस्स, आयमणे चउगुरुं च आणाई।

मिच्छते उद्वाहो, विराहणा देविदिट्ठतो॥

परस्पर एक-दूसरे का मोक पीने से चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त और आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं। मिथ्यात्व, उद्वाह और विराधना होती है। यहां देवी का दृष्टांत है।

५९८७. दीहे ओसहभावित, मोयं देवीय पज्जिओ राया।

आसाय पुच्छ कहणं, पडिसेवा मुच्छिओ गलितं॥

५९८८. अह रत्ता तूरंते, सुक्खग्गहणं तु पुच्छणा विज्जे।

जइ सुक्खमत्थि जीवइ, खीरेण य पज्जिओ न मओ॥

एक राजा को विषधर ने काट डाला। वैद्य ने रानी का औषधभावित मोक राजा को पिलाया। आस्वाद को जानकर राजा ने उसके विषय में पूछा। मूर्च्छित अवस्था में वह दिन-रात देवी से प्रतिसेवना करने लगा। प्रभूत शुक्र निकल गया। राजा मृत्यु के निकट पहुंच गया। वैद्य से पूछा। वैद्य ने कहा—यदि शुक्र है तो जी सकता है। दूध के साथ उसका शुक्र मिलाकर, उसे पिलाया। वह मरा नहीं।^१

इसी प्रकार संयती के मोक का आचमन करने पर साधु उसके वश में हो जाता है और तब वह प्रतिगमन आदि कर लेता है। इसलिए संयती का मोक नहीं पीना चाहिए।

५९८९. सुत्तेणवऽववाओ, आयमइ पियेज्ज वा वि आगाढे।

आयमण आमय अणामए य पियणं तु रोगम्मि॥

सूत्र के द्वारा ही अपवाद दिखाया गया है कि आगाढ-रोगांतक में मोक का आचमन करे या पीए। आचमन का अर्थ है—निलेपन, शरीर पर लगाना। आमय-रोग में तथा अनामय—निशाकल्प में होता है। मोक का पान करना तो रोग में ही संभव है। अन्यथा नहीं।

५९९०. दीहाइयणे गमणं, सागारिय पुच्छिए य अइगमणं।

तासि सगारजुयाणं, कप्पइ गमणं जहिं च भयं॥

सर्प के काटने पर स्वपक्ष का मोक प्राप्त न हो तो संयती के प्रतिश्रय में जाए। वहां रहने वाले सागारिक को पूछकर भीतर प्रवेश करे। साध्वियों को भी सागारिक के साथ मोक के लिए साधु वसति में जाना कल्पता है। जहां भय हो वहां दीपक लेकर जाए।

५९९१. निद्धं भुत्ता उववासिया व वोसिरितमत्तगा वा वि।

सागारियाइसहिया, सभए दीवेण य ससद्दा॥

यदि किसी मुनि को सर्प काट ले तो स्वपक्ष का मोक ही पिलाया जाता है। यदि इन कारणों से उनके मोक न हो—उस दिन स्निग्ध आहार किया है, उपवास है, अभी-अभी मोक का व्युत्सर्ग कर चुके हैं, ऐसी स्थिति में मोक लेने के लिए मुनि साध्वियों के प्रतिश्रय में जाए। साथ में सागारिक आदि को ले जाए। यदि भय हो तो दीपक लेकर

चलने वाले सागारिक के साथ जाए। मौन न रहें, शब्द करते हुए जाएं।

५९९२.तुसिणीए चउगुरुगा, मिच्छत्ते सारियस्स वा संका।

पडिबुद्धबोहियासु व, सागारिय कज्जदीवणया॥

वहां यदि शब्द किए बिना प्रवेश करते हैं तो चतुर्गुरु, मिथ्यात्व का प्रसंग तथा सागारिक को शंका हो सकती है। वहां सबसे पहले सागारिक को जागृत करना चाहिए। वह साध्वियों को जगाता है। फिर उस सागारिक को अपने आगमन का प्रयोजन बताना चाहिए। कार्य बताते हुए उसे कहना चाहिए—‘एक साधु को सर्प ने काट डाला है। यहां औषधि है। उसके लिए हम आये हैं।’

५९९३.मोयं ति देइ गणिणी, थोवं चिय ओसहं लहुं णेहा।

मा मग्गेज्ज सगारो, पडिसेहे वा वि वुच्छेओ॥

सर्पदंश की औषधि है—मोक। वह हमें दो। गणिनी मोक लाकर साधुओं को देती हुई कहती है—यह औषधि थोड़ी ही है। शीघ्र इस ले जाएं। कोई सागारिक इस औषधि को मांग न ले। यदि उसे प्रतिषेध किया जाए तो उसका व्यवच्छेद हो जाता है, वह पुनः उसकी मार्गणा नहीं करता।

५९९४.न वि ते कहंति अमुगो, खइओ ण वि ताव एय अमुईए।

घेत्तुं णयणं खिप्पं, ते वि य वसहिं सयमुवेति॥

वे मुनि साध्वियों को यह भी नहीं कहते कि अमुक साधु को सर्प ने काटा है और वे साध्वियां भी यह नहीं कहतीं कि यह मोक अमुक साध्वी का है। उस मोक को शीघ्र ले जाना चाहिए। वे मुनि उसे लेकर स्वयं अपनी वसति में आ जाते हैं।

५९९५.जायति सिणेहो एवं, भिण्णरहस्सत्तया य वीसंभो।

तम्हा न कहेयव्वं, को व गुणो होइ कहिएणं॥

यदि यह कहा जाए कि अमुक साधु को सर्प ने काटा है या अमुक साध्वी का यह मोक है तो दोनों में स्नेह हो सकता है। भिन्नरहस्यता होती है और उससे विभ्रम—पूर्ण घनिष्टता होती है। इसलिए कहना नहीं चाहिए। कहने से कौन सा गुण होता है? कोई नहीं।

५९९६.सागारिसहिय नियमा, दीवगहत्था वए जईनिलयं।

सागारियं तु बोहे, सो वि जई स एव य विही उ॥

आर्यिका नियमतः सागारिकसहित दीपक के साथ साधुओं के प्रतिश्रय में आती हैं। आर्यिका के साथ आने वाला सागारिक संयत प्रतिश्रय में रहने वाले सागारिक को जागृत करता है। वह साधुओं को जागृत करता है। यहां भी मोक देने की वही पूर्वोक्त विधि जाननी चाहिए।

परिवासियभोयण-पदं

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
पारियासियस्स आहारस्स जाव
तयप्पमाणमेत्तमवि भूइप्पमाणमेत्तमवि
बिंदुप्पमाणमेत्तमवि आहारमाहारित्तए,
नण्णत्थ आगाढेहिं रोगायंकेहिं॥

(सूत्र ३७)

५९९७.उदिओऽयमणाहारो, इमं तु सुत्तं पडुच्च आहारं।

अत्थे वा निसि मोयं, पिज्जति सेसं पि मा एवं॥

मोक लक्षण वाला अनाहार पूर्वसूत्र में कहा गया है। प्रस्तुत सूत्र आहार से संबंधित है। अर्थतः मोक रात्री में भी पिया जाता है। शेष आहार रात्री में न खाया जाए, इसलिए प्रस्तुत सूत्र का आरंभ है।

५९९८.परिवासियआहारस्स मग्गणा आहारो को भवे अणाहारो।

आहारो एगंगिओ, चउव्विहो जं वऽतीइ तहिं॥

परिवासित आहार की मार्गणा करनी चाहिए। शिष्य ने पूछा—भंते! आहार क्या है और अनाहार क्या है? आचार्य ने कहा—आहार एकांगिक अर्थात् शुद्ध तथा क्षुधा को शांत करने वाला होता है। आहार के चार प्रकार हैं—अशन, पान, खादिम और स्वादिम या आहार में जो दूसरी वस्तुएं—नमक आदि डाली जाती हैं, वे भी आहार हैं।

५९९९.कूरो नासेइ छुहं, एगंगी तक्क-उदग-मज्जाई।

खाइमे फल-मंसाई, साइमे महु-फाणियाईणि॥

अशन में एकांगिक कूर—भात आदि भोजन क्षुधा का नाश करता है और पानक में—एकांगिक तक्र, उदक, मद्य आदि प्यास को मिटाती है। खादिम में फल आदि, स्वादिम में मधु-फाणित आदि—ये सारे आहार का कार्य करती हैं।

६०००.जं पुण खुहापसमणे, अस्समत्थेगंगि होइ लोणाई।

तं पि य होताऽऽहारो, आहारजुयं व विजुतं वा॥

जो एकांगिक क्षुधाशमन में अस्समर्थ हो, जैसे—लवण आदि, वह भी आहार से संयुक्त या असंयुक्त होकर आहार होता है। अशन में लवण, हींग, जीरा आदि उपयोग में आते हैं।

६००१.उदए कप्पूराई, फलि सुत्ताईणि सिंगबेर गुले।

न य ताणि खविंति खुहं, उवगारित्ता उ आहारो॥

उदक में कपूर आदि, आम आदि फलों में सुत्त आदि शूठ में गुड़ डाला जाता है। कपूर आदि सारे द्रव्य भूख

को नहीं मिटाते, परन्तु ये उपकारी होने के कारण आहार माने जाते हैं।

६००२.अहवा जं भुक्खत्तो, कद्दमउवमाइ पक्खिवइ कोट्टे।

सब्बो सो आहारो, ओसहमाई पुणो भइतो॥

अथवा भूख से पीड़ित व्यक्ति कर्म के सदृश मिट्टी आदि जो कुछ अपनी कुक्षी में प्रक्षिप्त करता है वह सारा आहार कहलाता है। औषध आदि में विकल्प है—वह आहार भी है और अनाहार भी है।

६००३.जं वा भुक्खत्तस्स उ, संकसमाणस्स देइ अस्सातं।

सब्बो सो आहारो, अकामऽणिट्ठं चऽणाहारो॥

अथवा क्षुधार्त व्यक्ति को जिस द्रव्य को चबाते हुए कवल-प्रक्षेप जैसा आस्वाद आता है वह सारा आहार है। तथा बिना मन खाए जाने वाला तथा अनिष्ट आहार सारा अनाहार है।

६००४.अणहारो मोय छल्ली, मूलं च फलं च होतऽणाहारो।

सेस तय-भूइ-तोयंबिंदुम्मि व चउगुरू आणा॥

मोक—कायिकी, छाल, मूल और फल—आंवला, हरीतकी, बेहरड़—ये सारे अनाहार हैं। शेष आहार है। उस परिवासित आहार का तिलतुषत्वग्मात्र, अंगुली पर लगे उतनी भूतिमात्र—इतना भी यदि कोई खाता है, पान का बिन्दुमात्र भी पीता है तो चतुर्गुरू का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष।

६००५.मिच्छत्ता-ऽसंचइए, विराहणा सत्तु पाणजाईओ।

सम्मच्छणा य तक्कण, दवे य दोसा इमे होंति॥

मुनि यदि अशन आदि को परिवासित रखता है तो मिथ्यात्व आता है। लोग उड्डाह करते हैं कि ये तो असंचिक—असंग्रही हैं। इससे संयम और आत्मविराधना होती है। सत्तु आदि में जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। चूहे आदि उसको खाने की इच्छा करते हैं। द्रव पदार्थ में ये वक्ष्यमाण दोष होते हैं।

६००६.सेह गिहिणा व दिट्ठे, मिच्छत्तं कद्दमसंचया समणा।

संचयमिणं करेंती, अण्णत्थ वि नूण एमेव॥

शैक्ष या गृहस्थ परिवासित अशन आदि को देखकर मिथ्यात्व को प्राप्त हो सकता है। ये श्रमण असंचयशील कैसे? ये इस प्रकार संचय करते हैं। अन्यत्र भी इनका आचरण ऐसा ही होगा।

६००७.निद्धे दवे पणीए, आवज्जण पाण तक्कणा झरणा।

आहारे दिट्ठ दोसा, कप्पइ तम्हा अणाहारो॥

स्निग्ध और प्रणीत द्रव पदार्थ यदि रात्री में स्थापित किए

जाते हैं तो प्राणी उसमें आ गिरते हैं। अन्य प्राणियों की तर्कणा होती है वे उसके चारों ओर घूमते हैं। भाजन से वह द्रव पदार्थ झरता है तो पात्र के नीचे प्राणी एकत्रित हो जाते हैं। शिष्य ने कहा—ये दोष आहार में दृष्ट हैं, इसलिए अनाहार परिवासित करना कल्पता है।

६००८.सुत्तभणियं तु निद्धं,

तं चिय अदवं सिया अतिल्ल-वसं।

सोवीरग-दुद्धाई,

दवं अलेवाड लेवाडं॥

सूत्र में जो कहा है कि तैल और वसा से वर्जित जो घृत आदि अद्रव होता है वही स्निग्ध कहलाता है। जो सौवीर द्रवादिक अलेपकृत है, जो दुग्ध आदि लेपकृत हैं—ये दोनों द्रव कहलाते हैं।

६००९.गूढसिणेहं उल्लं, तु खज्जगं मक्खियं व जं बाहिं।

नेहागाढं कुसणं, तु एवमाई पणीयं तु॥

गूढस्नेह वाले घृतपूर आदि आर्द्रखाद्यक प्रणीत कहलाते हैं, अथवा बाहर से स्नेह से मक्षित मंडक आदि तथा स्नेहावगाढ कुसण आदि प्रणीत कहलाते हैं।

६०१०.अणहारो वि न कप्पइ, दोसा ते चेव जे भणिय पुब्बिं।

तद्विवसं जयणाए, बिइयं आगाढ संविग्गे॥

अनाहार भी स्थापित करना नहीं कल्पता। आहार संबंधी जो दोष कहे गए हैं, वे सारे इसमें भी होते हैं। जिस दिन प्रयोजन हो उस दिन अनाहार द्रव्य लाकर यतनापूर्वक उसे रखे। द्वितीय पद में आगाढ कारण में संविग्ग मुनि उसको स्थापित कर सकता है।

६०११.जह कारणे अणहारो, उ कप्पई तह भवेज्ज इयरो वी।

वोच्छिण्णम्मि मडंबे, बिइयं अद्धानमाईसु॥

जैसे कारणवश अनाहार द्रव्य स्थापित करना कल्पता है, वैसे ही आहार भी कारणवश स्थापित करना कल्पता है। शिष्य ने पूछा—कैसे? आचार्य कहते हैं—मडंब के व्यवच्छिन्न हो जाने पर वहां रहने वाले मुनि अपवाद का सेवन करते हैं। जैसे कारणवश पिप्पल आदि का सेवन करते हैं, वैसे ही अपवादस्वरूप आहार आदि की भी स्थापना करते हैं। अध्वप्रतिपन्न मुनि अध्वकल्प की स्थापना करते हैं।

६०१२.बुच्छिण्णम्मि मडंबे, सहसरुगुप्पायउवसमनिमित्तं।

दिट्ठथाई तं चिय, गिण्हंती तिविह भेसज्जं॥

मडंब के व्यवच्छिन्न होने पर सहसा किसी मुनि के रोग उत्पन्न हो सकता है। उसके उपशमन के लिए दृष्टार्थ—गीतार्थ आदि मुनि अनागत में ही उसी द्रव्य को लेते हैं, जिससे रोग

का उपशमन हो। वह भैषज द्रव्य तीन प्रकार का है—वात, पित्त और श्लेष्म को शांत करने वाला या तीनों का उपशमन करने वाला।

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
पारियासिएणं आलेवणजाएणं गायाइं
आलिंपित्तए वा विलिंपित्तए वा, नण्णत्थ
आगाढेहिं रोगायंकेहिं॥

(सूत्र ३८)

६०१३. जइ भुत्तुं पडिसिद्धो, परिवासे मा हु को वि मक्खद्धा।
वुत्तो वा पक्खेवे, आहारो इमं तु लेवम्मि॥
यदि परिवासित आहार को खाना प्रतिषिद्ध है तो कोई परिवासित द्रव्य म्रक्षण के लिए काम में न ले, इसके लिए प्रस्तुत सूत्र का आरंभ है। पूर्वसूत्र में प्रक्षेप आहार विषयक कथन है, प्रस्तुत सूत्र आलेप विषयक है।

६०१४. अब्भितरमालेवो, वुत्तो सुत्तं इमं तु बज्झम्मि।
अहवा सो पक्खेवो, लोमाहारे इमं सुत्तं॥
अथवा पूर्वसूत्र में आभ्यन्तर आलेप के विषय में कहा है, प्रस्तुत सूत्र बाह्य आलेप विषयक है। अथवा वह प्रक्षेप आहार विषयक था। यह सूत्र लोमाहार विषयक है।

६०१५. मक्खेऊणं लिप्पइ, एस कमो होति वणतिगिच्छाए।
जइ ते ण तं पमाणं, मा कुण किरियं सरीरस्स॥
व्रणचिकित्सा में पहले व्रण का म्रक्षण किया जाता है, पश्चात् उस पर लेप किया जाता है—यह क्रम है। यदि तुम्हारे लिए यह प्रमाण न हो तो तुम कभी शरीर की क्रिया—चिकित्सा मत कराना।

६०१६. आलेवणेण पउणइ, जो उ वणो मक्खणेण किं तत्थ।
होहिइ वणो व मा मे, आलेवो दिज्जई समणं॥
आचार्य ने कहा—यह एकान्तमत नहीं है कि व्रण पर म्रक्षण और आलेपन—दोनों हों। कहीं एक से काम हो जाता है और कहीं दोनों करने होते हैं। जो व्रण आलेपन से उपशांत हो जाता है वहां म्रक्षण का क्या प्रयोजन? मेरे व्रण न हो इसलिए उसको आलेपशमन की औषध दी जाती है।

६०१७. अच्चाउरे उ कज्जे, करिंति जहलाभ कत्थ परिवाडी।
अणुपुब्बि संतविभवे, जुज्जइ न उ सब्बजाईसु॥
अत्यातुर कार्य में अर्थात् आगाढ़ रोग में जिससे लाभ हो वैसी चिकित्सा की जाती है। उसमें कोई परिपाटी—क्रम नहीं

होता। जो वैभवशाली है उसकी चिकित्सा में आनुपूर्वी—परिपाटी होती है, सभी जातियों में नहीं।

६०१८. सुत्तम्मि कड्ढियम्मिं, आलेव ठविति चउलहू होंति।
आणाइणो य दोसा, विराहणा इमेहिं ठाणेहिं॥
सूत्र में कथित हो जाने के कारण यदि कोई रात्री में आलेप रखता है तो उसे चतुर्लघु और आत्ताभंग आदि दोष प्राप्त होते हैं और इन स्थानों में विराधना होती है।

६०१९. निद्धे दवे पणीए, आवज्जण पाण तक्कणा झरणा।
आयंक विवच्चासे, सेसे लहुगा य गुरुगा य॥
स्निग्ध, द्रव और प्रणीत आलेप रात्री में रखने में प्राणियों का आपतन, और तर्कणा होती है। पात्र से द्रव्य झरता है। इसमें दोष प्राग्वत्। रोग में विपर्यास से चिकित्सा करने पर प्रायश्चित्त आता है। बिना कारण परिवासित रखता है, प्रासुक रखने पर चतुर्लघु, अप्रासुक रखने पर चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त है।

६०२०. ति च्चिय संचयदोसा,
तयाविसे लाल छिवण लिहणं वा।

अंबीभूयं बिइए,

उज्झमणुज्झंति जे दोसा॥

आलेप आदि रात्री में रखने से वे ही संचय आदि दोष होते हैं। त्वग्विष—सर्प उसका स्पर्श करता है, लालाविष उसको जीभ से चाटता है, दूसरे दिन अम्ल हो जाने से उसका परिष्ठापन किया जाता है, परिष्ठापन न करने पर जो दोष होते हैं, वे प्राप्त होते हैं।

६०२१. दिवसे दिवसे गहणं, पिट्टमपिट्टे य होइ जयणाए।
आगाढे निक्खिवणं, अपिट्ट पिट्टे य जयणाए॥

प्रयोजन होने पर प्रतिदिन उसका ग्रहण करना चाहिए। सबसे पहले पिष्ट का ग्रहण करना चाहिए पश्चात् अपिष्ट का यतनापूर्वक ग्रहण करना चाहिए। आगाढ़ रोग में आलेप का निक्षेपण—परिवासन भी किया जा सकता है। वह भी अपिष्ट या पिष्ट का यतनापूर्वक करना चाहिए।

६०२२. आगाढे अणागाढं, अणगाढे वा वि कुणइ आगाढं।
एवं तु विवच्चासं, कुणइ व वाए कफतिगिच्छं॥

आगाढ़ ग्लानत्व में अनागाढ़ क्रिया करने पर चतुर्गुरु, अनागाढ़ में आगाढ़ क्रिया करने पर चतुर्लघु। अथवा वायु चिकित्सनीय है और करता है कफ की चिकित्सा, अथवा कफ चिकित्सनीय है और करता है वायु की चिकित्सा—यह सारा विपर्यास है।

६०२३. अगिलाणो खलु सेसो, दव्वाईतिविहआवइजढो वा।
पच्छित्ते मग्गणया, परिवासितस्सिमा तस्स॥

शेष अर्थात् जो अग्लान है, जो द्रव्य, क्षेत्र और काल—इन तीन प्रकार की आपदाओं से मुक्त है, वह यदि परिवासित रखता है तो उसके लिए प्रायश्चित्त की मार्गणा यह है।

६०२४. फासुगमफासुगे वा, अचित्त चित्ते परित्तऽणंते वा।

असिणेह सिणेहगए, अणहाराऽऽहार लहु-गुरुगा॥

वह यदि प्राशुक, अचित्त, परीत्त, अस्नेह और अनाहार को स्थापित करता है तो चतुर्लघु तथा अप्रासुक, सचित्त, अनन्त, स्नेहावगाढ़ और आहार को स्थापित करता है तो उसे चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
पारियासिएणं तेल्लेण वा घएण वा
नवणीएण वा वसाए वा गायाइं अब्भंगित्तए
वा मक्खित्तए वा, नण्णत्थ आगाढेहिं
रोगायंकेहिं॥

(सूत्र ३९)

६०२५. असिणेहो असिणेहो, दिज्जइ मक्खित्तु वा तगं देंति।

सब्बो वा णालिप्पइ, दुहतो वा मक्खणे सूया॥

आलेप के दो प्रकार हैं—सस्नेह और अस्नेह। यह आलेप दिया जाता है। अथवा व्रण का म्रक्षण कर पश्चात् आलेप दिया जाता है। सारा व्रण आलिस नहीं किया जाता। दो प्रकार से म्रक्षण की सूचा की गई है। व्रण भी म्रक्षित किया जाता है और आलेप भी म्रक्षण के लिए दिया जाता है।

६०२६. तद्विसमक्खणम्मिं, लहुओ मासो उ होइ बोधब्बो।

आणाइणो विराहण, धूलि सरक्खे थ तसपाणा॥

शिष्य ने पूछा—यदि परिवासित से म्रक्षण करना नहीं कल्पता तो क्या उसी दिन आनीत द्रव्य से म्रक्षण आदि करना कल्पेगा? आचार्य कहते हैं—यदि उसी दिन लाए हुए द्रव्य से म्रक्षण करता है तो लघुमास, आज्ञाभंग आदि दोष और विराधना होती है। म्रक्षित शरीर पर धूल, सच्चित्तरजें लग जाती हैं। वस्त्र मलिन हो जाते हैं। उनको धोने पर संयमविराधना होती है। स्नेह के गंध से त्रस प्राणियों की विराधना होती है।

६०२७. धुवणा-ऽधुवणे दोसा, निसिभत्तं उप्पिलावणं चव।

बउसत्त समुइ तलिया, उव्वट्टणमाइ पलिमंथो॥

स्नेह के कारण मलिन हुए वस्त्र और शरीर को धोने पर या न धोने पर—दोनों में दोष है। यदि न धोया जाए तो निशिभक्त और धोया जाए तो प्राणियों का उत्प्लावन होता है। उपकरण और शरीर की बकुशता होती है। फिर वही 'हेवाक' आदत हो जाती है। पैरों में धूली न लगे, इसलिए वह तलिका पहन लेता है। गात्र का उद्वर्तन आदि करने पर सूत्रार्थ का परिमंथ होता है।

६०२८. तद्विसमक्खणेण उ, दिद्धा दोसा जहा उ मक्खिज्जा।

अब्बाणेणुव्वाए, वाय अरुग कच्छु जयणाए॥

तद्विसानीत द्रव्य से म्रक्षण करने पर ये दोष दृष्ट हैं। अपवादपद में म्रक्षण की यह विधि है—मार्ग में अत्यंत थक गया हो, वायु से कमर जकड़ गई हो, ऊरु-व्रण हो गया हो, खाज हो गई हो—यतनापूर्वक म्रक्षण करे।

६०२९. सन्नाईकयकज्जो, धुविउं मक्खेउ अच्छए अंतो।

परिपीय गोमयाई, उव्वट्टण धोव्वणा जयणा॥

संज्ञागमन, भिक्षाचर्यागमन तथा अन्यान्य बहिर्गमन के कार्य जिसने कर लिए हों उसे जितने शरीर का म्रक्षण करना है उतने मात्र शरीर को धोकर, फिर म्रक्षण करे। म्रक्षण कर फिर प्रतिश्रय के भीतर तब तक बैठा रहे जब तक वह शरीर तैलादिक म्रक्षण को पी न ले। फिर गोबर आदि से उद्वर्तन कर यतनापूर्वक उसका प्रक्षालन करे।

६०३०. जह कारणे तद्विसं, तु कप्पई तह भवेज्ज इयरं पि।

आयरियवाहि वसभेहि पुच्छिए विज्ज संदेसो॥

जैसे कारण में तद्विस आनीत म्रक्षण कल्पता है तो परिवासित भी कल्पता है। आचार्य के कोई व्याधि हो गई। वृषभों ने वैद्य से पूछा। वैद्य ने कहा—शतपाक आदि तैल हो तो चिकित्सा की जा सकती है।

६०३१. सयपाग सहस्सं वा, सयसाहस्सं व हंस-मरुतेल्लं।

दूराओ वि य असई, परिवासिज्जा जयं धीरे॥

शतपाक, सहस्रपाक, शतसहस्रपाक, हंसतैल, मरु तैल—ये दुर्लभ द्रव्य सबसे पहले तद्वैसिक लाने चाहिए। प्राप्त न होने पर धीर गीतार्थ मुनि दूर से मंगा कर भी उनकी स्थापना करे।^१

६०३२. एयाणि मक्खणद्धा, पियणद्धा एव पतिदिणालंभे।

पणहाणीए जइउं, चउगुरुपत्तो अदोसाओ॥

ये शतपाक तैल आदि म्रक्षण के लिए तथा पान करने के लिए प्रतिदिन न मिलने पर पंचक परिहानि से चतुर्गुरु

१. शतपाक तैल वह होता है जो सौ औषधियों में पकाया जाता है या एक ही औषधी को सौ बार पकाया जाता है। इसी प्रकार सहस्रपाक और शतसहस्रपाक तैल को जानना चाहिए। हंसपाक अर्थात् हंस को औषध

से भरकर तैल में पकाना, वह तैल। मरुतैल—मरुदेश में पर्वत से उत्पन्न तैल।

(वृ. पृ. १५९१)

प्रायश्चित्त प्राप्त होने तक प्रयत्नपूर्वक परिवासित करने पर भी अदोष है। (इन तैलों की सर्वथा अप्राप्ति होने पर गुरु के लिए मुनि स्वयं इन तैलों को पकाए।)

अहालहुसगववहार-पदं

परिहारकप्पट्टिए भिक्खू बहिया थेराणं
वेयावडियाए गच्छेज्जा, से य आहच्च
अइक्कमेज्जा, तं च थेरा जाणेज्जा अप्पणो
आगमेणं अण्णेसिं वा अंतिए सोच्चा,
तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नाम
ववहारे पडुवियव्वे सिया॥

(सूत्र ४०)

६०३३. निष्कारणपडिसेवी, अजयणकारी व कारणे साहू।

अदुवा चिअत्तकिच्चे, परिहारं पाउणे जोगो॥
जो निष्कारण प्रतिसेवी है, जो साधु कारण में
अयतनाकारी है अथवा जो त्यक्तकृत्य—स्वस्थ होने पर भी
मृक्षण आदि क्रिया को नहीं छोड़ता, वह परिहारतप को प्राप्त
होता है, यह योग है, संबंध है।

६०३४. परिहारिओ य गच्छे, आसण्णे गच्छ वाइणा कज्जं।

आगमणं तहिं गमणं, कारण पडिसेवणा वाए॥
गच्छ में कोई पारिहारिक है। निकटस्थ किसी
अन्यगच्छ में वादी का कार्य उत्पन्न हो गया। उस गच्छ से
एक संघाटक आया और उसने आचार्य से कहा—वादी साधु
को भेजो। गुरु के आदेश से वह पारिहारिक तप करने
वाला मुनि वहां गया। वहां जाकर वाद के प्रसंग में उसने ये
प्रतिसेवनाएं कीं।

६०३५. पाया व दंता व सिया उ धोया,

वा-बुद्धिहेतुं व पणीयभत्तं।

तं वातिगं वा मइ-सत्तहेउं,

सभाजयद्वा सिचयं व सुक्कं।

उसने पैर और दांत धोए। बुद्धि की स्थिरता के लिए
प्रणीत-भोजन किया। मति के लिए तथा शक्ति के लिए
विकट—मद्य का सेवन किया। सभी को जीतने के लिए सफेद
वस्त्र धारण किए।

६०३६. थेरा पुण जाणंती, आगमओ अहव अण्णओ सुच्चा।

परिस्साए मज्झम्मिं, पडुवणा होइ पच्छित्ते॥

उसने ये प्रतिसेवनाएं कीं। उसके लौट आने पर स्थविर—
आचार्य जान लेते हैं अथवा अन्यतः सुनकर जान लेते हैं। तब
उसके लिए परिषद् में प्रायश्चित्त की प्रस्थापना करनी
चाहिए।

६०३७. नव-दस-चउदस-ओही-

मणनाणी केवली य आगमिउं।

सो चेवऽण्णो उ भवे,

तदणुचरो वा वि उवगो वा॥

वे आचार्य नौपूर्वी, दशपूर्वी, चतुर्दशपूर्वी, अवधिज्ञानी,
मनःपर्यवज्ञानी, केवलज्ञानी हो सकते हैं। वे अतिशय ज्ञान से
जानकर प्रायश्चित्त देते हैं। अन्य अर्थात् उसी पारिहारिक से
आलोचना सुनकर अथवा उसके अनुचर से अथवा 'उक्क'—वह
व्यक्ति जो पारिहारिक से कहीं से आ मिला हो—इनसे
सुनकर।

६०३८. तेसिं पच्चयहेउं, जे पेसविया सुयं व तं जेहिं।

भयहेउ सेसगाण य, इमा उ आरोवणारयणा॥

जिनको पारिहारिक के साथ भेजा था, उनके विश्वास के
लिए, जिन्होंने प्रतिसेवना सुनी उनके विश्वास के लिए तथा
शेष शिष्यों के भय के लिए यह आरोपणारचना—व्यवहार-
प्रस्थापना करनी चाहिए।

६०३९. गुरुओ गुरुअतराओ, अहागुरूओ य होइ ववहारो।

लहुओ लहुयतराओ, अहालहू होइ ववहारो॥

६०४०. लहुसो लहुसतराओ, अहालहूसो अ होइ ववहारो।

एतेसिं पच्छित्तं, वुच्छामि अहाणुपुव्वीए॥

व्यवहार के तीन प्रकार हैं—गुरुक, लघुक, लघुस्वक।
गुरुक के तीन प्रकार हैं—गुरुक, गुरुतरक, यथागुरुक। लघुक
के तीन प्रकार हैं—लघु, लघुतर, यथालघु। लघुस्वक के तीन
प्रकार हैं—लघुस्वक, लघुस्वतरक, यथालघुस्वक। इन
व्यवहारों का यथानुपूर्वी से—यथोक्तपरिपाटी से प्रायश्चित्त
कहूंगा।

६०४१. गुरुगो य होइ मासो, गुरुगतरागो भवे चउम्मासो।

अहगुरुगो छम्मासो, गुरुगे पक्खम्मि पडिवत्ती॥

गुरुक व्यवहार मासपरिमाण वाला होता है। गुरुतरक
चतुर्मासपरिणाम वाला और यथागुरुक छह मास
परिमाण वाला होता है। गुरुक पक्ष में यह प्रायश्चित्त की
प्रतिपत्ति है।

६०४२. तीसा य पण्णवीसा, वीसा वि य होइ लहुयपक्खम्मि।

पन्नरस दस य पंच य, अहालहुसगम्मि सुद्धो वा॥

लघुक व्यवहार तीस दिन परिमाण, लघुतरक पचीस दिन

और यथालघुक बीस दिन परिमाण—यह लघुक पक्ष में प्रायश्चित्त की प्रतिपत्ति है। लघुस्वक व्यवहार पन्द्रह दिन, लघुस्वतरक दश दिन और यथालघुस्वक पांच दिन परिमाण का प्रायश्चित्त। अथवा यथालघुस्वक व्यवहार शुद्ध होता है, प्रायश्चित्त नहीं आता।

६०४३. गुरुगं च अद्रुमं खलु, गुरुगतरागं च होइ दसमं तु।

अहगुरुग दुवालसमं, गुरुगे पक्खम्मि पडिवत्ती॥

एकमासपरिमाण वाला गुरुक व्यवहार अष्टम से चातुर्मास प्रमाण वाला गुरुतरक व्यवहार दशम से और छहमास प्रमाण वाला यथागुरुक व्यवहार द्वादश से पूरा हो जाता है। यह गुरुक पक्ष में अर्थात् गुरुव्यवहार के पूर्ति-विषयक तपःप्रतिपत्ति है।

६०४४. छट्ठं च चउत्थं वा, आयंबिल एगठाण पुरिमहं।

निव्वीयं दायव्वं, अहालहुसगम्मि सुद्धो वा॥

तीस दिन प्रमाण वाला लघुक व्यवहार षष्ठ से—दो दिन के उपवास से, पचीस दिन प्रमाण वाला लघुतरक व्यवहार उपवास से तथा बीस दिन प्रमाण वाला यथालघुक व्यवहार आचाम्ल से पूरा हो जाता है। यह तीन प्रकार के लघुक व्यवहार की तपःप्रतिपत्ति है। पन्द्रह दिन प्रमाण वाला लघुस्वकव्यवहार एकस्थान से, दस दिन प्रमाण वाला लघुस्वतरकव्यवहार पूर्वार्द्ध से, पांच दिन प्रमाण वाला यथालघुस्वकव्यवहार निर्विकृति से पूरा हो जाता है। कोई मुनि परिहारतपप्रायश्चित्त वहन कर रहा हो और उसके प्रति यदि यथालघुस्वक व्यवहार की प्रस्थापना करनी हो तो वह आलोचनामात्र से शुद्ध है क्योंकि उसने कारण में यतनापूर्वक प्रतिसेवना की है।

६०४५. जं इत्थं तुह रोयइ, इमे व गिण्हाहि अंतिमे पंच।

हत्थं व भमाडेउं, जं अक्कमते तगं वहइ॥

इस प्रायश्चित्त के प्रस्तार की रचना कर आचार्य कहते हैं—शिष्य! इन प्रायश्चित्तों में से तुमको जो रुचिकर लगे उसे ग्रहण करो। यह अंतिम जो पांच रातदिन का प्रायश्चित्त है उसे ग्रहण करो। तब वह शिष्य यथालघुस्वक प्रायश्चित्त लेता है। अथवा हाथ को घुमाकर गुरु जिस प्रायश्चित्त के लिए कहते हैं उसे ग्रहण कर लेता है।

६०४६. उब्भावियं पवयणं, थोवं ते तेण मा पुणो कासि।

अइपरिणएसु अन्नं, बेइ वहंतो तगं एयं॥

आचार्य उस शिष्य को कहते हैं—किसी अपराध पर तुमको पारिहारिक तप का प्रायश्चित्त दिया गया था। अब वैसा अपराध पुनः मत करना। इस बार तुमने परवादी का

निग्रह कर प्रवचन की उद्भावना की है, अतः तुमको थोड़ा प्रायश्चित्त दिया है। यह सुनकर अतिपरिणत और अपरिणत शिष्य सोचते हैं—यह इतने मात्र प्रायश्चित्त से दोषमुक्त हो गया। यदि वह शिष्य पूर्व का कोई अन्य प्रायश्चित्त वहन कर रहा हो तो वह गुरु से सबके सामने कहता है—आपने मुझे पहले यह प्रायश्चित्त दिया था उसे मैं वहन कर रहा हूँ।

पुलागभत्त-पदं

निग्गंथीए य गाहावइकुलं
पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठाए अण्णयरे
पुलागभत्ते पडिग्गाहिए सिया, सा य
संथरेज्जा, कप्पइ से तद्विसं तेणेव
भत्तद्वेणं पज्जोसवेत्तए, नो से कप्पइ दोच्चं
पि गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए
पविसित्तए। सा य नो संथरेज्जा एवं से
कप्पइ दोच्चं पि गाहावइकुलं
पिंडवायपडियाए पविसित्तए॥

—त्ति बेमि

(सूत्र ४१)

६०४७. उत्तरियपच्चयद्धा, सुत्तमिणं मा हु हुज्ज बहिभावो।

जससारक्खणमुभए, सुत्तारंभो उ वइणीए॥

लोकोत्तरिक अपरिणामक तथा अतिपरिणामक शिष्यों के प्रत्यय के लिए यह सूत्र अर्थात् अनन्तरोक्तसूत्र कहा गया है। पूर्वोक्त का बहिर्भाव न हो, इसलिए वह उपक्रम था। प्रस्तुत सूत्रारंभ व्रतिनीविषयक उभय लोक—इहलोक और परलोक में यश में संरक्षण के लिए है।

६०४८. तिविहं होइ पुलागं, धण्णे गंधे य रसपुलाए य।

चउगुरुगाऽऽयरियाई, समणीणुद्धरग्गहणे॥

पुलाक के तीन प्रकार हैं—धान्यपुलाक, गंधपुलाक, रसपुलाक। यदि आचार्य प्रवर्तिनी को यह सूत्र नहीं कहते हैं तो चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है। यदि प्रवर्तिनी आर्याओं को नहीं कहती है तो चतुर्गुरु और आर्याएं स्वीकार नहीं करती हैं तो मासलघु का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। आर्याएं यदि ऊर्ध्वदर—सुभिक्ष में पुलाक ग्रहण करती हैं तो चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त है।

६०४९. निष्पावाई धन्ना, गंधे वाङ्ग-पलंडु-लसुणाई।
खीरं तु रसपुलाओ, चिंचिणि-दक्खारसाईया॥

निष्पाव-वल्ल आदि धान्य धान्यपुलाक है। मद्य, कांदा, लहसुन आदि गंधपुलाक हैं। दूध, इमली का रस, दाक्षारस आदि रसपुलाक है।

६०५०. आहारिया असार, करेति वा संजमाउ निस्सारं।
निस्सारं व पवयणं, दहुं तस्सेविणिं बिंति॥

पुलाक का अर्थ है-असार। वल्ल आदि का भोजन असार है। ये सभी प्रकार के पुलाक संयम से व्यक्ति को निस्सार कर देते हैं। रसपुलाक का सेवन करने वाली साध्वी को देखकर प्रवचन की निःसारता को लोग कहने लग जाते हैं।

६०५१. आणाङ्गो य दोसा, विराहणा मज्जगंध मय खिसा।
निरोहेण व गेलणं, पडिगमणाईणि लज्जाए॥

तीनों प्रकार के पुलाक ग्रहण करने पर आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं। संयमविराधना और आत्मविराधना होती है। रस-पुलाक का सेवन करने पर मद्यगंध आती है, मदविह्वल साध्वी को देखकर लोग खिसना करते हैं। धान्यपुलाक से वायुप्रकुपित होती है। उसका निरोध करने से ग्लानत्व हो सकता है। वायु निकलने से उड्हाह होता है। तब लज्जावश साध्वी प्रतिगमन आदि कर देती है।

६०५२. वसहीए वि गरहिया,

किमु इत्थी बहुजणम्मि सक्खीवा।

लाहुकं पिल्लणया,

लज्जानासो पसंगो य॥

स्त्री अर्थात् निर्ग्रन्थी जो सक्षीब-मद्यमदयुक्त हो, वह यदि वसति में भी गर्हित होती है तो अनेक लोगों में पर्यटन करती हुई का तो कहना ही क्या? उसे देखकर लोग प्रवचन की लघुता करते हैं। उद्भ्रामक पुरुष उसकी प्रतिसेवना करते हैं। मद के वशीभूत वह प्रलाप करती है, उसके लज्जा का नाश हो जाता है। फिर प्रतिसेवना का प्रसंग भी आ सकता है।

६०५३. घुन्नइ गई सदिट्ठी, जहा य रत्ता सि लोयण-कवोला।
अरहइ एस पुताई, णिसेवई सज्झए गेहे॥

मदभावित साध्वी को देखकर लोग कहते हैं-देखो, इसकी गति और दृष्टि घूर्णित हो रही है। इसके लोचन और कपोल रक्त दिखाई दे रहे हैं। यह पुताकी-उद्भ्रामिका होनी चाहिए। इसीलिए यह 'सध्वजगेह' अर्थात् कल्पपाल के घर में आती-जाती है।

६०५४. छक्कायाण विराहण, वाउभय-निसग्गओ अवन्नो य।
उज्जावणमुज्झंती, सइ असइ दवम्मि उड्हाहो॥

तीनों प्रकार के पुलाक के सेवन से ये दोष यथायोग होते हैं-छहकाय की विराधना, वायु का प्रकोप, कायिकी और संज्ञा का व्युत्सर्ग गृहस्थों के यहां करने पर अवर्णवाद होता है, स्थान की स्वामिनी उसी साध्वी से जहां उसने पुरीष आदि का व्युत्सर्ग किया था, पुरीष उठवाती है या फिर स्वयं उठाकर यथास्थान फेंकती है। शौच के लिए क्लुषित द्रव है, थोड़ा है या है ही नहीं तो दोनों ओर से प्रवचन का उड्हाह होता है।

६०५५. हिज्जो अह सक्खीवा, आसि णं संखवाइभज्जा वा।
भग्गा व णाए सुविही', दुद्धि कुलम्मि गरहा य॥

लोग कहने लगते हैं-ओह! कल तो यह साध्वी मद्यमद से उन्मत्त थी। गंधपुलाक का भोजन कर साध्वी जब गोचरचर्या में जाती है और उसके अधोवायु के शब्द को सुनकर लोग उपहास करते हुए कहते हैं-ओह! पूर्व में यह शंख बजाने वाले की भार्या थी अथवा इसने वायु के शब्द से 'सुविही'-आंगन की मंडपिका को भी तोड़ डाला है। यह दुर्वृष्टधर्मा है, अपने कुल को कलंकित किया है। इस प्रकार उसकी गर्हा होती है।

६०५६. जहिं एरिसो आहारो, तहिं गमणे पुव्ववण्णिया दोसा।
गहणं च अणाभोए, ओमे तहकारणेण गया॥

६०५७. गहियमणाभोएणं, वाङ्ग वज्जं तु सेस वा भुंजे।
भिच्छुप्पियं तु भुत्तुं, जा गंधो ता न हिंडंती॥

जहां ऐसा पुलाक आहार प्राप्त होता है वहां जाने पर पूर्ववर्णित दोष होते हैं। अवम-दुर्भिक्ष आदि कारणों से वहां जाना पड़े और अनाभोग से पुलाकभक्त का ग्रहण करना पड़े तो अनाभोग से गृहीत पुलाक आहार में मद्य को छोड़कर शेष का भोजन कर ले। भिक्षुप्रिय अर्थात् कांदा^२ उसको खाने के बाद जब तक उसकी गंध रहे तब तक बाहर न जाए।

६०५८. कारणगमणे वि तहिं, पुव्वं घेत्तूण पच्छ तं चेव।
हिण्डण पिल्लण बिइए, ओमे तह पाहुण्डा वा॥

अवम आदि स्थानों में कारणवश जाना भी पड़े तो वहां मद्य, पलांडु, लहसुन आदि ग्रहण करना एकान्ततः निषिद्ध है। यदि पहले ले लिए गए हों तो उसीका भोजन कर ले, अन्य न लाए, भिक्षा के लिए न घूमे। अपवादपद में यदि कोई साध्वियां अतिथिरूप में आ गई हों तो उनके भक्त-पान के लिए जाया जा सकता है। दुर्भिक्ष में

१. सुविही-अङ्गणमण्डपिका। (वृ. पृ. १५९८)

२. भिक्षुप्रियं नाम-पलाण्डु। (वृ. पृ. १५९८)

पर्याप्त लाभ न होने पर दूसरी बार भिक्षा के लिए जा सकता है। धान्य पुलाक के भोजन से वायु का प्रकोप या संज्ञा संभव हो तो अन्य साध्वियों की वसति में संज्ञा का विसर्जन करे या श्राविका के घर में पुरोहड़ में व्युत्सर्ग क्रिया करे।

६०५९. एसेव गमो नियमा, तिविह पुलागम्मि होइ समणाणं।
नवरं पुण नाणत्तं, होइ गिलाणस्स वइयाए॥

तीनों प्रकार के पुलाक संबंधी यही गम-विकल्प श्रमणों के लिए है। इनमें नानात्व यह है—ग्लान के लिए दूध आदि लाने के लिए ब्रजिका में साधु जा सकते हैं। यदि पर्याप्त भोजन कर चुके हैं तो स्वयं के लिए रसपुलाक ग्रहण नहीं करते। दूध आदि पीकर फिर भिक्षा के लिए नहीं जाते। कारणवश जा भी सकते हैं। यतना पूर्ववत्।

पांचवां उद्देशक समाप्त

छठा उद्देशक
(गाथा ६०६०-६४९०)

छठा उद्देशक

अवयण-पदं

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
इमाइं छ अवयणाइं वइत्तए, तं
जहा—अलियवयणे हीलियवयणे
खिसिंथवयणे फरुसवयणे गारत्थियवयणे
विओसवियं वा पुणो उदीरित्तए ॥

(सूत्र १)

६०६०. कारणे गंधपुलागं, पाउं पलविज्ज मा हु सक्खीवा।

इइ पंचम-छट्ठाणं, थेरा संबंधमिच्छंति ॥

कोई साध्वी कारणवश गंधपुलाक पीकर मद से उन्मत्त होकर अलीक आदि वचनों का प्रलाप न करे, इसलिए प्रस्तुत सूत्र का प्रारंभ है। इस प्रकार पांचवें और छठे उद्देशक का संबंध स्थविर 'श्री भद्रबाहुस्वामी' चाहते हैं।

६०६१. दुचरिमसुत्ते वुत्तं, वादं परिहारिओ करेमाणो।

बुद्धी परिभूय परे, सिद्धंतावेत संबंधो ॥

पांचवें उद्देशक के दो चरिय सूत्रों में पारिहारिक मुनि वाद करता हुआ परवादी की बुद्धि को पराजित कर सिद्धांत से हटकर भी वचन कहता है, परंतु सूत्रगत छह वचनों को छोड़कर। यह प्रकारान्तर से संबंध है।

६०६२. दिव्वेहिं छंदिओ हं, भोगेहिं निच्छिया मए ते य।

इति गारवेण अलियं, वइज्ज आईय संबंधो ॥

कोई मुनि गुरु के पास आकर कहता है—दिव्य भोगों के लिए मैं निमंत्रित हुआ, परन्तु मैंने उन भोगों की इच्छा नहीं की। इस प्रकार स्वयं के गौरव के लिए उसने झूठ बोल दिया। दोनों उद्देशकों के आदि सूत्र का यह संबंध है।

६०६३. छ च्चेव अवत्तव्वा, अलिगे हीला य खिस फरुसे य।

गारत्थ विओसविए, तेसिं च परूवणा इणमो ॥

ये छह प्रकार के वचन अवक्तव्य हैं। अलीकवचन,

हीलितवचन, खिसितवचन, परुषवचन, गृहस्थवचन, व्यवशमित-उदीरितवचन। इनका प्ररूपणा इस प्रकार है।

६०६४. वत्ता वयणिज्जो या, जेसु य ठाणेसु जा विसोही य।

जे य भणओ अवाया, सप्पडिक्खा उ पेयव्वा ॥

अलीक वचन बोलने वाला वक्ता, वचनीय—जिसको उद्दिष्ट कर अलीकवचन बोला जाता है, जिन-जिन स्थानों में वह वचन अलीक होता है, जैसी उनकी शोधि—प्रायश्चित्त होता है, अलीक बोलने के जो-जो अपाय हैं, उनके जो अपवाद हैं—ये सब कथनीय हैं।

६०६५. आयरिए अभिसेगे, भिक्खुम्मि य थेरए य खुडे य।

गुरुगा लहुगा गुरु लहु, भिण्णे पडिलोम बिइएणं ॥

आचार्य आचार्य को अलीक कहता है चतुर्गुरु, आचार्य अभिषेक को अलीक कहता है चतुर्लघु, आचार्य भिक्षु को अलीक कहता है मासगुरु, आचार्य स्थविर को अलीक कहता है मासलघु और आचार्य क्षुल्लक को अलीक कहता है भिन्नमास। द्वितीय आदेश के अनुसार यही प्रायश्चित्त प्रतिलोमरूप में वक्तव्य है।

६०६६. पयला उल्ले मरुए, पच्चक्खाणे य गमण परियाए।

समुद्देश संखडीओ, खुड्ढग परिहारिय मुहीओ ॥

६०६७. अवस्सगमणं विसासुं, एगकुले चव एगदव्वे य।

पडियाखित्ता गमणं, पडियाखित्ता य भुंजणयं ॥?

अलीकवचन के स्थान—प्रचला, आर्द्र, मरुक, प्रत्याख्यान, गमन, पर्याय, समुद्देश, संखडी, क्षुल्लक, पारिहारिक, घोटकमुखी, अवश्यगमन, दिशा, एककुल, एकद्रव्य, प्रत्याख्यायगमन, प्रत्याख्यायभोजन। (ये द्वारगाथा हैं। विवरण आगे की गाथाओं में)

६०६८. पयलासि किं दिवा ण पयलामि,

लहु दुच्चनिण्हवे गुरुगो।

अन्नहाइत निण्हवे,

लहुगा गुरुगा बहुतराणं ॥

एक साधु दिन में बैठे-बैठे नींद ले रहा था।^१ दूसरे साधु ने कहा—नींद ले रहे हो? उसने कहा—नहीं। इस प्रकार प्रथम

१. प्रचलायते—उपविष्टः सन् निद्रायत इत्यर्थः। (वृ. पृ. १६०३)

बार अलीक बोलने से मासलघु। दूसरी बार मासगुरु। तीसरी बार दूसरे साधु को दिखाया, फिर भी वह अलीक कहता है तो चतुर्लघु और अनेक साधुओं के कहने पर भी स्वीकार न करने पर चतुर्गुरु।

६०६९. निण्हवणे निण्हवणे, पच्छित्तं वहुए य जा सपयं।

लहु-गुरुमासो सुहुमो, लहुगादी बाथरो होति॥

इस प्रकार बार-बार अलीक बोलने पर प्रायश्चित्त बढ़ता है—स्वपद अर्थात् पारांचिक पर्यन्त। जैसे—पांचवीं बार अलीक कहने पर षडलघु, छठी बार षडगुरु, सातवीं बार छेद, आठवीं बार मूल, नौवीं बार अनवस्थाप्य, दसवीं बार पारांचिक। प्रस्तुत प्रसंग में जहां-जहां लघुमास या गुरुमास है, वहां-वहां सूक्ष्म मृषावाद है और जहां चतुर्लघुक आदि है वहां बादर मृषावाद है।

६०७०. किं नीसि वासमाणे, ण णीमि नणु वासबिंदवो एए।

भुंजंति णीह मरुगा, कहिं ति नणु सव्वगेहेसु॥

वर्षा बरस रही है। मुनि कहीं जाने के लिए प्रस्थित हुआ। दूसरे साधु ने कहा—‘अरे! बरसात में कहां जा रहे हो? उसने कहा—बरसात में नहीं जा रहा हूं। ये वर्षा के बिन्दु हैं। ‘वासति’ धातु का अर्थ है—शब्द करना। शब्द होता हो तब जाने की मनाही है। मैं जा रहा हूं, कोई शब्द नहीं हो रहा है। छल से प्रत्युत्तर देने पर प्रथम बार, द्वितीय बार आदि में प्रायश्चित्त पूर्ववत्।

एक साधु ने बाहर से उपाश्रय में आकर कहा—साधुओं! उठो, वहां जाओ जहां ब्राह्मण भोजन करते हैं। साधु उठे, हाथों में पात्र लेकर भिक्षाचर्या के लिए निकले। उस साधु से पूछा—वे ब्राह्मण कहां भोजन कर रहे हैं? उसने कहा—‘सभी अपने-अपने घरों में। इस प्रकार छल से उत्तर देना।’

६०७१. भुंजसु पच्चक्खातं, महं ति तक्खण पभुंजिओ पुट्ठो।

किं व ण मे पंचविहा, पच्चक्खाया अविरई उ॥

एक साधु ने दूसरे साधु से कहा—भोजन कर लो। उसने कहा—मैंने प्रत्याख्यान कर लिया है। तत्क्षण वह भोजन-मंडली में गया और भोजन करने लगा। साधु ने पूछा—‘आर्य! तुमने तो कहा था कि मैंने प्रत्याख्यान कर लिया है।’ वह बोला—‘क्या मैंने पांच प्रकार की अविरति का प्रत्याख्यान नहीं किया है?’

६०७२. वच्चसि नाहं वच्चे,

तक्खण वच्चंति पुच्छिओ भणइ।

सिद्धंतं न विजाणसि,

नणु गम्मइ गम्ममाणं तु॥

एक साधु ने दूसरे से पूछा—क्या चलोगे? नहीं, मैं नहीं

चलूंगा। तत्क्षण वह चलने लगा। पूछने पर बोला—‘तुम सिद्धांत को नहीं जानते—‘गम्यमानमेव गम्यते नागम्यमानम्’—चलने वाला ही चलता है, नहीं चलने वाला नहीं। जब तुमने मुझे पूछा तब मैं गम्यमान नहीं था।’

६०७३. दस एयस्स य मज्झ य,

पुच्छिय परियाग बेइ उ छलेण।

मम नव पवंदियम्मिं,

भणाइ बे पंचगा दस उ॥

दो साधु खड़े थे। तीसरा साधु आया। पूछा—आपका संयम-पर्याय कितना है। एक ने कहा—इसका और मेरा दस वर्ष का संयमपर्याय है। इस प्रकार उसने छल से उत्तर दिया। आगंतुक ने कहा—मेरा संयमपर्याय नौ वर्ष का है। वह वंदना करने लगा। तब उससे कहा—मेरा संयमपर्याय पांच वर्ष का और इसका पांच वर्ष का, दोनों को मिलाने पर दस होते हैं। इसलिए आप हम दोनों के लिए वंदनीय हैं।

६०७४. वट्ठइ उ समुद्देशो, किं अच्छह कत्थ एस गगणम्मि।

वट्ठंति संखडीओ, घरेसु णणु आउखंडणया॥

एक साधु ने उपाश्रय में आकर अपने साथी साधुओं से कहा—आज समुद्देश है। ऐसे ही क्यों बैठे हो? इतना सुनते ही वे साधु गोचरचर्या के लिए उठे और उससे पूछा—कहां है समुद्देश? उसने कहा—गगनमार्ग में देखो, आज सूर्यग्रहण है।

एक साधु ने उपाश्रय में आकर कहा—यहां प्रचुर संखड़ियां हैं। मुनियों ने गोचरी जाने की तैयारी की और उससे पूछा—कहां हैं संखड़ियां? उसने कहा—घर-घर में संखड़ी है। कैसे? घर-घर में आयुष्य का खंडन होता है, प्राणी मारे जाते हैं।

६०७५. खुड्ढग! जणणी ते मता,

परुण्णो जियइ त्ति अण्ण भणितम्मि।

माइत्ता सव्वजिया,

भविंसु तेणस ते माता॥

एक साधु उपाश्रय में आकर एक क्षुल्लक साधु से बोला—क्षुल्लक! तुम्हारी जननी मर गई। क्षुल्लक रोने लगा। तब वह साधु बोला—अरे! रोते क्यों हो? तुम्हारी मां जीवित है। तब दूसरे साधुओं ने कहा—तुमने ही तो कहा था कि जननी मर गई है। तब वह बोला—मैंने ठीक ही कहा था। यह जो कुतिया मर गई, वह इसकी माता होती है। कैसे? अतीत में सभी जीव मातृत्वरूप में थे। इसलिए यह इसकी माता है।

६०७६. ओसण्णे दड्ढुणं, दिट्ठा परिहारिग त्ति लहु कहणे।

कत्थुज्जाणे गुरुओ, वयंत-दिट्ठेसु लहु-गुरुगा॥

६०७७. छल्लहुगा उ णियत्ते, आलोएंतम्मि छग्गुरु होंति।
परिहरमाणा वि कहं, अप्परिहारी भवे छेदो॥

६०७८. किं परिहरंति णणु खाणु-कंटए सव्वे तुब्भे हं एगो।
सव्वे तुब्भे बहि पवयणस्स पारंचिओ होति॥

किसी मुनि ने उद्यान में अवसन्न साधुओं को देखा उपाश्रय में आकर बोला—मैंने पारिहारिक साधुओं को देखा। इस प्रकार छलपूर्वक कहने वाले को मासलघु। साधुओं ने पूछा—कहां देखा? उसने कहा—उद्यान में। इस प्रकार कहने पर मासगुरु। पारिहारिक साधुओं को देखने के लिए उपाश्रय से मुनि चले और जब तक उन्हें देख नहीं लेते तब तक उस कहने वाले को चतुर्लघु और देख लेने पर चतुर्गुरु। 'ये मुनि अवसन्न हैं' ऐसा सोचकर वे साधु वहां से लौट आए। तब उस कहने वाले को षड्लघु, वे साधु आचार्य के पास आलोचना करते हैं, तब षड्गुरु, वह मुनि उत्तर-प्रत्युत्तर करता हुआ कहता है—वे उद्यानस्थ मुनि परिहार करते हुए भी अपरिहारी कैसे? ऐसा कहने वाले को छेद। साधुओं ने तब कहा—वे क्या परिहार करते हैं जिससे उनको पारिहारिक कहा जाए? तब वह कहता है—वे कंटक, स्थाणु आदि का परिहार करते हैं, इस प्रकार कहने वाले को मूल। अन्त में उसने कहा—तुम सब एक हो, मैं अकेला हूं। इस प्रकार कहने पर अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त है। उसने तब कहा—तुम सब प्रवचन से बाह्य हो—ऐसा कहने वाले को पारांचिक प्रायश्चित्त है।

६०७९. किं छागलेण जंपह, किं मं होप्पेह एवऽजाणंता।
बहुएहिं को विरोहो, सलभेहि व नागपोतस्स॥

उसने तब कहा—तुम क्यों इस प्रकार 'छागल न्याय' से बोल रहे हो? अर्थात् क्यों बकरे की भांति प्रलाप कर रहे हो? तुम मुझे ऐसा नहीं जानते हुए भी मेरा गला पकड़ कर क्यों प्रेरित कर रहे हो? अथवा बहुतों के साथ मेरा क्या विरोध है? हाथी के बच्चे का शलभों—के साथ कैसा विरोध?

६०८०. भणइ य दिट्ठ नियत्ते, आलोए आमं ति घोडगमुहीओ।
माणुस सव्वे एगे, सव्वे बाहिं पवयणस्स॥

६०८१. मासो लहुओ गुरुओ,

चउरो मासा हवंति लहु-गुरुगा।

छम्मासा लहु-गुरुगा,

छेओ मूलं तह दुगं च॥

एक साधु बाहर से प्रतिश्रय में आया और साधुओं से बोला—आज मैंने एक आश्चर्य देखा। पूछने पर कहा—घोड़े के मुंहवाली स्त्रियों को देखा। कहां? उद्यान में। ऐसा कहने वाले

को मासगुरु। देखने के लिए साधु प्रस्थित होते हैं तो चतुर्लघु, घोड़ियों को देख लेने पर चतुर्गुरु, साधुओं के लौट आने पर षड्लघु, गुरु के समक्ष आलोचना करने पर षड्गुरु, गुरु के पूछने पर यदि कहता है—आमं—हां, घोटकमुखी स्त्रियों को देखा। ऐसा कहने पर छेद। साधुओं ने उससे कहा—उनको तुम स्त्रियां कहते हो? वह बोला—तो क्या वे मनुष्य हैं? इस प्रकार कहने पर मूल। फिर वह मुनि बोला—तुम सब एक हो गए हो। मैं अकेला हूं। इस प्रकार कहने पर अनवस्थाप्य और 'तुम सब प्रवचन के बाह्य हो'—ऐसा कहने पर पारांचिक।

६०८२. सव्वेगत्था मूलं, अहगं इक्कल्लगो य अणवट्ठो।
सव्वे बहिभावा पवयणस्स वयमाणे चरिमं तु॥

प्रकारान्तर प्रायश्चित्त—'तुम सब एक हो' ऐसा कहने पर मूल, 'मैं अकेला हूं' ऐसा कहने पर अनवस्थाप्य, 'तुम सब प्रवचन के बाह्य हो' ऐसा कहने पर पारांचिक।

६०८३. किं छागलेण जंपह, किं मं हंफेह एवऽजाणंता।
बहुएहिं को विरोहो, सलभेहि व नागपोयस्स॥

उसने तब कहा—तुम क्यों इस प्रकार 'छागल न्याय' से बोल रहे हो? अर्थात् क्यों बकरे की भांति प्रलाप कर रहे हो? तुम मुझे ऐसा नहीं जानते हुए भी मेरा गला पकड़ कर क्यों प्रेरित कर रहे हो? अथवा बहुतों के साथ मेरा क्या विरोध है? हाथी के बच्चे का शलभों—के साथ कैसा विरोध?

६०८४. गच्छसि ण ताव गच्छं,

किं खु ण जासि ति पुच्छित्तो भणति।

वेला ण ताव जायति,

परलोगं वा वि मोक्खं वा॥

एक साधु ने दूसरे से पूछा—जाओगे। 'हां' जाऊंगा। अरे! तुम अभी तक नहीं गए, यह पूछने पर वह कहता है—अभी तक परलोक या मोक्ष जाने की वेला नहीं हुई है।

६०८५. कतरिं दिसं गमिस्ससि, पुवं अवरं गतो भणति पुट्ठो।

किं वा ण होति पुव्वा, इमा दिसा अवरगामस्स॥

एक साधु ने दूसरे से पूछा—किस दिशा में जाओगे? उसने कहा—पूर्व दिशा में। कुछ समय पश्चात् वह पश्चिम दिशा में चला गया। वहां वह साधु मिल गया। उसने पूछा—अरे! यह क्या! तुमने पूर्व दिशा में जाने को कहा था, पश्चिम दिशा में कैसे आ गए? वह बोला—क्या अपरग्राम से यह पूर्व दिशा नहीं है? है ही।

६०८६. अहमेगकुलं गच्छं, वच्चह बहुकुलपवेसणे पुट्ठो।

भणति कहं दोण्णि कुले, एगसरीरेण पविसिस्सं॥

भिक्षाचर्या के लिए उत्थित एक साधु ने कहा—चलो, भिक्षा के लिए चलते हैं। उसने कहा—तुम चलो, मैं तो एक ही कुल में जाऊंगा। यह कहकर वह अनेक कुलों में जाने लगा तब पूर्व मुनि ने पूछा—यह कैसे? उसने कहा—क्या मैं एक शरीर से दो कुलों में प्रवेश कर सकता हूँ?

६०८७. वच्चह एगं दव्वं, घेच्छं गेगगह पुच्छितो भणती।

गहणं तु लक्खणं पोग्गलाण णऽण्णेसि तेणेगं॥

भिक्षाचर्या के लिए चलने के लिए कहने पर मुनि बोला—आप जाएं। मुझे तो केवल एक ही द्रव्य लेना है। वह घरों में गया और अनेक द्रव्य ग्रहण करने लगा। तब उससे पूछा गया—एक द्रव्य को छोड़कर अनेक द्रव्य कैसे ले रहे हो? उसने कहा—धर्मास्तिकाय आदि छह प्रकार के द्रव्य हैं। उनमें ग्रहणलक्षण वाला केवल पुद्गलास्तिकाय है। मैं केवल उस एक ही द्रव्य को ले रहा हूँ।

६०८८. एमेव य हीलाए, खिंसा-फरुसवयणं च वदमाणो।

गारत्थि विओसविते, इमं च जं तेसि णाणत्तं॥

इसी प्रकार हीलावचन, खिंसावचन, परुषवचन, गृहस्थवचन तथा व्यवशमित-उदीरणावचन बोलने वाले को प्रायश्चित्त जानना चाहिए। उनमें जो नानात्व है वह इस प्रकार है।

६०८९. आदिल्लेसुं चउसु वि, सोही गुरुगाति भिन्नमासंता।

णणुवीसतो विभाओ, विसेसितो बिदिय पडिलोमं॥

इन वचनों में प्रथम चार वचनों को बोलने से प्रायश्चित्त है चतुर्गुरु से भिन्नमास पर्यन्त। आचार्य आचार्य की हीलना करता है—चतुर्गुरु, उपाध्याय की चतुर्लघु, भिक्षु की मासगुरु, स्थविर की मासलघु और क्षुल्लक की भिन्नमास। ये आचार्य के तप और काल से गुरु होते हैं। ये आचार्य के पांच संयोग हैं। इसी प्रकार सबके मिलाकर ५×५=पचीस भंग हो जाते हैं। वह प्रायश्चित्त तप और काल से विशेषित होते हैं। द्वितीय आदेश के अनुसार यह प्रायश्चित्त प्रतिलोम से ज्ञातव्य है। भिन्नमास से प्रारंभ होकर चतुर्गुरु तक रहेगा।

६०९०. गणि वायए बहुस्सए, मेहावाऽऽरिय धम्मकहि वादी।

अप्पकसाए थूले, तणुए दीहे य मडहे य॥

हीलितवचन के दो आधार हैं—सूचा या असूचा। सूचा से जैसे—हम अमुक अमुक नहीं हैं जो उनकी हीलना करें। असूचा से जैसे—तुम क्या आचार्य हो? तुम से क्या होना जाना है आदि। इस प्रकार गणी, वाचक, बहुश्रुत, मेधावी, आचार्य, धर्मकथी, वादी, अल्पकषायी, स्थूल, कृश, दीर्घ, ठिगने आदि सूचा या असूचा से इनकी हीलना करना हीलित वचन है।

६०९१. गहियं च अहाघोसं, तहियं परिपिंडियाण संलावो।

अमुएणं सुत्तथो, सो वि य उवजीवितुं दुक्खं॥

एक साधु को गुरु ने जिस घोष से आलाप दिए, उसने उसी घोष में ग्रहण किया। वह प्रतीच्छकों को वाचना देता था। वहां अन्यत्र एकत्रित साधुओं का परस्पर यह संलाप होने लगा कि अमुक मुनि के पास से शुद्ध सूत्रार्थ प्राप्त हो सकता है। किन्तु उनकी सेवा करना बहुत कष्टप्रद है। क्योंकि.....

६०९२. जह कोति अमयरुक्खो,

विसकंठगवल्लिवेढितो संतो।

ण चइज्जइ अल्लीतुं,

एवं सो खिंसमाणो उ॥

कहीं कोई अमृतवृक्ष है। वह विषकंठकवल्ली से परिवेष्टित है। उसका आश्रय नहीं लिया जा सकता। इसी प्रकार उस खिंसना करने वाले मुनि का आश्रय लेना अत्यंत दुष्कर है।

६०९३. ते खिंसणापरद्धा, जाती-कुल-देस-कम्मपुच्छाहिं।

आसागता णिरासा, वच्चंति विरागसंजुत्ता॥

जो उस साधु की उपसंपदा स्वीकार करता है वह सबसे पहले जाति, कुल, देश और कर्म-व्यवसाय के विषय में पूछता है। फिर आगतुक शिष्य पढ़ने लगते हैं और कहीं स्खलित हो जाने पर वह उनकी जाति आदि से खिंसना करता है तब वे प्रतीच्छक सोचते हैं—हम यहां सूत्रार्थ ग्रहण करने के आशय से आए थे। परंतु निराश होकर लौट रहे हैं। हमें यहां से विरक्ति हो गई है। वे कहते हैं—

‘दिट्ठासि कसेरुमई, अणुभूया सि कसेरुमई।

पीयं च ते पाणिययं, वरि तुह नाम न दंसणयं॥’

६०९४. सुत्त-ऽत्थाणं गहणं, अहगं काहं ततो पडिनियत्तो।

जाति कुल देस कम्मं, पुच्छति खल्लाड धण्णागं॥

एक साधु ने सोचा—‘मैं उस मुनि के पास जाकर सूत्र और अर्थ ग्रहण करूंगा और मुनि को भी खिंसना दोष से मुक्त करूंगा। उसने आचार्य से उस मुनि के विषय में पूछा। आचार्य ने कहा—वह मुनि गोबरग्राम में मिलेगा। यह सुनकर वह मुनि वहां से प्रतिनिवृत्त होकर गोबरग्राम की ओर गया। वहां जाकर उसने उस मुनि के जाति कुल, देश और कर्म-व्यवसाय के विषय में पूछा। लोगों ने कहा—‘खल्लाट घन्निका’—एक नापित था। उसके धन्निका नाम की दासी थी। वह खल्लाट कोलिक के साथ रहती थी। उसका पुत्र है वह मुनि। यह सुनकर वह उस मुनि के पास जाकर बोला—मैं तुम्हारे पास उपसंपदा स्वीकार करना चाहता हूँ। उपसंपदा

ग्रहण करने के पश्चात् उसने पूछा—तुम्हारा जन्म कहाँ हुआ ? तुम्हारी मां कौन है ? पूछने पर उसने कुछ उत्तर नहीं दिया तब प्रश्नकर्ता ने समझ लिया कि यह हीन जाति का है। अत्यधिक आग्रह करने पर उसने कहा—

६०९५. थाणम्मि पुच्छियम्मिं,

ह णु दाणि कहेमि ओहिता सुणधा।

साहिस्सण्णे कस्स व,

इमाइं तिक्खाइं दुक्खाइं ॥

उचित स्थान पर तुमने पूछा है, अवधानपूर्वक सुनो, अब मैं बता रहा हूँ, किस दूसरे व्यक्ति के समक्ष मैं मेरे जीवनवृत्त के तीक्ष्ण दुःखदायी कष्टों को कहूँगा।

६०९६. वइदिस गोब्बरगामे, खल्लाडग धुत्त कोलिय त्थेरो।

ण्हाविय धण्णिय दासी, तेसिं मि सुतो कुणह गुज्झं ॥

वइदिस नगर के निकट गोबरग्राम में एक धूर्त कोलिक खल्वाट स्थविर था। उसकी धत्रिका नाम की पत्नी थी। वह एक नाई की दासी थी। मैं उनका पुत्र हूँ। इस बात को तुम गुप्त रखना। किसी के समक्ष प्रकाशित मत करना।

६०९७. जेड्ढो मज्झ य भाया, गब्भत्थे किर मम्मि पव्वइतो।

तमहं लद्धसुतीओ, अणु पव्वइतोऽणुरागेण ॥

मैं जब गर्भ में था तब मेरा बड़ा भाई प्रव्रजित हो गया। मैंने जब यह सुना तब भाई के अनुराग से मैं भी उसके बाद प्रव्रजित हो गया।

६०९८. आगारविसंवइयं, तं नाउं सेसचिंधसंवदियं।

णिउणोवायच्छलितो, आउंटण दाणमुभयस्स ॥

यद्यपि मेरे भाई का ऐसा आकार नहीं है—आकार का विसंवाद है फिर भी जाति आदि के चिह्नों से संवादित है, यह जानकर उसने सोचा—मैं इस साधु के निपुण उपाय से छला गया हूँ। तत्पश्चात् उसने 'मिच्छामि दुक्कडं' पूर्वक दोषों से आवर्तन—उपरमण किया और सूत्र और अर्थ—दोनों की वाचना उसको दी।

६०९९. दुविहं च फरुसवयणं, लोइय लोउत्तरं समासेणं।

लोउत्तरियं ठप्पं, लोइय वोच्छं तिमं णातं ॥

संक्षेप में परुषवचन के दो प्रकार हैं—लौकिक और लोकोत्तरिक। उनमें लोकोत्तरिक स्थाप्य है—आगे बतायेंगे। लौकिक परुषवचन के विषय में कहूँगा। उसमें यह उदाहरण है।

६१००. अन्नोन्न समणुरत्ता, वाहस्स कुडुंबियस्स वि य धूया।

तासिं च फरुसवयणं, आमिसपुच्छा समुप्पण्णं ॥

व्याध और कुटुम्बी की पुत्रियां परस्पर अनुरक्त थीं। दोनों सखियां थीं। आमिष—मांस की पृच्छा से दोनों के मध्य परुषवचन उत्पन्न हुआ। जैसे—

६१०१. केणाऽऽणीतं पिसियं,

फरुसं पुण पुच्छिया भणति वाही।

किं खू तुमं पिताए,

आणीतं उत्तरं वोच्छं ॥

एक बार व्याध की पुत्री मांस लेकर आई। कुटुम्बी की पुत्री ने पूछा—मांस कौन लाया है ? व्याध पुत्री को पूछने पर वह परुषवचन में कहती है—क्या तुम्हारा बाप लाया है ? कुटुम्बी की पुत्री बोली—क्या मेरे पिता व्याध हैं जो मांस लाए ? यह लौकिक परुषवचन का उदाहरण है। अब मैं आगे लोकोत्तरिक परुषवचन के विषय में कहूँगा।

६१०२. फरुसम्मि चंडरुद्धो, अवन्ति लाभे य सेह उत्तरिए।

आलत्ते वाहित्ते, वावारिय पुच्छिय णिसिद्धे ॥

परुषवचन में चंडरुद्र का उदाहरण है। अवन्ती नगरी में उसे एक शिष्य का लाभ हुआ। वही लोकोत्तरिक परुषवचन का उदाहरण है। लोकोत्तरिक परुषवचन की उत्पत्ति के ये पांच स्थान हैं—आलस, व्याहत, व्यापारित, पृष्ट, निसृष्ट-आविष्ट, जैसे—यह करो, वह करो।

६१०३. ओसरणे सवयंसो, इब्भसुतो वत्थभूसियसरीरो।

दायण त चंडरुद्धे, एस पवंचेति अम्हे त्ति ॥

६१०४. भूतिं आणय आणीते दिक्खितो कंदिउं गता मित्ता।

वत्तोसरणे पंथं, पेहा वय दंडगाऽऽउट्ठो ॥

उज्जयिनी में रथयात्रा का उत्सव था। वहां 'ओसरण'—अनेक मुनि एकत्रित हुए। एक सेठ का लड़का वस्त्रभूषित शरीर वाला अपने मित्रों के साथ वहां आया और साधुओं से बोला—मुझे प्रव्रज्या दो। साधुओं ने सोचा—यह हमें थोखा दे रहा है। उन्होंने उसे चंडरुद्र आचार्य के दर्शन कराए। उस सेठ के लड़के ने आचार्य से कहा—मुझे प्रव्रज्या दो। आचार्य ने कहा—राख ले आओ। वह राख ले आया। आचार्य ने उसका लुंचन कर दीक्षित कर दिया। उसके मित्र क्रन्दन करते हुए वहां से चले गए। समवसरण संपन्न हुआ। आचार्य ने उस नए शिष्य को कहा—मार्ग की प्रतिलेखना करो। हमें यहां से जाना है। वह मार्ग की प्रतिलेखना कर आ गया तब आचार्य ने वहां से प्रस्थान कर दिया—आगे शिष्य और पीछे आचार्य। एक स्थान पर शिष्य स्खलित हुआ। आचार्य ने रुष्ट होकर डंडे से उसे ताड़ित किया। वह शांत रहा। उसने कहा—अब मैं सावधानीपूर्वक चलूँगा। वह उपशम भाव में लीन हो गया। उसे केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। आचार्य उसके उपशमभाव को देखकर स्वयं भी उपशमभाव में लीन हो गए। उसके फलस्वरूप उन्हें भी केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

६१०५.तुसिणीए हुंकारे, किं ति व किं चडगरं करेसि त्ति।
किं णिव्वुत्तिं ण देसी, केवतियं वा वि रडसि त्ति॥

जो शिष्य आचार्य आदि द्वारा बुलाए जाने पर मौन रहता है, हुंकार करता है, क्या है? ऐसा कहता है, क्या चटकर करते हो? क्या हमें शांति से रहने नहीं दोगे? कितनी देर बोलते रहोगे?—ये सारे परुषवचन के प्रकार हैं।

६१०६.मासो लहुगो गुरुगो, चउरो मासा हवंति लहु-गुरुगा।
छम्मासा लहु-गुरुगा, छेदो मूलं तह दुगं च॥

इनका प्रायश्चित्त इस प्रकार है—लघुमास, गुरुमास, चार लघुमास, चार गुरुमास, छह लघुमास, छह गुरुमास, छेद, मूल तथा द्विक—अनवस्थाप्य और पारांचिक।

६१०७.आयरिणाऽऽलत्तो,

आयरित्तो चैव तुसिणित्तो लहुओ।

रडसि त्ति छग्गुरंतं,

वाहिते गुरुगादि छेदंतं॥

६१०८.लहुगाई वावारिते, मूलंतं चतुगुरुगाइ पुच्छिए णवमं।
णीसइ छसु पतेसु, छल्लहुगादी तु चरिमंतं॥

आचार्य ने आहूत किया, दूसरा बोला नहीं, आचार्य को मौन हो जाना पड़ा—मासलघु। हुंकार आदि से रटसि पर्यन्त कहना षड्गुरु। व्याहृत करने पर तूष्णीक आदि पदों में गुरुमास से छेद पर्यन्त। व्यापारित करने पर चतुर्लघु से मूल पर्यन्त। पृष्ट—पूछने पर चतुर्गुरु से नौवें प्रायश्चित्त—अनवस्थाप्य पर्यन्त। निसृष्ट में षडलघु से चरम प्रायश्चित्त—पारांचिक पर्यन्त (यह सारा आचार्य द्वारा आचार्य को आलस, व्याहृत आदि करने पर प्रायश्चित्त कहा गया है।)

६१०९.एवमुवज्झाएणं, भिक्खू थेरेण खुडुएणं च।
आलत्ताइपएहिं, इक्किक्कपयं तु हासिज्जा॥

इसी प्रकार आचार्य की भांति उपाध्याय, भिक्षु, स्थविर तथा क्षुल्लक के साथ आलस आदि पदों में तूष्णीकता आदि छह प्रकारों में यथाक्रम एक-एक प्रायश्चित्त पद का हास करे।

६११०.आयरियादभिसेगो, एक्कगहीणो तदिक्किणा भिक्खू।
थेरो तु तदिक्केणं, थेरा खुडो वि एगेणं॥

अभिषेक का अर्थ है—उपाध्याय। उपाध्याय आचार्य से आलस आदि पदों को करता हुआ प्रायश्चित्त की चारणिका में आचार्य से एक प्रायश्चित्तपद हीन होता है उपाध्याय। उपाध्याय से एक प्रायश्चित्तपद हीन भिक्षु का, उससे एक पदहीन स्थविर का और उससे एक पदहीन क्षुल्लक का।^१

१.२. विस्तार के लिए देखें—वृ. पृ. १६१५, १६१६।

६१११.भिक्खुसरिसी तु गणिणी,

थेरसरिच्छी तु होइ अभिसेगा।

भिक्खुणि खुडुसरिच्छी,

गुरु-लहुपणगाइ दो इयरा॥

निर्गन्धीवर्ग में भी पांच पद होते हैं—प्रवर्तिनी, अभिषेका, भिक्षुणी, स्थविरा, क्षुल्लिका। गणिनी अर्थात् प्रवर्तिनी को भिक्षुसदृश माननी चाहिए। अभिषेका को स्थविरसदृश, भिक्षुणी को क्षुल्लकसदृश तथा इतर दो अर्थात् स्थविरा और क्षुल्लिका के यथाक्रम गुरुपंचक आदि और लघुपंचक आदि का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।^२

६११२.लहुओ य लहुसगम्मिं,

गुरुगो आगाढ फरुस वयमाणे।

णिट्ठुर-कक्कसवयणे,

गुरुगा य पतोसओ जं च॥

लघुस्वक अर्थात् थोड़ा परुषवचन बोलने पर मासलघु, आगाढ परुषवचन बोलने पर मासगुरु, निष्ठुर और कर्कश वचन बोलने पर चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त है। परुषवचन बोलकर प्रद्वेष से जो कुछ किया जाएगा, उसका प्रायश्चित्त भी प्राप्त होगा।

६११३.निव्वेद पुच्छित्तम्मिं, उब्भामइल त्ति णिट्ठुरं सव्वं।
मेहुण संसइं कक्कसाइं णिव्वेग साहेति॥

एक महिला ने किसी साधु से पूछा—किस वैराग्य से तुम प्रव्रजित हुए? उसने कहा—मेरी पत्नी उद्भ्रामिका—दुःशील थी, इसलिए मैं प्रव्रजित हो गया। यह सारा निष्ठुर वचन है। इस प्रकार मैथुन का संसृष्ट—विलीनभाव देखकर मैं प्रव्रजित हो गया। इस प्रकार अपना निर्वेद—वैराग्य बताना—ये वचन कर्कश माने जाते हैं।

६११४.मयं व जं होइ रयावसाणे,

तं चिक्कणं गुज्झ मलं झरंतं।

अंगेसु अंगाइं णिगूहयंती,

णिव्वेयमेयं मम जाण सोमे॥

६११५.सखेदणीसइविमुक्कगत्तो,

भारेण छिन्नो ससई व दीहं।

हीओ मि जं आसि रयावसाणे,

अणेगसो तेण दमं पवण्णो॥

मेरी भार्या रतिक्रिया के बाद निदाल होकर मृत की भांति हो जाती है। उसके गुह्य प्रदेश से इस प्रकार का गुह्य, चिक्कण मल झरता रहता है। तब वह अपने अंगों में अपना अंग छुपाती है। यह मैंने देखा है। हे सौम्ये! यह मेरे निर्वेद

का कारण तुम जानो। तथा सखेद अत्यंत शिथिलगात्र होकर भार से टूटे हुए भारवाहक की भांति निःश्वास लेता हुआ मैं भी रतिक्रिया के पश्चात् अनेक बार वैसा हो जाता हूँ। इससे लज्जित होकर मैंने दम-संयम को स्वीकार किया है।

६११६. अरे हरे बंभण पुत्ता, अब्बो बप्पो त्ति भाय मामो त्ति।

भड्डिय सामिय गोमिय, लहुओ लहुआ य गुरुआ य ॥

यदि साधु अरे या हरे या ब्राह्मण या पुत्र-इन आमंत्रण वचनों को बोलता है तो उसे मासलघु, और मां, पिता, भाई, मामा-ऐसा कहता है तो चतुर्लघु तथा भट्टिन, स्वामिन्, गोमिन् आदि गौरवास्पद वचन कहता है तो चतुर्गुरुक तथा आज्ञाभंग आदि दोष प्राप्त होते हैं।

६११७. संभवमादी दोसा, हवंति धी मुंड! को व तुह बंधु।

मिच्छत्तं दिय वयणे, ओभावणता य सामि त्ति ॥

संस्तववाचक शब्द (पिता, माता आदि) बोलने से प्रतिबंध आदि अनेक दोष होते हैं। किसी को बन्धु कहने से वह रुष्ट होकर कहता है-धिग् मुंड! कौन है यहां तुम्हारा बंधु? द्विज आदि कहने पर मिथ्यात्व होता है। स्वामिन् आदि कहने पर प्रवचन की अपभ्रान्तता होती है।

६११८. खामित-वोसविताइं, अधिकरणाइं तु जे उईरति।

ते पावा णायव्वा, तेसिं च परूवणा इणमो ॥

जिस व्यक्ति ने अधिकरणों-कलहों को क्षामित-वचन से शमित कर दिया है तथा व्युत्सृष्ट-मन से निकाल दिया है, वह यदि उन अधिकरणों की उदीरणा करता है, तो उसे पापधर्मा मानो। ऐसे व्यक्तियों की यह प्ररूपणा है।

६११९. उप्पायग उप्पण्णे, संबद्धे कक्खडे य बाहू य।

आवड्डणा य मुच्छण, समुघायउतिवायणा चेव ॥

६१२०. लहुओ लहुगा गुरुगा,

छम्मासा होंति लहुग गुरुगा य।

छेदो मूलं च तहा,

अणवड्डप्पो य पारंची ॥

एक बार दो मुनियों में कलह हो गया। दोनों ने परस्पर क्षमायाचना कर कलह को उपशांत कर दिया। कुछ काल के पश्चात् दोनों मिले तब एक ने कहा-‘अरे! उस दिन तुमने मुझे ऐसा-वैसा कहा’ यह कलह उत्पादक कहलाता है। उसको मासलघु। दूसरा बोला-‘उस समय क्या तुमने मुझे कम कहा था?’-पुनः दोनों में कलह उत्पन्न हो गया। दोनों संबद्ध अर्थात् वचनों से परस्पर आक्रोश करने लगे। इसमें चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त। तटस्थ व्यक्तियों द्वारा उपशांत करने पर भी अनुपशांत रहे, कर्कश बने रहे। इसका प्रायश्चित्त है षड्लघु। दोनों बाहुयुद्ध करने लगे। प्रायश्चित्त है षड्गुरुक।

आवर्तन-एक मुनि ने दूसरे को पीट कर नीचे गिरा दिया। उसे छेद। यदि मुनि मूर्च्छित हो जाए तो मूल। मारणांतिक समुद्घात में अनवस्थाप्य तथा अतिपातना-मरण हो जाने पर पारांचिक।

६१२१. पढमं विगिंचणद्धा, उवलंभ विविंचणा य दोसु भवे।

अणुसासणाय देसी, छट्ठे य वगिंचणा भणिता ॥

प्रथम अलीकवचन अयोग्य शिष्य को गण से निष्काशन करने के लिए कहा जाता है। हीलित और खिसित-ये दो वचन क्रमशः उपालंभ और विवेचना-अयोग्य शिष्य के परित्याग में बोले जाते हैं। अनुशासना में परुषवचन, देशी-भाषा में गृहस्थवचन, छठा अर्थात् व्यवशमित उदीरणावचन शैक्ष की विगिंचणा के संबंध में कहा जाता है।

६१२२. कारणियदिक्खितं तीरियम्मि कज्जे जहंति अणलं तू।

संजम-जसरक्खद्धा, होढं दाऊण य पलादी ॥

कारण अर्थात् अशिव आदि में अनल-अयोग्य शैक्ष को भी दीक्षित करते हैं। कार्य (कारण) के निष्पन्न हो जाने पर उस शिष्य का परित्याग कर देते हैं। वे आचार्य संयमयश अर्थात् प्रवचन के यश की रक्षा के लिए उस पर ‘होढ’-गाढ़ अलीक का आरोप लगाकर पलायन कर जाते हैं-शीघ्रता से अन्यत्र चले जाते हैं।

६१२३. केणेस गणि त्ति कतो,

अहो! गणी भणति वा गणिं अगणिं।

एवं विसीतमाणस्स

कुणति गणिणो उवालंभं ॥

किसने इसको गणी बना डाला। अथवा अहो! यह गणी है! अथवा गणी को अगणी कहता है। इस प्रकार वह सामाचारी आदि में अनुपयुक्त गणी को उपालंभ देता है।

६१२४. अगणिं पि भणाति गणिं,

जति नाम पढेज्ज गारवेण वि ता।

एमेव सेसएसु वि,

वायगमादीसु जोएज्जा ॥

कोई मुनि बहुत प्रेरित करने पर भी नहीं पढ़ता तो अगणी होते हुए भी उसे गणी इसलिए कहा जाता है कि वह गौरववश पढ़ने लगे। इसी प्रकार वाचक आदि शेष पदों के विषय में योजित करना चाहिए।

६१२५. खिसावयणविहाणा, जे च्चिय जाती-कुलादि पुव्वुत्ता।

कारणियदिक्खियाणं, ते च्चेव विगिंचणोवाया ॥

जो जाति, कुल आदि खिसनावचन के विधान पूर्वोक्त हैं वे ही कारणवश दीक्षित अयोग्य शिष्यों के निष्काशन के उपाय मानने चाहिए।

६१२६. खरसज्जं मउयवइं, अगणेमाणं भणंति फरुसं पि।
दव्वफरुसं च वयणं, वयंति देसिं समासज्जा॥

जो कठोरवचन के बिना शिक्षा को स्वीकार नहीं करता, वह खरसाध्य व्यक्ति मृदु वाणी की गणना नहीं करता। उसको परुषवचन में कहना पड़ता है। उसे देशी भाषा में द्रव्यपरुषवचन में कहा जाता है—जैसे मालववासी परुषवाक्य होते हैं।

६१२७. भट्टि त्ति अमुगभट्टि, त्ति वा वि एमेव गोमि सामि त्ति।
जह णं भणाति लोगो, भणाति जह देसिमासज्ज॥

भट्टिन्, अमुकभट्टिन्, इति, इसी प्रकार गोमिन्, स्वामिन् आदि आदि जैसे-जैसे लोग बोलते हैं, वैसे-वैसे साधु भी देशी भाषा के आधार पर बोलते हैं।

६१२८. खामिय-वोसवियाइं, उप्पाएऊण दव्वतो रुद्धो।
कारणदिक्खिय अनलं, आसंखडिउ त्ति धाडेति॥

कारणवश जिस अयोग्य शिष्य को दीक्षित किया था, उसके साथ क्षमायाचना तथा वैरभाव को व्युत्सृष्ट कर, उसके साथ कृत्रिम अधिकरण करके द्रव्यतः रुष्ट होकर कृत्रिम क्रोध दिखाता हुआ 'आसंखडिक'—यह कलहकारी है—यह दोष निकालता हुआ उसे गच्छ से निकाल देता है।

कप्पस्स पत्थार-पदं

छ कप्पस्स पत्थारा, पण्णत्ता, तं
जहा—पाणाइवायस्स वायं वयमाणे,
मुसावायस्स वायं वयमाणे,
अदिण्णादाणस्स वायं वयमाणे,
अविराइयावायं वयमाणे, अपुरिसवायं
वयमाणे, दासवायं वयमाणे। इच्चेए छ
कप्पस्स पत्थारे पत्थरेत्ता सम्मं
अप्पडिपूरेमाणे तट्ठाणपत्ते सिया॥

(सूत्र २)

६१२९. तुल्लहिकरणा संखा, तुल्लहिगारो व वादिओ दोसो।
अहवा अयमधिगारो, सा आवत्ती इहं दाणं॥

पूर्वसूत्र और प्रस्तुतसूत्र—दोनों का संख्या से तुल्याधिकरण हैं, दोनों में सूत्र समान हैं, छह-छह हैं। अथवा वाचिक दोष तुल्याधिकार है। अथवा यह अधिकार है—पूर्व सूत्रोक्त शोधि आपत्तिरूप थी। प्रस्तुत में उसी शोधि के दान का अधिकार है।

६१३०. पत्थारो उ विरचना, सो जोतिस छंद गणित पच्छित्ते।
पच्छित्तेण तु पगयं, तस्स तु भेदा बहुविगप्पा॥

प्रस्तार का अर्थ है—विरचना, स्थापना। वह प्रस्तार चार प्रकार का है—ज्योतिषप्रस्तार, छन्दःप्रस्तार, गणितप्रस्तार और प्रायश्चित्तप्रस्तार। यहां प्रायश्चित्त प्रस्तार का प्रसंग है। उसके अनेक विकल्प-भेद हैं।

६१३१. उग्घातमणुग्घाते, मीसे य पसंगि अप्पसंगी य।
आवज्जण-दाणाइं, पडुच्च वत्थुं दुपक्खे वी॥

प्रायश्चित्त के दो भेद हैं—उद्घात, अनुद्घात। ये दोनों मिश्र और अमिश्र भी होते हैं। इनके दो प्रकार हैं—प्रसंगी और अप्रसंगी। दोनों के दो-दो प्रकार हैं—आपत्ति प्रायश्चित्त और दान प्रायश्चित्त। ये सारे प्रायश्चित्त दोनों पक्षों—श्रमणपक्ष और श्रमणीपक्ष में वस्तु के आधार पर होते हैं। वस्तु का अर्थ है—आचार्य आदि तथा प्रवर्तिनी आदि, जिसके जो योग्य हो, वह प्रायश्चित्त उसका देना। इसको प्रायश्चित्तप्रस्तार कहा जाता है।

६१३२. जारिसएणऽभिसत्तो,

स चाधिकारी ण तस्स ठाणस्स।

सम्मं अपूरयंतो,

पच्चंगिरमप्पणो कुणति॥

जिस प्रकार के अभ्याख्यान से साधु अभिशप्त है वह साधु अप्रमत्त होने के कारण उस स्थान का अधिकारी नहीं है। इसलिए उस पर अभ्याख्यान लगाकर उसका सम्यक् निर्वाह न करने पर वह स्वयं अपनी आत्मा को प्रत्यंगिर कर डालता है अर्थात् उस दोष का स्वयं भागी बन जाता है।

६१३३. छ च्चेव य पत्थारा, पाणवह मुसे अदत्तदाणे य।
अविरति-अपुरिसवाते, दासावातं च वतमाणे॥

प्रस्तार छह ही हैं—प्राणवधवाद, मृषावादवाद, अदत्ता-दानवाद, अविरतिकावाद, अपुरुषवाद तथा दासवाद—इन वादों को बोलना।

६१३४. दहुर सुणए सप्पे, मूसग पाणातिवादुदाहरणा।
एतेसिं पत्थारं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए॥

प्राणातिपात के ये उदाहरण हैं—दहुर, शुनक, सर्प और मूषक। इनके विषय का प्रस्तार—प्रायश्चित्त-रचना यथानुपूर्वी कहूंगा।

६१३५. ओमो चोदिज्जंतो, दुपेहियादीसु संपसारेति।
अहमवि णं चोदिस्सं, न य लब्भति तारिसं छेडुं॥

रान्तिक मुनि अवमरान्तिक (ज्येष्ठ मुनि छोटे मुनि) को प्रत्युपेक्षा आदि समाचारी में स्वखलित होने पर बार-बार

कहता है, टोकता है तो अवमरान्तिक 'सत्प्रसारयति' मन में सोचता है कि मैं भी इस रात्निक को टोकूंगा। वह प्रयत्न करता है परंतु उसे रात्निक मुनि का वैसा छिद्र नहीं मिलता जिसके लिए वह कुछ कह सके।

६१३६.अन्नेण घातिए द्दुरम्मि द्दु चलणं कतं ओमो।

उद्वितो एस तुमे, ण मि त्ति बितियं पि ते गत्थी॥

एक बार रात्निक मुनि भिक्षाचार्या के लिए जा रहा था। मार्ग में एक दर्दुर मरा पड़ा था। उस पर रात्निक मुनि का पैर पड़ा। अवमरान्तिक ने यह देख कर कहा—तुमने इस दर्दुर को मारा है। उसने कहा—मैंने नहीं मारा। तब अवमरान्तिक बोला—तब तुम्हारे दूसरा व्रत मृषावादविरति भी नहीं है। उसके प्रायश्चित्तरचना यह है—

६१३७.वच्चति भणाति आलोय निकाए पुच्छिते णिसिद्धे य।

साहु गिहि मिलिय सब्बे, पत्थारो जाव वयमाणे॥

६१३८.मासो लहुओ गुरुओ,

चउरो लहुगा य होंति गुरुगा य।

छम्मासा लहु-गुरुगा,

छेदो मूलं तह दुगं च॥

अवमरान्तिक आचार्य के पास आता है, मासलघु। कहता है—इसने दर्दुर को मारा, मासगुरु। गुरु रात्निक को कहते हैं—आलोचना करो कि तुमने दर्दुर को मारा या नहीं? रात्निक ने आलोचना की मैंने नहीं मारा। ऐसा कहने पर अभ्याख्यानदाता के चतुर्लघु। अवमरान्तिक पुनः पूछता है, रात्निक वही दोहराता है। अवम के चतुर्गुरु। अवम कहता है—गृहस्थों को पूछ लो। उनको पूछने पर वे निषेध करते हैं। पूछने पर षड्लघु, निषेध करने पर षड्गुरु। साधु भी आकर कहते हैं—उसने नहीं मारा। अवम को छेद। अवम यदि कहता है कि गृहस्थ अलीक कहते हैं या सत्य? उसको तब मूल। अवम यदि कहता है—ये गृहस्थ और साधु मिले हुए हैं, तब उसे अनवस्थाप्य। यदि कहे—ये सब प्रवचन के बाह्य हैं, तब पारांचिक।

६१३९.किं आगओ सि णाहं, अडामि पाणवहकारिणा सद्धिं।

सम्मं आलोय त्ति य, जा तिण्णि तमेव वियडेति॥

अवमरान्तिक को अकेले आया हुआ देखकर गुरु ने पूछा—अकेले कैसे आ गए? उसने कहा—मैं प्राणवधकारी के साथ घूमना नहीं चाहता। थोड़े समय बाद रात्निक भी आ गया। गुरु ने कहा—तुम सम्यग् आलोचना करो कि क्या तुमने किसी प्राणी का वध किया है या नहीं? उसने कहा—नहीं। तीन बार आलोचना करने पर भी उसने वही कहा। तब ज्ञात हो गया कि यह सत्य कह रहा है।

६१४०.तुमए किर द्दुरओ,

हओ त्ति सो वि य भणाति ण मए त्ति।

तेण परं तु पसंगो,

धावति एक्के व बितिए वा॥

तुमने दर्दुर को मारा है। वह कहता है—मैंने नहीं मारा। इसके पश्चात् प्रायश्चित्त वृद्धि का प्रसंग आता है। यह रात्निक के या अवमरान्तिक के होता है। यदि रात्निक ने दर्दुर को मारा है और बार-बार कहने पर भी वह स्वीकार नहीं करता है तो उसके प्रायश्चित्त की वृद्धि होती है। यदि अवमरान्तिक उस अभ्याख्यान का बार-बार समर्थन करता है तो उसके प्रायश्चित्त की वृद्धि होती है।

६१४१.एक्कस्स मुसावावो, काउं णिण्हाइणो दुवे दोसा।

तत्थ वि य अप्पसंगी, भवति य एक्को व एक्को वा॥

जो दूसरे पर अभ्याख्यान लगाता है उसके मृषावाद का दोष लगता है और जो दर्दुर का वध कर झुठलाता है उसके दो दोष होते हैं—प्राणातिपात और मृषावाद। उसमें भी यदि अभ्याख्यान प्राणातिपात करने पर भी 'एक' अर्थात् अवमरान्तिक तथा 'एक' अर्थात् रात्निक—इनमें जो अप्रसंगी होता है उसके प्रायश्चित्त वृद्धि नहीं होती। इसका तात्पर्य है कि अभ्याख्यान देकर उसका निकाचन (समर्थन) नहीं करता, वह तथा आरोप लगाए जाने पर भी जो रुष्ट नहीं होता, वह ये दोनों अप्रसंगी होते हैं, उनके प्रायश्चित्त वृद्धि नहीं होती। अभ्याख्याता यदि उसका बार-बार समर्थन नहीं करता तथा दूसरा भी बार-बार रुष्ट नहीं होता तो प्रायश्चित्त वृद्धि नहीं होती। यह दर्दुरविषयक प्रस्तार है। इसी प्रकार शुनक, सर्प और मूषकविषयक प्रस्तार जानने चाहिए।

६१४२.मोसम्मि संखडीए, मोयगगहणं अदत्तादाणम्मि।

आरोवणपत्थारो, तं चव इमं तु पाणत्तं॥

मृषावाद में संखड़ी का, अदत्तादान में मोदकग्रहण का उदाहरण है। इन दोनों का आरोपणा प्रायश्चित्त का प्रस्तार ही जानना चाहिए। यह नानात्व है।

६१४३.दीण-कलुणेहि जायति,

पडिसिद्धां विसति एसणं हणति।

जंपति मुहप्पियाणि य,

जोग-तिगिच्छा-निमित्ताइं॥

साधु ने आचार्य से कहा—अमुक रात्निक मुनि संखड़ी में जाकर दीन और करुणवचनों से याचना करता है, प्रतिषिद्ध होने पर भी भीतर प्रवेश करता है, एषणा का हनन करता है, घर में प्रवेश कर मुखप्रियवचन बोलता है तथा योग,

चिकित्सा और निमित्त बताता है—इस प्रकार मृषावाद बोलने पर प्रायश्चित्तप्रस्तार होता है।

६१४४. वच्चइ भणाइ आलोय णिकाए पुच्छिण णिसिद्धे य।

साहु गिहि मिलिय सब्बे, पत्थारो जाव वदमाणे॥

६१४५. मासो लहुओ गुरुओ,

चउरो लहुगा य होंति गुरुगा य।

छम्मासा लहु-गुरुगा,

छेदो मूलं तह दुगं च॥

अवमरान्तिक आचार्य के पास आता है, मासलघु। कहता है—यह रान्तिक मुनि संखड़ी में जाकर दीन तथा करणवचनों से याचना करता है आदि आदि। उसको मासगुरु। गुरु रान्तिक को कहते हैं—आलोचना करो। रान्तिक ने कहा—मैंने संखड़ी में ऐसा कुछ नहीं कहा।..... ऐसा कहने पर अभ्याख्यानदाता के चतुर्लघु। अवमरान्तिक पुनः पूछता है, रान्तिक वही दोहराता है। अवम को चतुर्गुरु। अवम कहता है—गृहस्थों को पूछ लो। उनको पूछने पर वे निषेध करते हैं। पूछने पर षडलघु, निषेध करने पर षडगुरु। साधु भी आकर कहते हैं—उस रान्तिक ने संखड़ी में ऐसा कुछ नहीं कहा। अवम को छेद। अवम यदि कहता है कि गृहस्थ अलीक कहते हैं या सत्य? उसको तब मूल। अवम यदि कहता है—ये गृहस्थ और साधु मिले हुए हैं, तब उसे अनवस्थाप्य। यदि कहे—ये सब प्रवचन के बाह्य हैं, तब पारांचिक।

६१४६. जा फुसति भाणमेगो, बितिओ अण्णत्थ लडुते ताव।

लड्डूण णीति इयरो, ते दिस्स इमं कुणति कोई॥

एक अवमरान्तिक साधु एक घर से भिक्षा लेकर उपाश्रय में आया। जब तक वह उस पात्र को साफ कर रहा था तब दूसरा अर्थात् रत्नाधिक मुनि अन्य संखड़ी से लड्डू प्राप्त कर आ रहा था। अवम मुनि ने उसे देखा और ईर्ष्याविश ऐसा आचरण किया।

६१४७. वच्चइ भणाइ आलोय निकाए पुच्छिण निसिद्धे य।

साहु गिहि मिलिय सब्बे, पत्थासे जाव वयमाणे॥

६१४८. मासो लहुओ गुरुओ,

चउरो लहुगा य होंति गुरुगा य।

छम्मासा लहु-गुरुगा,

छेदो मूलं तह दुगं च॥

वह अवम साधु गुरु के पास आकर बोला—उस रान्तिक मुनि ने अमुक घर से बिना दिए मोदक लिए हैं। उसे मासगुरु। गुरु रान्तिक को कहते हैं—आलोचना करो। रान्तिक ने कहा मैं संखड़ी में गया। वहां मुझे मोदक की प्राप्ति हुई। मैंने मोदक बिना दिए नहीं लिए। यह कहने पर अभ्याख्यानदाता को चतुर्लघु।

अवमरान्तिक पुनः पूछता है। रान्तिक वही दोहराता है। अवम को चतुर्गुरु। अवम कहता है—गृहस्थों को पूछ लो। उनको पूछने पर वे निषेध करते हैं। पूछने पर षडलघु, निषेध करने पर षडगुरु। अन्य साधु भी कहते हैं—रान्तिक ने बिना दिए नहीं लिए। अवम को छेद। अवम यदि कहता है—गृहस्थ अलीक कहते हैं, तब अवम को मूल। अवम यदि कहता है—ये साधु और गृहस्थ मिले हुए हैं, तब उसे अनवस्थाप्य। यदि कहे—ये सब प्रवचन से बाह्य हैं, तब पारांचिक।

६१४९. रातिणितवाइतेणं,

खलिय-मिलिय-पेल्लणाए उदणं।

देउल मेहुण्णम्मिं,

अब्भक्खाणं कुडंजे वा॥

एक रान्तिक मुनि अवमरान्तिक को बार-बार शिक्षा देता था। अवमरान्तिक ने सोचा—यह 'रत्नाधिकवातद' से अर्थात् रत्नाधिक के गर्व से मुझे कहता है—तुम उच्चारण में स्खलित हो गए। तुम सूत्रपाठों को मिलाकर बोलते हो। वह मुझे हार्थों से प्रेरित करता है। यह मुझे बुरा लगता। मैं प्रतिशोध लेना चाहता था। एक बार हम दोनों भिक्षा के लिए गए। सोचा—आर्या के देवकुल में या कुडंग में प्रातराश कर पानी पीयेंगे। वहां गए। इतने में एक परिव्राजिका को उसी दिशा में आती हुई देखकर अवमरान्तिक वहां से छिटक कर उपाश्रय में आकर गुरु के समक्ष उस रान्तिक पर मैथुन का अभ्याख्यान लगाते हुए बोला—

६१५०. जेद्धज्जेण अकज्जं, सज्जं अज्जाघरे कयं अज्जं।

उवजीवितो य भंते!, मए वि संसड्ढकप्पोऽत्थ॥

ज्येष्ठ आर्य ने अभी आर्यागृह में अकार्य—मैथुनसेवन किया है। भंते! मैंने भी इस प्रसंग में संसृष्टकल्प अर्थात् मैथुन प्रतिसेवा का आचरण किया है।

६१५१. वच्चति भणाति आलोय निकाए पुच्छिण निसिद्धे य।

साहु गिहि मिलिय सब्बे, पत्थारो जाव वयमाणे॥

६१५२. मासो लहुओ गुरुओ,

चउरो लहुगा य होंति गुरुगा य।

छम्मासा लहु-गुरुगा,

छेदो मूलं तह दुगं च॥

अवमरान्तिक आचार्य के पास आता है, मासलघु। कहता है—रान्तिक ने मैथुनसेवन किया है। उसे गुरुमास। गुरु ने कहा—आर्य! सम्यग् आलोचना करो। रान्तिक ने कहा—मैंने मैथुन की प्रतिसेवना नहीं की। ऐसा कहने पर अभ्याख्यानदाता के चतुर्लघु। अवमरान्तिक पुनः पूछता है, रान्तिक वही दोहराता है। अवम के चतुर्गुरु। अवम कहता

है—गृहस्थों को पूछ लो। उनको पूछने पर वे निषेध करते हैं। पूछने पर षड्लघु, निषेध करने पर षड्गुरु। साधु भी आकर कहते हैं—रात्निक ने मैथुन की प्रतिसेवना नहीं की। अवम को छेद। अवम यदि कहता है कि गृहस्थ अलीक कहते हैं या सत्य? उसको तब मूल। अवम यदि कहता है—ये गृहस्थ और साधु मिले हुए हैं, तब उसे अनवस्थाप्य। यदि कहे—ये सब प्रवचन के बाह्य हैं, तब पारांचिक।

६१५३. तइओ त्ति थं जाणसि, दिट्ठा णीया से तेहि मी वुत्तो।

वट्ठति ततिओ तुब्भं, पव्वावेतुं मम वि संका॥

६१५४. दीसति य पडिरूवं, ठित-चंकम्मिंत-सरीर-भासाहिं।

बहुसो अपुरिसवयणे, सवित्थराऽऽरोवणं कुज्जा॥

एक साधु ने आचार्य से कहा—यह रात्निक मुनि तृतीय वेद अर्थात् नपुंसक है। आचार्य ने पूछा—यह कैसे जाना? उसने कहा—मैंने इसके निजक-स्वजनों को देखा और उनसे मिला। उन्होंने मुझसे पूछा—क्या तृतीयवेद को प्रव्रजित करना कल्पता है? तब मेरे मन में शंका हुई। इसका प्रतिरूप नपुंसक के अनुरूप है। इसका बैठना, चलना, शरीर के हावभाव तथा भाषा लक्षण भी नपुंसक जैसे हैं। इस प्रकार अपुरुषवचन अर्थात् नपुंसकवाद में विस्तारसहित आरोपणा करता है।

६१५५. वच्चति भणाति आलोय निकाए पुच्छिए निसिद्धे य।

साहु गिहि मिलिय सव्वे, पत्थारो जाव वयमाणे॥

६१५६. मासो लहुओ गुरुओ,

चउरो लहुगा य होंति गुरुगा य।

छम्मासा लहु गुरुगा,

छेदो मूलं तह दुगं च॥

वह अवमरात्निक अकेला प्रतिश्रय में आकर गुरु को कहता है—यह त्रैराशिक है। इसके ज्ञातिजनों ने मुझे कहा है। उसे गुरुमास। गुरु ने कहा—आर्य! सम्यग् आलोचना करो। बताओ, क्या तुम तृतीयराशि में हो। रात्निक ने कहा—यह मेरे ऊपर झूठा आरोप है। अभ्याख्यानदाता को चतुर्लघु। पुनः पूछने पर रात्निक वही दोहराता है। अवम को चतुर्गुरु। अवम कहता है—गृहस्थों को पूछ लो। उनको पूछने पर वे निषेध करते हैं। पूछने पर षड्लघु, निषेध करने पर षड्गुरु। अन्य साधु भी कहते हैं—यह तृतीयराशि में नहीं है। अवम को छेद। अवम यदि कहता है—गृहस्थ अलीक कहते हैं। उसे मूल और यदि कहता है—साध और गृहस्थ परस्पर मिले हुए हैं तो अनवस्थाप्य। यदि कहे कि ये सब प्रवचन से बाह्य हैं तब पारांचिक।

६१५७. खरओ त्ति कंहं जाणसि, देहायारा कहिति से हवीं।।

छिक्कोवण उब्भंडो, णीयासी दारुणसभावो॥

एक मुनि ने आचार्य से कहा—यह रत्नाधिक साधु खरक-दास है। आचार्य ने पूछा—तुमने कैसे जाना? उसने कहा—इसके ज्ञातिजनों ने मुझे कहा तथा इसके शरीर के आकार (कुब्जता आदि) उसके दासत्व को कहते हैं। तथा यह 'छिक्कोवण' शीघ्रकोपन है, 'उब्भंड'—असंवृतपरिधान-वाला है, नीचे आसन में बैठने वाला तथा दारुण स्वभाव वाला है।

६१५८. देहेण वा विरूवो, खुज्जो वडभो य बाहिरप्पादो।

फुडमेव से आयारा, कहिति जह एस खरओ त्ति॥

यह शरीर से भी विरूप है—कुब्ज है, वडभ है और बाह्यपाद वाला है। इसके शरीर का आकार यह स्पष्टरूप से बता रहा है कि यह खरक है, दास है।

६१५९. केइ सुरुव दुरूवा, खुज्जा वडभा य बाहिरप्पाया।

न हु ते परिभवियव्वा, वयणं व अणारियं वोत्तुं॥

आचार्य ने कहा—संसार में कुछ लोग सुरूप होते हैं और कुछ कुरूप होते हैं, कुछ कुब्ज, वडभ और बाह्यपाद वाले होते हैं। किन्तु इनका परिभव—तिरस्कार नहीं करना चाहिए। इनके प्रति अनार्य वचन जैसे—'यह दास है' आदि नहीं बोलना चाहिए।

६१६०. वच्चति भणाति आलोय निकाए पुच्छिए निसिद्धे य।

साहु गिहि मिलिय सव्वे, पत्थारो जाव वयमाणे॥

६१६१. मासो लहुओ गुरुओ,

चउरो लहुगा य होंति गुरुगा य।

छम्मासा लहु गुरुगा,

छेदो मूलं तह दुगं च॥

अवमरात्निक आचार्य के पास आता है, मासलघु। कहता है—यह रात्निक मुनि दास है। उसे मासगुरु। गुरु रात्निक को कहते हैं—आर्य! सम्यग् आलोचना करो। क्या तुम दास हो? रात्निक ने कहा—नहीं, मैं दास नहीं हूँ। ऐसा कहने पर अभ्याख्यानदाता के चतुर्लघु। अवमरात्निक पुनः पूछता है, रात्निक वही दोहराता है। अवम के चतुर्गुरु। अवम कहता है—गृहस्थों को पूछ लो। उनको पूछने पर वे निषेध करते हैं। पूछने पर षड्लघु, निषेध करने पर षड्गुरु। साधु भी आकर कहते हैं—यह दास नहीं है। अवम को छेद। अवम यदि कहता है कि गृहस्थ अलीक कहते हैं या सत्य? उसको तब मूल। अवम यदि कहता है—ये गृहस्थ और साधु मिले हुए हैं, तब उसे अनवस्थाप्य। यदि कहे—ये सब प्रवचन के बाह्य हैं, तब पारांचिक।

६१६२.विइयपयमणाभोगे, सहसा वोत्तूण वा समाउट्टे।
जाणंतो वा वि पुणो, विविंचणट्टा वदेज्जा वि॥

अपवादपद में अज्ञानवश अथवा सहसा प्राणातिपात आदि विषयकवाद को कहकर आने पर उस मुनि को पुनः वैसा न करने के कथनपूर्वक मिथ्यादुष्कृत प्रायश्चित्त दे। अथवा जानते हुए भी जिस अयोग्य शिष्य को प्रव्रजित किया है उसको निष्काशित करने के लिए उसे प्राणातिपात आदि वाद भी कहा जा सकता है, जिससे वह उद्वेलित होकर स्वयं चला जाए।

खाणुपभिनीहरण-पदं

निग्गंधस्स य अहेपादंसि खाणू वा
कंटए वा हीरे वा सक्करे वा
परियावज्जेज्जा, तं च निग्गंधे नो
संचाएज्जा नीहरित्तए वा विसोहेत्तए वा, तं
निग्गंधी नीहरमाणी वा विसोहेमाणी वा
नाइक्कमइ ॥

(सूत्र ३)

निग्गंधस्स य अच्छिसि पाणे वा बीए
वा एए वा परियावज्जेज्जा, तं च निग्गंधे
नो संचाएज्जा नीहरित्तए वा विसोहेत्तए
वा, तं निग्गंधी नीहरमाणी वा
विसोहेमाणी वा नाइक्कमइ ॥

(सूत्र ४)

निग्गंधीए य अहेपायंसि खाणू वा कंटए
वा हीरए वा सक्करे वा परियावज्जेज्जा, तं
च निग्गंधी नो संचाएज्जा नीहरित्तए वा
विसोहेत्तए वा, तं च निग्गंधे नीहरमाणे वा
विसोहेमाणे वा नाइक्कमइ ॥

(सूत्र ५)

निग्गंधीए अच्छिसि पाणे वा बीए वा
एए वा परियावज्जेज्जा, तं च निग्गंधी नो
संचाएज्जा नीहरित्तए वा विसोहेत्तए वा, तं
च निग्गंधे नीहरमाणे वा विसोहेमाणे वा
नाइक्कमइ ॥

(सूत्र ६)

६१६३.पायं गता अकप्पा, इयाणि वा कप्पिता इमे सुत्ता।
आरोवणा गुरु त्ति य, तेण तु अण्णोण्ण समणुण्णा॥

प्रायः अकल्पिक सूत्र अर्थात् निषेध प्रतिपादक सूत्र इस अध्ययन में संपन्न हो गए। आगे कल्पिक सूत्रों का प्रतिपादन है। 'वा' शब्द का तात्पर्यार्थ है—सूत्र में अनुज्ञा देकर अर्थतः प्रतिषेध करना। यहां एक प्रश्न है कि सूत्र में ही अनुज्ञा क्यों दी? भाष्यकार कहते हैं कि आरोपणा गुरुक होती है इसलिए परस्पर (निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी) समनुज्ञा सूत्रों में की गई है।

६१६४.जह चेव य पडिसेहे, होंति अणुत्ता तु सव्वसुत्तेसु।
तह चेव अणुण्णाए, पडिसेहो अत्थतो पुव्वं॥

सूत्रतः अनुज्ञात का अर्थतः प्रतिषेध क्यों? जैसे सूत्रपदों से प्रतिषेध किया जाता है तो सभी सूत्रों में अर्थतः उसकी अनुज्ञा होती है। वैसे ही जिन सूत्रों में अनुज्ञा की गई है तो पहले अर्थतः प्रतिषेध था, इसलिए अनुज्ञा की जाती है।

६१६५.तट्ठणं वा वुत्तं, निग्गंधो वा जता तु ण तरेज्जा।
सो जं कुणति दुहट्ठो, तदा तु तट्ठणमावज्जे॥

अथवा दूसरे मुनि पर अभ्याख्यान करने वाला मुनि यदि अपने अभ्याख्यान को प्रमाणित नहीं कर पाता तो कहा गया है कि उसे वह स्थान—प्रायश्चित्त प्राप्त होता है जिस तथ्य का उसने अभ्याख्यान लगाया है। यदि निर्ग्रन्थ अपने पैर में लगे कांटे को नहीं निकाल सकता और निर्ग्रन्थी उसका नीहरण नहीं करती है तो पीड़ित निर्ग्रन्थ जो आत्मविराधना और संयमविराधना करता है उसका स्थान—प्रायश्चित्त उस निर्ग्रन्थी को भी प्राप्त होता है।

६१६६.पाए अच्छि विलग्गे, समणाणं संजएहि कायव्वं।
समणीणं समणीहिं, वोच्चत्थे होंति चउगुरुगा॥

श्रमण के पैरों में कांटा लग जाए अथवा आंख में कणुक आदि गिर जाए तो श्रमण ही उसका नीहरण करें। श्रमणियों का श्रमणियां करें। व्यत्यास करने पर चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त है।

६१६७.अण्णत्तो च्वियं कुंटसि, अण्णत्तो कंटओ खतं जातं।
दिट्ठं पि हरति दिट्ठिं, किं पुण अदिट्ठ इतरस्स॥

एक संयती संयत के कंटक का नीहरण करते समय कंटक वाले स्थान को छोड़कर अन्यत्र अन्यत्र खोदती है। साधु ने कहा—तुम अन्यत्र खोद रही हो, कंटक अन्यत्र है। खोदने से मेरे घाव हो गया है। संयती बोली—भुक्तभोगिनी स्त्री ने अनेक बार पुरुषलिंग को देखा है फिर भी वह (लिंग) दृष्टि का हरण करता है, बार-बार उसे देखने का मन ही ही

जाता है। परंतु उस स्त्री का तो कहना ही क्या जिसने कभी उसको देखा ही नहीं।

६१६८. कंटग-कणुए उद्धर, धणितं अवलंब मे भमति भूमी।

सूलं च बत्थिसीसे, पेल्लेहिं घणं थणो फुरति॥

निर्ग्रन्थी ने निर्ग्रन्थ से कहा—मेरे पैरों में कांटा है और आंखों में कणुक लग गया है। उन दोनों का नीहरण करो। तुम मुझे दृढ़ता से पकड़ो। मेरे चारों ओर भूमी घूम रही है। मेरे वस्तीशीर्ष पर शूल चल रही है, इसलिए स्तन स्फुटित हो रहे हैं। अतः बलपूर्वक उन्हें दबाओ।

६१६९. ए चेव य दोसा, कहिया थीवेद आदिसुत्तेसु।

अयपाल-जंबु-सीउण्हपाडणं लोगिणी रोहा॥

ये सारे दोष आदि सूत्र अर्थात् सूत्रकृतांग के स्त्रीपरिज्ञा आदि अध्ययनों में कहे गए हैं। यहां अजापालक-शीतोष्ण-जम्बूपातन—इनसे उपलक्षित लौकिकी रोहा का दृष्टांत है।

रोहा नाम की एक परिव्राजिका थी। उसने अजापालक को देखा। वह उसमें अनुरक्त हो गई। उसने उसके विज्ञान की परीक्षा करनी चाही। उसके कहने पर वह जम्बू वृक्ष पर चढ़ा। रोहा ने फल मांगे। उसने कहा—उष्ण फल दूं या शीतल? उसने कहा—उष्ण। उसने तब फल तोड़कर जमीन पर फेंक दिए। रोहा ने फूंक कर फल खाए और कहा—ये फल उष्ण कहां थे? अजापालक ने तब कहा—जो उष्ण होता है उसे फूंक-फूंक कर खाया जाता है। परिव्राजिका संतुष्ट हो गई। उसने कहा—मेरी योनि में कांटा चुभ गया है। वह उसे निकालने लगा। वह हंसी। उसने कहा—कांटा दिखाई नहीं दे रहा है। रोहा ने उसे कोहनी मारी।

६१७०. मिच्छते उड्ढाहो, विराहणा फास भावसंबंधो।

पडिगमणादी दोसा, भुत्तमभुत्ते य णेयव्वा॥

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी को परस्पर कंटकोद्धरण करते हुए देखकर मिथ्यात्व होता है, उड्ढाह तथा संयम की विराधना होती है। स्पर्श से दोनों में भाव संबंध हो जाता है। भुक्तभोगी या अमुक्तभोगी—दोनों में प्रतिगमन आदि दोष होते हैं।

६१७१. दिट्ठे संका भोइय, घाडिग णाती य गामबहिया य।

चत्तारि छ च्च लहु गुरु, छेदो मूलं तहं दुगं च॥

६१७२. आरक्खियपुरिसाणं, तु साहणे पावती भवे मूलं।

अणवट्ठो सेट्ठीणं, दसमं च णिवस्स कथितम्मि॥

परस्पर कंटकोद्धरण करते हुए देखकर किसी को शंका होती है कि यह सारा मैथुन के लिए है तो चतुर्लघु, भोजिक को कहने पर चतुर्गुरु, घाटित—मित्रगण को कहने पर षड्लघु, ज्ञाति को ज्ञापित करने पर षड्गुरु, ग्राम के बाहर कहने पर छेद, आरक्षिक पुरुषों को कहने पर मूल, श्रेष्ठी को

कहने पर अनवस्थाप्य और नृप को कहने पर दसवां प्रायश्चित्त पारांशिक प्राप्त होता है। ये सारे दोष संयत और संयतियों के परस्पर कंटकोद्धरण में होते हैं।

६१७३. ए चेव य दोसा, अस्संजतिकाहि पच्छकम्मं च।

गिहिएहिं पच्छकम्मं, तम्हा समणेहिं कायव्वं॥

असंयतीस्त्रियों से कंटकोद्धरण कराने पर ये ही दोष होते हैं तथा उनके पश्चात्कर्म (हाथ धोना) का दोष भी होता है। गृहस्थ से कंटकोद्धरण कराता है उसके केवल पश्चात्कर्म का ही दोष होता है, पूर्वोक्त दोष नहीं होते। अतः श्रमण श्रमणों का कंटकोद्धरण करे।

६१७४. एवं सुत्तं अफलं,

सुत्तनिवातो तु असति समणाणं।

गिहि अण्णतित्थि गिहिणी,

परउत्थिगिणी तिविह भेदो॥

जिज्ञासु ने कहा—यदि निर्ग्रन्थियों से न कराया जाए तो सूत्र निरर्थक हो जाएगा। आचार्य ने कहा—सूत्रनिपात श्रमणों के अभाव में मानना चाहिए। कंटकोद्धरण पहले गृहस्थ से, उसके अभाव में अन्यतीर्थिक से, उसके अभाव में गृहस्थस्त्री से, उसके अभाव में परतीर्थिकी से। उसके तीन भेद हैं—स्थविरा, मध्यमा, तरुणी। यदि गृहस्थ से कंटक नीहरण कराया जाए तो उसे कहे—हाथ मत धोना। यदि वह अशौचवादी हो तो हाथ को हाथ से पोंछ लेता है या उसको झटक देता है।

६१७५. जइ सीसम्मि ण पुंछति,

तणु पोत्तेसु व ण वा वि पप्फोडे।

तो सि अण्णेसि असति,

दवं दलंति मा वोदगं घाते॥

यदि वह अपने हाथ मस्तक से, शरीर से, वस्त्रों से नहीं पोंछता है तथा न झटकता है और यह सोचता है घर जाकर हाथ धो लूंगा, तब अन्य के अभाव में वह अपना प्रासुक पानी हाथ धोने के लिए देता है, जिससे वह घर जाकर उदक का घात न करे।

६१७६. माया भगिणी धूया, अज्जिय णत्तीय सेस तिविधाओ।

आगाढे कारणम्मिं, कुसलेहिं दोहिं कायव्वं॥

गृहस्थ के अभाव में नालबद्ध स्त्रियों से भी कराया जा सकता है। जैसे—माता, भगिनी, बेटा, दादी, पौत्री, आदि। इनके अभाव में शेष अनालबद्ध तीन प्रकार की स्त्रियों से भी कराया जा सकता है। वे तीन प्रकार ये हैं—स्थविरा, मध्यमा और तरुणी। आगाढ़ कारण में दोनों कुशल हों तो परस्पर कंटकोद्धरण कर सकते हैं, करा सकते हैं। वे दोनों ये हैं—

६१७७. गिहि अण्णतित्थि पुरिसा,

इत्थी वि य गिहिणि अण्णतित्थीया।

संबंधि एतरा वा,

वइणी एमेव दो एते ॥

गृहस्थ तथा अन्यतीर्थिक पुरुष—ये दो अथवा गृहस्थस्त्री तथा अन्यतीर्थिकी स्त्री ये दो, अथवा संबंधिनी व्रतिनी तथा असंबंधिनी व्रतिनी—ये दो। इनमें से कोई द्विक कुशल हो तो आगाढ़ कारण में कराया जा सकता है।

६१७८. तं पुण सुण्णारण्णे, दुद्धारण्णे व अकुसलेहिं वा।

कुसले वा दूरत्थे, ण चएइ पदं पि गंतुं जे ॥

पहले जो कहा गया—साधुओं के अभाव में तो अभाव कब होता है, यह बताया जा रहा है। शून्य अरण्य तथा दुष्टअरण्य में साधुओं का अभाव होता है। साधु हैं परंतु कंटकोद्धरण में अकुशल हैं अथवा कुशल साधु दूरस्थ हैं अथवा कंटक से विद्ध पैर वाला मुनि एक पैर भी चल नहीं सकता, ऐसी स्थिति में पूर्वोक्त यतना करणीय है।

६१७९. परपक्ख पुरिस गिहिणी,

असोय-कुसलाण मोत्तु पडिवक्खे।

पुरिस जयंत मणुण्णे,

होति सपक्खेतरा वा तू ॥

जो यतमान मनोज्ञ पुरुष हों उनसे कराए, उनके अभाव में अमनोज्ञ पुरुषों से कराए। यह स्वपक्ष यतना है। परपक्ष में गृहस्थ या अन्यतीर्थिक पुरुषों से, उनके अभाव में स्त्रियों से, या अशौचवादी कुशल पुरुषों से कराए। प्रतिपक्ष को छोड़कर अर्थात् शौचवादी अकुशल को छोड़कर।

६१८०. सल्लुद्धर णक्खेण व, अच्छिव वत्थंतरं व इत्थीसु।

भूमी-कट्ट-तलोरुसु, काऊण सुसंवुडा दो वि ॥

स्त्री यदि कंटकोद्धरण कर रही हो तो उसकी विधि यह है—पैरों का स्पर्श न करती हुई शल्योद्धरण से या नखों से कांटे का नीहरण करे। कांटा न निकले तो पैरों को भूमी पर रख कर या काठ पर या तल पर या ऊरु पर रखकर वस्त्रांतरित होकर कांटा निकाले। संयती और संयत—दोनों सुसंवृत होकर बैठे।

६१८१. एमेव य अच्छिमिं, चंपाविद्धंतो णवरि नाणत्तं।

निग्गंथीण तहेव य, णवरिं तु असंवुडा काई ॥

इसी प्रकार आंख में कणिका आदि लग जाने पर सारी विधि जानें। यहां चंपा नगरी में सुभद्रा का उदाहरण ज्ञातव्य है। उसमें नानात्व है। साधु के आंख में लगे हुए तृण को सुभद्रा ने निकाला, वैसे ही साधु के आंख से तृण का अपनयन साध्वी कर सकती है। आर्यायों के विषय में भी दो

सूत्र वैसे ही वक्तव्य हैं। यदि कोई असंवृत आर्या हो तो प्रतिगमन आदि दोष होते हैं।

अपवादपद में निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थी का कंटकोद्धरण प्रागुक्त विधि से कर सकता है।

निग्गंथीअवलंबण-पदं

निग्गंथे निग्गंथिं दुग्गंसि वा विसमंसि
वा पव्वयंसि वा पक्खुलमाणिं वा
पवडमाणिं वा गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे
वा नाइक्कमइ ॥

(सूत्र ७)

निग्गंथे निग्गंथिं सेयंसि वा पंकंसि वा
पणगंसि वा उदगंसि वा ओकसमाणिं वा
ओवुज्झमाणिं वा गिण्हमाणे वा
अवलंबमाणे वा नाइक्कमइ ॥

(सूत्र ८)

निग्गंथे निग्गंथिं नावं आरुभणमाणिं
वा ओरुभमाणिं वा गिण्हमाणे वा
अवलंबमाणे वा नाइक्कमइ ॥

(सूत्र ९)

६१८२. सो पुण दुग्गे लग्गेज्ज कंटओ लोयणम्मि वा कणुणं।

इति दुग्गसुत्तजोगो, थला जलं चेररे दुविहे ॥

दुर्ग में जाते समय पैर में कंटक या आंख में कणुक लग सकता है। यह दुर्ग सूत्र के साथ पूर्वसूत्र का योग-संबंध है। दुर्ग स्थल होता है। उससे आगे जल होता है। अतः दुर्ग सूत्र के अनन्तर ही 'इतर' में अर्थात् जल प्रतिबद्ध दो प्रकार के सूत्र—पंकविषयक तथा नौविषयक का प्रारंभ किया जाता है।

६१८३. तिविहं च होति दुग्गं, रुक्खे सावय मणुस्सदुग्गं च।

णिक्कारणम्मि गुरुगा, तत्थ वि आणादिणो दोसा ॥

दुर्ग के तीन प्रकार हैं—वृक्षदुर्ग, श्वापददुर्ग और मनुष्य-दुर्ग। गहनतम वृक्षों से युक्त दुर्ग वृक्षदुर्ग है। जहां सिंह, व्याघ्र आदि हिंस्र पशुओं का भय हो वह श्वापददुर्ग और जहां म्लेच्छ, बोधिक आदि स्तेनों का भय हो वह मनुष्यदुर्ग है।

इन तीनों प्रकार के दुर्गों में यदि निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थी को

निष्कारण अवलंबन देता है तो उसे चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष प्राप्त होते हैं।

६१८४. मिच्छते सतिकरणं, विराहणा फास भावसंबंधो।

पडिगमणादी दोसा, भुत्ता-ऽभुत्ते व णेयव्वा॥

निर्ग्रन्थी को अवलंबन देते हुए देखकर कोई मिथ्यात्व को प्राप्त हो सकता है। जो मुनि भुक्तभोगी है उसके स्मृतिकरण और अभुक्तभोगी को कुतूहल होता है। संयमविराधना तथा स्पर्श से भावसंबंध होता है और उसके परिणाम स्वरूप प्रतिगमन आदि दोष होते हैं। ये दोष भुक्त और अभुक्त साधु-साध्वियों के होते हैं।

६१८५. तिविहं च होति विसमं, भूमिं सावय मणुस्सविसमं च।

तम्मि वि सो चेव गमो, णावोदग सेय जतणाए॥

विषम के तीन प्रकार हैं—भूमीविषम, श्वापदविषम तथा मनुष्यविषम। भूमीविषम का तात्पर्य है—गढ़ा, पाषाण आदि से आकीर्ण भूभाग। प्रस्तुत में भूमीविषम का प्रसंग है। इसमें भी वही गम-विकल्प है जो दुर्ग विषयक कहा गया है। नौका, उदक तथा पंक में निष्कारण निर्ग्रन्थी को अवलंबन देने पर वे ही दोष होते हैं। कारणवश यतना से अवलंबन दिया जा सकता है।

६१८६. भूमीए असंपत्तं, पत्तं वा हत्थ-जाणुगादीहिं।

पक्खुलणं णायव्वं, पवडण भूमीय गत्तेहिं॥

प्रस्खलन उसे कहा जाता है जहां से फिसलने पर हाथ, जानु आदि भूमी को प्राप्त न हुए हों या हो गए हों। प्रपतन वह कहलाता है जिसमें सारा शरीर भूमी पर आ गिरता है।

६१८७. अहवा वि दुग्ग विसमे, थब्बं भीतं व गीत थेरो तु।

सिचयंतरेतरं वा, गिण्हंतो होति निदोसो॥

अथवा द्वितीय पद में स्तब्ध या भीत निर्ग्रन्थी को दुर्ग या विषम में अवलंबन देता हुआ गीतार्थ तथा स्थविर निर्ग्रन्थ निर्दोष होता है। वह निर्ग्रन्थी वस्त्रान्तररित या अन्यथा भी क्यों न हो।

६१८८. पंको खलु चिक्खल्लो,

आगंतू पयणुओ दुओ पणओ।

सो पुण सजलो सेओ,

सीतिज्जति जत्थ दुविहे वी॥

पंक का अर्थ है—चिक्खल। पनक वह है जो आगंतुक है, पतला है तथा द्रवरूप पंक है। जब पंक और पनक—दोनों सजल होते हैं तब उनमें निमज्जन होता है। उसे 'सेक' कहते हैं।

६१८९. पंक-पणएसु नियमा, ओगसणं वुब्भणं सिया सेए।

थिमियम्मि णिमज्जणता, सजले सेए सिया दो वि॥

पंक और पनक—दोनों का नियमतः 'अपकसन' हास होता है। सेक का हरण पानी से होता है। जब वह गाढ़ और आर्द्र होता है तब उसमें निमज्जन होता है। सजल सेक में अपवहन—बहा कर ले जाना तथा निमज्जन—दोनों होते हैं।

६१९०. ओधारण उत्तारण, अत्थुरण ववुग्गहे य सतिकारो।

छेदो व दुवेगयरे, अतिपिल्लण भाव मिच्छत्तं॥

कारण में निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थी को नौका में चढ़ाते हुए, उतारते हुए यदि आस्तरण या शरीर को पकड़ता है तो दोनों भुक्तभोगियों के स्मृतिकरण होता है। नख आदि से एक-दूसरे के छेद (घाव) होता है। अतिप्रेरणा से भाव अर्थात् मैथुन की अभिलाषा उत्पन्न हो सकती है। उसे देखकर कोई मिथ्यात्व को प्राप्त हो जाता है।

६१९१. अंतोजले वि एवं, गुज्झंगप्फास इच्छऽणिच्छंते।

मुच्चेज्ज व आयत्ता, जा होउ करेतु वा हावे॥

जल के भीतर भी उसे अवलंबन देने पर ये ही दोष होते हैं। गुह्यांग के स्पर्श से मोह का उदय होता है। उससे मैथुन की इच्छा होती है। वह चाहे या न चाहे—दोनों ओर दोष होते हैं। वह निर्ग्रन्थ उस निर्ग्रन्थी को जल के मध्य छोड़ देता है जिससे वह साध्वी स्वतंत्र होकर हाव—मुखविकार करती रहे। कारण में अपवादस्वरूप उसे नौका में चढ़ाने, उतारने, आदि यतनापूर्वक कर सकता है।

६१९२. सव्वंगियं तु ग्रहणं, करेहिं अवलंबणेगदेसम्मि।

जह सुत्तं तासु कयं, तहेव वतिणो वि वतिणीए॥

ग्रहण का अर्थ है—सर्वांगीण रूप से, हाथों से पकड़ना। अवलंबन का अर्थ है—शरीर के एक देश—बाहु आदि से ग्रहण करना। ये तीनों सूत्र निर्ग्रन्थियों के लिए किए गए हैं। वैसे ही व्रती को व्रतिनीयां उस परिस्थिति में ग्रहण करती हुई या अवलंबन देती हुई मर्यादा का लोप नहीं करतीं।

६१९३. जुगलं गिलाणगं वा, असहुं अण्णेण वा वि अतरंगं।

गोवालकंचुगादी, सारक्खण णालबद्धादी॥

बाल, वृद्ध, ग्लान, दुर्ग आदि पर जाने में असमर्थ, अन्य कोई जो अशक्त है उसको नालबद्ध अथवा अनालबद्ध साध्वी गोपालकंचुक परिधानयुक्त होकर उसको संरक्षण देती है, उसको ग्रहण करती है या अवलंबन देती है—यह विहित है।

खित्तचित्तं निग्गंथिं निग्गंथे गिण्हमाणे

वा अवलंबमाणे वा नाइक्कमइ॥

(सूत्र १०)

६१९४.ओवुज्जंती व भया, संफासा रागतो व खिप्पेज्जा।
संबंधत्थविहिण्णु, वदंति संबंधमेयं तु॥

पानी में बहती हुई साध्वी भय से क्षिप्तचित्त हो जाती है, अथवा संस्पर्श से, राग से क्षिप्तचित्त हो जाती है संबंधार्थ विधिज्ञ आचार्य प्रस्तुत सूत्र में यह संबंध बताते हैं।

६१९५.रागेण वा भएण व, अहवा अवमाणिया णरिदण।
एतेहिं खित्तचित्ता, वणिताति परूविता लोए॥

क्षिप्तचित्त होने के ये कारण हैं—राग, भय अथवा राजा से अपमानित होने पर। लोक में उदाहरणरूप में वणिग् आदि प्ररूपित हैं। राग से—एक वणिग् भार्या पति का मरण सुनकर क्षिप्तचित्त हो गई।

६१९६.भयओ सोमिलबडुओ, सहसोत्थरिया य संजुगादीसु।
णरवतिणा व पतीण व, विमाणिता लोणिगी खेत्ता॥

भय से सोमिल नामक ब्राह्मण क्षिप्तचित्त हो गया। संग्राम आदि में सहसा शत्रु-सेना से गृहीत मनुष्य क्षिप्तचित्त हो जाते हैं। राजा से या पति से अपमानित स्त्री क्षिप्तचित्त हो जाती है। ये सारे लौकिक क्षिप्तचित्त के उदाहरण हैं।

६१९७.रागम्मि रायखुडी, जड्ढाति तिरिक्ख चरिय वातम्मि।
रागेण जहा खेत्ता, तमहं वोच्छं समासेणं॥

राग से क्षिप्तचित्त का उदाहरण है राजक्षुल्लिका का। हाथी आदि तिर्यच प्राणी के भय से तथा बाद में चरिका से पराजित निर्गन्धी क्षिप्तचित्त हो जाती है। राग से जैसे राजक्षुल्लिका क्षिप्तचित्त हुई, वह मैं संक्षेप में कहूंगा।

६१९८.जियसत्तु य णरवती, पव्वज्जा सिक्खणा विदेसम्मी।
काऊण पोतणम्मिं, सब्बायं णिव्वुतो भगवं॥

६१९९.एक्का य तस्स भगिणी,रज्जसिरिं पयहिऊण पव्वइया।
भातुयअणुराएणं, खेत्ता जाता इमा तु विही॥

जितशत्रु राजा ने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। स्थविर मुनि के पास उसने शिक्षा प्राप्त की और कालान्तर में विदेश चला गया। पोतनपुर में परतीर्थिकों के साथ सद्वाद किया। जैन शासन की प्रभावना कर वह भगवान् मुनि निर्वृत हो गया, मोक्षपद को प्राप्त कर लिया।

जितशत्रु राजा की भगिनी राज्यश्री को छोड़कर प्रव्रजित हो गई। कालान्तर में उसने सुना कि उसके मुनि भाई की मृत्यु हो गई है। वह भाई के अनुराग से क्षिप्तचित्त हो गई। क्षिप्तचित्त को स्वस्थ करने की यह विधि है—

६२००.तेलोक्कदेवमहिता, तित्थगरा णीरता गता सिद्धिं।
थेसा वि गता केई, चरण-गुणपभावगा धीरा॥
उसको आश्वासन देते हुए कहना चाहिए—त्रिभुवन के

देवों से पूजित तीर्थकर भी नीरजा होकर सिद्धि को प्राप्त हो गए। चरणगुणप्रभावक कुछ धीर स्थविर भी सिद्धि में चले गए।

६२०१.बंभी य सुंदरी या, अन्ना वि य जाउ लोगजेद्दाओ।
ताओ वि अ कालगया, किं पुण सेसाउ अज्जाओ॥

ब्राह्मी, सुन्दरी तथा अन्य लोकज्येष्ठ साध्वियां भी कालगत हो गईं तो फिर शेष आर्थिकाओं की बात ही क्या?

६२०२.न हु होति सोतियव्वो, जो कालगतो दढो चरित्तम्मि।
सो होति सोतियव्वो, जो संजमदुब्बलो विहरे॥

वह शोचनीय नहीं होता अर्थात् उसके पीछे शोक नहीं मनाया जाता जो चारित्र को दृढ़तापूर्वक पालन करता हुआ कालगत होता है। वह शोचनीय होता है जो संयम पालन में दुर्बल होकर विहरण करता हुआ कालगत होता है।

६२०३.जो जह व तह व लद्धं, भुंजति आहार-उवधिमादीयं।
समणगुणमुक्कजोगी, संसारपवद्धतो होति॥

जो मुनि यथातथा प्राप्त आहार, उपधि आदि का परिभोग करता है, वह श्रमणगुणों से मुक्त योगी संसार को बढ़ाने वाला होता है। वह शोक करने योग्य होता है। (हे आर्य! तुम्हारा भाई तो चारित्र का दृढ़ता से पालन करता हुआ कालगत हुआ है। उसके विषय में शोक करना व्यर्थ है।)

६२०४.जड्ढादी तेरिच्छे, सत्थे अगणीय थणिय विज्जू य।
ओमे पडिभेसणता, चरियं पुव्वं परूवेउं॥

हाथी, सिंह आदि तिर्यच प्राणियों के भय से, शस्त्र, अग्नि, स्तनित, विद्युत् आदि के भय से जो क्षिप्तचित्त होती है उसको स्वस्थ करने की विधि यह है—उस क्षिप्तचित्त साध्वी से छोटी साध्वी को तैयार कर सिंह आदि को डराने का उपक्रम कराने से क्षिप्तचित्त साध्वी भयमुक्त हो जाती है। इसी प्रकार बाद में पराजय होने के कारण क्षिप्तचित्त हुई साध्वी के सम्मुख उस चरिका को पहले बताकर लाया जाए और उससे स्वयं के पराजित होने की बात कहलाई जाए तो वह साध्वी स्वस्थ हो सकती है।

६२०५.अवहीरिया व गुरुणा, पवत्तिणीए व कम्मि वि पमादे।
वातम्मि वि चरियाए, परातियाए इमा जयणा॥

कोई साध्वी आचार्य के द्वारा उपालब्ध होने पर अथवा प्रवर्तिनी के द्वारा किसी प्रमाद में शिक्षित किए जाने पर अथवा चरिका द्वारा बाद में पराजित होने पर अपमानित होकर क्षिप्तचित्त हो जाती है। भय से क्षिप्तचित्त उस साध्वी के लिए यह यतना है।

६२०६. कण्णम्मि एस सीहो,

गहितो अह धारिओ य सो हत्थी।

खुड्डलतरिया तुज्झं,

ते वि य गमिया पुरा पाला ॥

कोई साध्वी हाथी या सिंह के भय से क्षिप्तचित्त हो जाती है। उसका प्रतिकार यह है—पहले से ही हस्तिपाल, सिंहपाल आदि को समझा दिया जाए। फिर क्षिप्तचित्त साध्वी को वहां ले जाया जाए। फिर उस साध्वी से लघुतरी साध्वी सिंह के कानों को पकड़ती है तथा हाथी को धाड़ित करती है, फिर भी वे शांत रहते हैं। फिर क्षिप्तचित्त साध्वी को कहते हैं—देखो, यह छोटी साध्वी भी नहीं डरती। क्या तुम इससे छोटी हो, जो हाथी आदि से डरती हो? धैर्य रखो। वह स्वस्थ हो जाती है।

६२०७. सत्थऽग्गी थंभेतुं, पणोल्लणं णस्सते य सो हत्थी।

थेरी चम्म विकड्डण, अलायचक्रं तु दोसुं तु ॥

जो शस्त्र और अग्नि के भय से क्षिप्तचित्त हो तो उसके समक्ष शस्त्र और अग्नि का स्तंभन कर उसको पैरों से कुचले। हाथी के भय से क्षिप्तचित्त साध्वी को हाथी को पराङ्मुख जाता हुआ दिखाए। गर्जन से भीत साध्वी को कहे—यह शब्द चर्म को खींचने से होता है। वैसा शब्द उसे सुनाए। उसका भय नष्ट हो जाता है। अग्नि और विद्युत् इन दोनों के भय से भीत साध्वी को बार-बार अलायचक्र दिखाए। वह भयमुक्त हो सकती है।

६२०८. एईए जिता मि अहं, तं पुण सहसा ण लक्खियं णाए।

धिक्कतकतितव लज्जाविताए पउणायई खुड्डी ॥

६२०९. तह वि य अठायमाणे,

सारक्खमरक्खणे य चउगुरुगा।

आणाइणो य दोसा,

विराहण इमेहिं ठाणेहिं ॥

जिस चारिका से वह साध्वी पराजित होकर क्षिप्तचित्त हुई थी वह चारिका वहां आकर कहती है—मैं इस साध्वी से पराजित हो गई थी। इसने सहसा अपनी जय को लक्षित नहीं किया। तब उसे धिक्कृत किया गया और कपट करने के कारण लज्जित कर वहां से निकाल दिया गया। यह देख वह क्षुल्लिका-साध्वी स्वस्थ हो जाती है तो ठीक है।

इस प्रकार यतना करने पर भी यदि वह स्वस्थ नहीं होती है तो उसका संरक्षण वक्ष्यमाण यतना से करना चाहिए। यदि संरक्षण नहीं किया जाए तो चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त, आज्ञाभंग आदि दोष तथा इन स्थानों से विराधना होती है।

६२१०. छक्कायाण विराहण, ज्ञामण तेणे निवायणे चेव।

अगड विसमे पडेज्ज व, तम्हा रक्खंति जयणाए ॥

क्षिप्तचित्त साध्वी छहकाय की विराधना करती है, अग्नि जला देती है, चोरी कर लेती है, स्वयं या दूसरे को गिरा देती है, कूएं में या विषम-गढ़े में जा गिरती है, इसलिए यतनापूर्वक उसका संरक्षण किया जाता है।

६२११. सस्सगिहादीणि दहे, तेणेज्ज व सा सयं व हीरेज्जा।

मारण पिट्टणमुभए, तद्दोसा जं च सेसाणं ॥

वह धान्य के गृहों आदि को जला डालती है। वह चोरी करती है अथवा स्वयं उसका कोई हरण कर लेता है। उसे कोई पीटे या मारे या स्वयं वह अपने को पीटे या मारे। उस क्षिप्तचित्त साध्वी के दोष से शेष साध्वियों का पिट्टन-मारण आदि होता है।

६२१२. महिड्डिए उट्ट निवेसणे य,

आहार विविंचणा विउस्सग्गो।

रक्खंताण य फिडिया,

अगवेसणे होंति चउगुरुगा ॥

महर्द्धिक, उत्थान, निवेशन, आहार, विगिंचना, व्युत्सर्ग, रक्षा करते हुए भी वह कहीं चली जाए, उसकी गवेषणा न करने पर चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त। यह द्वार गाथा है। इसका विस्तार इस प्रकार है।

६२१३. अमहं एत्थ पिसादी, रक्खंताणं पि फिट्ठति कताई।

सा हु परिरक्खियव्वा, महिड्डिगाऽऽरक्खिए कहणा ॥

महर्द्धिक अर्थात् नगर का रक्षक। उसको कहना चाहिए—इस उपाश्रय में हम एक साध्वी का संरक्षण कर रहे हैं। हमारे संरक्षण से वह पिशाची-ग्रथिल साध्वी कहीं भाग जाए तो आप उसकी रक्षा करें।

६२१४. मिउबंधेहिं तहा णं, जमेति जह सा सयं तु उट्टेति।

उव्वरग सत्थरहिते, बाहि कुडंडे असुनं च ॥

उस क्षिप्तचित्त साध्वी को मृदु बंधनों से बांध कर रखें। बंधन ऐसे हो जिससे वह स्वयं उठ सके, बैठ सके। उसको ऐसे कमरे में रखें जहां शस्त्र न हों। उस कमरे का द्वार बंद रखें और कुंडी लगा दे। स्थान को अशून्य न रखें अर्थात् कोई न कोई जागता रहे।

६२१५. उव्वरगस्स उ असती,

पुव्वकतऽसती य खम्मते अगडो।

तस्सोवरिं च चक्रं,

ण छिवति जह उप्पिडंती वि ॥

अपवरक के अभाव में उस साध्वी को पहले खोदे हुए पानी रहित कूएं में या नए गढ़े को खोद कर उसमें रख दे।

उस गढ़े पर चक्का इस प्रकार रखे जिससे वह उछल कर भी उस चक्के को छू न सके।

६२१६. निद्ध महुरं च भत्तं, करीससेज्जा य णो जहा वातो।
देविय धाउक्खोभे, णातुस्सग्गो ततो किरिया॥

उस क्षिप्तचित्त साध्वी को स्निग्ध और मधुर भोजन दे। उसकी शय्या करीषमयी हो। ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे उसके वायु का क्षोभ न हो। सोचना चाहिए कि क्षिप्तचित्तता दैविक है या धातुक्षोभ के कारण है? यह जानने के लिए कायोत्सर्ग करे, फिर देवता के कथनानुसार उसका प्रासुक क्रिया से उपचार करे।

६२१७. अगडे पलाय मग्गण,

अण्णगणो वा वि जो ण सारक्खे।

गुरुगा जं वा जत्तो,

तेसिं च णिवेयणं काउं॥

यदि वह साध्वी अवट-कूप से या अपवरक से पलायन कर जाए तो उसकी मार्गणा करनी चाहिए। आसपास के अन्य गणों में भी साध्वी के पलायन की सूचना कर उसके संरक्षण और संग्रह की बात बताए। गवेषणा और संरक्षण न करने पर गुरुमास का प्रायश्चित्त तथा वह क्षिप्तचित्त साध्वी जो विराधना आदि करेगी, उसका प्रायश्चित्त भी प्राप्त होता है।

६२१८. छम्मासे पडियरिउं, अणिच्छमाणेसु भुज्जयरओ वा।

कुल-गण-संघसमाए, पुव्वगमेणं णिवेदेति॥

पूर्वोक्त प्रकार से छह मास तक उस साध्वी की प्रतिचर्या करनी चाहिए। यदि वह स्वस्थ हो जाए तो अच्छा है, अन्यथा पुनः उसका प्रतिचरण करे। यदि वे प्रतिचरण करना न चाहें तो कुल, गण, संघ का समवाय कर पूर्वगम-ग्लानद्वार में उक्त प्रकार से उनको निवेदन करे। निवेदन करने पर कुल आदि क्रमशः उसका प्रतिचरण करते हैं।

६२१९. रत्तो निवेइयम्मिं, तेसिं वयणे गवेसणा होति।

ओसह वेज्जा संबंधुवस्सए तीसु वी जयणा॥

वह साध्वी राजा की पुत्री अथवा अन्य किसी की स्वजन हो सकती है, उन्हें सूचित कर दिया जाता है। उसके कहने पर उस साध्वी को वहां लाया जाता है। वहां उसकी गवेषणा होती है। उसके संबंधी कहते हैं—हम औषधि आदि तथा वैद्य की व्यवस्था करेंगे। साधु यदि उस साध्वी के स्वजन हों तो वे कहते हैं—तुम हमारे उपाश्रय में रहकर इस साध्वी का प्रतिचरण करो। हम सारी व्यवस्था करेंगे। वहां आहार, उपधि और शय्या—इन तीनों की यतना करे।

६२२०. पुत्तादीणं किरियं, सयमेव घरम्मि कोइ कारेति।

अणुजाणंते य तहिं, इमे वि गंतुं पडियरंति॥

यदि कोई क्षिप्तचित्त साध्वी का स्वजन घर में स्वयं ही अपनी पुत्री आदि से उस साध्वी की क्रिया—चिकित्सा करवाता है और साधुओं को निवेदन करने पर वे उसका अनुमोदन करते हैं तो उस साध्वी को वहां ले जाते हैं और तब वे गच्छवासी साधु जाकर उसकी प्रतिचर्या करते हैं।

६२२१. ओसह विज्जे देमो, पडिजग्गह णं इहं ठिताऽऽसण्णं।

तेसिं च णाउ भावं, ण देति मा णं गिहीकुज्जा॥

स्वजन यह कहे कि औषधि और वैद्य की हम व्यवस्था करेंगे। केवल तुम हमारे स्थान के निकट प्रदेश में रह कर साध्वी की प्रतिचर्या करो। तब उन स्वजनों के भावों को सूक्ष्मता से जानकर वे साध्वी को नहीं सौंपते अर्थात् उनके निकट स्थान में इस आशंका से नहीं ले जाते कि वे साध्वी को कहीं गृहस्थ न बना लें।

६२२२. आहार उवहि सिज्जा, उग्गम-उप्पायणादिसु जयंति।

वायादी खोभम्मि व, जयंति पत्तेग मिस्सा वा॥

वे प्रतिचरण करने वाले आहार, उपधि और शय्या विषयक उद्गम, उत्पादन आदि में यत्नवान् रहते हैं। यह यतना दैविक क्षिप्तचित्तता विषयक है। वायु आदि से होने वाले धातुक्षोभ के कारण भी क्षिप्तचित्तता होती है। उसमें सांभोगिक या मिश्र अर्थात् असाम्भोगिकों से सम्मिश्र पूर्वोक्त प्रकार से यतना करते हैं।

६२२३. पुव्वुदिट्ठो य विही, इह वि करेंताण होति तह चेव।

तेइच्छम्मि कयम्मि य, आदेसा तिण्णि सुद्धा वा॥

पूर्व उद्दिष्ट विधि अर्थात् प्रथम उद्देशक के ग्लानसूत्र में प्रतिपादित विधि यहां भी क्षिप्तचित्त की वैयावृत्य करते समय जाननी चाहिए। चिकित्सा के पश्चात् स्वस्थ हो जाने पर उसके प्रायश्चित्त विषयक तीन आदेश हैं—एक आदेश है उसके प्रति गुरुक व्यवहार करना चाहिए। दूसरा आदेश है—उसके प्रति लघुक व्यवहार करना चाहिए। तीसरा आदेश है—लघुस्वक व्यवहार होना चाहिए। यहां तीसरा आदेश व्यवहारसूत्र के अनुसार होने के कारण प्रमाण है। अथवा वह क्षिप्तचित्त साध्वी शुद्ध है, प्रायश्चित्तभाक् नहीं है, क्योंकि परवशता के कारण वह राग-द्वेष के अभाव में प्रतिसेवना करती है।

६२२४. चउरो य हुंति भंगा, तेसिं वयणम्मि होति पणवणा।

परिसाए मज्झम्मि, पडुवणा होति पच्छिन्ते॥

वृद्धि-हानि के आधार पर चारित्र के विषय में चार भंग होते हैं। आचार्य के वचनों में उसकी प्ररूपणा होती है।

जिज्ञासु ने पूछा—वह साध्वी अप्रायश्चित्ती कैसे? आचार्य परिषद् के मध्य उस साध्वी के प्रायश्चित्त-लघुस्वक की प्रस्थापना करते हैं।

६२२५. वहुति हायति उभयं, अवद्वियं च चरणं भवे चउहा।

खइयं तहोवसमियं, मिस्समहक्खाय खेतं च॥
चारित्र विषयक चार भंग ये हैं—

१. चारित्र बढ़ता है
२. चारित्र का हास होता है
३. चारित्र बढ़ता भी है, हास भी होता है
४. चारित्र अवस्थित रहता है—न बढ़ता है, न हास होता है।

क्षपकश्रेणी वाले का क्षायिक चारित्र बढ़ता है। उपशमश्रेणी वाले का हास होता है। क्षायोपशमिक चरित्र घटता, बढ़ता है। यथाख्यातचारित्र अवस्थित रहता है। क्षिप्तचित्त का चारित्र भी अवस्थित होता है, अतः वह प्रायश्चित्तभाक् नहीं है।

६२२६. कामं आसवदारेसु वद्वियं पलवितं बहुविधं च।

लोगविरुद्धा य पदा, लोउत्तरिया य आइण्णा॥

६२२७. न य बंधहेउविगलत्तणेण कम्मस्स उवचयो होति।

लोगो वि एत्थ सक्खी, जह एस परव्वसा कासी॥

यह अनुमत है कि यह क्षिप्तचित्त साध्वी बहुत समय तक आश्रवद्वारों में प्रवर्तित हुई, बहुविध प्रलाप किया, लोक-विरुद्ध तथा लोकोत्तर विरुद्ध पदों का आचरण किया। फिर भी उस साध्वी के कर्मबंध का कोई हेतु न होने के कारण उसके कर्मों का उपचय नहीं होता। लोक भी इस विषय में साक्षी हैं कि इसने जो कुछ किया वह सारा परवशता में किया।

६२२८. राग-द्वेसाणुगया, जीवा कम्मस्स बंधगा होंति।

रागादिविसेसेण य, बंधविसेसो वि अविगीओ॥

राग-द्वेष में अनुगत जीव कर्म के बंधक होते हैं। रागद्वेष के तारतम्य से कर्मबंध का तारतम्य कहा गया है।

६२२९. कुणमाणा वि य चेद्धा, परतंता णट्टिया बहुविहातो।

किरियाफलेण जुज्जति, ण जहा एमेव एतं पि॥

जैसे यंत्रमयी नर्तकी परतंत्र होने के कारण अनेक प्रकार की चेष्टाएं करती हुई भी क्रिया के फल से युक्त नहीं होती, वैसे ही यह क्षिप्तचित्त साध्वी भी विरुद्ध क्रियाएं करती हुई भी क्रिया के फल से संबद्ध नहीं होती।

६२३०. जइ इच्छसि सासेरा, अचेतणा तेण से चओ णत्थि।

जीवपरिग्गहिया पुण, बोदी असमंजसं समता॥

यदि तुम यह मानते हो, यथा—‘सासेरा’—यंत्रमयी नर्तकी

अचेतन है इसलिए उसके कर्मोपचय नहीं होता, किन्तु क्षिप्तचित्त साध्वी का शरीर जीवपरिगृहीत है, सचेतन है, इसलिए कर्मोपचय संभव है। जो ‘सासेरा’ दृष्टांत से समता बताई है, उसमें असमंजसता है, यह युक्त नहीं है।

६२३१. चेयणमचेयणं वा, परतंतत्तेण णणु हु तुल्लाइं।

ण तथा विसेसितं एत्थ किंचि भणती सुण विसेसं॥

आचार्य ने कहा—चेतन हो या अचेतन पारतंत्र्य से दोनों तुल्य होते हैं। तब जिज्ञासु ने कहा—भंते! आपने कर्मोपचय के संबंध में चेतन-अचेतन में किंचिद् भी विशेष नहीं बताया। आचार्य ने तब कहा—मैं विशेष बता रहा हूं, तुम सुनो।

६२३२. णणु सो चेव विसेसो, जं एक्कमचेतणं सचित्तेणं।

जह चेयणे विसेसो, तह भणसु इमं णिसामेह॥

यही विशेष है कि एक अचेतन है और एक सचेतन है। इसलिए जो सचेतन है, उसमें जो विशेष है, वह बताओ। आचार्य कहते हैं—यह तुम सुनो।

६२३३. जो पेल्लिओ परेणं, हेऊ वसणस्स होइ कायाणं।

तत्थ न दोसं इच्छसि, लोणेण समं तहा तं च॥

दूसरों के द्वारा प्रेरित होकर जो षट्जीवनिकायों के व्यसन-संघट्टन, परितापन आदि का हेतु बनता है, उसमें तुम दोष नहीं मानते, क्योंकि लोकव्यवहार में यही सम्मत है। वैसे ही तुम उस क्षिप्तचित्त साध्वी को निर्दोष मानो।

६२३४. पस्संतो वि य काए, अपच्चलो अप्पगं विधारेउं।

जह पेल्लितो अदोसो, एमेव इमं पि पासामो॥

परायत्त व्यक्ति स्वयं द्वारा होने वाली छह काय की विराधना को देखते हुए भी स्वयं को संस्थापित करने में असमर्थ होता है, वह अदोष होता है, इसी प्रकार क्षिप्तचित्त साध्वी को भी हम अदोष देखते हैं।

६२३५. गुरुगो गुरुगतरागो, अहागुरुगो य होइ ववहारो।

लहुओ लहुयतरागो, अहालहूगो य ववहारो॥

६२३६. लहुसो लहुसतरागो, अहालहूसो य होइ ववहारो।

एतेसिं पच्छित्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए॥

६२३७. गुरुतो य होइ मासो, गुरुगतरागो य होइ चउमासो।

अहगुरुगो छम्मासो, गुरुगे पक्खम्मि पडिवत्ती॥

६२३८. तीसा य पण्णवीसा, वीसा पन्नरसेव य।

दस पंच य दिवसाइं, लहुसगपक्खम्मि पडिवत्ती॥

६२३९. गुरुगं च अद्धमं खलु, गुरुगतरागं च होइ दसमं तु।

आहागुरुग दुवालस, गुरुगे पक्खम्मि पडिवत्ती॥

६२४०. छट्ठं च चउत्थं वा, आयंबिल-एगठाण-पुरिमह्हा।

निव्वियगं दायव्वं, अहलहुसगगम्मि सुद्धो वा॥

व्यवहार के तीन प्रकार हैं—गुरुक, लघुक, लघुस्वक। गुरुक के तीन प्रकार हैं—गुरुक, गुरुतरक, यथागुरुक। लघुक के तीन प्रकार हैं—लघु, लघुतर, यथालघु। लघुस्वक के तीन प्रकार हैं—लघुस्वक, लघुस्वतरक, यथालघुस्वक। इन व्यवहारों का यथानुपूर्वी से—यथोक्तपरिपाटी से प्रायश्चित्त कहूंगा।

गुरुक व्यवहार मासपरिमाण वाला होता है। गुरुतरक चतुर्मासपरिणाम वाला और यथागुरुक छह मास परिमाण वाला होता है। गुरुक पक्ष में यह प्रायश्चित्त की प्रतिपत्ति है।

लघुक व्यवहार तीस दिन परिमाण, लघुतरक पचीस दिन और यथालघुक बीस दिन परिमाण—यह लघुक पक्ष में प्रायश्चित्त की प्रतिपत्ति है। लघुस्वक व्यवहार पन्द्रह दिन, लघुस्वतरक दश दिन और यथालघुस्वक पांच दिन परिमाण का प्रायश्चित्त। अथवा यथालघुस्वक व्यवहार शुद्ध होता है, प्रायश्चित्त नहीं आता।

एकमासपरिमाण वाला गुरुक व्यवहार अष्टम से, चातुर्मास प्रमाण वाला गुरुकतरक व्यवहार दशम से और छहमास प्रमाण वाला यथागुरुक व्यवहार द्वादश से पूरा हो जाता है। यह गुरुक पक्ष में अर्थात् गुरुव्यवहार के पूर्ति-विषयक तपःप्रतिपत्ति है।

तीस दिन प्रमाण वाला लघुक व्यवहार षष्ठ से—दो दिन के उपवास से, पचीस दिन प्रमाण वाला लघुतरक व्यवहार उपवास से तथा बीस दिन प्रमाण वाला यथालघुक व्यवहार आचाम्ल से पूरा हो जाता है। यह तीन प्रकार के लघुक व्यवहार की तपःप्रतिपत्ति है। पन्द्रह दिन प्रमाण वाला लघुस्वकव्यवहार एकस्थान से, दस दिन प्रमाण वाला लघुस्वतरकव्यवहार पूर्वाह्न से, पांच दिन प्रमाण वाला यथालघुस्वकव्यवहार निर्विकृति से पूरा हो जाता है। कोई मुनि परिहारतपप्रायश्चित्त बहन कर रहा हो और उसके प्रति यदि यथालघुस्वक व्यवहार की प्रस्थापना करनी हो तो वह आलोचनामात्र से शुद्ध है क्योंकि उसने कारण में यतनापूर्वक प्रतिसेवना की है।

दित्तचित्तं निग्गंथिं निग्गंथे गिण्हमाणे
वा अवलंबमाणे वा नाइक्कमइ ॥

(सूत्र ११)

६२४१. एसेव गमो नियमा, दित्तादीणं पि होइ णायव्वो।

जो होइ दित्तचित्तो, सो पलवति णिच्छियव्वाइं ॥

यही विकल्प दीप्तचित्त आदि निर्ग्रन्थियों के विषय में

नियमतः जानना चाहिए। जो दीप्तचित्त होता है वह अनीप्सित बहुत प्रलाप करता है।

६२४२. इति एस असम्माणा, खित्ता सम्माणतो भवे दित्ता।

अग्गी व इंधणेणं, दिप्पति चित्तं इमेहिं तु ॥

पूर्वसूत्र में क्षिप्तचित्त के विषय में कहा गया था। क्षिप्तचित्त होने का कारण है असम्मान और दीप्तचित्त होने का कारण है सम्मान। जैसे अग्नि इन्धन से दीप्त होती है वैसे ही इन कारणों से चित्त दीप्त होता है।

६२४३. लाभमण व मत्तो, अहवा जेऊण दुज्जए सत्तू।

दित्तम्मि सायवाहणो, तमहं वोच्छं समासेण ॥

लाभमद से मत्त अथवा दुर्जय शत्रुओं को जीतना—ये दोनों दीप्तचित्त के कारण हैं। इनमें सातवाहन का दृष्टांत है। मैं उसको संक्षेप में कहूंगा।

६२४४. महराऽऽणत्ती दंडे, सहसा णिग्गम अपुच्छिउं कयरं।

तस्स य तिक्खा आणा, दुहा गता दो वि पाडेउं ॥

६२४५. सुतजम्म-महुरपाडण-निहिलंभनिवेदणा जुगव दित्तो।

सयणिज्ज खंभ कुडे, कुडेइ इमाइं पलवंतो ॥

सातवाहन राजा ने अपने दंडनायक को आज्ञापित करते हुए कहा—मथुरा को हस्तगत करो। तब दंडनायक ने कौनसी मथुरा (दक्षिण या उत्तर) यह बिना पूछे ही सहसा वहां से निष्क्रमण कर दिया। राजा की आज्ञा तीक्ष्ण थी। इसलिए दूसरी बार पूछने का अवकाश नहीं रहा। दंडनायक ने सेना को दो भागों में विभक्त कर दोनों ओर भेज दिया। सेना दोनों को हस्तगत कर लौट आई।

वर्धापक ने राजा को पुत्रजन्म की बधाई दी। इधर से दंडनायक ने आकर मथुरा-विजय की बात कही। तीसरे व्यक्ति ने निधि-प्राप्ति का संवाद सुनाया। इन सारी बधाइयों को एक साथ सुनकर राजा दीप्त हो गया। वह प्रलाप करता हुआ शयनीय स्तंभ और भीत को पीटने लगा।^१

६२४६. सच्चं भण गोदावरि!, पुव्वसमुद्देण साविया संती।

साताहणकुलसरिसं, जति ते कुले कुलं अत्थि ॥

६२४७. उत्तरतो हिमवंतो, दाहिणतो सालिवाहणो राया।

समभारभरक्कंता, तेण न पल्हत्थए पुहवी ॥

सातवाहन का प्रलाप—हे गोदावरी! तुमको पूर्वसमुद्र की शपथ है, तुम सच बताओ—यदि तुम्हारे कूल पर कहीं भी सातवाहन के कुल के सदृश कोई कुल है?

उत्तर दिशा में हिमवान् पर्वत है, दक्षिण में सातवाहन राजा है, इसलिए समान भार से आक्रान्त यह पृथ्वी उलट नहीं रही है।

१. पूरे कथानक के लिए देखें—कथा परिशिष्ट, नं. १४०।

६२४८. एयाणि य अन्नाणि य, पलवियवं सो अणिच्छियव्वाइं।
कुसलेण अमच्चेणं, खरगेणं सो उवाएणं॥

इन प्रलापों तथा अन्य अनीप्सित अनेक प्रलापों से प्रलाप कर रहे सातवाहन राजा को खरक नामक कुशल अमात्य ने उपाय से प्रतिबोध दिया।

६२४९. विद्वितं केणं ति व, तुब्भेहिं पायतालणा खरए।
कत्थ ति मारिओ सो, दुट्ठु ति य दरिसिते भोगा॥

राजा को प्रतिबोध देने के लिए मंत्री ने खंभे और भीतें खंडित कर दीं। राजा ने पूछा—यह विनाश किसने किया? अमात्य ने कहा—आपने। तब राजा ने पैरों से अमात्य खरक की ताड़ना की। लोगों ने उसे उठाकर कहीं छुपा दिया। एक दिन किसी प्रयोजनवश राजा ने पूछा—अमात्य कहां है? सामंत बोले—उसको तो मार डाला। तब राजा ने सोचा—मैंने यह उचित नहीं दिया, बहुत बुरा किया। राजा स्वस्थ हुआ। तब अमात्य को लाकर दिखाया। राजा प्रसन्न हुआ। उसे भोग-पारितोषिक देकर संतुष्ट किया। यह लौकिक दीप्तचित्त का उदाहरण है। लोकोत्तरिक का दृष्टांत यह है।

६२५०. महज्झयण भत्त खीरे, कंबलग पडिग्गहे य फलए य।
पासाए कप्पट्ठी, वातं काऊण वा दित्ता॥

किसी साध्वी ने आगम का महाध्ययन—पौण्डरीक आदि सीख लिया या गांव में उत्कृष्ट भक्त प्राप्त कर लिया, क्षीर प्राप्त हो गई, उत्कृष्ट कंबल मिल गया, पात्र और फलक भी अच्छा मिला, रहने के लिए उत्तम उपाश्रय मिला, एक धनिक की सुंदर कन्या मिल गई, वाद में जीत हुई—इन सब प्रसंगों से वह दीप्तचित्त हो गई।

६२५१. दिवसेण पोरिसीए, तुमए पढितं इमाए अब्भेणं।
एतीए णत्थि गव्वो, दुम्मेहतरीए को तुज्झं॥

आचार्य ने उस दीप्तचित्त साध्वी से कहा—तुमने यह महाध्ययन एक दिन में अथवा एक पौरुषी में सीखा और इस साध्वी ने आधे दिन में या आधी पौरुषी में सीख लिया। तुम इससे मंदबुद्धि हो। इसको कोई गर्व नहीं है तो तुमको कैसा गर्व?

६२५२. तहव्वस्स दुगुंछण, दिट्ठंतो भावणा असरिसेणं।
काऊण होत्ति वित्ता, वादकरणे तत्थ जा ओमा॥

जिन उत्कृष्ट द्रव्यों की प्राप्ति होने के कारण दीप्तचित्तता हुई है, उन द्रव्यों की जुगुप्सा करते हुए उनके विपरिणामों का कथन करना चाहिए। अथवा उस साध्वी को भी इससे शतगुणित अच्छे द्रव्यों की प्राप्ति हुई थी। इस प्रकार दृष्टांत की भावना से उसकी प्राप्ति को हीन बतानी चाहिए। वाद करने के कारण जो दीप्तचित्त हुई हो तो उस प्रचंड परवादिनी

को पहले प्रतिबुद्ध कर, वहां बुलाकर, किसी छोटी साध्वी से वाद में उसे पराजित करना चाहिए। उससे वह दीप्त साध्वी स्वस्थ हो सकती है।

६२५३. दुल्लभदव्वे देसे, पडिसेहितगं अलद्धपुव्वं वा।
आहारोवहि वसही, अक्खतजोणी व धूया वि॥

जिस देश में द्रव्यों की प्राप्ति दुर्लभ है, जहां दुर्लभ द्रव्यों का प्रतिषेध है, जहां वे द्रव्य अलब्धपूर्व हैं, वहां उन्हें प्राप्त कर कोई साध्वी दीप्तचित्त हो जाती है। अथवा उत्कृष्ट आहार, उपधि, वसति अथवा अक्षतयोनि का ईश्वरकन्या प्राप्त कर कोई दीप्तचित्त हो जाती है।

६२५४. पगयम्मि पणवेत्ता, विज्जाति विसोधि कम्ममादी वा।
खुड्डीय बहुविहे आणियम्मि ओभावणा पउणा॥

प्रकृत-विशिष्टतर भक्त-पान, क्षीर, आदि के लिए किसी श्रावक या इतर व्यक्ति को प्रज्ञापित कर विद्या आदि तथा कार्मण का प्रयोग कर क्षुल्लिका साध्वी द्वारा उन द्रव्यों को संपादित किया जाता है। जब वह क्षुल्लिका साध्वी बहुविध द्रव्य लाती है तब उसकी अपभ्राजना की जाती है। यह देखकर वह दीप्तचित्त साध्वी स्वस्थ हो जाती है। इस विधि से प्राप्त द्रव्यों के लिए विशोधि-प्रायश्चित्त दिया जाता है।

६२५५. अदिट्ठसद्ध कहणं, आउट्ठा अभिणवो य पासादो।
कयमित्ते य विवाहे, सिद्धाइसुता कतितवेणं॥

उस दीप्तचित्त साध्वी ने जिस श्रावक को पहले न देखा हो, उसको जाकर कहना, उसको प्रभावित कर देना। वह उस साध्वी के समक्ष जाकर कहता है—इस क्षुल्लिका के कहने पर आपको यह अभिनव प्रासाद रहने के लिए दिया है। तथा कपटपूर्वक सिद्धपुत्र आदि की पुत्रियों से जो अभी-अभी विवाहित हुई हैं, को उस साध्वी के समक्ष लाकर व्रत की दीक्षा देने की प्रार्थना करानी चाहिए, जिससे उसकी अपभ्राजना हो।

जक्खाइट्ठं निग्गंथिं निग्गंथे गिण्हमाणे
वा अवलंबमाणे वा नाइक्कमइ॥

(सूत्र १२)

६२५६. पोग्गल असुभसमुदयो, एस अणागंतुगो व दोण्हं पि।
जक्खावेसेणं पुण, नियमा आगंतुको होइ॥

दोनों—क्षिप्तचित्त और दीप्तचित्त के यह अशुभ पुद्गलों का समुदय अनागंतुक है अर्थात् स्वशरीरसंभवी है। यक्षावेश से जो अशुभ पुद्गल समुदय होता है वह नियमतः आगंतुक होता है।

६२५७. अहवा भय-सोगजुया,

चिंतहण्णा व अतिहरिसिता वा।

आविस्सति जक्खेहिं,

अयमण्णो होइ संबंधो ॥

अथवा जो भय और शोकयुक्त होती है, चिंता से पीड़ित होती है वह क्षिप्तचित्त है और जो अतिहर्षित होती है वह दीप्तचित्त होती है। इन दोनों में यक्ष आविष्ट हो जाते हैं। पूर्वसूत्र से यह अन्य संबंध है।

६२५८. पुव्वभवियवेरेणं, अहवा राएण राइया संती।

एतेहिं जक्खइद्वा, सवत्ति भयए य सज्झिलगा ॥

यक्षाविष्ट होने के दो मुख्य कारण हैं—पूर्वभक्तिकवैर से तथा रागभाव से रंजित होने पर। पूर्वभक्तिकवैर विषयक सपत्नी का दृष्टांत है तथा राग विषयक दो दृष्टांत हैं—भृतक का और सहोदरभाई का।

६२५९. वेस्सा अकामतो णिज्जराए मरिऊण वंतरी जाता।

पुव्वसवत्तिं खेतं, करेति सामण्णभावम्मि ॥

एक सेठ के दो पत्नियां थीं। एक प्रिय थी और दूसरी अप्रिय—द्वेष्य। अप्रिय पत्नी अकामनिर्जरा से मरकर व्यंतरी हुई। प्रिय पत्नी प्रव्रजित हो गई। व्यंतरी ने श्रामण्यभाव में रमण करने वाली अपनी पूर्वसपत्नी को, पूर्वभक्तिकवैर का अनुस्मरण कर उसे क्षिप्त अर्थात् यक्षाविष्ट कर डाला।

६२६०. भयतो कुडुंबिणीए, पडिसिद्धो वाणमंतरो जातो।

सामण्णम्मि पमत्तं, छलेति तं पुव्ववेरेणं ॥

एक भृतक कुटुम्बिनी में आसक्त हो गया। कुटुम्बिनी ने प्रतिषेध किया। वह मरकर वानव्यंतर देव बना। वह कुटुम्बिनी प्रव्रजित हो गई। उसे श्रामण्य में प्रमत्त जानकर पूर्ववैर के कारण वानव्यंतर देव ने उसको छला। उसे क्षिप्त कर दिया।

६२६१. जेद्धो कणेद्धभज्जाए मुच्छिओ णिच्छितो य सो तीए।

जीवंते य मयम्मी, सामण्णे वंतरो छलए ॥

बड़ा भाई छोटे भाई की भार्या में मूर्च्छित हो गया। उसने उसको नहीं चाहा और कहा—तुम्हारा भाई जीवित है, क्या तुम इसको नहीं देखते? तब बड़े भाई ने सोचा—जब तक छोटा भाई जीवित है, तब तक यह मेरी नहीं होगी? अतः उसको मार डालना ही उचित है। उसे मार डाला। पत्नी प्रव्रजित हो गई। बड़ा भाई वियोग में मरकर व्यंतर हुआ। वह पूर्वभक्तिक वैर के कारण उसको ठगने लगा। उसे यक्षाविष्ट करने लगा।

६२६२. तस्स य भूततिगिच्छा, भूतरवावेसणं सयं वा वि।

णीउत्तमं च भावं, णाउं किरिया जहा पुव्वं ॥

जो साध्वी भूतप्रयुक्त असमंजस प्रलापों से यक्षावेशन से पीड़ित है उसकी भूतचिकित्सा करनी चाहिए। उस भूत (यक्ष) का नीच या उत्तम भाव स्वयं जानकर अथवा अन्य मांत्रिक से जानकर उसकी पूर्वोक्त क्रिया—चिकित्सा करनी चाहिए। यक्षाविष्ट साध्वी उन्माद को प्राप्त हो जाती है।

उम्मायपत्तं निग्गंथिं निग्गंथे णिण्हमाणे

वा अवलंबमाणे वा नाइक्कमइ ॥

(सूत्र १३)

६२६३. उम्मातो खलु दुविधो, जक्खाएसो य मोहणिज्जो य।

जक्खाएसो वुत्तो, मोहेण इमं तु वोच्छामि ॥

उन्माद के दो प्रकार हैं—यक्षावेश और मोहनीय। यक्षावेश के विषय में पहले बताया जा चुका है। मोह से होने वाले उन्माद के विषय में बताऊंगा।

६२६४. रूवंगं दडूणं, उम्मातो अहव पित्तमुच्छाए।

तद्दायणा णिवाते, पित्तम्मि य सक्करादीणि ॥

रूपांग और गुह्यांग देखकर अथवा पित्तमूर्च्छा से उन्माद होता है। रूपांग को देखकर होने वाले उन्माद के प्रतिकार के लिए रूपांग की विरूपावस्था का दर्शन कराना चाहिए। जो वायु के द्वारा उन्मादप्राप्त है, उसे निवात में रखना चाहिए और जो पित्त के कारण उन्मत्त है तो उसे शर्करा आदि पिलानी चाहिए।

६२६५. दडूणं नडं काई, उत्तरवेउव्वितं मतणखेत्ता।

तेणेव य रूवेणं, उड्डम्मि कयम्मि निव्विण्णा ॥

कोई साध्वी उत्तरवैक्रयिक नट को देखकर मदनक्षिप्त अर्थात् उन्माद को प्राप्त हो सकती है। नट को स्वाभाविक रूप से दिखाने अथवा उसको वमन करते हुए दिखाने पर वह साध्वी उसके विषय में विरक्त हो जाती है।

६२६६. पण्णवितो उ दुरूवो, उम्मंडिज्जति अ तीए पुरतो तु।

रूववतो पुण भत्तं, तं दिज्जति जेण छड्ढेति ॥

यदि वह नट स्वभावतः कुरूप हो तो उसे उन्मादप्राप्त साध्वी के सम्मुख लाकर उसके सारे मंडन को उतारा जाता है। उसको विरूप देखकर विराग हो जाता है। यदि वह नट स्वभाव से रूपवान् हो तो उसे मदनफल का भक्त दिया जाता है। ज्योंही वह साध्वी के समक्ष आता है, उसे वमन होने लगते हैं। वह निर्विण्ण हो जाती है।

६२६७. गुज्जंगम्मि उ वियडं, पज्जावेऊण खरगमादीणं।

तद्दायणे विरागो, तीसे तु हवेज्ज दडूणं ॥

गुह्यांग विषयक उन्माद होने पर किसी दास आदि को मद्य पिलाकर अपावृत सुलाकर उसके गुह्यांग को पूति मद्य से खरंटित करने पर मक्खियां भिनभिनाने लगती हैं। साध्वी को वह अवस्था दिखाने पर उसको विराग हो जाता है।

उवसग्गपत्तं निग्गंथिं निग्गंथे
गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा नाइक्कमइ ॥
(सूत्र १४)

६२६८. मोहेण पित्ततो वा, आतासंवेतिओ समक्खाओ।
एसो उ उवस्सग्गे, अयं तु अण्णो परसमुत्थो ॥
मोह से अथवा पित्त से जो उन्मत्त होता है उसे आत्म-संवेदिक (आत्मा द्वारा आत्मा को दुःखोत्पादक) उपसर्ग कहते हैं। उससे अन्य परसमुत्थ उपसर्ग है।

६२६९. तिविहे य उवस्सग्गे, दिव्वे माणुस्सए तिरिक्खे य।
दिव्वे य पुव्वभणिए, माणुस्से आभिओग्गे य ॥
उपसर्ग के तीन प्रकार हैं—दिव्य, मानुष्य और तैरश्च। दिव्य उपसर्गों के विषय में पहले कहा जा चुका है। मनुष्य-कृत तथा आभियोग्य अर्थात् अभियोगजनित उपसर्गों को कहा जा रहा है।

६२७०. विज्जाए मंतेण व, चुण्णेण व जोतिया अणप्पवसा।
अणुसासणा लिहावण, खमए मधुरा तिरिक्खाती ॥
विद्या, मंत्र या चूर्ण से योजित होने पर कोई साध्वी अनात्मवश हो जाती है। विद्या आदि का प्रयोग करने वाले व्यक्ति को अनुशिष्टि द्वारा समझाना चाहिए। यदि न समझे तो प्रतिविद्या के द्वारा विद्वेषण उत्पन्न करना चाहिए। 'लिहावण' अर्थात् उस व्यक्ति के सागारिक-लिंग को विद्या के प्रयोग से आलेखित कर उस साध्वी को दिखाए। उसके बीभत्स रूप को देखकर वह विरक्त हो जाती है। एक बार मथुरा में बोधिक स्तेनों ने श्रमणियों को उपसर्ग दिए तथा क्षपक ने उनका निवारण किया। यह मनुष्यकृत उपसर्ग है। तिर्यञ्चकृत उपसर्गों का साध्वियां स्वयं निराकरण करे।

६२७१. विज्जादसभिओगो पुण, एसो माणुस्सओ य दिव्वो य।
तं पुण जाणंति क्हं, जति णामं गेण्हए तस्स ॥
विद्या आदि से अभियोग होता है। वह दो प्रकार का है—मानुषिक और दैविक। यह अभियोग मानुषिक है या दैविक—यह कैसे जाना जाता है? अभियोजित साध्वी जिसका नाम लेती है वह उसके द्वारा कृत है—ऐसा जानना चाहिए।

१. एवमग्नेर्भूतादिप्रयुक्तस्यौषधमग्निः।

६२७२. अणुसासियम्मि अठिए, विद्दसं देंति तह वि य अठंते।
जक्खीए कोवीणं, तीसे पुरओ लिहावेंति ॥
जो विद्या आदि से अभियोजित करता है उसको अनुशासित करने पर भी वह यदि विरत नहीं होता है तो साध्वी के प्रति उसके मन में विद्वेष पैदा किया जाता है। फिर भी यदि वह व्यक्ति नहीं मानता है तो विद्याप्रयोग से कुत्ती के कौपीन (गुह्यांग) को चाटते हुए कुत्ते की छवि उस साध्वी को दिखाते हैं। वह विरक्त हो जाती है।

६२७३. विसस्स विसमेवेह, ओसहं अग्गिमग्गिणो।
मंतस्स पडिमंतो उ, दुज्जणस्स विवज्जणं ॥
विष की औषधि विष ही है, अग्नि का औषध है अग्नि और मंत्र का निवारण है प्रतिमंत्र। दुर्जन का औषध है उसका विवर्जन।

६२७४. जइ पुण होज्ज गिलाणी,
गिरुब्भमाणी उ तो से तेइच्छं।
संवरियमसंवरिया,

उवालभंते गिसिं वसभा ॥

विद्या द्वारा अभियोजित उस साध्वी को उसके अभिमुख जाती हुई को रोका जाता है तो वह ग्लान हो जाती है तब उसकी चिकित्सा संवृत रूप से अर्थात् किसी को ज्ञात न हो, उस प्रकार से की जाती है। यदि वह असंवृत अर्थात् जिसके द्वारा अभियोजित हुई है उसके सम्मुख होती है तो वृषभ मुनि रात्री में उस व्यक्ति को उपालंभ देते हैं, डराते हैं, पीटते हैं, जिससे वह उस साध्वी को छोड़ देता है।

६२७५. थूभमह सद्धिसमणी,
बोहिय हरणं तु गिवसुताऽऽतावे।
मज्जेण य अक्कंदे,

कयम्मि जुद्धेण मोएति ॥

स्तूप महोत्सव के अवसर पर श्रमणियों के साथ श्राविकाएं भी गईं। चोरों ने उनका अपहरण कर लिया। एक साधु (पूर्व राजकुमार) वहां समीप में ही आतापना ले रहा था। चोर उन स्त्रियों को उसके मध्य से ले जा रहे थे। श्राविकाओं ने साधु को देख आक्रन्दन किया। साधु (पूर्व राजकुमार) ने चोरों के साथ युद्ध कर उन्हें मुक्त करा डाला।

६२७६. गामेणाऽऽरण्णेण व, अभिभूतं संजतिं तु तिरिगेणं।
थद्धं पकंपियं वा, रक्खेज्ज अरक्खणे गुरुगा ॥
गांव के अथवा अरण्य के तिर्यञ्चों से अभिभूत कोई

संयती भय से स्तब्ध, प्रकंपित हो रही हो तो उसकी रक्षा करनी चाहिए। यदि रक्षा नहीं की जाती तो उस श्रमण को चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

साहिगरणं निग्गंथिं निग्गंथे गिण्हमाणे

वा अवलंबमाणे वा नाइक्कमइ॥

(सूत्र १५)

६२७७.अभिभवमाणो समणिं, परिग्गहो वा से वारिते कलहो।

किं वा सति सत्तीए, होइ सपक्खे उविक्खाए॥

किसी श्रमणी का अभिभव करने वाले गृहस्थ को अथवा उसके परिजन को वारित करने पर वह कलह करता है। तो मुनि उस कलह का उपशमन करे, उपेक्षा न करे। उस शक्ति से क्या प्रयोजन जो स्वपक्ष की उपेक्षा करे? कोई प्रयोजन नहीं।

६२७८.उप्पण्णे अहिगरणे, ओसमणं दुविहऽतिक्रमं दिस्स।

अणुसासण भेस निरुंभणा य जो तीए पडिपक्खो॥

संयती का गृहस्थ के साथ अधिकरण—कलह उत्पन्न होने पर उसका व्यवशमन करना चाहिए क्योंकि वह गृहस्थ अनुपशांत रहकर दो प्रकार से अतिक्रम कर सकता है—संयती का संयमभेद तथा जीवितभेद कर सकता है। यदि वह गृहस्थ संयती का प्रतिपक्ष हो तो उसे अनुशिष्टि देकर शांत करे, भय दिखाकर या निरुंभण कर उसका निवारण करना चाहिए।

सपायच्छित्तं निग्गंथिं निग्गंथे

गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा नाइक्कमइ॥

(सूत्र १६)

६२७९.अहिगरणम्मि कयम्मिं, खामिय समुपड्डिताए पच्छित्तं।

तप्पढमताए भएणं, होति किलंता व वहमाणी॥

अधिकरण करके, क्षमायाचना कर समुपस्थित साध्वी को प्रायश्चित्त दिया जाता है। प्रायश्चित्त को प्राप्त कर वह प्रथमतः भय से विषण्ण हो जाती है अथवा प्रायश्चित्त को वहन करती हुई वह क्लान्त हो जाती है।

६२८०.पायच्छित्ते दिण्णे, भीताए विसज्जणं किलंताए।

अणुसट्ठि वहंतीए, भएण खित्ताइ तेइच्छं॥

जो साध्वी प्रायश्चित्त देने पर भीत या क्लान्त हो जाती

है, उसको प्रायश्चित्त से मुक्त कर देना चाहिए। यदि वह प्रायश्चित्त वहन करती हुई क्लान्त होती है तो उसे कहना चाहिए—डरो मत। हम तुम्हारा सहयोग करेंगे। यदि वह भय से क्षिप्तचित्त हो जाए तो उसकी चिकित्सा करनी चाहिए।

भक्त-पाणपडियाइक्खियं निग्गंथिं
निग्गंथे गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा
नाइक्कमइ॥

(सूत्र १७)

६२८१.पच्छित्तं इतिरिओ, होइ तवो वण्णिओ य जो एस।

आवकथितो पुण तवो, होति परिण्णा अणसणं तु॥

प्रायश्चित्तरूप तप जो पूर्वसूत्र में वर्णित है वह इत्वर तप है। जो परिज्ञा रूप तप अर्थात् अनशन है वह यावत्कथिक होता है।

६२८२.अड्ढं वा हेउं वा, समणीणं विरहिते कहेमाणो।

मूच्छाए विपडिताए, कप्पति गहणं परिण्णाए॥

अशिव आदि के कारण श्रमणियों से विरहित होकर एक साध्वी अकेली रह गई। उसने भक्तप्रत्याख्यान कर लिया। निर्ग्रन्थ उसे अर्थ और हेतु कह रहा था। मूर्च्छा से वह नीचे गिर पड़ी। अनशन में उस साध्वी को ग्रहण करना, उसे अवलंबन देना निर्ग्रन्थ को कल्पता है।

६२८३.गीतऽज्जाणं असती,

सव्वाऽसतीए व कारण परिण्णा।

पाणग-भक्त समाही,

कहणा आलोत धीरवणं॥

गीतार्थ आर्यिकाओं के अभाव में अथवा अशिव आदि के कारण सभी आर्यिकाओं के अभाव में एकाकिनी साध्वी ने भक्तप्रत्याख्यान कर लिया। वह यदि दुःख पा रही हो तो उसकी समाधि के लिए भक्तपान लाकर देना चाहिए। उसे धर्मकथा कहनी चाहिए। उसे आलोचना दिलानी चाहिए तथा उसे धैर्य बंधाना चाहिए।

६२८४.जति वा ण णिव्वहेज्जा,

असमाही वा वि तम्मि गच्छम्मि।

करणिज्जं अण्णत्थ वि,

ववहारो पच्छ सुखा वा॥

यदि वह अनशन का निर्वहण न कर सके, उस गच्छ में उसकी असमाधि हो तो उसे अन्यत्र ले जाकर जो उचित हो

वह करना चाहिए। उसे अनशनभंग करने का व्यवहार—प्रायश्चित्त देना चाहिए। यदि वह स्वगच्छ में असमाधि के कारण अन्यत्र गई हों तो वह 'मिथ्यादुष्कृत' मात्र से शुद्ध हो जाती है।

अट्टजायं निग्गंथिं निग्गंथे गिण्हमाणे
वा अवलंबमाणे वा नाइक्कमइ ॥

(सूत्र १८)

६२८५. वुत्तं हि उत्तमद्वे, पडियरणद्धा व दुक्खरे दिक्खा।

इंती व तस्समीवं, जति हीरति अट्टजायमतो ॥

यह पहले कहा जा चुका है कि उत्तमार्थ—अनशन ग्रहण करने वाले को तथा यह मेरी सेवा करेगी इस दृष्टि से दासी को दीक्षित किया जा सकता है। वह अनशन करने वाली साध्वी के पास आ रही हो और तब मार्ग में चोर उसका अपहरण कर ले उसके लिए अर्थजात (धन) की आवश्यकता होती है।

६२८६. अट्टेण जीए कज्जं, संजातं एस अट्टजाता तु।

तं पुण संजमभावा, चालिज्जंती समवलंबे ॥

जिसका कार्य अर्थ से उत्पन्न हुआ है वह है अर्थजाता। जो दासी संयमभाव से चाल्यमान है, उसको सम्यग् अवलंबन दे, सहायता करे।

६२८७. सेवगभज्जा ओमे, आवण्ण अणत्त बोहिये तेणे।

एतेहि अट्टजातं, उप्पज्जति संजमठिताए ॥

संयम में स्थित साध्वी के भी इन कारणों से अर्थजात उत्पन्न होता है, आवश्यक होता है। सेवक भार्या के विषय में, दुर्भिक्ष में, आवण्ण—दासत्व की अवस्था में, अणत्त—ऋणार्त होने पर, बोधिक—अनार्य म्लेच्छ, स्तेनों द्वारा अपहरण अवस्था में।

६२८८. पियविप्पयोगदुहिया, णिक्खंता सो य आगतो पच्छा।

अगिलाणिं च गिलाणिं, जीवियकिच्छं विसज्जेति ॥

एक राजसेवक ने अपनी भार्या को छोड़ दिया। वह अपने प्रिय पति के विप्रयोग से दुःखी होकर प्रव्रजित हो गई। कालान्तर में वह सेवक स्थविर के पास आकर अपनी पत्नी की मार्गणा करता है। तब स्थविर ने उस अग्लान साध्वी को ग्लानरूप में प्रस्तुत किया। सेवक ने उसे देखकर सोचा—यह अब कष्ट से जीवित रहेगी। उसने उसका विसर्जन कर दिया।

१. ब्रह्मदत्त हिण्डी।

६२८९. अपरिग्गहियागणियाऽ-

विसज्जिया सामिणा विणिक्खंता।

बहुगं मे उवउत्तं,

जति दिज्जति तो विसज्जेमि ॥

एक अपरिग्रहगणिका एक व्यक्ति के साथ रहती थी। वह व्यक्ति देशान्तर चला गया। उसने उस गणिका का विसर्जन नहीं किया। कालान्तर में वह प्रव्रजित हो गई। एक बार वह स्वामी देशान्तर से आ गया और स्थविर से कहा—इसने मेरा बहुत सारा धन खाया है, उसका उपभोग किया है। वह यदि मुझे मिल जाता है तो मैं इसका विसर्जन करूंगा। अन्यथा नहीं।

६२९०. सरभेद वण्णभेदं, अंतद्धाणं विरेयणं वा वि।

वरधणुग पुस्सभूती, गुलिया सुहुमे य ज्ञाणम्मि ॥

तब उसका गुटिका के प्रयोग से स्वरभेद, वर्णभेद कर देते हैं, उसे अन्यग्राम में भेजकर अन्तर्धान कर देते हैं, विरेचन आदि देकर ग्लान बना देते हैं—यह सारा देखकर वह उसे छोड़ देता है। अथवा वरधनु^१ और पुष्यभूति^२ आचार्य सूक्ष्म ध्यान में प्रवेश कर मृतवत् हो गए। यह देखकर उनको छोड़ दिया।

६२९१. अणुसिद्धिमणुवरत्तं, गमेति णं मित्त-णातगादीहिं।

एवं पि अठायंते, करेति सुत्तम्मि जं वुत्तं ॥

उस पुरुष को अनुशिष्टि दी जाती है। यदि वह इससे भी उपरत नहीं होता है तो उसके मित्रों तथा ज्ञातियों को यह बात कही जाती है। इससे भी यदि वह नहीं मानता है तो सूत्र में जो कहा है, उसका अवलंबन लेना चाहिए।

६२९२. सकुडुंबो मधुराए, णिक्खिविऊणं गयम्मि कालगतो।

ओमे फिडित परंपर, आवण्णा तस्स आगमणं ॥

मथुरा नगरी में एक वणिक् अपने पूरे कुटुम्ब के साथ प्रव्रजित हो गया। उसने अपनी एक छोटी लड़की को अपने मित्र को सौंपकर वहां से प्रस्थान कर दिया। कालान्तर में वह मित्र कालगत हो गया। दुर्भिक्ष होने पर वह लड़की वहां से चली गई। वह परंपरा से दासत्व को प्राप्त हो गई। विहार करते-करते उसके मुनि पिता वहां आए और अपनी पुत्री की सारी बात जानकर उसे दासत्व से मुक्त करने का उपाय सोचने लगे।

६२९३. अणुसासण कह ठवणं, भेसण ववहार लिंगं जं जत्थ।

दूराऽऽभोग गवेसण, पंथे जयणा य जा जत्थ ॥

सबसे पहले जिस घर में वह दासी है उस पुरुष को समझाना चाहिए। उस पर अनुशासन करना चाहिए। कथा

२. आवश्यक नियुक्ति गाथा. १३१७, हारि. टी. प. ७२२।

प्रसंग से कहना, या स्वयं स्थापित द्रव्य उसे देना, डराना-धमकाना, राजकुल में व्यवहार करना, लिंग को बदल कर, जो जहां पूज्य हो वैसा लिंग धारण कर, दूर निधि का आभोग, गवेषणा, मार्ग में यतना, जो जहां यतना करनी हो वह। यह द्वार गाथा है। इसका तात्पर्य इन गाथाओं में है।

६२९४. निच्छिण्णा तुज्झ घरे, इसिकण्णा मुंच होहिती धम्मो।

सेहोवद्ध विचित्तं, तेण व अण्णेण वा णिहितं॥

उस व्यक्ति से कहे-यह ऋषिकन्या है। तेरे घर से दुर्भिक्ष आदि मिट गया है। इसको मुक्त कर दे, तुझे धर्म होगा। कोई शैक्ष वहां आया। उसने विविध प्रकार का अर्थजात कहीं स्थापित कर रखा है। वह द्रव्य उस व्यक्ति को लाकर दिया जाता है। अथवा उस पिता ने या अन्य व्यक्ति ने प्रव्रज्या लेते समय द्रव्य स्थापित किया था, उसे लाकर दिया जाता है।

६२९५. नीयल्लगाण तस्स व, भेसण ता राउले सतं वा वि।

अविरिक्का मो अम्हे, कंहं व लज्जा ण तुज्झं ति॥

अपने स्वजनों को भयभीत करना चाहिए। उन्हें कहना चाहिए-मैंने जब प्रव्रज्या ली थी, तब हम सब साथ में थे। धनमाल का विभाजन नहीं किया था। तुमको लज्जा क्यों नहीं आई जब मेरी पुत्री दासी बनकर रहने लगी? अथवा जिसके अधीन वह पुत्री है, उस व्यक्ति को कहना चाहिए-मैं तुमको शाप दूंगा, जिससे तुम नष्ट हो जाओगे। इतने पर भी यदि वह उसे मुक्त नहीं करता है तो राजकुल में शिकायत करनी चाहिए। यदि उसे स्वजनों द्वारा अपना हिस्सा मिल जाता है तो उसे देकर कन्या को छोड़ा लेना चाहिए।

६२९६. नीयल्लएहि तेण व, सद्धिं ववहार कातु मोदणता।

जं अंचितं व लिंगं, तेण गवेसित्तु मोदेइ॥

स्वजनों तथा उस व्यक्ति के साथ व्यवहार का आश्रय लेकर कन्या को मुक्त कराना चाहिए। वैसा न होने पर जहां जो लिंग अर्चित हो उस लिंग को धारण कर, उनमें जो महान्त हैं उनसे गवेषणा कराकर मुक्त करना चाहिए।

६२९७. पुट्टा व अपुट्टा वा, चुतसामिणिहिं कंहिति ओहादी।

घेत्तूण जावदद्धं, पुणरवि सारक्खणा जतणा॥

अथवा अवधिज्ञानी या विशिष्ट ज्ञानियों द्वारा पूछने पर या बिना पूछे ही च्युतस्वामी की निधि का कथन किए जाने पर, जितने अर्थ का प्रयोजन हो, उतना अर्थ उस निधि से निकाल कर, पुनः उस निधि का संरक्षण करना चाहिए। लौटते समय यतना रखनी चाहिए। यह आगे के गाथा में है।

६२९८. सोऊण अट्टजायं, अट्टं पडिजग्गती उ आयरिओ।

संघाडगं च देती, पडिजग्गति णं गिलाणं पि॥

निधिग्रहण के लिए मार्ग में जाते हुए उस 'अर्थजात' साधु की बात सुनकर आचार्य अर्थ का उत्पादन (संरक्षण) करते हैं। वह यदि अकेला हो तो उसे संघाटक देते हैं। वह यदि ग्लान हो जाता है तो उसके प्रति जागरूक रहते हैं।

६२९९. काउं णिसीहियं अट्टजातमावेदणं गुरूहत्थे।

दाऊण पडिक्कमते, मा पेहंता मिया पासे॥

नैषेधिकी करके गुरु को अर्थजात का आवेदन कर, उसको गुरु के हाथ में देकर प्रतिक्रमण करता है। वह उस अर्थजात को अपने पास इसलिए नहीं रखता कि मृग की भांति अज्ञानी अगीतार्थ मुनि उसे देखते हुए भी न जान सके।

६३००. सण्णी व सावतो वा, केवतितो दिज्ज अट्टजायस्स।

पुव्वुप्पण्ण णिहाणे, कारणजाते गहण सुद्धो॥

जहां संज्ञी-सिद्धपुत्र या श्रावक हो, वहां उसको सारी बात बताए। उसको प्रज्ञापित करने पर वह द्रव्यार्थी साधु को अर्थजात का कितना ही भाग दे सकता है। पूर्वोत्पन्न निधान से कारणवश ग्रहण करने वाला भी शुद्ध है।

६३०१. थोवं पि धरेमाणी, कत्थइ दासत्तमेइ अदलंती।

परदेसे वि य लब्भति, वाणियधम्ममे सत्ती॥

अवशिष्ट थोड़ा ऋण भी धारण करती हुई कोई स्त्री ऋण न दे सकने के कारण किसी देश में दासत्व को स्वीकारती है। उसको स्वदेश में दीक्षा नहीं दी जाती। परदेश में जाने पर अज्ञातरूप में वह दीक्षित हो जाती है। परदेश में गया हुआ वह वणिक् उसे देखकर अपना अधिकार जताता है। वहां यह न्याय है-परदेश में भी वणिक् अपने प्राप्तव्य को प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार वाणिज्य-धर्म के अनुसार वह कहता है-यह मेरी दासी है, इसे मैं नहीं छोड़ूंगा।

६३०२. नाहं विदेसयाऽऽहरणमादि विज्जा य मंत जोए य।

निमित्ते य राय धम्ममे, पासंड गणे धणे चेव॥

द्वार गाथा-मैं वह नहीं, विदेश, आहरण आदि, विद्या, मंत्र, योग, निमित्त, राजा, धर्म, पाषंड, गण, धन। विस्तार आगे की गाथाओं में।

६३०३. सारिक्खण्ण जंपसि, जाया अण्णत्थ ते वि आमं ति।

बहुजणविण्णायम्मिं, थावचसुतादिआहरणं॥

वह वणिक् से कहे-मैं अन्यत्र विदेश में जन्मी हूँ। तुम सादृश्य से ऐसा कह रहे हो। तब वहां के लोग भी कहते हैं-हां, यह जो कह रही है, वह सच है। यदि वह साध्वी

बहुजन विज्ञात हो तो स्थापत्यापुत्र के उदाहरण के द्वारा उन्हें समझाए।

६३०४. सरभेद वण्णभेदं, अंतद्धाणं विरेयणं वा वि।
वरधणुग पुस्सभूती, गुलिया सुहुमे य ज्ञाणम्मि॥

तब उसका गुटिका के प्रयोग से स्वरभेद, वर्णभेद कर देते हैं, उसे अन्यग्राम में भेजकर अन्तर्धान कर देते हैं, विरेचन आदि देकर ग्लान बना देते हैं—यह सारा देखकर वह उसे छोड़ देता है। अथवा वरधनु और पुष्यभूति आचार्य सूक्ष्म ध्यान में प्रवेश कर मृतवत् हो गए। यह देखकर उनको छोड़ दिया।

६३०५. पासंडे व सहाए, गिण्हति तुज्झं पि एरिसं अत्थि।
होहामो य सहाया, तुब्भ वि जो वा गणो बलितो॥

पाषंडों को अपना सहायक बनाले। उनको कहे—तुम्हारे भी जब ऐसा ही प्रयोजन उपस्थित होगा तब हम भी तुम्हारे सहायक बनेंगे। अथवा जो गण बलवान् हो उसकी सहायता ले। (उस समय मल्लगण, सारस्वतगण बलवान् थे।)

६३०६. एएसिं असतीए, संता व जता ण होंति उ सहाया।
ठवणा दूराभोगण, लिंगेण व एसिउं देंति॥

इन पाषंडों और गणों के अभाव में अथवा होने पर भी ये सहायक न बनते हों तो निष्क्रमण के समय जो द्रव्य स्थापित किया था, उससे उसको दासत्व से मुक्त कराए। अथवा दूरस्थ निधि के आभोग से अथवा अर्चित लिंग धारण कर धन की एषणा कर—उत्पादन कर वृषभ मुनि उसको देकर मुक्त कराए।

६३०७. एमेव अणत्ताए, तवतुलणा णवरि तत्थ णाणत्तं।
बोहिय-तेणेहि हिते, ठवणादि गवेसणे जाव॥

इसी प्रकार ऋणार्ता को मुक्त कराने के लिए धनदान में नानात्व है। वह है—तपस्तुलना। साध्वी को बोधिकों या स्तेनों द्वारा अपहरण हो जाने पर उसकी गवेषणा करनी चाहिए तथा पूर्वोक्त अर्थजात की स्थापना विधि तक अपनानी चाहिए। (तपस्तुलना का तात्पर्य है—बोधिक या स्तेन द्रव्य की मांग करे तो उनको कहना चाहिए—हम साधु तपोधन हैं। हमारे पास न सुवर्ण है और न हिरण्य। हमारे पास धर्म है। तुम भी धर्म ग्रहण करो।)

६३०८. जो णाते कतो धम्मो, तं देउ ण एत्तियं समं तुलइ।
हाणी जावेगाहं, तावतियं विज्जथंभणता॥

यदि वे कहें—इस साध्वी ने जो धर्म किया है, वह सारा हमें दो। तब साधु कहे—इसके साथ इतने धर्म को नहीं तोला जा सकता—नैतावत् समं तुलति। तब वे बोले—एक

वर्ष हीन या दो वर्ष हीन धर्म हमें दे दो। बात होते होते जब वे कहे—इसने जो एक दिन में धर्म किया है, वह हमें दे दो। तब उन्हें कहे—इसने तुम्हारा जितना लिया है वह मुहूर्त आदि धर्म से तुलनीय है। उतना हम देंगे। यदि वे इसे स्वीकार करते हैं तब विद्या से तुला का स्तंभन कर कहना चाहिए क्षणमात्र धर्म से भी नहीं तोला जा सकता। धर्मतोलन धर्माधि-करणिक-नीति शास्त्र प्रसिद्ध है। क्षणमात्रकृत धर्म का लाभ पाने के लिए तप ग्रहण करना आवश्यक है। वे तपग्रहण करना न चाहें तो कहे—यह साध्वी वणिग्न्याय से शुद्ध है।

६३०९. वत्थाणाऽऽभरणाणि य, सव्वं छडेउ एगवत्थेणं।
पोतम्मि विवण्णम्मिं, वाणितधम्मे हवति सुद्धो॥

वणिग्न्याय—एक वणिग् वस्त्रों और आभरणों को जहाज में भरकर चला। उसने अनेक व्यक्तियों से प्रभूत ऋण ले रखा था। मार्ग में जहाज टूट गया। तब उसने पोतगत सारा सामान छोड़कर स्वयं एक वस्त्र पहन कर तैर कर बाहर आया। वह वणिग्धर्म में शुद्ध होता है। इसी प्रकार यह साध्वी भी सबकुछ त्याग कर निष्क्रान्त हुई है, यह वणिग्धर्म से शुद्ध है। यह न अपना ऋण किसी से मांगती है और न इसका किसी को देना होता है।

६३१०. तम्हा अपरायत्ते, दिक्खेज्ज अणारिए य वज्जेज्जा।
अद्धाण अणाभोगा, विदेस असिवादिसू दो वी॥

इसलिए परायत्त को दीक्षा देना और अनार्य देश में जाना—इसका वर्जन करे। इसमें अपवाद यह है—यात्रा के समय, अनाभोग अर्थात् अज्ञातदशा में, विदेश में अथवा अशिव आदि में दीक्षा भी दी जा सकती है और अनार्य देश में भी विहार किया जा सकता है।

पलिमंथू-पदं

छ कप्पस्स पलिमंथू पण्णत्ता, तं
जहा—कोक्कुइए संजमस्स पलिमंथू,
मोहरिए सच्चवयणस्स पलिमंथू,
चक्खुलोलुए इरियावहियाए पलिमंथू,
तिंतिणिए एसणागोयरस्स पलिमंथू,
इच्छालोभिए मुत्तिमग्गस्स पलिमंथू,
भिज्जानियाणकरणे मोक्खमग्गस्स
पलिमंथू। सव्वत्थ भगवता अनियाणया
पसत्था॥

(सूत्र १९)

६३११. द्रव्येण जो उ दिक्खेति एरिसे एरिसेसु वा विहरे।

तत्थ धुवो पलिमंथो, को सो कतिभेद संबंधो॥

जो आचार्य दर्प से ऐसे परायत्त को दीक्षित करता है अथवा जो अनार्य देशों में दर्प से विहरण करता है, वहां निश्चित ही परिमंथ होता है। परिमंथ क्या है और उसके कितने भेद हैं?

६३१२. अहवा सव्वो एसो, कप्पो जो वण्णिओ पलंबादी।

तस्स उ विवक्खभूता, पलिमंथा ते उ वज्जेज्जा॥

अथवा जो यह सारा प्रलंब आदि का कल्प-समाचार वर्णित है उस कल्प का विपक्षीभूत परिमंथ होते हैं उनका वर्जन करना चाहिए।

६३१३. आइम्मि दोन्नि छक्का, अंतम्मि य छक्कगा दुवे हुंति।

सो एस वइरमज्झो, उहेसो होति कप्पस्स॥

इस छठे उद्देशक की आदि में दो षट्क-भाषा-षट्क और प्रस्तारषट्क आए हैं और अन्त में भी दो षट्क-परिमंथषट्क और कल्पस्थितिषट्क आए हैं। इसलिए यह कल्पोद्देशक का वज्रमध्य है। वज्र की भांति आदि-अंत में विस्तीर्ण और मध्य में संक्षिप्त होता है। आद्य षट्कद्रव्य पहले कहा जा चुका है, अब अन्त्य षट्कद्रव्य बताया जा रहा है।

६३१४. पलिमंथे णिक्खेवो, गामा एगड्डिया इमे पंच।

पलिमंथो वक्खेवो, वक्खोड विणास विग्घो य॥

परिमंथ निक्षेप के चार प्रकार हैं। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। उसके एकार्थक ये पांच हैं—परिमंथ, व्याक्षेप, व्याखोट, विनाश और विघ्न।

६३१५. करणे अधिकरणम्मि य,

कारग कम्मे य दव्वपलिमंथो।

एमेव य भावम्मि वि,

चउसु वि ठाणेसु जीवे तु॥

द्रव्य परिमंथ के चार प्रकार हैं—करण, अधिकरण, कारक और कर्म। करण—जिस मन्थान आदि से दही मथा जाता है, अधिकरण—जिस पृथ्वीकाय निष्पन्न मथनी में दही मथा जाता है, कर्ता—जो स्त्री या पुरुष दही मथता है। कर्म—मथने से जो नवनीत निकलता है। इसी प्रकार भावविषयक परिमंथ के भी चार प्रकार हैं—करण—कौत्कुच्य आदि से संयम को मथना, अधिकरण—आत्मा में संयम को मथना, कर्ता—साधु-साध्वी परिमंथ के द्वारा संयम का मंथन करना, कर्म—संयम को मथने पर असंयम निष्पन्न होता है।

६३१६. दव्वम्मि मंथितो खलु, तेणं मंथिज्जए जहा दधियं।

दधितुल्लो खलु कप्पो, मंथिज्जति कोकुआदीहिं॥

द्रव्यपरिमंथ मंथिक है, मन्थान है। इससे जैसे दही मथा जाता है वैसे ही दधितुल्य जो कल्प-साधु समाचार है वह कौत्कुच्य आदि परिमंथों से मथा जाता है, विनष्ट किया जाता है।

६३१७. कोकुइओ संजमस्स उ, मोहरिए चव सच्चवयणस्स।

इरियाए चक्खुलोलो, एसणसमिईए तित्तिणिए॥

६३१८. णासेति मुत्तिमग्गं, लोभेण णिदाणताए सिद्धिपहं।

एतेसिं तु पदानं, पत्तेय परूवणं वोच्छं॥

संयम का परिमंथ है कौत्कुचिक, सत्यवचन का है मौखरिक, ईर्यासमिति का है चक्षु की लोलुपता, एषणा-समिति का है तित्तिणिक—ये परिमंथु है। लोभ से मुक्तिमार्ग का, निदानता से सिद्धिपथ का नाश होता है। इन प्रत्येक पदों की मैं प्ररूपणा कहूंगा।

६३१९. ठाणे सरीर भासा, तिविधो पुण कुक्कुओ समासेणं।

चलणे देहे पत्थर, सविगार कहक्कहे लहुओ॥

६३२०. आणाइणो य दोसा, विराहणा होइ संजमा-ऽऽयाए।

जंते व णड्डिया वा, विराहण मइल्लए सुत्ते॥

कौत्कुचिक संक्षेप से तीन प्रकार का है—शरीर विषयक, स्थानविषयक और भाषाविषयक। स्थान-कौत्कुचिक—स्थान से बार-बार भ्रमण करना। शरीर कौत्कुचिक—हाथ आदि से पत्थर आदि फेंकना। भाषा कौत्कुचिक—सविकार बोलना, अट्टहास करना। इन तीनों में प्रायश्चित्त है मासलघु, आज्ञाभंग आदि दोष तथा संयमविराधना और आत्मविराधना होती है। यंत्र तथा नर्तिका की भांति स्थान और शरीर को जो घूमाता है, वह कौत्कुचिक होता है। जो जोर से हंसता है, उसके मुंह आदि में मक्खी प्रवेश कर सकती है। उससे विराधना होती है। इस प्रसंग में मृतदृष्टांत और सुप्त-दृष्टांत—ये दो दृष्टांत हैं।

६३२१. आवडइ खंभकुडे, अभिक्खणं भमति जंतए चव।

कमफंदण आउंटण, ण यावि बद्धासणो ठाणे॥

जो बैठा-बैठा या खड़ा-खड़ा स्तंभ और भीत से जा टकराता है, यंत्र की भांति बार-बार भ्रमण करता है, पैरों का स्पन्दन तथा आकुंचन करता है तथा एक स्थान पर बद्धासन होकर नहीं बैठता। वह स्थान कौत्कुचिक होता है।

६३२२. संचारोवतिगादी, संजमे आयाऽहि-विच्चुगादीया।

दुब्बद्ध कुहिय मूले, चडप्फडंते य दोसा तु॥

जो स्थानकौत्कुचिक होता है उसके ये दोष होते हैं—भीतों पर संचरणशील उद्देशिका, मंथु, कीटिका आदि जीवों की

विराधना होती है, वह संयमविराधना है। आत्मविराधना में सर्प, बिच्छु आदि का उपद्रव हो सकता है। यदि वह स्तंभ आदि से टकराता है। और वह स्तंभ यदि दुर्बद्ध हो या मूल में कुथित हो तो गिर कर उसकी पीड़ा का हेतु बनता है। बार-बार इधर-उधर घूमने से संधि विसंधि हो सकती है तथा अन्यान्य अनेक दोष हो सकते हैं।

६३२३. कर-गोफण-धनु-पादादि एहिं उच्छुभति पत्थरादीए।
भमुगा-दाढिग-थण-पुतविकंपणं णट्टवाइत्तं॥

हाथ से, गोफण से, धनुष्य से, पैर आदि से बलपूर्वक पत्थर आदि फेंकने वाला शरीर कौत्कुचिक होता है। भौंहों को, दाढ़ी को, स्तनों को तथा पुतों को कंपित करना नृत्यपातित्व कहलाता है। वह भी शरीर कौत्कुचिक है।

६३२४. छेलिय मुहवाइत्ते, जंपति य तहा जहा परो हसति।
कुणइ य रुप बहुविधे, वग्घाडिय-देसभासाए॥

मुंह से सीटी बजाना, मुंह को वादित्र बनाकर बजाना अथवा उस प्रकार बोलना जिससे दूसरे हंस पड़े, बहुविध शब्द करना, वग्घाडिक-उदघट्टकारक भाषा या देशी भाषा बोलना जिससे सभी हंसने लगे। वह भाषाकौत्कुचिक है।

६३२५. मच्छिगमाइपवेसो, असंपुडं चव सेट्टिदिट्ठतो।
दंडिय घतणो हासण, तेइच्छिय तत्तफालेणं॥

भाषाकौत्कुचिक की बात सुनकर लोग जोर-जोर से हंसने लगे। मुंह को फाड़ कर हंसने से अन्वर मक्षिका आदि प्रवेश कर जाती है। कभी-कभी मुंह खुला का खुला रह जाता है। मुंह संपुट नहीं होता। यहां एक सेठ का दृष्टान्त है—एक राजा के पास एक भांड था। एक बार उसने राज्य सभा में ऐसा हास्यकारी वचन कहा जिससे सभी हंसने लगे। एक सेठ बहुत जोर से हंसा। उसका मुंह वैसा का वैसा खुला रह गया। वह संपुट नहीं हुआ। स्थानीय वैद्यों ने उपचार किया, पर व्यर्थ। एक प्राधूर्णक चिकित्सक आया। उसने लोहमय फाल को तप्त कर उस सेठ के मुंह में डाला। उसके भय से सेठ का मुंह संपुट हो गया।

६३२६. गोयर साहू हसणं, गवक्खे दडुं निवं भणति देवी।
हसति मयगो कहं सो, त्ति एस एमेव सुत्तो वी॥

गाथा ६३२० में उल्लिखित दोनों दृष्टान्त—

(क) राजा-रानी गवाक्ष में बैठे थे। रानी ने देखा कि एक साधु गोचरचर्या में घूमता हुआ हंस रहा है। रानी ने राजा से कहा—मृत मनुष्य हंस रहा है। राजा ने पूछा—कहां है

वह? रानी ने साधु की ओर इशारा किया। राजा ने पूछा—यह मरा हुआ कैसे? रानी ने कहा—यह संसार से विरक्त है अतः मृत की भांति मृत है।

(ख) इसी प्रकार सुप्त मनुष्य भी मृतवत् होता है।

६३२७. मुहरिस्स गोण्णणामं, आवहति अरिं मुहेण भासंतो।
लहुगो य होति मासो, आणादि विराहणा दुविहा॥

मौखरिक—यह गुणनिष्पन्न नाम है। वह मुंह से असमंजस बोलता हुआ वैर की वहन करता है अर्थात् वैर बांधता है। उसको मासलघु का प्रायश्चित्त, आज्ञाभंग आदि दोष तथा संयम और आत्मविराधना दोनों होती हैं। उसके सत्यव्रत के परिमंथ के कारण संयमविराधना होती है।

६३२८. को गच्छेज्जा तुरियं, अमुगो त्ति य लेहण सिद्धम्मि।
सिग्घाऽऽगतो य ठवितो, केणाहं लेहणं हणति॥

राजा ने सभा में पूछा—मेरा एक कार्य है, कौन शीघ्र जा सकता है? एक लेखक ने कहा—अमुक व्यक्ति पवनवेग से जाता है। राजा ने उसी को अपने कार्य के लिए भेजा और वह कार्य संपन्न कर शीघ्र आ गया। राजा ने उसको 'दूत' के रूप में स्थापित कर दिया। उसने पूछा—मेरा नाम राजा के समक्ष किसने लिया? लोगों ने कहा—लेखक ने। अवसर देखकर उसने लेखक को मार डाला। मुनि को मुखरता से बचना चाहिए।

६३२९. आलोयणा य कहणा, परियट्टणुपेहणा अणाभोए।
लहुगो य होति मासो, आणादि विराहणा दुविहा॥

जो मुनि इधर-उधर देखता हुआ चलता है, धर्मकथा, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा करता हुआ मार्ग में अनुपयुक्त होकर चलता है तो लघुमास, आज्ञाभंग आदि दोष तथा दोनों प्रकार की विराधना होती है।

६३३०. आलोएंतो वच्चति, थूभादीणि व कहेति वा धम्मं।
परियट्टणाऽणुपेहण, न यावि पंथम्मि उवउत्तो॥

स्तूप आदि को देखते हुए, धर्मकथा करते हुए, परिवर्तना तथा अनुप्रेक्षा करते हुए मार्ग में चलता है अथवा मार्ग में अनुपयुक्त होकर गमन करता है, उसे चक्षु का लोलुप कहते हैं।

६३३१. छक्कायाण विराहण, संजमे आयाए कंटगादीया।
आवडणे भाणभेदो, खच्छे उड्डाह परिहाणी॥

वह संयम में छहकाय की विराधना करता है। कांटा आदि लगने से आत्मविराधना होती है। कहीं गिर जाने पर पात्र टूट जाते हैं। प्रचुर भक्त-पान भूमी पर गिर जाने से उड्डाह होता है। भाजन आदि की गवेषणा में या उनके परिकर्म से सूत्रार्थ की परिहानि होती है।

६३३२. तित्तिणिए पुव्व भणिते, इच्छालोभे य उवहिमतरेगे।

लहुओ तिविहं व तहिं, अतिरेगे जे भणिय दोसा॥

तित्तिणिक के विषय में पूर्व अर्थात् पीठिका में कहा जा चुका है। इच्छालोभ का अर्थ है—लोभवश उपधि को अतिरिक्त ग्रहण करना। उसको लघुमास का प्रायश्चित्त है। अथवा उसमें तीन प्रकार का प्रायश्चित्त है—जघन्य—पंचक, मध्यम—मासलघु और उत्कृष्ट—चतुर्लघु। अतिरिक्त उपधि के विषय में तीसरे उद्देशक में जो दोष कहे हैं, वे होते हैं।

६३३३. अनियाणं निव्वाणं, काऊणमुवड्ढितो भवे लहुओ।

पावति धुवमायतिं, तम्हा अणियाणया सेया॥

निर्वाण अनिदान साध्य है। जो निदान करके पुनः न करने के लिए उपस्थित होता है उसको लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। जो निदान करता है वह निश्चित ही पुनः भव करता है। इसलिए अनिदानता, श्रेयस्करी है।

६३३४. इह-परलोगनिमित्तं, अवि तित्थकरत्तचरिमदेहत्तं।

सव्वत्थेसु भगवता, अणिदाणत्तं पसत्थं तु॥

इहलोक के निमित्त, परलोक के निमित्त, तीर्थकरत्व या चरमदेहत्व के लिए भी निदान करना वर्ज्य है। समस्त विषयों के प्रति अनिदानता को भगवान् ने प्रशस्त माना है।

६३३५. बिइयपदं गेलण्णे, अद्धाणे चैव तह य ओमम्मि।

मोत्तूणं चरिमपदं, णायव्वं जं जहिं कमत्ति॥

छहों प्रकार के परिमंथुओं में द्वितीयपद यह है—ग्लानत्व, अध्वा तथा अवम—दुर्भिक्ष। चरमपद—निदान-करणरूप में कोई अपवाद नहीं होता। कौत्कुचिका आदि में जो अपवाद जहां अवतरित होता है, वहां उसको जानना चाहिए।

६३३६. कडिवेयणमवतंसे, गुदपागऽरिसा भगंदलं वा वि।

गुदखील सक्करा वा, ण तरति बद्धासणो होउं॥

किसी के कटिवेदना होती है, किसी के अवतंस—पुरुष-व्याधि नामक रोग, गुदा में अर्श, भगंदर होता है, किसी के गुदाकीलक होता है। कोई शर्करा से पीड़ित होता है—ये बद्धासन होकर एक स्थान पर नहीं बैठ सकते। ऐसी स्थिति में वह कौत्कुचिक भी होता है।

६३३७. उव्वत्तेति गिलाणं, ओसहकज्जे व पत्थरे छुभति।

वेवति य खित्तचित्तो, बितियपदं होति दोसुं तु॥

जो ग्लान को उद्वर्तन आदि कराता है, औषधकार्य से उसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर संक्रमण करता है, जो क्षिप्तचित्त होता है, वह पत्थर फेंकता है, कांपता है—ये क्रमशः शरीर कौत्कुचिक और भाषा कौत्कुचिक के अपवाद पद हैं।

६३३८. तुरियगिलाणाहरणे, मुहरित्तं कुज्ज वा दुपक्खे वी।

ओसह विज्जं मंतं, पेल्लिज्जा सिग्घगामि त्ति॥

ग्लान के लिए शीघ्र औषध लाने के लिए द्विपक्ष—संयतपक्ष और संयतीपक्ष में मौखर्य कर सकता है। यह मुनि शीघ्रगामी है—औषधि लाने के लिए, विद्या तथा मंत्र का प्रयोग करने के लिए, अतः इसे प्रेरित करें, व्यापृत करें।

६३३९. अच्चाउरकज्जे वा, तुरियं व न वा वि इरियमुवओगो।

विज्जस्स वा वि कहणं, भए व विस सूल ओमज्जे॥

आगाढ़ ग्लान के प्रयोजन से यह त्वरित जाता है, ईर्या में उपयोग नहीं देता, वैद्य को धर्मकथा कहता हुआ जाता है, भय में मंत्रजाप करता हुआ, विषभक्षण का मंत्र से उपचार करता हुआ, नई सीखी हुई विषविद्या का परावर्तन करता हुआ, किसी साधु के शूल का अपमार्जन करता हुआ जाता है।

६३४०. तित्तिणिया वि तदद्वा, अलब्भमाणे वि दव्वतित्तिणिता।

वेज्जे गिलाणगादिसु, आहारुवधी य अतिरित्तो॥

ग्लान और आचार्य के प्रयोजन से तित्तिणिकता भी की जाती है। ग्लानप्रायोग्य औषधादि न मिलने पर द्रव्यतित्तिणिकता (हाय! यहां ग्लान प्रायोग्य कुछ नहीं मिलता) करनी चाहिए। इच्छालोभ में यह अपवादपद है—वैद्य को दान देने के लिए या ग्लान के लिए आहार और उपधि अधिक भी ग्रहण किया जा सकता है।

६३४१. अवयक्खंतो व भया,

कहेति वा सत्थिया-ऽऽतिअत्तीणं।

विज्जं आइसुतं वा,

खेद भवा वा अणाभोगा॥

मार्ग में ईर्या का शोधन न कर भय से इधर-उधर देखता हुआ भी गमन कर सकता है। मार्ग में सार्थिकों को तथा सार्थिचिन्तकों को धर्मकथा कह सकता है। विद्या का परावर्तन करता हुआ, आदिश्रुत—पंचमंगल का स्मरण करता हुआ चल सकता है। खेद या भय से ईर्या में विस्मृतिवश या सहसा अनुपयुक्त होकर भी चल सकता है।

६३४२. संजोयणा पलंबातिगाण कप्पादिगो य अतिरेगो।

ओमादिए वि विहुरे, जोइज्जा जं जहिं कमत्ति॥

मार्ग में आहार आदि की संयोजना भी करता है। प्रलंब आदि के लिए पिप्पलक आदि अतिरिक्त उपधि भी रखी जा सकती है। और्णिक कल्प आदि तथा पात्रादिक भी अतिरिक्त रखा जा सकता है। यह सारा अध्वा में अपवादपद है। अवम आदि में विधुर—आत्यंतिक आपदा में

पांच प्रकार के परिमंथु के जो द्वितीयपद प्राप्त होते हैं उनकी यथायोग्य योजना करनी चाहिए।

६३४३. जा सालंबणसेवा, तं बीयपदं वयंति गीयत्था।
आलंबणरहियं पुण, निसेवणं दप्पियं बेंति॥

निदान में द्वितीयपद क्यों नहीं ?

जो सालंबन प्रतिसेवना (ज्ञान आदि आलंबनयुक्त) है, गीतार्थ मुनि उसको द्वितीयपद कहते हैं। आलंबनरहित प्रतिसेवना को दर्पिका कहते हैं। निदानकरण में वह कोई आलंबन नहीं होता।

६३४४. एवं सुनीहरो मे, होहिति अप्प त्ति तं परिहरंति।
हंदि! हु णेच्छंति भवं, भववोच्छित्तिं विमग्गंता॥

कोई व्यक्ति यह अवधारणा करता है कि मैं यदि दरिद्रकुल में उत्पन्न होऊंगा तो मेरा उससे सुनिर्हार-निर्गम सहज हो जाएगा, मैं सुगमता से संयम ले सकूंगा-ऐसे निदान का भी साधु परिहार करते हैं क्योंकि निदान करने से भवों की वृद्धि होती है। साधु भवव्यवच्छित्ति की मार्गणा करते हैं, वे भव की इच्छा नहीं करते।

६३४५. जो रयणमणग्घेयं, विक्किज्जऽप्येण तत्थ किं साहू।
दुग्गयभवमिच्छंते, एसो च्चिय होति दिड्ढंतो॥

जो बहुमूल्य रत्न को अल्पमूल्य में बेच देता है क्या वह अच्छा है? दरिद्र के भव की वांछा करने वालों के लिए यही दृष्टान्त उपयुक्त होता है।

६३४६. संगं अणिच्छमाणो, इह-परलोए य मुच्चति अवस्सं।
एसेव तस्स संगो, आसंसति तुच्छतं जं तु॥

जो इहलोक और परलोक के संग की इच्छा नहीं करता वह अवश्य ही मुक्त होता है। यही उसका संग है कि वह महान् फलदाता तपस्या के द्वारा तुच्छ फल की आशा करता है।

६३४७. बंधो त्ति णियाणं ति य, आससजोगो य होंति एगद्धा।
ते पुण ण बोहिहेऊ, बंधावचया भवे बोही॥

बंध, निदान और आशंसायोग-ये एकार्थक हैं। ये बोधि के हेतु नहीं हैं। बोधि प्राप्त होती है बंध के अपचय से अर्थात् कर्मबंध की निर्जरा से।

६३४८. नेच्छंति भवं समणा, सो पुण तेसिं भवो इमेहिं तु।
पुव्वतव-संजमेहिं, कम्मं तं चावि संगेणं॥

श्रमण भव-जन्म-मरण की वांछा नहीं करते। उनका भव (देव भव) सरागसंयम से होता है। इस प्रकार पूर्वसंयम, तप से कर्मबंध होता है। कर्मबंध का कारण है-संग (संज्वलन क्रोध आदि)

कप्पट्टिति-पदं

छव्विहा कप्पट्टिती पण्णत्ता, तं जहा-
सामाइय-संजयकप्पट्टिती, छेदोवद्वावणिय-
संजयकप्पट्टिती, निव्विसमाणकप्पट्टिती,
निव्विट्ठकाइयकप्पट्टिती, जिणकप्पट्टिती,
थेरकप्पट्टिती॥

—त्ति बेमि ॥

(सूत्र २०)

६३४९. पलिमंथविप्पमुक्कस्स होति कप्पो अवड्डितो णियमा।
कप्पे य अवड्डाणं, वदंति कप्पट्टितिं थेरा॥

कल्पस्थिति-परिमंथ विप्रमुक्त मुनि के नियमतः अवस्थितकल्प होता है। जो कल्प में अवस्थान है, उसी को स्थविर मुनि कल्पस्थिति कहते हैं।

६३५०. आहारो त्ति य ठाणं, जो चिड्ढति सो ठिइ त्ति ते बुद्धी।
ववहार पडुच्चेवं, ठिइरेव तु णिच्छए ठाणं॥

कल्प का अर्थ है-आधार अर्थात् स्थान। जो कल्प में स्थित होता है वह स्थिति है। तुम ऐसा सोच सकते हो कि स्थिति और स्थान-दोनों का परस्पर अन्यत्व हो गया। व्यवहारनय की अपेक्षा से स्थान और स्थिति का अन्यत्व है और निश्चयनय की अपेक्षा स्थिति ही स्थान है।

६३५१. ठाणस्स होति गमणं, पडिक्खो तह गती ठिईए तु।
एतावता सकिरिए, भवेज्ज ठाणं व गमणं वा॥

सक्रिय जीव की इतनी ही क्रिया है-स्थान और गमन। स्थान का गमन प्रतिपक्ष है और स्थिति का गति प्रतिपक्ष है।

६३५२. ठाणस्स होति गमणं, पडिक्खो तह गती ठिईए उ।
ण य गमणं तु गतिमतो, होति पुढो एवमितरं पि॥

स्थान का गमन प्रतिपक्ष होता है स्थिति नहीं तथा स्थिति का गति प्रतिपक्ष होता है स्थान नहीं। इस प्रकार स्थिति और स्थान का एकत्व है। गमन गतिमान् से पृथग् नहीं होता और स्थान भी स्थितिमान् से पृथग् नहीं होता।

६३५३. जय गमणं तु गतिमतो,
होज्ज पुढो तेण सो ण गच्छेज्जा।

जह गमणातो अण्णा,

ण गच्छति वसुंधरा कसिणा॥

यदि गमन गतिमान् से पृथक् हो तब गतिमान् उससे (गमन से) नहीं जा सकता। जैसे-सारी पृथ्वी गमन

से अन्य (पृथक्) है, इसलिए वह नहीं जाती गमन नहीं करती।

६३५४. ठाण-द्विङ्गणत्तं, गति-गमणाणं च अत्थतो णत्थि।
वज्जणणात्तं पुण, जहेव वयणस्स वायातो॥

स्थान और स्थिति तथा गति और गमन में अर्थ की अपेक्षा से नानात्व नहीं है। व्यंजन का नानात्व है। जैसे वचन और वाणी का परस्पर अर्थ से कोई भेद नहीं है, शब्दतः भेद है।

६३५५. अहवा ज एस कप्पो, पलंबमादि बहुधा समक्खातो।
छट्ठाणा तस्स ठिई, ठिति त्ति मेर त्ति एगट्ठा॥

अथवा जो यह प्रलंब आदि अनेक प्रकार का कल्प कहा गया है, उसकी छह प्रकार की स्थिति होती है। स्थिति और मर्यादा एकार्थक माने गए हैं।

६३५६. पतिट्ठा ठावणा ठाणं, ववत्था संठिती ठिती।
अवट्ठाणं अवत्था य, एकट्ठा चिट्ठाणाऽऽति य॥

प्रतिष्ठा, स्थापना, स्थान, व्यवस्था, संस्थिति, स्थिति, अवस्थान, अवस्था—ये सारे एकार्थक पद हैं। खड़े होना, बैठना तथा सोना—ये तीनों स्थिति के ही विशेषरूप हैं।

६३५७. सामाए य छेदे, निव्विसमाणे तहेव निव्विडे।
जिणकप्पे थेरेसु य, छव्विह कप्पट्ठिती होति॥

कल्पस्थिति के छह प्रकार हैं—

१. सामायिकसंयत कल्पस्थिति।
२. छेदोपस्थापनीयसंयत कल्पस्थिति।
३. निर्विशमान कल्पस्थिति।
४. निर्विष्टकाय कल्पस्थिति।
५. जिनकल्प कल्पस्थिति।
६. स्थविर कल्पस्थिति।

६३५८. कतिठाण ठितो कप्पो, कतिठाणेहि अट्ठितो।
वुत्तो धूतरजो कप्पो, कतिठाणपतिट्ठितो॥

सामायिक साधुओं का कल्प—आचार जो पाप का अपनयन करने वाला है, वह कितने स्थानों में स्थित, कितने स्थानों में अस्थित और कितने स्थानों में प्रतिष्ठित कहा गया है?

६३५९. चउठाणठिओ कप्पो, छहिं ठाणेहिं अट्ठिओ।
एसो धूरय कप्पो, दसट्ठाणपतिट्ठिओ॥

कल्प चार स्थानों में स्थित और छह स्थानों में अस्थित है। इस प्रकार यह धुतरज वाला सामायिकसंयतकल्प दस स्थान में प्रतिष्ठित है—कुछ स्थानों में स्थित और कुछ स्थानों में अस्थित।

६३६०. चउहिं ठिता छहिं अठिता,

पढमा बितिया ठिता दसविहम्मि।

वहमाणा णिव्विसगा,

जेहि वहं ते उ णिव्विट्ठा॥

पहली कल्पस्थिति चार स्थानों में स्थित और छह स्थानों में अस्थित है। दूसरी कल्पस्थिति दस स्थानों में स्थित होती है। निर्विशमान का अर्थ है—परिहारविशुद्धिक तप वहन करने वाला, निर्विष्टकल्प का अर्थ है—जिस साधक ने पारिहारिक-तप वहन कर लिया है।

६३६१. सिज्जायरपिंडे या, चाउज्जामे य पुरिसजेट्ठे य।
कितिकम्मस्स य करणे, चत्तारि अवट्ठिया कप्पा॥

ये चार अवस्थित कल्प हैं—शय्यातरपिंड, चतुर्याम धर्म, पुरुषज्येष्ठधर्म, कृतिकर्मकरण।

६३६२. आचेलक्कुद्देसिय, सपडिक्कमणे य रायपिंडे य।
मासं पज्जोसवणा, छऽप्पेतऽणवट्ठिता कप्पा॥

ये छह अनवस्थित कल्प हैं—आचेलक्य, औद्देशिक, सप्रतिक्रमणधर्म, राजपिंड, मासकल्प, पर्युषणाकल्प।

६३६३. दसठाणठितो कप्पो,

पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।

एसो धुतरत कप्पो,

दसठाणपतिट्ठितो होति॥

पूर्व-पश्चिम अर्थात् प्रथम और अंतिम तीर्थकर के शासन में छेदोपस्थापनीय साधुओं के दसस्थानस्थितकल्प था। यह धुतरजाकल्प दसस्थान में प्रतिष्ठित होता है।

६३६४. आचेलक्कुद्देसिय, सिज्जायर रायपिंड कितिकम्मे।
वत जेट्ठ पडिक्कमणे, मासं-पज्जोसवणकप्पे॥

दस स्थान ये हैं—

- | | |
|----------------|----------------------|
| १. आचेलक्य | ६. व्रत |
| २. औद्देशिक | ७. पुरुषज्येष्ठ धर्म |
| ३. शय्यातरपिंड | ८. प्रतिक्रमण |
| ४. राजपिंड | ९. मासकल्प |
| ५. कृतिकर्म | १०. पर्युषणाकल्प। |

६३६५. दुविहो होति अचेलो, संताचेलो असंतचेलो य।
तित्थगर असंतचेला, संताचेला भवे सेसा॥

अचेल दो प्रकार का होता है—सदचेल और असदचेल। तीर्थकर असदचेल होते हैं। शेष सभी साधु सदचेल होते हैं। (जघन्यतः रजोहरण, मुखवस्त्रिका रखते हैं।)

६३६६. सीसावेढियपुत्तं, णदिउत्तरणम्मि नग्गयं बेत्ति।
जुण्णेहि णग्गिया मी, तुर सालिय! देहि मे पोत्ति॥

नदी में उतरते समय सिर पर वस्त्र बांधा जाता है। उस

व्यक्ति को देखकर लोग वस्त्र होने पर भी, उसको नग्नक कहते हैं। परिजीर्ण वस्त्र को धारण किए हुए एक स्त्री ने जुलाहे से कहा है—‘हे तन्तुवाय! मैं नग्निका हूं। शीघ्रता कर। मुझे शाटिका दे।’

६३६७. जुत्रेहिं खंडिएहि य, असव्वतणुपाउतेहिं ण य णिच्चं।
संतेहिं वि णिग्गंथा, अचेलगा होंति चेलेहिं॥

जीर्ण, खंडित, शरीर को पूर्ण रूप से प्रावृत न कर सकने वाले वस्त्रों तथा जो सदा शरीर को प्रावृत न करने वाले किन्तु यदा-कदा विशेष ऋतु में प्रावृत करने वाले वस्त्रों के होते हुए भी निर्गन्थ अचेलक होते हैं।

६३६८. एवं दुग्गत-पहिता, अचेलगा होंति ते भवे बुद्धी।
ते खलु असंततीए, धरेंति ण तु धम्मबुद्धीए॥

तो तुम यह सोचते हो कि इस प्रकार के जो दुर्गतपथिक होते हैं वे अचेलक होते हैं। देखो, वे दुर्गतपथिक वस्त्रों की असंप्राप्ति के कारण वैसे जीर्ण वस्त्र धारण करते हैं, धर्मबुद्धि से नहीं, अतः वे अचेलक नहीं कहे जा सकते।

६३६९. आचेलकको धम्मो,

पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।

मज्झिमग्गण जिणाणं,

होति अचेलो सचेलो वा॥

प्रथम और अंतिम जिनेश्वर के तीर्थ में आचेलक्य धर्म होता है। मध्यम तीर्थकरों के तीर्थ में अचेल और सचेल—दोनों प्रकार के धर्म होते हैं।

६३७०. पडिमाए पाउता वा, णऽतिक्रमंते उ मज्झिमा समणा।

पुरिम-चरिमाण अमहद्धणा तु भिण्णा इमे मोत्तुं॥

मध्यम तीर्थकरों के श्रमण प्रतिमा अर्थात् नग्न या प्रावृत—सवस्त्र रहकर भी भगवान् की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करते। प्रथम और चरम तीर्थकर के श्रमण स्वल्प-मूल्यवाले और भिन्नवस्त्रों (अकृत्स्न वस्त्रों) को धारण करते हैं। निम्नोक्त कारणों को छोड़कर अर्थात् इन कारणों का अपवाद है।

६३७१. आसज्ज खेतकप्पं, वासावासे अभाविते असहू।

काले अद्धाणम्मि य, सागरि तेणे व पाउरणं॥

क्षेत्रकल्प अर्थात् देशविशेष के आचार के अनुसार अभिन्नवस्त्र धारण करना। वर्षावास में, अभावित अवस्था में, असहिष्णु अवस्था में, प्रत्यूष काल में, मार्ग में, सागारिक-प्रतिबद्ध उपाश्रय में रहते हुए, स्तेन की आशंका से उत्कृष्ट उपधि कंधों पर रखकर पूरे शरीर को प्रावृत कर मार्ग में जा सकते हैं।

६३७२. निरुवहय लिंगभेदे, गुरुगा कप्पति तु कारणज्जाए।

गेलण लोय रोगे, सरीरवेतावडितमादी॥

निरुपहत अर्थात् नीरोग व्यक्ति द्वारा लिंगभेद करने पर चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है। अथवा निरुपहत का अर्थ है—यथाजातलिंग। उसका भेद करने पर चतुर्गुरु। द्वितीयपद है—कारण में लिंगभेद भी करना कल्पता है। कारण ये हैं—ग्लानत्व, लोच, रोगी, शरीरवैयावृत्य—मृतसंयतशरीर का नीहरण करना।

६३७३. खंधे दुवार संजति, गरुलऽद्धंसे य पट्ट लिंगदुवे।

लहुगो लहुगो लहुगा, तिसु चउगुरु दोसु मूलं तु॥

लिंगभेद के ये भेद हैं—

कंधे पर कल्प रखने पर मासलघु, शीर्षद्वारिका करने पर मासलघु, संयती प्रावरण करने पर चतुर्लघु, गरुडपाक्षिक की भांति प्रावरण करने पर, अर्धास करने पर, कटीपट्टक बांधने पर—इन तीनों में चतुर्गुरु, गृहस्थलिंग या परलिंग करने पर मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

६३७४. असिवे ओमोयरिए, रायदुट्टे व वादिदुट्टे वा।

आगाढ अन्नलिंगं, कालक्खेवो व गमणं वा॥

अशिव में, अवमौदर्य में, राजद्विष्ट होने पर, वादिद्विष्ट होने पर, आगाढ कारण होने पर—इन कारणों से अन्यलिंग कर कालक्षेप या गमन कर देना चाहिए।

६३७५. आहा अथे य कम्मं, आयाहम्मं य अत्तकम्मं य।

तं पुण आहाकम्मं, कप्पति ण व कप्पती कस्स॥

आधाकर्म, अधःकर्म, आत्मघ्नं, आत्मकर्म—ये आधाकर्म के एकार्थक हैं। यह आधाकर्म किसको ग्रहण करना कल्पता है और किसको नहीं कल्पता?

६३७६. संघस्सोह विभाए, समणा-समणीण कुल गणे संघे।

कडमिह ठिते ण कप्पति, अट्टित कप्पे जमुहिस्स॥

इसकी विस्तृत व्याख्या तीसरे उद्देशक में की जा चुकी है। यहां संक्षेप में कहा जा रहा है—ओघतः या विभागतः श्रमण-श्रमणी के कुल का, गण का, संघ का संकल्प कर जो भक्तपान किया जाता है, वह स्थितकल्प साधु-साध्वियों को नहीं कल्पता। जो अस्थित-कल्प में स्थित हैं उनमें से जिसके उद्देश्य से कृत होता है, उस एक को नहीं कल्पता, दूसरों को कल्पता है।

६३७७. आयरिए अभिसेए,

भिव्खुम्मि गिलाणगम्मि भयणा उ।

तिक्खुत्तऽडविपवेसे,

चउपरियट्टे ततो गहणं॥

आचार्य, अभिषेक, भिक्षु के ग्लान हो जाने पर आधाकर्म

सेवन की भजना है। अटवी में प्रवेश करने पर यदि तीन बार अन्वेषणा करने पर भी शुद्ध न मिले तो चौथे परिवर्त में आधाकर्म का ग्रहण किया जा सकता है।

६३७८. तित्थंकरपडिकुट्टो, आणा अण्णात उग्गमो ण सुज्जे।

अविमुक्ति अलाघवता, दुल्लभ सेज्जा विउच्छेदो॥

प्रथम और अंतिम तीर्थकरों को छोड़कर, मध्यम और विदेहज तीर्थकरों ने आधाकर्म ग्रहण की आज्ञा दी है, परंतु शय्यातरपिंड का प्रतिषेध किया है। अतः शय्यातरपिंड तीर्थकरों द्वारा प्रतिकुष्ट है। जो उसे लेता है, वह आज्ञाभंग करता है, अज्ञातोच्छ का सेवन करता है, उसके उद्गमदोषों की शुद्धि नहीं होती, अविमुक्ति-गृद्धि का अभाव नहीं होता, लाघवता नहीं होती, शय्या-वसति दुर्लभ हो जाती है अथवा सर्वथा उसका विच्छेद हो जाता है।

६३७९. दुविहे गेलण्णम्मिं, निमंतणे द्दुल्लभे असिदे।

ओमोदरिय पओसे, भए य गहणं अणुण्णातं॥

दोनों प्रकार के ग्लानत्व-आगाढ़ और अनागाढ़ में शय्यातरपिंड लिया जा सकता है। शय्यातर द्वारा निमंत्रण देने पर, आग्रह करने पर, द्रव्य की दुर्लभता होने पर, अशिव में, अवमौदर्य में, राजप्रद्वेष में, तस्करादि के भय में-शय्यातरपिंड अनुज्ञात है।

६३८०. तिक्खुत्तो सक्खेत्ते, चउद्धिसिं जोयणम्मि कडजोगी।

द्ववस्स य दुल्लभता, सागारिणिसेवणा ताहे॥

अपने क्षेत्र में चारों दिशाओं में कोशसहित योजन तक तीन बार गवेषणा करने पर भी यदि दुर्लभद्रव्य की प्राप्ति नहीं होती है तो कृतयोगी मुनि सागारिकपिंड की निषेवना करे।

६३८१. केरिसगु त्ति व राया, भेदा पिंडस्स के व से दोसा।

केरिसगम्मि व कज्जे, कप्पति काए व जयणाए॥

किस राजा के राजपिंड का परिहार किया जाए? राजपिंड के भेद कौन से हैं? उसके ग्रहण में दोष क्या है? किस कार्य में राजपिंड लेना कल्पता है? उसके ग्रहण में यतना कैसी हो? इन द्वारों की मीमांसा करनी चाहिए।

६३८२. मुइए मुद्धभिसित्ते, मुतितो जो होइ जोणिसुद्धो उ।

अभिसित्तो व परेहिं, सतं व भरहो जहा राया॥

राजा के दो प्रकार हैं-मुदित, मूर्धाभिषिक्त। जो योनिशुद्ध (जिसके माता-पिता राजवंशीय राजा है) वह मुदित राजा है। दूसरों से राजा के रूप में अभिषिक्त है वह मूर्धाभिषिक्त राजा है। अथवा जो भरत नृप की भांति स्वयं ही अभिषिक्त होता है।

६३८३. पढमग भंगे वज्जो, होतु व मा वा वि जे तहिं दोसा।

सेसेसु होतऽपिंडो, जहिं दोसा ते विवज्जंति॥

राजा के चार भंग होते हैं-

१. मुदित और मूर्धाभिषिक्त।

२. मुदित और मूर्धाभिषिक्त नहीं।

३. मुदित नहीं किन्तु मूर्धाभिषिक्त।

४. न मुदित न मूर्धाभिषिक्त।

प्रथम भंग में राजपिंड वर्ज्य है फिर चाहे उसके ग्रहण में दोष हों या न हों। शेष तीन भंगों में वह राजपिंड नहीं होता। जिनमें दोष हों उन भंगों का वर्जन करना चाहिए।

६३८४. असणाईआ चउरो, वत्थे पादे य कंबले चेव।

पाउंछणए य तहा, अद्धविधो रायपिंडो उ॥

राजपिंड आठ प्रकार का होता है-अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, कंबल और पादप्रोक्षण (रजोहरण)।

६३८५. अद्धविह रायपिंडे, अण्णतरागं तु जो पडिग्गाहे।

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्त विराहणं पावे॥

आठ प्रकार के राजपिंड में से कोई मुनि किसी भी प्रकार का राजपिंड ग्रहण करता है तो वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व तथा विराधना को प्राप्त होता है।

६३८६. ईसर-तलवर-माडंबिएहि सिद्धीहिं सत्थवाहेहिं।

णित्तेहिं अतित्तेहि य, वाधातो होति भिक्खुस्स॥

ईश्वर, तलवर, माडंबिक, श्रेष्ठी, सार्थवाह-इनके निर्गमन तथा प्रवेश करते समय भिक्षा के लिए गए हुए भिक्षु के व्याघात होता है।

६३८७. ईसर भोइयमाई, तलवरपट्टेण तलवरो होति।

वेट्टणबद्धो सेट्टी, पच्चंतऽहिवो उ माडंबी॥

भोजिक-ग्रामस्वामी आदि ईश्वर कहलाता है। नृप द्वारा प्रदत्त सुवर्णतलवरपट्ट से अंकित शिरवाला तलवर होता है। वेष्टनक (श्रीदेवताध्यासित पट्ट) बद्ध श्रेष्ठी कहलाता है। प्रत्यन्ताधिप माडंबिक होता है।

६३८८. जा णिति इंति ता अच्छओ अ-

सुत्तादि-भिक्खहाणी य।

इरिया अमंगलं ति य,

पेल्लाऽऽहणणा इयरहा वा॥

जब ईश्वर आदि निर्गमन या प्रवेश करते हैं तब तक भिक्षा के लिए गया हुआ भिक्षु प्रतीक्षा करता रहता है। तब तक उसके सूत्रार्थ और भिक्षा की हानि होती है। अश्व, हाथी आदि के संघट्टन के भय से ईर्या का शोधन नहीं होता। साधु को देखकर कोई अमंगल मान सकता है, इससे प्रेरित होकर अश्व-हाथी आदि का आहनन कर सकता है अथवा जनसंमर्द से साधु के संघट्टन हो सकता है।

६३८९. लोभे एसणघाते, संका तेणे नपुंस इत्थी य।
इच्छंतमणिच्छंते, चाउम्मासा भवे गुरुगा॥

राजभवन में प्रविष्ट मुनि लोभवश एषणाघात करता है। राजपुरुषों को यह शंका होती है कि यह कोई स्तेन है। वहां नपुंसक या स्त्रियां उस साधु को उपसर्गित कर सकते हैं। चाहते हुए या न चाहते हुए भी संयमविराधना आदि दोष होते हैं। वहां जाने पर चतुर्गुरु मास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

६३९०. अन्नत्थ एरिसं दुल्लभं ति गेणहेज्जऽणेसणिज्जं पि।
अण्णेणावि अवहिते, संकिज्जति एस तेणो त्ति॥

‘अन्यत्र ऐसा उत्कृष्ट द्रव्य मिलना दुर्लभ है’—यह सोचकर राजभवन में गया हुआ मुनि अनेषणीय भी ग्रहण कर लेता है। राजभवन में यत्र-तत्र स्वर्ण आदि बिखरा पड़ा रहता है। कोई दूसरा व्यक्ति उसमें से अपहृत कर लेता है, चुरा लेता है परन्तु ‘वह साधु चोर है’ ऐसी आशंका होती है। साधु पर चोरी का आरोप आ जाता है।

६३९१. संका चारिग चोरे, मूलं निस्संकियम्मि अणवट्ठो।
परदारि अभिमरे वा, णवमं णिस्संकिए वसमं॥

यह मुनि चारिक है, चोर है, ऐसी शंका होने पर मूल प्रायश्चित्त आता है, निःशंकित अवस्था में अनवस्थाप्य, पारदारिक की शंका होने पर तथा अभिमर की शंका होने पर नौवां प्रायश्चित्त और निःशंकित होने पर दसवां—पारांचिक प्रायश्चित्त है।

६३९२. अलभंता पवियारं, इत्थि-नपुंसा बला वि गेणहेज्जा।
आयरिय कुल गणे वा, संघे व करेज्ज पत्थारं॥

राजभवन से स्त्री-नपुंसकों का बाहर जाना कठिन होता है। ऐसी स्थिति में बलपूर्वक वे साधु को ग्रहण कर लेते हैं। प्रतिसेवना करने पर चारित्र विराधना और न करने से उड्डाह तथा प्रान्तापना दोष होते हैं। इससे राजा रुष्ट होकर प्रस्तार—आचार्य, कुल, गण और संघ का विनाश कर देता है।

६३९३. अण्णे वि होंति दोसा, आइण्णे गुम्म रतणमादीया।
तण्णिस्साए पवेसो, तिरिक्ख मणुया भवे दुट्ठा॥

वहां जाने पर अन्य अनेक प्रकार के दोष होते हैं। वह स्थान रत्नों से आकीर्ण होता है। वहां गौल्मिक—स्थानपाल रहते हैं। वे साधु को वहां आया देखकर उसे ग्रहण कर परितापना दे सकते हैं। साधु के निश्रा में चोर भी प्रवेश कर लेते हैं। राजभवन में पशु, मनुष्य आदि दुष्ट हो सकते हैं और वे साधु को उपद्रुत करते हैं।

६३९४. आइण्णे रतणादी, गेणहेज्ज सयं परो व तन्निस्सा।
गोम्मिय गहणाऽऽहणणं, रण्णो व णिवेदिए जं तु॥

रत्न आदि से आकीर्ण उस भवन में रत्नों को साधु स्वयं अथवा उसकी निश्रा में जाने वाला कोई दूसरा आदमी ले लेता है। गौल्मिक उसे ग्रहण और आहनन करता है। राजा को निवेदन करने पर जो प्रान्तापनादि करता है, उसका प्रायश्चित्त आता है।

६३९५. चारिय चोराऽभिमरा,

कामी व विसंति तत्थ तण्णीसा।

वाणर-तरच्छ-वग्घा,

मिच्छादि णरा व घातेज्जा॥

चारिक, चोर, अभिमर और कामी—ये सारे साधु की निश्रा से वहां प्रवेश कर सकते हैं। वानर, तरक्ष, बाघ, म्लेच्छ आदि साधु पर घात कर सकते हैं।

६३९६. दुविहे गेलण्णामी, णिमंतणे दवदुल्लभे असिवे।
ओमोयरिय पदोसे, भए य गहणं अणुण्णायं॥

६३९७. तिक्खुत्तो सक्खित्ते, चउदिसिं जोयणम्मि कडजोगी।
दव्वस्स य दुल्लभया, जयणाए कप्पई ताहे॥

दोनों प्रकार के ग्लानत्व—आगाढ़ और अनागाढ़ में राजपिंड लिया जा सकता है। आगाढ़ कारण में तत्काल और अनागाढ़ कारण में तीन बार मार्गणा करने पर भी यदि उसके प्रायोग्य आहार न मिले तो प्रायश्चित्तपूर्वक उसे लिया जा सकता है। राजा द्वारा आग्रहपूर्वक निमंत्रण देने पर, द्रव्य की दुर्लभता होने पर, अशिव और अवमौर्दर्य में, राजा के प्रद्विष्ट होने पर, तस्कर आदि का भय होने पर—इन स्थितियों में राजपिंड के ग्रहण की अनुज्ञा है।

अपने क्षेत्र में चारों दिशाओं में कोशसहित योजन तक तीन बार गवेषणा करने पर भी यदि दुर्लभद्रव्य की प्राप्ति नहीं होती है तो कृतयोगी मुनि को यतनापूर्वक राजपिंड लेना कल्पता है।

६३९८. कितिकम्मं पि य दुविहं, अब्भुट्ठाणं तहेव वंदणणं।
समणेहि य समणीहि य, जहारिहं होति कायव्वं॥

कृतिकर्म के दो प्रकार हैं—अभ्युत्थान और वंदनक। श्रमण और श्रमणियों को यथार्ह परस्पर दोनों करने चाहिए।

६३९९. सब्वाहिं संजतीहिं, कितिकम्मं संजताण कायव्वं।
पुरिसुत्तरितो धम्मो, सब्बजिणाणं पि तित्थम्मि॥

सभी श्रमणियों को श्रमणों का कृतिकर्म करना चाहिए। क्योंकि सभी तीर्थकरों के तीर्थ में पुरुषोत्तर धर्म होता है।

६४००. तुच्छत्तणेण गव्वो, जायति ण य संकते परिभवेणं।
अण्णो वि होज्ज दोसो, थियासु माहुज्जहज्जासु॥

साधु द्वारा वन्दित होने पर साध्वी तुच्छत्व के कारण गर्वित हो जाती है। वह साधु का परिभव करने में शंका नहीं करती, नहीं डरती। माधुर्यहार्य स्त्रियों में अन्य दोष भी होता है। वे मार्दव से ग्राह्य हो जाती हैं।

६४०१. अवि य हु पुरिसपणीतो,

धम्मो पुरिसो य रक्खिउं सत्तो।

लोगविरुद्धं चयं,

तम्हा समणाण कायव्वं॥

तथा जिनधर्म पुरुषों द्वारा प्रणीत है। पुरुष ही इसकी रक्षा करने में समर्थ हैं। पुरुष द्वारा स्त्री को वंदना करना लोकविरुद्ध भी है। इसलिए श्रमणियों को चाहिए कि वे श्रमणों को वंदना करें।

६४०२. पंचायामो धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।

मज्झिमगाण जिणाणं, चाउज्जामो भवे धम्मो॥

प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के तीर्थ में पंचयाम धर्म अर्थात् पांच महाव्रतात्मक धर्म होता है। मध्यम तीर्थंकरों के तीर्थ में चतुर्थीय धर्म होता है।

६४०३. पुरिमाण दुव्विसोज्झो, चरिमाणं दुरणुपालओ कप्पो।

मज्झिमगाण जिणाणं, सुविसोज्झो सुरणुपालो य॥

प्रथम तीर्थंकर के साधुओं का कल्प दुर्विशोध्य होता है और अंतिम तीर्थंकर के साधुओं का कल्प दुरनुपाल्य होता है। मध्यम तीर्थंकरों के साधुओं का कल्प सुविशोध्य और सुखानुपाल्य होता है।

६४०४. जडुत्तणेण हंदिं, आइक्ख-विभाग-उवणता दुक्खं।

सुहसमुदिय दंताण व, तित्तिक्ख अणुसासणा दुक्खं॥

जड़ता के कारण प्रथम तीर्थंकर के मुनियों को वस्तुतत्त्व का आख्यान करना, विभाग करना, उपनय अर्थात् हेतु दृष्टांतों से समझाना दुःशक्य होता है। वे साधु सुखों से समुदित होते हैं, अतः परीषहों को सहना उनके लिए दुष्कर होता है। वे स्वभावतः दान्त होते हैं, अतः उन पर अनुशासन करना कष्टप्रद होता है।

६४०५. मिच्छत्तभाविआणं, दुवियद्धमतीण वामसीलाणं।

आइक्खिउं विभइउं, उवणेउं वा वि दुक्खं तु॥

६४०६. दुक्खेहि भत्थिताणं,

तणु-धित्तिअबलत्तओ य दुत्तित्तिक्खं।

एमेव दुरणुसासं,

माणुक्कडओ य चरिमाणं॥

चरम तीर्थंकर के साधु मिथ्यात्वभावित, दुर्विदग्ध मतिवाले, वामशीलवाले होते हैं। उनको वस्तुतत्त्व का आख्यान करना, विभाग करना, उपनय से समझाना दुःखप्रद

होता है। वे नाना प्रकार के दुःखों से भर्त्सित तथा शारीरिक और मानसिक दुर्बलता के कारण परीषहों को सहन करने में अक्षम होते हैं। इसी प्रकार चरमतीर्थंकर के मुनियों के उत्कट मान आदि का परिहार करने के लिए उन पर अनुशासन करना बहुत कष्टप्रद होता है।

६४०७. ए चव य ठाणा, सुप्पण्णुज्जुत्तणेण मज्झाणं।

सुह-दुह-उभयबलाण य, विमिस्सभावा भवे सुगमा॥

ये ही आख्यान आदि स्थान मध्यम तीर्थंकरों के साधुओं के लिए सुगम हो जाते हैं। क्योंकि वे साधु सुप्रज्ञ और ऋजु होते हैं। वे शारीरिक-मानसिक-दोनों शक्तियों से युक्त होते हैं, अतः सुख-दुःख को सहने में सक्षम होते हैं। वे न एकान्ततः दान्त होते हैं और न उत्कट कषायित होते हैं। इस विमिश्रीभाव के कारण उन पर अनुशासन करना सुगम होता है।

६४०८. पुव्वतरं सामइयं, जस्स कयं जो वतेसु वा ठविओ।

एस कित्तिक्कम्मजेद्वो, ण जाति-सुततो दुपक्खे वी॥

जिस व्यक्ति पर सामायिक पहले आरोपित किया गया है अथवा जिसको महाव्रतों में पहले स्थापित किया है, वह कृतिकर्मज्येष्ठ माना जाता है। न जन्मपर्याय के आधार पर या श्रुत के आधार पर ज्येष्ठ माना जाता है। दोनों पक्षों-संयतपक्ष और संयतीपक्ष में यही व्यवस्था है।

६४०९. सा जेसि उवड्डवणा, जेहि य ठाणेहिं पुरिम-चरिमाणं।

पंचायामे धम्मे, आदेसतिगं च मे सुणसु॥

वह उपस्थापना जिनके होती है वे वक्तव्य हैं। प्रथम और चरमतीर्थंकर के पंचयाम में स्थित साधुओं की जिन स्थानों में उपस्थापना होती है, उनमें स्थानों का उल्लेख भी करना चाहिए। जिनके उपस्थापना होती है, उनके विषय में तीन आदेश हैं—दस, छह और चार। वह आदेशत्रय मेरे से सुनो।

६४१०. तओ पारंचिया वुत्ता, अणवड्डा य तिण्णि उ।

दंसणम्मि य वंतम्मिं, चरित्तम्मि य केवले॥

६४११. अदुवा चियत्तकिच्चे, जीवकाए समारभे।

सेहे दसमे वुत्ते, जस्स उवड्डावणा भणिया॥

पहला आदेश—

१-३. पारांचिक-दुष्ट, प्रमत्त, अन्योन्य करने वाले।

४-६. अनवस्थाप्य-साधर्मिक, अन्यधर्मिक, स्तैन्यकारी।

७. जिसने संपूर्ण दर्शन-सम्यक्त्व को वान्त कर दिया है।

८. जिसने संपूर्ण चारित्र को वान्त कर दिया है।

९. अथवा त्यक्तकृत्य-संयम को त्यक्त कर जीवकाय का समारंभ करने वाला।

१०. शैक्ष।

इन दसों की उपस्थापना प्रथम तथा चरमतीर्थकर ने कही है।

६४१२. जे य पारंचिया वुत्ता, अणवड्डप्पा य जे विदू।

दंसणम्मि य वंतम्मिं, चरित्तम्मि य केवले॥

६४१३. अदुवा चियत्तकिच्चे, जीवकाए समारभे।

सेहे छडे वुत्ते, जस्स उवड्डावणा भणिया॥

१. जो सामान्यतः पारंचिक कहे गए हैं।
२. जो विद्वान् अनवस्थाप्य हैं।
३. जिसने संपूर्ण दर्शन को वान्त कर दिया है।
४. जिसने संपूर्ण चारित्र को वान्त किया है।
५. अथवा जो त्यक्तकृत्य है—जीवकाय का समारंभ करता है।

६. शैक्ष।

इन छहों की उपस्थापना दूसरे आदेश में कही है।

६४१४. दंसणम्मि य वंतम्मिं, चरित्तम्मि य केवले।

चियत्तकिच्चे सेहे य, उवड्डप्पा य आहिया॥

१. जिसने संपूर्ण दर्शन को वान्त कर दिया है।
२. जिसने संपूर्ण चारित्र को वान्त कर दिया है।
३. त्यक्तकृत्य।
४. शैक्ष।

ये चारों उपस्थापनायोग्य हैं, ऐसा कहा है। यह तीसरा आदेश है।

६४१५. केवलगहणा कसिणं, जति वमती दंसणं चरित्तं वा।

तो तस्स उवड्डवणा, देसे वंतम्मि भयणा तु॥

दर्शन और चारित्र के साथ केवल पद का ग्रहण संपूर्ण अर्थ में है। यदि दर्शन और चारित्र का संपूर्ण वमन होता है तो उसकी उपस्थापना होती है। यदि देशतः वमन होता है तो उपस्थापना हो भी सकती है और नहीं भी।

६४१६. एमेव य किंचि पदं, सुयं व असुयं व अप्पदोसेणं।

अविकोवितो कहित्तो, चोदिय आउड्ड सुद्धो तु॥

बिना विमर्श किए ऐसे ही कोई कदाग्रह आदि दोष रहित अगीतार्थ मुनि किसी के समक्ष किंचित् सूत्रार्थविषयक पद, श्रुत अथवा अश्रुत को अन्यथारूप में कहता है और गुरु उसको वैसी वितथप्ररूपणा न करने की प्रेरणा देते हैं और यदि वह उसे सम्यग्रूप से स्वीकार कर लेता है तब वह मिथ्यादुष्कृत मात्र से शुद्ध हो जाता है।

६४१७. अणाभोएण मिच्छत्तं, सम्मत्तं पुणरागते।

तमेव तस्स पच्छित्तं, जं मग्गं पडिवज्जई॥

कोई श्राद्ध अजानकारी से निह्व के पास प्रव्रजित हो गया अर्थात् वह शुद्ध दर्शन को वान्त कर मिथ्यात्व को प्राप्त हो गया। ज्ञात होने पर वह पुनः शुद्ध दर्शनी के पास उपसम्पन्न होता है। उसके लिए वही प्रायश्चित्त है कि वह शुद्ध मार्ग में आ गया। उसका व्रतपर्याय पूर्ववत् रहता है, पुनः उपस्थापना नहीं होती।

६४१८. आभोगेण मिच्छत्तं, सम्मत्तं पुणरागते।

जिण-थेराण आणाए, मूलच्छेज्जं तु कारए॥

जो जानता हुआ भी मिथ्यात्व को प्राप्त हो गया अर्थात् निह्वों के पास प्रव्रजित हो गया, वह पुनः सम्यक्त्व को प्राप्त होता है, उसे जिनेश्वर तथा स्थविरो की आज्ञा से मूलच्छेद्य प्रायश्चित्त देना चाहिए, मूलतः उपस्थापना देनी चाहिए।

६४१९. छण्हं जीविकायाणं, अणप्पज्झो तु विराहओ।

आलोइय-पडिक्कंतो, सुद्धो हवति संजओ॥

जो मुनि क्षिप्तचित्त आदि होने के कारण अनात्मवश स्थिति में षड्जीवनिकाय की विराधना करता है, फिर वह संयत गुरु के पास आलोचना कर, प्रायश्चित्त (मिथ्या-दुष्कृत) लेकर शुद्ध हो जाता है।

६४२०. छण्हं जीविकायाणं, अप्पज्झो उ विराहतो।

आलोइय-पडिक्कंतो, मूलच्छेज्जं तु कारए॥

जो मुनि आत्मवश होकर षड्जीवनिकाय की विराधना करता है, उसे आलोचना और प्रतिक्रमण कर लेने के पश्चात् मूलच्छेद्य प्रायश्चित्त कराए।

६४२१. जं जो उ समावन्नो, जं पाउग्गं व जस्स वत्थुस्स।

तं तस्स उ दायव्वं, असरिसदाणे इमे दोसा॥

जिसने जो प्रायश्चित्त-तपोर्ह या छेदार्ह-प्राप्त किया है तथा जिस वस्तु-व्यक्ति के जो प्रायश्चित्त प्रायोग्य है, उसको वह देना चाहिए। असवृश अर्थात् अनुचित प्रायश्चित्त देने पर ये दोष होते हैं।

६४२२. अप्पच्छित्ते य पच्छित्तं, पच्छित्ते अतिमत्तया।

धम्मस्साऽऽसायणा तिब्वा, मग्गस्स य विराहणा॥

जो अप्रायश्चित्ती को प्रायश्चित्त देता है और प्रायश्चित्ती को अतिमात्रा में प्रायश्चित्त देता है, वह धर्म की तीव्र आशातना करता है और मार्ग-मोक्ष मार्ग की विराधना करता है।

६४२३. उस्सुत्तं ववहरंतो, कम्मं बंधति चिक्कणं।

संसारं च पवड्ढेति, मोहणिज्जं च कुव्वती॥

उत्सूत्र से व्यवहार करता हुआ अर्थात् सूत्रातिरिक्त प्रायश्चित्त देता हुआ वह चिकने कर्मों का बंधन करता है वह संसार को बढ़ाता है और मोहनीयकर्म का बंध करता है।

६४२४. उम्मग्गदेसणाए य, मग्गं विप्पडिवातए।
परं मोहेण रंजितो, महामोहं पकुव्वती॥
उन्मार्ग देशना से व्यक्ति मोक्षमार्ग का व्यवच्छेद करता है
और दूसरे को भी मोह से रंजित कर महामोह का बंधन
करता है।

६४२५. सपडिक्कमणो धम्मो,
पुरिमस्स इ पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमयाण जिणाणं,

कारणजाए पडिक्कमणं॥
पूर्व और पश्चिम जिनेश्वरदेव का प्रतिक्रमणयुक्त धर्म
होता है। मध्यम तीर्थकरों के तीर्थ में कारण उत्पन्न होने पर
प्रतिक्रमण होता है।

६४२६. गमणाऽऽगमण वियारे,
सायं पाओ य पुरिम-चरिमाणं।
नियमेण पडिक्कमणं,

अतियारो होउ वा मा वा॥
प्रथम और चरम तीर्थकर के साधु गमनागमन करते हुए,
विचारभूमी में जाते हुए, अतिचार हो या न हो, वे नियमतः
प्रातः और सायं प्रतिक्रमण करते हैं।

६४२७. अतिचारस्स उ असती,
णणु होति गिरत्थयं पडिक्कमणं।
ण भवति एवं चोदगं!

तत्थ इमं होति गातं तु॥
शिष्य ने पूछा—अतिचार न होने पर प्रतिक्रमण
निरर्थक होता है। हे शिष्य! तुम्हारे कहने के अनुसार
प्रतिक्रमण का निरर्थकत्व नहीं होता। उसके सार्थकत्व में यह
उदाहरण है।

६४२८. सति दोसे होअगतो,
जति दोसो णत्थि तो गतो होति।
बितियस्स हणति दोसं,

न गुणं दोसं व तदभावा॥
६४२९. दोसं हंतूण गुणं, करेति गुणमेव दोसरहिते वि।
ततियसमाहिकरस्स उ, रसातणं डिंडियसुतस्स॥

६४३०. जति दोसो तं छिंदति,
असती दोसम्मि णिज्जरं कुणई।
कुसलतिगिच्छरसायणमुवणीयमिदं
पडिक्कमणं॥

राजकुमार बीमार हो गया। तीन वैद्य चिकित्सा करने
आए। राजा के सामने पहले वैद्य ने कहा—मेरी औषधी रोग

होगा तो उसे मिटा देगी। रोग न होने पर वह औषधी स्वयं
रोग बन जाएगी। दूसरे वैद्य ने कहा—मेरी औषधी रोग का
नाश करेगी। यदि रोग नहीं होगा तो न गुण करेगी और न
दोष। तीसरे वैद्य ने कहा—मेरी औषधी रसायन है और वह
राजपुत्र के लिए उपयुक्त है। यह प्रतिक्रमण कुशल
चिकित्सक के रसायन तुल्य है। यदि कोई दोष लगा है तो
उसको नष्ट कर देगा और कोई दोष न लगा हो तो कर्म
निर्जरा होगी।^१

६४३१. दुविहो य मासकप्पो, जिणकप्पे चैव थेरकप्पे य।
एक्केक्को वि य दुविहो, अट्टियकप्पो य ठियकप्पो॥
मासकल्प के दो प्रकार हैं—जिनकल्प और स्थविर-
कल्प। प्रत्येक दो-दो प्रकार का है—अस्थितकल्प और
स्थितकल्प।

६४३२. पज्जोसवणाकप्पो, होति ठितो अट्टितो य थेराणं।
एमेव जिणाणं पि य, कप्पो ठितमट्टितो होति॥
पर्युषणाकल्प स्थविरकल्पिकों और जिनकल्पिकों—दोनों
के होता है। दोनों के वह स्थित और अस्थित—दोनों प्रकार
का होता है।

६४३३. चाउम्मासुक्कोसे, सत्तरिराहंदिया जहण्णेणं।
ठितमट्टितमेगत्तरे, कारणवच्चासितऽण्णयरे॥

पर्युषणाकल्प उत्कृष्टतः चार मास का (आषाढी पूर्णिमा
से कार्तिकी पूर्णिमा तक) और जघन्यतः सत्तर रातदिन का
(भाद्र शुक्ल ५ से कार्तिक पूर्णिमा तक) होता है। यह कल्प
पूर्व और पश्चिम तीर्थकरों के स्थित होता और शेष तीर्थकरों
के अस्थित होता है। पूर्व और पश्चिम तीर्थकरों के तीर्थ में
अन्यतर अशिव कारण में मासकल्प या पर्युषणाकल्प में
व्यत्यास भी कर सकते हैं।

६४३४. थेराण सत्तरी खलु, वासासु ठितो उडुम्मि मासो उ।
वच्चासितो तु कज्जे, जिणाण नियमऽट्टु चउरो य॥

प्रथम-चरम तीर्थकरों के स्थविरकल्पी साधुओं के वर्षा में
सत्तर दिन का पर्युषणाकल्प होता है, उनके ही ऋतुबद्ध काल
में एक मास का स्थित कल्प होता है। अशिव आदि कार्य में
व्यत्यासित—हीनाधिक भी होता है। प्रथम-चरम तीर्थकर के
जिनकल्पिक साधुओं के नियमतः ऋतुबद्धकाल में आठ मास
और वर्षा में चार मास होते हैं।

६४३५. दोसाऽसति मज्झिमगा, अच्छंती जाव पुव्वकोडी वि।
विचरंति अ वासासु वि, अकहमे पाणरहिए य॥

६४३६. भिण्णं पि मासकप्पं, करंति तणुगं पि कारणं पप्प।
जिणकप्पिया वि एवं, एमेव महाविदेहेसु॥

जो मध्यम तीर्थकरों के अस्थितकल्पिक साधु हैं वे पूर्वकोटि के दोषों के अभाव में एक क्षेत्र में रहते हैं और अकर्दम और प्राणरहित भूतल होने पर वर्षा में भी वे विहरण करते हैं।

तनुक (सूक्ष्म) कारण को प्राप्त करके भी वे मासकल्प को भिन्न कर देते हैं अर्थात् उसे पूरा किए बिना विहार कर जाते हैं। मध्यम तीर्थकरों के जिनकल्पिक मुनि और इसी प्रकार महाविदेह के स्थविरकल्पी और जिनकल्पमुनि भी अस्थितकल्पी होते हैं।

६४३७. एवं ठियम्मि मेरं, अट्टियकप्पे य जो पमादेति।
सो वट्टति पासत्थे, ठाणम्मि तगं विवज्जेज्जा॥

इस प्रकार स्थितकल्प और अस्थितकल्प विषयक जो मर्यादा कही गई है, उसमें जो प्रमाद करता है वह पार्श्वस्थ स्थान में होता है। उसके साथ सम्भोज नहीं करना चाहिए।

६४३८. पासत्थ संकिलिद्धं, ठाणं जिण वुत्तं थेरेहि य।
तारिसं तु गवेसंतो, सो विहारे ण सुज्झति॥

जिनेश्वर ने तथा स्थविरों ने पार्श्वस्थ के स्थान को संक्लिष्ट कहा है। वैसे स्थान की गवेषणा करने वाला मुनि संविग्नविहारी नहीं होता।

६४३९. पासत्थ संकिलिद्धं, ठाणं जिण वुत्तं थेरेहि य।
तारिसं तु विवज्जेतो, सो विहारे विसुज्झति॥

जिनेश्वर ने तथा स्थविरों ने पार्श्वस्थ के स्थान को संक्लिष्ट कहा है। वैसे स्थान का विवर्जन करने वाला मुनि विहार में विशुद्ध होता है।

६४४०. जो कप्पठितिं एयं, सद्वहमाणो करेति सट्टाणे।
तारिसं तु गवेसेज्जा, जतो गुणाणं ण परिहाणी॥

जो इस कल्पस्थिति पर श्रद्धा रखता हुआ स्वस्थान में उसका पालन करता है—अस्थितकल्प के स्थान में अस्थितकल्प की और स्थितकल्प के स्थान में स्थितकल्प की और वैसे संविग्नविहारी मुनि की गवेषणा करता है, जिससे गुणों की परिहानि न हो तथा वैसे साधु के साथ संभोज का व्यवहार रखे।

६४४१. ठियकप्पम्मि दसविधे, ठवणाकप्पे य दुविहमणायरे।
उत्तरगुणकप्पम्मि य, जो सरिकप्पो स संभोगो॥

दस प्रकार के स्थितकल्प में और दो प्रकार के स्थापना-कल्प में से किसी एक प्रकार में तथा उत्तरगुणकल्प में जो सदृक्कल्प (तुल्य सामाचारिक) होता है, वह सम्भोग्य होता है।

६४४२. ठवणाकप्पो दुविहो, अकप्पठवणा य सेहठवणा य।
पढमो अकप्पिएणं आहारादी ण गिण्हावे॥

स्थापनाकल्प के दो प्रकार हैं—अकल्पस्थापनाकल्प और शैक्षस्थापनाकल्प। अकल्पिक—जिसने पिण्डैषणा न पढ़ा हो, उससे आहार आदि न ग्रहण न करे और न उससे मंगाए।

६४४३. अट्टारसेव पुरिसे, वीसं इत्थीओ दस णपुंसा य।
दिव्खेति जो ण एते, सेहट्टवणाए सो कप्पो॥

अठारह प्रकार के पुरुष, बीस प्रकार की स्त्रियां तथा दस प्रकार के नपुंसक—इन अड़तालीस को दीक्षा नहीं देता, वह शैक्षस्थापनाकल्प कहलाता है।

६४४४. आहार-उवहि-सेज्जा, उग्गम-उप्पादणेसणासुद्धा।
जो परिगिण्हति णिययं, उत्तरगुणकप्पिओ स खलु॥

जो आहार, उपधि, शय्या—इनको उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषों से सदा शुद्ध ग्रहण करता है, वह उत्तरगुणकल्पिक कहलाता है।

६४४५. सरिकप्पे सरिच्छे, तुल्लचरित्ते विसिद्धतरए वा।
साहूहिं संथवं कुज्जा, णाणीहिं चरित्तगुतेहिं॥

सदृशकल्पी, सदृशछंद, तुल्यचारित्र अथवा विशिष्टतर—ऐसे जो ज्ञानी और चारित्रगुप्त साधु हों उनके साथ संस्तव करें।

६४४६. सरिकप्पे सरिच्छे, तुल्लचरित्ते विसिद्धतरए वा।
आदिज्ज भत्त-पाणं, सतेण लाभेण वा तुस्से॥

सदृशकल्प, सदृशछंद, तुल्यचारित्र अथवा विशिष्टतर—ऐसा जो साधु हो उससे भक्तपान ग्रहण करे अथवा अपने लाभ से संतुष्ट रहे।

६४४७. परिहारकप्पं पवक्खामि, परिहरंति जहा विऊ।
आदी मज्झवसाणे य, आणुपुब्बिं जहक्कमं॥

मैं परिहारकल्प के विषय में कहूंगा, जिसका विद्वान् मुनि आसेवन करते हैं। मैं उसकी आदि में, मध्य में और अन्त में होने वाली सामाचारी का यथाक्रम आनुपूर्वी से कथन करूंगा।

६४४८. भरहेरवएसु वासेसु, जता तित्थगरा भवे।
पुरिमा पच्छिमा चेव, कप्पं देसेंति ते इमं॥

भरत और ऐरावत क्षेत्रों में जितने पहले-पीछे तीर्थकर होते हैं, सभी इस कल्प की प्ररूपणा करते हैं।

६४४९. केवइयं कालसंजोगं, गच्छो उ अणुसज्जती।
तित्थयरेसु पुरिमेसु, तहा पच्छिमएसु य॥

शिष्य ने पूछा—पूर्व और पश्चिम तीर्थकरों के परिहारकल्पिकों का गच्छ कितने काल-संयोग तक परंपरा से अनुवर्तित होता है?

६४५०. पुव्वसयसहस्साइं, पुरिमस्स अणुसज्जती।
वीसग्गसो य वासाइं, पच्छिमस्साणुसज्जती॥

आचार्य ने कहा—पूर्व अर्थात् प्रथम तीर्थकर के तीर्थ में परिहारकल्प एक लाख पूर्वों तक चलता है और अंतिम तीर्थकर के तीर्थ में 'विंशत्यग्रशः' अर्थात् कुछेक विंशति-संख्या परिच्छिन्न वर्षों तक वह अनुवर्तित होता है अर्थात् देशोन दो सौ वर्ष तक।

६४५१. पव्वज्ज अद्दुवासस्स, दिट्ठिवातो उ वीसहिं।

इति एकूणतीसाए, सयमूणं तु पच्छिमे॥

६४५२. पालइत्ता सयं ऊणं, वासाणं ते अपच्छिमे।

काले देसिंति अण्णेसिं, इति ऊणा तु बे सता॥

श्री वर्द्धमान स्वामी के काल में किसी बालक की जन्म-काल से आठवें वर्ष में प्रव्रज्या हो गई। उसने बीसवें वर्ष में दृष्टिवाद का ग्रहण कर लिया। तदनन्तर भगवान् महावीर के पास नौ व्यक्तियों ने परिहारकल्प स्वीकार कर देशोनवर्षशत तक उसका पालन किया। इस प्रकार उनतीस वर्ष से न्यून सौ वर्ष तक उस तीर्थ में कल्प का प्रवर्तन रहा। स्वयं सौ वर्षों से न्यून कल्प का पालन कर अपने जीवन के अन्तकाल में वे दूसरों को कल्प का प्ररूपण करते हैं। वे भी उनतीस वर्ष न्यून सौ वर्ष तक पालन करते हैं। इस प्रकार कुछ न्यून दो सौ वर्ष होते हैं।

६४५३. पडिवत्ता जिणिंदस्स, पादमूलम्मि जे विऊ।

ठावयंति उ ते अण्णे, णो उ ठावित्ठावगा॥

जो विद्वान् व्यक्ति जिनेन्द्र के पादमूल में इस कल्प को स्वीकार करते हैं वे ही दूसरों को उसमें स्थापित कर सकते हैं, न कि स्थापितस्थापक। इसका हार्द यह है कि यह कल्प तीर्थकर के पास स्वीकार किया जाता है या जिस साधु ने तीर्थकर के पास इसको स्वीकार किया है, उसके पास इसका ग्रहण किया जाता है, दूसरे के पास नहीं।

६४५४. सव्वे चरित्तमंतो य, दंसणे परिनिट्ठिया।

णवपुब्बिया जहन्नेणं, उक्कोस दसपुब्बिया॥

६४५५. पंचविहे ववहारे, कप्पे त दुविहम्मि य।

दसविहे य पच्छित्ते, सव्वे ते परिणिट्ठिया॥

परिहारकल्प स्वीकार करने वाले सभी मुनि चारित्रवान्, दर्शन में परमकोटि को प्राप्त, जघन्यतः नौपूर्वी, उत्कृष्टतः दशपूर्वी (किंचित् न्यूनदशपूर्वी)। तथा पांच प्रकार के व्यवहार में—आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत तथा दो प्रकार के कल्प में—अकल्पस्थापनाकल्प तथा शैक्षस्थापनाकल्प अथवा स्थविरकल्प और जिनकल्प में तथा दश प्रकार के प्रायश्चित्त में—इन सबमें वे मुनि परिनिष्ठित होते हैं।

६४५६. अप्पणो आउगं सेसं, जाणित्ता ते महामुणी।

परक्कमं च बल विरियं, पच्चवाते तहेव य॥

वे महामुनि अपने आयुष्य का अन्त जानकर अपने बल, वीर्य और पराक्रम को समझकर परिहारकल्प स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार प्रत्यपाय—रोग आदि के विषय में भी पहले ही ध्यान दे देते हैं।

६४५७. आपुच्छिऊण अरहंते, मग्गं देसेंति ते इमं।

पमाणाणि य सव्वाइं, अभिग्गहे य बहुविहे॥

अरिहंतों को पूछकर वे इस कल्प को स्वीकार करते हैं। अरिहंत उनको इस कल्प का मार्ग—सामाचारी बताते हैं—सभी प्रमाण और बहुविध अभिग्रह निदर्शित करते हैं।

६४५८. गणोवहिपमाणाइं, पुरिसाणं च जाणि तु।

दव्वं खेत्तं च कालं च, भावमण्णे य पज्जवे॥

अरिहंत उन्हें गणप्रमाण, उपधिप्रमाण, पुरुषप्रमाण जो इस कल्प में जघन्य आदि भेद से अनेक प्रकार के होते हैं तथा द्रव्य—अशन आदि, क्षेत्र—मासकल्प प्रायोग्य वर्षावास—प्रायोग्य, काल—मासकल्प और वर्षावास के लिए प्रतिनियत—काल तथा भाव—क्रोध आदि के निग्रहरूप तथा अन्य—निष्प्रतिकर्मता आदि तथा लेश्या—ध्यान आदि रूप पर्याय—इन सभी का उनको उपदेश देते हैं।

६४५९. पंचहिं अग्गहो भत्ते, तत्थेगीए अभिग्गहो।

उवहिणो अग्गहो दोसुं, इयरो एकतरीय उ॥

भक्तपान के विषय में सात एषणाओं में प्रथम दो को छोड़कर शेष पांच का आग्रह—स्वीकार, उसमें से किसी एक का अभिग्रह। उपधि विषयक चार एषणाओं में से अंतिम दो एषणाओं का आग्रह—स्वीकार और तीसरी, चौथी एषणाओं में से किसी एक का अभिग्रह।

६४६०. अइरोग्गयम्मि सूरे, कप्पं देसिंति ते इमं।

आलोइय-पडिक्कंता, ठावयंति तओ गणे॥

सूर्य के उदित होते ही वे इस कल्प को स्वयं स्वीकार कर दूसरों को दिखाते हैं। तत्पश्चात् आलोचित—प्रतिक्रान्त होकर तीन गणों की स्थापना करते हैं।

६४६१. सत्तावीस जहण्णेणं, उक्कोसेण सहस्ससो।

निग्गंथसूरा भगवंतो, सव्वग्गेणं वियाहिया॥

इन तीन गणों में जघन्यतः २७ पुरुष और उत्कृष्टतः हजार पुरुष होते हैं। इस प्रकार वे भगवान् निर्ग्रन्थशूर सर्वसंख्या से कहे गए हैं।

६४६२. सयग्गसो य उक्कोसा, जहण्णेण तओ गणा।

गणो य णवतो वुत्तो, एमेता पडिवत्तितो॥

इनके गणों की उत्कृष्ट संख्या सौ होती है। और जघन्य संख्या तीन होती है। प्रत्येक गण नौ पुरुष प्रमाण का होता है। ये इनकी प्रतिपत्तियां हैं—प्रमाणों के प्रकार हैं।

६४६३.एगं कल्पद्वयं कुञ्जा, चत्तारि परिहारिण।
अणुपरिहारगा चव, चउरो तेसिं ठावए॥

नौ पुरुषों में से एक को कल्पस्थित-गुरुकल्प करे।
चार को पारिहारिक और शेष चार को अनुपारिहारिक
स्थापित करे।

६४६४.ण तेसिं जायती विग्घं, जा मासा दस अट्ट य।
ण वेयणा ण वाऽऽतंको, णेव अण्णे उवइवा॥

६४६५.अट्टारससु पुण्णेषु, होज्ज एते उवइवा।
ऊणिए ऊणिए यावि, गणे मेरा इमा भवे॥

जो इस प्रकार कल्प-प्रतिपन्न होते हैं उनके अठारह
महीनों तक कोई विघ्न (संहरण आदि) नहीं होता। न उनके
कोई वेदना होती है, न आतंक होता है और न अन्य
उपद्रव। अठारह मास पूर्ण होने पर ये उपद्रव हो सकते
हैं। कोई मुनि मर जाए या स्थविरकल्पी जिनकल्प में
चला जाए, तो शेष उसी कल्प का पालन करते हैं। इस
प्रकार गण न्यून-न्यून होने पर भी यही मर्यादा सामाचारी
होती है।

६४६६.एवं तु ठाविए कप्पे, उवसंपज्जति जो तहिं।
एगो दुवे अणेगा वा, अविस्सुद्धा भवंति ते॥

इस प्रकार कल्प स्थापित करने पर, एक-दो मुनि मृत्यु
को प्राप्त हो जाएं और एक-दो या अनेक व्यक्ति उपसंपदा
ग्रहण करें, उन्हें ग्रहण कर गण को पूरा करे। वे उपसंपन्न
मुनि पारिहारिकों के साथ रहते हुए अविस्सुद्ध होते हैं अर्थात् वे
पारिहारिकों के अकल्पनीय नहीं होते।

६४६७.तत्तो य ऊणए कप्पे, उवसंपज्जति जो तहिं।
जत्तिएहिं गणो ऊणो, तत्तिते तत्थ पक्खिवे॥

कल्प न्यून अर्थात् एक-दो मुनि से ऊन होने पर जो वहां
उपसंपन्न होते हैं उनमें से उतने ही साधुओं को गण में प्रवेश
दे जितनों की न्यूनता हो।

६४६८.तत्तो अणूणए कप्पे, उवसंपज्जति जो तहिं।
उवसंपज्जमाणं तु, तप्पमाणं गणं करे॥

कल्प अन्यून हो और वह जो उपसंपन्न होते हैं, उन
उपसंपन्न होने वालों के यदि नौ का प्रमाण हो जाता है तो
अन्य गण की स्थापना कर दे।

६४६९.पमाणं कप्पद्वितो तत्थ, ववहारं ववहरित्तए।
अणुपरिहारियाणं पि, पमाणं होति से विऊ॥

कल्प में यदि पारिहारिकों का कोई अपराधपद हो जाए
तो कल्पस्थित मुनि व्यवहार-प्रायश्चित्त देने में प्रमाणभूत

होता है। अनुपारिहारिक द्वारा अपराधपद का आसेवन होने
पर वही गीतार्थ मुनि प्रायश्चित्त देने में प्रमाण होता है।

६४७०.आलोयण कप्पठिते, तवमुज्जाणोवमं परिवहंते।
अणुपरिहारिए गोवालाए, व णिच्च उज्जुत्तमाउत्ते॥

वे पारिहारिक और अनुपारिहारिक मुनि आलोचना आदि
कल्पस्थित के सम्मुख करते हैं। वे पारिहारिक उद्यानिका-
सदृश^१ तप का परिवहन करते हैं। चारों अनुपारिहारिक चारों
पारिहारिकों के साथ भिक्षा में सदा उद्युक्त (प्रयत्नयुक्त) तथा
आयुक्त (उपयुक्त) होकर उनके पीछे-पीछे घूमते हैं, जैसे
गोपालक गायों के पीछे रहकर उद्युक्त और आयुक्त होकर
घूमता है।

६४७१.पडिपुच्छं वायणं चव, मोत्तूणं णत्थि संकहा।
आलावो अत्तणिद्देशो, परिहारिस्स कारणे॥

उन पारिहारिकों आदि को नौ आदमी के साथ सूत्रार्थ की
प्रतिपृच्छा और वाचना के अतिरिक्त परस्पर संकथा करना
नहीं कल्पता। पारिहारिक को कारणवश आत्मनिर्देशरूप
आलाप जैसे-उठूंगा, बैठूंगा, आदि हो सकता है।

६४७२.बारस दसऽट्ट दस अट्ट छ च्च अट्टेव छ च्च चउरो य।
उक्कोस-मज्झिम-जहण्णगा उ वासा सिसिर गिम्हे॥

पारिहारिककल्प वाले मुनियों की तपःतालिका-

	वर्षा	शिशिर	ग्रीष्म
उत्कृष्ट	पंचोला	चोला	तेला
मध्यम	चोला	तेला	बेला
जघन्य	तेला	बेला	उपवास

६४७३.आयंबिल बारसमं, पत्तेयं परिहारिगा परिहरंति।
अभिगहितएसणाए, पंचण्ह वि एगसंभोगो॥

पारिहारिक मुनि उत्कृष्टतः पंचोला करके आचाम्ल से
पारणा करते हैं। प्रत्येक पारिहारिक पृथक्-पृथक् भोजन
आदि करते हैं, यथोक्त सामाचारी का पालन करते हैं।
पारिहारिक मुनि अभिगृहीत एषणा से भक्तपान लेते हैं। चार
पारिहारिक मुनि और एक कल्पस्थित-इन पांचों का एक
संभोग होता है। वे प्रतिदिन आचाम्ल करते हैं। जो
कल्पस्थित होता है वह भिक्षा के लिए नहीं जाता, उसके
योग्य भक्तपान पारिहारिक मुनि लाते हैं।

६४७४.परिहारिओ वि छम्मासे अणुपरिहारिओ वि छम्मासा।
कप्पद्वितो वि छम्मासे एते अट्टारस उ मासा॥

पारिहारिक मुनि छह मास तक प्रस्तुत तपस्या करते हैं।
अनुपारिहारिक भी छह मास तक तप करते हैं। कल्पस्थित

१. उद्यानिकासदृशतप-यथा किल कश्चिद् उद्यानिकांगत एकान्तरतिप्रसक्तः स्वच्छंदसुखं विहरमाण आस्ते, एवं तेषि पारिहारिका एकान्त-
समाधिसिन्धुनिमग्नमनसस्तत् तप उद्यानोपमम्।

मुनि भी छह मास तक तपस्या करते हैं। ये अठारह मास होते हैं।

६४७५.अणुपरिहारिणा चैव, जे य ते परिहारिणा।
अण्णमण्णेषु ठाणेषु, अविरोद्धा भवन्ति ते॥

जो अनुपरिहारिक हैं और जो वे पारिहारिक हैं वे अन्यान्य स्थानों में कालभेद से परस्पर एक दूसरे का वैयावृत्य करते हुए अविरोद्ध ही होते हैं।

६४७६.गएहिं छहिं मासेहिं, निव्विद्धा भवन्ति ते।
ततो पच्छा ववहारं, पडुवन्ति अणुपरिहारिया॥

६४७७.गएहिं छहिं मासेहिं, निव्विद्धा भवन्ति ते।
वहइ कप्पडितो पच्छा, परिहारं तहाविहं॥

वे पारिहारिक मुनि छह मास तक तपस्या वहन कर लेने पर निर्विष्टकायिक हो जाते हैं। तत्पश्चात् अनुपरिहारिक परिहारतप के व्यवहार-समाचार की स्थापना करते हैं। वे भी छह महीनों में निर्विष्ट हो जाते हैं। पश्चात् कल्पस्थित भी तथाविध परिहार का उतने ही महीनों तक वहन करता है।

६४७८.अट्टारसहिं, मासेहिं, कप्पो होति समाणितो।
मूलडवणाए समं, छम्मासा तु अणूणगा॥

वह कल्प अठारह महीनों में समाप्त होता है। मूलस्थापना अर्थात् जो प्रथमतः परिहारतप स्वीकार करते हैं, वे अन्यून छहमास पर्यन्त उसका पालन करते हैं, इसी प्रकार अनुपरिहारिक तथा कल्पस्थित भी उसी के तुल्य छह-छह मास का तप वहन करते हैं। इस प्रकार $६ \times ३ = १८$ मास होते हैं।

६४७९.एवं समाणिए कप्पे, जे तेसिं जिणकप्पिया।
तमेव कप्पं ऊणा वि, पालए जावजीवियं॥

इस प्रकार अठारह महीनों में कल्प समाप्त कर देने पर जो उनके मध्य जिनकल्पिक मुनि होते हैं वे उसी कल्प को अठारह मास न्यून भी यावज्जीवन तक पालन करते हैं।

६४८०.अट्टारसेहिं पुण्णेहिं, मासेहिं थेरकप्पिया।
पुणो गच्छं नियच्छन्ति, एसा तेसिं अहाठिती॥

स्थविरकल्पिक मुनि अठारह मास पूर्ण होने पर पुनः गच्छ में आ जाते हैं। यह उनकी यथास्थिति है।

६४८१.तइय-चउत्था कप्पा,
समोयरन्ति तु बियम्मि कप्पम्मि।

पंचम-छट्ठितीसुं,

हेट्टिल्लाणं समोयारो॥

तीसरा और चौथा कल्प (निर्विशमानक और निर्विष्ट-कायिक) दूसरे कल्प (छेदोपस्थापनीय) में समवतरित होते हैं। तथा सामायिक, छेदोपस्थानीय, निर्विशमानक, निर्विष्ट-कायिक ये चार अधस्तन स्थितियां मानी जाती हैं। इनका

प्रत्येक का पांचवीं, छठी कल्प स्थिति में (जिनकल्प, स्थविरकल्प) में समवतार होता है।

६४८२.णिज्जुत्ति-मासकप्पेसु वण्णितो जो कमो उ जिणकप्पे।
सुय-संघयणादीओ, सो चैव गमो निरवसेसो॥

पंचकल्प निर्युक्ति के मासकल्प प्रकरण में जिनकल्पी के श्रुत, संहनन आदि का जो क्रम वर्णित है वही संपूर्ण क्रम यहां भी जानना चाहिए।

६४८३.गच्छम्मि य णिम्माया, धीरा जाहे य मुणियपरमत्था।
अग्गह जोग अभिग्गहे, उव्विंति जिणकप्पियचरित्तं॥

जब गण में ही निष्पन्न, धीर, परमार्थ से अवगत अर्थात् यह जानकर कि अब उद्यतविहार करने का हमारा अवसर है, असंसृष्ट और संसृष्ट एषणाओं के ग्रहण का परिहार करने में तत्पर तथा इन एषणाओं को ही लेने का अभिग्रह रखते हुए तथा एक बार में एक का ही योग-परिभोग करने वाले होते हैं, वे ही जिनकल्पचारित्र स्वीकार करते हैं।

६४८४.धित्तिबलिया तवसूरा,
णित्ति य गच्छातो ते पुरिससीहा।

बल-वीरियसंघयणा,

उवसग्गसहा अभीरू य॥

जो धृति से बलवान् होते हैं, तपःशूर होते हैं, वे पुरुष-सिंह गच्छ से निर्गत होते हैं। जो बल, वीर्य और संहननयुक्त होते हैं, उपसर्गों को सहने में सक्षम और अभीरू होते हैं—वैसे पुरुष जिनकल्पस्थिति स्वीकार करते हैं।

६४८५.संजमकरणुज्जोवा, णिप्फातग णाण-दंसण-चरित्ते।
दीहाउ बुद्धवासो, वसहीदोसेहि य विमुक्का॥

स्थविरकल्पी मुनि संयम का यथावत् पालन करने वाले, प्रवचन के उद्योतक, शिष्यों का ज्ञान, दर्शन और चारित्र में निष्पादक, दीर्घायुष्क तथा जंघाबल से हीन होने पर वृद्धावास में रहने वाले तथा वसति दोषों से विप्रमुक्त होते हैं।

६४८६.मोचुं जिणकप्पठिइं, जा मेरा एस वण्णिया हेट्ठा।
एसा तु दुपदजुत्ता, होति ठिती थेरकप्पस्स॥

जिनकल्पस्थिति को छोड़कर जो यह मर्यादा-स्थिति इसी अध्ययन में वर्णित है वह द्विपदयुक्त अर्थात् उत्सर्ग और अपवाद-इन दो पदों से युक्त स्थविरकल्प की स्थिति होती है।

६४८७.पलंबादी जाव ठिती, उस्सग्ग-डववातियं करेमाणे।
अववाते उस्सग्गं आसायण दीहसंसारी॥

प्रलंबसूत्र से प्रारंभ कर इस षड्विधकल्पस्थितिसूत्र तक उत्सर्ग में आपवादिक क्रिया तथा अपवाद में उत्सर्ग क्रिया

करने वाला अर्हत् शासन की आशातना करता है और वह दीर्घसंसारी होता है।

६४८८. छव्विहकप्पस्स ठित्तिं, नाउं जो सहहे करणजुत्तो।
पवयणणिही सुरक्खित्तो, इह-परभववित्थरप्फलदो॥

जो मुनि छह प्रकार के कल्प की स्थिति को जानकर उस पर श्रद्धा करता है तथा करणयुक्त-यथानुष्ठानयुक्त होता है, वह प्रवचननिधि और आत्मसंरक्षित होता है। उसको इहभव और परभव में विस्तृत फल प्राप्त होते हैं।

६४८९. भिण्णरहस्से व णरे, णिस्साकरणे व मुक्कजोगी य।
छव्विहगतिगुविलम्भिं, सो संसारे भमति दीहे॥

जो मुनि भिन्नरहस्य अर्थात् अयोग्य मुनियों को अपवादपदों का रहस्य बताता है, ऐसे नर को तथा जो निश्चाकर होता है अर्थात् अपवादपद की निश्चा में ही चलता है, जो मुक्तयोगी-ज्ञान, दर्शन आदि योगों से रहित है-ऐसे व्यक्ति को रहस्य नहीं बताने चाहिए, जो बताता है वह षट्काय से गहन दीर्घ संसार में परिभ्रमण करता है।

६४९०. अरहस्सधारणे पारणे य असढकरणे तुलासमे समित्ते।
कप्पाणुपालणा दीवणा य, आराहण छिन्नसंसारी॥
नायम्मि गिण्हियव्वे, अगिण्हियव्वम्मि चेव अत्थम्मि।
जइयव्वमेव इइ जो, उवएसो सा नओ नाम॥
सव्वेसिं पि नयाणं, बहुविहवत्तव्वयं निसामित्ता।
तं सव्वनयविसुद्धं, जं चरण-गुणद्धितो साहू॥

अरहस्य^१धारक-अतीव रहस्यमय शास्त्रों को धारण करने वाला, सूत्रों का पारगामी, अशठकरण-माया-पद से विप्रमुक्त, तुलासदृश, समित-पांच समितियों से समायुक्त, कल्प की अनुपालना करने वाला, दीपन-स्वसमय की दीपना करने वाला, जो आलस्य को छोड़कर भगवद् कथन की दीपना करने वाला होता है, वही ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना करने वाला तथा संसार भ्रमण को छिन्न करने वाला होता है। वह मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।

छठा उद्देशक समाप्त

परिशिष्ट १ : कथा परिशिष्ट

परिशिष्ट २ : सूक्त और सुभाषित

परिशिष्ट ३ : आयुर्वेद और आरोग्य

परिशिष्ट ४ : गाथानुक्रम

कथा परिशिष्ट

१. नृप दृष्टान्त

एक पुरुष अपने कार्य के लिए राजा के सम्मुख उपस्थित हुआ। मंगल के प्रतीक पुष्प आदि राजा के चरणों में अर्पित कर राजा को प्रणाम किया। राजा उसके विनय से तुष्ट हो गया। राजा के संतुष्ट होने पर उसका कार्य सिद्ध हो गया। यथायोग्य उपचार से किया हुआ कार्य सिद्ध होता है।

गा. २० वृ. पृ. १०

२. निधि, विद्या और मंत्र का दृष्टान्त

निधि का उत्खनन, विद्या और मंत्र को सिद्ध करने के लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से उपचार करना होता है। जो ये सब उपचार करता है। वह निधि खनन, विद्या और मंत्र सिद्ध कर लेता है। जो उपचार नहीं करता वह निधि आदि प्राप्त करने में सफल नहीं होता।

गा. २० वृ. पृ. १०

३. वत्स और गाय

जब गोपालक श्वेत गाय के वत्स को चूघने के लिए काली गाय के पास छोड़ता है और काली गाय के वत्स को चूघने के लिए श्वेत गाय के पास छोड़ता है तब उसे दूध प्राप्त नहीं होता है। यह अननुयोग है।

इसके विपरीत श्वेत गाय के वत्स को श्वेत गाय के पास और काली गाय के वत्स को काली गाय के पास छोड़ता है तो दूध प्राप्त हो जाता है। यह अनुयोग है।

जैसे अननुयोग से दूध प्राप्त नहीं होता वैसे ही अननुयोग से जो भाव को अन्यथा ग्रहण करता है, उससे अर्थ का विसंवाद होता है, अर्थ के विसंवाद से चारित्र्य का विसंवाद और उससे मोक्ष का अभाव हो जाता है। मोक्ष प्राप्ति की फलश्रुति के बिना दीक्षा व्यर्थ हो जाती है।

गा. १७१ वृ. पृ. ५२

४. कुब्जा

प्रतिष्ठान नगर में सातवाहन नामक राजा राज्य करता था। वह प्रतिवर्ष भृगुकच्छ नगर में नभवाहन राजा पर चढ़ाई करता और वर्षा ऋतु प्रारंभ होने पर अपने नगर में लौट आता था। एक बार भृगुकच्छ जाते हुए राजा ने आस्थानमंडप में थूक दिया। उसके पास छत्र धारिणी एक कुब्जा स्त्री थी। थूकने के कारण उसने जाना कि अब यह भूमि अपरिभोग्य हो गई है। राजा कहीं अन्यत्र जाना चाहता है। राज्य का यानशालिक उस कुब्जा से परिचित था। उसने राजा का अभिप्राय यानशालिक को बताया। उस यानशालिक ने यान-वाहनों को साफ कर, म्रक्षित कर उन्हें प्रस्थित कर दिया। यह देखकर शेष सेना ने भी प्रस्थान कर दिया। राजा रथ में अकेला जा रहा था। उसने धूल आदि के भय से प्रातः जाने की बात सोची। उसने देखा कि सारी सेना प्रस्थित हो चुकी है।

उसने मन ही मन विचार किया कि मैंने किसी से कुछ नहीं कहा, फिर इन लोगों ने मेरे मन की बात कैसे जानी? उसने गवेषणा की। एक-दूसरे से पूछते-पूछते अंत में बात कुब्जा पर आकर टिकी। राजा ने कुब्जा को बुलाकर उससे कारण पूछा। उसने राजा को यथार्थ बात बता दी। राजा उससे तुष्ट हुआ।

गा. १७१ वृ. पृ. ५२

५. काल और अकाल का विवेक

एक मुनि कालिक श्रुत का स्वाध्याय कर रहा था। रात्रि का पहला प्रहर बीत गया। उसे इसका भान नहीं रहा। वह स्वाध्याय करता ही गया। एक सम्यक्दृष्टि देवता ने यह जाना। उसने सोचा—यह मुनि अकाल में स्वाध्याय कर रहा है। कोई मिथ्यादृष्टि देवता उसको छल न ले, इसलिए उसने छाछ बेचने वाले की विकुर्वणा की। 'छाछ ले लो, छाछ ले लो'—यह कहता हुआ वह उस मार्ग से निकला। वह बार-बार उस मुनि के उपाश्रय के पास आता जाता रहा। मुनि ने वे शब्द सुने। उसे ऐसा अनुभव हुआ मानो कानों पर कोई प्रहार कर रहा हो। मुनि बोला—कौन हो? अभी क्या छाछ बेचने का समय है? तब उसने कहा—मुनिवर! क्या यह कालिक श्रुत का स्वाध्याय काल है? मुनि ने यह सुना और सोचा—यह कालिक श्रुत का स्वाध्याय काल नहीं है? आधी रात बीत चुकी है। मुनि ने प्रायश्चित्त स्वरूप 'मिच्छामि दुक्कडं' का उच्चारण किया। देवता बोला—फिर ऐसा मत करना, अन्यथा तुम मिथ्यादृष्टि देवता से छले जाओगे। स्वाध्याय-काल में ही स्वाध्याय करो न कि अस्वाध्याय काल में।

गा. १७१ वृ. पृ. ५३

६. बधिर

एक ग्राम में एक परिवार रहता था। उसके चार सदस्य थे। चारों ही बधिर थे। एक दिन उसका पुत्र हल लेकर खेत की ओर जा रहा था। रास्ते में एक आदमी ने उससे गांव का मार्ग पूछा। उसने सोचा, यह मुझसे बैल मांग रहा है। वह बोला—ये जातिवान् बैल मेरे हैं। तुम कैसे मांग रहे हो? उसने कहा—मैं बैल नहीं मांग रहा हूं मार्ग पूछ रहा हूं। वह बात को समझा नहीं और हल लेकर उसके पीछे दौड़ा। पथिक ने सोचा यह पागल है। मार्ग में उसकी पत्नी मिल गई जो भाता (भोजन) लेकर आ रही थी। उसे देख कर बोला—'यह आदमी मुझसे बैल मांग रहा था।' वह भी सुनने में असमर्थ थी। उसने सोचा कि मुझे कह रहे हैं कि भोजन में नमक नहीं है। वह बोली—'भोजन तुम्हारी मां ने बनाया है।' वह घर गई और सास से कहा—'तुम्हारे बेटे ने कहा—भोजन में नमक नहीं है।' वह सूत कात रही थी, उसने सोचा मुझे कह रही है कि सूत मोटा कात रही हो। वह बोली सूत मोटा हो या खरदरा। तेरे लिए नहीं कात रही हूं, मेरे बेटे के लिए कात रही हूं। उसका श्वसुर बाहर तिल सुखा रहा था। उसने बहु को बात करते देखा तो सोचा, यह अपनी सास को कह रही है कि यह वृद्ध तिल खा रहा है। वह बोला—'तुम्हारी सौगंध मैंने एक भी तिल नहीं खाया।'

गा. १७१ वृ. पृ. ५३

७. अज्ञानी पुत्र

एक गांव में एक छोटा परिवार रहता था। उसमें तीन सदस्य थे—माता-पिता और पुत्र। पिता का देहावसान हो गया। माता अपने पुत्र को लेकर अन्यत्र चली गई। पुत्र बड़ा हुआ। एक दिन मां से पूछा—मेरे पिता कहां है? उसने कहा—तेरे पिता का देहान्त हो गया। फिर पूछा—मां! पिताजी कौन सा कार्य करके आजीविका चलाते थे। वह बोली—दूसरों की सेवा करके। पुत्र बोला—मां! मैं भी सेवा करके आजीविका चलाऊंगा। मां बोली—बेटा! तुम अभी बालक हो, तुम्हें अभी यह ज्ञात हो नहीं है कि सेवा कैसे करते हैं? बालक बोला—मां! तुम बताओ सेवा

कैसे करते हैं? मां ने कहा—विनय करके। वह बोला विनय क्या होता है? उसने बताया—बड़ों को प्रणाम करना, नीचे झुकना और दूसरों के अभिप्राय अनुसार चलना। पुत्र ने मां के वचनों को स्वीकार किया और वहां से प्रस्थान कर दिया।

रास्ते में उसने देखा, कुछ शिकारी ओट में छुपे हुए हैं। वे मृगों को मारना चाहते थे। इतने में वह बालक जोर से बोला—प्रणाम! उसकी आवाज सुनकर मृग जंगल में भाग गए। शिकारियों ने उसे पकड़ा और पीटने लगे। वह बोला—मुझे मत मारो, मुझे ऐसा ही बताया था कि बड़ों को प्रणाम करना। यथार्थ जानकर उसे छोड़ दिया। उससे कहा कभी ऐसा काम पड़े तब धीरे-धीरे जाकर प्रणाम करना, आवाज नहीं करना। वह आगे चला। रास्ते में धोबी कपड़े धो रहे थे। उनके कपड़े अनेक दिनों से गायब हो रहे थे। वे बहुत चिन्तित थे। उन्होंने सोचा—आज ध्यान रखेंगे कौन कपड़े चुराता है? वह धीरे-धीरे चलकर उनके पास जाने लगा। धोबियों ने देखा और सोचा यही चोर होना चाहिए। उसे पकड़ा और पीटने लगे। वह बोला—‘मेरा दोष नहीं है। मुझे ऐसा ही बताया था।’ उसकी स्थिति जानकर उसे छोड़ दिया। फिर कहा—‘अब कभी ऐसा देखो तो कहना (वस्त्र का) पानी झर जाए, साफ हो जाए (शुद्ध हो, रिक्त हो)।’

वहां से आगे बढ़ा। किसान बीज बो रहे थे। उसने देखा और कहा—रिक्त हो, शुद्ध हो। किसान ने सुना और सोचा, ये दुष्ट ऐसा क्यों बोल रहा है? उसने भी उसे पकड़ा और पीटने लगा। वह बोला—मुझे मत मारो, मुझे ऐसा ही सिखाया था। यथास्थिति जानकर उसे सिखाया कि अब ऐसे अपशब्द मत बोलना। ऐसा कहना—बहुत हो, गाड़ी भर-भर हो।

वहां से आगे बढ़ा। लोग शव को श्मशान में ले जा रहे थे। उसने देखा और बोला—ऐसा बहुत हो गाड़ी भर-भर हो। लोगों ने सुना और सोचा शोक बेला में ऐसा बोल रहा है? वहां भी वह पीटा गया। उसने सारी बात बता दी। उन्होंने कहा—ऐसे बोलो—ऐसा कार्य कभी मत हो। ऐसे कार्य का सदा वियोग रहे।

वहां से आगे बढ़ा। उसने देखा विवाह का आयोजन है। वह बोला—ऐसा कार्य कभी न हो। लोगों ने उसके अशुभ वचन सुनकर उसकी पीटाई की। उसने यथार्थ बात बता दी। लोगों ने उसे शिक्षा देते हुए कहा—कभी ऐसे अवसर देखो तो कहना—ऐसे दृश्य प्रतिदिन हो। बार-बार हों।

कुछ और आगे गया। देखा कि राजपुरुष एक कैदी को पकड़ कर ले जा रहे थे। वह बोला—ऐसे दृश्य हमेशा हो। लोगों ने समझाया, ऐसा नहीं बोलना चाहिए। ऐसा कहो—यह बंधन मुक्त हो जाए।

मार को सहन करते-करते वह नगर के निकट पहुंच गया। एक स्थान पर मित्र गोष्ठी कर रहे थे। उन्हें देखकर बोला—‘सब मुक्त हो जाएं। अलग-अलग हो जाएं।’ वे सब उसको पीटने लगे। वह रोता हुआ बोला—मुझे मत मारो। मुझे ऐसा ही बताया था। उसे छोड़ दिया।

नगर में जाकर वह दंडिकुलपुत्र के पास सेवा के लिए रह गया। एक बार दुर्भिक्ष पड़ा। कुलपुत्र की पत्नी ने खाटी राब रांधी। उसने उससे कहा—‘वे लोगों के बीच में बैठे हैं—उन्हें बुला लाओ। राब ठंडी हो रही है।’ वह गया और जोर से बोला—‘राब ठंडी हो रही है, चलो, जल्दी चलो।’ वह लोगों के बीच लज्जित हो गया। घर जाकर उसने उपालंभ दिया। कभी बुलाना हो तो एकांत में धीरे-से कान में कहना चाहिए। वह बोला—ठीक, आगे से ध्यान रखूंगा। कुछ दिन बाद घर पर आग लग गई। कुलपुत्र की पत्नी ने शीघ्र ही कुलपुत्र को बुला लाने के लिए भेजा। वह भाग कर गया और एकांत की प्रतीक्षा करने लगा। कुछ देर बाद एकान्त होने पर धीरे से कान में कहा—घर जल रहा है, जल्दी करो। जब वह घर पहुंचा तब तक घर काफी जलकर राख हो गया। उसने कहा—कभी आग लग जाए तो उसे पानी, गोबर, गोरस आदि से बुझाने का प्रयत्न करना चाहिए। यहां तक आने की जरूरत नहीं है। एक दिन कुलपुत्र गर्म पानी से स्नान कर धूपित हुआ। उसने देखा—धूआं निकल रहा है। उसने तत्काल गोबर, गोमूत्र आदि लाकर उस पर फेंका। कुलपुत्र ने रुष्ट होकर उसे निकाल दिया।

जो दूसरों को कहने योग्य को अन्यथा कहता है, वह अननुयोग है, सम्यक् बात कहना अनुयोग है।

८. श्रावक भार्या

एक श्रावक किसी स्त्री के रूप में आसक्त हो गया। पत्नी ने पूछा—आप उदास क्यों है? उसने सारी बात कह दी। वह बोली—आप चिन्ता न करें संध्या के समय उसे ले आऊंगी। पति आश्वस्त हो गया। वह उस स्त्री के घर गई। उसके कपड़े और आभूषण ले आई। सायं उसने स्वयं उन वस्त्रों को धारण किया। आभूषण पहनें। अब वह उस स्त्री की भांति दिखाई देने लगी। अंधकार हो गया। उसने उसके साथ भोग भोगा। दूसरे दिन उसे पश्चात्ताप हुआ। उसने अपनी पत्नी से कहा—‘मेरा व्रत खंडित हो गया।’ वह बोली—नहीं, आपका व्रत खंडित नहीं हुआ। वह स्त्री मैं ही थी दूसरी नहीं। उसने विश्वास दिलाया।

गा. १७२ वृ. पृ. ५४

९. साम्प्रदिक

किसी सीमान्त गांव में एक व्यक्ति था, जो किसी साधु और ब्राह्मणों को न सुनता और न उनकी सेवा करता और न उनको आवास—स्थान ही देता था। वह मानता था कि उनको सम्मान देने से वे मेरे घर आयेंगे, मुझे धर्म की बात कहेंगे। उनकी बात सुनकर मैं श्रद्धालु न हो जाऊं, अतः अच्छा है मैं उनसे दूर ही रहूँ। एक बार उस गांव में साधु आ गए। उन्होंने रहने के लिए स्थान मांगा। उस के मित्रों ने सोचा कि वह स्थान नहीं देता। वह भी इन साधुओं से छला जाए, ऐसा सोचकर उन्होंने साधुओं को उसका घर बताते हुए कहा—‘वह आपको स्थान अवश्य देगा क्योंकि वह तुम्हारा भक्त श्रावक है।’ साधु वहां गए। उन्होंने स्थान के लिए पूछा। परन्तु उसने साधुओं को कोई आदर नहीं दिया। तब एक साधु ने कहा—‘हम कहीं दूसरे के घर तो नहीं आ गए। हमें तो कहा गया था कि वह श्रावक ऐसा है, वैसा है। हम तो ठगे गए।’ यह सुनकर उस व्यक्ति ने सारी बात पूछी। उत्तर देते हुए मुनि ने कहा—‘अभी एक व्यक्ति ने आपके विषय में बहुत कुछ बताया था। इसलिए हम यहां आए हैं।’ यह सुनकर उसने सोचा—‘अकार्य हो गया। मैं भले ही ठगा जाऊं, पर साधुओं की कैसी प्रवंचना?’ उसने मुनियों से कहा—‘मैं आपको स्थान दे सकता हूँ, परन्तु आपको एक व्यवस्था रखनी होगी कि आप मुझे कभी धर्म का उपदेश नहीं देंगे।’ साधुओं ने कहा—ठीक है। उसने रहने के लिए साधुओं को स्थान दे दिया। चातुर्मास प्रारंभ हुआ।

वर्षावास संपन्न होने पर उस व्यक्ति ने धर्म पूछा। मुनियों ने धर्मवार्ता सुनाई। वह परित्याग करने में समर्थ नहीं हुआ। न वह मूलगुण—उत्तरगुण विषयक व्रत लेना चाहता था न मद्य-मांस और मधु की विरति ही करना चाहता था। तब मुनि बोले—‘तुम साम्प्रदिक व्रत ग्रहण करो अर्थात् जिसको तुम मारना चाहो, उसे मारने से पूर्व सात कदम पीछे हटने में जितना समय लगे उतने समय की प्रतीक्षा करना। यह व्रत उसने स्वीकार कर लिया। साधुओं ने जान लिया कि यह एक न एक दिन संबुद्ध होगा। साधु वहां से अन्यत्र चले गए।

एक बार वह चोरी करने घर से निकला। मार्ग में अपशकुन हो जाने के कारण वह वापस घर की ओर लौटा। चलते-चलते वह रात्रि में घर आया और मंद गति से घर में प्रवेश किया। उस दिन उसकी बहन वहां आई थी। वह पुरुषवेश में भाभी के साथ नृत्य देखने गई थी। देर रात से घर आने के कारण वह उसी वेश में भाभी के साथ सो गई। चोर घर पहुंचा और उसने देखा कि उसकी पत्नी किसी पर-पुरुष के साथ सो रही है। वह क्रोधित हो गया और मारने के लिए तलवार निकाली। इतने में ही गृहीत व्रत की स्मृति हो आई। सात कदम पीछे हटने जितने समय तक प्रतीक्षा की। इतने में ही बहिन की बाहु पर पत्नी का सिर आक्रान्त हुआ। बहिन की नींद उड़ गई। वह बोली—भाभी मेरी भुजा दुःखने लगी है, अतः तुम अपना सिर उठाओ। उसने अपनी बहिन का स्वर पहचान लिया। वह मन ही मन लज्जित हुआ और सोचने लगा कि मैंने पुरुषवेश में इसे पर-पुरुष मान लिया। यदि व्रत नहीं होता तो आज अनर्थ हो जाता। प्रतीक्षा करने के कारण अकरणीय से बच गया। वह संबुद्ध हो गया। उसकी ज्ञान चेतना जाग गई। पुनः मुनि को ढूंढ कर धर्म सुना और फिर उन्हीं के पास प्रव्रजित हो गया।

गा. १७२ वृ. पृ. ५५

१०. कोंकणक देश का बालक

कोंकणक देश में एक बालक था। उसके मां की मृत्यु हो गई। पिता ने बालक के कारण दूसरी शादी नहीं की। बालक के कारण कोई लड़की उससे शादी करना नहीं चाहती थी। एक दिन पिता-पुत्र दोनों काष्ठ लाने जंगल में गए। पिता ने सोचा—मुझे पुत्र के कारण कोई योग्य स्त्री नहीं मिल रही है। तो मुझे इसे मार देना चाहिए। यह सोच पिता ने बाण को दूर फेंका और पुत्र से कहा—‘बाण लाओ।’ वह दौड़ा। पिता ने पीछे से बाण फेंका और वह घायल हो गया। रोता हुआ बोला—मैं बाण से घायल हो गया। इतने में दूसरा बाण फेंका और वह मर गया।

गा. १७२ व. पृ. ५५

११. नेवला

एक गांव में एक लुटेरा रहता था। उसकी पत्नी गर्भवती हुई। उसके घर में मादा नेवला थी। संयोग से लुटेरे की पत्नी ने पुत्र को जन्म दिया और उसी दिन मादा नेवले ने प्रसव किया। लुटेरे की पत्नी ने सोचा कि यह नेवला मेरे पुत्र के मनोरंजन के लिए ठीक रहेगा। वह उसे दूध पिलाती, खाद्य पदार्थ भी देती। एक दिन वह बच्चे को मञ्चिका पर सुलाकर स्वयं धान्य कूटने के लिए बाहर गई। तभी एक सांप आया और मञ्चिका पर सोए हुए बालक को डस दिया। उसी समय बालक मर गया। नेवले ने सांप को मञ्चिका से उतरते हुए देखा तो उसने सांप के टुकड़े-टुकड़े कर डाले। रक्त से लिप्त मुंह से लुटेरे की पत्नी के पास जाकर चरणों में लुटने लगा। उसने रक्त लिप्त मुंह देखा तो सोचा इसने मेरे पुत्र को मार दिया। तब आवेश में मूसल से उस पर प्रहार किया और वह भी मर गया। वह भागती हुई घर में गई और देखा बच्चा मरा पड़ा है। पास में सांप के टुकड़े-टुकड़े पड़े हैं। सच्चाई को समझकर वह पश्चात्ताप करने लगी।

गा. १७२ व. पृ. ५६

१२. कमलामेला

द्वारिका में बलदेव का पुत्र सागरचन्द्र था। वह अत्यन्त रूपवान् था। सबके लिए इष्ट था। उसी नगरी के राजा की कन्या कमलामेला बहुत सुन्दर थी। उसका वाग्दान महाराज उग्रसेन के पोते धनदेव के साथ हुआ। एक दिन नारद सागरचन्द्र के पास आए। सागर ने उसका स्वागत किया और आसन प्रदान कर पूछा—‘भगवन्! कहीं आपने कुछ आश्चर्य देखा? नारद बोले—हां देखा है। ‘कहां और कैसा आश्चर्य देखा’—सागर ने पूछा। नारद बोले—यहीं द्वारिका नगरी में कमलामेला कन्या एक आश्चर्य है? सागर ने पूछा क्या उसका वाग्दान हो चुका है? हां, नारद ने कहा। किसके साथ? नारद ने बताया—उग्रसेन के पौत्र धनदेव के साथ। सागर बोला—क्या मेरा और उसका संबंध हो सकता है? वे बोले—मैं नहीं जानता। ऐसा कहकर नारद ऋषि चले गए। सागर नारद का कथन सुनकर खिन्न हो गया। वह न शांति से बैठ सकता था और न सो सकता था। अब वह एक फलक पर कमलामेला का काल्पनिक चित्र बनाकर उसके नाम की रटन लगाने लगा।

इधर नारद कमलामेला के पास पहुंचा। उसने भी पूछा—‘भंते! क्या आपने कोई नया आश्चर्य देखा?’ नारद बोले—हां, दो आश्चर्य देखे हैं। रूप में बलदेवपुत्र सागरचन्द्र और विरूपता में उग्रसेन पौत्र धनदेव। यह सुन वह सागरचन्द्र के प्रति अनुरक्त हो गई और धनदेव के प्रति विरक्त हो गई। उसने नारद से पूछा—क्या सागरचन्द्र मेरा पति हो सकता है? नारद ने उसे आश्वासन दिया कि मैं तुम्हारे साथ उसका संयोग कराऊंगा। वहां से नारद चलकर सागरचन्द्र के पास आए और कहा कमलामेला तुम्हें चाहती है। तुम्हारे प्रति अनुरक्त है।

सागरचन्द्र विक्षिप्त हो गया। तब उसकी माता तथा अन्यकुमार खिन्न हो गए। तभी शांब आया। उसने देखा सागरचन्द्र विलाप कर रहा है। तब शांब ने उसके पीछे जाकर उसकी दोनों आंखें अपनी हथेलियों से ढक दी।

सागरचन्द्र बोला—कमलामेला! शांब ने कहा—मैं कमलामेला नहीं, कमलामेल हूँ। सागरचन्द्र बोला—अच्छा अब तुम ही मुझे मिलाओगे। तब अन्य कुमारों ने शांब को मद्य पिलाया। वह मदिरा से मत्त हो गया तब उससे यह स्वीकृति ले ली कि वह कमलामेला से सागरचन्द्र को मिला देगा। शांब का नशा उतरा तब उसने सोचा—ओह! मैंने झूठा वादा कर लिया। क्या अब इससे इन्कार कर सकता हूँ? अब तो मुझे इसका निर्वाह करना होगा।

शांब ने प्रद्युम्न से प्रज्ञप्ति विद्या की मांग की। उसने विद्या दे दी। कमलामेला के विवाह के दिन अपनी विद्या से उसने कमलामेला का प्रतिरूप बनाकर रख दिया और कमलामेला का अपहरण कर रेवती उद्यान में ले आया। वहाँ दोनों का विवाह हो गया। सागरचन्द्र और कमलामेला दोनों क्रीड़ा रत हो गए। इधर विद्या से बनी कमलामेला की प्रतिकृति विवाह होने पर अट्टहास करती हुई आकाश में उड़ गई। यह देखकर सभी क्षुब्ध हो गए। कमलामेला का अपहरण किसने किया? यह कोई नहीं जानता था। इतने में नारद ऋषि आए। उनसे पूछा तो वे बोले—‘मैंने उसे रेवती उद्यान में देखा है। किसी विद्याधर ने अपहरण किया है।’ सेना लेकर कृष्ण वहाँ पहुँचे। शांब विद्याधर का रूप बना कर युद्ध करने लगा। सारे राजाओं को पराजित कर दिया। तब स्वयं कृष्ण युद्ध के लिए तत्पर हो गए। शांब ने सोचा पिताश्री रुष्ट न हो जाए। वह उनके चरणों में गिर गया। कृष्ण ने आलिंगन किया। शांब बोला—मैंने इसे गवाक्ष से आत्महत्या करती हुई देखा अतः अपहरण किया। कृष्ण ने उग्रसेन को समझाया।

वे भोग भोगते हुए समय व्यतीत कर रहे थे। उन्हीं दिनों भगवान् अरिष्टनेमि पधारे। सागरचन्द्र और कमलामेला ने भगवान् के पास धर्म सुनकर अणुव्रत स्वीकार किया। सागरचन्द्र अष्टमी, चतुर्दशी को शून्यघर या श्मशान में एक रात्रि की प्रतिमा करने लगा।

यह बात धनदेव को ज्ञात हुई। उसने ताम्बे की तीक्ष्ण सुइयों का निर्माण करवाया। शून्यगृह में प्रतिमा में स्थित सागरचन्द्र की बीसों अंगुलियों, नखों में सुइयाँ ठोक दीं। उसने वेदना को समभाव से सहन किया। वह मरकर देवरूप में उत्पन्न हो गया। दूसरे दिन मृत्यु के कारणों की खोज की। खोजते हुए सागरचन्द्र के बीसों अंगुलियों के नखों में तांबे की सुइयाँ देखीं। ताम्बे कूटने वाले से ज्ञात हुआ कि सुइयाँ धनदेव ने बनवाई थीं। उसकी खोज करवाई। दोनों सेना में युद्ध प्रारंभ हुआ। तब सागरचन्द्र देव ने दोनों को उपशांत किया। कमलामेला ने भगवान् के पास दीक्षा ग्रहण कर ली।

गा. १७२ वृ. पृ. ५६

१३. शाम्ब का साहस

जाम्बवती ने कृष्ण से कहा—मैंने मेरे पुत्र शाम्ब का आचरण गलत नहीं देखा। कृष्ण ने कहा—मैं तुम्हें आज उसके आचरण को दिखाऊंगा। जाम्बवती ने आभीरी और कृष्ण ने आभीर का रूप बनाया। दोनों द्वारिका में छाछ बेचने निकले। शाम्ब ने आभीरी को देखा और बोला—आओ, मैं छाछ खरीदूंगा। आभीरी उसके पीछे-पीछे चलने लगी। शाम्ब ने एक देवकुल में प्रवेश किया। आभीरी को भी अन्दर आने का आग्रह करने लगा। उसने कहा—मैं अन्दर नहीं आऊंगी। तुम छाछ लो और मूल्य दे दो। आभीरी ने जब अन्दर जाने से आनाकानी की तो शाम्ब उसका हाथ पकड़ खींचने लगा। इतने में दौड़ता हुआ आभीर वहाँ आ गया। वह शाम्ब के साथ युद्ध करने लगा। अन्त में आभीर कृष्ण के रूप में और आभीरी जाम्बवती के रूप में प्रगट हो गई। यह देख शाम्ब लज्जा से मुंह छिपाकर भाग गया।

दूसरे दिन शाम्ब कीलों का निर्माण कर रहा था। वासुदेव ने पूछा—क्या कर रहे हो? वह बोला कीलें बना रहा हूँ। कल की घटना के विषय में यदि कोई कुछ कहेगा तो मैं उसके मुंह में कील ठोक दूंगा।

गा. १७२ वृ. पृ. ५७

१४. श्रेणिक

राजगृह में राजा श्रेणिक राज्य कर रहा था। उसकी रानी का नाम चेलना था। एक बार भगवान् महावीर राजगृह पधारे। राजा श्रेणिक और रानी चेलना वंदना कर विकाल वेला में लौट रहे थे। माघ मास का समय था। उसने रास्ते में एक प्रतिमाप्रतिपन्न मुनि को देखा। उस रात्रि में रानी चेलना का हाथ रजाई से बाहर आ गया। ठंड बढ़ी, उसका हाथ सुन्न हो गया। वह जाग गई, तब उसने अपना हाथ भीतर खींच लिया। हाथ के कारण पूरा शरीर ठंड से कांपने लगा। तब उसके मुंह से निकला—वह क्या करता होगा? श्रेणिक ने यह वाक्य सुना और वह सोचने लगा कि यह रानी द्वारा सांकेतिक पर पुरुष है। राजा रुष्ट हो गया। दूसरे दिन उसने अभय से कहा—अन्तःपुर को शीघ्र जला दो। आज्ञा देकर श्रेणिक भगवान् के पास गया। अभय ने पुरानी हस्तिशाला में आग लगा दी। श्रेणिक ने भगवान् से पूछा—भंते! चेलना एक पति वाली है या अनेक पति वाली। भगवान् बोले—एक पति वाली। यह सुनते ही श्रेणिक शान्त हुआ। अभय अन्तःपुर न जला दे, इसलिए शीघ्रता से वंदना कर महल की ओर लौटा। अभय मार्ग में ही मिल गया। श्रेणिक ने पूछा—क्या आग लगा दी? वह बोला—हां! तब श्रेणिक ने व्याकुल होकर कहा—तुम अग्नि में प्रविष्ट क्यों नहीं हो गए? अभय बोला राजन्! मैं क्यों आग में प्रवेश करूं? मुझे तो दीक्षा ग्रहण करनी है। आप अनुमति प्रदान करें। श्रेणिक ने कहा ठीक है ले लो दीक्षा। फिर अभय बोला—राजन्! अन्तःपुर नहीं जलाया, पुरानी हस्तिशाला जलाई है। तब श्रेणिक शान्त हुआ।

गा. १७२ वृ. पृ. ५७

१५. उंडिका पत्रक

राजा की सेवा में तीन व्यक्ति थे। राजा उनकी सेवा से बहुत प्रसन्न हुआ। राजा ने प्रत्येक को एक-एक गांव की बख्शीस की। उनमें से एक व्यक्ति नगर के राजपुरुष के पास गया, मुद्रा रहित पत्र उसे दिखाया। दूसरा व्यक्ति पत्र लेकर गया किन्तु उस पर केवल मुद्रा थी। तीसरा व्यक्ति मुद्रा सहित पत्र ले गया। जिसमें गांव दिए जाने का निर्देश भी था। राजपुरुष ने तीनों के पत्र देखे। पहले व्यक्ति से कहा तुम्हारे पास पत्र है किन्तु इस पर मुद्रा नहीं है, अतः मैं तुम्हें गांव नहीं दे सकता। दूसरे से कहा—इस पत्र पर केवल मुद्रा है किन्तु इस पर लिखा हुआ कुछ नहीं है? अतः मैं तुम्हें भी कुछ नहीं दे सकता। तीसरे से कहा—इस पत्र पर मुद्रा भी है और निर्देश भी। इसलिए मैं तुम्हें गांव दे सकता हूं।

गा. १९५ वृ. पृ. ६३

१६. चार मंखपुत्र

चार मंख थे। उनमें से एक मंख फलक लेकर गांव में घूमता। न गाथा का उच्चारण करता और न अर्थ का कथन करता। उसे कुछ प्राप्त नहीं हुआ। दूसरा न फलक ग्रहण करता और न अर्थ का कथन करता, केवल पाठ का उच्चारण करता। वह भी लाभ प्राप्त नहीं कर सका। तीसरे मंख ने न फलक ग्रहण किया, न गाथा का उच्चारण किया और केवल अर्थ का कथन करता। वह भी लाभ से वंचित रहा। चौथे मंख ने फलक ग्रहण किया व गाथा का और अर्थ का उच्चारण भी करता। उसे लाभ प्राप्त होता था। पहले तीन मंख अपने कुटुम्ब का पोषण नहीं कर सके। केवल चौथा मंख ही अपने कुटुम्ब का भरण-पोषण करने में समर्थ हुआ।

गा. २०० वृ. पृ. ६५

१७. कालकाचार्य

एक बार विहरण करते हुए आचार्य कालक का पदार्पण अवन्ति में हुआ। उस समय वे वृद्धावस्था में थे और अपने शिष्य वर्ग को अत्यंत जागरुकता के साथ आगम वाचना देते थे। उनके जैसा उत्साह उनके शिष्य वर्ग में नहीं था। सभी शिष्य आगम-वाचना ग्रहण करने में अत्यंत उदासीन थे। अपने शिष्यों के इस प्रमादयुक्त व्यवहार से आचार्य कालक खिन्न हो गए। वे उनको शिक्षा देने की दृष्टि से शय्यातर के पास जाकर बोले—‘मैं अपने अविनीत शिष्यों को छोड़कर, इन्हें बिना सूचित किए सुवर्णभूमि में स्थित आर्य सागर के पास जा रहा हूं। किन्तु मेरे चले जाने की सूचना उन्हें मत देना। वे आग्रह पूर्वक पूछे तब सरोष स्वरो में बताना।’ शय्यातर को अच्छी तरह समझाकर गुप्त रूप से उन्होंने वहां से विहार कर दिया।

वे सुदूर सुवर्णभूमि में आर्य सागर के पास पहुंचे। आगम वाचनारत आर्य सागर ने उन्हें सामान्य वृद्ध साधु जानकर अभ्युत्थान आदि द्वारा उनका आदर नहीं किया। अर्धपौरुषी के समय आर्य सागर ने अपने सम्मुख बैठे हुए उस वृद्ध साधु से पूछा—वृद्ध! मेरा कथन समझ में आ रहा है? आचार्य कालक ने हां कहकर स्वीकृति दी। आर्य सागर सगर्व बोले—वृद्ध! एकाग्रता से सुनो। वे गंभीर मुद्रा में बैठ गए। आर्य सागर अनुयोग देने में प्रवृत्त हुए।

उधर अवन्ति में आचार्य कालक के शिष्यों ने देखा उनके बीच आचार्य नहीं है। उन्होंने इधर-उधर खोज की पर वे नहीं मिले। तब शिष्यों ने शय्यातर से पूछा—आचार्य कहां गए? आग्रहपूर्वक पूछने पर कठोर शब्दों में शिष्यों से कहा—आप जैसे अविनीत शिष्यों की अनुयोग ग्रहण करने में आलस्य के कारण खेदखिन्न हुए आचार्य कालक सुवर्णभूमि में आर्य सागर के पास गए हैं। शय्यातर के कटु उपालम्भ से लज्जित, उदासीन शिष्यों ने तत्काल वहां से सुवर्णभूमि की ओर विहार कर दिया। विशाल श्रमणसंघ को विहार करते देख लोग प्रश्न करते कौन से आचार्य जा रहे हैं? शिष्य कहते—आचार्य कालक।

श्रावकवर्ग ने आर्य सागर से निवेदन किया—विशाल परिवारसहित आचार्य कालक पधार रहे हैं। अपने दादा गुरु के आगमन की बात सुनकर उन्हें अत्यंत प्रसन्नता हुई। पुलकित होकर आर्य सागर ने अपने शिष्यों को दादा गुरु के आगमन की सूचना दी और कहा—मैं उनसे गंभीर प्रश्न पूछकर समाहित हो जाऊंगा।

शीघ्र गति से चलते हुए आचार्य कालक के शिष्य सुवर्णभूमि में पहुंचे और आर्य सागर के अग्रवर्ती शिष्यों से पूछा—आचार्य कालक यहां पधारे हुए हैं? उत्तर मिला एक वृद्ध श्रमण के अतिरिक्त यहां कोई नहीं आया। कौन वृद्ध? तत्पश्चात् नवागंतुक श्रमणसंघ द्वारा अभिवांदिता होते देखकर आर्य सागर ने अपने दादा गुरु आचार्य कालक को पहचाना। उन्हें अपने द्वारा कृत अविनय के कारण लज्जा की अनुभूति हुई। आर्य सागर ने कहा—मैंने बहुत प्रलाप किया है, वंदना करवा कर क्षमाश्रमण की आशातना की है, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो, फिर विनम्र स्वरो में पूछा—क्षमाश्रमण! क्या मैं अनुयोग वाचना उचित प्रकार से दे रहा था? आचार्य कालक ने धूलिपुंज के उपमा से बताया—तुम्हारा अनुयोग सम्यक् है पर गर्व मत करना।

ज्ञान अनन्त है जैसे मुष्टि-भर धूलि राशि को एक स्थान से दूसरे स्थान पर एवं दूसरे स्थान से तीसरे स्थान पर रखते-रखते समय वह न्यून से न्यूनतर होती जाती है, वैसे ही तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित अर्थ गणधरो को, गणधरो से आचार्य परम्परा को यावत् हम आचार्यों-उपाध्यायों को प्राप्त हुआ है। कौन जाने किस अनुयोग के कितने पर्याय गलित हो गए? अतः गर्व मत करना। आर्य सागर ने कहा—मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। तब आचार्य कालक शिष्य-प्रशिष्यों को अनुयोग देने से प्रवृत्त हुए।

१८. गणिका

एक गणिका चौसठ कलाओं में प्रवीण थी। आगंतुकों का अभिप्राय जानने के लिए उसने अपनी चित्रसभा में मनुष्य जाति के जातिकर्म शिल्प, कुपित-प्रसादन आदि से संबंधित अपने-अपने व्यापार में प्रवृत्त व्यक्तियों के चित्र आलेखित करवाए। जो कोई व्यक्ति वहां आता, अपने व्यापार की प्रशंसा करता, अच्छे-बुरे चित्र की समीक्षा करता, उसके आधार पर वह अंकन कर लेती कि कौन व्यक्ति किस श्रेणी का है, कैसे स्वभाव वाला है और फिर उसके प्रति अनुकूल आचरण कर उसे प्रसन्न कर पर्याप्त धन प्राप्त कर लेती।

गा. २६२ वृ. पृ. ८०

१९. ब्राह्मणी

एक ब्राह्मणी थी। वह चाहती थी कि विवाह के बाद मेरी तीनों पुत्रियां सुखी रहें। ऐसी व्यवस्था करने के लिए उसने अपनी पुत्रियों से कहा—आज तुम पहली बार ससुराल जा रही हो। जब तुम्हारा पति घर में आए तो कोई गलती बताकर उसके सिर पर अपनी एड़ी से प्रहार करना फिर उसकी प्रतिक्रिया मुझे बताना।

पहली पुत्री ने अपने पति के सिर पर पाद प्रहार किया। पति ने उसके पांव को सहलाते हुए कहा—‘मेरे कठोर सिर से तुम्हारे कोमल पांव में पीड़ा तो नहीं हुई?’ इस घटना चक्र को सुनकर मां ने कहा—‘बेटी! वह दास बनकर रहेगा।’

दूसरी पुत्री ने प्रहार किया तो उसका पति थोड़ा सा गुस्सा कर शान्त हो गया। इस स्थिति को सुनकर मां ने कहा—‘तुम भी थोड़ी सी सावधानी के साथ इच्छानुसार घर में रहो।’

तीसरी पुत्री के पति आहत होने पर रुष्ट हो गया, उसे पीटा और उठकर चला गया। इस घटना चक्र को सुनकर मां ने कहा—‘बेटी! यह उत्तम है। तुम जागरुकता से देवता की भांति उसकी सेवा करो।’ यह निर्देश देकर मां जामाता के पास गई और बोली—‘यह हमारी कुल की परम्परा है, अन्यथा वह तुम्हारे प्रति ऐसा व्यवहार कैसे कर सकती है?’ ऐसा कहकर उसे प्रसन्न किया।

गा. २६२ वृ. पृ. ८०

२०. अमात्य

एक राजा शिकार के लिए जा रहा था। रास्ते में अश्व ने प्रस्रवण किया। लौटते समय राजा ने उस स्थान को देखा, वहां प्रस्रवण सुखा नहीं स्थिर हो गया। राजा के मन में आया, यहां तालाब हो तो अच्छा रहे। मंत्री ने राजा के अन्तर्मन की बात जान ली और वहां तालाब खुदवा दिया। तट पर वृक्ष लगा दिए।

एक दिन राजा उधर से गुजरा, वहां तालाब देख कर मंत्री से पूछा—यह तालाब किसका है? मंत्री ने कहा—आपका। राजा ने कहा—कैसे? मंत्री ने उस दिन की सारी बात बताई। राजा मंत्री पर बहुत प्रसन्न हुआ। उसने उसका वेतन बढ़ा दिया।

गा. २६२ वृ. पृ. ८०

२१. स्त्री

एक स्त्री का पुत्र बीमार था। वह वैद्य के पास गई, औषधी ले आई। उसने सोचा औषधी कड़वी व तिक्त है अतः पुत्र को पीड़ा न हो। यह सोचकर उसने आधी मात्रा में पुत्र को औषधी दी। वह स्वस्थ नहीं हुआ और मर गया।

एक स्त्री का पुत्र बीमार हुआ। वह वैद्य के पास गई। औषधी लाई और यह सोचकर कि पुत्र जल्दी स्वस्थ हो जाए अतः उसने अधिक मात्रा में पुत्र को औषधी दे दी। वह स्वस्थ नहीं हुआ अपितु मर गया।

गा. २८९ व. पृ. ८७

२२. अभय

एक बार भगवान् राजगृह नगर में समवसृत हुए। वहां एक विद्याधर भगवान् को वंदना करने आया। वह वंदना कर लौटने लगा तब विद्या के कुछ अक्षर भूल गया। जैसे ही वह ऊपर उठने का प्रयत्न करता वह नीचे आ जाता। तब अभय को लगा कि विद्याधर ऊपर उठने वाली विद्या के कुछ अक्षर भूल रहा है। अभय ने उसकी इस स्थिति को देखा। उसके पास गया और पूछा क्या हुआ? उसने कहा—मैं विद्या के कुछ अक्षर भूल रहा हूं इसलिए ऊपर नहीं उठ सकता। अभय ने कहा—तुम मुझे एक पद बता दो मैं तुम्हें पूरी विद्या बता सकता हूं। उसने एक पद सुनाया, तब पदानुसारिणी लब्धिसम्पन्न अभय ने उसे पूरा पद्य बता दिया। वह अपने स्थान पर चला गया।

गा. २९१ व. पृ. ८८

२३. अशोक और कोणिक

पाटलीपुत्र के राजा अशोक का एक पुत्र कुणाल था। उसे बचपन में ही अवन्ति का राज्य दे दिया गया। अशोक से निवेदन किया कि कुमार अध्ययन के योग्य हो गया है। राजा ने पत्र लिखा—**कुमारं अधीयताम्**। राजा के पास कुणाल की विमाता बैठी थी। उसने राजा से पत्र मांगा और अपने चातुर्य से शलाका के द्वारा अञ्जन से अकार पर अनुस्वार कर दिया। **अधीयताम्** की जगह **अंधीयताम्** हो गया। पुनः राजा को पत्र दे दिया। राजा ने पत्र को देखा नहीं। पत्रवाहक के साथ पत्र प्रेषित कर दिया। जब वह वहां पहुंचा तो कुमार ने कहा—लाओ, पत्र में क्या लिखा है? कुमार ने स्वयं पत्र पढ़ा। पत्र पढ़ते ही कुमार ने चिंतन किया—मैं मौर्यवंश का हूं। इसमें जनमा अप्रतिहत आज्ञा वाला होता है, मैं अप्रतिहत आज्ञा वाला हूं। क्या मैं पिता की आज्ञा का अतिक्रमण करूंगा? नहीं, उसने तत्काल तप्तशलाका ली और आंखों में आंज ली। वह अंधा हो गया। अशोक को ज्ञात हुआ तो वह बहुत दुःखी हुआ। उसने अवन्ति का राज्य कुमार को दे दिया तथा कुणाल को अन्य गांव दे दिया।

समय व्यतीत हुआ। कुणाल की पत्नी गर्भवती हुई। उसने पुत्र को जन्म दिया। कुणाल गन्धर्वगान में अति निपुण था। एक बार अशोक की नगरी में मधुर गीत गाता हुआ घूम रहा था। उसके मधुर गीत सुनकर अशोक ने गीत सुनने के लिए उसे बुलवाया—वह वहां आया और परदे के पीछे रहकर गीत गाने लगा। राजा गीत सुनकर बहुत आकृष्ट हुआ। राजा ने कहा—मांगों क्या चाहते हो? कुणाल बोला—एक काकिणी। राजा ने कहा बस इतना ही। तुम्हारा परिचय क्या है? वह बोला—मैं चन्द्रगुप्त का प्रपौत्र बिन्दुसार का पौत्र और अशोक का पुत्र हूं। राजा ने तत्काल परदा हटवाया और कुणाल को गले लगा लिया। आंखों से अश्रुधारा बह चली।

अशोक ने कहा—तुम क्या चाहते हो? कुणाल बोला—मैं एक काकिणी की याचना करता हूं। उसी वक्त अमात्य बोला—राजन्! राजपुत्र के लिए राज्य ही काकिणी है। राजा ने कहा—तुम देख नहीं सकते हो, राज्य का क्या करोगे? कुणाल ने निवेदन किया—मेरे अभी पुत्र जन्मा है उसका नाम संप्रति कर दिया। अशोक ने उसे राज्य दे दिया।

गा. २९२-२९४ व. पृ. ८९

२४. वानर

कामिक सरोवर में तट पर एक विशाल काय अशोक वृक्ष था। उस वृक्ष की विशेषता थी कि उस वृक्ष से जो भी सरोवर में छलांग लगाता, उसका रूप परिवर्तित हो जाता था। तिर्यच मनुष्य के रूप में बदल जाता और मनुष्य देव बन जाता। दूसरी बार छलांग लगाने पर वह अपनी मूल स्थिति को प्राप्त हो जाता। एक बार एक वानर युगल वहां पानी पीने आया हुआ था। उसने भी यह बात सुनी लेकिन अधूरी बात सुनी। दोनों ने परस्पर चिंतन कर सरोवर में छलांग लगा दी। गिरते ही दोनों सुन्दर मानव युगल बन गए। वानर के मन में लोभ जाग गया। उसने सोचा—दूसरी बार छलांग लगाऊंगा तो देव बन जाऊंगा। पत्नी के रोकने पर भी वह अपने लोभ का संवरण नहीं कर सका और कूद पड़ा। परिणाम यह आया वह पुनः बन्दर बन गया। इधर बंदरी को रूपवती स्त्री देखकर राजपुरुष पकड़कर ले गए। वह राजा की पत्नी बन गई। उस बंदर को मदारी ले गया। वह उसे खेल सिखाने लगा। एक दिन घूमता हुआ वह उसी नगर में आया। मदारी ने राजा के सामने वानर के करतब दिखाए। वानर ने रानी को देखा और पूर्व प्रेम जागृत हो गया। रानी ने भी बंदर को देखा और वह बोली—वानर! अब जिस स्थिति में हो, उसी का सम्यक् रूप से पालन करो।

गा. २९५ वृ. पृ. ८९

२५. खीर

एक जुलाहे की पत्नी ने खीर बनाने के लिए दूध को गर्म किया। जैसे-जैसे उबाल आता जैसे-जैसे वह दूध में अन्न डालती गई। मन में यही कल्पना करती रही कि यह खीर ही बनेगी। ऐसा चिंतन करती हुई उसने चवला, तंदुल, मूंग, तिल आदि अनेक प्रकार के धान्य उसमें डाल दिए। सारी वस्तुएं भी नष्ट हो गईं और खीर भी नहीं बनी।

गा. २९६ वृ. पृ. ९०

२६. माला

एक आभीरी नगर में अपनी सखी के पास गई। (वह वणिक् की पत्नी थी) वह हार पिरो रही थी। उसने कहा लाओ, मैं पिरो देती हूं। उसने उसे दे दिया। आभीरी ने कभी हार नहीं पिरोया था। अज्ञानतावश उसने हार को व्यवस्थित नहीं पिरोया, वणिक् पत्नि क्रोधित होकर बोली—दुष्टे! तुमने मेरे हार का विनाश कर दिया। यह ठीक नहीं किया।

गा. २९६ वृ. पृ. ९०

२७. मुद्गशैल

एक बार मुद्गशैल और पुष्करावर्त मेघ के परस्पर विवाद हो गया। मुद्गशैल बोला—हे पुष्करावर्त! तुम तिल मात्र भी मुझे खंडित नहीं कर सकते। यदि तिल मात्र भी खंडित करो तो मैं तुम्हें सही रूप में पुष्करावर्त मेघ मानूंगा। वह बोला अहंकार मत करो, तुम मेरी एक धार को भी सहन कर सकोगे तो मैं तुम्हें मुद्गशैल मानूंगा। ऐसा कहकर वह मुष्टि प्रमाण धारा से बरसने लगा। लगातार सात दिन-रात तक बरसता रहा। फिर उसने सोचा कि अब तो मुद्गशैल नष्ट हो गया होगा लेकिन निरन्तर जलप्रपात के कारण उस पर जमी धूल आदि के साफ होने से वह ओर ज्यादा चमकने लगा। तिल मात्र भी खंडित नहीं हुआ। पुष्करावर्त मेघ को देखकर वह जोर से बोला—तुमने कहा—उसका क्या हुआ? वह मेघ लज्जित होकर चला गया।

गा. ३३४ वृ. पृ. १०१

२८. भेरी

द्वारिका नगरी में वासुदेव के पास तीन प्रकार प्रकार की भेरियां थीं—कौमुदिकी, सांग्रामिकी और दुर्भूतिकी। तीनों ही गोशीर्ष चन्दनमयी थी और देव परिगृहीत थी। वासुदेव के पास चौथी भेरी थी, जो अशिव का उपशमन करने में समर्थ थी। उसकी प्राप्ति का वृत्तान्त इस प्रकार है—

एक बार इन्द्र ने देव सभा में वासुदेव का गुणोत्कीर्तन करते हुए कहा—‘अहो! कृष्ण सबके गुणों का ग्रहण करते हैं, किसी के अवगुण ग्रहण नहीं करते तथा अधम से युद्ध नहीं करते। देव सभा में उपस्थित एक देव ने इन्द्र के कथन पर विश्वास नहीं किया। वह परीक्षा करने वासुदेव के पास आया। उस समय वासुदेव भगवान् अरिष्टनेमि को वंदना करने के लिए प्रस्थित हो रहे थे। देवता मरे हुए सड़े-गले, दुर्गन्धयुक्त एक काले कुत्ते का रूप बनाकर मार्ग के पास लेट गया। उसकी दुर्गन्ध से पूरे स्कन्धावार ने मार्ग बदल दिया। तब वासुदेव ने पूछा तो बताया गया कि मार्ग के पास दुर्गन्धयुक्त कुत्ते का कलेवर पड़ा है इसलिए अन्य मार्ग से जा रहे हैं। वासुदेव ने मार्ग नहीं छोड़ा, वे उसी मार्ग पर चले। मार्ग में कुत्ते का कलेवर देखकर उन्होंने न मुंह ढंका और न मुंह बिगाड़ा। वे तत्काल बोले—काले वर्ण के कुत्ते पर सफेद वंतपंक्ति कितनी सुन्दर लग रही है। देवता ने सोचा—‘वास्तव में वासुदेव गुणग्राही हैं।’

उस देवता ने वासुदेव के अश्वरत्न का अपहरण कर लिया। शाम्ब आदि अनेक कुमार उसके पीछे दौड़े। देवता ने उन्हें हत-प्रतिहत कर दिया। तब वासुदेव स्वयं अश्वरत्न लेने गए। उस देवता से कहा—तुम अश्व ले जा रहे हो। देव बोला—यदि अश्व लेना चाहते हो तो पहले मुझे पराजित करो। वासुदेव बोले—‘ठीक है, पर हम युद्ध कैसे करें? वह बोला ‘पुएहिं’ पुतयुद्ध। कृष्ण ने कहा—मैं अधम प्रकार का युद्ध नहीं करूंगा। मैं पराजित हुआ, तुम अश्व ले जाओ। देवता संतुष्ट हुआ और बोला—इन्द्र ने सत्य कहा, देव सभा की सारी वार्ता वासुदेव को बताई और वर मांगने को कहा। तब कृष्ण ने अशिवोपशमिनी भेरी मांगी। देवता ने भेरी दे दी। उसने कहा—जहां तक इस भेरी का शब्द सुनाई देगा, वहां तक छह मास तक कोई रोग पैदा नहीं होगा और पूर्व उत्पन्न रोग अतिशीघ्र ही नष्ट हो जायेगा। ऐसा बताकर वह अन्तर्धान हो गया।

गा. ३५७, ३५८ वृ. पृ. १०७

२९. भेरीपालक

एक बार एक महर्द्धिक वणिक् भेरीपालक के पास आया। वह शिरोवेदना से पीड़ित था। वैद्य ने उसे गोशीर्ष चंदन लगाने को कहा। उसने भेरीपालक से कहा—तुम बहु मूल्य ले लो और मुझे भेरी का एक टुकड़ा दे दो। उसने लोभ में आकर भेरी का टुकड़ा उसे दे दिया और भेरी के चन्दन का दूसरा टुकड़ा लगा दिया। अनेक बार ऐसे करने से भेरी कंथा बन गई। फिर उसे बजाते तो रोग नष्ट नहीं होते। नगर में बहुत लोग रोग से पीड़ित हो गए। कृष्ण ने भेरी बजायी तो उसका शब्द सुनायी नहीं दिया। तब भेरी को देखा कि वह कंथा बनी हुई थी। तब कृष्ण ने सपरिवार भेरीपालक का शिरोच्छेद कर दिया। पुनः तेल कर देवाराधना की और भेरी प्राप्त कर उसकी रक्षा के लिए अन्य निर्लोभी भेरीपालक को रखा।

गा. ३५९ वृ. पृ. १०७

३०. आभीर दंपति (१)

एक आभीर अपनी पत्नी के साथ शकट में घी के घड़े लेकर नगर में बेचने गया। अन्य आभीर भी उसके साथ घी बेचने गए। आभीर गाड़ी के ऊपर और आभीरी गाड़ी के नीचे खड़ी थी। आभीर घी के घड़े उठाकर आभीरी को देता और वह उसे भूमि पर रख देती। लेने या देने में प्रमाद होने पर एक घड़ा हाथ से छूटा और फूट गया। आभीरी बोली—तुमने पहले घड़ा क्यों छोड़ा? वह बोला—तुमने ठीक से पकड़ा क्यों नहीं? दोनों एक दूसरे

पर दोषारोपण करने लगे। आभीर को गुस्सा आया, वह नीचे उतर कर आभीरी को पीटने लगा। परस्पर लड़ाई-झगड़े के कारण बचा हुआ घी बिखर गया। कुछ कुत्ते चाट गए और कुछ जमीन सोख गई। शेष बचे घी को बेचने में ज्यादा परिश्रम करना पड़ा। इधर अन्य आभीर घी बेचकर अपने-अपने गांव की ओर प्रस्थान कर गए। पीछे से यह आभीर अकेले चला, रास्ते में चोरों ने लूट लिया।

गा. ३६१ वृ. पृ. १०८

३१. आभीरी दंपति (२)

एक आभीर अपनी पत्नी के साथ शकट में घी के घड़े लेकर नगर में बेचने गया। अन्य आभीर भी उसके साथ घी बेचने गए। आभीर गाड़ी के ऊपर और आभीरी गाड़ी के नीचे खड़ी थी। लेने या देने में प्रमाद हो जाने पर एक घड़ा हाथ से छूटा और फूट गया। आभीरी बोली—दोष मेरा है, तुम्हारा नहीं। मैंने ठीक से पकड़ा नहीं। आभीर बोला—नहीं, नहीं, दोष मेरा है, तेरा नहीं। मैंने ही जल्दी छोड़ दिया। आभीर तत्काल नीचे उतरा। दोनों ने जल्दी-भूमि पर गिरे घीयुक्त मिट्टी को एकत्रित किया। गर्म पानी में उस मिट्टी को डाला। घी ऊपर आ गया और मिट्टी नीचे जम गई। घी इकट्ठा किया और बेच दिया। अन्य आभीरों के साथ वे अपने गांव चले गए। चोर भी नहीं मिले और घी का पूरा-पूरा मूल्य आ गया।

गा. ३६२ वृ. पृ. १०८

३२. वैयाकरण

एक पुरुष व्याकरण के कुछ सूत्रों को पढ़कर सीमावर्ती गांव में गया। वहां के लोगों से कहा—मैं वैयाकरण हूँ। ग्रामीण लोगों ने उसे गांव में रख लिया और अच्छी वृत्ति देने लगे। वह सुखपूर्वक रहने लगा। एक बार अपने शिष्यों सहित एक दूसरा वैयाकरण वहां आया। ग्रामवासियों ने शिष्यों से पूछा—कौन आये हैं? वे बोले—वैयाकरण। ग्रामवासी बोले—हमारे यहां भी एक वैयाकरण है। उसके साथ शब्द संगोष्ठी करो। उन्होंने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। सब एकत्रित हो गए। संगोष्ठी प्रारंभ हुई। पहले वैयाकरण ने पूछा—काग किसे कहते हैं? वह बोला—काक। पूर्व वैयाकरण बोला इसमें व्याकरण की क्या विशेषता है? अन्य लोग भी काक ही कहते हैं। मैं क्रीकाक कहता हूँ। ग्रामीण हर्षित हुए और अपने वैयाकरण को उत्कृष्ट माना। उसकी जीत हो गई और आगंतुक वैयाकरण की पराजय हो गई। आगन्तुक वैयाकरण रुष्ट होकर नगर में गया। वहां के भोजिक से सारी बात कही। उसने उस वैयाकरण को बुलाया और उसे तिरस्कृत कर गांव से निष्काशित कर दिया।

गा. ३७२ वृ. पृ. ११०

३३. वैद्यपुत्र

एक वैद्य राजकुल में सेवा के लिए नियुक्त था। अचानक उसकी मृत्यु हो गई। राजा ने पूछा—क्या वैद्य के कोई पुत्र है? उत्तर मिला—हां, पर अशिक्षित है। राजा ने निर्देश दिया, उसे विद्या सिखाओ? शिक्षित बनाओ। वह पढ़ने के लिए अनन्यत्र गया। वहां किसी वैद्य के पास विद्या सिखाना प्रारंभ की।

एक बार उसने देखा एक बकरी सामने चर रही थी। उसके गले में ककड़ी फंस गई। बकरी को वैद्य के पास लाया गया। वैद्य ने पूछा—बकरी कहां चर रही थी? उत्तर मिला कि घर के सामने चर रही थी। वैद्य अनुभवी था, उसने सोचा जरूर ककड़ी फंस गई है। उसने वस्त्र से गले को बांधकर खींचा, ककड़ी के टुकड़े हो गए और नीचे उतर गई।

वैद्य पुत्र ने यह सब देखा, उसने सोचा—बस! यही है वैद्य का रहस्य। वह राजा के पास चला गया। राजा ने पूछा—क्या विद्या पूर्ण हो गई। वह बोला—हां! राजा ने सोचा—अतिशीघ्र ही इसने आयुर्वेद सीख ली। लगता है यह बहुत मेधावी है। राजा ने उसका सम्मान किया।

एक दिन महारानी के गले में गांठ हो गई। वैद्य को बुलाया गया। उसने रानी को देखा और पूछा कहां चर रही थी? कोई बोला—पुरोहड़ में! राजा ने सोचा—यह कोई वैद्य का रहस्य होगा। वैद्य ने रानी के गले को साड़ी से आवेष्टित कर खींचा। रानी मर गई। बाद में राजा ने अन्य वैद्यों को बुलवाया और पूछा, उन्होंने कहा—‘शास्त्रों में ऐसी कोई विद्या नहीं है।’ राजा ने यथार्थ जानकर उसे दंडित किया।

गा. ३७६ वृ. पृ. १११

३४. वाचक और उत्सारकल्पिक वाचक

एक वाचक आचार्य एक नगर में आए। उनके साथ अनेक शिष्य थे। नगरवासी अत्यंत प्रमुदित हुए। आचार्य के प्रवचनों से सारा नगर आनन्द विभोर हो उठा। अन्ययूथिक निर्ग्रथ प्रवचन की प्रशंसा सुनकर बौखला गए। उन्होंने आचार्य के साथ वादगोष्ठी का आयोजन किया। वाद में आचार्य की जीत हुई और अब नगर में उनकी कीर्ति अत्यधिकरूप से फैली। अन्ययूथिकों के मन में ईर्ष्या और जलन उत्पन्न हो गई। वे अवसर की प्रतीक्षा में थे। वाचक आचार्य वहां से विहार कर अन्यत्र चले गए।

एक बार उसी नगर में उत्सारकल्पिक वाचक आए। श्रावक प्रमुदित हुए। अन्ययूथिकों ने उनके साथ वादगोष्ठी स्थापित करने से पूर्व एक व्यक्ति को समागत वाचक के ज्ञान की परीक्षा करने भेजा। उसने वहां जाकर वाचक से पूछा—भंते! परमाणु पुद्गल के कितनी इन्द्रियां होती हैं? वाचक ने सोचा—परमाणु पुद्गल एक समय जितने काल में लोक के चरमान्त तक पहुंच जाता है। तो निश्चित ही वह पांच इन्द्रियों वाला होना चाहिए। उसने तत्काल कहा—परमाणु पुद्गल के पांच इन्द्रियां होती हैं। परीक्षा के लिए आगत उस व्यक्ति ने जान लिया कि ये वाचक ज्ञानशून्य हैं। अन्ययूथिकों ने वादगोष्ठी का समायोजन किया। अन्ययूथिकों द्वारा पूछे गए प्रश्नों का वह उत्तर न दे सका। पग-पग पर उसका पराभव हुआ और अन्ययूथिक विजयघोष करते हुए वाचक का तिरस्कार कर चले गए। निर्ग्रथ प्रवचन की अवहेलना हुई। श्रावकों के सिर लज्जा से झुक गए।

गा. ७१७ वृ. पृ. २१७

३५. घंटा सियार

एक इक्षुवाटक था। उसमें सियार प्रवेश कर इक्षु खा जाते थे। स्वामी ने वाटक के चारों ओर खाई खुदवा दी। एक बार एक सियार उस खाई में गिर पड़ा। स्वामी ने उसे पकड़ लिया। उसकी पूंछ और कान काट दिये, शरीर पर चीते की खाल मढ़कर गले में घंटा बांध दिया। वह भयभीत होकर वहां से दौड़ा। अन्य सियारों ने उसे देखा और विचित्र प्राणी समझकर वे सब भयभीत होकर दौड़ने लगे। उन्हें भागते देख तरक्षों ने कारण पूछा। सियारों ने कहा—कोई अपूर्व प्राणी विचित्र शब्द करता हुआ आ रहा है। तरक्ष (लकड़बग्घे) भी भयाक्रान्त होकर दौड़ने लगे। चीतों ने तरक्षों से पूछा। उनका उत्तर सुन वे भी भयभीत होकर भागने लगे। रास्ते में एक सिंह मिला। उसने चीतों से पलायन का कारण पूछा। चीतों ने सारी बात कही। सिंह ने सोचा—मैं खोज करूंगा। उसने ध्यान से उसे देखा और जान लिया कि यह सियार है। उसे पकड़ा और मार डाला। सब आश्वस्त हो गए।

गा. ७२१-७२३ वृ. पृ. २२१

३६. रक्तपट भिक्षु

पांच सौ व्यक्तियों का सार्थ अटवी में भटक गया। उसके साथ एक अभागी रक्तपट भिक्षु भी था। उसने उन पांच सौ व्यक्तियों के पुण्य का उपहनन कर दिया। सब प्यास से व्याकुल थे। उनसे कुछ दूरी पर बादल बरस रहे थे। किन्तु उनको एक बूंद भी नहीं मिल रही थी। सार्थ दो भागों में बंट गया। रक्तपट भिक्षु प्रथम विभाग के साथ मिल गया। वर्षा सर्वत्र होने लगी, परन्तु जहां वह भिक्षु था, वहां वर्षा नहीं हुई। सार्थ के लोगों ने उसे निकाल दिया। वह अकेला हो गया। जहां वह रहा, वहां वर्षा नहीं हुई। अन्यत्र वर्षा का अभाव नहीं रहा।

गा. ७४२ वृ. पृ. २३०

३७. अमात्य

एक राजा के गर्दभ जैसे कान थे। वह हमेशा अपने कानों को ढंककर रखता था। एक बार मंत्री ने एकान्त में राजा से पूछा—आप सिर और कान को सदा आवृत्त क्यों रखते हैं? राजा ने यथास्थिति बता दी और कहा—यह रहस्य किसी के सामने प्रगट मत करना। मंत्री बात पचाने में असमर्थ था। दूसरी और राजा का निर्देश था बात किसी को कहनी नहीं है। अब क्या करे? वह अटवी में गया। एक वृक्ष के कोठर में मुख डालकर जोर-जोर से बोलने लगा—‘गर्दभ कन्ना राया, गर्दभ कन्ना राया’ फिर चला गया। उधर कोई बढ़ई आया। उसी वृक्ष को काटकर वह ले गया। उसका बाजा बनाया। भवितव्यता से उस बाजे को सबसे पहले राजा के सामने बजाया। वह बाजा शब्द करने लगा—गर्दभ कन्ना राया, गर्दभ कन्ना राया (राजा के गर्दभ जैसे कान)। राजा ने सुना तो मंत्री से पूछा—तुम्हारे अतिरिक्त किसी को पता नहीं था। क्या तुमने किसीको कहा है? अमात्य ने सारी बात राजा से निवेदन कर दी।

गा. ७६० वृ. पृ. २३७

३८. ब्राह्मणी

पुरोहित की पत्नी अत्यन्त रूप सम्पन्न थी। उसके सौन्दर्य पर राजा, श्रेष्ठी, आरक्षित और मूलदेव—ये सभी मुग्ध थे। पुरोहित पत्नी चतुर थी, उसने सभी को आने का संकेत दे दिया। वे सभी समय पर आ गए और द्वार पर खड़े हो गए। पुरोहित पत्नी ने कहा—जो महिला का रहस्य जानता है, वह प्रवेश करे। मूलदेव को छोड़कर सब मौन हो गए। मूलदेव बोला—मैं जानता हूं। उसने प्रवेश किया। उसने पूछा—महिला का रहस्य क्या है? वह बोला—मर जाने पर भी किसी को नहीं कहना। वह बोली—तुम विद्वान् भी हो और कामुक भी। वह संतुष्ट हुई और उसके साथ पूरी रात बिताई। प्रातः राजा ने मूलदेव से पूछा—महिला का रहस्य क्या है? वह बोला—मैं नहीं जानता। राजा ने कहा—तुम अपलाप कर रहे हो। राजा ने उसके वध का आदेश दे दिया। तभी पुरोहित पत्नी ने आकर राजा से निवेदन किया—यही महिला का रहस्य है। जो शरीर त्याग करने पर भी बात किसी को नहीं कहता। यह लौकिक अपरिस्रावी है।

गा. ७६० वृ. पृ. २३८

३९. परिव्राजक

एक गांव में एक नापित रहता था। वह अनेक विद्याओं का ज्ञाता था। विद्या के प्रभाव से उसका ‘क्षुरप्रभांड’ अधर आकाश में स्थिर हो जाता था। एक परिव्राजक उस विद्या को हस्तगत करना चाहता था। वह नापित की सेवा में रहा और विविध प्रकार से उसे प्रसन्न कर वह विद्या प्राप्त की। अब वह अपने विद्याबल से त्रिदंड को

आकाश में स्थिर रखने लगा। इस आश्चर्य से लोग उस परिव्राजक की पूजा करने लगे। एक बार राजा ने पूछा—भगवन्! क्या यह आपका विद्यातिशय है या तप का अतिशय है? उसने कहा—यह विद्या का अतिशय है। राजा ने पूछा—आपने यह विद्या किससे प्राप्त की? परिव्राजक बोला—हिमालय पर्वत पर एक फलाहारी ऋषि से विद्या प्राप्त की। विद्यागुरु के अपलाप करने के कारण इतना कहते ही आकाशस्थित त्रिदंड भूमि पर गिर गया।

गा. ७८६ वृ. पृ. २४७

४०. आम्र फल

एक दिन आचार्य शिष्यों को वाचना दे रहे थे। उन्होंने परिणामक, अपरिणामक और अतिपरिणामक शिष्यों की परीक्षा लेने के उद्देश्य से कहा—शिष्यो! मुझे आम की आवश्यकता है। जो परिणामक शिष्य था, उसने आचार्य से निवेदन किया—भंते! कैसा आम लाऊं? सचेतन या अचेतन? भावित (लवणादि से) या अभावित? बड़े या छोटे? छिन्न (टुकड़े किए) या अछिन्न? कितनी संख्या में? आचार्य ने कहा—आम तो पहले से ही प्राप्त हैं। अभी अपेक्षा नहीं है, कभी अपेक्षा होगी तो बता दूंगा। मैंने तो तुम्हारी परीक्षा के लिए ऐसा कहा था।

जो अपरिणामक शिष्य था, वह बोला—आचार्यवर! क्या आपको पित्त का प्रकोप हो गया है, जो आप असंबद्ध प्रलाप कर रहे हैं? आज आपने मेरे सामने कहा, वह कह दिया, दूसरी बार ऐसे सावध वचन मत कहना। दूसरा कोई सुन न ले। हमें ऐसा कहना नहीं कल्पता।

जो अतिपरिणामक शिष्य था, वह बोला—आचार्यश्री! यदि आपको आम की आवश्यकता है, तो मैं अभी आम ले आऊंगा। अभी आम का मौसम है। आम तरुण हैं फिर वे कठोर हो जाएंगे। मुझे भी आम प्रिय है परन्तु आपके भय से कह नहीं सका। यदि आम अपने लिए ग्रहण करने योग्य है, तो फिर इतने दिन क्यों नहीं कहा? पहले ही कह देते। क्या बिजौरा आदि दूसरे फल ले आऊं?

आचार्य ने अतिपरिणामक और अपरिणामक शिष्यों की बात सुनकर कहा—तुम लोगों ने मेरा अभिप्राय नहीं समझा। मैंने बात पूरी भी नहीं की और तुम अनर्गल बोलने लग गए। मैंने कांजी अथवा लवण से भावित, टुकड़े किए हुए अथवा शाक रूप में पकाए हुए आम मंगाए थे, अपरिणत नहीं।

गा. ७९८-८०१ वृ. पृ. २५१

४१. राजाज्ञा

एक राजा की छह व्यक्तियों ने बहुत सेवा की। राजा उनकी सेवा से बहुत प्रसन्न हुआ। खुश होकर राजा ने उन्हें नगर में स्वतंत्रता से विचरण करने की अनुमति दे दी। नगर में घोषणा करवा दी कि जो इन व्यक्तियों को पीड़ित करेगा या मारेगा वह उग्रदंड का भागी बनेगा। जन समूह से उनका परिचय हुआ। लोगों ने देखा कि वे न रूपवान् हैं, न वैभव सम्पन्न और न ही उनके पास अच्छे वस्त्र तथा आभूषण हैं। भद्र व्यक्तियों ने राजाज्ञा की विधिपूर्वक अनुपालना की। लेकिन जो उदंड थे, उन्होंने राजाज्ञा की अवहेलना की जिसके कारण उन्हें दंड भोगना पड़ा।

गा. ९२६-९२७ वृ. पृ. २९३

४२. दो म्लेच्छ

दो म्लेच्छ पुरुषों ने राजा की सेवा कर उसे प्रसन्न किया। प्रसन्न होकर राजा ने उन्हें दो बकरे और दो मधु घट दिए। दोनों ने इस पारितोषिक को स्वीकार किया।

एक म्लेच्छ ने बकरे को एक ही प्रहार में मार दिया और दो-तीन दिन तक उसके मांस का आस्वादन लिया। दूसरा प्रतिदिन एक अंग छेदन करता और खाता। बकरे के छेदे अंग पर नमक, मधु लगाता तथा उस स्थान को गोबर से लिप्त कर देता।

पहले ने एक प्रहार में मारा, उसके एक बार हिंसा हुई। दूसरे ने जितनी बार प्रहार किया, छेदन किया उसके उतनी बार हिंसा का कर्मबंध हुआ।

गा. ९८३ वृ. पृ. ३०९

४३. अप्रशस्त-प्रशस्त किसान

एक किसान ने ईख की खेती की। उसने खेत की सुरक्षा के लिए न खाई खोदी, न बाड़ लगाई, न गायों को रोका और न पथिकों को खाने से निषेध किया। गायों का निवारण नहीं करने से वे सारे खेत को चर गईं और खेत नष्ट हो गया। पैदावार नहीं होने पर कर्मचारियों को वेतन भी नहीं दे सका। खेत के मालिक को हिस्सा नहीं मिला और स्वयं भी हानि को प्राप्त हुआ। ईख का पूरा खेत नष्ट हो गया। मालिक ने किसान को बांध दिया। वह विनाश को प्राप्त हुआ।

किसी किसान ने ईख की खेती की। उसकी सुरक्षा के लिए खाई खोदी, बाड़ लगाई, गायों को चरने से रोका और पथिकों का निषेध किया। बहुत परिश्रम किया तो ईख की पैदावार अच्छी हुई। उसने कर्मचारियों को पूरा वेतन दिया। खेत के मालिक को उसका हिस्सा दे दिया। किसान को भी लाभ प्राप्त हुआ।

गा. ९८८ वृ. पृ. ३१०

४४. अंतःपुर रक्षक

एक राजा ने कन्याओं के अन्तःपुर की रक्षा के लिए एक व्यक्ति को रखा। वे राजकन्याएं गवाक्ष से इधर-उधर देखती थीं। वह रक्षक उनका वर्जन नहीं करता था। धीरे-धीरे वे कन्याएं अग्रद्वार से बाहर जाने-आने लगीं। तब भी उसने निषेध नहीं किया। इस प्रकार के व्यवहार का वर्जन नहीं करने पर कुछ कन्याएं श्रेष्ठी पुत्रों से आलाप-संलाप करने लगीं। कुछ कन्याएं भाग गईं। अतः वह रक्षक कन्याओं के अन्तःपुर की रक्षा करने में असमर्थ रहा।

अन्य राजा ने कन्याओं के अन्तःपुर की रक्षा के लिए रक्षक रखा। वह रक्षक किसी कन्या को वातायन से झांकते देखता तो वह सभी कन्याओं के समाने उसे डांटता और शिक्षा देता। शेष सारी कन्याएं भयभीत हो जातीं। कोई वातायन तक जाने का साहस नहीं करती। वह अन्तःपुर की अच्छी रक्षा करने में समर्थ हुआ।

गा. ९९१,९९२ वृ. पृ. ३११

४५. देवद्रोणी

देवद्रोणी की गायें चरने चली गईं। उनमें से एक वृद्ध गाय मर गई। भीलों ने उसे खा लिया। गोपालकों ने देवद्रोणी परिचारक से सारी बात निवेदन की। उसने इस बात को गंभीरता से नहीं लिया और कहा—कोई बात नहीं खा गए तो खा गए। परिणाम यह आया कि धीरे-धीरे भील स्वयं गायों को मारकर खाने लगे और देवद्रोणी नष्ट हो गई।

देवद्रोणी की गायें चरने गयीं। उनमें से एक वृद्ध गाय मर गई। भीलों ने उसे खा लिया। गोपालकों ने देवद्रोणी परिचारक से सारी बात निवेदन की। परिचारक ने बात पर ध्यान दिया और भील पल्ली को बंदी बना दिया। जिससे गायों का विनाश नहीं हुआ।

गा. ९९३ वृ. पृ. ३१२

४६. मद्यपायी

एक मनुष्य न मद्य पीता और न मांस खाता लेकिन उसकी संगत मद्य पीने वालों और मांस खाने वालों से थी। एक दिन उन सबने मिलकर उसे मद्य पीने के लिए प्रेरित किया और कहा—देखो मद्य पीने में क्या दोष है? वह निर्जीव है। उसे शपथ दिला दी। उसने लज्जित होकर एकान्त में जाकर थोड़ा-सा मद्यपान किया। धीरे-धीरे उसकी वृत्ति का विस्तार हो गया। कुछ दिन बाद लज्जा रहित होकर लोगों के मध्य में, मार्ग में मद्य पीना प्रारंभ कर दिया।

वह मद्य चर्ने, पापड़ आदि के साथ पीता था। साथ रहने वालों ने कहा—मांस बिना मद्यपान कैसा? उसे मांस के लिए प्रेरित किया और कहा मांस खाने में क्या दोष है? हम तो किसी प्राणी को मारते नहीं हैं। सबने बार-बार उसे कहा। उसने भी सोचा—मांस खाने में क्या दोष है? उसने मांस खाना शुरू कर दिया। धीरे-धीरे आसक्त और कठोरचित्त वाला हो गया। उसके परिणाम हिंसक हो गए। अब वह स्वयं प्राणियों को मारकर खाने लगा। निर्वयी बन गया।

गा. ९९४ वृ. पृ. ३१२

४७. कच्ची मूंग

एक स्त्री मूंग के खेत में बैठी थी, वह कच्ची मूंग की फलियां खा रही थी। उधर से राजा आखेट खेलने गया। वापस आखेट खेलकर आया तब भी उसने देखा कि वह स्त्री मूंग की फलियां खा रही है। राजा को आश्चर्य हुआ, उसने सोचा यह स्त्री कब से ही फलियां खा रही है? न जाने कितनी फलियां खा गई होगी? इस कुतूहल वश राजा ने स्त्री के पेट को चीर डाला। उसने देखा पेट में तो फेनरस (झाग ही झाग) है।

गा. ९९४ वृ. पृ. ३१३

४८. चार ब्राह्मण

चार ब्राह्मणों ने अध्ययनार्थ विदेश के लिए प्रस्थान किया। उन्होंने एक शाखापारक को देखा। उससे पूछा—तुम कहाँ जा रहे हो? वह बोला—जहाँ तुम जा रहे हो वहीं मैं जा रहा हूँ। वे सब एक साथ प्रत्यन्त गांव से होते हुए अटवी के पास पहुंच गए। वहाँ सार्थ की प्रतीक्षा करने लगे। एक सार्थ मिल गया। सब उसके साथ हो

गये। शाखापारक के पास एक कुत्ता था। ब्राह्मणों ने कहा—कुत्ता साथ क्यों लाए? वह बोला—मैं इसको किसी कारण से लाया हूँ। सार्थ के साथ उन्होंने अटवी में प्रवेश किया। अटवी के मध्य में सार्थ छूट गया। लोग इधर-उधर बिखर गए। वे छहों प्राणी एक साथ एक दिशा की ओर चल पड़े। दो दिन तक उनको न पीने का पानी मिला, न खाने की रोटी। तीसरे दिन उन्होंने मृत कलेवर युक्त कुत्सित पानी देखा। उस समय शाखापारक बोला—यहां पर हम इस कुत्ते को मारकर अपनी क्षुधा को शान्त कर लें और यह रुधिर युक्त पानी पीकर प्यास मिटा लें। अन्यथा मर जायेंगे।

यह वेद रहस्य है इसमें दोष नहीं है। क्योंकि हमारे सामने ऐसी ही परिस्थिति है। चार ब्राह्मणों में से एक परिणामक, दो अपरिणामक और चौथा अतिपरिणामक था। जो परिणामक था उसने इस बात को स्वीकार कर लिया। जो अपरिणामक थे उनमें से एक बोला—मैं ऐसे शब्द सुनना ही नहीं चाहता। भले भूख-प्यास से मर जाऊँ। वह मर गया। दूसरा अपरिणामक बोला—इतने दुःख से कैसे मरा जाए? इससे तो खाना ही अच्छा है। जो अतिपरिणामक था, वह बोला—मांस खाना वेद विहित है तो दो दिन भूखे क्यों रखा? पहले क्यों नहीं बताया? वह गाय आदि को मारकर खाने लगा। साथ-साथ मद्य भी पीने लगा।

जंगल पार होने पर शाखापारक ने कहा—हमें प्रायश्चित्त वहन करना है। जो परिणामक था, वह गांव में वेद विद्वान के पास गया। एकान्त में प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध हो गया। अपरिणामक ने अनेक ब्राह्मणों को एकत्रित किया। सारी स्थिति उन्हें बताई। सबने उसको धिक्कारा और जाति से बहिष्कृत कर दिया। अतिपरिणामक मांस-मद्य का सेवन करने से चंडाल हो गया।

गा. १०१२-१०१६ वृ. पृ. ३१८

४९. कौतूहली रानी

महादेवी को ककड़ी अतिप्रिय थी। ककड़ी लाने के लिए एक व्यक्ति की नियुक्ति कर दी। वह प्रतिदिन ककड़ी लाकर महादेवी को दे देता। एक दिन उसने अंगादान संस्थान वाली ककड़ी लेकर आया और रानी को दे दी।

रानी के उस ककड़ी को देखा और कौतुक पैदा हुआ कि इसका स्पर्श कैसा है। ऐसा सोच उससे प्रतिसेवना की। ककड़ी में कांटा था। वह उसके लग गया और विस्तार हो गया। वैद्य के पास गई। वैद्य अनुभवी था। उसने यथास्थिति जानकर चीरा दिया, कांटा निकाला और वह स्वस्थ हो गई।

गा. १०५३ वृ. पृ. १२९

५०. सोमिल

अवन्ति में सोमिल ब्राह्मण रहता था। परिवार में आठ पुत्र, उनकी पुत्र-वधुएं और ब्राह्मण की पत्नी थी। भरा-पूरा परिवार था। एक दिन ब्राह्मण के आंखों की रोशनी कमजोर होने लगी। पुत्रों ने कहा—पिताजी! आपके आंखों की चिकित्सा करवा लें। वह बोला बुढ़ापे में चिकित्सा करवा कर क्या करूंगा? तुम सबकी १६ आंखें, तुम्हारी बहुओं की १६ आंखें और दो आंखें तुम्हारी मां की है। कुल मिलाकर ३४ आंखें है। ये सब मेरी ही आंखें है। ऐसा चिंतन कर सोमिल ब्राह्मण ने आंखों की चिकित्सा नहीं करवायी। धीरे-धीरे आंख की रोशनी चली गई।

एक दिन घर में आग लग गई। सभी अपनी जान बचाकर घर से निकल गए। किसी को वृद्ध की याद नहीं आई। आखिर वृद्ध चिल्लाता हुआ आग में भस्म हो गया।

गा. ११५३ वृ. पृ. ३५९

५१. यव राजर्षि

अवन्ति नगरी। वहां अनिलपुत्र राजा यव के गर्दभ नाम का पुत्र और अडोलिका नाम की पुत्री थी। उसके दीर्घपृष्ठ मंत्री था। गर्दभ की योग्यता देखकर उसे युवराज पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। युवराज गर्दभ राज्य कार्य में राजा का सहयोग करने लगा। अडोलिका बड़ी होने लगी। उसका रूप लावण्य निखरने लगा। अडोलिका के रूप में गर्दभ अनुरक्त हो गया। वह उदास खिन्न रहने लगा। एक दिन मंत्री ने उसे उदासी का कारण पूछा। युवराज गर्दभ बोला—मेरा मन अडोलिका को पाना चाहता है। यह कैसे संभव हो सकता है? मंत्री बोला—मैं उसे भूमिगृह में ले आऊंगा। वहां आप उसके साथ रह सकते हैं। अडोलिका को भूमिगृह में छोड़ दिया और युवराज गर्दभ उसके साथ भोग भोगने लगा। उधर अडोलिका की खोज की तब राजा यव को यथास्थिति ज्ञात हो गई। राजा का मन विरक्त हो गया। उसने दीक्षा ग्रहण कर ली। मुनि यव अध्ययन नहीं करता। पुत्र स्नेह के कारण बार-बार अवन्ति नगरी में आने लगा।

एक बार मुनि यव ने अवन्ति की ओर विहार किया। अवन्ति के निकटवर्ती ग्राम में पहुंचकर यव के खेत के पास विश्राम कर रहा था। खेत के पास गधा घूम रहा था। खेत में यव खाना चाहता था पर रक्षापालक से डर रहा था। रक्षापालक उसे देख कर बोला—हे गर्दभ! मैं जानता हूं, तुम इधर-उधर क्यों घूम रहे हो? क्योंकि तुम यव की इच्छा कर रहे हो। 'आधावसी.....' मुनि ने श्लोक सीख लिया।

आगे चला तो नगर के बाहर बच्चे गुल्ली-दंडा खेल रहे थे। खेलते-खेलते गुल्ली कहीं गिर गई। बच्चे उसे खोजने लगे। एक बच्चे ने देखा गुल्ली खड़े में गिर गई। तब बच्चे बोले—'इओ गया इओ गया.....' मुनि ने वह श्लोक भी सीख लिया। वह नगर में कुंभकार के उपाश्रय में ठहर गया। वहां एक चुहिया थी। रात्री में वह बार-बार बिल से बाहर आती, इधर-उधर कूदती और बिल में चली जाती। कुंभकार उस चुहिया को देखकर बोला—चुहिया में जानता हूं तुम मुझसे नहीं डर रही हो बल्कि सर्प, बिल्ली आदि से डर रही हो। 'सुकुमालग! भइलया!,.....' इस श्लोक को भी मुनि यव ने सीख लिया।

मंत्री दीर्घपृष्ठ को ज्ञात हुआ कि मुनि यव कुंभकार के उपाश्रय में ठहरे हैं। मंत्री ने राजा गर्दभ से निवेदन किया कि परिषद से हारकर मुनि यव आपसे राज्य लेने आए है। यदि विश्वास न हो तो कुंभकार के उपाश्रय की निगरानी करें, जिसमें आयुध छिपाये हुए हैं। मंत्री ने पहले से ही आयुध उपाश्रय से छिपा दिए थे। राजा मंत्री के साथ गया उपाश्रय में देखा कि आयुध पड़े हैं। राजा अपने पिता मुनि को मारने के लिए उद्यत हुआ। वह सोच रहा था कि लोगों में उड्डाह न हो। इसलिए रात की प्रतीक्षा में घर के बाहर इधर-उधर टहलने लगा। इधर मुनि यव दिन में सीखे श्लोकों का स्वाध्याय कर रहा था। राजा ने पहला श्लोक सुना 'आधावसी'..... तो राजा ने सोचा—मुनि कह रहे हैं कि तुम इधर-उधर घूम रहे हो, मैं देख रहा हूं कि तुम यव की इच्छा कर रहे हो। दूसरा श्लोक सुना—'इओ गया.....' तब राजा ने सोचा मुनि कह रहे हैं कि इधर-उधर खोज करने पर अडोलिका कहीं दिखाई नहीं दी। पर मैं जानता हूं वह भूमिगृह में है। तीसरा श्लोक सुना—'सुकुमालगा.....' और राजा ने चिंतन किया कि मुनि बता रहे हैं कि हे सुकुमार! रात्री में घूम रहे हो, तुम्हें मेरा भय नहीं अपितु दीर्घपृष्ठ का भय है। राजा ने सोचा मुनि इतने ज्ञान सम्पन्न हैं, इन्होंने अपनी इच्छा से राज्य का त्याग किया है। ये क्यों राज्य लेने आयेंगे? राजा ने तत्काल मंत्री को मरवा डाला।

मुनि यव के पास गया। वन्दना की कृत कार्य के लिए क्षमायाचना की। मुनि यव ने चिंतन किया—इन सामान्य श्लोकों ने मुझे मृत्यु से बचा दिया। तो आगम ज्ञान से निश्चित ही जन्म-मरण के चक्र से बच जाऊंगा। ऐसा सोचकर ज्ञानाराधना में लीन हो गए।

५२. वणिक् दासी

एक वृद्ध दासी प्रातः काष्ठ लाने के लिए जंगल में गई। मध्याह्न में लौटी। वह भूख-प्यास से क्लान्त थी। काष्ठ बहुत थोड़ा था, अतः वणिक् ने उसे पीटा। वह बिना कुछ खाए पुनः काष्ठ लाने गई। लौटते समय काष्ठभार अधिक था। ज्येष्ठ मास में मध्याह्न का समय था। उसके हाथ से एक काष्ठयष्टि गिर गई, जिसे उठाने के लिए नीचे झुकी। उस समय उसे तीर्थंकर की देशना सुनाई दी, वह झुकी हुई ही सुनती रही, उसे भूख-प्यास और गर्मी की अनुभूति ही नहीं हुई। सूर्यास्त समय में तीर्थंकर धर्मकथा कहकर उठे। दासी जागृत हुई। देशना के कारण उसकी भूख, प्यास आदि होने पर भी कष्ट की अनुभूति नहीं रही।

गा. १२०५ वृ. पृ. ३७४

५३. बैल दृष्टांत

बैल पूरे दिन गाड़ी में अथवा अरहट में जुते रहकर काम करता। सायं वहां से मुक्त होने के पश्चात् उसे चारा दिया गया। सरस-नीरस चारे को बिना स्वाद लिए वह खा लेता है। तृप्त होने के बाद बैठकर उसकी जुगाली करता हुआ स्वाद का अनुभव करता है। उसमें जो कचवर (कचरा) होता है, उसका परित्याग कर सार को ग्रहण कर लेता है। इसी प्रकार मुनि गुरु के पास सम्पूर्ण सूत्र को ग्रहण करता है, उसके बाद अर्थ का ग्रहण करता है। बिना अर्थ के सूत्र स्वादरहित भोजन के तुल्य होता है।

गा. १२१९ वृ. पृ. ३७७

५४. शालि दृष्टांत

किसान बहुत परिश्रम से चावल की खेती करता है। चावल पकने के बाद काटकर, छिलके उतारकर, भूसी को अलगकर कोष्ठागार में रख देता है। यदि वह उन चावलों को खाने में उपभोग नहीं करता है तो चावल संग्रह का फल निष्फल हो जाता है। वैसे ही शिष्य १२ वर्ष तक सूत्र का अध्ययन करने में परिश्रम करता है। पुनः अर्थ को नहीं सुनता है तो परिश्रम निष्फल हो जाता है।

गा. १२१९ वृ. पृ. ३७८

५५. बैल उदाहरण

बैल प्रतिदिन भार वहन करता है और हल को भी वहन करता है। फिर भी यदि मालिक उस बैल पर बार-बार चाबुक का प्रहार करता है तो वह क्रुद्ध हो जाता है। क्रुद्धकर भार को गिरा देता है। हल को तोड़ देता है। वैसे ही आचार्य शिष्य को रुक्ष व्यवहार से वाचना देता है तो शिष्य कषाय से पीड़ित होकर गच्छ से निकल सकता है।

गा. १२६८ वृ. पृ. ३९१

५६. राज दृष्टान्त

एक राजा अक्षिवेदना से पीड़ित हो गया। वहां के वैद्य सफल चिकित्सा नहीं कर सके। आगंतुक वैद्य ने कहा—मेरे पास अक्षिशूलप्रशामक गुटिका है। इसे आंख में आंजने से कुछ क्षणों के लिए तीव्रतर दुःसह वेदना होगी। यदि आप मुझे मृत्यु-दंड न दें तो मैं गुटिका से आपकी आंखें आंज दूँ।

मैं वेदना को सहन कर लूंगा—राजा के ऐसा कहने पर वैद्य ने गुटिका से उसकी आंखें आंज दी। एक बार तो असह्य वेदना हुई, किन्तु कुछ समय बाद आंखें स्वस्थ हो गईं।

गा. १२७७-७८ वृ. पृ. ३९४

५७. सिंह दृष्टान्त

एक सिंह गिरि-नदी को तैर कर उस पार जाना चाहता था। वह नदी में उतरा। पानी के तीव्र वेग ने उसे पुनः तट पर ला पटका। वह पुनः वहां से लौटा और पर तीर पर जाने के लिए नदी में उतरा। पानी के वेग ने उसका पुनः अपहरण कर लिया। इस प्रकार वह जब तक नदी में तैर कर पार नहीं गया, तब तक उसने नदी में तैरने का अभ्यास नहीं छोड़ा। उसी प्रकार मुनि भी जब तक विवक्षित तप आत्मसात् नहीं हो जाता तब तक उसका अभ्यास नहीं छोड़ता।

गा. १३२९ वृ. पृ. ४०७

५८. पुष्पचूल राजर्षि

पुष्पपुर नगर में पुष्पकेतु महाराजा की महारानी पुष्पावती ने एक युगल का प्रसव किया। पुत्र का नाम पुष्पचूल और पुत्री का नाम पुष्पचूला रखा। दोनों साथ-साथ बड़े हुए। दोनों में गहरा अनुराग था। पुष्पचूल राजा बना। उसने पुष्पचूला का पाणिग्रहण ऐसे व्यक्ति से किया जो गृहदामाद (घर जंवाई) रह सके। वह भर्ता से केवल रात्रि में ही मिलती, दिनभर भाई के साथ रहती। भाई पुष्पचूल प्रव्रजित हुआ तो वह भी अनुराग के कारण प्रव्रजित हो गई। कालान्तर में मुनि जिनकल्प साधना स्वीकार करने के लिए एकत्व भावना से अपने आपको भावित कर रहे थे। एक देव ने परीक्षा के बहाने आर्या पुष्पचूला का रूप बनाया। कई धूर्त व्यक्ति पुष्पचूला के साथ बलात्कार करने का प्रयत्न करने लगे। उस समय मुनि पुष्पचूल उधर जा रहे थे। उन्हें देखकर पुष्पचूला आर्या चिल्ला उठी—ज्येष्ठार्य! मुझे बचाओ। मुनि प्रेम बन्धन से मुक्त हो चुके थे। 'एगो हं नत्थि मे को वि, नाहमन्नस्स कस्सइ'—इस एकत्व भावना को गुणगुनाते हुए वे अपने स्थान पर चले गए।

गा. १३४९-१३५१ वृ. पृ. ४११

५९. गर्दभ दृष्टान्त

एक गर्दभ प्रचुरमात्रा में आहार करने से उन्मत्त हो गया। जब कुंभकार उस पर मिट्टी के बर्तन रखता तब वह उछल कर सारे बर्तन तोड़ देता। कुंभकार ने उसका आहार बंद कर दिया, जिससे वह बर्तनों का भार वहन करने में असमर्थ हो गया। कुंभकार ने उसे उचित आहार दिया तब वह बर्तन वहन करने लगा।

साधु भी प्रतिदिन स्निग्ध, मधुर आहार करता है, उससे शरीर पुष्ट होता है साथ में विकार भी पैदा होते हैं। वह मोहकर्म से पीड़ित होता हुआ संयम योगों का बलपूर्वक मर्दन करता है। आहार के अभाव में कृशशरीरी हो जाता है जिससे संयमयोगों का पालन करने में असमर्थ हो जाता है। अतः उचित मात्रा में आहार करता हुआ वह संयम की अच्छी आराधना कर सकता है।

गा. १५२७ वृ. पृ. ४५०

६०. शुनिका दृष्टान्त

शिकारी एक कुतिया रखता था। तितर को पकड़ने के लिए कुतिया को बुलाता फिर उसे दुत्कार देता। ऐसा बार-बार करने पर वह कुतिया थक गई। फिर शिकार सामने होने पर शिकारी ने कुतिया को बुलाया लेकिन वह एक कदम भी नहीं चली।

गा. १५८५ वृ. पृ. ४६४

६१. स्थापित कुल

एक नगर में चार साधु आए। वहां पहले से स्थित साधुओं ने उनसे आहार के लिए पूछा। पहला साधु बोला—मुझे उदरपूर्ति करनी है। गर्म-ठंडा कैसा भी हो? पर बासी न हो। दूसरा बोला—स्नेह रहित आहार भले हो पर कोमल हो। तीसरा बोला—मेरे लिए मधुर आहार हो। चौथा बोला—अन्न-पान पक्व हो पर गंध रहित हो।

साधु उक्त आहार के लिए श्रेष्ठ कुलों में जाता है। स्थापित कुलों में आहार प्राप्त हो जाता है यदि स्थापित कुल न हों तो आहार प्राप्त नहीं होता। आगन्तुक साधुओं के लिए आहार आदि लाना महानिर्जरा होती है।

गा. १५९० वृ. पृ. ४६६

६२. विशुष्क गाय

एक ब्राह्मण के पास दुधारू गाय थी। वह दोनों समय प्रचुर दूध देती थी। ब्राह्मण ने सोचा—दस दिनों बाद मेरी पुत्री का विवाह है। उस समय अधिक दूध की आवश्यकता होगी। अतः आज से मैं गाय को दुहना बन्द कर दूँ। जिससे कि दस दिनों बाद मुझे इससे प्रचुर दूध प्राप्त हो सकेगा। उसने गाय को दुहना बंद कर दिया। विवाह के दिन वह गाय को दुहने बैठा। एक बूंद दूध भी नहीं मिला। सारा दूध सूख गया था। इसी प्रकार स्थापनाकुलों में न जाने पर, वहां के व्यक्ति भूल जाते हैं कि अभी यहां साधु हैं या नहीं? मुनि कुछ दिनों के अंतराल से वहां जाते हैं तो प्रायोग्य द्रव्य प्राप्त नहीं होता। अतः दो-तीन दिनों के अंतराल से वहां अवश्य जाना चाहिए।

गा. १५९१ वृ. पृ. ४६६

६३. आराम दृष्टान्त

एक बागवान् था। वह अपने बगीचे से पुष्पों को लेकर शहर में जाता और उनको बेच आता। उसने सोचा—पन्द्रह दिनों के पश्चात् इन्द्रमहोत्सव है। उस दिन पुष्पों की बहुत बिक्री होगी, अतः उस दिन मैं बहुत सारे पुष्प लेकर शहर में जाऊंगा और एक साथ उन्हें बेचूंगा। उसने सारे पुष्प तोड़ने बंद कर दिए। इन्द्रमहोत्सव के दिन उसे एक भी पुष्प नहीं मिला। सब सूख गए थे। इसी प्रकार स्थापनाकुलों में न जाने पर, गृहस्थ भी उनकी प्रतीक्षा करना भूल जाते हैं। आवश्यकता पड़ने पर साधु जाते हैं तो उन्हें वहां वह नहीं मिलता जो उनको चाहिए था।

गा. १५९१ वृ. पृ. ४६६

६४. पुत्र दृष्टान्त

पिता के दो पुत्र थे। एक कृश शरीर वाला था, दूसरा स्थूल शरीर वाला। एक दिन दोनों पुत्रों को लेकर अन्य गांव में जा रहा था। मार्ग में एक बहुवेग वाली नदी थी। दोनों को एक साथ लेकर नदी तैरना कठिन था। पिता ने अपने सामर्थ्य के अनुसार कृशकाय पुत्र को लेकर नदी को पार किया। दूसरे की उपेक्षा की। वैसे ही साधु के लिए छह काय विराधना का प्रसंग हो तो पृथ्वी आदि की उपेक्षा कर त्रसकाय की रक्षा करे।

गा. १६६६-१६६७ वृ. पृ. ४९१

६५. धावनकल्प दृष्टान्त

एक साधु वृक्ष के पास गया। चारों दिशाओं की ओर दृष्टिपात किया। कोई दिखाई नहीं दिया। उसने वृक्षमूल में आहार करना प्रारंभ कर दिया। वृक्ष के ऊपर एक ब्राह्मण बैठा था। उसने साधु को आहार करते देखा। कुछ देर बाद वह नीचे उतरा और गांव की ओर जाने लगा। साधु ने उसे देख लिया। तब साधु जल्दी-जल्दी आहार कर पात्र को अच्छी तरह से चाट लिया और स्वाध्याय करना प्रारंभ कर दिया। इधर ब्राह्मण ने गांव में जाकर लोगों से कहा कि कोई साधु वृक्षमूल में आहार कर रहा था। लोग आए और पूछा—महाराज आहार हो गया? साधु बोला—क्या गोचरी का समय हो गया? आपके घरों में रसोई बन गई। लोगों ने ब्राह्मण की ओर देखा, वह बोला—मैंने आहार करते हुए देखा है। लोगों ने साधु का पात्र देखा तो पात्र बिल्कुल साफ था। तब लोगों ने ब्राह्मण से कहा—तुम पापी हो।

गा. १७१४ वृ. पृ. ५०६

६६. मेंढा दृष्टान्त

एक सेठ था। उसके पास एक गाय, गाय का बछड़ा और मेंढा था। वह मेंढे को मेहमान के निमित्त से खूब अच्छा पोषक आहार देता। उसे प्रतिदिन स्नान कराता, शरीर पर हल्दी आदि का लेप करता। सेठ के बच्चे उसके साथ क्रीड़ा करते। कुछ दिन बाद वह स्थूल हो गया। बछड़ा प्रतिदिन यह देखता और मन ही मन सोचता कि मेंढे का इतना लालन-पालन क्यों हो रहा है। मेरा ध्यान क्यों नहीं रखते। इन विचारों से उसका मन उदास हो गया। उसने स्तन-पान करना छोड़ दिया। उसकी मां ने इसका कारण पूछा। उसने कहा—मां! इस मेंढे का पुत्रवत् लालन-पालन होता है, अच्छा भोजन दिया जाता है। मैं मंदभागी हूं, मेरी कोई परवाह नहीं करता। सूखी घास चरता हूं और वह भी कभी पूरी नहीं मिलती। उसने कहा—वत्स! तू नहीं जानता। मेंढा जो कुछ खा रहा है, वह आतुर लक्षण है।

कुछ दिन व्यतीत हुए। सेठ के घर मेहमान आए। बछड़े के देखते-देखते मोटे-ताजे मेंढे के गले पर छुरी चली और उसका मांस पकाकर मेहमानों को परोसा गया। बछड़ा भयभीत हो गया। उसने खाना पीना छोड़ दिया। मां ने कारण पूछा—बछड़े ने कहा—मां! मेंढे को मार दिया, उसकी जीभ और आंखें बाहर निकल गयीं। क्या मैं भी ऐसे ही मारा जाऊंगा? मां ने कहा—नहीं वत्स! तुम्हें ऐसा फल नहीं भोगना पड़ेगा।

गा. १८१२ वृ. पृ. ५३३

६७. गर्वोन्मत्त ब्राह्मण

एक महर्द्धिक राजा कार्तिक पूर्णिमा के दिन ब्राह्मणों को दान देता था। एक चौदह विद्यास्थानों में पारगामी ब्राह्मण को उसकी पत्नी ने कहा—तुम राजा के पास जाओ। ब्राह्मण ने कहा—मैं राजा के निमंत्रण के बिना दान लेने

नहीं जाऊंगा। यदि राजा को अपने पूर्वजों का अनुग्रह प्राप्त करना हो तो राजा स्वयं आकर मुझे साथ ले जाए। पत्नी पुनः बोली—पतिवर! राजा के पास तुम्हारे जैसे अनुग्रह करने वाले अनेक ब्राह्मण हैं। यदि तुम्हें धन पाना हो तो वहां जाओ। वह राजा से दान लेने नहीं गया, धन से वंचित रह गया।

गा. १८८३ वृ. पृ.

६८. क्रयिक दृष्टान्त

कोई ग्राहक गन्ध की दुकान पर गया। रुपये दिये और गन्धपात्र खरीदा। दूसरे दिन उसी दुकान पर गया और मद्य मांगा। दुकानदार ने कहा मेरे यहां गन्धयुक्त वस्तु मिल सकती है मद्य नहीं। वैसे ही धर्म की दुकान में धर्म मिलता है खाद्य आदि वस्तुएं नहीं मिलती।

गा. १९६५ वृ. पृ. ५७२

६९. दंतपुर दृष्टान्त

दंतपुर में राजा ने यह आज्ञा प्रसारित की कि कोई हाथी दांत न लाए? एक बार धनमित्र सार्थवाह के मित्र दृढ़मित्र ने हाथी दांतों को दर्भ में फूलों से आच्छादित कर ले आया। वे स्तेनाहृत हो गए। इसमें दांत और तृण—दोनों स्तेनाहृत माने गए। राजा द्वारा प्रतिषिद्ध दांत के कारण उन तृणों को लाना भी स्तेनाहृत माना जाता है।

गा. २०४३ वृ. पृ. ५९१

७०. कपट श्रावक

बौद्ध श्रावक ने साध्वियों को देखा। उन साध्वियों में एक साध्वी अत्यधिक रूपवती थी। बौद्ध श्रावक उस पर मोहित हो गया। वह कपट से जैन श्रावक बन गया। प्रतिदिन उपाश्रय में आने-जाने लगा। साध्वियों से परिचित हो गया। साध्वियों का भी उस पर विश्वास हो गया। वह अच्छे श्रावक की गणना में आने लगा।

एक दिन वह उपाश्रय में आया वंदना की और निवेदन किया कि मैं मेरे गांव जा रहा हूं। आप साध्वियों को भिक्षा के लिए भेजें। साध्वियां उसके घर गईं। उसने कहा—मेरे वाहन में मन्दिर है, आप वंदना करे फिर भिक्षा ग्रहण करना। यह सोचकर कि श्रावक कितना विवेकवान् है साध्वियां चैत्य वंदन के लिए वाहन पर आरूढ़ हुईं। वे आरूढ़ हुईं और तत्काल ही उसने वाहन को चालू कर दिया। इस प्रकार उनका अपहरण कर लिया।

गा. २०५४ वृ. पृ. ५९४

७१. आमप्रिय राजा

एक राजा को आमफल बहुत प्रिय था। अत्यधिक आम खाने से उसके शरीर में व्याधि उत्पन्न हो गई। वैद्य ने उपचार किया। राजा स्वस्थ हो गया। लेकिन वैद्य ने भविष्य में आम खाने का बिल्कुल निषेध कर दिया।

एक दिन राजा और मंत्री शिकार के लिए जंगल में गये। बहुत दूर जाने पर राजा थक गया। अचानक राजा को आम का वृक्ष दिखाई दिया। वह उसकी छाया में बैठ विश्राम करने लगा। मंत्री ने कहा राजन्! हमें यहां नहीं बैठना चाहिए। दूसरे वृक्ष की छाया में चलते हैं। राजा ने कहा मंत्री वैद्य ने आम खाने का निषेध किया है बैठने का

नहीं। मंत्री मौन हो गया। कुछ क्षणों में ही हवा के झोंके से एक आम नीचे गिरा। राजा ने आम हाथ में ले लिया और सूंघने लगा। मंत्री ने फिर मना किया तब राजा बोला—मंत्री खाने का निषेध किया है सूंघने का नहीं। केवल सूंघने से मेरे पेट में नहीं जायेगा। धीरे-धीरे राजा आम चूसने लगा। मंत्री के मना करने पर भी वह नहीं माना। आम खाते ही शरीर में व्याधि उत्पन्न हो गई। राजा मृत्यु को प्राप्त हो गया।

एक राजा को आम बहुत प्रिय थे। अत्यधिक आम खाने से शरीर में व्याधि पैदा हो गई। वैद्य ने उपचार किया। राजा स्वस्थ हो गया। वैद्य ने राजा से कहा—राजन्! आप भविष्य में कभी आम न खाएं। राजा ने वैद्य के सुझाव को स्वीकार किया और यथावत् पालन किया। तब राजा ने लम्बे समय तक राज्य का भोग किया।

गा. २१६६ वृ. पृ. ६२१

७२. मुरुण्ड दूत

पाटलिपुत्र नगर में मुरुण्ड नाम का राजा था। एक बार उसका दूत पुरुषपुर में गया। सचिव से वह मिला सचिव ने उसे आवास स्थल दिया। वह राजा को देखने मिलने के लिए प्रस्थान करता, परंतु रक्त पट वाले भिक्षुओं का अपशकुन होता। वह लौट आता। तीसरे दिन राजा ने सचिव से दूत के विषय में पूछा।

अमात्य राजभवन से प्रस्थित हो दूत के आवास पर आया और राजभवन में न आने का कारण पूछा। दूत ने यथार्थ बात अमात्य को बता दी। अमात्य तब दूत से बोला—इन रक्त पट भिक्षुओं का मार्ग के भीतर या बाहर अपशकुन नहीं होता, क्योंकि यह नगर इनसे भरा पड़ा है। यह बात सुनकर दूत राजभवन में प्रवेश कर गया।

गा. २२९२-२२९३ वृ. पृ. ६५०

७३. राजाज्ञा

पाटलिपुत्र में चन्द्रगुप्त राजा था। 'वह मयूरपोषक का पुत्र है'—यह जानकर क्षत्रिय लोग उसकी आज्ञा का सम्मान नहीं करते थे। चाणक्य ने सोचा—आज्ञाहीन राजा कैसा? अतः वह काम करूं, जिससे राजाज्ञा की अखंड आराधना हो। एक बार चाणक्य कार्पटिक के रूप में घूम रहा था। एक गांव में उसे भिक्षा नहीं मिली। उस गांव में आम और बांस प्रचुर मात्रा में थे। आज्ञा को प्रतिष्ठित करने के लिए चाणक्य ने उस गांव में यह राजाज्ञा प्रेषित की—आमों का छेदन कर शीघ्र बांस के झुरमुट के चारों ओर उनकी बाड़ बनाई जाये।

'यह दुर्लिखित है'—ऐसा सोचकर ग्रामीणों ने बांसों को काटकर आम्रवृक्षों के चारों ओर बाड़ बना दी। चाणक्य ने यह खोज करवायी कि गांव वालों ने राजाज्ञा का पालन किया या नहीं। जब उसे ज्ञात हुआ कि ग्रामीणों ने राजाज्ञा के विपरीत कार्य किया है, तब वह उस गांव में आया और गांव वालों को उपालम्भ देते हुए बोला—तुम लोगों ने यह क्या किया? बांस नगररोध आदि में काम आते हैं। तुमने उनको क्यों कांटा? राजाज्ञा का पत्र दिखाते हुए आगे कहा—राजाज्ञा कुछ और है और तुम लोगों ने कुछ और ही कर डाला। तुम अपराधी हो, दंडनीय हो। गांव के सारे लोग लज्जित हो गए। चाणक्य ने उनसे वृत्ति का निर्माण करा कर उस गांव को जला डाला। इसके भय से सारी जनता आज्ञापालन में रत हो गई।

गा. २४८९ वृ. पृ. ७०४

७४. सोपारक दृष्टान्त

सोपारक नगर में राजा ने ५०० व्यापारियों से कर मांगा। उन्होंने स्वीकार नहीं किया। राजा ने कहा—या तो कर दो या अग्नि में प्रवेश करो। उन्होंने मरना स्वीकार कर लिया। उनकी ५०० पत्नियों ने उनके साथ अग्नि में

प्रवेश कर जीवनलीला समाप्त कर दी। वे मरकर बालतप के कारण अपरिगृहीत वानव्यंतर देवियों के रूप में उत्पन्न हुईं। उन देवियों ने देवकुल की ५०० शालभजिकाओं को परिगृहीत कर लिया। अल्पऋद्धिक देव भी उनको नहीं चाहते थे, तब वे धूर्तों के साथ संयुक्त हो गईं। 'यह तेरी नहीं हैं, यह मेरी है'—इस प्रकार धूर्त परस्पर कलह करने लगे। देवियों से पूर्वभव का वृत्तान्त सुनकर धूर्त परस्पर कहने लगे। अरे! यह तो अमुक है। यह तुम्हारी माता है। यह उसकी बहिन है। अभी अमुक के साथ संप्रलग्न है। वे किसी एक के साथ प्रतिबंधित न होकर, जो मनोज्ञ लगता है, उसी के साथ रहती हैं। यह सुनकर उन देवियों के पूर्वभविक पुत्रों आदि ने 'हमारा अपयश होगा' यह सोचकर विद्या-प्रयोग से उन देवियों को कीलित कर डाला।

गा. २५०६, २५०७ वृ. पृ. ७०८

७५. मैथुनार्थी सिंहनी

एक सिंहनी ऋतुकाल में मैथुनार्थी हो गई। उसे कोई सिंह न मिलने पर, वह किसी एक सार्थ से एक पुरुष को उठाकर अपने गुफा में ले आई और उसकी चाटुकारिता करने लगी। पुरुष ने सिंहनी के साथ मैथुन प्रतिसेवना की। दोनों में अनुराग हो गया। यह क्रम प्रतिदिन चलता रहा। सिंहनी मांस के द्वारा उस पुरुष का पोषण करने लगी। पुरुष को अब उसका भय नहीं रहा।

गा. २५४६ वृ. पृ. ७१७

७६. संयोजना दृष्टान्त

एक बार एक आचार्य अपने शिष्यों को महिषों के उत्पादन का योग बता रहे थे। उस योग का पूरा विवरण आचार्य के भानजे ने सुन लिया। वह हिंसक वृत्ति का था। वह उस योग के अनुसार महिषों का उत्पादन करता और कसाई को बेच देता। आचार्य ने यह सुना। वे उसके पास गए और बोले—अरे! इससे क्या? मैं तुझे सोना उत्पादन का योग बताऊंगा। तुम अमुक-अमुक द्रव्य ले आओ। वह सारे द्रव्य ले आया। आचार्य ने उनकी संयोजना कर, एकान्त में स्थापित कर उससे कहा—इतना समय बीतने पर इसको उठाना। मैं जा रहा हूँ। समय बीतने पर उसने उसे उठाया। उससे एक दृष्टिविष सर्प निकला। उसको डसा जिससे वह वहीं मर गया। अन्तर्मुहूर्त के बाद वह सर्प भी मर गया।

गा. २६८१ वृ. पृ. ७५३

७७. उपेक्षा से महाविनाश

अरण्य के मध्य में एक अगाध जल वाला सुंदर सरोवर था। वह चारों ओर वृक्षों से मंडित था। वहां जलचर, स्थलचर तथा खेचर प्राणियों की बहुलता थी। एक बड़ा हस्तियूथ भी वहां रहता था। ग्रीष्मकाल में वह हस्तियूथ उस सरोवर में पानी पीता, जलक्रीड़ा करता और वृक्षों की छाया में सुखपूर्वक विश्राम करता था। सरोवर के निकट गिरगिटों का निवास था। एक बार दो गिरगिट लड़ने लगे। वन देवता ने यह देखा। उसे भविष्य का अनिष्ट स्पष्टरूप से दृग्गोचर होने लगा। उसने अपनी भाषा में सबको सावचेत करते हुए कहा—हे हाथियो! जलवासी मच्छ-कच्छपो! त्रस-स्थावर प्राणियों! सब मेरी बात ध्यानपूर्वक सुनें—जहां सरोवर के निकट गिरगिट लड़ रहे हैं, वहां सर्वनाश हो सकता है। इसलिए इन लड़ने वाले गिरगिटों की उपेक्षा न करें। इनको निवारित करें।

जलचर आदि प्राणियों ने सोचा—लड़ने वाले ये छोटे से गिरगिट हमारा क्या बिगाड़ देंगे? इतने में एक गिरगिट भाग कर सरोवर के किनारे सोए हुए हाथी की सूंड को बिल समझकर उसमें चला गया। दूसरा गिरगिट

भी उसके पीछे-पीछे भागता हुआ सूंड में घुस गया। वे हाथी के कपाल में लड़ने लगे। हाथी अत्यंत पीड़ित हुआ। महान् वेदना से पराभूत होकर हाथी उठा और वनखण्ड का विनाश करने लगा। अनेक प्राणी मारे गये। वह सरोवर में घुसा। वहां अनेक जलचरों को मारा। सरोवर की पाल तोड़ डाली, सभी प्राणी नष्ट हो गये।

गा. २७०६, २७०७ वृ. पृ. ७६२

७८. द्रमक दृष्टान्त

एक परिव्राजक ने द्रमक को देखा और पूछा—तुम चिंतित क्यों हो? द्रमक ने कहा—मैं दरिद्रता से अभिभूत हूं। परिव्राजक ने कहा—जैसा मैं कहूँ, वैसा करोगे तो धनवान बन जाओगे—यह कहते हुए वह उसे एक पर्वतनिकुंज में ले गया और कहा—‘यह कनकरस है। इसे प्राप्त करने के लिए तुम ठंडी-गर्म हवाओं को सहन करो, भूख-प्यास को सहन करो—ब्रह्मचर्य का पालन करो, अचित्त कंद-मूल-पत्र-पुष्प-फलों का आहार करो और फिर पवित्र भावधारा से शमीपत्रपुटक में इसे ग्रहण करो’—यह स्वर्ण-रस प्राप्ति की उपचारविधि है।

द्रमक ने उपचारपूर्वक कनकरस को शमीपत्रकपुटक में भर लिया। घर लौटते समय परिव्राजक ने कहा—रोष उत्पन्न होने पर भी तुम इस शाकपत्र से तुम्बिका में एकत्रित स्वर्णरस को मत फेंकना। उसने आगे कहा—‘देखो! तुम मेरे प्रभाव से धनी हो जाओगे।’ पुनः पुनः इन शब्दों को सुना तो द्रमक क्रोध भरे शब्दों में बोला—‘तुम्हारे प्रसाद से मैं धनी होऊँ तो इससे मुझे प्रयोजन नहीं है—यह कहते हुए उसने स्वर्णरस फेंक दिया। सारी मेहनत निष्फल हो गई।

गा. २७१३, २७१४ वृ. पृ. ७६४

७९. भाव वैर दृष्टान्त

एक गांव में चोरों ने गायों को चुरा लिया। महत्तर (गांव का मुखिया) खोजी को साथ लेकर गया। गायें हमारी हैं—यह कहकर चोरों का अधिपति महत्तर के साथ झगड़ने लगा। वे रौद्रध्यान में लीन होकर एक-दूसरे का वध करते हुए मर गये और प्रथम नरक में नारक के रूप में उत्पन्न हुए।

वहां से उद्वृत्त होकर दोनों महिष रूप में उत्पन्न हुए। एक-दूसरे को देखकर तमतमा उठे, झगड़ने लगे। मरकर दूसरी नरक में उत्पन्न हुए वहां से उद्वृत्त हो, वृषभ बने। उसी वैर परम्परा में आबद्ध होने के कारण एक-दूसरे को मारकर पुनः दूसरी नरक में गये। वहां आयुष्य पूर्णकर दोनों ही बाघ रूप में जन्मे। वहां भी परस्पर वध कर मरकर तीसरी नरक में पैदा हुए। वहां से निकलकर सिंह रूप में पैदा हुए, फिर परस्पर लड़कर मरकर चौथी नरक में उत्पन्न हुए। वहां से आयुष्यपूर्णकर दोनों मनुष्य योनि में जन्में, जिनशासन में दीक्षित हुए और सदा के लिए मुक्त हो गए।

गा. २७६२ वृ. पृ. ७७९

८०. पट्टक दृष्टान्त

गांव के पास एक कूप था। गांव की औरतें वहां पानी लेने आती थीं। उस कूप के पास सुन्दर उद्यान था। उद्यान में एक संन्यासी रहता था। एक दिन उसने कूप पर पानी भरती हुई सुन्दर औरत को देखा। संन्यासी ने औरत को मंत्रित पुष्प दिया। उसने पुष्प लिया और घर जाकर एक पट्ट पर रख दिया। अर्ध रात्री में पुष्पसहित

पट्ट घर द्वार को पीटने लगा। आवाज सुन उसका पति जाग गया। वह उठा, द्वार पर जाकर देखा कि पुष्पसहित पट्ट दरवाजा पीट रहा है। उसने अपनी औरत से पूछा—ये पुष्प कहां से लाई? औरत ने सारी बात बता दी। तब उसने गांव के लोगों को एकत्रित किया और सारी जानकारी दी। लोगों ने संन्यासी को गांव से निकाल दिया।

गा. २८१९ वृ. पृ. ७९७

८०. भिक्षुक दृष्टान्त

कालोदायी नामक एक भिक्षुक रात्री के समय एक ब्राह्मण के घर में भिक्षा के लिए प्रविष्ट हुआ। ब्राह्मणी भिक्षा लाने के लिए घर के भीतर गई। अंधकार के कारण एक कील से वह टकराई और नीचे गिर पड़ी। उस कील से उसका पेट फट गया। वह गर्भवती थी। पेट के फटते ही बच्चा भूमी पर आ गिरा और मर गया। वह ब्राह्मणी भी मर गई। यह देख कर लोगों ने प्रवचन का उद्घाह करते हुए कहा—निर्ग्रथ धर्म अदृष्टधर्मा है।

गा. २८४१, २८४२ वृ. पृ. ८०३

८२. कृतकरण मुनि

सभी मुनि सो रहे थे। एक कृतकरण मुनि हाथ में गदा लेकर जाग रहा था। इतने में एक सिंह आ गया। मुनि ने उस पर प्रहार किया। वह वहां से कुछ दूरी पर गिरा और मर गया। दूसरा सिंह आया। मुनि ने सोचा, वही सिंह पुनः आ गया है। उस पर तीव्रता से प्रहार किया। वह भी कुछ दूर जाकर मर गया। तीसरा सिंह आया। मुनि ने तीव्रतम प्रहार किया और वह भी मर गया। रात्री सुखपूर्वक बीत गई।

प्रातः वह गुरु के पास जाकर बोला—भंते! पहले मेरा शरीर शक्तिसंपन्न था। मैंने खुड्डका (हाथ के चपेटा) मात्रा से सिंह को मार डाला था। अब मेरे शरीर की शक्ति मंद हो गई है। रात्री में एक सिंह तीन बार आया। मैंने उस पर तीन बार प्रहार किया, वह मरा नहीं, भाग गया। गुरु ने उसे मिच्छामि दुक्कडं का दंड दिया, क्योंकि उसका परिणाम शुद्ध था।

प्रभात में बाहर जाते समय आचार्य ने तीन सिंहों को मरे हुए देखा। उन तीनों की जिह्वा बाहर निकली हुई थी। एक सिंह निकट ही मरा पड़ा था, दूसरा कुछ दूरी पर और तीसरी उससे आगे मरा पड़ा था। आचार्य ने उस मुनि से पूछा—ये तीन सिंह कैसे मरे? वह बोला—

भंते! जब पहला सिंह आया, मैंने सोचा—यह मर न जाए इसलिए उस पर गाढ़ प्रहार नहीं किया, हल्का प्रहार किया। वह बहुत दूर जाकर मर गया। दूसरी बार सिंह आया। मैंने सोचा वही पुनः आ गया है, इसलिए उस पर गाढ़ प्रहार किया वह भी कुछ दूर जाकर मर गया। तीसरी बार सिंह के आने पर मैंने गाढ़तर प्रहार किया, वह निकट भूमी पर ही मर गया। मैं नहीं जान पाया कि ये पृथग्-पृथग् तीन सिंह थे।

गा. २९६४-२९६८ वृ. पृ. ८३८

८३. सर्प की पूंछ

एक बार पूंछ ने सर्प के सिर से कहा—हे सिर! सर्दी, गर्मी और वर्षा में सघन अंधकार वाले प्रदेश में जहां-कहीं तुम मुझे ले जाते हो, वहीं मैं सदा तुम्हारे पीछे-पीछे चली जाती हूं किन्तु अब कुछ समय के लिए मार्ग में मैं भी तुमसे आगे चलूंगी।

सिर ने कहा—पुच्छिके! मैं कंकरीले, कंटीले मार्ग से मयूर और नकुल आदि से बचने के लिए जाता हूं। मैं दुष्ट-अदुष्ट बिलों को जानता हूं, जिन्हें तुम नहीं जानती। अतः तुम खेद का अनुभव मत करो। पूंछ ने कहा—तुम तो ज्ञानी हो, मैं तो अज्ञानी ही रह जाऊंगी। आज तो मुझे अग्रगामी बना लो, नहीं तो मैं इस हल से लिपटकर

यहीं रह जाऊंगी। तुम जाओ, शीघ्र जाओ। सिर ने कहा—मूर्खे! तुम मेरे से आगे हो जाओ। अज्ञानी के साथ विरोध करने से क्या लाभ? अज्ञे! मेरे इस वंश का विनाश देखकर भी आगे जाती हो तो जाओ, तुम भी विनष्ट हो जाओगी। पूंछ ने कहा—जो शक्तिविहीन होते हैं, वे ही बुद्धि को बलशाली मानते हैं। बुद्धि शक्तिसंपन्न का क्या बिगाड़ सकती है? क्या तुमने यह कहावत नहीं सुनी—‘वीरभोग्या वसुंधरा।’ सिर के वचनों को अमान्य करती हुई पूंछ स्वच्छन्दता से अग्रगामिनी बन गई। मुहूर्त्तमात्र चली होगी कि नेत्रविहीन होने से गाड़ी से आक्रान्त होकर विनष्ट हो गई।

गा. ३२४६-३२५० वृ. पृ. ९०८

८४. नील वर्ण सियार

रात्रि के समय एक सियार एक घर में घुसा। घरवालों ने उसे देखा। वे उसे बाहर निकालने लगे। उसे देख कुत्ते भौंकने लगे। वह भयभीत होकर इधर-उधर भागते हुए एक नीले रंग के कुंड में गिर पड़ा। ज्यों-त्यों उससे वह निकला। नीले रंग के कारण वह नीलवर्ण वाला हो गया। उसको देखकर हाथी, तरक्ष आदि पशुओं ने पूछा—तुम इस वर्णवाले कौन हो? उसने कहा—सभी वन्य प्राणियों ने मुझे खसद्रुम नाम से मृगराज बना दिया है। अतः मैं यहाँ आकर देखता हूँ कि मुझे कौन प्रणाम नहीं करता? उन पशुओं ने सोचा—इसका वर्ण अपूर्व है। निश्चित ही देवता द्वारा अनुगृहीत है। वे बोले—देव! हम सब आपके किंकर हैं। आप आज्ञा दें। हम आपके लिए क्या करें? खसद्रुम बोला—मुझे हाथी की सवारी चाहिए। उन्होंने आज्ञा का पालन किया। अब वह खसद्रुम हाथी पर आरूढ़ होकर घूमने लगा। एक बार उसने एक सियार देखा, जो आकाश की ओर मुंह कर हूँ हूँ की आवाज कर रहा था। खसद्रुम भी अपने सियार स्वभाव के कारण वैसी ही आवाज करने लगा। जिस हाथी पर वह आरूढ़ था, उसने जान लिया कि यह सियार है। उसने सूंड से उस खसद्रुम को धरती पर गिरा कर मार डाला।

गा. ३२५१ वृ. पृ. ९०९

८५. बया और वानर

वर्षा ऋतु का समय था। ठंडी हवा चल रही थी। जंगल में एक वृक्ष पर बैठा वानर ठिठुर रहा था। उसी वृक्ष पर बया अपने सुन्दर घोसले में बैठी थी। उसने ठिठुरते हुए वानर को देखा और बोली—वानर! तुम इतने ठिठुर रहे हो तो पहले अपना घर बना लेते। जिससे तुम्हारी यह हालत नहीं होती और आराम से रहते। उसने बया के शब्दों को सुना और क्रोधाविष्ट हो गया। वानर बोला—आई हो मुझे शिक्षा देने, अभी बताता हूँ। इतना कहते-कहते एक छलांग लगाई। बया के घोसले के पास पहुंच गया। एक झटके में घोसले को तोड़ दिया। बया बेचारी रोती-बिलखती रह गई। इतने श्रम से बनाये सुन्दर घोसले को वानर ने बिखेर दिया। फिर वानर बोला—हे बया! अब रह आराम से, आई है मुझे उपदेश देने। देख लिया ना दूसरों को उपदेश देने से तुम भी बेघर हो गई। बेचारी बया सोचने लगी—मैंने अनावश्यक ही सुझाव दिया है—

उपदेशो न दातव्यो, यादृशे-तादृशे जने।
पश्य वानरमूर्खेण, सुगृही निगृही कृता॥

गा. ३२५२ वृ. पृ. ९०९

८६. वैद्यपुत्र

राजवैद्य की मृत्यु के पश्चात् राजा ने वैद्य पुत्र की वृत्ति का निषेध कर दिया। वह वैद्यकशास्त्रवेत्ता नहीं था, अतः वह विदेश गया। एक वैद्य के पास रहा और वैद्य के मुख से एक पद्य सुना—

पूर्वाह्ने वमनं दद्यादपराह्ने विरेचनम्।
वातिकेष्वपि रोगेषु, पथ्यामाहुर्विशोषणम्॥

रोगी को पूर्वाह्न में वमन तथा अपराह्न में विरेचन कराना चाहिए। वातिक रोगों में भी विशोषण पथ्य होता है।

उसने सोचा—वैद्यकशास्त्र का यही सार है। वह अपने आपको कुशल वैद्य मानने लगा और स्वदेश लौट आया। राजा ने पुनः वृत्ति देना प्रारंभ कर दिया। एक दिन राजा की आज्ञा से वैद्यकपुत्र ने राजपुत्र की चिकित्सा में प्रवृत्त हुआ। उसने रोग का निदान किए बिना ही इस श्लोक के माध्यम से कालानुपाती वमन, विरेचन तथा विशोषण—तीनों क्रियाएं एक साथ कीं। राजकुमार मर गया। राजा ने अन्य वैद्यों से इलाज की जानकारी की। तब ज्ञात हुआ कि इलाज गलत होने के कारण राजकुमार मर गया। राजा ने वैद्य पुत्र को दंडित किया।

गा. ३२५९ वृ. पृ. ९१२

८७. आर्य स्कंदक

श्रावस्ती नगरी का राजा जितशत्रु था। उसके धारिणी नाम की रानी थी। उसके स्कंदक पुत्र और पुरंदरयशा पुत्री थी। उत्तरापथ में कुंभकारकर नगर में राजा दण्डकी के साथ पुरंदरयशा का विवाह हुआ। एक बार दण्डकी का पुरोहित पालक दूत के रूप में श्रावस्ती में आया। राजपरिषद् में शास्त्रार्थ के प्रसंग में स्कंदक द्वारा पराजित पालक रुष्ट होकर अपने देश चला गया।

स्कंदक ५०० व्यक्तियों के साथ अर्हत् मुनि सुव्रत के साथ पास प्रव्रजित हुआ। एक दिन स्कंदक ने पूछा—भंते! क्या मैं इन ५०० साधुओं के साथ कुंभकारकर नगर में चला जाऊं? 'वहां मारणांतिक उपसर्ग होगा'—यह कहते हुए भगवान् ने उसे रोका। उसने पूछा—हम आराधक होंगे या विराधक। भगवान् ने कहा—तुम्हारे अतिरिक्त शेष सब आराधक होंगे। यह सुनकर स्कंदक चला, कुंभकारकर के एक उद्यान में ठहरा।

उसे देखते ही पालक का पूर्व वैर जागा। उसने दण्डकी से कहा—यह मुनि आपके राज्य को हड़पने आया है। राजा को विश्वास नहीं हुआ, तब पालक ने उद्यान में स्वयं द्वारा छिपाये हुए आयुधों को दिखाया। क्रुद्ध राजा ने कहा—तुम जैसा चाहो, वैसा करो। पालक ने पुरुषयंत्र बनाकर सब साधुओं को पीलना शुरू किया। एक-एक करते ४९८ साधुओं को पीला दिया। एक छोटा साधु ही बाकी रहा। स्कंदक ने पालक से कहा—यंत्र में पहले मुझे डालो। पालक ने स्कंदक की बात अस्वीकार कर उसे बांध दिया। शिष्य के रक्त से अभिषिक्त स्कंदक ने अशुभ परिणामों से निदान कर दिया और वहां से मरकर भवनपतिदेवों में अग्निकुमार के रूप में उत्पन्न हुआ। शिष्य सब आराधक हो गए।

भगिनी पुरंदरयशा ने अपने भ्राता मुनि को रत्नकंबल दिया था। जिसका रजोहरण बनाया गया था। बाज पक्षी ने रक्तंजित रजोहरण को मांस का टुकड़ा समझ कर उठा लिया और वह संयोगवश पुरंदरयशा के सामने जा गिरा। उसे देखते ही वह आर्त्तस्वर में बोली—अरे! यह यहां कैसे? क्या मेरा भाई मारा गया? उसने राजा के सामने दुःख प्रकट किया। राजा ने पूरी जानकारी की किन्तु तब तक काफी देर हो चुकी थी।

अग्निकुमार ने पूर्वकृत निदान के फलस्वरूप संवर्त्तक वायु की विकुर्वणा कर जनपद सहित नगर को जला दिया और पुत्र-पत्नी सहित पालक को कुत्ते के साथ कुंभी में पकाया तथा सपरिवार पुरंदरयशा को अर्हत् समवसरण में पहुंचा दिया।

गा. ३२७१-३२७४ वृ. पृ. ९१६

८८. संप्रति

एक बार एक रंक ने सुहस्ती के साधुओं को देखा। क्षुधाकुल होने के कारण उसने उनसे आहार मांगा। साधुओं ने कहा—हम अपने आचार्य सुहस्ती को पूछे बिना नहीं दे सकते। वह वहां पहुंच गया। आर्य सुहस्ती ने ज्ञान बल से देखा—यह प्रवचन प्रभावक होगा। उससे कहा—तुम दीक्षा लो तो भोजन दे सकते हैं। वह तैयार हो गया। सामायिक चारित्र स्वीकार किया। कई दिनों बाद भोजन मिलने से उसने अतिभोजन कर लिया, जिससे उसके अजीर्ण हो गया। उसी रात्री में मृत्यु को प्राप्त हो गया। (वह यहां से मरकर अव्यक्त सामायिक के कारण कुणाल के पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ।) चन्द्रगुप्त का पुत्र बिंदुसार। बिंदुसार का पुत्र अशोक। अशोक का पुत्र कुणाल। कुणाल को बचपन से ही उज्जैनी का अधिपत्य दे दिया गया। कुणाल के घर में वह रंक पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ। जन्म के बारह दिन बीतने पर उसका नाम सम्प्रति रखा गया।

कालान्तर से विहरण करते हुए आर्य सुहस्ती उज्जैनी पधारे। राजा संप्रति ने गवाक्ष से आर्य सुहस्ती को देखा और उसे जातिस्मृति ज्ञान हो गया। वह अतिशीघ्र आचार्य सुहस्ती के पास आया और बोला आप मुझे पहचानते हो। आचार्य सुहस्ती ने ज्ञान के द्वारा जान लिया। वे बोले—हां जानता हूं। वे कुछ बताते उससे पूर्व राजा सम्प्रति ने कहा—मैं वही भिखारी हूं। जिसको आपने दीक्षित किया। मैं वहां से मरकर यहां उत्पन्न हुआ हूं। राजा ने धर्म स्वीकार किया।

गा. ३२७५, ३२७६ वृ. पृ. ९१७

८९. स्तेन वृष्टान्त

एक राजा आचार्य का उपदेश सुनकर श्रद्धावान् हो गया। राजा ने आचार्य से सब साधुओं को रत्नकम्बल देने की इच्छा व्यक्त की। आचार्य ने कहा—राजन्! साधु को बहुमूल्य वस्त्र अपेक्षित नहीं है। राजा के अति आग्रह पर आचार्य ने एक रत्नकम्बल ग्रहण किया। उपाश्रय में आकर उसके छोटे-छोटे टुकड़े कर संतों को बैठने के लिए दे दिए। इधर एक चोर ने आचार्य को रत्नकम्बल ग्रहण करते हुए देख लिया। वह रात को उपाश्रय में आया और सोए हुए आचार्य के ऊपर छूरी लेकर बैठ गया। और बोला—मुझे वह रत्नकम्बल दो नहीं तो मार दूंगा। आचार्य बोले—उसके टुकड़े कर दिए। चोर बोला—सिलाई करके दो, तब आचार्य ने सिलवाकर रत्नकम्बल चोर को दिया।

गा. ३९०३, ३९०४ वृ. पृ. १०७१

९०. सुलक्षण अश्व

पारस देश के एक व्यक्ति के पास प्रति वर्ष प्रसव करने वाली अनेक घोड़ियां थीं। उसके पास अश्वों की प्रचुरता हो गई। उनकी सार संभाल के लिए उसने एक नौकर को इस शर्त पर रखा कि वर्ष के अन्त में उसके मनपसन्द के दो अश्व उसे दे दिए जायेंगे। अश्व-रक्षक का अश्वस्वामी की कन्या से साहचर्य हो गया था। एक वर्ष पूरा हुआ। अश्वस्वामी ने उसे कहा—जाओ, दो मनपसन्द अश्व ले लो। वह अश्वों के लक्षण नहीं जानता था। उसने स्वामी की कन्या से लक्षण युक्त अश्वों के विषय में पूछा। वह बोली—तुम प्रतिदिन अश्वों को लेकर जंगल में जाते हो। जब अश्व एक विशाल वृक्ष के नीचे बैठे हों तब तुम चमड़े के कुतप में पत्थर भरकर वृक्ष के ऊपरी भाग से उसे गिराना और पटहवादन करना। जो अश्व इस क्रिया से त्रस्त न हो, वे सुलक्षण अश्व हैं। उसने वैसा ही किया और स्वामी से उन दो अश्वों को मांगा, जो इस प्रक्रिया से त्रस्त नहीं हुए थे। स्वामी ने सोचा—ये दोनों अश्व समस्त लक्षणों से युक्त हैं। इन्हें दे देने पर शेष क्या रहेगा? इसलिए उससे कहा—इन दो अश्वों के

अतिरिक्त तुम दो, चार, दस अश्व ले लो। अश्वरक्षक अपनी मांग पर अडिग रहा। अश्वस्वामी ने सोचा—यदि मैं इसका अपनी कन्या से विवाह कर इसे घरजामाता बनाऊँ तो ये अश्व यहीं रह जाएंगे। उसने अपने मन की बात पत्नी से कही। वह ऐसा करना नहीं चाहती थी। तब अश्वस्वामी ने उसे समझाने के लिए एक दृष्टांत कहा—एक बढई ने अपनी कन्या का विवाह अपने भानजे से कर उसे गृहजामाता के रूप घर में ही रख लिया। वह आलसी था। पत्नी के कहने पर वह कुठार लेकर जंगल में जाता परन्तु काष्ठ बिना लिए ही लौट आता।

छह महीने बीत गए। एक दिन उसे 'कृष्णचित्रकाष्ठ' प्राप्त हुआ। उसने उससे धान्य मापने का कुलक बनाया और उसे एक लाख मुद्राओं में बेचने के लिए अपनी पत्नी को बाजार में भेजा। एक लाख मूल्य में उसे कौन खरीदे? अंत में एक बुद्धिमान् ग्राहक वणिक् आया। वह पारखी था। उस धान्यमापक पात्र का गुण था कि उससे जो धान्य मापा जाता, वह कम नहीं होता था। उस वणिक् ने एक लाख मुद्राएं देकर पात्र खरीद लिया। बढई के जमाता ने अपने कुटुम्ब को धन-धान्य से समृद्ध बना दिया।

अतः सलक्षण अश्वों के लिए पुत्री का विवाह अश्वरक्षक से करना श्रेष्ठ है। ऐसा चिंतन कर उससे कन्या का विवाह कर उसे घरजामाता रख लिया।

गा. ३९५९, ३९६० व. पृ. १०८५

९१. वारत्तग दृष्टान्त

वारत्तगपुर नगर में राजा अभयसेन राज्य करता था। उसका मंत्री वारत्तग था। मंत्री ने पुत्र को घर का सारा दायित्व दिया और स्वयं दीक्षित हो गया। पुत्र ने पितृभक्ति के कारण पिता की स्मृति में एक देवकुल बनवाया। उसमें पात्र, रजोहरण, मुखवस्त्रिका धारण किए हुए पिता की प्रतिमा स्थापित की। एक बार वहां एक पात्रचारी मुनि आया। उसने पात्र में भिक्षा ग्रहण कर आहार किया। फिर उसी पात्र में पानी लिया। थोड़ी देर बाद लघुशंका पात्र में कर परिष्ठापन किया। देवकुल के लोगों ने उसके इस आचार को देखा और सोचा यह साधु एकपात्रधारी है। ये बड़ी शंका (पंचमी) का कार्य कैसे करता है? यथास्थिति जानकर उसे निकाल दिया। फिर कोई वैसा साधु वहां आता तो उसे रहने का स्थान नहीं मिलता।

गा. ४०६६ व. पृ. १११०

९२. राजा मुरुण्ड

कुसुमपुर नगर का राजा मुरुण्ड था। उसकी बहिन छोटी उम्र में विधवा हो गई। उसने अपने भाई राजा मुरुण्ड से कहा—मैं दीक्षा लेना चाहती हूँ। राजा ने सोचा—बहिन को किसके पास दीक्षित करें? परीक्षा के निमित्त एक योजना बनायी। उसने महावत को आदेश दिया कि इधर से जो भी साध्वियां गुजरे उनकी ओर हाथी छोड़ देना और उनको कहना—तुम अपने वस्त्र उतार दो अन्यथा हाथी मार देगा। महावत ने आदेश का पालन किया। राजा गवाक्ष में बैठा सारा दृश्य देखने लगा। एक संन्यासिनी उधर से गुजरी उसने भय से सारे वस्त्र उतार दिये। राजा ने जान लिया यह पाखण्डी है। थोड़ी देर बाद एक जैन साध्वी उधर से निकली। उसके साथ वही व्यवहार किया। उसने मुखवस्त्रिका, निषद्या आदि एक-एक वस्त्र डालना प्रारंभ किया। इतने में ही नगरजन एकत्रित हो गए और महावत को कहा—इस तपस्विनी को क्यों सता रहे हो? हाथी को क्यों पीछे कर रहे हो? राजा का आदेश पाकर उसने हाथी को रोकने का प्रयत्न किया। राजा ने सोचा—इस साध्वी ने इतने वस्त्र छोड़ दिए पर अनावृत नहीं हुई। राजा ने उसी साध्वी के पास अपनी बहिन को दीक्षित कर दिया।

गा. ४१२३-४१२५ व. पृ. ११२३

९३. साधु कौन ?

प्रव्रज्या ग्रहण करने की भावना से एक युवक गुरु के पास जा रहा था। मार्ग में उसने एक कुशील स्त्री के घर के बाहर में रात्रि व्यतीत की। वहां एक यक्ष निरंतर आता था, किन्तु उस रात वह नहीं आया। दूसरी रात्रि में स्त्री ने यक्ष से पूछा—तुम कल क्यों नहीं आए? यक्ष ने कहा—कल यहां यति था। इसलिए नहीं आया। साधु ब्रह्मचर्य के तेज से प्रदीप्त होते हैं, उस तेज का अतिक्रमण कर भीतर आना संभव नहीं है।

स्त्री ने कहा—असत्य क्यों बोल रहे हो? कल तो यहां एक तरुण सोया हुआ था। साधु तो आज सो रहा है। उसे लांघकर कैसे आ गए। यक्ष ने कहा—कल जो सो रहा था वह प्रव्रज्याभिमुखी था। आज तुम्हारे घर के बाहर जो सो रहा है, वह यतिवेश में चोर है। चारित्र्य से भ्रष्ट होकर वह चोरी करना चाहता है।

गा. ४१९३, ४१९४ वृ. पृ. ११३९

९४. भूततडाग

भृगुकच्छ के एक वणिक् को भूतों के अस्तित्व पर विश्वास नहीं था। एक बार वह वणिक् उज्जयिनी नगरी में आया। उसे ज्ञात हुआ कि कुत्रिकापण में भूत आदि प्राप्त होते हैं। वह वहां गया और कुत्रिकापण के स्वामी से 'भूत' देने की बात कही। उस दुकानदार ने सोचा—यह वणिक् मुझे धोखा देना चाहता है, इसलिए मैं इससे 'भूत' का इतना मूल्य मांगूं कि यह उसे खरीद ही न सके। उसने कहा—यदि तुम मुझे एक लाख रुपये दोगे तो मैं तुम्हें भूत दूंगा। वणिक् ने इतना मूल्य देना स्वीकार कर लिया। तब दुकानदार बोला—देखो, तुमको पांच दिन प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। फिर मैं तुम्हें भूत दे दूंगा।

दुकानदार ने तेले की तपस्या कर अपने अधिष्ठाता देव से पूछा। देव ने कहा—तुम वणिक् को निर्धारित मूल्य में भूत दे दो। पर उसको कह देना कि यह भूत विचित्र है। इसे सतत कार्य में व्यापृत रखना होगा। यदि तुम इसको कोई कार्य नहीं दोगे, तो यह तुम्हें मार डालेगा। पांचवें दिन वणिक् आया और भूत की मांग की। दुकानदार ने देवता द्वारा कथित बात बताकर उसे भूत दे दिया। भूत को साथ ले वणिक् भृगुकच्छ चला गया। वहां जाते ही भूत बोला—मुझे कार्य बताओ। वणिक् ने कार्य बताया। भूत ने उसे तत्काल सम्पन्न कर दूसरे कार्य की मांग की। वणिक् के सारे कार्य सम्पन्न हो गए। भूत ने फिर नए कार्य की मांग की, तब वणिक् ने बुद्धिमत्ता से कहा—तुम यहां एक ऊंचा स्तंभ गाड़ो और उस पर तब तक चढ़ते-उतरते रहो जब तक कि मैं तुम्हें दूसरे काम में नियोजित न करूं। यह सुनते ही भूत ने कहा—मैं हारा, तुम जीते। मैं अपनी पराजय के स्मृतिचिह्न के रूप में एक तड़ाग बनाना चाहता हूं। तुम जाते हुए जब तक पीछे मुड़कर नहीं देखोगे, उतने क्षेत्र में एक तालाब निर्मित हो जाएगा। उस वणिक् ने अश्व पर आरूढ़ होकर बारह योजन तक जाने के बाद मुड़कर पीछे देखा। भूत ने तत्काल वहां भृगुकच्छ के उत्तरीभाग में 'भूततडाग' नाम का तालाब निर्मित कर दिया।

तोसलीनगर का वणिक् उज्जयिनी में आया और एक कुत्रिकापण से ऋषिपाल नामक वानव्यन्तर को खरीदा। आपणिक ने कहा—इस वानव्यन्तर को निरंतर कार्य में व्यापृत रखना, अन्यथा यह तुमको मार देगा। वणिक् उसे तोसलीनगर ले गया और अपने सारे कार्य करवाकर अंत में उसी प्रकार खंभे पर चढ़ने-उतरने की बात कहकर उसे पराजित कर दिया। उसने भी 'ऋषितडाग' नामक तलाब बना दिया।

गा. ४२२०-४२२३ वृ. पृ. ११४५

९५. दास राजा

एक दास राजा की सेवा करता था। एक बार राजा ने दास के कार्य पर प्रसन्न होकर उसे पारितोषिक रूप में एक राज्य दे दिया। दास अब उस राज्य का राजा बन गया। उस राज्य के प्रधान लोग दास रूपी राजा का न आदर करते, न अभ्युत्थान करते। अपितु उसका तिरस्कार करते। उसने ऐसा व्यवहार देखकर आदेश दिया कि जो विनय करेगा उसे बहुमान मिलेगा। जो तिरस्कार करेगा वह दंडित होगा। लोग समझ गए। विनय नहीं किया तो हमारे ही समस्या होगी।

वैसे ही साधु को प्राचूर्य आचार्य आदि के प्रति विनय करना चाहिए।

गा. ४४३१, ४४३२ वृ. पृ. ११९६

९६. भद्रक भोजिक

राजा के निकट एक भोजिक रहता था। किसी कारण से राजा भोजिक पर प्रसन्न हो गया। प्रसन्न होकर पारितोषिक रूप में एक गांव दिया। वह गांव का प्रधान बन गया। गांववासी भोजिक को प्रधान रूप में स्वीकार कर उसका आदर, सम्मान करते। भोजिक के व्यवहार से सारे ग्रामवासी खुश थे। 'कर' का प्रसंग आया तो वृद्ध और प्रौढ़ लोगों ने भोजिक से कहा—हम कर नहीं देंगे, हमारे पुत्र, पौत्र आदि 'कर' देंगे। उसने स्वीकार कर लिया। ग्रामवासी जो भी निवेदन करते, भोजिक सबकी बात स्वीकार कर लेता। इतने ऋजु व्यवहार के कारण अनेक गलत वृत्तियों का विस्तार हो गया। वे उसका अविनय करने लगे। भोजिक ने सारी स्थिति की जानकारी की। उस पर नियंत्रित करने के लिए जो अविनय करता, उपद्रव करता उसे दंडित किया जाता। दंड के भय धीरे-धीरे पुनः लोग विनीतता को प्राप्त हो गए।

वैसे ही आचार्य के प्रति शिष्य विनय आदि नहीं करते तो आचार्य रुष्ट होकर प्रायश्चित्त देते हैं। अत्यन्त अपराध होने पर गच्छ से विच्छेद कर देते हैं। विनय नहीं करने पर इहलोक-परलोक दोनों बिगड़ जाते हैं।

गा. ४४५८ वृ. पृ. १२०३

९७. वक्खार भांड

एक भाटिक एक नगर से दूसरे नगर में वक्खार-भांड लेकर गया। वक्खार स्वामी साथ में था। उसने कहा—कुछ ठहरो। वक्खार को उतारने का उपयुक्त स्थान ढूंढ लेता हूं। उस भाटिक ने कहा—मैंने तो भांडों को इस नगर में लाने की बात कही थी। यही नगर है। मैं अब अधिक रुक नहीं सकता। उसने वहीं भांडों को उतार डाला। अस्थान पर रखने के कारण वे सारे भांड नष्ट हो गए।

गा. ४४७७ वृ. पृ. १२०९

९८. शर्करा घट

एक राजा ने शक्कर से भरे हुए दो घट मंगवाये। उस पर मुद्रा लगाकर दो पुरुषों को देते हुए कहा—इनकी सुरक्षा करना और मांगने पर देना। दोनों घट ग्रहण कर चले गए। एक पुरुष ने उस घट के नीचे राख लगाकर, उसे कंटिकाओं से वेष्टित कर दिया। उसे कपाटयुक्त निर्बाध प्रदेश में रख दिया और तीनों संध्याओं में उसकी देखभाल करता। दूसरे पुरुष ने शर्कराघट को कीटिनगर के पास स्थापित कर दिया। शक्कर की गंध से चींटियों ने मुद्रा को छिन्न-भिन्न नहीं किया किन्तु नीचे से घट को चालनी बना दिया। उस जर्जरित बने घट में से सारी शक्कर खा डाली। कुछ समय बाद राजा ने घट मंगवाये। प्रथम पुरुष को पुरस्कृत किया। दूसरे पुरुष को प्रमाद करने के कारण दण्डित किया। इसी प्रकार मुद्रा रूपी मुनि लिङ्ग होने पर भी प्रमादयुक्त साधु के शक्कर रूपी

चारित्र चींटियों से नष्ट हो जाता है। जो संयमश्रेणी में आरूढ़ होता है, वह यदा-कदा प्रमाद करके संभल जाता है।

गा. ४५१६-४५१९ वृ. पृ. १२२०

९९. बगीचा

एक बगीचा था। उसको सारणी से पानी पिलाया जाता था। सारणी में तिनके गिरे। किसी ने उन्हें नहीं निकाला। तिनके गिरते गए। धीरे-धीरे पानी का बहाव रुक गया। पानी के अभाव में बगीचा सूख गया। इसी प्रकार उत्तरगुणों की बार-बार प्रतिसेवना से दोषों का संचय होता है और प्रवहमान संयमजल अवरुद्ध हो जाता है, व्यक्ति चारित्र से च्युत हो जाता है।

गा. ४५२२ वृ. पृ. १२२१

१००. शकट और मंडप

शकट और मंडप पर सरसों के दाने डाले, वे उसमें समा गए। प्रतिदिन डालते गए, वे समाते गए। एक दिन ऐसा आया कि सरसों ने भार के कारण शकट और मंडप को तोड़ डाला। इसी प्रकार एक-एक दोष चारित्र पर अपना भार डालते रहें तो एक दिन चारित्र टूट जाता है।

गा. ४५२२ वृ. पृ. १२२१

१००. वस्त्र दृष्टान्त

नया वस्त्र। एक तैल बिन्दु उस पर पड़ा। उसका शोधन नहीं किया गया। उस पर धूल लग गई। दूसरी-तीसरी बार भी उस पर तैल पड़ा। शोधन नहीं हुआ। कालान्तर में वह मलिन वस्त्र अत्यंत मलिन हो गया। इसी प्रकार चारित्र भी अपराधपदों से मलिन हो जाता है यदि उनका शोधन न किया जाए।

गा. ४५२२ वृ. पृ. १२२१

१०१. अजापालवाचक

एक बार आचार्य ने साधुओं को क्षेत्र प्रतिलेखना के लिए भेजा। वे साधु अगीतार्थ थे। साधु आज्ञा प्राप्त कर उस गांव में गए। उस गांव में एक भ्रष्ट ब्रती साधु रहता था। उसका उस गांव में अच्छा प्रभाव था। उस गांव में वह प्रमाण पुरुष था। उस गांव में जाकर साधुओं ने लोगों से पूछा—यहां कोई वाचक रहता है क्या? लोगों ने बताया हां रहता है। पूछा कहां है? बताया अरण्य में। वे साधु अरण्य में गए। बकरियों की रक्षा करते हुए उस साधु को देखा। वे उससे मिले बिना ही गांव की ओर मुड़ गए। उसने जाते हुए साधुओं को देखकर सोचा—इन्होंने मेरे आचार को जान लिया है। जरूर ये गांव में जाकर मेरे आचार को बता देंगे। वह कुपित होकर अतिशीघ्र पल्लीपति के पास गया और उन साधुओं को बंदी बना दिया। साधु पुनः आचार्य के पास नहीं पहुंच सके। आचार्य उनकी खोज करते हुए उस गांव में पहुंचे। लोगों से यथास्थिति की जानकारी कर वाचक के पास गए। अभिवादन कर उससे कहा—ये साधु अगीतार्थ है। ऐसा कहकर उन्हें मुक्त करवाया।

गा. ४५३७,४५३८ वृ. पृ. १२२५

१०२. उदक दृष्टान्त

एक साधु भिक्षा के निमित्त से अन्य गांव जा रहा था। रास्ते में एक आदमी का साथ हो गया। दोनों साथ-साथ चले। मार्ग में नदी थी। अन्य मार्ग नहीं था। उसके साथ वह साधु भी नदी पार कर गांव में पहुंच गया। वह आदमी अपनी बहिन के घर चला गया और साधु भिक्षा के लिए चला। अनेक घरों में भिक्षा करता हुआ वह उसी आदमी की बहिन के घर पहुंचा। उसके हाथ गीले थे। वह गीले हाथों से भिक्षा देने के लिए तैयार हुई। साधु ने भिक्षा लेने से इन्कार कर दिया। तब वह आदमी बोला—तुम पाखंडी हो, मायावी हो, धर्मभ्रष्ट हो। नदी पार करने में तो दोष नहीं लगा और गीले हाथ से भिक्षा लेने में दोष है। साधु ने कहा—हम न पाखंडी हैं और न मायावी। अन्य मार्ग नहीं था इसलिए नदी पार की। जिसे छोड़ा जा सकता है उसे छोड़ देते हैं।

गा. ४५७७ वृ. पृ. १२३६

१०३. पिशाच गृह

एक किसान ने सुन्दर मकान बनवाया। उसने चिंतन किया कि भोज करने के बाद गृह प्रवेश करेंगे। सारी व्यवस्था हो गई। रात में वाणव्यन्तर देव ने किसान से कहा—यदि तुम इस घर में प्रवेश करोगे तो मैं तुम्हारे कुल का उच्छेद कर दूंगा। किसान ने गृह प्रवेश नहीं किया और घर के चारों ओर बाड़ लगा दी। एक दिन वहां साधु आए, उन्होंने किसान से घर की याचना की। किसान ने यथास्थिति बता दी। साधु बोले—यह घर देव परिगृहीत है पर तुम रहने के लिए हमें दे दो। किसान ने साधुओं को घर में रहने की आज्ञा दे दी। साधुओं ने कायोत्सर्ग कर ध्यान कर, देव को आह्वान किया। देव उपस्थित हुआ तब साधुओं ने मकान में रहने की स्वीकृति मांगी। देव ने कहा—आप यहां रह सकते हैं पर ऊपर की मंजिल में मत जाना। उसकी स्वीकृति प्राप्त कर वहां रह गए। फिर अन्य साधुओं के लिए उस ग्राम में रहने की सुविधा हो गई।

गा. ४७६८, ४७६९ वृ. पृ. १२८९

१०४. अव्याकृत दृष्टान्त

राजगृह नगर में एक वणिक् रहता था। वह ऋद्धिमान था। उसने एक अत्यन्त सुन्दर मकान बनवाया। गृह प्रवेश से पूर्व ही उसकी मृत्यु हो गई। धीरे-धीरे पुत्रों के व्यापार में हानि होने लगी। पुत्र वैभव रहित हो गए। इतने बड़े मकान का 'कर' लगता था। पुत्रों ने 'कर' के भय से उसे बन्द कर दिया और छोटी कुटिया में रहने लगे। वह घर साधुओं के रहने के लिए उपयोगी बन गया।

गा. ४७७० वृ. पृ. १२८२

१०५. राजकन्या दृष्टान्त

पादलिप्त आचार्य ने राजा की बहिन के सदृश एक यन्त्र प्रतिमा बनाई। उस प्रतिमा में चंद्रमण और उन्मेष निमेष की क्षमता थी। उसके हाथ में तालवृन्त का पंखा था। वह आचार्य के सामने प्रस्थापित थी। राजा भी पादलिप्त आचार्य से स्नेह करता था। एक दिन द्वेषवश एक ब्राह्मण ने राजा से कहा—आपकी बहिन आचार्य द्वारा अभिमंत्रित है। राजा को विश्वास नहीं हुआ। ब्राह्मण राजा को अपने साथ ले गया और आचार्य के सम्मुख प्रस्थापित यंत्रमयी प्रतिमा दिखाई। राजा रुष्ट होकर वहां से लौट आया। तब आचार्य ने तत्काल उस प्रतिमा को नष्ट कर विसर्जित कर दिया। राजा का संदेह दूर हो गया। यवन देश में ऐसी प्रतिमाएं प्रचुरता से निर्मित की जाती थीं।

गा. ४९१५ वृ. पृ. १३१६

१०६. सरसों की भाजी

एक मुनि को गोचरी में सरसों की भाजी मिली। उसने आचार्य को उसके लिए निमंत्रित किया। गुरु ने सारी भाजी खाली। शिष्य इससे कुपित हो गया। गुरु ने क्षमायाचना की, पर वह उपशांत नहीं हुआ। तब गुरु ने उस गण के लिए दूसरे आचार्य की स्थापना कर स्वयं अन्य गच्छ में जाकर भक्तप्रत्याख्यान अनशन कर लिया। गुरु कालगत हो गए। उस दुष्ट शिष्य ने अपने साथी साधुओं से गुरु के विषय में पूछताछ की। किसी ने कुछ नहीं बताया तब दूसरे स्रोतों से सारी जानकारी प्राप्त कर वह वहां गया जहां गुरु ने अनशन कर शरीर को त्यागा था। वहां जाकर उसने पूछा—उनका शरीर कहां है? गुरु ने प्राणत्याग से पूर्व ही कह दिया था कि उस दुष्ट शिष्य को मेरे विषय में कुछ मत बताना। अतः उसके पूछने पर भी उन्होंने कुछ नहीं बताया। उसने अन्य स्रोत से सारी जानकारी प्राप्त कर वहां पहुंचा जहां आचार्य के शरीर का परिष्ठापन किया था। उसने उस मृत शरीर को निकाला और गुरु के दांतों को तोड़ते हुए बोला—तुमने इन्हीं दांतों से सरसों की भाजी खाई थी। साधुओं ने यह देखा और सोचा—इस दुष्ट ने प्रतिशोध लेकर अपना क्रोध शांत किया है।

गा. ४९८८, ४९८९ वृ. पृ. १३३३

१०७. मुखवस्त्रिका

एक साधु को अत्यंत उज्ज्वल मुखवस्त्रिका प्राप्त हुई। उसने गुरु को दिखाई। गुरु ने उसको ले ली। उसके मन में गुरु के प्रति प्रद्वेष उत्पन्न हो गया। गुरु ने यह जाना और मुखवस्त्रिका पुनः देते हुए क्षमायाचना की किन्तु उसका क्रोध शांत नहीं हो रहा था। यह जानकर गुरु ने भक्तप्रत्याख्यान अनशन ले लिया। रात्री में एकान्त पाकर शिष्य गुरु के निकट गया और गुरु के गले को जोर से दबाया। संभूढ होकर दूसरे शिष्य ने उस दुष्ट का गला पकड़कर जोर से दबाया। दोनों—गुरु और वह दुष्ट शिष्य— मृत्यु को प्राप्त हो गए।

गा. ४९९० वृ. पृ. १३३३

१०८. उलूकाक्ष

एक साधु सूर्यास्त के समय कपड़े सी रहा था। दूसरे मुनि ने कहा—अरे उलूकाक्ष! सूर्य के अस्तगत हो जाने पर भी सी रहा है? वह कुपित होकर बोला—‘तुम मुझे इस प्रकार कहते हो, मैं तुम्हारी दोनों आंखें उखाड़ दूंगा।’ उसे क्रोधाविष्ट देखकर दूसरा शिष्य सहम गया। क्षमायाचना करने पर भी वह शांत नहीं हुआ यह जानकार उस शिष्य के अनशनपूर्वक मरने के पश्चात् पहले शिष्य ने उसकी दोनों आंखें उखाड़ कर ‘तुमने मुझे उलूकाक्ष कहा था’, यह कहते हुए दोनों आंखें निकाल कर अपना गुस्सा शांत किया।

गा. ४९९१ वृ. पृ. १३३३

१०९. शिखरिणी

एक बार एक शिष्य को भिक्षा में उत्कृष्ट शिखरिणी की प्राप्ति हुई। कायोत्सर्ग कर गुरु के समक्ष पात्र रख गुरु को उसके लिए आमंत्रित किया। गुरु ने स्वयं समूची शिखरिणी का पान कर लिया। तब उस दुष्ट शिष्य ने गुरु को मारने के लिए दंड उठाकर प्रतीज्ञा की। गुरु ने क्षमायाचना की, परन्तु वह शिष्य उपशांत नहीं हुआ। तब गुरु ने अपने गण में ही अनशन स्वीकार कर समाधिमरण को प्राप्त किया। तदनन्तर उस दुष्ट शिष्य ने गुरु के शरीर को दंडे से खूब कूटा फिर उसका गुस्सा शांत हुआ।

गा. ४९९२ वृ. पृ. १३३३

११०. मांसभक्षी

एक व्यक्ति गृहवास में मांसभक्षी था। कालान्तर में प्रतिबुद्ध हो उसने दीक्षा ग्रहण कर ली। एक बार भिक्षा के लिए ब्रजन करते हुए कसाइयों द्वारा एक महिष को कटते हुए देखा। पूर्व अभ्यास के कारण महिष के मांस खाने की तीव्र लालसा उत्पन्न हो गई। वह उपाश्रय में लौट आया। रात्री में तीव्राभिलाषा के वशीभूत हो स्त्यानर्द्धि निद्रा में उठा। महिष मंडल में पहुंच एक महिष को मारा। मांस खाकर अपनी मनोभिलाषा पूर्ण कर बचा हुआ मांस उपाश्रय के बाहर डाल पुनः अपनी शय्या पर सो गया। प्रातः गुरु से आलोचना के लिए निवेदन किया कि स्वप्न में मैंने ऐसे किया। सूर्योदय होने पर उपाश्रय के बाहर मांस के टुकड़े देख गुरु ने जाना कि स्त्यानर्द्धि का प्रभाव है।

गा. ५०१८ वृ. पृ. १३४०

१११. मोदकभक्त

एक साधु गोचरी के लिए घर-घर में भ्रमण कर रहा था। उसने एक घर में मोदक तैयार होते हुए देखा। मोदक खाने की अभिलाषा हो गई। उस दिन काफी घरों में घूमने पर भी मोदक प्राप्त नहीं हुए। गोचरी कर उपाश्रय में लौट आया। रात में सोने के उपरांत मोदक खाने की भावना के वशीभूत हो उठा। पात्र लेकर मोदक वाले गृह के कपाटों को तोड़कर घर में प्रवेश किया।^१ मोदकों को देख वहीं मोदक खाने लगा। मन तृप्त कर पात्रों को मोदकों से भर उपाश्रय में आ गया। पात्र यथास्थान रख अपने संस्तारक पर सो गया। पश्चिम रात्री में आवश्यक संपन्न कर गुरु के समक्ष स्वप्न बतला आलोचना की। सूर्योदय होने पर पात्र प्रतिलेखन करते समय मोदकों को देख गुरु ने जाना यह स्त्यानर्द्धि निद्रा के कारण हुआ है।

गा. ५०१९ वृ. पृ. १३४०

११२. कुंभकार

एक कुंभकार प्रतिबुद्ध हो प्रव्रजित हो गया। साधना करते-करते एक रात्री में स्त्यानर्द्धि निद्रा का उदय हो गया। पूर्वाभ्यास के कारण पास में सुप्त साधु के सिर को मृत्तिकापिंड समझ पहले उसे पैरों से मसला। उस सिर को घूमने लगा। कुंभ तैयार हो गया है यह सोच उस सिर का छेदन कर पास में रख सो गया। प्रातः उठ कर गुरु से आलोचना की कि रात स्वप्न में मैंने एक घड़ा तैयार किया। किंचित् प्रकाश होने पर गुरु ने मृत कलेवर को देखा और जान लिया कि स्त्यानर्द्धि निद्रा का उदय हुआ है।

गा. ५०१८ वृ. पृ. १३४०

११३. मदोन्मत्त हाथी

भिक्षा के लिए घूमते हुए एक साधु को सामने से आते हुए एक मदोन्मत्त हाथी ने अपनी सूंड से पकड़ हवा में उछाल दिया। पास ही घास पर गिरने से साधु के विशेष क्षति नहीं हुई किन्तु उसके मन में हाथी के प्रति अत्यन्त प्रद्वेषभाव उत्पन्न हो गए। उस रात उसके स्त्यानर्द्धि निद्रा का उदय हो गया। सुबह के प्रद्वेष के कारण वह सीधा हस्तिशाला पहुंचा। हस्तिशाला के दरवाजों को तोड़ भीतर एक हाथी को मुष्टि प्रहार से हत कर उसके दांत उखाड़ दिए। नींद में ही चलते उपाश्रय के बाहर दांत रख पुनः अपनी शय्या पर जाकर सो गया। प्रभात में स्वप्न बतला कर आलोचना की। सुबह क्षेत्र प्रतिलेखन करने पर गुरु ने जान लिया यह स्त्यानर्द्धि निद्रा के कारण हुआ है।

गा. ५०२१ वृ. पृ. १३४१

१. स्त्यानर्द्धि निद्रा की उदयावस्था में व्यक्ति की शक्ति शतगुणित हो जाती है।

११४. वटवृक्ष

एक बार एक मुनि उद्भ्रामक भिक्षा के लिए मूल गांव के पास वाले गांव में गया। पुनः लौटते समय ग्राम के बाह्य भाग में स्थित विशाल वटवृक्ष की शाखा से उसके सिर टकरा गया। खेद खिन्न हो मन में उस वट के प्रति प्रद्वेष जाग उठा। रात्री में स्त्यानर्द्धि निद्रा का उदय हो गया। उपाश्रय से बाहर आ सीधा वटवृक्ष के पास पहुंचा। स्त्यानर्द्धि निद्रा के कारण अतिशय शक्तिसंपन्न उस साधु ने वटवृक्ष को उखाड़ कर उसकी शाखाओं को छिन्न-भिन्न कर दिया। कुछ शाखाएं उठा उपाश्रय के द्वारमूल के पास रख अपने शयनीय स्थान पर सो गया। प्रतिक्रमण के पश्चात् गुरु के समक्ष स्वप्न बतला आलोचना की। सूर्योदय होने पर शाखाओं को देख गुरु ने समझ लिया इस साधु के स्त्यानर्द्धि निद्रा का उदय हुआ है।

गा. ५०२२ वृ. पृ. १३४१

११६. निमित्तज्ञ आचार्य

उज्जैनी नगरी में एक निमित्तज्ञ आचार्य थे। उसके दो मित्र थे। वे दोनों व्यापारी थे। वे जब भी कोई व्यापार करते आचार्य से पूछकर करते थे। क्रय-विक्रय क्या करना? जैसा वे बताते वैसा ही करते। ऐसे करते हुए वे दोनों धनी हो गए। एक दिन निमित्तज्ञ आचार्य का संसारपक्षीय भाणजा आया। उसने मामा महाराज से कहा—मुझे १००० रुपये की जरूरत है। उन्होंने अपने शिष्य के साथ मित्र के पास भेजा। वह गया और बोला १००० रुपये चाहिए। वह बोला—मैं इतने रुपये नहीं दे सकता, यहां कोई स्वर्ण बींट करने वाला पक्षी थोड़े ही है। मैं तो २० रुपये दे सकता हूं। वह मामा के पास गया और सारी बात कह दी। उसने अपने दूसरे मित्र के पास भेजा। उस मित्र ने उसकी खूब आवभगत की और उसको कहा—जितना चाहिए उतना ले जाओ। वह रुपये लेकर मामा के पास आया और मित्र की बहुत प्रशंसा की। दूसरे वर्ष व्यापार के निमित्त दोनों मित्र फिर आचार्य के पास आए। क्या खरीदें? क्या बेचें? सारी बात पूछी? पहले मित्र के व्यवहार से आचार्य का मन खिन्न था। अतः उन्होंने उसे बताया—तुम्हारे पास जितना धन है उससे कपास, घी, गुड़ खरीदकर घर के अन्दर रख दो। उसने वैसा ही किया। दूसरे मित्र के व्यवहार से आचार्य बहुत प्रभावित थे। उसने उसे कहा—तुम सारा तृण, काष्ठ और धान्य खरीदकर नगर के बाहर रखवा दो। उसने वैसा ही किया। कुछ दिन बाद नगर में आग लग गई। पहले मित्र का सारा माल जल गया। दूसरे का माल बहुत मूल्य में बिका उसके खूब कमाई हुई। पहला मित्र आचार्य के पास आया और बोला—इस बार आपका निमित्त गलत हो गया। आचार्य ने कहा—मेरे पास क्या कोई निमित्त बताने वाला पक्षी है? उसे अपनी गलती का अहसास हुआ, उसने आचार्य से क्षमायाचना की।

गा. ५११४ वृ. पृ. १३६२

११७. वेदोपघात से मृत्यु

एक बार राजकुमार हेम इन्द्रमह के अवसर पर इन्द्र-स्थान में गया। वहां उसने नगर की पांच सौ रूपवती कुल-बालिकाओं को देखा और पूछा—ये बालिकाएं क्यों आई हैं? क्या चाहती हैं? सेवकों ने बताया—ये इन्द्र से सौभाग्य का वर चाहती हैं। राजकुमार ने कहा—इन्द्र ने वर रूप में मुझे भेजा है, इसलिए इन सबको अन्तःपुर में ले जाओ। सेवक उन्हें अन्तःपुर में ले गया। राजकुमार ने सबके साथ शादी कर ली। वह उनमें अत्यन्त आसक्त था। आसक्ति के कारण उसका सारा वीर्य निर्गलित हो गया, उससे वेद का उपघात हुआ और वह मृत्यु को प्राप्त हो गया।

गा. ५१५३ वृ. पृ. १३७१

११८. शिष्य कपिल

आचार्य के कपिल नाम का शिष्य था। वह शय्यातर की पुत्री के साथ यदा कदा क्रीड़ा करता था। धीरे-धीरे मुनि कपिल का मन उस कन्या में आसक्त हो गया। वह उससे छेड़खानी करने लगा। एक दिन वह गायों को दुहने के लिए बाड़े में गई। इधर कपिल भी उसी समय भिक्षा के लिए गया। उसको अकेली देख, उसकी इच्छा के विरुद्ध ही उसे अपनी भार्या बना दिया। उसने अपने पिता से सारी बात कह दी। पिता ने आचार्य से निवेदन किया। एक दिन अत्यधिक आसक्ति के कारण कपिल ने उसका योनि भेद कर लिया। वह बेहोश हो गई। जब उसका पिता घर पर आया और पुत्री की स्थिति देखी तो उसने कपिल का मूल से ही लिंगच्छेद कर लिया। वह नपुंसक बन गया। संयोगवश वह वेश्या के पास पहुंच गया। वहां उसके स्त्रीवेद का उदय हो गया। उसने एक ही भव में तीनों वेदों का अनुभव किया।

गा. ५१५४ वृ. पृ. १३७१

११९. बौद्ध भिक्षु

एक दिन एक बौद्ध भिक्षु नाव में आरूढ़ होकर दूसरे तट पर जा रहा था। उसने वहां निर्वस्त्र औरत को देखा। वह सहजभाव से अपना कार्य कर रही थी। उस औरत को देखने से ही बौद्ध भिक्षु के वेदोदय हो गया। वह अपने पर नियंत्रण नहीं कर सका। सबके सामने ही औरत के साथ भोग करने लगा। लोगों ने उसे इतना मारा कि वह निवीर्य हो गया।

गा. ५१६५ वृ. पृ. १३७४

१२०. द्रव्यमूढ़ वणिक

एक घटिकावोद नाम का वणिक धन कमाने के लिए प्रदेश गया। पीछे उसकी पत्नी अकेली थी। वह किसी पुरुष के प्रति आसक्त हो गई। वह पुरुष उसके घर आने लगा। एक दिन उसने कहा तुम्हारा मेरे प्रति सच्चा राग है या नहीं इसका क्या प्रमाण? तुम्हारे पति के आने पर तुम मुझे छोड़ भी सकती हो। अतः एकान्त और विश्वास के बिना भोग संभव नहीं हो सकता। पहले तुम ऐसा उपाय करो जिससे तुम और मैं सदा साथ रह सके। अन्य कोई अपने बीच में न आए। इसके लिए एक उपाय किया। एक शव को घर में लाकर रख दिया और घर के आग लगा दी। दोनों अन्यत्र चले गए।

कुछ दिन बाद वणिक नगर में आया तो देखा कि घर जलकर भस्म हो गया। राख में एक व्यक्ति की अस्थियां पड़ी हैं। उसने सोचा कि मेरी पत्नी जलकर मर गई है। उसका पत्नी के प्रति अनुराग था। लोक मान्यतानुसार पत्नी की गति अच्छी हो ऐसा सोचकर अस्थियां लेकर गंगा नदी की ओर चल पड़ा। संयोग से गंगातट पर उसकी पत्नी ने उसे देखा और पहचान गई। उससे परिचय पूछा—उसने अपनी राम कथा कह दी और कहा घर पर आग लग जाने से मेरी पत्नी जल कर मर गई। मैं उसकी अस्थियां गंगा में बहाने आया हूँ। जिससे उसका कल्याण हो सके। ऐसा कहते-कहते रोने लगा। उसका व्यवहार देख वह सोचने लगी इनका मेरे प्रति कितना अनुराग है, प्रेम है? मैं अभागी अन्य के साथ बंध गई। उसका प्रेम पुनः जागृत हो गया। उसने कहा—मैं ही तुम्हारी पत्नी हूँ, मैं मरी नहीं। वह बोला—मेरी पत्नी तुम्हारे सदृश ही थी पर तुम कैसे हो? मैं उसकी अस्थियां लाया हूँ। उसने विश्वास पैदा करने के लिए अतीत की अनेक गुप्त बातें बता दी। अपनी गुप्त बातें सुनकर उसे विश्वास हो गया कि यही मेरी पत्नी है।

गा. ५२१५ वृ. पृ. १३८६

१२१. कालमूढ़ ग्वाला

ग्वाला प्रतिदिन प्रातः गायों को चराने के लिए जंगल में जाता और सायंकाल के समय गांव में गायों को लेकर आ जाता। एक दिन गरिष्ठ भोजन कर सो गया। जब उसकी नींद खुली तब आकाश सघन बादलों से आच्छादित था। दिन को रात समझ कर वह गायों को लेकर गांव में आया। गायों को अपने-अपने स्थान पर छोड़कर वेश्या के पास चला गया। लोगों ने उसका यह व्यवहार देखा तो उसे बुरा-भला कहा। उसे अपनी गलती का अहसास हुआ।

गा. ५२१६ वृ. पृ. १३८६

१२२. गणनामूढ़ उष्ट्रपालक

एक ऊंटपालक के पास २१ ऊंट थे। उसने एक ऊंट पर बैठे-बैठे ही ऊंटों की गणना शुरू कर दी। उसकी गणना में ऊंट बीस ही हो रहे थे। जिस पर बैठा उसे गिनना भूल गया। बार-बार गिनने पर भी २१वां ऊंट मिल नहीं रहा था। वह परेशान हो गया। उसने सोचा एक ऊंट खो गया। इतने में उसने एक व्यक्ति को आते हुए देखा। वह निकट पहुंच गया तब उसने कहा—तुमने कहीं एक ऊंट देखा है? मेरा ऊंट खो गया। उसने पूछा—तुम्हारे पास कितने ऊंट थे। वह बोला—२१। उसने गणना की तो २१ ऊंट पूरे हो गए। उसने कहा—जिस पर तुम बैठे हो वह २१वां ऊंट है।

गा. ५२१७ वृ. पृ. १३८६

१२३. सादृश्यमूढ़ सेनापति

चोरों का सेनापति अपने अनेक साथियों के साथ गांव में चोरी करने गया। वहां वह व्यक्तियों को मारने लगा। गांव का प्रधान वहां पहुंचा और चोर सेनापति के साथ युद्ध करने लगा। युद्ध में चोर सेनापति की मौत हो गई। प्रधान और चोर सेनापति की सूरत मिलती-जुलती (एक-समान) थी। ग्रामीणों ने सोचा—प्रधान मर गया। उन्होंने उसका दाह-संस्कार कर दिया। चोरों ने प्रधान को अपना सेनापति समझकर उसे अपनी पल्ली में ले आए। उसने चोरों से कहा—मैं सेनापति नहीं हूँ पर वे माने नहीं। एक दिन मौका देखकर वह वहां से भाग कर गांव में आया। ग्रामीणों ने उसे देखा और भयभीत हो गए। उन्होंने सोचा यह मरकर भूत बन गया। साहस जुटाकर किसी ने पूछा—तुम मर चुके हो, अब भूत हो या पिशाच? यहां क्यों आए हो? उसने कहा—मैं न भूत हूँ न पिशाच। मैं मरा नहीं। युद्ध से पूर्व और वर्तमान की सारी स्थिति बताने पर गांव वालों को विश्वास हुआ कि यह प्रधान ही है।

गा. ५२१७ वृ. पृ. १३८६

१२४. वेदमूढ़ राजा

आनन्दपुर नगर में राजा जितारि का शासन था। उसके एक रानी थी। रानी ने पुत्र को जन्म दिया। पुत्र का नाम अनंग रखा। वह जन्म से ही रोने लगा। उसका रोना बंद ही नहीं होता। अनेक उपाय करने पर भी वह चुप ही नहीं हुआ। एक दिन रानी सहज भाव से पुत्र को चुप करने के लिए उसे जानु और ऊरु के बीच बैठाकर खिलाने लगी। अचानक दोनों के गुह्य स्थान का स्पर्श हो गया। स्पर्श होते ही उसका रोना बंद हो गया। जब-जब वह रोता तब-तब रानी वैसा ही करती और वह रोना बंद कर देता। राजकुमार बड़ा होने लगा। इस व्यवहार के प्रति आसक्ति बढ़ने लगी। राजा की मृत्यु हो गई। अनंग का राज्याभिषेक किया। वह उम्र से छोटा होने के कारण

मंत्री राज्य का पालन करता था। मंत्री को मां-बेटे के इस व्यवहार का पता चला तो उसने अनंग को समझाया पर वह माना नहीं। माता के साथ निःसंकोच भोग भोगता रहा।

गा. ५२१८ वृ. पृ. १३८७

१२५. भोगासक्ति

एक वणिक् को अपनी पत्नी के प्रति अपार स्नेह था। वह व्यापार के निमित्त से प्रदेश जाना चाहता था। उसने पत्नी से प्रदेश जाने की इच्छा व्यक्त की। वह बोली—पतिदेव! मैं आपके बिना एक क्षण भी नहीं रह सकती, मैं भी आपके साथ ही चलूंगी। वणिक् ने उसकी बात स्वीकार कर ली। पत्नी सगर्भा थी। शुभ मुहूर्त में दोनों जहाज में रवाना हो गए। संयोग की बात जहाज समुद्र के बीच पहुंचा और तूफान आ गया। भयंकर तूफान से जहाज टूट गया। वणिक् समुद्र में गिर जाने से मर गया और उसकी पत्नी के काष्ठ हाथ लग गया। वह काष्ठ के सहारे तैरती हुई अन्तर द्वीप पहुंच गयी। जंगल में उसने पुत्र को जन्म दिया। पुत्र के प्रति आसक्ति बढ़ने लगी। दोनों ही भोग भोगने लगे। उसने पुत्र को ऐसे संस्कार दिये कि वह मनुष्य को देखने मात्र से भयभीत हो जाता।

एक बार किसी व्यापारी का जहाज टूट गया तो कुछ वणिक् काष्ठ के सहारे उसी जंगल में पहुंच गए। उन्होंने उस बच्चे को देखा और सोचा इससे कुछ जानकारी कर ले। किन्तु उस बालक ने उनको देखा और देखते ही भाग गया। वे सभी वणिक् उसी जंगल में रहने लगे। धीरे-धीरे बालक के साथ उनका सम्पर्क बढ़ा। यथास्थिति ज्ञात हुई तो उन्होंने बालक से कहा कि मां के साथ ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिए। इससे महापाप होता है। मां-बेटे दोनों परस्पर राग रंजित थे। उन्हें अपना आचरण गलत नहीं लगता।

गा. ५२२३ वृ. पृ. १३८८

१२६. अंध दृष्टान्त

अंधपुर नगर पर अनंध राजा का शासन था। राजा अंधों का बहुत आदर करता था। एक दिन राजा ने राज्य के सभी अंधों मनुष्यों को आमंत्रित किया। वे आए, राजा ने उन्हें राजदरवार में अग्रिम पंक्ति में स्थान दिया। खूब आवभागत की, खाने-पीने की अच्छी व्यवस्था की और आभूषणों से अलंकृत किया। वे सभी धनी हो गए। नगर में उनके रहने की उचित व्यवस्था की। किसी धूर्त ने अंधों के प्रति राजा का यह व्यवहार देखा तो वह अंधों की सेवा में लग गया। मिथ्या-उपचार से उसने उनका मन जीत लिया और सबका विश्वास-पात्र बन गया। वे सभी उसका गुणानुवाद करते तो वह कहता मैं अंधों का दास हूँ, आपकी सेवा करना मेरा परम कर्तव्य है। एक दिन अवसर देखकर धूर्त ने कहा—मैं आपको अपने-अपने घर पहुंचा दूंगा। पर रास्ता विकट है। वहां चोर और डाकुओं का स्थान है। आप सावधान होकर मेरे साथ चले। सब तैयार हो गए। मार्ग में धन सुरक्षित रखने के बहाने उसने सबसे अपना-अपना अंतर्धान मांगा। सबने विश्वास के कारण धन दे दिया। थोड़ी दूर चले ही थे और उन्हें एक-दूसरे से बांध दिया और कहा—आप इस मार्ग पर चलते रहे कोई कुछ भी कहे तो उन्हें पत्थर की मारना। क्योंकि वे चोर ही होंगे। मैं धन सुरक्षित रखता हुआ आगे-आगे चल रहा हूँ। धूर्त सारा धन लेकर नो दो ग्यारह हो गए। वे पूरी रात घूमते रहे। रात बीती, सूर्योदय हुआ और ग्वाले गायों को चराने के लिए जंगल में आए। उन्होंने अंधों को पर्वत के चारों ओर चक्कर लगाते देखा तो ग्वाले बोले देखो बेचारे डूंगर के चारों ओर घूम रहे है। यह सुनते ही वे पत्थर फेंकने लगे। मार की डर से ग्वाले भाग गए।

गा. ५२२६ वृ. पृ. १३८९

१२७. धूर्त स्वर्णकार

एक स्वर्णकार ने एक युवक के कानों में सोने के कुंडल देखे। उसने कुंडल ग्रहण करने का चिंतन किया। स्वर्णकार ने उस युवक को संबोधित करते हुए कहा—भाणेज! कैसे आये हो? बहुत वर्षों बाद ननिहाल की याद आयी है क्या? आओ, आओ तुम्हारे मामी तो तुम्हें बहुत याद करती है। चलो, घर चलो। युवक ने सोचा—मेरा ननिहाल तो इसी नगर में है पर मैं बहुत छोटा था तब आया था। मैं मामा को पहचानता नहीं हूँ। संभव है यह मेरे मामा ही हो। वह मामा के पास रहने लगा। कुछ दिन बाद स्वर्णकार ने कहा—भाणेज! इन कुंडल को देख कोई कोई चोर कान नहीं काट दे। मैं इन पर पालिश कर दूंगा। जिससे ये कुंडल स्वर्णवत् प्रतीत नहीं होंगे। उसने कुंडल दे दिए। स्वर्णकार ने वे कुंडल रख लिये और अन्य धातु के वैसे ही कुंडल बनाकर दे दिये। वह बाहर गया, लोगों ने उसके कुंडल देखकर कहा—ये कुंडल सोने के नहीं है खोटे प्रतीत होते है। वह बोला—आप नहीं जानते। मैं और मेरे मामा ही जानते हैं। ये खोटे नहीं सोने के ही है। लोगों के समझाने पर भी वह सत्य को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होता।

गा. ५२२७ वृ. पृ. १३८९

१२८. शशक मशक

भरत क्षेत्र में एक वनवासी नगरी थी। वहां जितशत्रु राजा राज्य करता था। उसके शशक-मशक दो पुत्र और सुकुमारिका पुत्री थी। दोनों भाई यौवनावस्था में ही विरक्त होकर दीक्षित हो गए। दीक्षित होकर दोनों ने आगमों का गहन अध्ययन किया। जिससे वे गीतार्थ साधुओं की गणना में आने लगे। एक बार वनवासी नगरी में अचानक आग लग गई। सुकुमारिका को छोड़ पूरा वंश नष्ट हो गया। कुछ दिनों बाद शशक-मशक साधुओं को यह घटना ज्ञात हुई। वे दोनों अपनी संसारपक्षीया बहिन को दर्शन देने वनवासी नगरी में आए। भाई साधुओं को देखते ही उसका मन वैराग्य से भर गया। सुकुमारिका के मन को विरक्त जानकर उसे दीक्षित कर दिया। तीनों तुरमिणी नगरी आ गए। वहां महत्तरिका के पास साध्वी सुकुमारिका को छोड़कर वे आचार्य के पास चले गये।

साध्वी सुकुमारिका अत्यधिक रूपवती थी। वह भिक्षा के लिए जब भी उपाश्रय में बाहर जाती तो अनेक युवक उसके पीछे हो जाते, उपाश्रय में आकर बैठ जाते। अन्य साध्वियों को प्रतिलेखना आदि कार्य करने में कठिनाई होती। साध्वी सुकुमारिका भी तंग हो जाती। उसके रूप और लावण्य के कारण उपाश्रय युवकों से खाली नहीं होता। सभी साध्वियों ने प्रधान साध्वी को निवेदन किया। उसने गुरु से यथास्थिति ज्ञात की। गुरु ने शशक-मशक साधुओं को निर्देश दिया—तुम दोनों अब साध्वी सुकुमारिका की रक्षा का दायित्व संभालो। वे गुरु के निर्देशानुसार अन्य उपाश्रय में रहने लगे। दोनों सहस्रयोधी थे। एक भिक्षा के लिए गांव में जाता तो दूसरा उसकी रक्षा के लिए उपाश्रय में रहता। अनेक युवक साध्वी सुकुमारिका को देखने के लिए उपाश्रय में जाना चाहते पर वे उन्हें हत-प्रहत कर देते। जिस घर के युवकों के साथ मार-पीट होती, उस घर से उन्हें भिक्षा प्राप्त नहीं होती। ऐसा करते-करते एक दिन ऐसा आ गया कि तीनों के लिए पर्याप्त आहार नहीं मिलता। जब दूसरा भिक्षा के लिए जाता जब तक काल का अतिक्रमण हो जाता अतः उसे भिक्षा प्राप्त नहीं होती। दोनों चिन्तित हो गए। सुकुमारिका को पता चला कि भिक्षा पर्याप्त नहीं मिलती। वह अपने भाई साधुओं से बोली—आप चिन्ता न करें, मैं भक्त-प्रत्याख्यान करना चाहती हूँ। उसने अनशन कर लिया। उसके मारणान्तिक समुद्घात हुआ। दोनों ने उसका शरीर ठंडा जानकर सोचा यह कालगत हो गई। परिष्ठापन हेतु एक ने उपकरण उठाये तथा दूसरे ने उसका पार्थिव शरीर उठाया और जंगल की ओर चल पड़े। मार्ग में शीतल हवा लगी वह थोड़ी-थोड़ी सचेत होने लगी। भाई के स्पर्श से उसके मन में विकार पैदा हो गया। दोनों भाईयों ने जंगल में उसका शरीर परिष्ठापन कर दिया और दोनों नगर में आ गए। रात्री में शीतल पवन के स्पर्श से वह पूर्ण सचेत हो गई। उठकर वह इधर-उधर घूमने लगी। प्रभात होते ही उसने एक सार्थवाह पुत्र को देखा। दोनों ने एक-दूसरे को देखा और एक दूसरे से

आकृष्ट हो गए। दोनों की परस्पर स्वीकृति हुई और विवाह हो गया। सुकुमारिका उसके साथ रहने लगी। एक दिन शशक-मशक दोनों घूमते-घूमते उसके घर पहुंचे। उसने भाई साधु को पहचान लिया। वह उनके चरणों में गिर पड़ी। पुनः दीक्षा ग्रहण कर अपनी आत्मा का कल्याण किया।

गा. ५२५५-५२५९ वृ. पृ. १३९७

१२९. भगिनी युगल

एक नगर में एक संपन्न कुल से दो सगी बहिनों ने प्रव्रज्या ग्रहण की। कालान्तर में पूरा कुल प्रक्षीण हो गया। केवल उनका भाई जीवित बचा। दोनों आर्थिकाओं ने अपने भाई का दर्शन देने तथा उसे संसार से विरक्त करने के लिए अपने गांव आईं। भाई को संसार की असारता समझा प्रव्रजित करने के लिए गुरु के समक्ष लाईं। प्रव्रजित होकर भाई संयम साधना में लग गया। किशोर वय से योवनावस्था में प्रवेश होते ही उसका रूप आकर्षक हो गया। वह जहां भी जाता गांव की तरुण युवतियां उसके रूपाकर्षण में बंध जातीं। उपाश्रय में भी काल विकाल में युवतियां आती रहतीं। इससे साधुओं की चर्या में विघ्न पड़ने लगा। साधुओं ने गुरु से निवेदन किया।

गुरु ने मुनि को भगिनीद्वय के पास संरक्षण के लिए भेज दिया। दोनों साध्वियां तरुणियों को समझाती किन्तु वे उसका मोह छोड़ने के लिए तैयार नहीं होतीं। अपने कारण दोनों बहिनों को कष्ट उठाते देख मुनि ने भक्त प्रत्याख्यान कर लिया। मारणान्तिक समुद्घात हुआ। साध्वियों ने देखा कि भाई का स्वर्गवास हो गया है। दोनों ने उसे उठाया और जंगल में छोड़ आईं। स्त्री स्पर्श से उस मुनि के मन में विकार उत्पन्न हो गया। जंगल की शीतल वायु से वह पूर्ण चैतन्य हुआ। इधर-उधर घूमने लगा। श्रेष्ठी पुत्री ने उसे देखा। दोनों का मन मिला और वह वहीं रहने लगा। कालान्तर में साध्वियों ने भाई को देखा और उसे पहचान लिया। सारी स्थिति स्पष्ट कर पुनः धर्मकथा की। भाई पुनः प्रतिबुद्ध हुआ। आत्म साधना कर अपनी आत्मा का कल्याण किया।

गा. ५२६१-५२६२ वृ. पृ. १३९९

१३०. जागरूक गृहस्वामिनी

एक वणिक बहुत कृपण था। उसे अपनी पत्नी पर भी विश्वास नहीं था। इसलिए भोजन के लिए जितनी जरूरत होती उतना ही चावल, घी, लवण आदि खाद्य सामग्री देता। पत्नी बहुत समझदार थी उसने सोचा—पति तो इतनी अल्पमात्रा में खाद्य-सामग्री लाकर देता है। यदि विकाल में कोई स्वजन या मित्र घर पर आ जायेगा तो मैं उनको क्या खिलाऊंगी? ऐसा सोचकर वह उस सामग्री में से ही थोड़ा-थोड़ा बचा कर रख लेती। बहुत समय व्यतीत हो गया। उसके पास काफी खाद्य-सामग्री एकत्रित हो गई। एक बार रात्री में पति का मित्र आ गया। वणिक को चिंता सताने लगी। आरक्षकों के भय से दुकान पर भी जाना संभव नहीं है—घर पर भी कुछ नहीं होगा। मित्र को भोजन कैसे कराऊंगा? पत्नी ने पति के भावों को जान लिया। वह बोली आप चिन्ता न करे। सारी व्यवस्था हो जायेगी। मित्र ने स्नान किया तब तक खाना तैयार हो गया। अच्छी तरह भोजन किया फिर सो गया। प्रातः जल्दी नाश्ता कर उसने अपने नगर की ओर प्रस्थान कर दिया। मित्र के जाने के बाद उसने पत्नी से पूछा—मैं तुम्हें परिमित अन्न आदि देता हूँ फिर भी तुमने मेरे मित्र का अच्छा आतिथ्य कैसे कर दिया? उसने सारी बात बता दी। पति बहुत खुश हुआ। घर की सारी जिम्मेदारी पत्नी को सौंप दी।

गा. ५२९३ वृ. पृ. १४०६

१३१. मुरुण्ड राजा

पाटलीपुत्र नगर में राजा मुरुण्ड का शासन था। एक दिन राजा नौका में बैठकर गंगा नदी का आनन्द ले रहा था। अचानक उसकी दृष्टि साधुओं पर टिकी। उसने नाविक को उस ओर जाने का निर्देश दिया। कुछ ही देर बाद राजा साधुओं के निकट पहुंच गया। साधुओं को दूसरे तट पर जाना था। राजा ने साधुओं से कहा—आप नौका में बैठे और जब तक तट न आए तब तक आप कथा कहें। साधुओं ने कथा प्रारंभ की। कथा में आनन्द आने लगा। नाविक नौका को धीरे-धीरे खेने लगा। थोड़ी देर बाद अन्यतट पर पहुंच गए। राजा अन्तःपुर में चला गया। साधु अपने उपाश्रय में पहुंच गया। राजा कथा सुनकर बहुत प्रभावित हुआ। उसने रानियों के सामने साधु की प्रशंसा की। उनके मन में कथा सुनने का आकर्षण पैदा कर दिया। साधु नौका विहार का प्रायश्चित्त कर शुद्ध होकर साधना में लीन हो गए। रानियों का मन कथा सुनने के लिए आकुल-व्याकुल होने लगा। वे बार-बार राजा को कहतीं। राजा ने साधु की खोज करवाकर अन्तःपुर में कथा सुनाने का निवेदन किया। वह प्रतिदिन अन्तःपुर में कथा वाचन करने लगा। वह साधु कथावाचन के कारण सूत्र और अर्थ का परिमंथु बन गया।

गा. ५६२५ वृ. पृ. १४८८

१३२. चार पत्नियां

एक व्यक्ति के चार पत्नियां थीं। एक दिन चारों पत्नियों ने कोई अपराध कर लिया। उसने चारों को घर से निकलने का आदेश दिया। पहली पत्नी अन्य के घर चली गई। दूसरी पत्नी पीहर चली गई। तीसरी पत्नी उसके मित्र के घर चली गई और चौथी पत्नी घर से बाहर नहीं गई, वह बोली—मारो-पीटो, कुछ भी करो मैं घर छोड़कर कहीं नहीं जाऊंगी। चौथी पत्नी के व्यवहार से प्रसन्न उसने उसको घर की स्वामिनी बना दिया। तीसरी पत्नी जो मित्र के घर गई, उसे रोष रहित तिरस्कार किया और घर ले आया। दूसरी पत्नी जो पीहर गई, उसे पिता के बल पर गर्व था। उससे रुष्ट हो गया। उसके पारिवारिक लोगों के कहने पर उसने उसका सरोषपूर्वक तिरस्कार किया, दंडित किया फिर घर लाया। पहली पत्नी जो पर घर गई थी उसकी उसने चिंता नहीं की।

परस्थानीय—अवसन्न साधु, कुलस्थानीय—अन्य संभोजिक, मित्र घर—समान संभोजिक और स्वघर के समान—सगच्छ साधु होते हैं।

गा. ५७६१ वृ. पृ. १५१८

१३३. कुमार दृष्टान्त

एक राजा के तीन पुत्रों ने परस्पर मिलकर मंत्रणा की—हम पिता को मारकर राज्य को तीन भागों में बांट लेते हैं। यह बात राजा को ज्ञात हुई। उसने अपने बड़े पुत्र को बुलाया और क्रोधित होते हुए कहा—तुम मेरे बड़े पुत्र हो, युवराज हो, प्रमाणभूत (प्रधान) हो। फिर तुमने ऐसा अकार्य करने की योजना कैसे की और राजा ने उस ज्येष्ठ पुत्र का भोगहरण किया, बंधन, ताड़न, तिरस्कार आदि सब प्रकारों से प्रताड़ित और दण्डित किया।

मध्यमपुत्र भ्रमित किया हुआ है, अप्रधान है—यह सोचकर राजा ने उसका भोगहरण नहीं किया, केवल बंधन, ताड़न-खिंसना आदि उपायों को काम में लिया। कनिष्ठ पुत्र अव्यक्त है, ठगा गया है, यह सोचकर केवल उसके कान पर एक चपेटा दिया और खिंसना की।

लोक-लोकोत्तर में सर्वत्र वस्तु सदृश दंड दिया जाता है। प्रधान प्रमाण पुरुष के अपराध करने पर अनेक दोष उत्पन्न होते हैं।

गा. ५७८० वृ. पृ. १५२२

१३४. अमात्य-बटुक दृष्टान्त

एक दिन रंक बटुक जीमनवार में गया। वहां दूध, घी आदि से बना गरिष्ठ भोजन अतिमात्रा में कर लिया फिर राजमार्ग से जाने लगा। उसके पेट में दर्द होने लगा। धीरे-धीरे जी मचलने लगा और वमन शुरू हो गया। रंक बटुक को वमन करते हुए अमात्य ने देख लिया। उसने जैसा खाया वैसा ही निकल गया। रंक बटुक ने पुनः उसे खा लिया। यह देखकर अमात्य को वमन होने लगा। अब अमात्य जब-जब भोजन करता उसे वमन हो जाता। पाचन अस्वस्थ होने से एक दिन मृत्यु की गोद में सो गया।

गा. ५८३१ वृ. पृ. १५३८

१३५. रत्न वणिक्

एक वणिक् रत्न प्राप्त करने की इच्छा से घर से निकला। जलपथ, थलपथ की क्लेशपूर्ण यात्रा करते हुए अति कठिनाई से पांच रत्नों को प्राप्त किया। फिर वह स्वदेश के लिए रवाना हुआ। रास्ते में एक भयंकर अटवी आ गई। अटवी भील, डाकू आदि से आकीर्ण थी। उसने सोचा—इस अटवी को निर्विघ्न कैसे पार किया जा सकता है।

उसने रत्नों को एक स्थान पर सुरक्षित छुपा दिया। कुछ चमकीले पत्थर लेकर चलते-चलते अटवी में रोने लगा। रोता हुआ बोलना शुरू किया कि मेरे रत्न हरण हो गए, मैं लूटा गया। उसकी आवाज सुन-चोर, भील सभी एकत्रित हो गए। और बोले—कहां है तुम्हारे रत्न? कौन ले गया? कैसे थे तुम्हारे रत्न? उसने पत्थरों की ओर इशारा किया। उन्होंने उसे पागल जानकर वहीं छोड़कर चले गए। कुछ दिन वणिक् ऐसे ही करता रहा।

धीरे-धीरे अपने देश का रास्ता परिचित कर लिया। एक रात में वह रत्न लेकर उसी प्रकार बोलते-बोलते अटवी को पार कर गया। रास्ते में भयंकर प्यास सताने लगी। कहीं पानी नहीं दिखा। उसने सोचा क्या करूं? थोड़ी दूरी तय करने पर दुर्गन्धयुक्त पानी देखा। 'इसे पी प्यास शान्त करता हूं नहीं तो मैं मर जाऊंगा। ये रत्न क्या काम आर्येंगे?' ऐसा सोचकर उसने पानी पी प्यास शान्त की। फिर अपने घर गया और स्वजनों के साथ आराम से रहने लगा।

गा. ५८५७, ५८५८ वृ. पृ. १५४५

१३६. असार संसार

एक ब्राह्मण था। उसकी पत्नी बहुत बीमार हो गई। इलाज कराने पर भी स्वास्थ्य लाभ नहीं हुआ। एक दिन उसकी मृत्यु हो गई। पुत्र मां की अस्थियां लेकर गंगा नदी गया। पैदल जाने से बहुत समय बीत गया। पीछे श्वसुर के साथ पुत्रवधु का परस्पर संबंध हो गए। हास्य-क्रीड़ा आदि करने लगे। निर्लज्ज होकर दोनों भोग भोगते। पुत्र अचानक घर आया, उसने पिता और पत्नी का व्यवहार देखा और संसार से विरक्त हो साधु बन गया।

गा. ५९४२ वृ. पृ. १५६७

१३७. मोक चिकित्सा

महाविषधर सर्प ने राजा को डस लिया। विष फैलने लगा। वैद्य को बुलाया गया। वैद्य ने आते ही राजा की स्थिति देखी और कहा—किसी का मूत्र औषध रूप में राजा को दिया जाए जो राजा स्वस्थ हो सकता है। एक रानी का मूत्र औषधी रूप में राजा को दिया गया, धीरे-धीरे विष उतर गया और राजा स्वस्थ हो गया। राजा ने पूछा—कौनसी औषध दी जिससे मेरा विष उतर गया। अमात्य ने बता दिया कि अमुक रानी का मूत्र। राजा उस

रानी के प्रति अतिआसक्त हो गया। उसके साथ निरंतर प्रतिसेवना करने लगा। अत्यधिक काम सेवन से राजा का प्रचुर मात्रा में वीर्य क्षय होने लगा। राजा मरणासन्न हो गया। वैद्य आया, उसने राजा के रोग को समझा फिर चिंतन कर कहा—यदि वीर्य को दूध के साथ राजा को दिया जाए तो राजा स्वस्थ हो सकता है। वैसा ही किया गया। राजा स्वस्थ हो गया।

गा. ५९८७-५९८८ वृ. पृ. १५८१

१३८. खिसना दोष

एक साधु के पास जो उपसंपदा ग्रहण करता वह पहले उसके जाति, कुल, देश और कर्म व्यवसाय के विषय में पूछता। आगंतुक शिष्य पढ़ने लगते। यदि कहीं वे स्खलित हो जाते तो शिक्षक साधु उनकी जाति आदि से खिसना करता। तब वे प्रतीच्छक सोचते—हम यहां सूत्रार्थ ग्रहण करने के आशय से आए थे किन्तु हमारी खिसना होती है। यह बात सब जगह प्रसारित हो गई। अब उसके पास सूत्रार्थ ग्रहण करने के लिए कोई भी साधु हिचकिचाते। इससे श्रुतहानि होने लगी।

एक साधु ने सोचा। मैं उस मुनि के पास जाकर सूत्र और अर्थ ग्रहण करूंगा और उस मुनि को भी खिसना दोष से मुक्त करूंगा। उसने आचार्य से उस मुनि के पास उपसंपदा ग्रहण करने की अनुमति मांगी। आचार्य ने कहा—वह मुनि अभी गोबरग्राम में मिलेगा। यह सुन वह वहां से प्रस्थित हो गोबरग्राम पहुंचा। ग्राम में पहुंच उसने लोगों से मुनि की जाति-कुल आदि के विषय में जानकारी ली। उसे ज्ञात हुआ मुनि की माता धन्निका नाम की दासी थी। वह खलवाट कोलिक के साथ रहती थी। वह जानकारी ले वह साधु उपसंपदा ग्रहण करने उस मुनि के पास पहुंचा। उपसंपदा ग्रहण करवा कर मुनि ने आगंतुक साधु से उसकी जाति, कुल आदि के विषय में पूछा। तब वह मौन रहा। मौन देख मुनि ने सोचा निश्चिन्त ही यह हीन कुल का है। अतः आदतानुसार उसने आग्रह पूर्वक पूछा। तब उस साधु ने कहा—आपके पास उपसंपदा ग्रहण कर ली है। आपने क्या छूपाना। किसी दूसरे के समक्ष ऐसी कष्टपूर्ण बात कैसे कहूंगा? वड़दिस नगर के निकट गोबरग्राम में एक धूर्त कोलिक खलवाट स्थविर था। उसके नापित की दासी धन्निका नाम की पत्नी थी। मैं उनका पुत्र हूँ। यह बात मैं केवल आपको बता रहा हूँ। इसे आप गुप्त रखना। मैं जब गर्भ में था तब मेरा बड़ा भाई प्रव्रजित हो गया। मैंने जब यह सुना तब भाई के अनुराग से मैं भी प्रव्रजित हो गया। यद्यपि मेरे भाई का ऐसा आकार नहीं है—आकार का विसंवाद है फिर भी जाति आदि के चिह्नों से संवादित है।

यह सुन खिसना दोष करने वाला मुनि सोचने लगा—मैं इस साधु द्वारा निपुण उपाय से छला गया हूँ। अब यदि इसकी खिसना करूंगा तो मेरी खिसना होगी। यह मेरा छोटा भाई बन गया है। फिर उस साधु से प्रतिबुद्ध हुआ। 'मिच्छामि दुक्कडं' ले उसने उससे क्षमायाचना की और उसे सूत्रार्थ की वाचना भी दी। इस प्रकार उसका खिसना दोष भी धीरे-धीरे मिट गया और श्रुतहानि को भी रोक लिया।

गा. ६०९४-६०९८ वृ. पृ. १६११

१३९. चंडरुद्र आचार्य

आचार्य चंडरुद्र अत्यन्त क्रोधी थे। एक बार वे अपने शिष्यों के साथ उज्जैनी पधारे। वे एकान्त में स्वाध्यायरत थे। इतने में ही एक नव विवाहित युवक मित्रों के साथ आया। साधुओं से वंदना कर बोला—भंते! मुझे धर्म बताएं। साधुओं ने आचार्य के पास भेज दिया। आचार्य उसके उपहास को समझ गए। वह बोला—भंते! मुझे दीक्षा दें। आचार्य ने राख मंगवाई और उसका लोच कर लिया। मित्रों ने कहा—तुम भाग जाओ। वह भावों में मुनि बन गया। मित्र भाग गए।

दूसरे दिन उसने आचार्य से निवेदन किया—भंते! यहां से अन्यत्र चलें क्योंकि मेरे परिवार वाले मुझे घर चलने के लिए बाध्य करेंगे। रात्री में आचार्य ने अपने नवदीक्षित के साथ प्रस्थान किया। शिष्य आगे चल रहा था। चलते-चलते अंधकार की सघनता के कारण आचार्य के ठोकर लगी और गिर पड़े। उन्होंने क्रोध के वशीभूत होकर दंडे से शिष्य पर प्रहार किया, सिर फूट गया पर शिष्य ने उस पीड़ा को समभाव से सहा। उसने सोचा, मैं कितना अधम हूँ कि अपने शिष्यों के साथ सुखपूर्वक रहने वाले आचार्य को मैंने इस विपत्ति में डाला। वह पवित्र अध्यवसायों की श्रेणी में आगे बढ़ा और केवली बन गया।

रात बीती। आचार्य ने रुधिर से अवलिस शिष्य के शरीर को देखा। मन ही मन अपने कृत्य के प्रति ग्लानि हुई। शुभ अध्यवसाय के आलोक में स्वयं के कृत्य की निन्दा की और स्वयं भी केवली बन गए।

गा. ६१०३ वृ. पृ. १६१२

१४०. रोहा परिव्राजिका

एक परिव्राजिका अरण्य में रहती थी। एक अजा बालक बकरियों को चराने वहीं आता था। एक दिन वह परिव्राजिका को देखकर जामुन के वृक्ष पर चढ़ गया और उसने पूछा—शीतल फल दूँ या उष्ण? परिव्राजिका ने कहा—उष्ण फल। उसने फल तोड़े और रेत में फेंके। परिव्राजिका ने रेत से फल उठाये और फूंक से रेत को साफकर खाने लगी। परिव्राजिका ने कहा—उष्ण फल कहां? वह बोला—फल उष्ण नहीं तो फूंक क्यों दे रही हो? फूंक देने से ऐसा ही प्रतीत होता है कि फल उष्ण है। थोड़ी देर बाद पुनः परिव्राजिका कपटपूर्वक बोली—मेरे मातृस्थान पर कांटा लग गया, मेरे बहुत वेदना हो रही है। तुम निकाल सकते हो। वह निकालने के लिए तत्पर हुआ, ध्यान से देखा पर उसे कांटा नजर नहीं आया। वह मन ही मन हंसने लगी। धीरे-धीरे संयोग बढ़ा और ब्रह्मचर्यव्रत खंडित हो गया।

गा. ६१६९ वृ. पृ. १६३०

१४१. शातवाहन

गोदावरी नदी तट पर प्रतिष्ठान नाम का नगर था। वहां शातवाहन नाम का राजा राज्य करता था। उसके मंत्री का नाम था खरडक। एक बार राजा ने अपने दंडनायक को बुलाया और कहा—जाओ, मथुरा नगरी को हस्तगत कर शीघ्र लौट आओ। वह शीघ्रता के कारण और कुछ जानकारी किए बिना ही अपने सैनिकों के साथ चल पड़ा। रास्ते में उसने सोचा, मथुरा नाम के दो नगर हैं। एक है दक्षिण मथुरा और दूसरा है उत्तर मथुरा। किस नगर को हस्तगत करना है? उस राजा की आज्ञा बहुत ही कठोर होती थी। उससे पुनः पूछना संभव नहीं था। तब उस दंडनायक ने अपनी सेना को दो भागों में बांट दिया। दोनों नगरों पर सैनिकों का अधिकार हो गया। सैनिकों ने दंडनायक के पास शुभ सामाचार प्रेषित किया। दंडनायक स्वयं राजा के पास आकर बोला—देव! हमने दोनों नगरों पर अधिकार कर लिया है। इतने में ही अन्तःपुर से एक दूती ने आकर राजा को वर्धापित करते हुए कहा—राजन्! पट्टदेवी ने पुत्ररत्न को जन्म दिया है। एक अन्य सदस्य ने आकर कहा—देव! अमुक प्रदेश में विपुल निधियां प्राप्त हुई हैं। इस प्रकार एक के बाद एक शुभ संवादों से राजा का हृदय हर्षातिरेक से आप्लावित हो गया। वह परवश हो गया। उस हर्षातिरेक को धारण करने में असमर्थ राजा अपनी शय्या को पीटने लगा, खंभों को आहत करने लगा। भीत को तोड़ने लगा तथा अनेक असमंजसपूर्ण प्रलाप करले लगा। तब अमात्य खरडक राजा को उपचारित व प्रतिबोधित करने के लिए स्वयं ही खंभों को, भीत को फोड़ने लगा। राजा ने पूछा—ये सारी चीजें किसने नष्ट की है? अमात्य बोला—आपने। राजा ने कहा—तुम मेरे समक्ष झूठ बोल रहे हो। ऐसा कहकर कुपित राजा ने अमात्य को पैरों से ताड़ित किया। अमात्य मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा। इतने में ही उसके द्वारा पूर्व निर्दिष्ट पुरुष दौड़े-दौड़े वहां आए और अमात्य को उठाकर ले गए। उसे अज्ञात स्थान पर रख दिया।

एक बार विशेष प्रसंग पर राजा ने अपने व्यक्तियों से पूछा—अमात्य कहां है? पुरुषों ने कहा—देव! आपने उसे अविनीत मानकर मरवा डाला है। यह सुनते ही राजा शोक-विह्वल होकर विलाप करने लगा। कि अरे! मैंने अकार्य कर डाला। लोगों ने कुछ नहीं बताया। जब राजा स्वस्थ हुआ तब उन लोगों ने कहा—देव! हम खोज करते हैं कि जिन चंडालों को आपने अमात्य को मार डालने का आदेश दिया था, कहीं उन्होंने उसे छिपाकर तो नहीं रखा है? उन लोगों ने कुछ दिन गवेषणा का बहाना करते हुए, एक दिन अमात्य को राजा के समक्ष उपस्थित कर दिया। अमात्य को देखकर राजा संतुष्ट हुआ। अमात्य ने तब सारा वृत्तांत सुनाया। प्रसन्न होकर राजा ने उसे विपुल धन दिया।

गा. ६२४४, ६२४५ वृ. पृ. १६४७

१४२. सपत्नी वृष्टान्त

एक सेठ के दो पत्नियां थीं। एक प्रिय थी, दूसरी अप्रिय। अप्रिय पत्नी अकाममरण से मरकर व्यंतरी बनी। श्रेष्ठी भी स्थविरों के पास धर्म-श्रवण कर प्रव्रजित हो गया। प्रिय पत्नी भी प्रव्रजित हो गई। वह व्यंतरी पूर्वभव के वैर के कारण साध्वी (पूर्व सपत्नी) के छिद्र देखने लगी। एक बार साध्वी प्रमत्त थी। व्यंतरी ने उन्हें ठग लिया। उसे क्षिप्त कर दिया।

गा. ६२५९ वृ. पृ. १६५१

१४३. कर्मकर वृष्टान्त

एक कौटुंबिक की पत्नी रूपवती थी। कर्मकर उस पर मोहित हो गया। कर्मकर ने उससे भोग की प्रार्थना की। उसने प्रार्थना को स्वीकार नहीं किया। उस कर्मकर का उसके प्रति अत्यधिक आसक्ति हो गयी। वह अकाम-निर्जरा से मर कर व्यन्तर देव बना। इधर वह संसार से विरक्त होकर प्रव्रजित हो गई। देव ने साध्वी के प्रमाद को जानकर ठग लिया। उसे क्षिप्त कर दिया।

गा. ६२६० वृ. पृ. १६५२

१४४. भ्राता वृष्टान्त

एक गांव में दो भाई साथ-साथ रहते थे। ज्येष्ठ भाई छोटे भाई की पत्नी में अनुरक्त हो गया। उसने उससे भोग की प्रार्थना की। उसने प्रार्थना को अस्वीकार कर लिया। ज्येष्ठ भाई ने सोचा जब तक छोटा भाई जीवित रहेगा तब तक मेरी इच्छा पूर्ण नहीं होगी। जैसे-तैसे छोटे भाई को मार देना चाहिए। ऐसा सोच ज्येष्ठ भाई मारने का अवसर देखने लगा। एक दिन मौका देखकर खाद्य वस्तु में विष मिलाकर छोटे भाई को खाने के लिये दिया। खाते ही उसके प्राण पखेरू उड़ गये। भाई का कार्य सम्पन्न कर उसकी पत्नी के पास गया और भोग की इच्छा व्यक्त की। उसने सोचा भोग के निमित्त से जेठ ने भाई को मार डाला। धिक्कार है ऐसे भोगों को। वह विरक्त होकर प्रव्रजित हो गई। ज्येष्ठ भाई दुःख से संतप्त होकर अकाम-निर्जरा से मृत्यु को प्राप्त होकर व्यन्तर देव बना। उसने विभंग-अज्ञान से पूर्वभव के वैर को जानकर साध्वी के प्रमाद को देख उसे छल लिया। उसे यक्षाविष्ट कर क्षिप्त कर दिया।

गा. ६२६१ वृ. पृ. १६५२

१४५. साधु (राजपुत्र) दृष्टान्त

मथुरा नगरी में एक देव निर्मित स्तूप था। उसकी पूजा के निमित्त श्राविका साध्वियों के साथ बाहर गई। एक साधु (पूर्व राजकुमार) वहां आतापना ले रहा था। चोर श्राविकाओं का अपहरण कर ले जाने लगे। उन्होंने जोर से आक्रन्दन किया। राजपुत्र ने आक्रन्दन सुना। वह निकट आया, चोरों से युद्ध कर उन्हें मुक्त करा लिया।

गा. ६२७५ वृ. पृ. १६५६

१४६. पुत्री-विमुक्ति

मथुरा नगरी में एक वणिक अपनी भार्या के साथ प्रव्रजित हुआ। उसने अपनी एक छोटी लड़की को अपने मित्र को सौंपा। काल बीतते बीतते मित्र कालगत हो गया। दुर्भिक्ष के कारण मित्र का परिवार छिन्न-भिन्न हो गया। वह लड़की भी भटकती-भटकती दासत्व को प्राप्त हो गई।

विहरण करते हुए उसके पिता मुनि उस ग्राम में आए। उसने पिता को पहचान लिया। पिता से दासत्व से मुक्त कराने के लिए निवेदन किया। पिता का सुप्त मोह जाग गया। पिता उसके स्वामी से मिला और उससे कहा—यह ऋषिकन्या है। तुम्हारे घर से दुर्भिक्ष आदि मिट गया है। इस अब मुक्त कर दे। इतना कहने पर भी वह यदि नहीं मानता है तो मुनि सरोष स्वर में कहता है। 'मैं तुम्हें शाप दूंगा, जिससे तुम नष्ट हो जाओगे।' ऐसे अथवा अन्य किसी प्रकार से डरा-धमका कर पिता ने अपनी संसारपक्षीया पुत्री को मुक्त करा दिया।

गाथा. ६२९३-६२९५ वृ. पृ. १६६१

१४७. श्रेष्ठी दृष्टान्त

एक बार राजदरबार में किसी व्यक्ति ने हास्यकारी वचन बोले। उसके वचनों को सुनते ही सारे लोग हंसने लगे। दरबार में एक श्रेष्ठी भी आया हुआ था। वह भी हंसा। सबकी हंसी थोड़ी देर बाद रुक गई पर उसकी हंसी नहीं रुकी। वह इतना तेज हंसा कि उसका मुंह खुला ही रह गया। अनेक प्रयत्नों के बाद भी उसका मुख बंद नहीं हुआ। अनेक वैद्यों ने प्रयत्न किये पर सफलता नहीं मिली। एक आगन्तुक वैद्य भी वहीं था। वह वैद्य बोला—मैं इसकी चिकित्सा कर सकता हूँ। उसने लोहे के फलक को तपाया—जब वह अग्निवत् बन गई। तब उस फलक को श्रेष्ठी के मुख में डालने लगा। उस भय से उसका मुख बंद हो गया।

गा. ६३२५ वृ. पृ. १६७०

१४८. मृत दृष्टान्त

एक बार एक साधु भिक्षा के लिए जा रहा था। उस समय रानी गवाक्ष में बैठी नगर को निहार रही थी। रानी ने देखा—एक साधु भिक्षा के लिए जा रहा है और हंस भी रहा है। हंसते हुए उस साधु को देखकर रानी ने राजा से कहा—देखो-देखो मृत हंस रहा है। राजा ने पूछा—कहां है? उसने साधु की ओर ईशारा किया। राजा ने कहा—यह साधु है, मृत कैसे? रानी बोली इस भव में इसने समस्त सांसारिक सुखों को त्याग दिया। किन्तु साधुचर्या में जागरुक नहीं है अतः यह जीता हुआ भी मरा हुआ है।

गा. ६३२६ वृ. पृ. १६७०

१४९. लेखक दृष्टान्त

एक बार राजा ने अपने सभासदों से पूछा—कौन व्यक्ति शीघ्र कार्य करने में समर्थ है और कौन कम समय में अधिक दूरी तय कर सकता है? लेखक ने कहा—अमुक व्यक्ति पवन वेग से जा सकता है और कार्य अतिशीघ्र पूर्ण कर सकता है। राजा ने उस व्यक्ति को बुलाया और किसी कार्य के लिए नियोजित किया। वह अतिशीघ्र कार्य पूर्ण कर राजा के पास पहुंच गया। राजा ने प्रसन्न होकर उसकी धाविक रूप में नियुक्ति की। लेकिन उसके मन के प्रतिकूल नियुक्ति होने के कारण वह रुष्ट हो गया। अनेक व्यक्तियों से पूछताछ की कि राजा को मेरा नाम किसने बताया? तब किसी ने कहा—अमुक लेखक ने। नाम सुनते ही आवेश में आकर उसने लेखक को मार डाला।

गा. ६३२८ वृ. पृ. १६७१

१५०. औषधि

एक राजा के एक पुत्र था। वह राजा की इकलौती संतान थी। राजकुमार के प्रति सबका स्नेह था। एक बार राजा ने सोचा—मैं अपने पुत्र को कुछ ऐसे रसायनों का सेवन करवाऊं जिससे वह कभी रोग-ग्रस्त न हो। सदा स्वस्थ रहे।

राजा ने सुप्रसिद्ध तीन वैद्यों को बुलवाया। वे आये। राजा ने उनसे कहा—मेरे पुत्र की ऐसी चिकित्सा करो जिससे वह सदा निरामय रहे। पहले वैद्य ने कहा—मेरी औषधि से यदि कोई रोगी है तो वह स्वस्थ हो जायेगा और रोग नहीं है तो यह मर जायेगा। दूसरे वैद्य ने कहा—मेरी औषधि के द्वारा यदि कोई रोगी है तो वह स्वस्थ हो जायेगा और यदि रोगी नहीं है तो उसके कुछ असर नहीं होगा। तीसरे वैद्य ने कहा—राजन्! मेरी औषधि ऐसी है यदि रोग है तो ठीक हो जायेगा और रोग नहीं है तब लावण्य युक्त, रूप सम्पन्न और अन्यगुणों से युक्त हो जायेगा। राजा ने तीसरे वैद्य को राजकुमार की चिकित्सा के लिए नियुक्त किया। वैसे ही प्रतिक्रमण से अतिचार की विशुद्धि हो जाती है। यदि अतिचार नहीं लगा हो तो चारित्र्य विशुद्ध होता है और नये कर्मों का आगमन नहीं होता।

गा. ६४२८-६४३० वृ. पृ. १६९३

सूक्त और सुभाषित

गुणसुद्वियस्स वयणं, घयपरिसित्तु व्व पावओ भाइ।
गुणहीणस्स न सोहइ, नेहविहूणो जह पईवो॥

(बृभा-२४५)

—गुणों में सुस्थित मुनि का वचन घृत से सिंचित अग्नि की भांति देदीप्यमान होती है। गुणहीन मुनि का वचन शोभित नहीं होता, जैसे—तैलविहीन दीपक।

को कल्लाणं निच्छइ!

(बृभा-२४७)

—कल्लाण कौन नहीं चाहता!

जो उत्तमेहिं पहओ मग्गो, सो दुग्गमो न सेसाणं।

(बृभा-२४९)

—जो मार्ग उत्तम पुरुषों द्वारा क्षुण्ण है, वह शेष व्यक्तियों के लिए दुर्गम नहीं होता।

जावइया उस्सग्गा, तावइया चेव हुंति अववाया।

जावइया अववाया, उस्सग्गा तत्तिया चेव॥

(बृभा-३२२)

—जितने उत्सर्ग के नियम हैं, उतने ही हैं अपवाद के नियम। जितने अपवाद के नियम हैं, उतने ही हैं उत्सर्ग के नियम।

अंबत्तणेण जीहाइ कूइया होइ खीरमुदगम्मि।

हंसो मोत्तूण जलं, आपियइ पयं तह सुसीसो॥

(बृभा-३४७)

—हंस की जिह्वा अम्ल होती है। ज्यों ही दूध में हंस चोंच डालता है, जिह्वा की अम्लता के कारण दूध की कूचिका-गुच्छे बन जाते हैं। हंस उन्हें खा लेता है और पानी को छोड़ देता है। इसी प्रकार सुशिष्य गुणों को ग्रहण कर लेता है, दोषों को छोड़ देता है।

मसगो व्व तुदं जच्चाइएहिं निच्छुब्भई कुसीसो वि।

(बृभा-३५०)

—जो कुशिष्य जातिमद आदि से दूसरों को पीड़ित करता है वह मच्छर की भांति निष्काशित कर दिया जाता है, उड़ा दिया जाता है।

खीरमिव रायहंसा, जे घोइंति उ गुणे गुणसमिद्धा।

दोसे वि य छइंती, ते वसभा धीरपुरिस त्ति॥

(बृभा-३६६)

—जैसे गुणसमृद्ध शिष्य गुणों का आस्वादन करता है, और दोषों का परित्याग कर देता है, वह केवल दूध को ग्रहण करने वाले राजहंस की भांति शोभित होता है। वही वृषभ है, धीरपुरुष है।

अद्दागसमो साहू।

(बृभा-८१२)

—साधु दर्पण की भांति होता है।

पावाणं जदकरणं, तदेव खलु मंगलं परमं।

(बृभा-८१४)

—पाप न करना ही परम मंगल है।

एणेण कयमकज्जं, करेइ तप्पच्चया पुणो अन्नो।

सायाबहुल परंपर, वोच्छेदो संजम-तवाणं॥

(बृभा-९२८)

—एक मुनि यदि अकार्य करता है तो उसके आधार पर दूसरे मुनि भी अकार्य में प्रवृत्त होते हैं। सातबहुल प्राणियों की इस परंपरा से संयम और तप का व्यवच्छेद हो जाता है।

दंसण-चरणा मूढस्स नत्थि समया वा नत्थि सम्मं तु।

(बृभा-९३२)

—दर्शन और चारित्र से मूढ़ व्यक्ति में न समता होती है और न सम्यक्त्व।

रज्जं विलुप्तसारं, जह तह गच्छो वि निस्सारो।

(बृभा-९३७)

—जैसे राजा द्वारा अराक्षित राज्य साररहित हो जाता है, वैसे ही सारणा-वारणा रहित गच्छ भी निस्सार हो जाता है।

संपत्ती य विपत्ती य, होज्ज कज्जेसु कारगं पप्य।

अणुवायतो विवत्ती, संपत्ती कालुवाएहिं॥

(बृभा-९४९)

—कर्ता के आधार पर कार्य में संपत्ति-सफलता और विपत्ति-असफलता मिलती है। अनुपाय से किए हुए कार्य में विपत्ति और काल तथा उपाय से किए हुए कार्य में संपत्ति प्राप्त होती है।

जह ण्हाउत्तिण्ण गओ, बहुअतरं रेणुयं छुभइ अंगे।

सुद्धु वि उज्जममाणो, तह अण्णाणी मलं चिणइ॥

(बृभा-११४७)

—जैसे हाथी स्नान कर लेने के पश्चात् अपने शरीर पर प्रचुर धूली डाल देता है वैसे ही अज्ञानी शिष्य संयम में प्रचुर उद्यम करके भी, असंयमरूपी कर्ममल का उपचय कर देता है।

आयहियमजाणंतो, मुज्झति मूढो समादिअति कम्मं।

कम्मेण तेण जंतू, परीति भवसागरमणंतं॥

(बृभा-११६३)

—आत्महित को न जानता हुआ मूढ़ व्यक्ति मोहग्रस्त होकर कर्मों का बंध करता है। वह उन कर्मों के कारण भवसागर में अनन्त बार परिभ्रमण करता है।

आयहियं जाणंतो, अहियनिवित्तीए हियपवित्तीए।

हवइ जतो सो तम्हा, आयहियं आगमेयव्वं॥

(बृभा-११६४)

—जो आत्महित को जानता है वह अहित की निवृत्ति और हित की प्रवृत्ति में प्रयत्न करता है। इसलिए आत्महित का ज्ञान करना चाहिए।

सज्झायं जाणंतो, पंचिदियसंबुडो तिगुत्तो य।

होइ य एकगमणो, विणएण समाहिओ साहू॥

(बृभा-११६५)

—स्वाध्याय अर्थात् श्रुत को जानने वाला मुनि पांचों इन्द्रियों से संवृत, तीन गुणियों से गुप्त, एकाग्रमनवाला और विनय (आचार) से समाहित होता है।

जह जह सुयमोगाहइ, अइसयरसपसरसंजुयमपुव्वं।

तह तह पल्हाइ मुणी, नवनवसंवेगसद्धाओ॥

(बृभा-११६७)

—मुनि जैसे-जैसे विशेष रस से संयुक्त उस अपूर्व श्रुत का अवगाहन करता है, वैसे-वैसे मुनि नए-नए संवेग की श्रद्धा से प्रह्लादित होता है, आनन्दित होता है।

न वि अत्थि न वि अ होही, सज्झायसमं तवोकम्मं।

(बृभा-११६९)

—स्वाध्याय के समान दूसरों कोई तपःकर्म न है और न होगा।

जच्चंघस्स व चंदो, फुडो वि संतो

(बृभा-१२२४)

—जन्मान्ध व्यक्ति स्पष्टरूप से दृश्य चन्द्रमा का भी विश्वास नहीं करता।

कत्थ व न जलइ अग्गी, कत्थ व चंदो न पायडो होइ।

कत्थ वरलक्खणधरा, न पायडा होंति सप्पुरिसा॥

(बृभा-१२४५)

—अग्नि कहां नहीं जलती? चन्द्रमा कहां प्रकट नहीं होता? उत्तम लक्षणों से युक्त सत्पुरुष कहां प्रकट नहीं होते?

उदए न जलइ अग्गी, अब्भच्छन्नो न दीसई चंदो।

मुक्खेसु महाभागा, विज्जापुरिसा न भायंति॥

(बृभा-१२४६)

—पानी में अग्नि नहीं जलती। मेघाच्छन्न आकाश में चन्द्रमा दृष्ट नहीं होता। मुखों में महाभाग विद्यापुरुष शोभित नहीं होते।

सुक्किंधणम्मि दिप्पइ, अग्गी मेहरहिओ ससी भाइ।

तव्विहजणे य निउणे, विज्जापुरिसा वि भायंति॥

(बृभा-१२४७)

—सूखे इंधन से अग्नि प्रज्वलित होती है। मेघरहित आकाश में चन्द्रमा शोभित होता है तथा निपुण लोगों के बीच विद्यापुरुष शोभित होते हैं।

को नाम सारहीणं, स होइ जो भद्वाइणो दमए।

दुड्ढे वि उ जो आसे, दमेइ तं आसियं बिंति॥

(बृभा-१२७५)

—भद्र अश्वों का दमन करने में कौन सा सारथित्व है? दुष्ट अश्वों का दमन करने वाला अश्वंदम कहलाता है।

माई अवन्नवाई, किव्विसियं भावणं कुणइ।

(बृभा-१३०२)

—जो साधुओं का अवर्णवाद बोलता है वह मायावी किल्बिषिक भावना करता है, दुर्गति का बंध करता है।

काउं च नाणुतप्पइ, एरिसओ निक्खिवो होइ।

(बृभा-१३१९)

—जो अकार्य करके अनुताप नहीं करता, वह निष्कृप-दयाविहीन होता है।

जो उ परं कंपंतं, दडूण न कंपए कढिणभावो।

एसो उ निरणुकंपो।

(बृभा-१३२०)

—जो दूसरे को प्रकंपित देखकर भी स्वयं प्रकंपित नहीं होता, वह कठोरभाव वाला व्यक्ति दयाविहीन होता है।

अप्पाहारस्स न इंदियाइं विसएसु संपवत्तंति।

नेव किलम्मइ तवसा, रसिएसु न सज्जए यावि॥

(बृभा-१३३१)

—अल्पाहार करने वाले व्यक्ति की इन्द्रियां विषयों में प्रवृत्त नहीं होतीं। वह तपस्या से क्लान्त नहीं होता। वह स्निग्ध भोजन में आसक्त नहीं होता।

सुयभावणाए नाणं, दंसण तवसंजमं च परिणमइ।

(बृभा-१३४४)

—श्रुतभावना से ज्ञान, दर्शन, तप और संयम की सम्यक् परिणति होती है।

तं तु न विज्जइ सज्झं, जं धिइमंतो न साहेइ।

(बृभा-१३५७)

—ऐसा कोई साध्य नहीं है, जिसे धृतिमान् पुरुष सिद्ध न कर सके।

जइ किंचि पमाणं, न सुहु भे वट्टियं मए पुव्विं।

तं भे खामेमि अहं, निस्सल्लो निक्कसाओ अ॥

(बृभा-१३६८)

—यदि मैंने अतीत काल में प्रमादवश उचित वर्ताव न किया हो तो मैं शल्यरहित और कषायरहित होकर क्षमायाचना करता हूँ।

खामितस्स गुणा खलु, निस्सल्लय विणय दीवणा मग्गे।
लाघवियं एगत्तं, अप्पडिबंधो अ॥

(बृभा-१३७०)

—क्षमायाचना से निष्पन्न गुण-निःशल्यता, विनय, संयममार्ग की दीपना, हल्कापन, एकत्व की अनुभूति, अप्रतिबद्धता का विकास।

धंतं पि दुद्धकंखी, न लभइ दुद्धं अघेणूतो।

(बृभा-१९४४)

—दूध पाने का अत्यंत आकांक्षी पुरुष भी अधेनु से दूध प्राप्त नहीं कर सकता।

दीवा अन्नो दीवो, पइप्पई सो य दिप्पइ तहेव।

सीसो च्चिय सिक्खंतो, आयरिओ होइ नऽन्नत्तो॥

(बृभा-२११२)

—एक दीपक से दूसरा दीपक जलाया जाता है और पूर्व दीपक प्रद्योतित रहता है। इसी प्रकार शीक्षमाण शिष्य ही आचार्य बनता है, दूसरा नहीं।

सीहं पालेइ गुहा, अविहाडं तेण सा महिहीया।

तस्स पुण जोव्वणम्मिं, पओअणं किं गिरिगुहाए॥

(बृभा-२११४)

—सिंहशिशु का रक्षण गुफा करती है, इसलिए गुफा महर्द्धिक है। जब वह युवा हो जाता है तब गुफा का क्या प्रयोजन? सिंह स्वयं महर्द्धिक हो जाता है।

न य सो भावो विज्जइ, अदोसवं जो अनिययस्स।

(बृभा-२१३८)

—जगत् में ऐसा एक भी पदार्थ नहीं है जो अनुद्यमी व्यक्ति के लिए दोषवान् न हो।

वालेण य न छलिज्जइ, ओसहहत्थो वि किं गाहो ?

(बृभा-२१६०)

—क्या औषधियुक्त हाथ वाला गारुडिक भी दुष्ट सर्प से नहीं छला जाता ?

उदगघडे वि करगए, किमोगमादीवतं न उज्जलइ।

अइइद्धो वि न सक्कइ, विनिव्ववेउं कुडजलेणं॥

(बृभा-२१६१)

—हाथ में पानी से भरा एक घड़ा है, फिर भी क्या अग्नि से प्रज्वलित घर नहीं जलेगा ?

अतिदीप्त अग्नि एक घड़े पानी से नहीं बुझाई जा सकती।

चूयफलदोसदरिसी, चूयच्छायं पि वज्जेइ।

(बृभा-२१६६)

—आम्रभक्षण में दोष देखने वाला, आम्रवृक्ष की छाया का भी वर्जन करता है।

कम्मं चिणंति सवसा, तस्सुदयम्मि उ परव्वसा होंति।

रुक्खं दुरुहइ सवसो, विगलइ स परव्वसो तत्तो॥

(बृभा-२६८९)

—जीव कर्मों को बांधने में स्वतंत्र होता है, परन्तु कर्मों के उदय में वह परवश होता है।

मनुष्य वृक्ष पर चढ़ने में स्ववश होता है, परंतु उससे विगलित होने में वह परवश है।

कम्मवसा खलु जीवा, जीववसाइं कहींचि कम्माइं।

कत्थइ धणियो बलवं, धारणिओ कत्थई बलवं॥

(बृभा-२६९०)

संसारी जीव कर्म के वशीभूत होते हैं। कहीं-कहीं कर्म जीव के वशीभूत होते हैं।

कहीं-कहीं धनिक (ऋण देने वाला) बलवान् होता है। कहीं-कहीं धारणिक (ऋण लेने वाला) बलवान् होता है।

जइ परो पडिसेविज्जा, पावियं पडिसेवणं।

मज्झ मोणं चंरतस्स, के अट्टे परिहायई॥

(बृभा-२७०२)

यदि कोई पापकारी प्रवृत्ति करता है तो मेरा क्या? मौन का आचरण करने वाले मेरे क्या कोई ज्ञान के अर्थ की परिहानि होती है? कुछ भी नहीं। (गच्छ में यह उपेक्षा उचित नहीं होती।)

अवच्छलत्ते यं दंसणे हाणी।

(बृभा-२७११)

साधर्मिक अवात्सल्य से दर्शन की हानि होती है।

अकसायं खु चरित्तं, कसायसहितो न संजओ होइ।

(बृभा-२७१२)

निश्चय नय के अनुसार अकषाय ही चारित्र्य है। कषायसहित कोई संयत नहीं होता।

जं अज्जियं चरित्तं, देसूणाए वि पुव्वकोडीए।

तं पि कसाइयमेत्तो, नासेइ नरो मुहुत्तेण॥

(बृभा-२७१५)

जो चारित्र्य देशोनपूर्वकोटि वर्षों में अर्जित होता है, उसको कषायित चित्त वाला व्यक्ति एक मुहूर्त्त मात्र में नष्ट कर देता है।

राग-द्वेषविमुक्को, सीयघरसमो उ आयरिओ॥

(बृभा-२७१६)

आचार्य शीतगृह के समान होते हैं। रागद्वेष से विप्रमुक्त होते हैं।

जो पुण जतणारहितो, गुणो वि दोसायते तस्स।

(बृभा-३१८१)

जो यतनारहित होता है, उसके गुण भी दोष हो जाते हैं।

कुलं विणासेइ सयं पयाता, नदीव कुलं कुलडा उ नारी।

(बृभा-३२५१)

स्वच्छंदरूप से चलने वाली कुलटा नारी दोनों कुलों—पितृकुल और श्वसुरकुल का विनाश कर देती है जैसे महाप्रवाह से नदी अपने दोनों कुलों—तटों का विनाश कर देती है।

अंधो कहीं कत्थ य देसियत्तं।

(बृभा-३२५३)

अंधा व्यक्ति मार्गदर्शक नहीं हो सकता।

बुद्धीबलं हीणबला वयंति, किं सत्तजुत्तस्स करेइ बुद्धी।

वसुंधरेयं जह वीरभोज्जा॥

(बृभा-३२५४)

निःसत्त्व व्यक्ति ही बुद्धिबल को बड़ा कहते हैं। जो सत्त्वयुक्त हैं उनका बुद्धि क्या करेगी? पृथ्वी शूरवीरों द्वारा भोग्य होती है।

जागरह नरा! णिच्चं, जागरमाणस्स वड्ढते बुद्धी।

जो सुवति ण सो धण्णो, जो जग्गति सो सया धण्णो।

(बृभा-३३८२)

मनुष्यो! जागो, प्रतिदिन जागरूक रहो। जो जागता है उसकी बुद्धि बढ़ती है। जो सोता है वह धन्य नहीं होता। जो जागता है वह धन्य होता है।

सीतंति सुवंताणं, अत्था पुरिसाण लोगसारत्था।

तम्हा जागरमाणा, विधुणध पोरणयं कम्मं॥

(बृभा-३३८३)

सोने वाले पुरुषों के ज्ञान आदि सारभूत अर्थ नष्ट हो जाते हैं। इसलिए पुरुषो! जागते रहो और बंधे हुए कर्मों को तोड़ डालो।

सुवति सुवन्तस्स सुतं, संकित खलियं भवे पमत्तस्स।
जागरमाणस्स सुतं, थिर-परिचितमप्पमत्तस्स॥
(बृभा-३३८४)

जो सोता है उसका श्रुत भी सो जाता है। जो प्रमत्त होता है उसका श्रुत शंकित तथा स्खलित हो जाता है। जो जागता है और अप्रमत्त रहता है उसका श्रुत स्थिर और परिचित रहता है।

नालस्सेण समं सुक्खं, न विज्जा सह निद्वया।
न वेरग्गं ममत्तेणं, नारंभेण दयालुया॥
(बृभा-३३८५)

जहां आलस्य है वहां सुख नहीं, जहां निद्रा है वहां विद्या नहीं, जहां ममत्व है वहां वैराग्य नहीं और जहां हिंसा है वहां दयालुता नहीं है।

ण सुत्तमत्थं अतिरिच्च जाती।
(बृभा-३६२७)

सूत्र अर्थ का अतिरेक नहीं करता।

जस्सेव पभावुम्मिल्लिताइं तं चेव हयकतग्घाइं।
कुमुदाइं अप्पसंभावियाइं चंदं उवहसंति॥
(बृभा-३६४२)

जिस चन्द्रमा के प्रभाव से कुमुद खिलते हैं, वे 'हम ही शोभायमान हैं'—इस आत्मश्लाघा से चन्द्रमा का उपहास करते हैं। यह कृतघ्नता है।

न हु होइ सोइयव्वो, जो कालगओ दढो चरित्तम्मि।
सो होइ सोतियव्वो, जो संजमदुब्बलो विहरे॥
(बृभा-३७३९)

उसके विषय में कोई शोक नहीं करना चाहिए जो चारित्र में दृढ़ रहकर कालगत हुआ है।

वही शोचनीय होता है जो संयम में दुर्बल रहकर जीता है।

लद्धूण माणुसत्तं, संजमसारं च दुल्लभं जीवा।
(बृभा-३७४०)

मनुष्य जीवन को पाकर भी जीवों के लिए संयमसार की प्राप्ति दुर्लभ होती है।

जहा जहा अप्पतरो से जोगो, तहा तहा अप्पतरो से बंधो।
(बृभा-३९२६)

जीव का जैसे-जैसे अल्पतर योग—चेष्टा होती है, वैसे-वैसे कर्मों का बंध भी अल्पतर होता है।

देहबलं खलु विरियं, बलसरिसो चेव होति परिणामो।
(बृभा-३९४८)

देह की शक्ति वीर्य कहलाती है। इस शक्ति के सदृश होता है परिणाम।

संजमहेऊ जोगो, पउज्जमाणो अदोसवं होइ।
जह आरोग्गणिमित्तं, गंडच्छेदो व विज्जस्स॥
(बृभा-३९५१)

संयम के लिए जो प्रवृत्ति होती है वह दोषवान् नहीं होती। जैसे वैद्य रोगी के आरोग्य के लिए व्रण आदि का छेदन करता है, वह अदोषवान् है।

ण भूसणं भूसयते सरीरं, विभूसणं सील हिरी य इत्थिए।
(बृभा-४११८)

स्त्रियों के शरीर को कोई आभूषण भूषित नहीं करता। उनका आभूषण है—शील और लज्जा।

गिरा हि संखारजुया वि संसती, अपेसला होइ असाहुवादिणी।
(बृभा-४११८)

संस्कारयुक्त वाणी भी यदि असाधुवादिनी है तो वह सभा में शोभित नहीं होती।

बाला य वुद्धा य अजंगमा य, लोगे वि एते अणुकंपणिज्जा।
(बृभा-४३४२)

लोक में ये सारे व्यक्ति अनुकंपनीय माने जाते हैं—बाल, वृद्ध और अजंगम नर-नारी।

न य मूलविभिन्नए घडे, जलमादीणि धलेइ कणहुई।
(बृभा-४३६३)

मूल में फूटा हुआ घट पानी को धारण करने में समर्थ नहीं होता।

जहा तवस्सी धुणते तवेणं, कम्मं तहा जाण तवोऽणुमंता।
(बृभा-४४०१)

जैसे तपस्वी अपने तप के द्वारा कर्मों को नष्ट करता है वैसे ही उस तप का अनुमोदन करने वाला भी कर्मों का क्षय करता है।

एक्कम्मि खंभम्मि न मत्तहत्थी,
बज्झंति वग्घा न य पंजरे दो॥
(बृभा-४४१०)

एक ही आलानस्तंभ पर दो मत्त हाथियों का नहीं बांधा जाता और न एक ही पिंजरे में दो व्याघ्र रखे जाते हैं।

धम्मस्स मूलं विणयं वयंति, धम्मो य मूलं खलु सोग्गईए।
(बृभा-४४४१)

धर्म का मूल है—विनय और सद्गति का मूल है—धर्म।

अवस्सकिरियाजोगे, वट्ठंतो साहु पुज्जया।
(बृभा-४४४७)

जो आवश्यक क्रियायोग में प्रवृत्त है, वह पूज्य है।

मणो य वाया काओ अ, तिविहो जोगसंगहो।
ते अजुत्तस्स दोसाय, जुत्तस्स उ गुणावहा॥
(बृभा-४४४९)

योग अर्थात् प्रवृत्ति के तीन साधन हैं—मन, वचन और काया। जो अनुपयुक्त होता है, उनके ये तीनों योग दोष के लिए होते हैं—कर्मबंधन के निमित्त होते हैं और जो उपयुक्त होता है, उसके ये तीनों योग गुणकारी होते हैं, निर्जरा के लिए होते हैं।

जहिं नत्थि सारणा वारणा य पडिचोयणा य गच्छम्मि।
सो उ अगच्छो गच्छो, संजमकामीण मोत्तव्वो॥
(बृभा-४४६४)

जिस गच्छ में सारणा, वारणा और प्रेरणा नहीं है, वह गच्छ अगच्छ है, संयमकांक्षी मुनि ऐसे गण में न रहे।

ववहारो वि हु बलवं, जं छउमत्थं पि वंदई अरिहा।
(बृभा-४५०७)

व्यवहार बहुत बलवान् होता है। केवली भी छद्मस्थ मुनि को वंदना करते हैं।

जं इच्छसि अप्पणतो, जं च ण इच्छसि अप्पणतो।
तं इच्छ परस्स वि या, एत्तियगं जिणसासणयं॥
(बृभा-४५८४)

जो तुम अपनी आत्मा के लिए चाहते हो और जो नहीं चाहते वही दूसरी आत्मा के लिए चाहो। इतना ही जिनशासन है।

सव्वारंभ परिग्गहणिक्खेवो सव्वभूतसमया य।
एक्कग्गमणसमाहाणया य अह एत्तिओ मोक्खो॥
(बृभा-४५८५)

समस्त हिंसा और परिग्रह का त्याग, समस्त प्राणियों के प्रति समता तथा एकाग्रमनःसमाधानता—यही मोक्ष है, यही मोक्ष का उपाय है।

सव्वभूतऽप्पभूतस्स, सम्मं भूताइं पासओ।
पिहियासवस्स दंतस्स, पावं कम्मं न बंधई॥
(बृभा-४५८६)

जो समस्त प्राणियों को आत्मतुल्य मानता है, जिसने आस्रवों का द्वार बंद कर दिया है, जो दान्त है—इनके पापकर्म का बंध नहीं होता।

जं कल्ले कायव्वं, णरेण अज्जेव तं वरं काउं।
मच्चू अकलुणहिअओ, न हु दीसइ आवयंतो वि॥
(बृभा-४६७४)

जो कल करना है उसे आज ही करना अच्छा है। मृत्यु करुणाहीन होती है। वह कब-कैसे आ जाती है, किसी को दिखाई नहीं देती।

तूरह धम्मं काउं मा हु पमायं खणं पि कुव्वित्था।
बहुविग्घो हु मुहुत्तो, मा अवरणं पडिच्छाहि॥
(बृभा-४६७५)

भव्यप्राणियो! धर्म करने में शीघ्रता करो। क्षणभर भी प्रमाद मत करो। समय विघ्नबहुल होता है। इसलिए अपराह्न की भी प्रतीक्षा मत करो।

तुल्लम्मि वि अवराधे, परिणामवसेण होति णाणत्तं।
(बृभा-४९७४)

अपराध की तुल्यता में भी परिणामों के आधार पर उसमें नानात्व आ जाता है।

कामं परपरितावो, असायहेतू।
(बृभा-५१०८)

निस्संदेह दूसरों को परिताप देना असाता का हेतु है।

विणयाहीया विज्जा, दंति फलं इह परे य लोगम्मि।
न फलंति विणयहीया, सस्साणि व तोयहीणाइं॥
(बृभा-५२०३)

विनय से अधीत विद्या इहलोक और परलोक—दोनों में फल देने वाली होती है।

वुग्गाहितो न जाणति, हितएहिं हितं पि भण्णंतो।
(बृभा-५२२८)

वह व्युद्गाहित मूढ़ है जो हितकारी व्यक्तियों के हितयुक्त वचनों को भी नहीं मानता।

अविसज्जं सार्धेत्तो, किलिस्सति ण तं च सार्धेत्ति ॥

(बृभा-५२७९)

जो असाध्य कार्य को सिद्ध करने का प्रयत्न करता है वह क्लेश को प्राप्त होता है और कार्य भी सिद्ध नहीं होता।

नाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंसणे चरित्ते य।

धन्ना गुरुकुलवासं, आवकहाए न मुंचंति ॥

(बृभा-५७१३)

जो गुरुकुलवास को आजीवन नहीं छोड़ता वह ज्ञान को प्राप्त करता है, दर्शन और चारित्र में स्थिरतर होता है। धन्य हैं वे जो यावज्जीवन गुरुकुलवास को नहीं छोड़ते।

उज्जतो व तवे निच्चं, न होहिसि न होहिसि ॥

(बृभा-५७१५)

यदि तुम तपस्या में सदा उद्यत नहीं रहोगे तो तुम अव्याबाध सुख को प्राप्त नहीं कर सकोगे।

निव्विकप्पसुहं सुहं।

(बृभा-५७१७)

निर्विकल्प सुख ही सुख है।

वहए सो वि संजुत्तो, गोरिवाबिधुरं धुरं ॥

(बृभा-५७१८)

बैल दूसरे बैल के साथ संयुक्त होकर ही शकटभार को वहन कर सकता है।

एगागिस्स हि चित्ताइं, विचित्ताइं खणे खणे।

उप्पज्जंति वियंते य, वसेवं सज्जणे जणे ॥

(बृभा-५७१९)

अकेले व्यक्ति का चित्त क्षण-क्षण में विचित्र अध्यवसायों से भर जाता है। वे उत्पन्न होते हैं और विलीन हो जाते हैं। इसलिए साथ में रहना श्रेयस्कर है।

जह कोति अमयरुक्खो, विसकंटगवल्लिवेढितो संतो।

ण चइज्जइ अल्लीतुं ॥

(बृभा-६०९२)

अमृतवृक्ष भी यदि विषकंटकवल्ली से परिवेष्टित है तो उसका आश्रय नहीं लिया जा सकता।

रागहोसाणुगया, जीवा कम्मस्स बंधगा होंति।

(बृभा-६२२८)

राग-द्वेष से युक्त जीव कर्मों का बंधन करते हैं।

विसस्स विसमेवेह, ओसहं अग्गिमग्गिणो।

मंतस्स पडिमंतो उ, दुज्जणस्स विवज्जणं ॥

(बृभा-६२७३)

विष की औषधी है विष, अग्नि की औषधी है अग्नि, मंत्र का प्रतिमंत्र और दुर्जन की औषधी है उसका विवर्जन।

तुच्छत्तणेण गब्बो, जायति ण य संकते परिभवेणं।

(बृभा-६४००)

तुच्छत्व अहंकार को उत्पन्न करता है। अहंकारी व्यक्ति परिभव से नहीं डरता।

उस्सुत्तं ववहरंतो, कम्मं बंधति चिक्कणं।

संसारं च पवहेत्ति, मोहणिज्जं च कुव्वती ॥

(बृभा-६४२३)

जो सूत्र के विपरीत व्यवहार करता है, उसके चिकने कर्म बंधते हैं, संसार में आवागमन बढ़ता है। वह मोहनीय कर्म का अर्जन करता है।

परं मोहेण रंजितो, महामोहं पकुव्वती ॥

(बृभा-६४२४)

जो दूसरे को मोह में रंजित करता है वह महामोह कर्म का बंध करता है।

धित्तिबलिया तवसूरा।

(बृभा-६४८४)

जो धृति से बलवान् होते हैं वे तपःशूर होते हैं।

आयुर्वेद एवं आरोग्य

रोग की परीक्षा

सुहसज्ज्ञो जत्तेणं, जत्तासज्ज्ञो असज्ज्ञवाही उ।
जह रोगे पारिच्छा।

(बृभा-२१९)

यथा रोगे वैद्येन परीक्षा क्रियते, यथा-एष सुखसाध्यः, एष यत्नेन साध्यः, एष चासाध्यव्याधिः यत्नेनाप्यसाध्यः।

(बृभा वृ. पृ. ६९)

सबसे पहले वैद्य रोग की परीक्षा करता है कि यह रोग सुखसाध्य है अथवा यत्नसाध्य? यह व्याधि असाध्य है और प्रयत्न से भी असाध्य ही रहेगी।

धातुक्षोभ से होने वाली अवस्था

पित्तोदये मधुराभिलाषः...श्लेष्मोदयादम्लाभिलाषः...

पित्तश्लेष्मोदये मज्जिकाभिलाषः।

(बृभा वृ. पृ. २६५)

- पित्तोदय होने पर मधुर द्रव्यों को खाने की इच्छा होती है।
- कफ की उग्रता होने पर अम्ल वस्तु की इच्छा जागृत होती है।
- पित्त और कफ दोनों के उदित होने पर 'मंजिका' की अभिलाषा होती है।

पडिसिद्ध त्ति तिगिच्छा, जो उ न कारेइ अभिनवे रोगे।
किरियं सो उ न मुच्चइ, पच्छा जत्तेण वि करेंतो॥
सहसुप्पइअम्मि जरे, अद्धम काऊण जो वि पारेइ।
सीयल-अंबदवाणी, न हु पउणइ सो वि अणुवाया॥

(बृभा-९४७, ९४८)

कोई मुनि अभिनव रोग में यह सोचकर तत्काल चिकित्सा नहीं कराता कि मुनि के लिए चिकित्सा कराना प्रतिषिद्ध है, तब वह रोग के बढ़ने पर प्रयत्नपूर्वक चिकित्सा कराने पर भी रोग से युक्त नहीं हो सकता।

तथा सहसा उत्पन्न ज्वर में तेले की तपस्या कर

शीतलकूर तथा अम्लद्रव आदि से पारणा करता है, वह सही उपाय के अभाव में रोगमुक्त नहीं हो सकता, स्वस्थ नहीं हो सकता।

धन्वन्तरिकृत वैद्यक शास्त्र

जागीव जहा महावेज्जो॥

(बृभा-९५९)

योगी-धन्वन्तरिः, तेन च विभंगज्ञानबलेनाऽऽगामिनि काले प्राचुर्येण रोगसंभवं दृष्ट्वा अष्टाङ्गायुर्वेदरूपं वैद्यकशास्त्रं चक्रे, तच्च यथाम्नायं येनाधीतं स महावैद्य उच्यते। स च आयुर्वेदप्रामाण्येन क्रियां कुर्वाणो योगीव धन्वन्तरिरिव न दूषणभाग् भवति, यथोक्तक्रिया कारिणश्च तस्य तत् चिकित्साकर्म सिध्यति।

(बृभा वृ. पृ. ३०२)

योगी धन्वन्तरि ने अपने विभंगज्ञान से यह जाना कि आगामी काल में प्रचुर रोगों की उत्पत्ति होगी अतः उन्होंने अष्टांग वैद्यकशास्त्र का निरूपण किया। गुरु-परम्परा से उस शास्त्र का अध्ययन करने वाला महावैद्य कहलाता है। आयुर्वेद के प्रामाण्य के आधार पर क्रिया करता हुआ वह महावैद्य धन्वन्तरि की भांति निर्दोष होता है। शास्त्र के अनुसार क्रिया करने से उसका चिकित्सा कार्य सफल होता है।

रोग और व्याधि के प्रकार

गंडी-कोढ-खयाई, रोगो कासाङ्गो उ आयंको।
दीहरुया वा रोगो, आतंको आसुघाती उ॥

(बृभा-१०२४)

गण्डी-गण्डमालादिकः, कुष्ठं-पाण्डुरोगो गलतकोष्ठं वा, क्षयः-राजयक्ष्मा, आदिशब्दात् श्लीपद-श्वयथु-गुल्मादिकः सर्वोऽपि रोग इति व्यपदिश्यते। कासादिकस्तु आतंकः, आदिग्रहणेन श्वास-शूल-हिक्का-ज्वराऽतीसारादिपरिग्रहः।

(बृभा वृ. पृ. ३२२)

गंडमाल, कुष्ठ-पांडुरोग अथवा स्यन्दमान कोढ़, राज-यक्ष्मा, श्लीपद, श्वयथु, गुल्म आदि रोग कहलाते हैं। कास, श्वास, हिक्का, ज्वर, अतिसार आदि को आतंक कहा जाता है।

अथवा दीर्घकालभावी रोग और आशुघाती आतंक कहलाते हैं।

त्रिदोष की चिकित्सा

पउमुप्पले माउलिंगे, एरंडे चेव निंबपत्ते य।

पित्तुदय सन्निवाए, वायक्कोवे य सिंभे य॥

(बृभा-१०२९)

पित्त प्रकोप में उत्पल पद्म, सन्निपात में बिजौरा, वात प्रकोप में एरंडपत्र तथा कफ प्रकोप में नीम के पत्तों का प्रयोग करना चाहिए।

श्लीपद रोग

जं सिलीपई निदायति।

(बृभा-११४८)

श्लीपदनाम्ना रोगेण यस्य पादौ शूनौ-शिलावद् महाप्रमाणौ भवतः स एवंविधः श्लीपदी।

(बृभा वृ. पृ. ३५८)

श्लीपद नामक रोग में पैर शिला की भांति स्थूल और भारी हो जाते हैं। उससे आक्रान्त रोगी श्लीपदी कहलाता है।

किह उप्पन्नो गिलाणो, अट्टम उण्होदगाइया वुड्डी।

किंचि बहु भागमद्धे, ओमे जुत्तं परिहरंतो॥

(बृभा-१९०८)

‘कथं’ केन हेतुना ग्लान उत्पन्नः? इति। सूरिराह-भूयांसः खलु रोगातङ्गा यद्दशाद् ग्लानत्वमुपजायते। तत्र-‘शुष्यतस्त्रीणि शुष्यन्ति, चक्षुरोगो ज्वरो व्रणः।’ इति वचनाद्-यदि ज्वरादिको विशेषण-साध्यो रोगः ततो जघन्येनाप्यष्टमं कारयितव्यः। यच्च यस्य रोगस्य पथ्यं तत् तस्य कार्यम्, यथा-वातरोगिणो घृतादिपानं पित्तरोगिणः शर्कराद्युपयोजनं श्लेष्मरोगिणो नागरादिग्रहणमिति। ‘उण्होदगाइया वुड्डी’ ति उपवासं कर्तुमसहिष्णुर्विदि रोगेणामुक्तः पारयति तत एष क्रमः-उष्णोदके प्रक्षिप्य कूरसिक्थानि अमलितानि ईषन्मलितानि वा सप्त दिनानि एकं वा दिनं दीयन्ते। ततः ‘किंचि’ ति उष्णोदके मधुरोल्लणं स्तोत्रं प्रक्षिप्य तेन सह ओदनं द्वितीये सप्तके दिने वा दीयते। एवं तृतीये ‘बहु’ ति बहुतरं मधुरोल्लणं उष्णोदके प्रक्षिप्य दीयते। ‘भागि’ ति चतुर्थे सप्तके दिने वा त्रिभागो मधुरोल्लणस्य द्वौ भागो उष्णोदकस्य, ‘अद्धे’ ति पञ्चमे सप्तके दिने वा अर्द्धं मधुरोल्लणस्यार्द्धमुष्णोदकस्य, षष्ठे

‘ओमि’ ति त्रिभाग उष्णोदकस्य द्वौ भागो मधुरोल्लणस्य, सप्तमे सप्तके दिने वा ‘जुत्तं’ ति ‘युक्तं’ किञ्चिन्मात्रमुष्णोदकं शेषं तु सर्वमपि मधुरोल्लणमित्येवं दीयते। तदनन्तरं द्वितीयाङ्कैरपि सहापथ्यान्ववगाहिमादीनि परिहरन् समुद्दिशति यावत् पुरातन-माहारं परिणमयितुं समर्थः सम्पन्न इति। एषा उष्णोदकादिका वृद्धिर्द्रष्टव्या।

(वृ. पृ. ५५७)

जाव न मुक्को ता अणसणं तु मुक्के वि ऊ अभत्तट्ठो।

असहुस्स अट्ट छट्ठं, नाऊण रुयं व जं जोगं॥

एवं पि कीरमाणे, विज्जं पुच्छे अठायमाणम्मि॥

(बृभा-१९०९, १९१०)

जब तक वह मुनि ज्वर या चक्षुरोग आदि से मुक्त नहीं होता तब तक अनशन-अभक्तार्थ करे। रोग-मुक्त होने पर भी एक दिन अभक्तार्थ करे। यदि वह लंबे समय तक अभक्तार्थ करने में समर्थ न हो तो तेला या बेला करे। रोग को जानकर उसके उपशमन के लिए जो योग्य उपाय हो वह करे।

इस प्रकार करने पर भी यदि रोग उपशांत नहीं होता है तो वैद्य को पूछे।

वैद्य के पास जाने की विधि

एक्कग दुगं चउक्कं, दंडो दूया तहेव नीहारी।

(बृभा-१९२१)

वैद्य के पास एक व्यक्ति के जाने से वह उसे यमदण्ड की दृष्टि से देखता है, दो व्यक्तियों को यमदूत मानता है, चार व्यक्तियों के साथ जाने पर वह कहता है-‘शव को कंधा देने वाले आए हैं’, अतः तीन मुनि जाते थे।

वैद्य के पास ध्यातव्य बातें

साड-ऽब्भंगण-उव्वलण-त्तोय-

छारु-कुरुडे य छिंद-भिंदंतो।

सुहआसण रोगविहिं,

उवएसो वा वि आगमणं॥

(बृभा-१९२५)

एकशाटकपरिधानो यदा वैद्यो भवति तदा न प्रष्टव्यः। एवं तैलादिना अभ्यङ्गनं कल्कलोप्रादिना वा उद्धर्तनं लोचकर्म वा-कूर्चमुण्डनादिलक्षणं कारयन्, क्षारस्य-भस्मन उत्कुरुटकस्य-कचवरपुञ्जकस्य उपलक्षणत्वाद् बुसादीनां वा समीपे स्थितः, कोष्ठादिकं वा रप्फकादिना वा दूषितं कस्याप्यङ्गं छिन्दानः, घटम्

अलाबुकं वा भिन्दानः, शिराया वा भेदं कुर्वाणो न प्रच्छनीयः,
अथ ग्लानस्यापि किञ्चित् छेत्तव्यं भेत्तव्यं ततश्छेदन-भेदनयोरपि
प्रष्टव्यः। अथासौ शुभासने उपविष्टः 'रोगविधि' वैद्यशास्त्रपुस्तकं
प्रसन्नमुखः प्रलोकयति, अथवा रोगविधिः-चिकित्सा तां कस्यापि
प्रयुञ्जान आस्ते ततो धर्मलाभयित्वा प्रष्टव्यः। स च वैद्यः पृष्टः
सन्नुपदेशं वा दद्याद् ग्लानसमीपे वा आगमनं कुर्यात्॥

(बृभा वृ. पृ. ५६१)

घर में यदि वैद्य एक शाटक पहने हुए हो, तैल आदि से
अभ्यंगन करा रहा हो, उद्वर्तन कर रहा हो, शिरो मुंडन
आदि करा रहा हो, राख या उकरडी के पास बैठा हो, कुछ
छेदन, भेदन कर रहा हो उस समय उसे कुछ भी नहीं पूछना
चाहिए। जब वैद्य सुखासन में बैठा हो, वैद्यशास्त्र पढ़ रहा हो
अथवा किसी की चिकित्सा कर रहा हो अथवा वैद्य के पूछने
पर बताए या वैद्य को ग्लान के समीप ले जाए।

वाहि नियान विकारं, देसं कालं वयं च धातुं च।
आहार अग्नि-धिइबल, समुइं च कहिंति जा जस्स॥

(बृभा-१९२७)

परिचारक वैद्य के पास जाकर रोग और रोगी की पूर्ण
जानकारी देकर उन्हें ये बातें बताता है-

व्याधि-जो व्याधि हो, उसका नामोल्लेख।

निदान-रोगोत्पत्ति का कारण।

विकार-प्रवर्धमान रोग की स्थिति।

देश-रोगोत्पत्ति का कारण प्रवात अथवा निवात प्रदेश।

काल-रोगवृद्धि का समय पूर्वाह्न आदि।

वय-रोगी की उम्र।

धातु-वात-पित्तप्रकोप है या कफप्रकोप?

आहार-आहार आदि की मात्रा न्यून या अधिक?

अग्निबल-जठराग्नि मंद है या प्रबल?

धृतिबल-धृतिबल मजबूत है या कमजोर?

समुइ-रोगी की प्रकृति कैसी है?

व्रण-चिकित्सा

वणभेसज्जे य सप्पि-महु पट्टे।

(बृभा-३०९५)

व्रण पर घी या मधु से मिश्रित औषध लगाकर पट्टा
बांधा जाता था।

उद्धम्मि वातम्मि धणुगगहे वा,

अरिसासु सूले व विमोइते वा।

एगंग-सव्वंगगए व वाते,

अब्भंगिता चिट्ठति चम्मऽलोमे॥

(बृभा-३८१६)

यस्याः संयत्याः प्राचुर्येणोर्द्धवात उच्छलति, 'धनुर्ग्रहोऽपि'
वातविशेषो यः शरीरं कुब्जीकरोति स वा यस्या अजनिष्ट,
अर्शासि वा सञ्जातानि, शूलं वा अभीक्ष्णमुद्धावति, पाणिपादाधङ्गं
वा 'विमोचितं' स्वस्थानात् चलितम्, एकाङ्गतो वा सर्वाङ्गतो वा
कस्याश्चिद् वातः समुत्पन्नः सा निर्लोमचर्मणि अभ्यङ्गिता
तिष्ठति॥

(बृभा वृ. पृ. १०५३)

तरच्छचम्मं अणिलामइस्स,

कडिं व वेहेति जहिं व वातो।

एरंड-ऽणेरंडसुणेण डक्कं,

वेहेति सोविंति व दीविचम्मे॥

(बृभा-३८१७)

'अनिलामयी' वातरोगिणी तस्याः कटीं तरक्षचर्मणा
वेष्टयन्ति। 'यत्र वा' हस्तादौ वातो भवति तं वेष्टयन्ति। एरण्डेन
वा-हडक्कितेन अनेरण्डेन वा शुना या दष्टा तां वा चर्मणा
वेष्टयन्ति, द्वीपिचर्मणि वा तां खापयन्ति॥

(बृभा वृ. पृ. १०५३)

पुया व घस्संति अणत्थुयम्मि,

पासा व घस्संति व थेरियाए।

लोहारमादीदिवसोवभुत्ते,

लोमाणि काउं अह संपिहंति॥

(बृभा-३८१८)

स्थविरायाः संयत्या अनास्तृते प्रदेशे उपविशन्त्याः
पुतौ घृष्येते, सुमाया वा पार्श्वौ घृष्येते, ततः सलोम चर्मापि
यद् दिवसतो लोहारादिभिरुपविशन्निरुपभुक्तं तत् प्रातिहारिकं दिने
दिने मार्गयित्वा लोमान्यधः कृत्वा 'सम्पिदधति' परिभुञ्जते
इत्यर्थः।

(बृभा वृ. पृ. १०५३)

वेग निरोध के परिणाम

मुत्तनिरोहे चक्खुं, वच्चनिरोहेण जीवियं चयइ।

उद्धनिरोहे कोट्टं, गेलन्नं वा भवे तिसु वा॥

(बृभा-४३८०)

मूत्रस्य निरोध विधीयमाने चक्षुरुपहन्यते। वर्चः-पुरीषं तस्य
निरोधेन जीवितं परित्यजति, अचिरादेव मरणं भवतीत्यर्थः।

उर्ध्व-वमनं तस्य निरोधे कुष्ठं भवति। 'ग्लान्यं वा' सामान्यतो मान्द्यं 'त्रिष्वपि' मूत्र-पुरीष-वमनेषु निरुध्यमानेषु भवेत्॥

(बृभा वृ. पृ. ११८४)

मूत्र का निरोध करने पर चक्षु का उपघात होता है, मल का निरोध करने पर जीवन का नाश, वमन-निरोध करने पर कुष्ठ रोग होता है तथा तीनों वेगों का निरोध करने पर सामान्य रूप से रोग का अर्थात् मान्द्य का आविर्भाव होता है।

पैदल चलने के लाभ

वायाई सद्धानं, वयंति कुविया उ सन्नित्तिरोहेणं।
लाघवमग्निपदुत्तं, परिस्समजतो उ चंक्रमतो॥

(बृभा-४४५६)

अनुयोगदानादिनिमित्तं यश्चिरमेकस्थानोपवेशनलक्षणः सन्नित्तिरोधेस्तेन 'कुपिताः' स्वस्थानात् चलिता ये वातादयो धातवस्ते चंक्रमतो भूयः स्वस्थानं व्रजन्ति। 'लाघवं' शरीरे लघुभाव उपजायते। 'अग्निपदुत्वं' जाठरानलपाठवं च भवति। यश्च व्याख्यानादिजनितः परिश्रमस्तस्य जयः कृतो भवति। एते चंक्रमतो गुणा भवन्ति।

(बृभा वृ. पृ. १२०३)

चंक्रमण के चार लाभ हैं—

- लम्बे समय तक बैठने से जो वायु आदि धातु प्रकुपित हो जाती है, वह चंक्रमण से पुनः अपने स्थान पर स्थित हो जाती है।
- शरीर में लाघव का अनुभव होता है।
- जाठराग्नि प्रदीप्त होती है।
- परिश्रम से होने वाली थकान दूर होती है।

दोसोदए य समणं, ण होइ न निदानतुल्लं वा॥

(बृभा-५२०२)

रोगाणामुदये....औषधं न दीयते, यतश्च निदानादुत्थितो व्याधिः तत्तुल्यं—तत्सदृशमपि वस्तु रोगवृद्धिभयान्न दीयते; यद्वा दोषोदये दीयमानं शमनं न निदानतुल्यं भवति, किन्तु भवत्येव, ततो न दातव्यम्।

(बृभा वृ पृ. १३८३)

रोग का उदय होने पर वह वस्तु औषध के रूप में नहीं दी जाती, जिस वस्तु के कारण रोग उत्पन्न होता है। उसके सदृश वस्तु को भी रोग वृद्धि के भय से नहीं दिया जाता। अथवा दोष का उदय होने पर वह रोग का निदान करने वाली होती है।

उन्माद की चिकित्सा

उम्मातो अहव पित्तमुच्छ्राए।

पित्तम्मि य सक्करादीणि॥

(बृभा-६२६४)

'पित्तमूर्च्छया' पित्तोद्रेकेण उपलक्षणत्वाद् वातोद्रेकवशतो वा स्यादुन्मादः या तु वातेनोन्मादं प्राप्ता सा निवाते स्थापनीया। उपलक्षणमिदम्, तेन तैलादिना शरीरस्याभ्यङ्गो घृतपायनं च तस्याः क्रियते। 'पित्ते' पित्तवशादुन्मत्तीभूतायाः शर्करा-क्षीरादीनि दातव्यानि।

(बृभा वृ. पृ. १६५३)

पित्तप्रकोप अथवा वायुप्रकोप से उन्माद होता है। वात से उन्मत्त होने वाली आर्या को वायु रहित स्थान पर रखना चाहिए तथा उसके शरीर का अभ्यङ्गन एवं उसे घृतपान कराना चाहिए। पित्त के कारण उन्मत्त होने पर दूध में शर्करा मिलाकर पिलाना चाहिए।

विसस्स विसमेवेह, ओसहं अग्निमग्णिणो।

(बृभा-६२७३)

विष की औषध विष तथा अग्नि की औषध अग्नि है।

वेग-विसर्जन में दिशा का महत्त्व

उभे मूत्र-पुरीषे तु, दिवा कुर्यादुदङ्मुखः।
रात्रौ दक्षिणतश्चैव, तथा चाऽऽयुर्न हीयते॥

(बृभा वृ. पृ. १३२)

दिन में उच्चार और प्रस्रवण उत्तरदिशा की ओर मुख करके करना चाहिए तथा रात्रि में दक्षिण दिशा में मुंह करके करना चाहिए जिससे आयु क्षीण न हो।

पथ्य का महत्त्व

भेषजेन विना व्याधिः, पथ्यादेव निवर्तते।
न तु पथ्यविहीनस्थ, भेषजानां शतैरपि॥

(बृभा वृ. पृ. ५७५)

भेषज के बिना भी पथ्य के द्वारा रोग की निवृत्ति हो सकती है लेकिन पथ्य के बिना सैकड़ों भेषज से भी रोग की निवृत्ति नहीं होती।

दंत, आंख आदि के सामान्य प्रयोग

दन्तानामञ्जनं श्रेष्ठं, कर्णानां दन्तधावनम्।
शिरोऽभ्यङ्गश्च पादानां, पादाभ्यङ्गश्च चक्षुषोः॥

(बृभा वृ. पृ. १०६३)

दांतों के लिए आंखों में अञ्जन श्रेष्ठ है, कान के लिए दंतधावन, पैर के लिए शिर मालिश तथा आंखों के लिए पैरों में मालिश श्रेष्ठ है।

घृत-दुग्धादिकं 'वा-बुद्धिहेतुं व' ति वाग्हेतोबुद्धि-हेतोश्च भुक्तं भवेत्, 'घृतेन् वधते मेघा' इत्यादि-वचनात्। 'वातिकं नाम' विकटं तद्वा मतिहेतोः सत्त्वहेतोर्वा सेवितं भवेत्।

(बृभा वृ. पृ. १५९३)

बुद्धि के लिए तथा वाणी के लिए दूध का प्रयोग उत्तम है। घृत से बुद्धि बढ़ती है। बुद्धि तथा सत्त्व के लिए वातिक-मद्य का प्रयोग होता है।

यथा ग्लानोऽप्यधुनोत्थितः क्रमेणाभिवर्द्धमानमाहारं गृह्णाति, एकवारमतिप्रभूतग्रहणे विनाशप्रसङ्गात्।

(बृभा वृ. पृ. १९२७)

ग्लान यदि अभी ठीक ही हुआ है तो उसकी आहार-वृद्धि क्रमशः करनी चाहिए। एक साथ अधिक आहार करने से विनाश का प्रसंग आ सकता है।

गाथानुक्रम

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
अ		अंतोजले वि एवं	६१९१	अकोविण ! होहि पुरस्सरा मे	३२५०
		अंतोनियंसणी पुण	४०८७	अक्कुड तालिए वा	२७१०
		अंतो नूण न कप्पइ	३५८५	अक्कुड तालिए वा	५७४३
अइगमणं एमेणं	५५६२	अंतो बहिं च गुरुगा	७८९	अक्कोस-तज्जणादिसु	४९७८
अइगमणमणाभोगे	२६४६	अंतो बहिं न लब्भइ	१८९५	अक्खरतिगरूवणया	४३
अइगमणे अविहीए	२९३५	अंतो बहिं न लब्भइ	१८९७	अक्खरपयाइएहिं	२९०
अइप्पसत्तो खलु एस अत्थो	४५६६	अंतो बहिं न लब्भइ	१८९८	अक्खर-वंजणसुद्धं	५३७३
अइभणिय अभणिए वा	२७०९	अंतो बहिं निवेसण	५०६६	अक्खर सण्णी सम्मं	४२
अइभारेण य इरियं	४३७०	अंतो बहि कच्छउडियादि	३५७२	अक्खाइयाउ अक्खा-	२५६४
अइमुद्धमिदं वुच्चइ	४४५८	अंतो-बहिसंजोअण	७६५	अक्खाण चंदणे वा	४९०९
अइय अमिला जहन्ना	२५३५	अंतो भयणा बाहिं	४५२२	अक्खा संथारो या	४०९९
अइया कुलपुत्तगभोइया	२४४१	अंतोमुहस्स असई	२३२१	अक्खित्ते वसधीए	४६९०
अइरोग्गयम्मि सूरे	६४६०	अंतो वियार असई	२१९४	अक्खुत्तेसु पहेसुं	२७३७
अइ सिं जणम्मि वत्तो	३७६१	अंतो वियार असई	२२७९	अक्खेवो सुत्तदोसा	३२८
अउणत्तीसं चंदो	११२९	अंतो वि होइ भयणा	४५३५	अगडे पलाय मग्गण	६२१७
अंगाऽणंगपविट्ठं	८८	अंतो हवंति तरुणी	२३५२	अगणिं पि भणाति गणिं	६१२४
अंगारखड्डपडियं	१६६८	अंधकारो पदीवेण	१००७	अगणि गिलाणुच्चारो	५२६५
अंगुट्ट-पएसिणिमज्झिमा-	५११	अंधलगभत्त पत्थिव	५२२६	अगणी सरीरतेणे	४३५२
अंगुलिकोसे पणगं	३८५३	अंबंबाडकविट्ठे	१७१२	अगमकरणादगारं	३५२२
अंचु गतिपूयणम्मि य	४९७१	अंबगचिब्भिडमाई	८४३	अगम्मगामी किलिबोऽहवाऽयं	३५९५
अंजणखंजणकइमलित्ते	२८३२	अंबड्डा य कलंदा	३२६४	अगविट्ठो मि त्ति अहं	४७२१
अंजलिमउलिकयाओ	५६७६	अंबत्तणेण जीहाइ	३४७	अगिलाणो खलु सेसो	६०२३
अंतं न होइ देयं	४०२०	अंबा वि होंति सित्ता	४१८७	अगीयत्था खलु साहू	३३३४
अंतद्धाणा असई	३७६६	अंसो ति व भागो ति व	३६४५	अगीयत्थेसु विगिंत्ते	२९९८
अंतम्मि व मज्झम्मि व	४८१६	अकयमुहे दुप्पस्सा	६६२	अग्गहणं जेण णिसिं	३५३७
अंतर पडिवसभे वा	२०२०	अकरंडगम्मि भाणे	४०६०	अग्गहणे कप्पस्स उ	३०९२
अंतरपल्लीगहितं	५३१२	अकसायं खु चरित्तं	२७१२	अग्गहणे वारत्तग	४०६४
अंतरमणंतरे वा	११७३	अकसायं निव्वाणं	२७२९	अग्गिकुमारुववातो	३२७४
अंतरितो तमसे वा	४४९०	अकसिणचम्मग्गहणे	३८७२	अग्गी बाल गिलाणे	२२४
अंतिमकोडाकोडीए	९३	अकसिण भिण्णमभिण्णं	३९१८	अग्गीयस्स न कप्पइ	३३३२
अंतो अलब्भमाणे	४८२८	अकसिणमड्डारसगं	३८७३	अचियत्तकुलपवेसे	५५६७
अंतो आवणमाई-	८७१	अकारणा नत्थिह कज्जसिद्धी	४४४०	अच्वंतमणुवलद्धा	३३
अंतो घरस्सेव जतं करेती	४११०	अकार-नकार-मकारा	८०६	अच्वंता सामन्ना	४६

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
अच्चाउरं वा वि समिक्खिऊणं	३४१८	अद्धविह रायपिंडे	६३८५	अणवायमसंलोए	४१९
अच्चाउरकज्जे वा	६३३९	अद्ध सुय थेर अंधल्ल-	११५३	अणहारो मोय छल्ली	६००४
अच्चाउर सम्मूढो	५८८६	अद्धाइ जाव एकं	२०३१	अणहारो वि न कप्पइ	६०१०
अच्चाउरे उ कज्जे	६०१७	अद्धाण सद्द आलिं-	५९२८	अणाढियं च थद्धं च	४४७१
अच्चागाढे व सिया	२०१२	अद्धारस छत्तीसा	५०५६	अणाभोएण मिच्छत्तं	६४१७
अच्चित्तस्स उ गहणं	४३५३	अद्धारस पुरिसेसुं	४३६५	अणावायमसंलोए	४४३
अच्चित्तेणं मीसं	४६८	अद्धारसविहडुबंभं	२४६५	अणावायमसंलोगा	२०६३
अच्चित्तेण अचित्तं	४१८	अद्धारस वीसा या	३८९३	अणित्तो अणित्तता	२३४
अच्चित्तेण सचित्तं	४६९	अद्धारस वीसा या	३८९५	अणिगूहियबलविरिओ	४०१९
अच्चित्ते वि विडसणा	९८४	अद्धारस वीसा या	३८९७	अणिदिद्ध सण्णऽसण्णी	४६९१
अच्चुक्कडे व दुक्खे	५९८३	अद्धारससु पुण्णेसु	६४६५	अणुओगम्मि य पुच्छा	२५०
अच्चुसिण चिक्कणे वा	१८२५	अद्धारसहिं मासेहिं	६४७८	अणुकंपणा णिमित्ते	५११४
अच्छंती वेगागी	५९३२	अद्धारसेव पुरिसे	६४४३	अणुकंपा पडिणीया	५६२२
अच्छंतु ताव समणा	१६७६	अद्धारसेहिं पुण्णेहिं	६४८०	अणुकुडं उवकुडं	४७९१
अच्छउ महाणुभागो	५०४५	अद्धावयम्मि सेले	४७८३	अणुकुड्ढे भित्तीसुं	४७९०
अच्छिरुयालु नरिदो	१२७७	अद्धिं व दारुगादी	३५०३	अणुग्गय मणसंकप्पे	५७८६
अच्छे ससित्थ चव्विय	५८५५	अद्धिगिमणद्धिगी वा	२६४८	अणुजाणे अणुजाती	३२८५
अजंतिया तेणसुणा उर्वेति	३५०१	अद्धिसरक्खा वि जिया	५९८१	अणुणविय उग्गहंगण	३५२७
अजहन्नमणुक्कोसो	६७७	अद्धी विज्जा कुच्छित्त	२८२४	अणुणा जोगो अणुजोगो	१९०
अजियम्मि साहसम्मी	५९३६	अद्धेण जीए कज्जं	६२८६	अणुणवण अजतणाए	३३३८
अजुयलिया अतुरिया	४४१	अडयालीसं एते	४३६६	अणुदित्तमणसंकप्पे	५७९१
अज्जं जक्खाइद्धं	३७३२	अडवीमज्झम्मि णदी	४८७४	अणुदिय उदिओ किं न हु	५८१६
अज्ज अहं संदिद्धो	५०८६	अद्धाइज्जा मासा	५७५७	अणुदियमणसंकप्पे	५७९०
अज्जक्कालिय लेवं	४७२	अद्धोरुगा दीहणियासणादी	४११४	अणुजाए वि सब्वम्मी	६७९
अज्जसुहत्थाऽऽगमणं	३२७७	अद्धोरुगो वि ते दो	४०८६	अणुपरिहारिगा चेव	६४७५
अज्जसुहत्थि ममत्ते	३२८२	अद्धोरुत्तमित्तातो	५६४९	अणुपालिओ य दीहो	१२८१
अज्जस्स हीलणा लज्जणा	७२५	अणद्धादंडो विकहा	२४९२	अणुपुव्वी परिवाडी	२०८
अज्जाणं पडिकुडं	३७२४	अणणुण्णाए निक्कारणे	१५६०	अणुबद्धविग्गहो चिय	१३१५
अज्जाण तेयजणं	३७५८	अणत्थंगयसंकप्पे	५७९७	अणु बायरे य उडिय	१८९
अज्जियमादी भगिणी	२६१८	अण दंस नपुंसित्थी-	८३४	अणुभूआ मज्जरसा	३४०७
अज्जो तुमं चेव करेहि भागे	४३२६	अणप्पज्झ अणणि आऊ	३७२३	अणुभूता धण्णरसा	३३९७
अज्झयणं बोच्छिज्जति	५४०२	अणब्भुद्धाणे गुरुगा	१९३५	अणुभूया उदगरसा	३४२१
अज्झाविओ मि एतेहिं	५१८४	अणभिगयमाइआणं	७३९	अणुभूया पिंडरसा	३४८०
अझुसिर झुसिरे लहुओ	४९०२	अणभोगेण भएण व	२८४८	अणुयत्तणा उ एसा	१९७२
अझुसिरऽणंतर लहुओ	४९०३	अण मिच्छ मीस सम्मं	८३५	अणुयत्तणा गिलाणे	१९००
अद्धगहेउं लेवाहिगं	५२०	अणराए जुवराए	२७६३	अणुयोगो य नियोगो	१८७
अद्धं वा हेउं वा	६२८२	अणरायं निवमरणे	२७६४	अणुरंगाई जाणे	३०७१
अद्ध उ गोयरभूमी	१६४९	अणवद्धंते तह वि उ	५२४	अणुसद्धाई तत्थ वि	३०३५
अद्धग चउक्क दुग एक्कगं	८७४	अणवद्धं वहमाणो	५१३६	अणुसद्धी धम्मकहा	२८९८
अद्धऽद्ध अद्धमासा	५७५२	अणवद्धिया तहिं होंति	४७७८	अणुसासण कह ठवणं	६२९३
अद्धणहं तु पदाणं	५६००	अणवत्थाए पसंगो	२४९१	अणुसासियम्मि अठिए	६२७२

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
अणुसिद्धिमणुवरंतं	६२९१	अत्थं भासइ अरिहा	१९३	अद्धाणनिग्गयाई	२६५८
अणुहूया धण्णरसा	३३४२	अत्थवसा हवइ पयं	३२९	अद्धाणनिग्गयाई	२९८९
अण्णं व एवमादी	४९७७	अत्थस्स उग्गहम्मि वि	४८	अद्धाणनिग्गयाई	३४४२
अण्णगणं वच्चंतो	५७८४	अत्थस्स कप्पितो खलु	४०८	अद्धाणनिग्गयाई	३४४३
अण्णगणे भिक्खुस्सा	५७५६	अत्थस्स दरिसणम्मि वि	४७	अद्धाणनिग्गयाई	३४६७
अण्णगहणं तु दुविहं	८६४	अत्थस्स वि उवलंभे	४९	अद्धाणनिग्गयादी	१८१४
अण्णत्तो च्चिय कुंटसि	६१६७	अत्थाणंतरचारिं	४०	अद्धाणनिग्गयादी	२३२०
अण्णाइद्धसरिरे	५५२५	अत्थादाणो ततिओ	५१२८	अद्धाणनिग्गयादी	२३५०
अण्णाइद्धसरिरे	५५४६	अत्थाभिवंजणं वंजण-	५५	अद्धाणनिग्गयादी	२४२३
अण्णाणे मारवे लुद्धे	४०७४	अत्थित्ते संबद्धा	६१	अद्धाणनिग्गयादी	२४४३
अण्णेण णे ण कज्जं	४१७५	अत्थि मे घरे वि वत्था	६३६	अद्धाणनिग्गयादी	२५४८
अण्णे दो आयरिया	५७७४	अत्थि य मे पुव्वदिह्वा	३१५१	अद्धाणनिग्गयादी	२५५०
अण्णे पाणे वत्थे	३५३४	अत्थि य से योगवाही	१८८०	अद्धाणनिग्गयादी	२५८९
अण्णे वि होंति दोसा	६३९३	अत्थि हु वसभग्गामा	४८५१	अद्धाणनिग्गयादी	३२०२
अण्णोण्णे अंकम्मी	५१२	अत्थुरण्णा एणं	५५११	अद्धाणनिग्गयादी	३५०४
अतड-पवातो सो चैव	२३९०	अत्थेसु दोसु तीसु व	२८६	अद्धाण पविसमाणा	३००५
अतरंत-बाल-वुद्धे	१६७२	अदुवा चियत्तकिच्चे	६४११	अद्धाण पविसमाणा	३०९६
अतरंतस्स उ जोगा-	१६२०	अदुवा चियत्तकिच्चे	६४१३	अद्धाणमणद्धाणे	३००२
अतवो न होति जोगो	५२०६	अदोसवं ते जति एस सहो	३९२८	अद्धाणमाईसु उ कारणेसुं	३६७२
अतसीवंसीमादी	३६६३	अद्दाइय ने वयणं	२६३९	अद्धाणमेव पगतं	५६१८
अतिचारस्स उ असती	६४२७	अद्दागदोससंकी	२६६०	अद्धाणम्मि महंते	३१०५
अतिभणित अभणिते वा	५७४२	अद्दागसमो साहू	८१२	अद्धाणम्मि व होज्जा	२८७७
अतिभुत्ते उग्गालो	५८४७	अद्दारणं अनगरं	२५७	अद्धाणविवित्ता वा	३४५७
अतिरेगगहणमुग्गा-	४३९	अद्दिह्वसद्ध कहणं	६२५५	अद्धाणसीसए वा	४८५४
अतिसेसदेवतणमित्त-	४७९८	अद्दिह्वस्स उ गहणं	३५९८	अद्धाणाई अइनिह्व-	३४५६
अतेणाह्हाण नयणे	२०४४	अद्दिह्वओ विद्धं	२४८४	अद्धाणातो निलयं	५६६५
अत्तट्टकडं दाउं	५९७	अद्धट्ट मास पक्खे	५७५९	अद्धाणासंथडिए	५८२२
अत्तट्ट परद्धा वा	४२५८	अद्धच्चं अहिवइणो	१२१४	अद्धाणासंथरणे	२९११
अत्तट्टियंतूहिं	१७६६	अद्धाण-ओमादि उवग्गहम्मिं	५२१०	अद्धाणाऽसिव ओमे	५३३८
अत्तणि य परे चैवं	१२५८	अद्धाणं पविसंतो	१०२१	अद्धाणे उव्वाता	२७५५
अत्तागमप्पमाणेण	५३	अद्धाणं पि य दुविहं	३०४१	अद्धाणे ओमे वा	५८९०
अत्ताण चोर मेया	२७६६	अद्धाणणिग्गतादी	४२५६	अद्धाणे जयणाए	१०२३
अत्ताणमाइएसुं	२७६७	अद्धाणणिग्गतादी	४२६७	अद्धाणे वत्थव्वा	५८३४
अत्ताणमाइएसुं	२७६८	अद्धाणणिग्गयादी	३६१२	अद्धाणे संथरणे	२९१३
अत्ताणमाइयाणं	२७६९	अद्धाणणिग्गयादी	४२५७	अद्धे समत्त खल्लग	३८५४
अत्ताभिप्पायकया	१२	अद्धाणनिग्गतादी	३३६३	अधवण देवच्छवीणं	४१९३
अत्थंगए वि सिव्वसि	४९९१	अद्धाणनिग्गयाई	१५१५	अनियताओ वसहीओ	१४११
अत्थंगयसंकप्पे	५७८७	अद्धाणनिग्गयाई	१८३८	अनियाणं निव्वाणं	६३३३
अत्थंगयसंकप्पे	५७९५	अद्धाणनिग्गयाई	२२०७	अन्नउवस्सयगमणे	२०३६
अत्थंडिलम्मि काया	५५०४	अद्धाणनिग्गयाई	२२७२	अन्नं अभिधारेतुं	५३७८
अत्थं दो व अदाउं	२०१८	अद्धाणनिग्गयाई	२४३३	अन्नं इदं ति पुट्ठा	४१७२

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
अन्नं च देइ उवहिं	३०३१	अपमज्जणा अपडिलेहणा	४५४	अप्या असंथरंतो	३९८५
अन्नं पि ताव तेन्नं	४६२५	अपरपरिग्गहितं पुण	४७७२	अप्याहारस्स न इंदियाइं	१३३१
अन्नकुलगतकहणं	५७७	अपरायतं नाणं	२९	अप्पुव्वमतिहिकरणे	५६८
अन्नठवणड् जुत्ता	२८२५	अपरिग्गहा उ नारी	५०९९	अप्पुव्व विवित्त बहु-	२७५३
अन्नतरङ्गाणडतीतो	१६४३	अपरिग्गहिय अभुत्ते	३१७४	अप्पुव्वस्स अगहणं	६९९
अन्नतरङ्गणेसणिज्जं	५३१७	अपरिग्गहिय पलंबे	९२१	अप्पुव्वेण त्तिपुंजं	१०८
अन्नतरस्स निओगा	२१४४	अपरिग्गहियागणिया-	६२८९	अप्पेव सिद्धंतमजाणमाणो	३९३२
अन्नत्तो व कवाडं	२३५१	अपरिमिए आरेण वि	१६१३	अप्पे वि पारमाणिं	५२०७
अन्नत्थ अप्पसत्था	३७२७	अपरिस्साई मसिणो	२३६४	अप्पोदगा य मग्गा	१५४०
अन्नत्थ एरिसं दुल्लभं	६३९०	अपरिहरंतस्सेते	४२९८	अप्पो य गच्छो महती य साला	४९२०
अन्नत्थ-तत्थगहणे	८६३	अप्पुव्वपुंसे अवि पेहमाणी	३२३१	अप्पोल्लं मिदुपम्हं च	३९७८
अन्नत्थ मोय गुरुओ	३७१७	अप्पक्खरमसंदिद्धं	२८५	अप्फासुएण देसे	५८५
अन्नत्थ व चंकमती	२३९६	अप्पग्गंथ महत्थं	२७७	अबहुस्सुअस्स देइ व	७०४
अन्नत्थ व सेऊणं	३५३०	अप्पच्चओ अकित्ती	७८५	अबहुस्सुए अगीयत्थे	७०३
अन्नत्थ वा वि ठाउं	४८६८	अप्पच्चय णिभयया	५०३४	अबहुस्सुताडविसुद्धं	४७३५
अन्नत्थ वि जत्थ भवे	१०४७	अप्पच्चय णिभयया	५१३४	अब्भत्थितो व रण्णा	५०५४
अन्नन्न दवोभासण	१७५०	अप्पच्चय वीसत्थ-	५७८१	अब्भरहियस्स हरणे	२७९०
अन्नम्मि वि कालम्मिं	५७६५	अप्पच्छित्ते य पच्छित्तं	६४२२	अब्भ-हिम-वास-महिया-	५८११
अन्नस्स व असतीए	५०८२	अप्पडिचरपडिचरणे	४७५३	अब्भासे व वसेज्जा	३७८१
अन्नस्स व दाहामी	१८५३	अप्पडिलेहिय कंटा	४३७८	अब्भितरं च बज्जं	३६७४
अन्नस्स व पल्लीए	३०३३	अप्पडिलेहियदोसा	१४५३	अब्भितरं व बाहिं	३६६६
अन्नस्स वि संदेहं	४३५०	अप्पणो आउगं सेसं	६४५६	अब्भितरमज्जबहिं	११७८
अन्नाए आभोगं	३७५१	अप्पणो कीतकडं वा	४२००	अब्भितरमालेवो	६०१४
अन्नाए तुसिणीया	३४७३	अप्पणहुया य गोणी	२३६	अब्भुज्जयं विहारं	४९८१
अन्नाए परलिंगं	४८२५	अप्पत्ताण उ दित्तेण	७२४	अब्भुद्धाने आसण	१९३३
अन्नाण मती मिच्छे	१२६	अप्पत्ताण निमित्तं	२८९५	अब्भुद्धाने गुरुगा	१९३४
अन्नाणे गारवे लुद्धे	४०१६	अप्पत्ते अकहिता	४११	अब्भुद्धाने लहुगा	४४१६
अन्नेण घातिए दहु-	६१३६	अप्पत्ते अकहिता	४१५	अब्भे नदी तलाए	१२३९
अन्ने वि विहवेहिइ	२९५६	अप्पत्ते अकहिता	४७१	अब्भोवगमा ओवक्कमा	१३८८
अन्ने वि होंति दोसा	२३३०	अप्पत्ते अकहिता	५३१	अभणितो कोइ न इच्छइ	१८८३
अन्नेसिं गच्छाणं	४५०२	अप्पत्ते अकहिता	६४९	अभतट्ठीणं दाउं	५१३
अन्नो चमढण दोसो	१५८७	अप्पत्ते जो उ गमो	९१३	अभिओगपरज्जस्स हु	५३२४
अन्नो दुज्झिहि कल्लं	३५३	अप्पत्ते वि अलंभो	१५९५	अभिकंखंतेण सुभा-	८०४
अन्नोन्नं णीसाए	४८६३	अप्पपरपत्तिणं	४४८१	अभिगए पडिबद्धे	७३३
अन्नोन्नकारेण विनिज्जरा जा	४४०१	अप्पपरपरिच्चाओ	४०१०	अभिगय थिर संविग्गे	७३७
अन्नोन्न समणुरत्ता	६१००	अप्पविति अप्पतितिया	३७४४	अभिग्गहे दडुं करणं	१४०१
अन्नो वि अ आएसो	३७४९	अप्पभुणा उ विदिण्णे	३५६१	अभिधारंत वयंतो	५०७८
अन्नो वि नूणमभिपडइ	२३४६	अप्पभु लहुओ दिय णिसि	३५५९	अभिधारितो वच्चति	४७०३
अन्नो वि य आएसो	३९६७	अप्पमभिन्नं वच्चं	१३९०	अभिधारंतो पासत्थ-	५३८१
अपडिच्छणेतरेसिं	४७१४	अप्परिणामगमरणं	३०५९	अभिनवधम्मो सि अभा-	५३२८
अपडिहणंता सोउं	१९३०	अप्पस्सुया जे अविकोविता वा	३६३१	अभिनवनगरनिवेसे	३३१

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
अभिनिदुवार(ऽभि)निक्खमण-	२२३२	अवणाविंतिऽवणिति व	२६६१	अवि य हु कम्महण्णो	२५१२
अभिन्ने महव्वयपुच्छा	१०४५	अवताणगादि णिल्लोम	३८३९	अवि य हु पुरिसपणीतो	६४०१
अभिभवमाणो सम्मणिं	६२७७	अवधीरिया व पतिणा	४९६३	अवि य हु सव्व पलंबा	९९५
अभिभूतो सम्मुज्झति	५२१८	अवयक्खंतो व भया	६३४१	अविरुद्धा वाणियगा	२७६५
अभिलावसुद्ध पुच्छा	५३७२	अवरज्जुगस्स य ततो	५५५४	अविरुद्धे भिक्खगतं	२७९२
अभिवह्नि इक्कतीसा	११३०	अवरण्हे गिम्ह करणे	१६८८	अविसहणाऽतुरियगई	१३०६
अभिहाण हेउकुसलो	५०४६	अवराह तुलेऊणं	२२३१	अविसिद्धं सागरियं	२५५१
अभुज्जमाणी उ सभा पवा वा	३५१२	अवराहे लहुगतरो	९२४	अविसेसिओ व पिंडो	३६५४
अमणुण्णकुलवियेगे	४३१२	अवराहे लहुगयरो	२४८८	अविहीपुच्छणे लहुओ	१५३५
अमणुण्णेयरगमणे	४३०	अवरो फरुसग मुंडो	५०२०	अवि होज्ज विरागुक्करो	२६२६
अमणुत्तेतर गिहिसंजईसु	२९८३	अवरो वि धाडिओ मत्त-	५०२१	अव्वत्तमक्खरं पुण	७५
अममत्त अपरिकम्मा	१३९१	अवरो सु च्विय सामी	४७६७	अव्वत्ते अ अपत्ते	७८८
अमिलाई उभयसुहा	२५४५	अववायाववादो वा	३९०९	अव्वाघाए पुणो दाई	४६५९
अमुइच्चगं न धारे	६५७	अवस्सकिरिया जोगे	४४४७	अव्वावडे कुडुंबी	४७६८
अमुगं कालमणागए	६३०	अवस्सगमणं दिसासुं	६०६७	अव्वाहए पुणो दातिं	४६८३
अमुगत्य अमुगो वच्चति	५३७१	अवहारे चउभंगो	२६५७	अव्वुक्कते जति चाउ-	५९१७
अमुगत्य गमिस्सामो	२२०९	अवहीरिया व गुरुणा	६२०५	अव्वोगडा उ तुज्झं	३६४६
अमुगदिणे मुखर रहो	२२७०	अवाउडं जं तु चउहिंसिं पि	३५००	अव्वोगडो उ भणितो	४०७८
अमुगिच्चगं न भुंजे	६१२	अवि ओसियम्मि लहुगा	५५७७	अव्वोच्छित्तिनयद्धा	१३५
अम्हं एत्थ पिसादी	६२१३	अदि केवलमुप्पाडे	५०२४	अव्वोच्छित्ती मण पंच-	१२८०
अम्हं ताव न जातो	३०२७	अविकोविया उ पुट्टा	३७८९	अव्वोच्छित्ते भावे	४७५८
अम्हच्चयं छूढमिणं किमट्टा	३६११	अविगीयविमिस्साणं	२९४५	असइ गिहि णालियाए	५६६२
अम्हट्टसमारद्धे	१८४५	अवि गीयसुयहराणं	१२६४	असइ तिगे पुण जुत्ते	४०५३
अम्ह वि होहिइ कज्जं	१७५२	अवि गोपयम्मि वि पिबे	३४९	असइ वसहीए वीसुं	१६१८
अम्हे दाणि विसहिमो	४९२५	अविजाणंतो पविट्ठो	२६६५	असइ वसहीय वीसुं	३५३१
अम्हे मो निज्जरट्टी	१८९०	अविणीयमादियाणं	५२००	असइ समणाण चोयग	२८२१
अम्हेहि अभणिओ अप्पणो	२९४६	अवितहकरणे सुद्धो	७८०	असई य कवाडस्सा	२३३२
अम्हेहिं तहिं गएहिं	१८८९	अविदिण्णमंतरगिहे	४५९८	असई य गम्ममाणे	२९०६
अयमपरो उ विकप्पो	४४६५	अविदिण्णोवधि पाणा	३८११	असईय णंतगस्स उ	४१११
अयसो य अकिलीया	५१६२	अविदिय जण गब्भम्मि य	४१४०	असईय निग्गया खुड्ड-	२९८७
अरहंतपइट्टाए	१७७६	अविधिपरिद्वणाए	५५४९	असई य पईवस्सा	२९४२
अरहस्सधारए पारए	६४९०	अविभत्ता ण छिज्जंति	३९०८	असई य मत्तगस्सा	२६०६
अरिसिल्लस्स व अरिसा	३८६४	अविभागपलिच्छेदो	४५११	असईय माउवग्गे	५२४८
अरे हरे बंभण पुत्ता	६११६	अविभागपलिच्छेया	४५०९	असई य रुक्खमूले	३५१५
अलंभऽहाडस्स उ अप्पकम्मं	३६७१	अविभूसिओ तवस्सी	२१७१	असईय लिंगकरणं	२९९५
अलब्भमाणे जतिणं पवेसे	३१९९	अवि य अणंतरसुत्ते	३२९२	असई य लिंगकरणं	३१३४
अलभंता पवियारं	६३९२	अवि यंऽबख्खज्जपादेण	३८६०	असंपाइ अहालदे	२४०३
अलऽम्ह पिंडेण इमेण अज्जो !	३५९४	अवि य तिरिओवसग्गा	५६८३	असंफुरगिलाणद्धा	३९०७
अलसं घसिरं सुविरं	१५९२	अवि य हु असहू थेरो	४३४४	असंविग्गभाविएसुं	२९९१
अलायं घट्टियं ज्झाई	५९६३	अवि य हु इमेहिं पंचहिं	४१३८	असंसयं तं अमुणाण मग्गं	३२५५
अलियमुवघायजणयं	२७८	अवि य हु कम्महण्णा	२५३२	असदस्सऽप्पडिकारे	३१८२

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
असढेण समाङ्गणं	४४९९	अह अंतरावणो पुण	२३०१	अहवा गुरुगा गुरुगा	१०४२
असणाइदव्वमाणे	१६१२	अह अत्थि पववियारो	४२८७	अहवा चउगुरुग च्चिय	२१९१
असणाईआ चउरो	६३८४	अहतिरियउह्ठकरणे	२६८२	अहवा चरिमे लहुओ	२१८९
असती अधाकडाणं	४९०८	अहतिरियउह्ठकरणे	५७३२	अहवा छुभेज्ज कोयी	४७४९
असतीए व दवस्स व	१६२१	अह ते सबालवुह्ठो	१३७१	अहवा ज एस कप्पो	६३५५
असती पवत्तिणीए	४१८१	अहभादविप्परिणए	३६३२	अहवा जं भुक्खत्तो	६००२
असती पवत्तिणीए	४१८२	अहभावेण पसरिया	१००	अहवा जं वा तं वा	४४२६
असतीय भेसणं वा	४६३६	अह माणसिगी गरहा	४७३७	अहवा जिणप्पमाणा	२३५७
असतोण्णि खोमिरज्जू	२३७६	अहमेगकुलं गच्छं	६०८६	अहवा ततिए दोसो	५१७०
असरीरतेणभंणे	५७६	अह रत्ता तूरंते	५९८८	अहवा तत्थ अवाया	३०३९
असहातो परिसिल्ल-	५३८४	अहव अबंभं जत्तो	२४६६	अहवा तेसिं ततियं	५८२७
असहीणे पभुपिंडं	३५६५	अहव जइ अत्थि थेरा	५४८२	अहवा निग्गंधीओ	२१२६
असहीणेसु वि साहम्मि-	४७४०	अहवण उच्चावेउं	२२५२	अहवा पंचणहं संजईण	२४०६
असहू सुत्तं दातुं	५०४०	अहवण कत्ता सत्था	९६०	अहवा पढ्मे सुत्तम्मि	३२९१
असिद्धी जइ नाएणं	१००६	अवहण किं सिद्धेणं	२१३९	अहवा पालयतीति	३७०६
असिवं ओम विहं वा	५१०१	अहवण थेरा पत्ता	२२०५	अहवा पिंडो भणिओ	२८३७
असिवम्मि णत्थि खमणं	५५५३	अहवण पुट्टा पुव्वेण	२८०७	अहवा बायरबोदी	२६८७
असिवाइकारणेहिं	६३१	अहवण वारिज्जंतो	३४०५	अहवा बालादीयं	३९४९
असिवाइकारणेहिं	४२८३	अहवण वारिज्जंतो	३४३२	अहवा भय-सोगजुया	६२५७
असिवाई बहिया कारणेहिं	५५४५	अहवण वारिज्जंतो	३४६०	अहवा भिक्खुस्सेयं	२४०५
असिवाईसुंक्त्थाणिएसु	९५३	अहवण सच्चित्तदव्वं	५३१६	अहवा भिक्खुस्सेयं	२४७६
असिवाईहिं गता पुण	५४४२	अहवण सद्धाविभवे	१६१०	अहवा महापदाणिं	५९४२
असिवादिएहिं तु तहिं	५८६८	अहवण समंतलपादो	२२५१	अहवा मुच्छित्त मत्ते	८२
असिवादिकारणेहिं	४९२१	अहवण सुत्ते सुत्ते	३२४३	अहवा रागसहगतो	३८९९
असिवादि मीससत्थे	५९३४	अहव न दोसीणं चिय	१४८३	अहवा लिंगविहाराओ	४५३९
असिवादी संसत्ते	५८९३	अहवा अंबीभूए	४२५४	अहवा लोइयतेणं	२७९३
असिवे अगम्ममाणे	३०६४	अहवा अखाभियम्मि	२७३३	अहवा वि अगीयत्थो	९४१
असिवे ओमोदरिए	३०६२	अहवा अचुुरणट्टा	३८४५	अहवा वि असिद्धम्मी	२०४०
असिवे ओमोदरिए	४०५७	अहवा अणिग्गयस्सा	५७२०	अहवा वि कतो णेणं	४०५५
असिवे ओमोयरिए	१०१९	अहवा अणिच्छमाणमवि	२३८	अहवा वि गुरुसमीवं	१२५२
असिवे ओमोयरिए	१६६५	अहवा अणुवज्झाओ	५१२५	अहवा वि चक्कवाले	१३८१
असिवे ओमोयरिए	२००२	अहवा अद्धाणविही	५६६६	अहवा वि दुग्ग विसमे	६१८७
असिवे ओमोयरिए	२७३८	अहवा अभिक्खसेवी	५१२७	अहवा वि मालकारस्स	३६५१
असिवे ओमोयरिए	२७४१	अहवा अविसिद्धं चिय	४४२५	अहवा वि विभूसाए	४९०
असिवे ओमोयरिए	५१७२	अहवा आणाइविरा-	२४८५	अहवा वि सउवधीओ	४२३६
असिवे ओमोयरिए	६३७४	अहवा आयाराइसु	१६८	अहवा वि सो भणेज्जा	२००४
असिवे पुरोवसेधे	५११२	अहवा आयावाओ	५६८४	अहवा संजमजीविय	५४९८
असुभेण अहाभावेण	२२६५	अहवा आहारादी	५२७८	अहवा समणाऽसंजय-	८८९
अस्संजयलिंगीहिं उ	८८७	अहवा उदिसस कता	४२३९	अहवा सव्वो एसो	६३१२
अस्सन्नी उवसमितो	४७००	अहवा एग्गहणे	८५५	अहाऽऽगतो सो उ सयम्मि देसे	३२६०
अस्सायमाइयाओ	१२००	अहवा ओसहहेउं	४५५९	अहिकरणं पुव्वुत्तं	३९४२

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
अहिकारो वारणम्मिं	४९२६	आगंतुगाणि ताणि य	४०५८	आणादऽणंतसंसा-	५०७९
अहिगरणं काऊण व	२७३२	आगंतुगारत्थिजणो जहिं तु	३४८६	आणादिणो य दोसा	३२७१
अहिगरणं तेहि समं	२६३८	आगंतुमेसु पुवं	४२६९	आणादिणो य दोसा	५५७०
अहिगरणं मा होहिति	५५५२	आगंतु तदुब्भूया	३८१२	आणादि रसपसंगा	१०३७
अहिगरण गिहत्थेहिं	५५६९	आगंतु पउण जायण	१९६५	आणा न कप्पइ त्ति य	३०५४
अहिगरणमंतराए	२३८७	आगंतुमहागडयं	५४६१	आणा विकोवणा बुज्झणा	७२७
अहिगरण मारणाऽणी-	५५२	आगंतुयदव्वविभूसियं	२१७०	आणुग जंगल देसे	१०६१
अहिगरणम्मि कयम्मिं	६२७९	आगंतु वाहिखोभो	३५९	आतुरचिण्णाइं एयाइं	१८१२
अहिकारो असंसत्ते	५८६६	आगंतुसाहुभावम्मि	१२३७	आदिपदं निहेसे	१०८८
अहिगो जोगो निजोगो	१९४	आगमओ सुयनाणी	१७६	आदिभयणाण तिण्हं	३६९१
अहिच्छसे जंति न ते उ दूरं	३९२३	आगमगिहादिएसुं	३४८५	आदियणे भोत्तूणं	३०७९
अहिणा विसूइका वा	३७५५	आगमणगिहे अज्जा	३४८७	आदिल्लेसुं चउसु वि	६०८९
अहियस्स इमे दोसा	४०७२	आगमणे वियडगिहे	३४८४	आदीअदिडुभावे	७६३
अहिरण्णग त्थ भगवं	१९४४	आगमिय परिहरंता	९२७	आदेसो सेलपुरे	३१४९
अहिराया तित्थयरो	४४३३	आगर नई कुडंगे	४०३४	आधत्ते विकीए	३०३०
अहिविच्चुगविसकंडग-	३८३३	आगर पल्लीमाई	४०३५	आधाकम्माऽसतिं घातो	३१०१
अहिसावयपच्चत्थिसु	२३६०	आगरमादी असती	५८८३	आधारिय सुत्तत्थो	८०५
अहीणक्खरं अणहियम-	२८८	आगाढकारणेहिं	११५२	आधरो आधेयं	१७०
		आगाढमणागाढं	१०२६	आधावसी पधावसी	११५७
		आगाढमिच्छदिट्ठी	५९२	आपुच्छण आवासिय	२५९०
		आगाढम्मि उ कज्जे	८७६	आपुच्छमणापुच्छा	३६८२
		आगाढे अणागाढं	६०२२	आपुच्छिऊण अरहंते	६४५७
		आगाढे अण्णलिंणं	३१३६	आपुच्छित आरक्खित	४८२९
		आगाढे अहिगरणे	२७१३	आपुच्छिय आरक्खिय-	२७८६
		आगाढे अहिगरणे	५७४५	आपुच्छिय उग्गाहिय	३५३६
		आगारविसंवइयं	६०९८	आबाहे व भये वा	२७३९
		आगारिंणियकुसलं	२६४	आभरणपिए जाणसु	२५६३
		आचंडाला पढमा	३१८५	आभव्वमदेमाणे	२६९४
		आचेलक्कुहेसिय	६३६२	आभव्वमदेमाणे	५७२८
		आचेलक्कुहेसिय	६३६४	आभिणिबोहमवायं	८९
		आचेलक्को धम्मो	६३६९	आभीराणं गामो	२१९९
		आढणमम्भुट्ठाणं	२७२८	आभोएउं खेत्तं	१३७७
		आणंदअसुपायं	१३६९	आभोगिणीय पसिणेण	४६३३
		आणयणे जा भयणा	४६०६	आभोगेण मिच्छत्तं	६४१८
		आणाइणो य दोसा	१७७१	आमं ति अब्भुवगए	३४११
		आणाइणो य दोसा	४७९७	आमं ति अब्भुवगते	३३६७
		आणाइणो य दोसा	६०५१	आमफलाणि न कप्पंति	८९९
		आणाइणो य दोसा	६३२०	आयंकविप्पमुक्का	३७९७
		आणाइस्सरियसुहं	२११६	आयं कारण गाढं	९५१
		आणाए जिणिंदाणं	५३७७	आयंबिलं न गिण्हइ	१३९८
		आणाऽणवत्थ मिच्छा	७१६	आयंबिल बारसमं	६४७३
आ					
आइण्णे रतणादी	६३९४				
आइतिए चउगुरुगा	१४६५				
आइनकारे गंथे	८१५				
आइन्नता ण चोरादी	३९१३				
आइम्मि दोत्रि छक्का	६३१३				
आइल्लाणं दुण्ह वि	२५४				
आउक्काए लहुगा	२४१५				
आउज्जोवणमादी	२६१७				
आउ ज्जोवण वणिए	२५६०				
आउ ज्जोवण वणिए	२५८७				
आउट्ट जणे मरुगाण	२४१८				
आउट्टि गमण संसत्त	५८९२				
आउट्टिय संसत्ते	५८९१				
आउत्तो सो भगवं	१७१५				
आउयवज्जा उ ठिई	९२				
आऊ तेऊ वाऊ	२७४२				
आएसइ विसेसे	३६१८				
आगंतारठियाणं	४७५४				
आगंतु एयरो वा	५६०५				
आगंतुगमादीणं	४३२१				

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
आयङ्गे उवउत्ता	२७०३	आयरियत्तणतुरितो	३७३	आलंबणमलहंती	१२०
आथ पर तदुभए वा	४३२	आयरिय दोण्णि आगत	५३९२	आलंबणे विसुद्धे	३९८९
आथपरसमुत्तारो	११७१	आयरियवण्णवाई	७३८	आलाव गणण विरहिय-	४५१०
आथपरसमुत्तारो	१७९५	आयरियवयण दोसा	४३७१	आलावण पडिपुच्छण	५१३७
आथपरे उवगिण्हइ	४३४५	आयरिय-वसभ-अभिसेग-	१०७०	आलावण पडिपुच्छण	५५९८
आथपरोभयतुलणा	१२५३	आयरिय विणयगाहण	५१०६	आलिं गंते हत्थाइ-	२५२६
आथपरोभयदोसा	१७२४	आयरिय साहु बंदण	२७५२	आलिं गणादिगा वा	५९२३
आथपरोभयदोसा	२५९५	आयरियस्सायरियं	४४२२	आलिं गणादी पडिसेवणं वा	४९१७
आथरकरणं आढा	४४७६	आयरियाइचउण्हं	४४६८	आलिं डमणां लिट्टे	४४९२
आथरतरेण हंदिं	४४८४	आयरियाई वत्थुं	९५५	आलेवणेण पउणइ	६०१६
आथरिए अभिसेए	६३७७	आयरियादभिसेगो	६११०	आलोइऊण य दिसा	४४२
आथरिए अभिसेगे	४३३६	आयसमणीण नाउं	२२७७	आलोएंती वच्चति	६३३०
आथरिए अभिसेगे	४४२१	आयसमुत्था तिरिए	४३६	आलोगं पि य तिविहं	४६०
आथरिए अभिसेगे	५३५९	आयसरीरे आयरिय-	२१२१	आलोयणं पउंजइ	३९२
आथरिए अभिसेगे	६०६५	आयहियं जाणंतो	११६४	आलोयणं पउंजइ	३९४
आथरिए असधीणे	४१७८	आयहिय परिण्णा भाव-	११६२	आलोयणं पउंजइ	३९५
आथरिए उवज्झाए	४१७७	आयहियमजाणंतो	११६३	आलोयणं पउंजइ	३९७
आथरिए कालगते	५४०६	आयाणगुत्ता विकहाविहीणा	४५६४	आलोयण कप्पठिते	६४७०
आथरिए गच्छम्मि य	२९६३	आयाणनिरुद्धाओ	२३११	आलोयणसुत्तडा	४५३६
आथरिएणाऽऽलत्तो	६१०७	आया पवयण संजम	४४६	आलोयणा य कहणा	६३२९
आथरिए य गिलाणे	४३१८	आया पवयण संजम	४४३	आलोयणा सुणिज्जति	५६९८
आथरिए य परिन्ना	१६६४	आयाम अंबकंजिय	५९०३	आवडइ खंभकुड्ढे	६३२१
आथरिए सुत्तम्मि य	३३७	आयामु संसड्ढुसिणोदगं वा	५८८४	आवडणमाइएसुं	१९२४
आथरिओ एग न भणे	५७४८	आयारदिट्ठिवायत्थ-	७३२	आवणगिह रच्छाए	२२९७
आथरिओ गणिणीए	४१५२	आयारपकप्पधरा	६९३	आवण रच्छगिहे वा	२३०२
आथरिओ गीतो वा	५५१६	आयारवत्थुतइयं	१३८५	आवरितो कम्मेहिं	४९२७
आथरिओ पवत्तिणीए	१०४३	आयावण तह चैव उ	२४१६	आवलियाए जतिहं	४३२३
आथरिओवहि बाला-	१५५३	आयावण साहुस्सा	२४१९	आवसि निसीहि मिच्छा	१३७९
आथरि-गिलाण गुरुगा	५०८७	आयावणा य तिविहा	५९४५	आवस्सिगानिसीहिग-	३४३८
आथरियअणुद्धाने	१५७०	आयाविति तवस्सी	१७९४	आवाय चिलिमिणीए	४३८४
आथरियअवाहरणे	१४६०	आयाहिण पुव्वमुहो	११८३	आवायदोस तइए	४३७
आथरियउवज्झाए	४४९६	आयुहे दुत्तिसड्ढम्मि	१००९	आवासगं करित्ता	२३३५
आथरियउवज्झाए	५४७४	आरंभनियत्ताणं	२८०९	आवासगं तत्थ करंति दोसा	३१६४
आथरियउवज्झायं	५४७९	आरंभमिद्धो जति आसवाय	३९२७	आवासगकयनियमा	१५४१
आथरिय उवज्झाया	२७८०	आरक्खितो विसज्जइ	२७८७	आवासगमाईया	७७६
आथरिय एगु न भणे	२७१६	आरक्खियपुरिसाणं	६१७२	आवासगमादी या (जा)	३८४
आथरिय गणी इह्दी	६९२	आराम मोल्लकीए	९०६	आवासग सज्झाए	२६३५
आथरियगमणे गुरुगा	३१४५	आरहितो रज्ज सपड्ढबंधं	४४३१	आवासग सज्झाए	३१६३
आथरियगिलाणे गुरुगा	४७११	आरुहणे ओरुहणे	९७५	आवास बाहि असई	३४५४
आथरिय चउरो मासे	५७६९	आरोवणा उ तस्सा	२८५३	आवाससोहि अखलंत	६१९
आथरियत्तअभविए	१२२५	आरोहपरिणाहा	२०५१	आवासिगा निसीहिग-	५६९५

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
आवासिगाऽऽसज्जदुपेहियादी	५६९३	आहारस्स उ काले	४४८६	इच्छा-मिच्छा-तहक्कारो	१३७८
आवासियं निसीहियं	१३८०	आहाराइ अनियओ	१२५६	इट्टकलत्तविओगे	३७११
आसंकितो व वासो	२६५१	आहाराई दब्बे	१२५४	इड्ढित्तणे आसि घरं महल्लं	४७७०
आसंदग कड्डमओ	३७४५	आहारा नीहारो	३२०७	इड्ढिरससातगुरुगा	४९८०
आसगता हत्थिगतो	३८५७	आहारिया असारो	६०५०	इति एस असम्माणा	६२४२
आसगपोसगसेवी	५०२६	आहारे उवकरणे	७४७	इति ओहविभागेणं	२५८३
आसज्ज खेत्तकप्पं	६३७१	आहारे उवहिम्मि य	१३६२	इति काले पडिसेहो	३२४०
आसज्ज निसीही वा	२५८८	आहारे नीहारो	२६३६	इति ते गोणीहिं समं	२२०२
आसन्नगेहे दियदिड्ढभोम्मे	३२२०	आहारे पिट्ठाती	५०९७	इति भावम्मि णियत्ते	३६३४
आसन्नपतीभत्तं	३८६	आहारो उवही वा	४७४१	इत्तरियाणुवसग्गा	१४२८
आसन्न मज्झ दूरे	५५०७	आहारो त्ति य ठाणं	६३५०	इत्तिरियं णिक्खेवं	५०३३
आसन्नो य छणूसवो	३३५५	आहारोवहि दुविहो	३५३३	इत्तिरियं निक्खेवं	५१३३
आसरहाई ओलो-	१२५९			इत्थं पुण अहिगारो	१४८
आसाढपुण्णिमाए	४२४८	इ		इत्थं पुण संजोगा	२०३२
आसाढपुण्णिमाए	४२८०			इत्थं पुण अधीकारो	४९९७
आसादेउं व गुलं	१२८	इइ ओअण सत्तुविही	५८८१	इत्थं वि मेराहाणी	४४६३
आसायण पडिसेवी	४९७२	इइ चोयगदिट्ठंतं	४६४४	इत्थिकहाउ कहित्ता	५१५९
आसायण पडिसेवी	५०५९	इइ संकाए गुरुगा	२१७७	इत्थिनपुंसावाए	४५३
आसायणा जहण्णे	५०३२	इइ सपरिहास निब्बंध-	२१४०	इत्थिनपुंसावाते	४६७
आसायणा जहण्णे	५१३२	इओ गया इओ गया	११५८	इत्थी जूयं मज्जं	९४०
आसासो बीसासो	३७७१	इंतं महल्लसत्थं	४८७३	इत्थीणं परिवाडी	२१६७
आसित्तो ऊसित्तो	५१५१	इंतं महिड्ढियं णिणवयंति	११८९	इत्थी नपुंसओ वा	२९३३
आसुक्कार गिलाणे	५५१४	इंदक्खीलमणोग्गहो	४८५३	इत्थी पुरिस नपुंसग	६३७
आसे रहे गोरहणे य चित्ते	३१७१	इंदमहादी व समा-	२७४५	इत्थी विउब्बियाओ	१७८५
आहच्च हिंसा समितस्स जा तू	३९३३	इंदियकसायजोगा	१२८६	इत्थी वि ताव वेति	४१५४
आहच्च्युवाइणाविय	५२८५	इंदियपमाददोसा	५०२८	इत्थी सागरिए उव-	२५५२
आहडिया उ अभिघरा	३६१७	इंदियमुंडे मा किंचि	३१६०	इमाउ त्ति सुत्तउत्ता	५६१९
आहणणादी दित्ते	४३३	इदेण बंभवज्झा	१८५८	इय अविणीयविवेगो	१२७८
आहरति भत्तपाणं	५०३८	इंधण धूमे गंधे	८४१	इय एसाऽणुणवणा	३५६२
आहा अथे य कम्मे	६३७५	इंधणसाला गुरुगा	३४४७	इय दोसगुणे नाउं	७२८
आहा अहे य कम्मे	५३४२	इक्कं वा अत्थपयं	१९२	इय दोसा उ अगीए	९५०
आहाकम्मियमादी	३१५९	इक्कडकडिणे मासो	६८७	इय पोग्गलकायम्मी	६७
आहाकम्मिय सघर	१७५३	इक्कडकडिणे मासो	१४९८	इय रयणसरिच्छेसुं	२१२४
आहाकम्ममुदेसिय	४२७५	इक्कडकडिणे मासो	४७८८	इय संदंसण-संभास-	२१५२
आहारउवहिपूयासु	१३१७	इक्किक्कं तं चउहा	२७२	इय संदंसणसंभासणेहिं	३७१३
आहारउवहिसयणा-	१११९	इक्ख्रागा दसभागं	५२५७	इय सत्तरी जहण्णा	४२८५
आहार उवहि सिज्जा	६२२२	इच्चेवमाइलोइय-	५२३३	इरियावहियाऽवण्णो	४५८७
आहार-उवहि-सेज्जा	६४४४	इच्छागहणं गुरुणो	१५२५	इहपरलोगनिमित्तं	६३३४
आहार एव पगतो	५३१५	इच्छाणुलोम भावे	१९२९	इहपरलोगे य फलं	९५७
आहारणीहारविहीसु जोगो	३९३१	इच्छा न जिणादेसो	२६७९	इहरह वि ताव अम्हं	३४०१
आहारविही वुत्तो	५८९७	इच्छा मिच्छा तहक्कारे	१६२३	इहरह वि ताव मेहा	४१६८

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
इहरा कहासु सुणिमो	३३९८	उग्गम-उप्पायण-एसणाहिं	६०१	उज्जालितो पदीवो	३२४५
इहरा कहासु सुणिमो	३४०८	उग्गमकोडीए वि हु	४२०४	उज्जु कहए परिणतं	४७०४
इहरा कहासु सुणिमो	३४२३	उग्गमदोसाईया	८४६	उज्जुत्तणं से आलो-	५३५६
इहरा परिद्ववणिया	२८१२	उग्गमविसोधिकोडी	४२११	उज्जुत्तणं से आलो-	५३५७
इहरा वि ता न कप्पइ	३०४०	उग्गयमणसंकप्पे	५७९३	उज्जुसुयस्स निओओ	११०१
इहरा वि ताव अम्हं	३३४७	उग्गयमणुग्गते वा	५८२३	उज्जंत णायसंडे	३१९२
इहरा वि ताव थन्भति	५२०१	उग्गयवित्ती मुत्ती	५७८८	उज्जेणी ओसण्णं	५११५
इहरा वि ताव सहे	३७९१	उग्गह एव उ पगतो	४६५०	उज्जेणी रायगिहं	४२१९
इहरा वि मरति एसो	३११४	उग्गहणंतग पट्टो	४०८२	उज्जोविय आयरिओ	२९५२
इहरा वि मरिउमिच्छं	३०१९	उग्गहण धारणाए	७५९	उज्जसु चीरे सा यावि	४१२५
इह वि गिही अविशहणा	५५७८	उग्गहणमादिएहिं	४१२०	उज्ज्जाइए अवण्णो	५५१३
ई		उग्गहधारणकुसले	१९१९	उट्ट-सणा कुच्छंती	३६७८
ईसरणिक्खंतो वा	४०१८	उग्गहमादीहि विणा	४११२	उट्टाणसेज्जाऽऽसणमाइएहिं	४४३५
ईसरतलवरमाडंबि-	६३८६	उग्गा भोगा राइण्ण	३२६५	उट्टाणाई दोसा	५५३८
ईसर भोइयमाई	६३८७	उग्गिण्णम्मि य गुरुगो	५१०४	उट्टित णिवेसंतो	४४८०
ईसरियत्ता रज्जा	२५१०	उग्घाइया परित्ते	८६२	उट्टेइ इत्थिं जह एस एंतिं	४४१७
ईसरियत्ता रज्जा	२५३०	उग्घातमणुग्घाते	४८९०	उट्टेत निवेसिते	२४४७
उ		उग्घातमणुग्घाते	६१३१	उट्टेज्ज निसीएज्जा	५६०८
उउ-वासा समतीता	५९५	उग्घायमणुग्घाया	४८९१	उडुबद्धम्मि अइते	३४८३
उंडिय भूमी पेढिय	३३०	उच्चं सरोस भणियं	५७५१	उडुबद्धम्मि अतीए	३३९६
उंबर कोट्टिंवेसु व	३१३१	उच्चसरेणं वंदइ	४४९४	उट्टाहं व करिज्जा	३४१०
उक्कच्छिय वेकच्छिय	४०८३	उच्चारं पासवणं	३७५३	उट्टाहं व करेज्जा	३३४५
उक्कुडुयासणसमुइं	१३६४	उच्चार-चेइगातिसु	४६५६	उट्टाहो दोसिरणे	२३६८
उक्कोसओ जिणाणं	४०९३	उच्चार-पासवण-खेल-	५५५१	उट्टमहे तिरियं पि य	४८४१
उक्कोसं विगईओ	२९१२	उच्चारविहारदी	१६७३	उट्टम्मि वातम्मि धणुग्गहे वा	३८१६
उक्कोसगा वि दुक्खं	४२०५	उच्चारे पासवणे	१३८९	उट्टादीणि उ विरसम्मि	४७७
उक्कोसतिसामासे	४०१४	उच्चारे पासवणे	१५००	उत्तण ससावयाणि य	२७४७
उक्कोस माउ-भज्जा	२५१७	उच्चारे पासवणे	१५७५	उत्तरगुणनिष्फन्ना	९
उक्कोस सनिज्जोगो	५०७२	उच्चारे पासवणे	३७७७	उत्तरणम्मि परुविते	५६३५
उक्कोसो अट्टविहो	४०९५	उच्चासणम्मि सुण्हा	५९४१	उत्तरतो हिमवंतो	६२४७
उक्कोसो थेराणं	४०९४	उच्चे नीए व ठिआ	२२४५	उत्तर पुव्वा पुज्जा	४५७
उक्कोसोवहि-फलए	२०२६	उच्छंणे अणिच्छाए	३६१९	उत्तर मूले सुद्धे	२९९४
उक्खित्त भित्ररासी	३३०२	उच्छुकरणोव कोट्टुग-	७२१	उत्तरिए जह दुमाई	३०७
उक्खित्तमाइएसुं	३३०५	उच्छुद्धसरीरे वा	४५५८	उत्तरियपच्चयट्टा	६०४७
उक्खित्तमाइचरगा	१६५२	उच्छुय-घय-गुल-गोरस-	२४४२	उत्ताणग ओमथिय	११०३
उक्खिप्पऊ गिलाणो	१९७८	उच्छू वोलिंति वई	१५३९	उदए कप्पूराई	६००१
उक्खिवितो सो हत्था	४५९४	उज्जयसग्गुस्सग्गो	३१९	उदए चिक्खल्ल परित्त-	५६४१
		उज्जलवेसे खुट्टे	१८११	उदएण वादियस्सा	५१६५
		उज्जाण आरणं	५२८९	उदए न जलइ अग्गी	१२४६
		उज्जाणतो परेणं	५३०२	उदगंतेण चिलिमिणी	२४२२
		उज्जाणाऽऽयुध णूमण	३२७३	उदगघडे वि करगए	२१६१

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
उदगाऽगणि तेणोमे	४३३५	उप्यन्ने अहिगरणे	२२२८	उवगरणगेण्हणे भार-	३०५७
उदगा-ऽगणि-वायाहसु	२७४४	उप्यन्ने अहिगरणे	३७३०	उवगरण पुव्वभणियं	३०६५
उदगाणंतरमग्गी	३४३०	उप्यरिवाडी गुरुगा	३०६८	उवगरणमहाजाते	५५३७
उदयं पत्तो वेदो	२१५०	उप्यलपउमाइं पुण	९७८	उवगरणे पडिलेहा	३४३४
उदाहडा जे हरियाहडीए	३९९३	उप्यायग उप्यण्णे	६११९	उवगरणे पडिलेहा	३४६२
उदिओऽयमणाहारो	५९९७	उप्यिं तु मुक्कमउडे	५६८०	उवगरणे हत्थम्मि व	४४७९
उदिण्णजोहाउलसिद्धसेणो	३२८९	उब्भामगऽणुब्भामग-	१८३९	उवचरइ को णऽतिन्नो	१८७६
उदितो खलु उक्कोसो	३६७३	उब्भामग वडसालेण	५०२२	उवचियमंसा वतिया-	४८८०
उद्दहरे वमित्ता	५८३०	उब्भामवियं पवयणं	६०४६	उवट्टाविओ सिय ती	५१९३
उद्दहरे सुभिकखे	१०१८	उभए वि संकियाइं	१२३३	उवठावियस्स गहणं	४३५८
उद्दहरे सुभिकखे	२८७८	उभओ पडिबद्धाए	२६१४	उवदेस अणुवदेसा	५८२५
उद्दहरे सुभिकखे	२९७२	उभओ पडिबद्धाए	२६१५	उवमाइ अलंकारो	२८४
उद्दहरे सुभिकखे	३००३	उभओ पासिं छिज्जउ	३९५३	उवमा-रूवगदोसो	२८१
उद्दहरे सुभिकखे	३०५३	उभओसहकज्जे वा	२३८०	उवयंति डहरगामं	५६१२
उद्दवणे निव्विसए	९०५	उभयं पि दाऊण सपाडिपुच्छं	५०३९	उवयार अनिद्धुरया	३१६
उद्दवण परिट्टविया	२६०९	उभयं वा दुदुवारे	२१८४	उवयोगं च अभिकखं	५२२
उद्दवण निव्विसए	२५०१	उभयगणी पेहेउं	१०६४	उवयोगसरपयत्ता	१४१
उद्दवण निव्विसए	२७७७	उभयट्टाइनियिद्धं	२०७१	उवरिं आयरियाणं	५५३४
उद्दवण निव्विसए	५०९४	उभयट्टाय विणिग्गए	२६४७	उवरिं कहेसि हिट्टा	४३६१
उद्दिट्ट तिगेगयरं	६१०	उभयम्मि वि अविसिद्धं	४१००	उवरिं तु अंगुलीओ	३८५०
उद्दिट्ट तिगेगयरं	६५५	उभयविसुद्धा इयरी	२३३७	उवरिं पंचमपुण्णे	४३००
उद्दिसइ व अन्नविसं	५४७७	उभयस्सऽकारगम्मी	२२१४	उवरोहभया कीरइ	४७९५
उद्दिसिय पेह अंतर	६०९	उभयेगयरट्टाए	२२३६	उवलकिखया य धण्णा	३३७०
उद्दिसिय पेह संगय	६५४	उम्मगदेसणाए य	६४२४	उवलजलेण तु पुव्वं	५६४७
उद्दूढसेस बाहिं	२९१६	उम्मगदेसणा मग्गदूसणा	१३२१	उवलद्धी अगुरुलहू	७१
उद्दूढे व तदुभए	२९८२	उम्मगणेण वि गंतुं	४१४७	उववाएण व सायं	१२४
उद्देसग्गहणेण व	४२३८	उम्मत्तगा तत्थ विचित्तवेसा	३१७०	उवसंतोऽणुवसंतं	२७१८
उद्धंसिया य तेणं	३८००	उम्मत्तवायसरिसं	३३२९	उवसंतो वि समाणो	५०१३
उद्धट्टाणं ठाणायतं	५९५३	उम्मातो खलु दुविधो	६२६३	उवसंतो सेणावइ	३०२५
उद्धप्फालाणि करंति	३९५५	उय-वइकारो ह त्ति य	२८७	उवसंपज्ज गिलाणे	४३१५
उन्नयमविकख निन्नस्स	३२१	उल्लत्तिया भो ! मम किं करेसि	३२५२	उवसंपज्ज गिलाणे	४३९९
उत्तिकखंता केई	२४६३	उल्लेऊण न सक्का	३३५	उवसंपज्ज गिलाणो	४३१७
उत्त्रियं उट्टियं चैव	३९७९	उल्लोम लहू दिय गिसि	३५७८	उवसंपज्ज थिरत्तं	१२४१
उप्यण्णे अहिगरणे	६२७८	उल्लोमाऽणुण्णवणा	३५७७	उवसग पडिसग सेज्जा	३२९५
उप्यण्णे उवसग्गे	५७०१	उवएसेण सयं वा	९८	उवसमणट्ट पदुट्टे	३५५४
उप्यण्णे णाणवरे	३२६७	उवएसो संघाडग	२९९२	उवसमसम्मा पडमाण-	१२७
उप्यत्तिकारणाणं	२१५९	उवएसो संघाडग	२९९३	उवसमियं सासायण	९०
उप्यत्तियं वा वि धुवं व भोज्जं	३५८७	उवएसो सारणा चैव	१२६६	उवसामगसेट्ठिगयस्स	११८
उप्यन्न कारणम्मिं	४५४०	उवओगं हेट्टुवरिं	२३६१	उवसामितो णरिंदो	३९०३
उप्यन्न कारणाऽऽगंतु	४३०३	उवगरणं चिय पगयं	३६५९	उवसामितो गिहत्थो	५५८०
उप्यन्ने अहिगरणे	२२२३	उवगरणं वामगऊरू-	४५९	उवस्सए उवहि ठवेतुं	५०९१

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
उवस्सए एरिसए ठियाणं	३४८८	उस्सेइम पिट्ठाई	८४०	एएहिं कारणेहिं	२००३
उवस्सए य संधारे	३७२२			एएहिं कारणेहिं	२०५५
उवस्सग गणियविभाइय	५३५१	ऊ		एएहिं कारणेहिं	२७५७
उवस्सय कुले निवेसण	५०१२			एएहिं कारणेहिं	३०६३
उवस्सय निवेसण साही	१९९६	ऊणाइरित्त वासो	१२५७	एएहिं कारणेहिं	३७७२
उवस्सय निवेसण साही	५५४२	ऊणाणुइमदित्रे	१५९८	एएहिं कारणेहिं	५१७५
उवहय उवकरणम्मिं	५१५४	ऊणाधिय मज्जतो	५२१७	एएहि य अण्णेहि य	४८००
उवहयभावं दवं	५२३६	ऊणेण न पूरिस्सं	४००६	एकं भेरमि भाणं	२८९०
उवहयमइवित्राणे	७८७	ऊसरदेसं दहेल्लयं	१२२	एकग दुगं चउकं	१९२१
उवहाण तूलि आलिं-	३८२४	ऊसवछणेसु संभारियं	३४२६	एकतरे पुव्वगते	२६५४
उवहिम्मि पडगसाडग	१९६७	ऊससियं नीससियं	७६	एक-दुग-तिण्णि मासा	५८१८
उवहि सरीरमलाधव	३५४६			एकम्मि दोसु तीसु व	२२६३
उवहिस्स आसिआवण	५०६४	ए		एकवीस जहण्णेणं	४८५२
उवहीलोभ भया वा	५६०			एकस्स ऊ अभावे	४८८२
उवेहउप्पत्तिय परितावण	१९८४	एअगुणविप्पमुक्के	१९२०	एकस्स मुसावादो	६१४१
उवेहोभासण करणे	१९८७	एआओ भावणाओ	१३२७	एकस्स व एकस्स व	२८०६
उवेहोभासण ठवणे	१९८६	एईए जिता मि अहं	६२०८	एक्काइ वि वसहीए	२०३३
उवेहोभासण परितावण	१९८५	एए अण्णे य बहू	५७१२	एक्काए वसहीए	१४१२
उव्वत्तखेलसंधार-	१८८६	एए अ तस्स दोसा	४२४०	एक्का मुक्का एक्का य	४१२९
उव्वत्तण परिउत्तण	३७८२	एए उ अधिप्पंते	६२९	एक्का य तस्स भगिणी	६१९९
उव्वत्तणमप्पत्ते	५३७०	एए उ दवावेत्ती	४६३०	एक्का वि ता महल्ली	४५६८
उव्वत्तेति गिलाणं	६३३७	एए चैव दुवालस	३९६४	एक्किक्कम्मि उ ठाणे	१७४७
उव्वरए कोणे वा	५७०	एए चैव य ठाणा	६४०७	एक्किक्कम्मि य ठाणे	२४५४
उव्वरए वलभीइ व	२६४५	एए चैव य दोसा	२३१९	एक्किक्कम्मि य भंजे	२१८६
उव्वरगस्स उ असती	१९०५	एए चैव य दोसा	३२१२	एक्किक्को सो दुविहो	३०७६
उव्वरगस्स उ असती	६२१५	एए चैव य दोसा	३४९९	एक्केकं अतिणेउं	४९६४
उव्वाया वेला वा	२२०८	एए चैव य दोसा	४४१९	एक्केकं तं दुविहं	४९००
उव्वेल्लिए गुज्जमपस्सतो से	४११५	एए चैव य दोसा	६१६९	एक्केकं ताव तवं	१३३०
उसिणे संसट्ठे वा	१९५१	एए चैव य दोसा	६१७३	एक्केकं सत्त दिणे	७०६
उस्सग्गओ नेव सुतं पमाणं	३६३०	एएण सुत्त न गतं	५८४६	एक्केकपडिग्गहगा	१४४२
उस्सग्गं एगस्स वि	५२०५	एएण सुत्त न गतं	५९०९	एक्केकमक्खरस्स उ	६०
उस्सग्ग गोयरमी	३३१९	एए न होंति दोसा	२७५०	एक्केकम्मि उ ठाणे	१५१०
उस्सग्गट्ठिई सुद्धं	३३१८	एएसामन्नयरं	४७३९	एक्केकम्मि उ ठाणे	२३५९
उस्सग्गलक्खणं खलु	५१४८	एएसिं असईए	२३२४	एक्केकम्मि उ ठाणे	२५५८
उस्सग्गसुतं किंची	३३१६	एएसिं असईए	२९६०	एक्केकम्मि उ ठाणे	५५५९
उस्सग्गाई वितहं	६२१	एएसिं असतीए	४१४१	एक्केकम्मि य ठाणे	२८९३
उस्सग्गेणं भणियाणि	३३२६	एएसिं असतीए	६३०६	एक्केकाउ पयाओ	२२५५
उस्सग्गेण निसिद्धाईं	३३२७	एएसिं तिण्हं पी	२५६५	एक्केका ते तिविहा	२५६६
उस्सन्नं सब्वसुयं	२६९	एएसिं परूवणया	४३१६	एक्केका ते तिविहा	२५७१
उस्सासाओ पाणू	१३४१	एएहिं कारणेहिं	१०२०	एक्केकातो पदातो	४९०७
उस्सुत्तं बवहरतो	६४२३	एएहिं कारणेहिं	१८०१	एक्केका सा दुविहा	३१४३

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
एकैकीए दिसाए	११८८	एगवगडेगदारा	२१२९	एताणि य अण्णाणि य	४७३८
एकैको जियदेसो	७३	एगवगडेगदारे	२१३३	एतारिसं विओसज्ज	५४३८
एकैको पुण उवचय	६९७	एगविहारी अ अजाय-	६९४	एतेण सुत्त न गतं	५५६०
एकैको सो दुविहो	४९१४	एगस्स अणेगाण व	३१४७	एते तिन्नि वि भंगा	२२८७
एकैणं एकदलं	१९७	एगस्स पुरेकम्मं	१८३६	एते पदे न रक्खति	५६४
एकौन्नि सोत्ति दोण्णी	३६६५	एगस्स बीयगहणे	१८४२	एते सब्बे दोसा	४२७७
एकौ थ जहन्नेणं	५२३	एगा उ कारण ठिया	३२३०	एतेसिं अग्गहणे	५५१२
एकौ थ दोन्नि दोन्नि य	५०५५	एगागित्तमण्णा	६९६	एतेसिं असईए	३१९३
एकौ वा सवियारो	२०२२	एगागिस्स हि चित्ताई	५७१९	एतेसिं तु पयाणं	३०८२
एगं कप्पद्वियं कुज्जा	६४६३	एगागी मा गच्छसु	५७२६	एतेसिं तु पयाणं	३०८४
एगंगिय चल थिर पारि-	५६४२	एगागी वच्चंती	५९३०	एतेसिं तु पयाणं	३६८९
एगं ठवे णिव्विसए	३५८२	एगाणियस्स दोसा	१७०२	एतेहिं कारणेहिं	४६०८
एगं णायं उदगं	४५९७	एगाणियाए दोसा	५९३३	एत्थ उ पणगं पणगं	४२८४
एगंतरमायंबिल	७४६	एगापत्रं च सता	३१३८	एत्थं पुण अधिकारो	४९६८
एगंतरमुप्पाए	१३०४	एगालयट्टियाणं	४८५७	एत्थं पुण अहिगारो	५०१५
एगं तारिं खेतं	२२३०	एगा व होज्ज साही	२२३४	एत्थ किर सणि सावग	३२७०
एगं नायं उदगं	४५७६	एगाह पणग पक्खे	५४७६	एत्थ य अणभिग्गहियं	४२८२
एगं व दो व तिन्नि व	४८४२	एगाहि अणेगाहिं	३१५४	एमाइ अणागयदोस-	२८९४
एगखुर-दुखुर-गंडी	२१६८	एगाहि अणेगाहि व	३२३५	एमेव अजीवस्स वि	१५५
एगग्गया सुमह निज्जरा	१३४३	एगे अपरिणए या	५४३७	एमेव अणत्ताए	६३०७
एगग्गामे अतिच्छंते	४६६१	एगे अपरिणए या	५४४६	एमेव अधाउं उज्झिऊण	२१८
एगत्तभावणाए	१३५२	एगे अपरिणते या	५३९९	एमेव अप्पलेवं	१७४२
एगत्थ कहमकप्पं	२६७६	एगेण कयमकज्जं	९२८	एमेव अमुंडिस्स वि	४६६८
एगत्थ रंधणे भुंजणे	३५६६	एगेण विसइ बीएण	३४४	एमेव असंता वि उ	६२
एगत्थ वसंताणं	४८१४	एगेण समारद्धे	१८४३	एमेव असिहसण्णी	४६९६
एगत्थ सीयमुसिणं	२०९७	एगेण समारद्धे	१८४६	एमेव अहाच्छेदे	५४६६
एगत्थ होइ भत्तं	५३०९	एगे तू वच्चंते	५३९१	एमेव उग्गमादी	५३५३
एगत्थे उवलद्धे	५१	एगे महाणसम्मी	३५६३	एमेव उत्तिमट्ठे	२८७६
एग-दु-ती-चउ-पंचग-	४४५	एगो एगदिवसियं	३१४२	एमेव उवहि सेज्जा	७६६
एगपए दु-तिगाई	१९८	एगो करेति परसुं	३९४३	एमेव ओवसमिए	३९४१
एगपएसोगाढादि	२७२२	एगो खओवसमिए	३९४०	एमेव कइयवा ते	५५६
एग पणगऽद्धमासं	१५३०	एगो गिलाणपासे	३२१६	एमेव गणाऽऽयरिए	५७७५
एगपुड सकलकसिणं	३८४७	एगोऽत्थ नवरि दोसो	२१३८	एमेव गणाऽऽयरिए	५८०४
एगमणेगे छेदो	३३६०	एगो व होज्ज गच्छो	१६१५	एमेव गणावच्छे	५४५०
एगमरणं तु लोए	२४९०	एतं चेव पमाणं	१२०८	एमेव गणावच्छे	५४७०
एगम्मि अणेगेसु व	६	एतं तु पाउसम्मी	२७४०	एमेव गिलाणाए	५२४४
एगम्मि दोसु तीसु व	२२७१	एतं तुब्भं अम्हं	५३१९	एमेव गिलाणे वी	५६५
एगम्मि दोसु तीसु व	२४६४	एतं पि मा उज्झह देह मज्झं	४२०३	एमेव गोणि भेरी	३६३
एगयर उभयओ वा	४५६१	एतद्दोसविमुक्कं	५०९	एमेव चारण भडे	५५०
एगयरनिग्गओ वा	६०८	एतविहिआगतं तू	५४३६	एमेव जइ परोक्खं	२९५०
एगवगडं पडुच्चा	२१३२	एताइं अकुब्बंतो	४५४९	एमेव तइयभंगो	२८७४

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
एमेव ततो णिते	२१८५	एमेव सघरपासंड-	१७८५	एयारिसम्मि वासो	३३१४
एमेव तेल्लिगोलिय-	३२८१	एमेव समणवग्गे	५३४७	एयारिसे विहारो	२७८२
एमेव तोसलीए	४२२३	एमेव सेसएसु वि	१६३२	एयारिसो उ पुरिसो	५११८
एमेव पउत्थे भो-	२८००	एमेव सेसएसु वि	४९०४	एयारिसि असतीए	३७९४
एमेव पउलियाऽपउलिए	१०८०	एमेव सेसएसु वि	५२६७	एयारिसि असतीए	५२४६
एमेव बितियसुत्ते	५८९९	एमेव सेसएसु वि	५६४८	एयारिसि णवण्हं पी	५९५०
एमेव भावतो वि य	१०४०	एमेव सेसएहि वि	२७७८	एरंडइए साणे	२९२६
एमेवऽभिवक्खगहणे	५८०६	एमेव सेसगम्मिं	४२५५	एरवइ कुणालाए	५६३९
एमेव मज्जणाई	६४७	एमेव सेसियासु वि	५५०९	एरवइ जत्थ चक्किय	५६५३
एमेव मामगस्स वि	६२८	एमेव होइ उवरिं	२९१९	एरवइ जम्हि चक्किय	५६३८
एमेव मासकप्पे	४८६९	एमेव होइ उवरिं	३११६	एरिसए खेतम्मी	३२९०
एमेव मीसए वि	४३४७	एमेव होंति इत्थी	२५७६	एरिसओ उवभोगो	२४५७
एमेव य अच्चित्ते	४६८८	एमेव होंति दुविहा	२५७०	एरिसदोसविमुक्कम्मि	२४३४
एमेव य अच्छिम्मिं	६१८१	एमेव होति तेण्णं	५०९६	एरिससेवी सब्बे	५१६३
एमेव य इत्थीए	५०८०	एमेव होति वगडा	३२९६	एवइयाणं गहणे	३८७६
एमेव य उदिउ त्ति य	५८०९	एमेवोगाहिमगं	१४०८	एवं अप्परिवडिए	१०७
एमेव य एक्कतरे	२२४४	एयं चरित्तसेढिं	४५१३	एवं अवातदंसी	५२७६
एमेव य किंचि पदं	६४१६	एयं चेव पमाणं	४०१५	एवं उग्गमदोसा	५३०१
एमेव य खंधाण वि	२७२१	एयं जायणवत्थं	२७९५	एवं एक्केक्क तिगं	२५६९
एमेव य गेलत्ते	५८२१	एयं दुवालसविहं	७१३	एवं एक्केक्क तिगं	२५७७
एमेव य जसकित्तिं	४६८७	एयं पि ताव जाणह	३०२०	एवं एक्केक्कदिणे	५७७१
एमेव य णहाणाइसु	१६७९	एयं पि सघरमीसेण	४२०९	एवं एसा जयणा	१०६८
एमेव य नगरादी	११२०	एयगुणसंपउत्तो	५१३१	एवं खओवसमिए	८७
एमेव य निज्जीवे	९९९	एयगुणसंपजुत्तो	५०३१	एवं खलु अच्चिन्ने	४७२२
एमेव य परिभुत्ते	१८६७	एयहोसविमुक्कं	१६०१	एवं खलु संविग्गे	५४६३
एमेव य पिहियम्मी	५३९	एयहोसविमुक्कं	२८०८	एवं खु थूलबुद्धी	२२६
एमेव य पुरिसाण वि	६३९	एयहोसविमुक्के	२२८८	एवं खु भावगामो	१११७
एमेव य भयणा वी	१०७१	एयविहिमागतं तू	५३९८	एवं खु लोइयाणं	२२८४
एमेव य भूमितिए	२९४३	एयविहिमागयं तू	५४४५	एवं गहवइसागारिए	६८३
एमेव य वसिमम्मि वि	२९९९	एयस्स णत्थि दोसो	५५७२	एवं गिलाणलक्खेण	१८९१
एमेव य वीयारे	४३९५	एयस्स नत्थि दोसो	२५०२	एवं च पुणो ठविए	१५९१
एमेव य संजोगा	५६५१	एयस्स नाम दाहिह	१९३९	एवं च भणितमित्तम्मि	३३६९
एमेव य संसद्धं	६६३	एयाणि गारवद्धा	१३१४	एवं च भणियमेत्ते	२००८
एमेव य सच्चित्ते	९०७	एयाणि मक्खणद्धा	६०३२	एवं चिय निरविवक्खा	२२०४
एमेव य सत्तीण वि	१७९२	एयाणि य अन्नाणि य	६२४८	एवं चिय मे रत्तिं	२८४६
एमेव य हीलाए	६०८८	एयारिसए मोत्तुं	२३१०	एवं ठियम्मि मेरं	६४३७
एमेव य होइ गणी	५७५४	एयारिसं विओसज्ज	५४००	एवं तत्थ वसंती-	२०८२
एमेव लेवगहणं	७४९	एयारिसं विओसज्ज	५४४७	एवं ता अदुगुंच्छिए	८६७
एमेव संजईणं	१०७३	एयारिसखेत्तेसुं	२२९५	एवं ता अदिद्वे	५०६७
एमेव संजईण वि	१०३८	एयारिस गेहम्मी	२६१९	एवं ता असहाए	८८५
एमेव संजईण वि	१०८५	एयारिसम्मि रूवे	२६२७	एवं ता गिहवासे	१९४७

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
एवं ता गेण्हंते	२८०२	एवं वितिगिच्छो वी	५८१५	एसेव गमो नियमा	३५१०
एवं ता जिणकप्पे	५२७०	एवं विसुद्धनिगमस्स	१०९९	एसेव गमो नियमा	३७९६
एवं ता तिविह जणे	४२१७	एवं संसारीणं	१०४	एसेव गमो नियमा	४६०९
एवं ता दप्पेणं	२२०६	एवं सङ्कुलाइं	१५८६	एसेव गमो नियमा	५२६०
एवं ता पंथम्मिं	५६१६	एवं समाणिए कप्पे	६४७९	एसेव गमो नियमा	५४५१
एवं ता पमुहम्मी	२६४३	एवं सुत्तं अफलं	२५६१	एसेव गमो नियमा	५७२१
एवं ताव दिवसतो	५८३२	एवं सुत्तं अफलं	५२९०	एसेव गमो नियमा	६०५९
एवं ता सविकारे	२५५९	एवं सुत्तं अफलं	६१७४	एसेव गमो नियमा	६२४१
एवं तु अगीतत्थे	५७६७	एवं सुत्तविरोधो	४२४१	एसेव गिलाणम्मि वि	१९६३
एवं तु अणंतेहिं	७०	एवं सुनीहरो मे	६३४४	एसेव गुरु निविट्ठे	२२४८
एवं तु अन्नसंभो-	१६१७	एव मुवज्झाएणं	६१०९	एसेव य णवगकमो	४६७०
एवं तु असदभावो	५६१०	एवमुवस्सय पुरिमे	५३४९	एसेव य दिट्ठतो	८१
एवं तु इंदिएहिं	५९२६	एव य कालगयम्मिं	५५१५	एसेव य दिट्ठतो	१००८
एवं तु केइ पुरिस्सा	५१५६	एस उ पलंबहारी	९२३	एसेव य नूण कमो	११४१
एवं तु गविट्ठेसुं	६४८	एसणदोसे व कए	१६०३	एसो वि तत्थ वच्चइ	२१९६
एवं तु चिट्ठणादिसु	२४१२	एसणदोसे सीयइ	४५२०	एसो वि ताव दमयतु	५७३५
एवं तु ठाविए कप्पे	६४६६	एसणपेल्लण जोगाण	५५०८	एसो वि ताव दम्मउ	२७०४
एवं तु दिया गहणं	२९८४	एस तवं पडिबज्जति	५५९७	एसो विही उ अंतो	२९५७
एवं तु सो अवधितो	५०८१	एसो अविही भणिया	१८४१	एहिंति पुणो दाइं	४६७३
एवं तेसि ठियाणं	१०७४	एसो विही उ निग्गए	५७६०	एहि भणिओ उ वच्चइ	७७४
एवं दव्वतो छण्हं	९१४	एसो विही तु दिट्ठे	५८७५		
एवं दिवसे दिवसे	५७६६	एसो विही विसज्जिए	५४३४	ओ	
एवं दुग्गतपहिता	६३६८	एसुस्सग्गठियप्पा	२४८	ओअत्तंतम्मि वहो	१७२८
एवं नामं कप्पति	४२७३	एसेव कमो नियमा	१४२५	ओगाहिमाइविगईं	२०७७
एवं पडिच्छिऊणं	१२७९	एसेव कमो नियमा	१६७७	ओदरिपत्थयणाऽसइ	३११२
एवं पमाणजुत्तं	५८५३	एसेव कमो नियमा	२०३४	ओदरियमओ दारेसु	३२७९
एवं पि अठायंते	५४८१	एसेव कमो नियमा	२०४७	ओभामिओ उ मरुओ	१७१६
एवं पि अलभंते	६१७	एसेव कमो नियमा	२१०६	ओभामिओ णेहि सवासमज्जे	३५९१
एवं पि कीरमाणे	१९१०	एसेव कमो नियमा	२३२५	ओभावणा कुलघरे	२३१३
एवं पि कीरमाणे	५२५३	एसेव कमो नियमा	२५४७	ओभावणा कुलघरे	३४९६
एवं पि परिच्चत्ता	५३०७	एसेव कमो नियमा	२५७८	ओभावणा पवयणे	४४१८
एवं पि भाणभेदो	४८४	एसेव कमो नियमा	२६१६	ओभासइ खीराइं	१५९९
एवं पि हु उवघातो	४८७	एसेव कमो नियमा	२६६८	ओभासणा य पुच्छा	६६०
एवं पीईवड्डी	५२९४	एसेव कमो नियमा	४०४६	ओभासणा य पुच्छा	४०३९
एवं पुच्छासुद्धे	६४३	एसेव कमो नियमा	४९४०	ओभासियं जं तु गिलाणग्गट्ठा	३१९६
एवं फासुमफासुं	१८१८	एसेव गमो नियमा	३८०३	ओभासिय धुव लंभो	१५२४
एवं बारस मासे	५७७०	एसेव गमो नियमा	४२३३	ओमंथ पाणमाई	६६५
एवं भवसिद्धीया	११३७	एसेव गमो नियमा	५५८७	ओमंथ पाणमाई	४०४०
एवं मणविसईणं	८४	एसेव गमो नियमा	१०००	ओमंथिए वि एवं	११०५
एवं लेवग्गहणं	५१६	एसेव गमो नियमा	१०३३	ओमम्मि तोसलीए	१०६०
एवं वासावासे	४६८९	एसेव गमो नियमा	२०४५		

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
ओमाणपेल्लितो वेल-	५८८७	ओहे उवग्गहम्मि य	४३५४	कण्णम्मि एस सीहो	६२०६
ओमाणस्स व दोसा	३७०८	ओहेण दसविहं पि य	१६२७	कतरिं दिसं गमिस्ससि	६०८५
ओमादिकारणेहि य	५४१९	ओहे सव्वनिसेहो	२५५५	कतरो भे णत्थुवधी	४१६४
ओमा-ऽसिव-दुट्टेसुं	२०२९	ओहो उवग्गहो वि य	४८४८	कतरो सो जेण निसिं	२२६६
ओमा-ऽसिव-दुट्टेसू	३९१६			कतिएण सभावेण व	५५७
ओमा-ऽसिवमाईहि व	५१२३	क		कतिटाण ठितो कप्पो	६३५८
ओमे एसणसोहिं	३११८			कत्थइ देसग्गहणं	३३२१
ओमो चोदिज्जंतो	६१३५	कंकडुए को दोसो	२२१	कत्थ व न जलइ अग्गी	१२४५
ओमोदरियागमणे	३११९	कंजिय-उदगविलेवी	१७०७	कन्नतेपुर ओलोय-	९९१
ओमोदरिया य जहिं	९३८	कंजिय-चाउलउदए	१९५८	कप्पइ अपरिग्गहिया	३६२५
ओमो पुण आयरिओ	४४१२	कंजुसिण-चाउलोदे	१७०६	कप्पइ गिलाणगट्टा	३०५०
ओमो समराइणिओ	१३७३	कंटग-कणुए उच्चर	६१६८	कप्पइ गिलाणगट्टा	३१९०
ओयण-मीसे-निम्मी-	१०७५	कंटग तेणा वाला	१४७५	कप्पइ समेसु तह सत्त-	१८२४
ओयन्भूतो खित्ते	९५९	कंटगमादीसु जहा	५५९६	कप्पट्टु खेल्लण तुअट्टणे	४६०२
ओयारण उत्तारण	६१९०	कंटऽट्टि स्वाणु विज्जल	८८१	कप्पट्टिय परिहारी	५६१७
ओरोहधरिसणाए	३१२०	कंटऽट्टिमाइएहिं	८८३	कप्पट्टिइपरुवणता	५३४०
ओलिंपिऊण जहि अक्खरा	३३९५	कंटाई देहंतो	३८५८	कप्पम्मि अकप्पम्मि य	१००५
ओली निवेसणे वा	२२१६	कंटाऽहि-सीयरक्खट्टता	३८६३	कप्पा आयपमाणा	३९६९
ओलोयणं गवेसण	५०३६	कंदप्प देवकिव्विस	१२९३	कप्पा-ऽकप्पविसेसे	४२३२
ओलोयण निग्गमणे	२४२४	कंदप्पे कुक्कुइए	१२९५	कप्पातो व अकप्पं	५३६२
ओवग्गहियं चीरं	५८९४	कंदाइ अभुंजंते	३११३	कप्पासियस्स असती	३६६८
ओवासे तणफलए	१३८३	कंपइ वाएण लया	२४३७	कप्पेऊणं पाए	४४०
ओवासे तणफलए	१६२५	कक्खंतरुक्खवेगच्छि-	१०६७	कप्पे सुत्त-ऽत्थविसार-	१३९९
ओवासे संथारे	२०२५	कज्जविवत्तिं दट्टुं	७५४	कप्पो च्चिय सेहाणं	५३२९
ओवुज्झंती व भया	६१९४	कट्टेण व सुत्तेण व	१०५६	कब्बट्टदिट्टे लहुओ	८६५
ओसक्कंते दट्टुं	४५३८	कट्टे पुत्थे चित्ते	२४६९	कमजोगं न वि जाणइ	७२०
ओसक्कण अहिसक्कण	१६५३	कट्टे पुत्थे चित्ते	२५०४	कमभिन्न वयणभिन्नं	२७९
ओसण्णे दट्टुणं	६०७६	कट्टे पुत्थे चित्ते	४९१५	कम्मं असंकिलिट्टं	४९११
ओसन्नेण असत्तीण	५४	कडओ व चिलिमिणी वा	३४५१	कम्मं चिणंति सवसा	२६८९
ओसप्पिणीइ दोसुं	१४१६	कडओ व चिलिमिली वा	२२७४	कम्म घरे पासंडे	१७५४
ओसरणे सवयंसो	६१०३	कडओ व चिलिमिली वा	२६६६	कम्मम्मि अदिज्जंते	४२२१
ओसह भेसज्जाणि य	१४८६	कडं कुणंतेऽसति मंडवस्सा	३५१६	कम्मवसा खलु जीवा	२६९०
ओसह विज्जे देमो	६२२१	कडकरणं दव्वे सा-	१८४	कम्मर-णंत-दारग-	२९२९
ओहविभागुहेसे	५३४	कडजोगि एक्कओ वा	२९९७	कम्मे आदेसदुगं	१०८४
ओहाडियचिलिमिलिए	२३६२	कडजोगि सीहपरिसा	२८९६	कम्मेहिं मोहियाणं	२३४५
ओहाडियदाराओ	२३३६	कडपल्लाणं सण्णा	३२९८	कम्मोदय गेलत्ते	५३२०
ओहाणाभिमुहीणं	३७२६	कडमकड त्ति य मेरा	२२११	कयउस्सग्गाऽऽमंतण	१५८२
ओहार-मगरादीया	५६३३	कडिपट्टए य छिहली	५१७७	कयकरणा थिरसत्ता	२४४५
ओहाविय ओसन्ने	५४९०	कडिपट्टओ अभिनवे	५१७८	कयकिइकम्मो छदेण	४९३
ओहाविय कालगते	५४८९	कडिवेयणमवतंसे	६३३६	कयमकए गिहिकज्जे	७०२
ओहि मणपज्जवे था	३०	कणएण विणा वइरं	५६८७		

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
कयरी दिसा पसत्था	१४६३	काएहउविसुद्धपहा	३१८८	कालतवे आसज्ज व	३०१
कयलीखंभो व जहा	४१२८	काणच्छिमाइएहिं	२४९५	कालमकाले सत्रा	४३८
करगोफणधणुपादा-	६३२३	का भयणा जइ कारणि	१८६१	कालम्मि ओममाई	१२५५
करणं तु अण्णमण्णे	५०२५	कामं अखीणवेदाण	२१५८	कालम्मि पडुप्पते	४७५१
करणाणुपालयाणं	४२९९	कामं अहिगरणादी	२६२०	कालम्मि बिइयपोरिसि	१६४
करणे अधिकरणम्मि य	६३१५	कामं आसवदारेसु	६२२६	कालम्मि संतर गिरंतरं	४८९२
करपायंगुट्टे दोरेण	५५२४	कामं कम्मं तु सो कप्पो	३१००	कालसरीरावेक्खं	५३६१
करपायदंडमाइसु	९००	कामं खलु अणुगुरुणो	९९६	कालस्स समयरूवण	१६३
करमिव मज्जइ दिंतो	४४९१	कामं खलु पुरसइो	१८१९	कालाइकमदाणे	३६९९
कलमोदणो य खीरं	१९२८	कामं खलु सव्वजू	९६३	कालाइकमदाणे	४५७४
कलुस दवे असतीय व	४३५	कामं जहेव कत्थति	५६९२	कालातिक्कंतोवट्टाण-	५९३
कलुसफलेण न जुज्जइ	८३७	कामं तवस्सिणीओ	२१०१	कालातीते लहुगो	५९४
कल्लं से दाहामी	१४०७	कामं तु एअमाणो	४४४८	कालिय पुव्वगए वा	५४२५
कवडुगमादी तंबे	१९६९	कामं तु सरीरबलं	१३५४	कालियसुआणुओगम्मि	७४४
कसाए विकहा विगडे	५०१६	कामं परपरितावो	५१०८	कालुड्डाई कालनिवेसी	३०८३
कसिणस्स उ बत्थस्सा	३८८०	कामं पुरिसादीया	५२३७	कालुड्डाईमादिसु	३१०२
कसिणा परीसहचमू	१३५५	कामं विपक्खसिद्धी	५२३४	काले अपहुच्चंते	४८०५
कसिणाऽविहिभिन्नम्मि य	१०५२	कामं विभूसा खलु लोभदोसो	३९९५	काले अभिग्गहो पुण	१६५०
कस्सइ विवित्तवासे	२१६५	कामं सकामकिच्चो	४४००	काले उ अणुण्णाए	५२८२
कस्स ति पुरेकम्मं	१८२१	कामं सव्वपदेसु वि	४९४४	कालेण अपत्ताणं	४२६२
कस्सेते तणफलगा	२०३८	कायं परिच्चयंतो	९३१	कालेण असंखेण वि	१२०२
कस्सेयं पच्छित्तं	९३६	कायादि तिहिक्किक्कं	१६४२	कालेणुवक्कमेण व	११०
कहकहकहस्स हसणं	१२९६	काया बया य ते च्विय	१३०३	कालेणेवदिएणं	४२६०
कहणाऽऽउट्टण आगम-	५०५२	काया बया य ते च्विय	४९७९	कालेणेसणसोधिं	४९५६
कहयति अभासियाण वि	१२३०	कारगकओ चउत्थे	३२७	कालो सिं अइवत्तइ	८००
कहिओ य तेसि धम्मो	३२८४	कारगकरंतगाणं	३९४५	कावालिय य भिक्खू	२८२२
काइय पडिलेह सज्जाए	३४८९	कारणगमणे वि तहिं	६०५८	कावालिय सरक्खे	५१८७
काई सुहवीसत्था	३६९५	कारणगहिउव्वरियं	२८५१	कास त्तऽपुच्छियम्मि	६२३
काउं णिसीहियं अट्ट-	६२९९	कारणजाय अवहितो	५०८४	कासाइमाइ जं पुव्व-	६१३
काउं सरयत्ताणं	५१८	कारणतो अविधीए	३७२०	काहिइ अब्बोच्छित्तिं	१२४२
काउस्सगं तु ठिए	५६७९	कारणनिसेवि लहुसग	३७७	काहीयातरुणीसुं	२५७४
काउस्सग्गे सज्जा-	५५०२	कारणमकारणम्मि य	५९६४	काहीयातरुणीसुं	२५७९
काऊण अकाऊण व	५५८९	कारणियदिविखितं तीरि-	६१२२	काहीयातरुणेसुं	२५६७
काऊण नमोक्कारं	१	कारणे अणले दिक्खा	५७८३	काहीयातरुणेसु वि	२५८०
काऊणमसागरिए	४७५६	कारणे अणुत्र विहिणा	३९९२	किइकम्मं तीए कयं	२१८०
काऊण मासकप्पं	१६८७	कारणे गंधपुलागं	६०६०	किइकम्मं पि य दुविहं	४४१५
काऊण मासकप्पं	४२८६	कारणे गमणे वि तहिं	५९२४	किइकम्म भिक्खगहणे	१५०४
काऊण य प्यणामं	५४३०	कारणे सपाहुडि ठिया	५६९	किं आगओ सि गाहं	६१३९
काएण उवचिया खलु	२३३४	कारावणमण्णेहिं	३६०८	किं आगय त्थ ते बिंति	२७८१
काएसु अप्पणा वा	१६६३	कालगयं सोऊणं	५३८५	किं उवघातो घोए	१८६५
काएसु उ संसत्ते	५८९	काल-जइ-च्छविदोसो	२८०	किं उवघातो हत्थे	१८६३

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
किं कारणं चमढणा	१५८४	कुंभी करहीए तहा	३४८२	केणावि अभिप्पाएण	३६३६
किं काहामि वराओ	१८८५	कुच्छण आय दयद्धा	५९७२	केणेस गणि ति कतो	६१२३
किं काहिइ मे विज्जो	१९७५	कुट्टिमतलसंकासो	१७१४	केरिसगु ति व राया	६३८१
किं काहिंति ममेते	३७६४	कुट्टिस्स सक्करादीहि	३८६५	केवइयं कालसंजोगं	६४४९
किं गीयत्थो केवलि	९६१	कुडमुह डगलेसु व काउ	२३४२	केवतिय आस हत्थी	४८३३
किंचिमत्तग्गाही	३६९	कुडंतर भित्तीए	४५५६	केवलगहणा कसिणं	६४१५
किं छागलेण जंपह	६०७९	कुडंतरस्स असती	३७५०	केवलविन्नेयत्थे	९६६
किं छागलेण जंपह	६०८३	कुड्डाइलिंपणद्धा	२६४२	केवलिणा वा कहिए	४५०८
किं जाणंति वरागा	४५७५	कुणइ वयं धणहेउं	४५३०	केवलिणो तिउण जिणं	११८६
किं तं न होति अम्हं	३६३७	कुणमाणा वि य चेद्धा	६२२९	केसवअद्धबलं पण्ण-	५०२३
किं तुज्झ इक्कियाए	२३३८	कुणमाणो वि य कडणं	४५३६	केसिंचि अभिग्गहिया	१६०६
किं ते पित्तपलावो	७९९	कु ति पुढवीय सण्णा	४२१४	केसिंचि इंदियाइं	२६
किं दमओ हं भंते !	६३३	कुत्तीयपरूवणया	४२१३	कोई तत्थ भणिज्जा	२१५७
किं देमि ति नरवई	४९८	कुत्तीय सिद्धनिण्हण-	४०३३	कोई तत्थ भणेज्जा	४२७२
किं नागओ सि समणेहिं	२६५६	कुप्पवयण-ओसत्तेहिं	३४१	कोई मज्जणगविहिं	१९३८
किं नागय त्थ तइया	१४१०	कुमुओयररसमुद्धा	१२४८	कोउअ भूई पसिणे	१३०८
किं नीसि वासमाणे	६०७०	कुम्भार-लोहकारेहिं	३८३८	को कल्लाणं निच्छइ	२४७
किं परिहरंति णणु खाणु-	६०७८	कुलं विणासेइ सयं पयाता	३२५१	कोकुइओ संजमस्स उ	६३१७
किं पिच्छह सारिक्खं	३७१२	कुलडा वि ताव गेच्छति	५९३७	को गच्छेज्जा तुरियं	६३२८
किं पि ति अन्नपुट्टो	७२३	कुलपुत्त सत्तमंतो	२०६२	को गेण्हति गीयत्थो	४०२९
किं मण्णे निसि गमणं	३०४४	कुलमाइकज्ज दंडिय	३८६६	को जाणइ को किरिसो	२४५५
किं लक्खणेण अम्हं	३९५७	कुलमादीकज्जाइं	१८००	कोट्टगमाई रत्ते	८७२
किं व न कप्पइ तुब्भं	४६७१	कुलवंसम्मि पहीणे	४९४८	कोट्टग सभा व पुवं	४३८५
किं वा मए न नायं	४३६४	कुलवंसम्मि पहीणे	५२५४	कोट्टाइबुद्धिणो अत्थि	११७५
किच्चिरकालं वसिहिह	१३९३	कुवणय पत्थर लेडू	९१५	कोट्टाउत्ता य जहिं	३३९३
किच्चिर कालं वसिहिह	१६३१	कुवणयमादी भेदो	४९०५	कोढ खए कच्छु जरे	५२४२
किच्छाहि जीवितो हं	५३२५	कुवियं नु पसादेती	२१७६	को तुब्भं आयरितो	३०१५
किड्ड तुअट्टण बाले	४६१२	कुविया तोसेयव्वा	३८३	कोतूहल आगमणं	४३७३
किण्हं पि गेण्हमाणो	३८६८	कुव्वंताणेयाणि उ	५६०१	कोतूहलं च गमणं	४९१८
कितिकम्मं पि य दुविहं	६३९८	कुसपडिमाइ गियत्तण	५५०१	को दोसो एरंडे	२१६
किन्नु विहारेणऽब्भुज्ज-	१२८२	कुसमुट्टिएण एक्केणं	५५३२	को दोसो को दोसो	२८७१
किमियं सिद्धम्मि गुरू	५५६४	कूरो नासेइ छुहं	५९९९	को दोसो दोहिं भिन्ने	९८९
किरियातीतं णाउं	३७७८	केइत्थ भुत्तभोगी	२४५६	कोइवपलालमाई	८४२
किह उप्पन्नो गिलाणो	१९०८	केइ पुण साहियव्वं	५३२७	को नाम सारहीणं	१२७५
किह भूयाणुवघातो	३८६१	केइ सरीरावयवा	४५८१	को नियमो उ तलेणं	८५७
कीयम्मि अणिद्धे	४२०१	केइ सुरूव दुरूवा	६१५९	को पोरुसी य कालो	४०००
कीवस्स गोत्र नामं	५१६४	केई भणंति पुब्बिं	१४६२	कोप्पर पट्टगगहणं	४३५७
कीस न नाहिह तुब्भे	६२४	केई सब्बविमुक्का	८३३	कोमुइया (तह) संगामिया य	३५६
कुओ एयं पल्लीओ	२९००	केण कयं कीस कयं	५५६६	कोयव पावारग दाढि-	३८२३
कुंकुम अगुरुं पत्तं	३०७४	केण ह्वेज्ज विरोहो	६९	कोलालियावणो खलु	३४४५
कुंथु-पणगाइ संजमे	३८०९	केणाऽऽणीतं पिसियं	६१०१	कोल्लुपरंपर संकलि	५७५
				को वोच्छिइ गेलत्ते	१९६४

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
कोसंबाऽऽहारकते	३२७५	खिंसाए होंति गुरुगा	४१४६	खेत्तस्संतो दूरे	४८४६
कोसग नहरक्खद्धा	२८८५	खिंसावयणविहाणा	६१२५	खेत्तादऽकोविओ वा	२७३१
कोसाऽहि-सल्ल-कंटग	२८८९	खिंसिज्जह हम्मइ वा	१२६०	खेत्ते काल चरित्ते	१४१३
कोहाई अपसत्थो	४२४५	खित्तं वत्थुं सेतुं	४७६४	खेत्ते काल चरित्ते	१४२९
कोहो माणो माया	८३१	खित्तबहिया व आणे	१९०४	खेत्ते जं बालादी	३०७५
ख		खित्तम्मि उ अणुयोगो	१६२	खेत्ते निवेसणाई	८६८
खंडम्मि मग्गियम्मी	४७९	खित्तम्मि उ जावइए	३४	खेत्ते भरहेरवएसु	१४३१
खंडे पत्ते तह दम्भ-चीवरे	२९८६	खित्तम्मि जम्मि खित्ते	४२४४	खेत्तोयं कालोयं	९५८
खंताइसिद्धज्जित्ते	४६२९	खित्तस्स उ पडिलेहा	२०५२	खेत्तोवसंपयाए	५४०८
खंते व भूणए वा	४६२६	खित्ताह मारणं वा	५७२४	खेयविणोओ साहस-	१२८९
खंधकरणी उ चउहत्थ-	४०९१	खित्ताऽऽरक्खिणिवेयण	५४३२	खेयविणोओ सीसगुण-	१२१५
खंधारभया नासति	५५९	खित्ते काल चरित्ते	१६३४	खोल्ल-तयाईसु रओ	९१२
खंधारादी नाउं	५७९	खित्तेण य कालेण य	४२४६	ग	
खंधेऽणंतपएसे	७९	खित्ते भरहेरवए	१४०	गइ-ठाण-भास-भावे	७५१
खंधे दुवार संजति	६३७३	खित्तेहिं बहू दीवे	१६१	गइ भास वत्थ हत्थे	५१४६
खज्जूरमुहियादा-	१७१३	खित्तोग्गहप्यमाणं	४६५३	गएहिं छहिं मासेहिं	६४७६
खणणं कोट्टण ठवणं	३३२	खिवणे वि अपावंतो	९१६	गएहिं छहिं मासेहिं	६४७७
खमएण आणियाणं	४३३२	खीणकसाओ अरिहा	१७८१	गंडी कच्छति मुट्ठी	३८२२
खमए लद्धूण अंबले	४३३०	खीणम्मि उदिन्नम्मी	१२१	गंडी-कोढ-खयाई	१०२४
खमओ व देवयाए	२९६८	खीणेहि उ निव्वाणं	२६८४	गंतव्वदेसरागी	३०६७
खमगस्साऽऽयरियस्सा	५५५७	खीरं वच्छुच्छिद्धं	१७४५	गंतुमणा अन्नदिसिं	३१५३
खमणं निमंतिते ऊ	५७३	खीरदहीमादीण य	५३००	गंतुं दुचक्कमूलं	४९७
खमणं मोहतिग्गिच्छा	२८५०	खीरमिउपोग्गलेहिं	२२८	गंतूण गुरुसगासं	१५२२
खमणे य असज्जाए	५५५०	खीरमिव रायहंसा	३६६	गंतूण पडिनियत्तो	१८५०
खर अयसिकुसुंभ सरिसव	५२९	खुड्डं व खुड्डियं वा	५०९५	गंतूण पुच्छिऊण य	४३०२
खरए खरिया सुण्हा	४५५७	खुड्डो जेराणऽप्ये	२९८८	गंतूण य पन्नवणा	२९४८
खरओ त्ति कहं जाणसि	६१५७	खुड्डो धावण झुसिरे	४५५	गंधह अपरिभुत्ते	४१६७
खरंटण वेंटिय भायण	२९५४	खुड्डो जणो णत्थि ण यावि दूरे	३२३९	गंभीरमहुरफुडविसय-	२६०१
खरफरुसनिडुराहं	५७५०	खुर-अग्गि-मोयगोच्चार-	५८	गच्छइ वियारभूमाइ	१२६५
खरसज्जं मउयवइं	६१२६	खुलए एगो बंधो	३८७०	गच्छगय निग्गए वा	५६८९
खरिया महिड्डिगणिया	२५२८	खुहिया पिपासिया वा	४५९३	गच्छगहणेण गच्छो	२८६५
खलिए पत्थरसीया	२९७	खेत्तं चलमचलं वा	४८४४	गच्छपरिरक्खणद्धा	४५४२
खलिय मिलिय वाइद्धं	२९९	खेत्तं तिहा करित्ता	१४८२	गच्छम्मि उ एस विही	१६५६
खाणुगकंटगवाला	४३७९	खेत्तंतो खेत्तबहिया	५८३८	गच्छम्मि उ पट्टविए	५७८२
खाणू कंटग विसमे	४००७	खेत्तंतो खेत्तबहिया	५८४२	गच्छम्मि एस कप्पो	१५८३
खामितस्स गुणा खलु	१३७०	खेत्तं वत्थुं धण धन्न	८२५	गच्छम्मि णियमकज्जं	४५३४
खामित-वोसविताइं	६११८	खेत्तं सेउं केउं	८२६	गच्छम्मि पिता पुत्ता	५२५१
खामिय वितोसिय विणा-	२६७८	खेत्तबहि अन्नोअण	१८९४	गच्छम्मि य णिम्माया	६४८३
खामिय-वोसवियाइं	६१२८	खेत्तम्मि खेत्तियस्सा	५३९४	गच्छसि ण ताव गच्छं	६०८४

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
गच्छा अणिग्गयस्सा	५७६२	गहिओ अ सो वराओ	२२८१	गिहि जोहं मग्गंतो	२९४९
गच्छे जिणकप्पम्मि य	२१०९	गहियं च अहाघोसं	६०९१	गिहियं भणंति पुरओ	२९४७
गच्छे सबालवुहे	४२९३	गहियं च गेहिं धण्णं	३३५६	गिहिणस्सा एगागी	५९२७
गच्छो अ अलद्धीओ	७४०	गहियं च तेहिं उदगं	३४२७	गिहियाणं संगारो	४७१७
गच्छो य दोन्नि मासे	५७६८	गहियमणाभोएणं	६०५७	गिहिलिंग अन्नलिंगं	७५८
गद्धा कुडंग गहणे	२१९७	गहियम्मि वि जा जयणा	३४१३	गिहिलिंगस्स उ दोण्णि वि	५१२२
गणओ तिन्नेव गणा	१४३५	गहियाऽऽउह-प्पहरणा	३३९१	गिहिसंति भाण पेहिय	१७२९
गणगोद्धिमादि भोज्जा	३६४९	गहियाऽगहियविसेसो	४५९०	गीएण होह गीई	६९०
गणचिंतगस्स एत्तो	३९८८	गाउअ दुगुणादुगुणं	३४४०	गीतऽज्जाणं असती	६२८३
गणणाए पमाणेण य	४००२	गाउय दुगुणादुगुणं	३४६६	गीयं मुणितेगद्धं	६८९
गणधर एव महिद्धी	४९८२	गाम-नगराहएसुं	२१२५	गीयत्थग्गहणेणं	१८२७
गणनिक्खेवित्तरिओ	१२८५	गामऽग्गभासे बदरी	५२९८	गीयत्थग्गहणेणं	१८६६
गणमाणओ जहन्ना	१४४३	गामाइयाण तेसिं	४८४०	गीयत्थग्गहणेणं	२९०८
गणहर आहार अणुत्तरा	११९७	गामाणुगामियं वा	३१५२	गीयत्थपरिग्गहिते	४९५
गणहरथेरकयं वा	१४४	गामेणाऽऽरण्णेण व	६२७६	गीयत्थे आणयणं	१९३६
गणि आयरिए सपदं	२१४३	गामेय कुच्छियाऽकुच्छिया	२३९१	गीयत्थे ण मेलिज्जह	५४६२
गणि आयरिए सपदं	५८३१	गारविए काहीए	१७०३	गीयत्थेण सयं वा	१०२२
गणि गणहरं ठवित्ता	१३६७	गावो तणाति सीमा	१०९६	गीयत्थे पव्वावण	५१४०
गणिगा मरुगीऽमच्चे	२६२	गावो वयंति दूरं	१०९७	गीयत्थेसु वि एवं	३३६१
गणिणिअकहणे गुरुगा	२०८४	गाहा अद्धीकारग	४५६९	गीयत्थेसु वि भयणा	१८४७
गणिणिसरिसो उ धेरो	२४११	गाहिस्सा मि व नीए	२७५४	गीयत्थो जतणाए	४९४६
गणि-वसभ-गीत-परिणाम-	१०३०	गिण्हइ णामं एगस्स	५५४७	गीयत्थो य विहारो	६८८
गणि वायए बहुस्सुए	६०९०	गिण्हंतगाहगाणं	२३३	गीयमगीतो गीते	५४५९
गणि! वायग! जिद्धज्ज!	४४८९	गिण्हंति वारएणं	३५८४	गीयमगीया अविगीय-	३०१२
गणोवहिपमाणाहं	६४५८	गिण्हंति सिञ्चियाओ	१७२५	गीयाण विमिस्साण व	५४६०
गती भवे पच्चवलोइयं च	५१४५	गिण्हणे गुरुगा छम्मास	२५००	गीयाणि य पढियाणि य	२६००
गमणं जो जुत्तगती	३०७८	गिण्हामि अप्पणो ता	१५९६	गीया पुरा गंतु समिक्खियम्मि	३३०९
गमणाऽऽगमण वियारे	६४२६	गिम्हासु तिन्नि पडला	३९७४	गुज्झंगम्मि उ वियडं	६२६७
गमणाऽऽगमणे गहणे	४७५	गिम्हासु पंच पडला	३९७६	गुज्झंग-वदण-कक्खोरु-	३७७६
गमणाऽऽगमणे गहणे	५८६९	गिम्हासु होंति चउरो	३९७५	गुण-दोसविसेसन्नू	३६५
गमणे दूरे संक्रिय	३६८४	गिरिजन्नगमाईसु व	२८५५	गुणसुद्धियस्स वयणं	२४५
गम्मइ कारणजाए	३७२१	गिरि-नह-तलागमाई	२९६१	गुत्ता गुत्तदुवारा	२०५८
गव्वो अवाउडतं	५९६६	गिरि-नदि पुण्णा वाला-	५६४६	गुत्ते गुत्तदुवारे	३२२५
गव्वो गिम्मइवता	३८५६	गिरिसरियपत्थरेहिं	९७	गुत्ते गुत्तदुवारे	३२३६
गहणं च गोम्मिएहिं	३९०१	गिलाणतो तत्थऽतिभुंजणेण	३१६७	गुम्मेहि आरामघरम्मि गुत्ते	३५१३
गहणं तु अहागडए	२३७०	गिहवासे अत्थसत्थेहिं	३८८	गुरुओ गुरुअतराओ	६०३९
गहणं तु संजयस्सा	५१५७	गिहवासे वि वरागा	५०९०	गुरुओ चउलहु चउगुरु	५०७७
गहणे चिद्ध णिसीयण	३८०८	गिहि अण्णतित्थि पुरिसा	६१७७	गुरुगं च अद्धमं खलु	६०४३
गहवइणो आहारो	६७६	गिहिउग्गहसामिजडे	४७६३	गुरुगं च अद्धमं खलु	६२३९
गहिए भिक्खे भोत्तुं	१६७१	गिहिएसु पच्छकम्मं	५२४३	गुरुगा अचेलिगाणं	५९३८
गहिए व अगहिए वा	४२६१	गिहिएगम्मि अणिच्छंते	२९५१	गुरुगा अहे य चरमतिग	५३३

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
गुरुगा आपालोवे	३१२२	गोणे य साणमाई	३४४१	चउत्थपदं तु विदित्तं	२५८६
गुरुगा पुण कोडुंबे	८९४	गोणे य साणमादी	३३५२	चउथो पुण जसकित्तं	४६५७
गुरुगा बंभावाए	५९०	गोणे साणे व्व वते	५९४०	चउदसपुव्वी मणुओ	१३८
गुरुगा य गुरुगिलाणे	४००९	गो-मंडल-धन्नाई	९४३	चउदसविहो पुण भवे	१११२
गुरुगा य पगासम्मि उ	३४६४	गोम्मिय भेसण समणा	४३८६	चउधा खलु संवासो	४१९२
गुरुगो गुरुगतरागो	६२३५	गोयर साहू हसणं	६३२६	चउपादा तेगिच्छा	१९३७
गुरुगो य होइ मासो	६०४१	गोरसभाविय पोत्ते	२८९२	चउपाया तेगिच्छा	१९७४
गुरुणो (णं) भुत्तुव्वरियं	५००२	गोवाइऊण वसहिं	३५२३	चउभंगो अणुण्णाए	७९१
गुरुणो व अप्पणो वा	५१७४	गोवाल-वच्छवाला-	४३०१	चउभंगो गहण पक्खे-	९८१
गुरुतो य होइ मासो	६२३७	घ		चउमरुग विदेसं साह-	१०१३
गुरु पाहुण खम दुब्बल	४००८	घट्टिज्जंतं वुच्छं	१२७१	चउमूल पंचमूलं	३४२९
गुरुभत्तिमं जो हिययाणुकूलो	५०००	घट्टेउं सच्चित्तं	५३८०	चउरंजवग्गुरापरि-	३८२८
गुरुमादीण व जोगं	५८७४	घट्टाइ इयरखुडे	१७८८	चउरंगुलं विहत्थी	३९८२
गुरुयं लहुयं मीसं	२६८५	घडसहे घ-ड-उकारा	६३	चउरो ओदइअम्मी	६८४
गुरुसज्जिलओ सज्जंतिओ	५४२१	घडिपरं खलु धणं	८२८	चउरो गुरुगा लहुगा	३६८३
गुरुसारक्खणहेउं	३००६	घडिमत्तंतो लित्तं	२३६३	चउरो चउगुरु अहवा	२७००
गुरुस्स आणाए गवेसिऊणं	४१६६	घणं मूले थिरं मज्जे	३९७७	चउरो चउत्थभत्ते	५३६०
गूढछिरागं पत्तं	९६७	घणकुडा सकवाडा	२०५९	चउरो य अणुग्घाया	३६८६
गूढसिणेहं उल्लं	६००९	घण मसिणं गिरुवहयं	३८८२	चउरो य दिव्विया भागा	२८३३
गूहइ आयसभावं	१३०७	घम्मम्मि पवायडा	२२४२	चउरो य हुंति भंगा	६२२४
गेणहंतीणं गुरुगा	१०४४	घयकिट्ट-विस्सगंधा	५९१६	चउरो लहुगा गुरुगा	५०२
गेणहंतु पूया गुरवो जदिट्टं	४३२०	घयघट्टो पुण विगई	१७१०	चउरो लहुगा गुरुगा	१९९१
गेणहंतेसु य दोसु वि	३३७८	घरकोइलिया सप्पे	२३५४	चउरो लहुगा गुरुगा	१९९३
गेणहण गहिए आलोयण	५८०२	घुजइ गई सदिट्ठी	६०५३	चउरो लहुगा गुरुगा	१९९५
गेणहण गुरुगा छम्मास	९०४	घेतव्वगं भिन्नमहिच्छित्तं ते	३९३०	चउरो लहुगा गुरुगा	१९९७
गेणहणे गुरुगा छम्मास	५०९३	घेतुं जहक्कमेणं	४३६७	चउरो लहुगा गुरुगा	२५३८
गेणहणे गुरुगा छम्मास	२७७६	घेतूण गिसि पलायण	५८५८	चउरो विसेसिया वा	३४७९
गेलण्णमाईसु उ कारणेसू	३६५२	घेप्पंति चसहेणं	२६७७	चउलहुगा चउगुरुगा	५३८
गेलण्णेण व पुट्टा	४९६७	घोडेहि व धुत्तेहि व	३७३५	चउवग्गो वि हु अच्छउ	१०७२
गेलण्णेण व पुट्टो	५०४१	घोसो त्ति गोउलं ति य	४८७८	चउहालंकारविउव्विए	२३०५
गेलन्नं पि य दुविहं	१०२५	च		चउहिं ठिता छहिं अठिता	६३६०
गेलन्न तेणग नदी	४७२७	चउकण्णं होज्ज रहं	२०८८	चंकमणं निल्लेवण	२३९५
गेलन्नऽद्धाणोमे	१०५८	चउगुरुका छग्गुरुका	२५२१	चंकमणाई सत्तो	१३१९
गेलन्न रोगि असिदे	४७९९	चउगुरुग छ च्व लहु गुरु	२४७८	चंकमणे पासवणे	४४४३
गोउल विरुवसंखडि	१७२०	चउगुरुग छच्च लहु गुरु	३८९८	चंकमणे पुण भइयं	४४५७
गोच्छक पडिलेहणिया	३९८३	चउठाणठिओ कप्पो	६३५९	चंकमियं ठियं मोडियं	२५९८
गोजूहस्स पडागा	५२०२	चउण्हं उवरि वसंती	२१०७	चंगोड णउलदायण	५११६
गोडीणं पिट्ठीणं	३४१२			चंदगुत्तपपुत्तो य	२९४
गोणाइहरणगहिओ	१२७०			चंदगुत्तपपुत्तो य	३२७६
गोणादीवाघाते	४८०८			चंदुज्जोवे को दोसो	२८६१
गोणे य तेणमादी	२८४२			चंपा अणंगसेणो	५२२५

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
चक्रागं भज्जमाणस्स	९६८	चिंता य दड्ढुमिच्छइ	२२५८	चोयगवयणं गंतूण	४८३
चङ्ग सराव कंसिय	१९५९	चिंतेइ वादसत्थे	५६९७	चोयगवयणं दीहं	१४८७
चत्तारि अहाकडए	४०३१	चिंधद्वा उवगरणं	५५३६	चोयावेइ य गुरुणा	५४५५
चत्तारि छ च्व लहु गुरु	२४७७	चिंधेहिं आगमेउं	५६३	चोरु त्ति कडुय दुब्बो-	३३५०
चत्तारि छच्च लहु गुरु	३८९४	चिक्खल्लवासअसिवा-	४२९१	छ	
चत्तारि णवग जाणंत-	४६६३	चिद्धण निसीयणे या	२३९९	छंदिय गहिय गुरुणं	५१५८
चत्तारि दुवाराइं	२५६	चिद्धित्त णिसीइत्ता	३६८८	छंदिय सयंगयाण व	२८५६
चत्तारि य उक्कोसा	३९६६	चिरपव्वइओ तिविहो	४०३	छक्काय गहणकड्डण	२७७०
चत्तारि य उग्घाता	२४७३	चिरपाहुणतो भगिणिं	४५७९	छक्काय चउसु लहुगा	४६१
चत्तारि य उग्घाया	२४७१	चीयत्त कक्कडी कोउ	१०५१	छक्काय चउसु लहुगा	८७९
चत्तारि य उग्घाया	२५३६	चुण्णाइ-विंटलकए	२२१९	छक्काय चउसु लहुगा	२७७१
चत्तारि समोसरणे	४२६४	चेइधरुवस्सए वा	५५४८	छक्कायाण विराहण	२७३६
चम्मं चेवाहिकयं	३८४४	चेइदुम पेढ छंदग	११८०	छक्कायाण विराहण	२९२५
चम्मकरण सत्थादी	३०५८	चेइय आहाकम्मं	१७७३	छक्कायाण विराहण	३०५६
चम्मतिगं पट्टदुगं	४०९८	चेइय कडमेगड्डं	३६५६	छक्कायाण विराहण	३६९८
चम्ममि सलोममिं	३८०७	चेइयपूया राया-	१७९०	छक्कायाण विराहण	४१०७
चम्माइलोहगहणं	२८८२	चेयणमचित्त मीसग	६८१	छक्कायाण विराहण	६०५४
चरगाई बुग्गाहण	७००	चेयणमचेयणं वा	६२३१	छक्कायाण विराहण	६२१०
चरणकरणप्पहीणे	५४६५	चेयणमचेयण भाविय	७९८	छक्कायाण विराहण	६३३१
चरणकरणसंपत्ता	१११५	चेयणस्स उ जीवा	१८	छगणादी ओलित्ता	३३९४
चरणोदासीणे पुण	४४६२	चेलट्टे पुव्व भणिते	४१५१	छ च्वेव अवत्तव्वा	६०६३
चरमे पढमे बिइए	२१८७	चेलोहि विणा दोसं	४१४९	छ च्वेव य पत्थारा	६१३३
चरमे विगिंचियव्वं	५९११	चोअग जिणकालमिं	१७६८	छट्टं च चउत्थं वा	६०४४
चरमे वि होइ जयणा	१६९१	चोएइ अजीवत्ते	९८६	छट्टं च चउत्थं वा	६२४०
चरित्तट्ट देसे दुविहा	५४४०	चोएइ धरिज्जंते	५२७५	छट्टाणविरहियं वा	५४८७
चरिमे परिताविय पेज्ज	१४८५	चोएइ रागदोसा	२११	छट्टाणा जा नियगो	४९३५
चरिमो बहिं न कीरइ	४४१३	चोएइ रागदोसे	५७६१	छट्टो य सत्तमो या	५५१
चलचित्तो भावचलो	७६७	चोएई वणकाए	९७६	छट्टुणि काउड्डाहो	९९०
चल-जुत्त-वच्छ-महिया-	५०८	चोदगवयणं अप्पा-	५३०६	छट्टुं व भूमीए	३५१
चाउम्मासुक्कोसे	६०६	चोदणकुविय सहम्मिणि	४७४७	छट्टुं व जइ गया	५५३
चाउम्मासुक्कोसे	१८३०	चोइसग पण्णवीसो	४०७९	छण्हं जीवनिकायाणं	६४१९
चाउम्मासुक्कोसे	३८८८	चोइस दस य अभिन्ने	१३२	छण्हं जीवनिकायाणं	६४२०
चाउम्मासुक्कोसे	६४३३	चोयग ! एताए च्विय	४०५४	छत्तंतियाए पगयं	३९९
चाउल उण्होदग तुयरे	४०३७	चोयग ! कन्नसुहेहिं	८५४	छन्न-वहणट्ट मरणे	२३८१
चाउस्सालघरेसु व	३२९९	चोयग ! गुरुपडिसिद्धे	२८१३	छन्नालयमि काऊण	३७४
चारभड घोड मिंठा	२०६६	चोयग ! तं चेव दिणं	१४०९	छप्पइय-पणगरक्खा	३६६७
चारिय चोराउभिमरा	६३९५	चोयग ! दुविहा असई	४०५१	छ प्पुरिसा मज्झ पुरे	९२६
चारियसमुदाणट्टा	४६९३	चोयग ! निइयतं च्विय	९८३	छन्नाभागकए हत्थे	४०४४
चारो त्ति अइपसंगा	२७५९	चोयग पुच्छा उस्सा-	७१५		
चित्तंतो वइगादी	५३६४	चोयगपुच्छा गमणे	१९१४		
चिंताइ दड्ढुमिच्छइ	३४९७	चोयगपुच्छा दोसा	४३६९		

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
छम्मास अपूरिता	७६८	जइ अगणिणा उ वसही	३७३३	जइ पवयणस्स सारो	२४६
छम्मासे आयरिओ	१९९८	जइ अब्भितरमुक्का	८३८	जइ पुण अणीणिओ वा	५५४०
छम्मासे आयरिओ	२००१	जइ इच्छसि सासेरा	६२३०	जइ पुण अत्थिज्जंता	४४०७
छम्मासे पडियरिउं	६२१८	जइ उस्सग्गे न कुणइ	३४३७	जइ पुण खद्धपणीए	१४८८
छल्लहुए ठाइ थेरी	२४१०	जइ एगत्थुवलद्धं	४५८२	जइ पुण जुत्ता थेरा	१५२९
छल्लहुगा उ णियत्ते	६०७७	जइ एगस्स वि दोसा	१८४०	जइ पुण तेण ण दिट्ठा	४७३०
छव्विहकप्पस्स ठितिं	६४८८	जइ एयविप्पहूणा	५३०४	जइ पुण पव्वावेती	१०६३
छव्विह सत्तविहे वा	२७४	जइ एवं संसद्धं	५३०८	जइ पुण पुरिमं संघं	५३४६
छव्वीहीओ गामं	१४००	जइ एव सुत्तसोवीर-	३०५	जइ पुण संथरमाणा	४८४९
छहिं निप्फज्जइ सो ऊ	९७७	जइ ओदणो अधोए	१७३५	जइ पुण सब्बो वि ठितो	२४८३
छादेति अणुक्कयिते	४०८८	जइ कप्पादणुयोगो	२५१	जइ पुण होज्ज गिलाणी	६२७४
छायाए नालियाइ व	२६१	जइ कालगया गणिणी	३७३१	जइ पोरिसित्तया तं	५२७२
छाया जहा छायावतो णिबद्धा	३६२८	जइ किंचि पमाएणं	१३६८	जइ बारस वासाइं	१२२०
छारेण लंछिताइं	३३१२	जइ कुट्टणीउ गायंति	२६६३	जइ बुद्धी चिरजीवी	४३४३
छिंडीइ पच्चवातो	२६५३	जइ कुसलकप्पिताओ	१०११	जइ भागगया मत्ता	२५१५
छिंडीए अवंगुयाए	२६५५	जइ कूवाई पासम्मि	११०६	जइ भुत्तं पडिसिद्धो	६०१३
छिंदंतस्स अणुमई	१७८९	जइ जं पुरतो कीरइ	१८१७	जइ भे रोयति गिणहध	४१६३
छिक्कस्स व खइयस्स व	१३३७	जइ जग्गंति सुविहिया	३५२९	जइ भोयणमावहती	४०७३
छिज्जंते वि न पावेज्ज	७११	जइ णेउं एतुमणा	५३८९	जइमं साहुसंसग्गिं	५७१५
छिण्णावात किलंते	५६११	जइ तत्थ दिसामूढो	३१०८	जइ मूल-ऽग्गपलंबा	८५३
छिन्नमछिन्ना काले	१६८३	जइ ता अचेतणम्मिं	३८१४	जइ रज्जाओ भट्ठो	६३५
छिन्नममत्तो कप्पति	३६४३	जइ ता दंडत्थाणं	४४२९	जइ रत्तो भज्जाए	६३४
छिन्नम्मि माउगंते	३९५६	जइ ता दिया न कप्पइ	२८४०	जइ वा कुडी-पडालिसु	४८६७
छिन्नाइबाहिराणं	२३१५	जइ ताव तेसि मोहो	२१५६	जइ वा सब्बनिसेहो	८१३
छिन्नेण अछिन्नेण व	३०५२	जइ ताव दलंतऽगालिणो	४३२५	जइ वा हत्थुवघाओ	४८५
छिहलिं तु अणिच्छंते	५१७९	जइ ताव पलंबाणं	१०५३	जइ वि अणंतर खेतं	१५२०
छुभणं जले थलातो	५६२३	जइ ताव पिहुगमाई	१०८२	जइ वि निबंधो सुत्ते	१००१
छुभमाण पंचकिरिए	९१०	जइ ता सणप्फईसुं	२५४६	जइ वि पगासोऽहिगओ	१२२३
छेओ न होइ कम्हा	४९७०	जइ तिन्नि सब्बगमणं	१५१४	जइ वि य उप्पज्जंते	१३८७
छेदणे भेयणे चव	४८९९	जइ तेसिं जीवाणं	३८३०	जइ वि य न प्पडिसिद्धं	२८३९
छेदो छग्गुरु छल्लहु	२९१४	जइ दिट्ठंता सिद्धी	१००४	जइ वि य पिपीलियाई	२८६४
छेदो मूलं च तथा	२५२२	जइ दंतऽजाइया जा-	२९७६	जइ वि य पुव्वममत्तं	१३४५
छेदो मूलं च तथा	२५३९	जइ धम्मं अकहेत्ता	११३९	जइ वि य फासुगदव्वं	२८६३
छेलिय मुहवाइत्ते	६३२४	जइ नत्थि कओ नामं	७२९	जइ वि य भूयावादे	१४५
छोदूणऽणाहमडयं	५२२१	जइ नाणयंति जोई	२९४१	जइ वि य महव्वयाइं	२१०३
छोदूण दवं पिज्जइ	३४१९	जइ नाम सूहओ मि	४५४६	जइ वि य वत्थू हीणा	२०६
ज		जइ निल्लेवमगंधं	१७४०	जइ वि य सनाममिव परि-	१३४०
जइ अंतो वाघाओ	२०६८	जइ नीयमणापुच्छा	५५६३	जइ वि य होज्ज वियारो	२२८६
जइ अकसिणस्स गहणं	३८७४	जइ पंच तिन्नि चत्तारि	१५१८	जइ वि हु सम्मुप्पाओ	१११८
		जइ पज्जणं तु कम्मं	१७६७	जइ संजमो जइ तवो	२०११
		जइ परो पडिसेविज्जा	२७०२	जइ स च्चेव य इत्थी	२५५३

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
जइ समगं दो वइगा	४८६२	जं पि न वच्चंति विसिं	१५१३	जति वा ण णिव्वहेज्जा	६२८४
जइ सब्बं वि य नामं	७३०	जं पि य दारुं जोग्गं	२१७	जति सब्बं उद्विसिउं	५३४५
जइ सब्बे गीयत्था	२९३७	जं पुण खुहापसमणे	६०००	जति सब्बसो अभावो	४९४७
जइ सीसमि ण पुंछति	६१७५	जं पुण तेण अदिद्वे	३६०२	जति सिं कज्जसमत्ती	४६३१
जइ से हवेज्ज सत्ती	१६६७	जं पुण तेसिं चिय भायणेसु	३६०१	जत्तियमित्ता वारा	३८५५
जं अज्जियं चरित्तं	२७१५	जं पुण दुहतो उसिणं	५९१३	जत्तियमेत्ता वारा	३८३१
जं अज्जियं चरित्तं	५७४७	जं पुण पढमं वत्थं	२८३०	जत्तो दिसाए गामो	५५३१
जं अज्जियं समीख-	२७१४	जं पुण संभावेमो	४३५१	जत्तो दुस्सीला खलु	२०६५
जं अज्जियं समीख-	५७४६	जं पुण सच्चित्ताती	५३८२	जत्तो पाए खेत्तं	१५३८
जं अन्नाणी कम्मं	११७०	जंबुद्धीवपमाणं	१६०	जत्थ अचित्ता पुढवी	५६५०
जं अब्भुविच्च कीरइ	१८३	जं मंडलिं भंजइ तत्थ मासो	३१६५	जत्थ अपुव्वोसरणं	११७७
जं आवणमज्झम्मी	२२९८	जं वंसिमूलज्जणमुहं च तेणं	३५१४	जत्थ अपुव्वोसरणं	११९५
जं आहडं होइ परस्स हत्थे	३६२६	जं वत्थ जमि कालमि	३८८५	जत्थ उ जणेण णातं	४१३५
जं इच्छसि अप्पणतो	४५८४	जं वत्थ जमि देसमि	३८८४	जत्थ उ देसग्गहणं	३३२५
जं इत्थं तुह रोयइ	६०४५	जं वा असहीणं तं	३५५२	जत्थोप्पतरा दोसा	२२७६
जं एत्थ अम्हे सब्बं	१९४०	जं वा पढमं काउं	११००	जत्थोप्पयरा दोसा	२३२२
जं कट्टकम्ममाइसु	२४५२	जं वा भुक्खत्तस्स उ	६००३	जत्थ मई ओगाहइ	२३२
जं कल्ले कायव्वं	४६७४	जं वेलं कालगतो	५५१८	जत्थोम्हे पासामो	४३४
जं किंचि होइ वत्थं	२८३५	जं सिलिपई निदायति	११४८	जत्थ य नत्थि तिणाइं	५५३५
जं केणई इच्छइ पज्जवेण	३६२९	जं होइ पगासमुहं	६६४	जत्थ वि य गंतुकामा	२७८८
जंगमजायं जंगिय	३६६१	जं होहिति बहुगाणं	४२२८	जत्थ विसेसं जाणंति	२९१०
जं गहियं तं गहियं	८९७	जक्खो च्विय होइ तरो	४७७६	जत्थाहिवई सूरु	२०५६
जं गालयते पावं	८०९	जच्चाईहिं अवन्नं	१३०५	जत्थुप्पज्जति दोसो	५०११
जं घद्धा संघट्ठो	५६३६	ज च्चेव य जिणकप्पे	१४३९	जमिदं नाणं इंदो	१७
जं चउदसपुव्वधरा	९६५	जइत्तणेण हंदिं	६४०४	जम्मणनिक्खमणेसु य	१२२७
जं चिज्जए उ कम्मं	१६४६	जइत्तादी तेरिच्छे	६२०४	जम्मण-निक्खमणेसु य	३२६६
जं चिय पए णिसिद्धं	३३२८	जइ खग्गे महिसे	२९२३	जम्मण-संतीभावेसु	१४१५
जं जं तु अणुत्तायं	१४९७	जइ महिसे चारी	१५८९	जम्हा उ मोयगे अभि-	५९
जं जं सुयमत्थो वा	७५५	जइ जं वा तं वा	१५९०	जम्हा खलु पडिसेहं	८२२
जं जस्स नत्थि वत्थं	६१५	जणरहिणं वुज्जाणे	२५९१	जम्हा तु हत्थमत्तेहिं	१८६४
जं जह सुत्ते भणितं	३३१५	जणलावो परगामे	५२९५	जम्हा धारइ सिज्जं	३५२४
जं जीवजुयं भरणं	१७६३	जति एयविप्पहूणा	५२८०	जम्हा पढमे मूलं	२४८१
जं जो उ समावन्नो	६४२१	जति ताव लोहय गुरुस्स	५३०५	जम्हा पढमे मूलं	२५२३
जं तं दुसत्तगविहं	१७७	जति दिवसे संचिक्खति	५५५६	जम्हा पढमे मूलं	२५४०
जं तु न लब्भइ छेत्तुं	५९७०	जति दोण्णि तो णिवेदित्तु	३२१३	जम्हा य एवमादी	४१५८
जं तु निरंतरदाणं	३००	जति दोसो तं छिंदति	६४३०	जय गमणं तु गतिमतो	६३५३
जंते रसो गुलो वा	३६४८	जति नेवं तो पुणरवि	४८६	जयवि य तिद्धान कयं	२२
जं तेहिं अभिग्गहियं	५२३१	जति परो पडिसेविज्जा	५७३८	जलजा उ असंपाती	२४०२
जं दव्वं घणमसिणं	५५०३	जति पुण सो वि वरिज्जेज्ज	७४	जल-थलपहेसु रयणा-	५८५७
जं दिसि विगड्ढितो खलु	५५५५	जति मं जाणह सामिं	३२८६	जलपट्टणं च थलपट्टणं	१०९०
जं देउलादी उ णिवेसणस्सा	३५०५	जति रिक्को तो दवमत्त-	५३१०	जल्ल-मलपंकियाण वि	२५९९

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
जवमञ्ज मुरियवंसे	३२७८	जह वा सहीणरयणे	२१५१	जा ताव ठवेमि वए	५७८
जव राय दीहपट्टो	११५५	जह सपरिकम्मलंभे	४०५६	जा तेयगं सरीरं	२६८६
जस्स मूलस्स कट्ठातो	९७१	जह सब्वजणवएसुं	२०५	जा दहिसरम्मि गालिय-	३४७७
जस्स मूलस्स कट्ठातो	९७२	जह सूरस्स पभावं	११३६	जा दुचरिमो त्ति ता होइ	४४९७
जस्स मूलस्स भग्गस्स	९६९	जह सेज्जाऽणाहारो	२९६९	जा फुसति भाणमेगो	६१४६
जस्स मूलस्स भग्गस्स	९७०	जह सो वीरणसढओ	४२३०	जा भुंजइ ता वेला	१७३०
जस्सेव पभावुम्मि-	३६४२	जह हास-खेड्ड-आगार-	२५४३	जा मंगल त्ति ठवणा	७
जह अत्तट्ठा कम्मं	४२०७	जह हेमो उ कुमारो	५१५३	जायंते उ अपत्थं	१९०१
जह अप्पगं तहा ते	५४९५	जहा जहा अप्पतरो से जोगो	३९२६	जायण निमंतणुवस्सय	४३५५
जह अम्हे तह अन्ने	१५१७	जहिं अप्पतरा दोसा	२५४९	जायति सिणेहो एवं	५९९५
जह अरणीनिम्मविओ	२२५	जहिं एरिसो आहारो	६०५६	जा यावि चिट्ठा इरियाइआओ	३९२५
जह इंदो त्ति य एत्थं	११	जहिं गुरुगा तहिं लहुगा	३८२५	जारिसएणऽभिसत्तो	६१३२
जह उ कडं चरिमाणं	४२१०	जहिं नत्थि सारणा वारणा	४४६४	जारिसग आयरक्खा	५०४९
जह एस एत्थ वुट्ठी	१७०१	जहिं लहुगा तहिं गुरुगा	८८०	जारिस दव्वे इच्छह	१९८०
जह कारणम्मि पुण्णे	५६५५	जहितं पुण ते दोसा	३२१७	जारिसयं गेलत्तं	१९३२
जह कारणे अणहारो	६०११	जहियं एसणदोसा	५४४१	जावइ काले वसहिं	५८७८
जह कारणे तहिवसं	६०३०	जहियं च अगारिजणो	२०७२	जावइयं वा लब्भइ	१०७७
जह कारणे निल्लोमं	३८४१	जहियं तु अणाययणा	५९२१	जावइया उस्सग्गा	३२२
जह कारणे पुरिसेसुं	२५७३	जहियं दुस्सीलजणो	२०५७	जावइया रसिणीओ	१७५६
जह कोति अमयरुक्खो	६०९२	जहुत्तदोसेहिं विवज्जिया जे	३५१८	जावंतिगाए लहुगा	३१८६
जह गुत्तस्सिरियाई	४४५०	जाइकुलरुवधणबल-	१७९७	जावंतिया उ सेज्जा	५९६
जह चेव अगारीणं	२२९४	जाओ (जो आ) वणे वी य बहिं	३५०२	जावंतिया पगणिया	३१८४
जह चेव अन्नगहणे	८९०	जा खलु जहुत्तदोसे-	५९९	जाव गुरुण य तुब्भ य	१५०१
जह चेव य इत्थीसुं	२५७५	जा गंठी ता पढमं	९५	जाव न मंडलिवेला	१६८२
जह चेव य पडिबंधो	२६२९	जागरणट्ठाए तहिं	५५२३	जाव न मुक्को ता अण-	१९०९
जह चेव य पडिसेहे	६१६४	जागरह नरा! णिच्चं	३३८२	जा वि य ठियस्स चेट्ठा	४४५५
जह चेव य पुरिसेसुं	२५७२	जागरिया धम्मीणं	३३८६	जा संजयणिद्धिटा	४२०६
जह जह करेसि नेहं	२२६९	जाणइ य पिहुजणो वि हु	३६	जा सम्मभावियाओ	१११६
जह जह सुयमोगाहइ	११६७	जाणं करेति एक्को	३९३८	जा सालंबणसेवा	६३४३
जह जाइरुवधातुं	५६८६	जाणंतमजाणंता	४६५५	जाहे वि य कालगया	३७४३
जह ठवणिदो धुव्वइ	१९	जाणंतमजाणंते	४६८४	जिणकप्पिअभिग्गहिए-	१६९२
जह ण्हाउत्तिण्ण गओ	११४७	जाणंता माहप्पं	५०४४	जिणकप्पिएण पगयं	११७२
जह ते अणुट्ठिहंता	४४३४	जाणंता वि य इत्थिं	२२८२	जिणकप्पिओ गीयत्थो	६९१
जह पढमपाउसम्मिं	५१५५	जाणंति जिणा कज्जं	२३५६	जिणकप्पियपडिरुवी	१३५८
जह पारगो तह गणी	१०१७	जाणंति तव्विह कुले	२०९२	जिणकप्पियपडिरुवी	५०३५
जह फुंफुमा हसहसेइ	२०९९	जाणंतिया अजाणंतिया	३६४	जिणकप्पे तं सुत्तं	४०६२
जह भणिय चउत्थस्स य	५८४५	जाणं तु आसमाई	८३०	जिणलिंगमप्पडिहयं	४८०९
जह भमर-महुयरिगणा	१८७३	जाणह जेण हडो सो	४६३५	जिण सुद्ध अहालदे	११३१
जह मयणकोइवा ऊ	१०९	जाणामि दूमियं भे	२२२५	जिण सुद्ध अहालदे	१२८३
जह वा णिसेगमादी	५१९६	जाणाविए कहं कप्पो	४६६०	जिणा बारसरुवाइं	३९६५
जह वा तिण्णि मणूसा	१०२	जा णिंति इंति ता अच्छओ	६३८८	जित्तिणहुवायकुसला	५५२२

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
जिम्हीभवति उदया	१२३	जेणोग्गहिओ सत्थो	४८७१	जोगिदिएहिं न तहा	१२८७
जियपरिसो जियनिद्धो	२४२	जेणोग्गहिता वइगा	४८६०	जोग्गवसहीइ असई	२१०८
जियसत्तुनरवरिंदस्स	५२५५	जे ते देवेहिं कया	११८४	जो चंदणे कडुरसो	५९१५
जियसत्तु य णरवती	६१९८	जे पुण अभाविया ते	३४२	जो चरमपोग्गले पुण	१३०
जीवं उडिस्स कडं	१७७८	जे पुण उज्जयचरणा	४४६१	जो चेव गमो हेइहा	४३५६
जीवा अब्भुद्धिता	११४०	जे पुब्बिं उवकरणा	३०९८	जो चेव बलीए गमो	५५८
जीवाऽजीवसमुदओ	१०९५	जे मज्झदेसे खलु देसगामा	३२५७	जो चेव य हरिएसुं	५०६
जीवाऽजीवाभिगमो	४१२	जे य दंसादओ पाणा	५९५८	जो जस्स उ उवसमई	२६९८
जीवाऽजीवे न मुणइ	७१८	जे य पारंयिया वुत्ता	६४१२	जो जस्स उ उवसमती	५७३३
जीवा पुग्गल समया	२७२५	जे रायसत्थकुसला	३८२	जो जह कहेइ सुमिणं	२२३
जीवो अक्खो तं पइ	२५	जे लोगवेयसमएहिं	३८१	जो जह व तह व लद्धं	६२०३
जीवो उ भावहत्यो	४८९६	जे वि अ न सब्बगंथेहिं	८३६	जो जहा वट्टए कालो	२९५
जीवो पमायबहुलो	१६५५	जे वि य पुब्बिं निसि नि-	१३३३	जो जहियं सो तत्तो	५५३९
जीहादोसनियत्ता	३१५६	जेसिं एसुवएसो	१८३७	जो जेण अणभत्थो	१३२९
जुगलं गिलाणगं वा	६१९३	जेसिं चाऽयं गणे दासो	५७१७	जो जेण गुणेणऽहिओ	१७९८
जुत्तं सयं न दाउं	१९४१	जेसि पवित्ति-निवित्ती	८५	जो जेण जम्मि ठाणम्मि	५४९१
जुत्तपमाणस्सऽसती	४०२१	जे सुत्तगुणा खलु लक्ख-	१२२२	जो जेण पगारेणं	२६३
जुत्त विरयस्स सययं	११४६	जे सुत्तगुणा भणिया	५१८६	जो जेण विणा अत्थो	२१
जुत्ती उ पत्थरायी	५२६	जेसु विहरंति तातो	५०१४	जो गाते कतो धम्मो	६३०८
जुत्तमएहिं विहूणं	१४५९	जेहिं कया उ उवस्सय	१४९०	जोणीखुब्भण पेल्लण	५९५५
जुत्तेहिं खंडिएहि य	६३६७	जेहिं कया उ उवस्सय	१४९१	जोण्हा-मणी-पदीवा	२८५८
जुवाणगा जे सविगारगा य	३५०६	जेहिं कया पाहुडिया	१४९२	जो तं जगप्पदीवेहिं	३६४१
जे उ अलक्खणजुत्ता	२२२	जेहिं कया पाहुडिया	१४९३	जोतिस-णिमित्तमादी	३३३७
जे खलु अभाविया कु-	३६८	जे होंति पगयमुद्धा	३६७	जो दव्वखेत्तकयकाल-	७९३
जे खेत्तिया मो त्ति ण देंति ठागं	४८५०	जोअणसयं तु गंता	९७३	जो दव्वखेत्तकयकाल-	७९४
जे चित्तभित्तिविहिया	८	जोइंति पक्कं न उ पक्कलेणं	४४१०	जो दव्वखेत्तकयकाल-	७९५
जे चेव कारणा सिक्क-	२८८७	जो इत्थं भूतत्थो	५२२८	जो पुण उभयअवत्तो	५४८४
जे चेव दोन्नि पगता	४७८९	जो उ उदिन्ने खीणे	१२९	जो पुण कायवतीओ	४४५२
जे जम्मि उउम्मि कया	४४८	जो उ उवेहं कुज्जा	१९८३	जो पुण जहत्थजुत्तो	१५
जे जम्मि जुगे पवरा	२०१	जो उ उवेहं कुज्जा	५०३७	जो पुण तमेव मग्गं	१३२४
जे जह असोयवादी	४८२०	जो उ गुणो दोसकरो	४०५२	जो पुण मोहेइ परं	१३२६
जे जे दोसाययणा	१८६०	जो उज्जिओ आसि पभू व पुव्वं	३६१५	जो पुण सभोयणं तं	५८५४
जेट्टज्जेण अकज्जं	६१५०	जो उत्तमेहिं पहओ	२४९	जो पेल्लिओ परेणं	६२३३
जेट्टो कणेइभज्जाए	६२६१	जो उ परं कंपंतं	१३२०	जो मागहओ पत्थो	४०६७
जेट्टो मज्झ य भाया	६०९७	जो उ महाजणपिंडेण	३६००	जो य अणुवायछिन्नो	९४६
जेण असुद्धा रसिणी	१७५९	जो एतं न वि जाणइ	३२४४	जो रयणमणग्घेयं	६३४५
जेण उ आयाणेहिं	१२८८	जो कप्पठित्तिं एयं	६४४०	जो वा दुब्बलदेहो	३०१७
जेण उ सिद्धं अत्थं	१७९	जो खलु सतंतसिद्धो	१८१	जो वि तिवत्थ दुवत्थो	३९८४
जेण खवणं करिस्सति	४८९३	जो गणहरो न याणति	३२४६	जो वि दह्धिणो हुज्जा	५९६२
जेणऽधियं ऊणं वा	५५९१	जोगमकाउमहागडे	६०७	जो वि य तेसिं उवही	३०१३
जेण विसिस्सइ रूवं	२५९				

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
जो वि य होतऽकृतो	५६४५	डञ्जंतं तिंबरुदारुयं	७६४	ण्हाणाइ समोसरणे	१२५१
जो संजओ वि एआसु	१२९४	डहरस्सेमे दोसा	४०७०	ण्हाणा-ऽणुजाणमाइसु	१७६९
जो सो उवगरणगणो	२९०५	डहरो अकुलीणो त्ति य	७७२	ण्हाणादिसमोसरणे	४७२६
जो होइ पेल्लतो तं	३०८८	डोंबेहिं च धरिसणा	४१२४		
जोहो मुरुंडजडो	४१२१			त	
		ढ		तइए वि होति जतणा	३१३२
झ		ढिंकुण-पिसुगादि तहिं	५३७६	तइओ एयमकिच्चं	१०१५
ज्ञाणं नियमा चिंता	१६४१			तइओ जावज्जीवं	१८३४
ज्ञाणद्वया भायणधोवणाई	६८०	ण		तइओ त्ति कधं जाणसि	६१५३
ज्ञाणेण होइ लेसा	१६४०	ण उण्णियं पाउरते तु एकं	३६६९	तइओ संजमअट्टी	३७६५
झिञ्जिरि-सुरभिपलंबे	८५१	णंतक असती राया	५५२०	तइयं पडुच्च भंगं	२१३०
		णंतग-घत-गुल-गोरस	४१९८	तइयं भावतो भिन्नं	८६०
ट		ण गोयरो गेव य गोणिपाणं	४८६१	तइयचउत्था कप्पा	६४८१
टिट्टि त्ति नंदगोवस्स	७७	णणु सो चेव विसेसो	६२३२	तइयस्स जावजीवं	१८३२
		ण तेसिं जायती विग्घं	६४६४	तइयस्स दोन्नि मोत्तुं	५१२०
ठ		ण भूसणं भूसयते सरीरं	४११८	तइयाइ भिक्खचरिया	१३९७
ठवणकुलाइं ठवेउं	३७२८	ण वि किंचि अणुण्णायं	३३३०	तइयाए दो असुद्धा	५७९२
ठवणकुले व न साहइ	१४६६	ण वि जोइसं ण गणियं	३३६५	तइयादेसे भोत्तूण	२८६७
ठवणाकप्पो बुविहो	६४४२	णाऊण य वोच्छेदं	५४०४	तओ पारंचिया वुत्ता	६४१०
ठवणाघरम्मि लहुगो	५०८५	णागा! जलवासीया!	५७३९	तं काउ कोइ न तरइ	५२७३
ठवियग-संछोभादी	१७८४	णाणं तु अक्खरं जेण	७२	तं काय परिच्चयई	९३०
ठाइमठाई ओसरण	१७८३	णाणाणत्तीए पुणो	११६८	तं चेव अभिहणेज्जा	९३५
ठाणं गमणाऽऽगमणं	१६०५	णाभोग पमादेण व	४१३२	तं चेव णिडुवेती	५५८३
ठाणं वा ठायंती	३३७३	णासेति मुत्तिमग्गं	६३१८	तं चेव निडुवेई	२४९९
ठाणद्विइणाणत्तं	६३५४	णिग्गंथिचेलगहणं	४१८९	तं चेव पुव्वभणितं	४८२१
ठाणपडिसेवणाए	२४७०	णिच्छंति व मरुगादी	३६०७	तं छिंदओ होज्ज सतिं तु दोसो	३९२९
ठाणस्स होति गमणं	६३५१	णिच्छयतो सव्वगुरूं	६५	तं जाणगं होहि अजाणिगा हं	३२४९
ठाणस्स होति गमणं	६३५२	णिज्जुत्ति-मासकप्पेसु	६४८२	तं तु न जुज्जइ जम्हा	१३६५
ठाणासई य बाहिं	२९४४	णिभये गारत्थीणं	५६६०	तं तेण छूढं तहिं च पत्ता	३६०६
ठाणे नियमा रूवं	२५९४	णिरुवद्वं च खेमं च	४९६२	तं नत्थि गामनगरं	२२९०
ठाणे सरीर भासा	६३१९	णीणेति पवेसेति व	५६०९	तं पासिउं भावमुदिण्णकम्मा	४१०९
ठायंते अणुणवणा	४७४३	णेगंतियं अणच्चंतियं	१०	तं पि य चउव्विहं राइ-	२८४९
ठितो जया खेत्तबहिं सगारो	३५७०	णेगा उहिस्स गतो	४६९४	तं पुण गम्मिज्ज दिवा	३०४२
ठियकप्पम्मि दसविधे	६४४१	णेगेसु एगहणं	३३१७	तं पुण चेइयनासे	३८९
ठियगमियदिइऽदिइ-	४२३१	णेगेसु पियापुत्ता	३५५६	तं पुण जहत्थनियतं	५६
ठियमद्वियम्मि कप्पे	१४२१	णेगेहिं आणियाणं	४३१९	तं पुण रच्छमुहं वा	२२९९
		णेच्छंतमगीतं एतिणेव	३६४०	तं पुण रूवं तिविहं	२४६७
ड		पोतरणे अभत्तट्टी	५७६४	तं पुण सुण्णारण्णे	६१७८
डगल-ससरक्ख-कुडमुह-	४२६३			तं पूयइत्ताण सुहासणत्थं	५०४८
डञ्जइ पंचमवेगे	२२६०				

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
तं मणपज्जवनाणं	३५	तत्थ भवे जति एवं	४५२८	तम्हा खलु पट्टवणं	५५७३
तंमूल उवहिगहणं	९१९	तत्थ य अतिंत णेतो	३१६२	तम्हा गुब्बरपुट्टं	१७३६
तं वयणं सोऊणं	४७८१	तत्थ वि पढमं जं मीसु-	१०७८	तम्हा ण सव्वजीवा	३९५०
तं वयणं सोऊणं	४७८५	तत्थ वि य होंति दोसा	२१३१	तम्हा तु ण गंतव्वं	५३०३
तं वयणं हिय मधुरं	२०१०	तत्थाऽऽवायं दुविहं	४२०	तम्हा दुचक्कपतिणा	४९९
तं वा अणक्कमंतो	१६६९	तत्थेगो उ नियत्तो	१०३	तम्हा न कहेयव्वं	७९०
तं बेल सारविंती	१६९०	तत्थेव अणुवसंते	२२२२	तम्हा पडिलेहिय साहि-	१५६४
तं सच्चित्तं दुविहं	९०८	तत्थेव अन्नगामे	१९०२	तम्हा पुव्विं पडिलेहिऊण	१४५४
तं सिव्वणीहि नाउं	३०३२	तत्थेव आणवावेइ	३०३४	तम्हा विविंचितव्वं	५८७७
तं सोच्चा सो भगवं	३७९९	तत्थेव गंतुकामा	५८३६	तरच्छच्चम्मं अणिलामइस्स	३८१७
तच्चित्ता तल्लेसा	२४५९	तत्थेव भायणम्मी	५९०१	तरु गिरि नदी समुद्धो	२४२९
तज्जायजुत्तिलेवो	५२५	तत्थेव य निट्टवणं	९१७	तरुणाइत्ते निच्चं	५२५६
तज्जायमतज्जायं	३८७८	तत्थेव य निम्माए	५४१८	तरुणादीए दट्टुं	२३१८
तट्ठाणं वा वुत्तं	६१६५	तत्थेव य पडिबंधो	२५०३	तरुणा बाहिरभावं	१४५८
तण-कट्ट-नेह-धण्णे	५११७	तत्थेव य पडिबंधो	४११६	तरुणा-वेसित्थि-विवाह-	३४९५
तणगहण अग्गिसेवण	९२०	तत्थेव य भोक्खामो	४९६६	तरुणीउ पिंडियाओ	१८४८
तणगहणाऽऽरणतणा	५६६७	तदभावे न दुमु त्ति य	३०८	तरुणीण अभिद्वणे	२०८३
तणगहणे झुसिरेतर	९०३	तदसति पुव्वुत्ताणं	४१९९	तरुणीण य पक्खेवो	४९५०
तणडगलछारमल्लग-	३५३५	तदुभयकप्पिय जुत्तो	४०९	तरुणीण य पव्वज्जा	४१६०
तणडगलछारमल्लग-	४८४७	तदुभय सुत्तं पडिलेहणा	१५४३	तरुणी निष्फन्न परिवारा	४३४१
तणपणगम्मि वि दोसा	३८३२	तद्वव्वस्स दुगुंछण	६२५२	तरुणे निष्फन्न परिवारे	४३३८
तण विणण संजयट्ठा	६२५	तद्विसं पडिलेहा	५१९	तरुणे मज्झिम थेरे	४६८१
तणुईकयम्मि पुव्वं	१३४७	तद्विसं बिइए वा	१२६९	तरुणे वेसित्थि विवाह	२३०४
तणुनिद्धा पडिहारी	२३४१	तद्विसमक्खणम्मिं	६०२६	तरुणे वेसित्थीओ	२३२९
तण्हाइओ गिलाणो	३४२५	तद्विसमक्खणेण उ	६०२८	तलगहणाउ तलस्सा	८५६
तत पाइयं विर्यं पि य	१७६५	तप्पुव्विया अरहया	११९४	तल नालिएर लउए	८५२
ततियलताए गवेसी	५७९४	तब्भावियं तं तु कुलं अदूरे	३२२१	तलिय पुडग वज्जे या	२८८३
ततिया गवेसणाए	५७९६	तब्भावियट्ठा व गिलाणए वा	३४१७	तलियाउ रत्तिगमणे	२८८४
तत्तऽत्थमित्ते गंधे	५८४८	तमतिमिरपडलभूतो	५५८१	तवगेलन्नऽद्धाणे	५८१७
तत्तो अणूणए कप्पे	६४६८	तम्मि असाहीणे जेद्ध-	३५६४	तव छेवो लहु गुरुगो	२४७९
तत्तो इत्थिनपुंसा	४६६	तम्मि य अतिगतमित्ते	३६९७	तवभावणाणात्तं	१४२६
तत्तो य ऊणए कप्पे	६४६७	तम्मि वि सो चेव गमो	३९१९	तवभावणाइ पंचिं-	१३३२
तत्तो य बग्गणाओ	६६	तम्हा अपरायत्ते	६३१०	तवसोसिय उव्वाया	१५५६
तत्थ अकारण गमणं	३६८१	तम्हा उ अणेगंतो	४५८३	तवेण सत्तेण सुत्तेण	१३२८
तत्थ उ हिरण्णमाई	२६५२	तम्हा उ गेण्हियव्वं	४२५९	तवो सो उ अणुण्णाओ	५९५७
तत्थग्गहणं दुविहं	८९१	तम्हा उ जहिं गह्मितं	५२६९	तसउदगवणे घट्टण	५६३२
तत्थ चउरंतमादी	२३०७	तम्हा उ निक्खिक्खिस्सं	२५३	तसपाणविराहणया	३८१०
तत्थऽन्नतमो मुक्को	२१६९	तम्हा उ भिंदियव्वं	३९२१	तस बीयम्मि वि दिट्ठे	४०४२
तत्थऽन्नत्थ व दिवसं	३७५४	तम्हा उ विहरियव्वं	२७५१	तसबीयरक्खणट्ठा	१६६६
तत्थ पवेसे लहुगा	५३७५	तम्हा खलु अब्बाले	५६६	तस-बीयाइ व दिट्ठे	६६७
तत्थ पुण होइ दव्वे	२१४६	तम्हा खलु दट्टव्वो	५८७२	तस्स जई किइक्कम्मं	२०२१

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
तस्स थ भूततिगिच्छा	६२६२	तिगसंबच्छर तिग दुग	१९५४	तिविहं च होइ गहणं	४३३३
तस्संबंधि सुही वा	५५७४	ति च्विय संचयदोसा	६०२०	तिविहं च होइ पायं	४०२७
तस्सऽसइ उह्ववियडे	३५०८	तिद्वाणे अवकमणं	५३६३	तिविहं च होति दुग्गं	६१८३
तस्सेव उ गामस्सा	११०२	तिण्णि य अत्तट्टेती	४२२४	तिविहं च होति विसमं	६१८५
तस्सेव य मग्गेणं	२९५३	तिण्णेव य पच्छाया	४०८१	तिविहं होइ निमित्तं	१३१३
तह अन्नतित्थिगा वि य	४२५२	तिण्हं एक्केण समं	१६१९	तिविहं होइ पुलागं	६०४८
तह चेव अन्नहा वा	२२३३	तिण्ह वि कतरो गुरुतो	२५०९	तिविह निमित्तं एक्केक्क	१३१८
तह वि अठियस्स दाउं	४३२७	तिण्ह वि कयरो गुरुओ	२५२९	तिविह परिग्गह दिव्वे	८९२
तह वि य अठायमाणे	२०८५	तिण्हाऽऽरेण समाणं	७८१	तिविहम्मि कालछेए	३९७३
तह वि य अठायमाणे	४८८१	तिण्हेगयरे गमणे	३१२५	तिविहाऽऽमयभेसज्जे	३०९५
तह वि य अठायमाणे	६२०९	तित्त-कडुओसहाइं	२८९	तिविहा होइ निवण्णा	५९४६
तह समणसुविहित्ताणं	४९३०	तित्थंकरपडिकुट्ठो	३५४०	तिविहित्थि तत्थ थेरिं	६३८
तह से कहिति जइ होइ	१९५०	तित्थंकरपडिकुट्ठो	६३७८	तिविहे परूवियम्मिं	४०२८
तहिं वच्चंते गुरुगा	५५८६	तित्थकर पवयण सुते	४९७५	तिविहे य उवस्सग्गे	६२६९
तहिं सिक्कएहिं हिंडति	२८८६	तित्थगरा जिण चउदस	१११४	तिविहोन्निय असतीए	३६७७
तहियं पुव्वं गंतुं	३१९४	तित्थपणामं काउं	११९३	तिविहो बहुस्सुओ खलु	४०२
ता अच्छइ जा फिडिओ	१५९४	तित्थयरनाम-गोयस्स	१७८०	तिव्वकसायपरिणतो	४९९३
ताइं तणफलगाइं	२०३७	तित्थयरपढमसिस्सं	४९८४	तिव्वकसायपरिणतो	५००५
ताइं विरुवरूवाइं	३६६०	तित्थयर पवयण सुते	५०६०	तिव्वकसायसमुदया	२६८३
ताणि वि उवस्सयम्मिं	४१७६	तित्थयरस्स समीवे	१२१८	तिव्वाभिग्गहसंजुत्ता	५९६०
ता बेंति अम्ह पुण्णो	२२१२	तित्थविवह्नी य पभावणा	५३३७	तिव्वे मदे णातमणाए	३९३६
तारेह ताव भंते!	२००७	तित्थाऽइसेससंजय	११८५	तिव्वेहि होति तिव्वो	३९३७
तालं तलो पलंबं	८५०	तित्थाणुसज्जणाए	११४२	तिसमय तट्ठित्तिगं वा	४८८९
तालायरे य धारे	४२६८	तिन्नि कसिणे जहन्ने	३९८६	तिसु छल्लहुगा छग्गुरु	५८४१
तावसखउरकट्ठिणयं	३४५	तिन्नि विहत्थी चउरंगुलं	४०१३	तिसु लहुओ गुरु एगो	५८४०
तावोदणं तु उसिणं	५९०८	तिन्नेव गच्छवासी	१४७२	तिसु लहुओ तिसु लहुया	१५९३
तावो भेदो अयसो	२७०८	तिन्नेव य चउगुरुगा	१७६०	तिहिं कारणेहिं अन्नं	५४९७
तावो भेदो अयसो	५७४१	तिन्नेव य पच्छागा	३९६३	तिहिं थेरेहिं कयं जं	२८६०
तासिं कक्खंतर-गुज्झ-	२२५७	तिपयं जह ओवम्मे	३०४	तिहिकरणम्मि पसत्थे	१५४५
तासिं कुचोरु-जघणाइ	२६५०	तिपरिरयमणागाढे	३५५१	तीस दिणे आयरिए	५७७७
तासेऊण अवहिए	३३८८	तिप्पभिइ अडंतीओ	२०९३	तीसा य पण्णवीसा	६२३८
ताहे उवगरणाणिं	३३९०	तिरिएसु वि एवं चिय	४२८	तीसा य पण्णवीसा	६०४२
तिंतिणिणिए चलचित्ते	७६२	तिरियनिवारण अभिहण्ण	३३५४	तीसु वि दीवियकज्जा	५४९२
तिंतिणिणिए पुव्व भणिते	६३३२	तिरिय-मणुइत्थियातो	५९१	तुच्छत्तणेण गव्वो	६४००
तिंतिणिणिया वि तदद्वा	६३४०	तिरिय-मणुय-देवीणं	२४३०	तुच्छमवलंबमाणो	४५३१
तिक्खुत्तो हाए पीडा	१६९४	तिरिया-ऽमर-नरइत्थी	१११३	तुच्छा गारवबहुला	१४६
तिक्खुत्तो सक्खित्ते	६३९७	तिलतुसतिभागमित्तो	५०३०	तुच्छेण वि लोभिज्जइ	२०५४
तिक्खुत्तो सक्खित्ते	३५५५	तिलतुसतिभागमित्तो	५१३०	तुब्भ च्विय णीसाए	४६८५
तिक्खुत्तो सक्खित्ते	६३८०	तिविहं च अहालंदं	३३०३	तुब्भट्टाए कयमिणं	४०३६
तिगमाईया गच्छा	१६३०	तिविहं च भवे वत्थुं	८२७	तुब्भ वि पुण्णो कप्पो	२१३७
तिगमादसंकणिज्जा	२०९०	तिविहं च होइ करणं	९४	तुब्भे गिण्हह भिक्खं	२२१५

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
तुम्भे वि कंह विमुहे	४१८६	तेण परं पुरिसाणं	४६४	तेसु सपरिग्गहेसुं	१०८७
तुम्भे वि ताव मग्गह	४६४५	तेण परं पुरिसाणं	४८२३	तो कुज्जा उवओगं	५८८८
तुमए किर दहुरओ	६१४०	तेणभय सावयभया	४३०५	तो पच्छिमम्मि काले	१३६०
तुमए समगं आमं	५१८९	तेण भयोदककज्जे	३०६०	तोसलिए वग्घरणा	३४४६
तुम्ह य अम्ह य अट्ठा	२९५५	तेणाऽऽरक्खिय-सावय-	३२०९	थ	
तुरियं नाहिज्जंते	७१९	तेणाऽऽलोग णिसिज्जा	३९०४	थंडिलवाघाएणं	५५२८
तुरियगिलाणाहरणे	६३३८	तेणा सावय मसगा	१४५५	थंडिल्लस्स अलंभे	५९१८
तुल्ल जहन्ना ठाणा	१४३२	तेणा सावय मसगा	२४४८	थंडिल्लाण अनियमा	१७४१
तुल्लम्मि अदत्तम्मी	२९१७	तेणिच्छिए तस्स जहिं अगम्मा	३२३३	थद्धा निरोवयारा	१५७१
तुल्लम्मि वि अवराधे	४९७४	तेणियं पडिणियं चव	४४७३	थद्धे गारव तेणिय	४४९५
तुल्लम्मि वि अवराहे	५१२६	तेणियरं व सगारो	२३४७	थलकरणे वेमाणितो	५५५८
तुल्लहिकरणा संखा	६१२९	तेणे देवमणुस्से	८८२	थल देउलिया ठाणं	३५४९
तुल्ला चव उ ठाणा	७०७	तेणेव साइया मो	१९८२	थलसंकमणे जयणा	५६५८
तुल्ले छेयणभावे	८३	तेणे सावय ओसह	७५६	थलि गोणि सयं मुय भक्ख-	९९३
तुल्ले मेहुणभावे	२५१४	तेणेसु णिसट्ठेसुं	३३८१	थाइणि वलवा वरिसं	३९५९
तुल्ले मेहुणभावे	२५३३	तेणेहि अगणिणा वा	३७४७	थाणं च कालं च तहेव वत्थुं	४५६५
तुल्ले वि समारंभे	१८२९	ते तत्थ सण्णिविद्धा	३३४१	थाणम्मि पुच्छियम्मिं	६०९५
तुवरे फले अ पत्ते	२९२२	ते तत्थ सन्निविद्धा	३३७२	थी पंडे तिरिगीसु व	३२१०
तुवरे फले य पत्ते	३११७	ते तत्थ सन्निविद्धा	३४४९	थीपडिबद्धे उवस्सए	२०७३
तुस-धन्नाहं जहियं	३३६४	ते तत्थ सन्निविद्धा	३४६८	थी-पुरिसअणायारे	२३९४
तुसिणीए चउगुरुगा	५९९२	ते तिण्णि दोण्णी अह विक्कतो उ	३२१९	थी पुरिस णालऽणाले	५२४९
तुसिणीए हुंकारे	६१०५	ते दोऽवुवालभित्ता	५३७९	थीपुरिसा जह उदयं	५१६९
तूरपइ दिंति मा ते	६४१	ते नक्खिवालिमुहवासि-	२३०९	थीपुरिसाण उ फासे	१७८६
तूरंतो व न पेहे	१४६९	ते निग्गया गुरुकुला	५७०२	थीपुरिसा पत्तेयं	५१७१
तूरह धम्मं काउं	४६७५	ते पत्त गुरुसगासं	१५२१	थी पुरिसो अ नपुंसो	२०९८
तेइच्छियस्स इच्छा-	१९६१	ते पुण आणिज्जंते	५८६३	थुइमंगलमामंतण	१४६१
तेऊ-वाउविहूणा	५६५२	ते पुण होंति दुगादी	४१०४	थुइमंगलम्मि गणिणा	४५०१
ते कित्तिया पएसा	४५१२	तेरिच्छं पि य तिविहं	२५३४	थूममह सद्धिसमणी	६२७५
ते खिसणापरद्धा	६०९३	तेलोक्कदेवमहिता	६२००	थूलसुहुमेसु वुत्तं	४०५०
ते गंतुमणा बाहिं	५७००	तेलोक्कदेवमहिया	३७३७	थूला वा सुहुमा वा	४०४९
तेगिच्छ मते पुच्छा	३७६	तेल्लगुडखंडमच्छंडियाण	३४८१	थेराइएसु अहवा	२५८१
ते गुरुलहुपज्जाया	६८	तेल्लुव्वट्टण ण्हावण	१९५२	थेराणं नाणत्तं	१४४१
ते चव तत्थ दोसा	२५२५	ते वि असंखा लोगा	१४३३	थेराण सत्तरी खलु	६४३४
ते चव तत्थ दोसा	२५४२	ते वि य पुरिसा दुविहा	२५६२	थेरा परिच्छंति कधेमु तेसिं	४१६१
ते चव दारुदंडे	५९७५	तेसामभावा अहवा वि संका	३२०१	थेरा पुण जाणंती	६०३६
ते चव विवहंता	२२९	तेसिं तत्थ ठिताणं	४२६५	थेरी कोट्टगदारे	२०९१
ते चव सर्वेटम्मिं	५९७३	तेसिं पच्चयहेउं	६०३८	थेरी मज्झिम तरुणी	२६१०
तेणट्टम्मि पसज्जण	२७७९	तेसि अवारणे लहुगा	३३५३	थेरे व गिलाणे वा	५९६७
तेण परं आवायं	४६५	ते सीदितुमारद्धा	२४६२	थोवं जति आवण्णे	५५९०
तेण परं चउगुरुगा	४१४४	तेसु अगिणहंतेसु य	३५८९		
तेण परं निच्छुभणा	१२७२	तेसु ठिएसु पउत्थो	३३३९		

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
थोवं पि धरेमाणी	६३०१	दप्पेण जो उ दिक्खेति	६३११	दब्बे नाणापुरिसे	१४२
थोवं बहुम्मि पडियं	५९१२	दमए दूभगे भट्टे	६३२	दब्बे नियमा भावो	१६९
थोवम्मि अभावम्मि य	५६७०	दमए पमाणपुरिसे	१८२२	दब्बे पुण तल्लञ्ची	३४
थोवा वि हणंति खुहं	३०९४	दरहिंदिएव भाणं	५३१३	दब्बे भवितो निव्वत्तिओ	११२७
थोवे घणे गंधजुते अभावे	३१६६	दवियट्टुसंखडे वा	४७५०	दब्बे भावउविमुत्ती	३५४४
द		दब्बं तु उणहसीतं	५९०२	दब्बे भावे य चलं	५०३
दंडपडिहारवज्जं	२९७७	दब्बं तु जाणियव्वं	३७७९	दब्बे सचित्तमादी	२७२६
दंतपुरे आहरणं	२०४३	दब्बक्खएण पंतो	१५८८	दब्बे सच्चित्तादी	४८८७
दंतिक्क-गोर-तिल्ल-गुल-	३०७२	दब्ब दिसि खेत काले	५२१४	दब्बोवक्खरणेहा-	४२५०
दंसणचरणा मूढस्स	९३२	दब्बप्यमाण अतिरेग	३९६१	दस एयस्स य मज्झ य	६०७३
दंसणनाणचरित्तं	४५५३	दब्बप्यमाणअतिरेग-	३९९९	दसठाणठितो कप्पो	६३६३
दंसण-नाण-चरित्ते	२११०	दब्बप्यमाण गणणा	१६११	दससु वि मूलाऽऽयरिए	५१६८
दंसण नाणे माता	२७८४	दब्बम्मि उ अहिगरणं	२६८१	दहिअवयवो उ मंयू	१७०९
दंसणनिंते पक्खो	५४३५	दब्बम्मि ऊ उवस्सओ	३२९४	दहितेल्लाई उभयं	२०९५
दंसणमोग्गह ईहा	१३३	दब्बम्मि मंथितो खलु	६३१६	दाइय-गण-गोटीणं	४७६५
दंसणमोहे खीणे	१३१	दब्बम्मि य भावम्मि य	४१९०	दाउं व उट्टरुस्से	६२२
दंसणम्मि य वंतम्मिं	६४१४	दब्बवती दब्बाइं	१८५	दाउं हिट्ठा छारं	४५१७
दंसणवादे लहुगा	३१८९	दब्बसुयं पत्तग-पुत्थएसु	१७५	दाऊणं वा गच्छइ	१८८१
दंसणसोही थिरकरण देस	१२२६	दब्बस्स उ अणुओगो	१५३	दाऊण अन्नदब्बं	१८२६
दंसिय छंदिय गुरु सेसए	५१०	दब्बाइ उज्झियं दब्बओ	६११	दाऊण वंदणं मत्थ-	४४९३
दगतीर चिट्टणादी	२३८४	दब्बाइ कमो चउहा	२७२४	दाणे अभिगम सट्ठे	१४८९
दगतीरे ता चिट्ठे	५६६१	दब्बाइचउक्कं वा	१३६	दाणे अभिगम सट्ठे	१५७९
दगदोद्धिगाइ जं पुव्व-	६५८	दब्बाइतिविहकसिणे	३८८९	दाणे अभिगम सट्ठे	१५८०
दगभाणूणे दट्ठुं	३४२८	दब्बाइ दब्ब हीणा-	६५६	दाणे अभिगम सट्ठे	१५८१
दगमेहुणसंकाए	२३९७	दब्बाइसन्निकरिसा	२१४७	दारं न होइ एत्तो	३३७५
दट्ठुं पि णे न लब्भामो	५७२	दब्बाई अणुकूले	१३६६	दारदुयस्स तु असती	४८१५
दट्ठुं विउव्वियाओ	२३०६	दब्बाई एक्केक्को	६७१	दारमसुन्नं काउं	२६६७
दट्ठुं निमंतण लुद्धो-	५०६९	दब्बाणं अणुयोगो	१५७	दारस्स वा वि गहणं	२१२८
दट्ठूण जिणवराणं	१०५	दब्बाण दब्बभूओ	१८६	दारुं धाउं वाही	२१५
दट्ठूण तं विससणं	४९५१	दब्बादिकसिणविसयं	३८	दारे अवंगुयम्मी	२३२७
दट्ठूण नडं काई	६२६५	दब्बावइमाईसुं	२११५	दारे अवंगुयम्मी	२३२८
दट्ठूण निहुयवासं	२०७९	दब्बासन्नं भवणा-	४५०	दावइविओ गइचंचलो	७५२
दट्ठूण य अणगारं	१४०२	दब्बे एणं पायं	४०६१	दाहामो णं कस्सइ	२८२७
दट्ठूण य राइहिं	३७६२	दब्बे छिणमछिणणं	३६५३	दाहामो ति य गुरुगा	१९४२
दट्ठूण य सइकरणं	२४१४	दब्बेणं उहेसो	४२४३	दाहिणकरेण कोणं	६६६
दट्ठूण वा गिलाणो	३३४४	दब्बेणं य भावेण य	१८५४	दाहिणकरेण कोणं	४०४१
दट्ठूण वा नियत्तण	२३८८	दब्बेणिकं दब्बं	१५४	दित्तग-पडिच्छगाणं	१६५१
दट्ठे पुप्फगभिन्ने	४०२६	दब्बे तणडगलाई	१४९९	दित्ति पणीयाहारं	७५०
दट्टर सुणए सप्पे	६१३४	दब्बे तिविहं एगिंदि-	६०४	दिज्जंते वि तथाऽणि-	४६०१
		दब्बे तिविहं एगिंदि-	६५१	दिज्जंतो वि न गहिओ	४६४२
		दब्बे तिविहं मादुक-	४८८४	दिट्ठं अदिट्ठव्व महं जणेणं	४१०८

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
दिङ् अन्नत्थ मए	२४३२	दीणकलुणेहि जायति	६१४३	दुविधो य होइ दुद्धो	४९८६
दिङ् च परामुङ्	३७९८	दीवा अन्नो दीवो	२११२	दुवियहुबुद्धिमलणं	४३९६
दिङ्गत पडिहेणत्ता	४६४०	दीसति य पाडिरूवं	६१५४	दुविहं च फरुसवयणं	६०९९
दिङ्गतो गुहासीहे	२११३	दीहाइमाईसु उ विज्जबंधं	५६८१	दुविहं च भावकम्मं	४८९८
दिङ्गतो घडगारो	३०६	दीहाइयणे गमणं	५९९०	दुविहं च भावकसिणं	३८८६
दिङ्गतो दुवक्खरए	४४३०	दीहे ओसहभावित	५९८७	दुविहं च होइ वत्थं	२७९४
दिङ्गतो पुरिसपुरे	२२९१	दुओणयं अहाजायं	४४७०	दुविहं तु दव्वकसिणं	३८८१
दिङ्गं वत्थग्गहणं	४२३५	दुक्खं च भुंजंति सति द्वितेसु	३४९२	दुविहं पि वेयणं ते	१६२९
दिङ्गं वत्थग्गहणं	४३०८	दुक्खं ठिओ व निज्जइ	४३९२	दुविहकरणोवघाया	५८०
दिङ्गमदिङ्गं च तथा	४४७४	दुक्खं विसुयावेउं	२०७४	दुविह चउव्विह छव्विह	३५३२
दिङ्गमदिङ्गं विदेसत्थ	४७२९	दुक्खेहि भत्थिताणं	६४०६	दुविह निमित्ते लोभे	५३६
दिङ्गमदिङ्गे दिङ्गं	६६१	दुग्गमादीसामणणे	४३११	दुविहपमाणतिरेगे	२३६६
दिङ्गमुवस्सयगहणं	२२९६	दुग्गसत्तगकिइकम्मस्स	४४६९	दुविहम्मि भेरवम्मिं	३१३५
दिङ्गं सलोमे दोसा	३८३४	दुग्गुणो चतुग्गुणो वा	३९८१	दुविहाए वि चउगुरू	३१४४
दिङ्गा अवाउडा हं	२२५६	दुग्गट्टिए वीरअहिट्टिए वा	४८६४	दुविहाओ भावणाओ	१२९१
दिङ्गिनिवायाऽऽलावे	१३४६	दुग्गूढाणं छन्नंग-	२५९६	दुविहा णायमणाया	४१३४
दिङ्गीसंबंधो वा	२२५३	दुग्घासे खीरवती	४३४६	दुविहा य होइ वुद्धी	५८१९
दिङ्गे संका भोइय-	८६६	दुचरिमसुत्ते वुत्तं	६०६१	दुविहा य होंति पाता	४८८
दिङ्गे संका भोइय	२१७५	दुज्जणवज्जा साला	२६७५	दुविहाऽवाता उ विहे	३१३९
दिङ्गे संका भोइय	६१७१	दुहे मूढे वुग्गाहिए	५२१३	दुविहा सामायारी	७७७
दिङ्गोभास पडिस्सुय	२१९२	दुण्हं अणाणुपुव्वी	२६६	दुविहा हवंति सेज्जा	५४१
दिणे दिणे दाहिंसि थोव थोवं	३१९७	दुण्ह जओ एगस्सा	४२४९	दुविहे किइकम्मम्मिं	४५४१
दित्तमदित्ता तिरिया	४२४	दुण्हऽट्टाए दुण्ह वि	५४९३	दुविहे गेलण्णम्मिं	६३७९
दिन्नो भवव्विहेणेव	४६२३	दुण्ह वि तेसिं गहणं	३९६०	दुविहे गेलण्णम्मी	६३९६
दियदिन्ने वि सचित्ते	३०४६	दुन्नि तिहत्थायामा	४०९०	दुविहे गेलन्नम्मी	३५५०
दिय राओ पच्चवाए	१४७६	दुन्नि वि विसीयमाणे	५४५६	दुविहे गेलन्नम्मी	३६३८
दिय-राओ लहु-गुरुगा	८७८	दुपुडादि अद्धखल्ला	३८४९	दुविहो अ होइ छेदो	७१०
दियरातो अण्ण गिण्हति	५८६०	दुप्पडिलेहियदूसे	३८४३	दुविहो उ पंडओ खलु	५१४९
दिय रातो लहुगुरुगा	५८५६	दुप्पडिलेहियमादिसु	५७६३	दुविहो जाणमजाणी	५१७६
दिवसओ सपक्खे लहुगा	५९८०	दुप्पभिइ पिया-पुत्ता	३५५८	दुविहो य मासकप्पो	६४३१
दिवसं पि ता ण कप्पइ	५९७८	दुप्पभिई उ अगम्मा	३२११	दुविहो य होइ अग्गी	२१४५
दिवसट्टिया वि रत्तिं	२९३१	दुब्बलपुच्छेगयरे	२२३८	दुविहो य होइ जोई	३४३३
दिवसेण पोरिसीए	६२५१	दुब्भूइमाईसु उ कारणेसुं	४१८३	दुविहो य होइ दीवो	३४६१
दिवसे दिवसे गहणं	६०२१	दुरतिक्रमं खु विधिंयं	४१३६	दुविहो य होइ पंथो	३०५१
दिवसे दिवसे व दुल्लभे	३८१९	दुरहियविज्जो पच्चंत-	३७२	दुविहो लिंग विहारे	७५७
दिव्वेसु उत्तमो लाभो	२८३४	दुरुहंत ओरुभंते	२६४४	दुविहो वसहीदोसो	४९१३
दिव्वेहिं छंदिओ हं	६०६२	दुल्लभदव्वं व सिया	३५५३	दुविहो होति अचेलो	६३६५
दिस अवरदक्खिणा दक्खिणा	१५०६	दुल्लभदव्वे देसे	६२५३	दुव्वियड-दुण्णिणसण्णा	४१३९
दिस अवरदक्खिणा दक्खि-	५५०५	दुल्लभदव्वे व सिया	४१६९	दुस्संचर बहुपाणादि	२७४८
दिसि-पवण-गाम-सूरिय-	४५६	दुविकप्पं पज्जाए	४८८५	दुस्सन्नप्पो तिविहो	५२१२
दिसिमूढो पुव्वाऽवर	५२१६	दुविधो उ परिच्चाओ	५२०८	दुहतो थोवं एक्केक्कएण	५९१०

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
दूइज्जंता दुविधा	५८२४	दो जोयणाइं गंतुं	५६५७	धम्मं कहेइ जस्स उ	४५९६
दूमिय धूविय वासिय	५८४	दोण्णि य द्विवद्धखेत्ते	५५२७	धम्मकह महिद्धीए	५६९१
दूरम्मि दिट्ठि लहुओ	२१७४	दोण्णि वि वयंति पंथं	५२५२	धम्मकहा चुण्णेहि व	३०२१
दूरम्मि दिट्ठे लहुओ	२१९८	दोण्हं उवरिं वसती	२०४६	धम्मकहा पाढिज्जति	५१८२
दूरागयमुट्ठेउं	४४३८	दोण्हं उवरि वसंती	२१०५	धम्मकहासुण्णाए	२२६४
दूरेण संजईओ	२१६३	दोण्हं पि अ जुयलाणं	६४०	धम्मस्स मूलं विणयं वयंति	४४४१
दूरे तस्स तिगिच्छी	११५१	दोण्ह वि कतरो गुरुओ	५८०१	धम्मोण उ पडिवज्जइ	१४२२
दूरे मज्झ परिजणो	५७०७	दोण्ह वि चियत्त गमणं	३०८६	धम्मोदण्ण रूवं	१२०१
दूरे व अन्नगामो	२९२८	दोण्हेगयरं नट्ठं	४६१५	धारणया उ अभोगो	२३६७
दूसियवेओ दूसिय	५१५०	दो थेरि तरुणि थेरी	२०८७	धारणया उ अभोगो	२३७२
देउलियअणुणवणा	१४९६	दो दक्खिणावहा तू	३८९२	धारोदए महासलिल-	३४२२
देवाणुवित्ति भत्ती	१२१०	दोन्नि अणुत्तायाओ	१६९७	धावंतो उव्वाओ	३२०
देवा हु णे पसन्ना	१९८१	दोन्नि उ पमज्जणाओ	२७४६	धिइधणियबद्धकच्छो	१३५६
देविंदरायउग्गह	४७८४	दोन्नि वि अनालबद्धा उ	५२४७	धिइबलजुत्तो वि मुणी	३७८३
देविंदरायगहवइ-	६६९	दोन्नि वि दाउं गमणं	२०१७	धिइ-बलपुरस्सराओ	१३५७
देवे य इत्थिरूवं	५६८८	दोन्नि वि समागया स-	३०८७	धिइसंघयणादीणं	४४९८
देवेहिं भेसिओ वि य	१३३९	दोन्नि वि ससंजईया	२२१८	धिइ सारीरा सत्ती	९५६
देसकडा मज्झपदा	१७६२	दोन्नि वि सहू भवंती	३७६८	धित्तिबलिया तवसूरा	६४८४
देसकहापरिकहणे	२६९७	दो मासे एसणाए	५४४३	धिद्धिक्कतो य हाहक्कतो	४१२६
देसकहापरिकहणे	५७३१	दोरेहि व वज्जेहि व	३८६९	धिय-संघयणे तुल्ला	२०३
देस-कुल-जाइ-रूवी	२४१	दोसं हंतूण गुणं	६४२९	धी मुंडितो दुरप्पा	८९८
देसग्गहणे बीएहि	३३२२	दोसा खलु अलियाई	२८३	धीरपुरिसपन्नत्तो	१४४८
देसिय राइय पक्खिय	४४६७	दो सागरा उ पढमो	६८२	धुवणाऽधुवणे दोसा	४०१२
देसिय वाणिय लोभा	२८२६	दोसा जेण निरुब्भंति	३३३१	धुवणाऽधुवणे दोसा	६०२७
देसिल्लगं वत्तजुयं मणुत्तं	३९९८	दोसाणं परिहारो	४७६	धूमनिमित्तं नाणं	२८
देसी गिलाण जावो-	३९१०	दोसा तु जे होंति तवस्सिणीणं	३८२०	धूमादी बाहिरतो	५२१५
देसी गिलाण जावो-	३९११	दो साभरगा दीविच्चगा	३८९१	धोयस्स व रत्तस्स व	२९७८
देसीभासाइ कयं	३४०४	दोसा वा के तस्सा	३५२०		
देसीभासाए कयं	३४३१	दोसाऽसति मज्झिमगा	६४३५	न	
देसीभासाय कयं	३४५९	दोसु वि अलद्धि कण्णे	२६१३		
देसो व सोवसग्गो	९३७	दोसु वि अब्बोच्छिण्णे	३५६८	नइपूरेण व वसही	३७३४
देसो व सोवसग्गो	९४२	दोसु वि परिणमइ मई	७९७	नउई-सयाउगो वा	२६२३
देहबलं खलु विरियं	३९४८	दोसे चेव विमग्गह	३१७६	नंदंति जेण तवसंजमेसु	२९२०
देहस्स तु दोबल्लं	५६०४	दोसेहिं एत्तिएहिं	३१७३	नंदी चतुक्क दब्बे	२४
देहऽहिओ गणणेक्को	२३७७	दोहिं वि अरहिय रहिए	२२५४	नंदीतूरं पुण्णस्स	१५४९
देहे अभिवट्ठंते	२२७	दोहि वि गुरुगा एते	४४२४	नंदीतूरं पुण्णस्स	१५६७
देहेण वा विरूवो	६१५८	दोहि वि पक्खेहिं सुसं-	२४३८	नंदीतूरं पुण्णस्स	१९२३
देहोवहीण डाहो	३४७४	दोहि वि रहिय सकामं	२२४९	नंदी मंगलहेउं	४
देहोवहीतेणग-सावतेहिं	३२५८	ध		नंदी य मंगलह्हा	३
दोच्चं वि उग्गहो त्ति य	२८११	धणियसरिसं तु कम्मं	२६९१	न करिंति आगमं ते	१४२०
दोच्चेण आगतो खंदण	३२७२				

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
न केवलं जा उ विहम्मिआ सती	४११७	नवमे न याणइ किंची	२२६१	नाणाइ अदूसितो	१३२२
नक्खत्तो खलु मासो	११२८	न वि इंदियाइ उवलद्धि-	२७	नाणाइतिगं मुत्तुं	४४८३
नक्खेणावि हु छिज्जइ	९४४	न वि एयं तं वत्थं	४१७४	नाणाइतिगरुसउद्धा	९५४
नगराइ निरुद्ध घरे	६७८	न वि कुप्पसि न पसीयसि	४४८७	नाणाई तिद्धाणा	६९८
न चित्तकम्मस्स विसेसमंधो	३२५३	न वि को वि कंचि पुच्छति	४८२६	नाणादि तिहा मग्गं	१३२३
नच्चा नरवइणो सत्त-	११२५	न वि खाइयं न वि वइं	९८८	नाणादिसागयाणं	१०९३
नज्जइ अणेण अत्थो	४५७७	न वि छम्महव्वया नेव	१०४६	नाणादेसीकुसलो	१२२९
नज्जंतमणज्जंते	५१४२	न वि जाणामो निमित्तं	२८०५	नाणुज्जोया साहू	३४५३
नट्टं होइ अगीयं	२४५३	न वि ते कहंति अमुगो	५९९४	नाणेण दंसणेण य	३९८
न ठविज्जई वएसुं	५१३८	न वि य समत्थो सब्बो	३७८७	नाणेण सब्बभावा	११६६
नडपेच्छं दडूणं	५३५२	न वि य हु होयउणवत्था	२३	नाणे दंसण चरणे	४७३३
नडमाई पिच्छंतो	१६००	न वि लब्भई पवेसो	३१९८	नाणे महकप्पसुतं	५४७२
नणु दव्वोमोयरिया	४०६३	न वि वच्छएसु सज्जंति	२१२०	नातिक्कमती आणं	५८१४
न तरिज्जा जति तिणिण उ	५१४	न विविता जत्थ मुणी	२९८०	नाभिप्पायं गिण्हसि	८०१
न तस्स वत्थाइसु कोइ संगो	३९९६	नह-दंतादि अणंतर	४९०१	नामं ठवण पलंबं	८४९
नत्थि अगीतत्थो वा	३३१३	न हि जो घडं वियाणइ	१६	नामं ठवणा आमं	८३९
नत्थि अनिदाणओ होइ	१०४९	न हु ते संजमहेउं	४५२९	नामं ठवणाकम्मं	४८९७
नत्थि कहालद्धी मे	५७१	न हु होइ सोइयव्वो	३७३९	नामं ठवणागामो	१०९४
नत्थि खलु अपच्छित्ती	२४८६	न हु होति सोतियव्वो	६२०२	नामं ठवणा दविए	५
नत्थि घरे जिणदत्तो	८१९	नाउमगीयं बलिणं	२९६२	नामं ठवणा दविए	१५१
नत्थि पवत्तणदोसो	३१८०	नाऊण किंचि अन्नस्स	३७०	नामं ठवणा दविए	६५०
नत्थि य मामागाइं	२०९६	नाऊण तस्स भावं	४७८२	नामं ठवणा दविए	८४७
नत्थेत्थ करो नगरं	१०८९	नाऊण तस्स भावं	५३३१	नामं ठवणा दविए	११२१
नदिकोप्पर वरणेण व	५६४३	नाऊण य अइगमणं	१८०२	नामं ठवणा दविए	११२६
नदि पह जर वत्थ जले	९६	नाऊण य माणुस्सं	३७६३	नामं ठवणा दविए	२५८४
न पारदोच्चा गरिहा व लोए	३९०५	नाऊण य वोच्छेदं	५०८३	नामं ठवणा दविए	२६८०
नमणं पुव्वभासा	२०१६	नाऊण य वोच्छेदं	५१०२	नामं ठवणा दविए	२७१९
न मिलंति लिंगिकज्जे	१८१३	नाऊण य वोच्छेदं	५४०३	नामं ठवणा दविए	२७६२
न य अप्पगासगतं	१२४९	नाऊण य वोच्छेयं	५३८३	नामं ठवणा दविए	३२६३
न य कत्थइ निम्मातो	३७१	नाऊण या परीत्तं	४१६५	नामं ठवणा दविए	३२९३
नयणे दिट्ठे गहिए	२०४१	नाओ मि त्ति पणासइ	५१४३	नामं ठवणा दविए	४८८३
नयणे दिट्ठे सिट्ठे	२०३९	नागरगो संवट्ठो	४८७६	नामं ठवणा दविए	४८८६
नयणे पूरे दिट्ठे	२३८५	नागा! जलवासीया!	२७०६	नामं ठवणा पक्कं	१०३४
न य बंधहेउविगलत्तणेण	६२२७	नागाढं पउणिस्सइ	४७१३	नामं ठवणा भिन्नं	८५८
न लभइ खरेहिं निहं	३९१५	नाणइ दंसणइ	२८७९	नामं ठवणा वत्थं	६०३
न वओ इत्थ पमाणं	२१००	नाणइ दंसणइ	२९७३	नामं ठवणाहत्थो	४८९५
नवदसचउदसओही-	६०३७	नाणइ दंसणइ	३००४	नाम निवाउवसग्गं	३२५
नवधम्मस्स हि पाएण	५७१८	नाणदंसणसंपन्ना	३९६	नामसुयं ठवणसुयं	२५५
नवधम्माण थिरत्तं	१७९३	नाणम्मि तिणिण पक्खा	५३९७	नामिज्जइ थोवेणं	४१५५
नव पेहातो अदिट्ठे	५८८२	नाणस्स केवलीणं	१३०२	नामे छव्विह कप्पो	२७३
नवभागकए वत्थे	२८३१	नाणस्स होइ भागी	५७१३	नायगमणायगा पुण	४७०९

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
नायज्झयणाहरणा	२०४	निग्गमणे बहुभंडो	४२२६	निद्धं भुत्ता उववासिया	५९९१
नालस्सेण समं सुक्खं	३३८५	निग्गंथदारपिहणे	२३५३	निद्धमनिद्धं निद्धं	१७३४
नाव थल लेवहेड्डा	५६५६	निग्गय पुणो वि गिण्हे	१८५९	निद्ध महुरं च भत्तं	६२१६
नावनिभो उग्गहणंतओ	४०८४	निग्गंथाणं पढमं	४३१	निद्धे दवे पणीए	६००७
नावाए उवक्कमणं	२६०	निग्गंथाण सल्लोमं	३८२१	निद्धे दवे पणीए	६०१९
नावित-साधुपदोसो	५६२४	निग्गंथिवत्थगहणे	२८१५	निप्पच्चवाय संबंधि	२०७०
नासन्ने नातिदूरे	२०६०	निग्गंथीण अगिणहणे	४१०५	निप्पडिकम्मसरीरा	१४२४
नाहं विदेसयाऽऽहरण-	६३०२	निग्गंथीणं गणहर-	२०४८	निप्फत्तिं कुणमाणा	१४४७
निइयाइं सुरलोए	१७७७	निग्गंथीणं भित्तं	१०५९	निप्फाव-कोहवाईणि	८०२
निउणे निउणं अत्थं	२३०	निग्गंथी थी गुरुगा	५२४०	निप्फाव-चणकमाई	१३६३
निउणो खलु सुत्तथो	३३३३	निग्गंथोग्गहधरणे	४१०१	निप्फावाई धन्ना	६०४९
निउत्ता अनिउत्ताणं	२३५	निग्गंथो निग्गंथिं	५२३९	निब्बंधनिमंतेंते	३६३९
निउत्तो उभउकालं	२४०	निग्गंधं न वि वायइ	२२२६	निब्भयया य सिणेहो	२१७२
निंता न पमज्जंती	३४५२	निग्गंधो उग्गालो	५८५०	निम्मवणं पासाए	४७६९
निंतेहिं तित्ति सीहा	२९६६	निग्घोलियं च पल्लं	३३९९	निम्मा घर वइ धूभिय	११११
निक्कारणगमणमिं	२७५८	निच्चं पि दव्वकरणं	२४६१	नियएहिं ओसहेहिं	१९३१
निक्कारणगमणमिं	३६८७	निच्चं वुग्गहसीलो	१३१६	नियणाइलुणणमइण	२१५५
निक्कारणपडिसेवी	६०३३	निच्चनियंसण मज्जण	६४४	नियताऽनियता भिक्खायरिया	१६३३
निक्कारणमविहीए	३६९०	निच्चनियंसणियं ति य	६४५	नियमा सचेल इत्थी	४१४८
निक्कारणमि एए	४०४७	निच्चेल सचले वा	१३७६	नियमा सुयं तु जीवो	१३९
निक्कारणमि एवं	३३६६	निच्चयओ तुनेयं	४५०६	नियमा होइ सतित्थे	१४१९
निक्कारणमि गुरुगा	३६९२	निच्चिण्णा तुज्झ धरे	६२९४	निययं व अणिययं वा	३५६७
निक्कारणमि दोसा	३३६२	निच्चिण्णमुत्त निरुत्तं	१८८	निरवयवो न हु सक्को	२१३
निक्कारणमि नामं	७३१	निच्चुभई सत्थाओ	५९८२	निरवेक्खो तइयाए	१६७०
निक्कारणिगाऽणुवदेसिगा	५८२६	निज्जंतं मोत्तूणं	३५८०	निरुत्तस्स विकडुभोगो	१०१०
निक्कारणिणिं चमढण	३७८६	निज्जंताऽऽणिज्जंता	४६२१	निरुवहयजोणिथीणं	४९५३
निक्कारणे विधीय वि	३७१८	निज्जूढ पदुड्डा सा	४१३३	निरुवहय लिंगभेदे	६३७२
निक्कारणे विधीय वि	३७१९	निज्जूढो मि नरीसर	५०५१	निल्लोमसलोमऽजिणे	१०४८
निक्खमण पिंडियाणं	३२२८	निद्धिय कडं च उक्कोसकं	३६५७	निववल्लह बहुपक्खमि	५१८८
निक्खमणे य पवेसे	१२३६	निण्हयसंसग्गीए	५४३३	निवसरिसो आयरितो	४५१९
निक्खम-पवेसवज्जण	३३७१	निण्हवणे निण्हवणे	६०६९	निवेशण वाडग साही	८६९
निक्खेवा य निरुत्ताणि	२०२	निदरिसणं अघडोऽयं	८१७	निव्वत्तणा य संजोयणा	३९४७
निक्खेवेगइ निरुत्त	१४९	निदं न विंदाभिह उव्वरेणं	४४०९	निव्विसउ त्ति य पढमो	३१२१
निक्खेवो नासो त्ति य	१५०	निहापमायमाइसु	१२६७	निव्वीइय एवइया	२०७८
निक्खेवो होइ तिहा	२७१	निहाविगहापरिवज्जि-	८०३	निव्वेद पुच्छितमिं	६११३
निगमं नेगमवग्गो	१०९१	निहिद्धमणिहिद्धं	४६९५	निसि पढमपोरिसुभभव-	४९३२
निग्गमगाइ बहि ठिए	३५६९	निहिद्ध सन्नि अब्भुवगततरे	४६९७	निसिभोयणं तु पगतं	५८२९
निग्गमणं च अमच्चे	२२९३	निहिद्धे अस्सण्णी	४६९२	निस्संकमणुदितोऽति-	५८०८
निग्गमणं तह चेवा	४९२८	निहोसं सारवंतं च	२८२	निस्संकियं च काहिइ	१७९६
निग्गमणमि उ पुच्छा	१४५०	निहोस सदोसे वा	२४२८	निस्संचया उ समणा	५२६६
निग्गमणे चउभंगो	१८८२	निहोसा आदिण्णा	३१८३	निस्सकडमनिस्से वा	१८०४

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
निस्सकडे ठाह गुरु	१८०५	पउरण्ण-पाणगमणे	४८२७	पंथम्मि य आलोए	४५२
निस्सत्तस्स उ लोए	५६७१	पउरन्न-पाण पढ्मा	१५०७	पंथ सहाय समत्थो	५३९३
निस्स त्ति अहपसंगेण	२४४९	पंकपणाएसु नियमा	६१८९	पंथुच्चारु उदए	१४७३
निस्साणपदं पीहइ	७७१	पंकसलिले पसाओ	३७	पंथे धम्मकहिस्सा	४७२४
निस्साधारण खेते	४३१०	पंको खलु चिक्खल्लो	६१८८	पक्कणकुले वसंतो	४५२३
नीउच्चा उच्चतरी	२६६२	पंच उ मासा पक्खे	५७५८	पक्के भिन्नाऽभिन्ने	१०३६
नीएहिं उ अविदिन्नं	५०९८	पंचगुल पत्तेयं	३८७५	पक्खीव पत्तसहिओ	१३७४
नीयं दडूण बहिं	३०१०	पंचण्हं एगयरे	५४५२	पगई पेलवसत्ता	२८१८
नीयं पि मे ण चेच्छति	३६३३	पंचण्हं एगयरे	५४६७	पगयं उवस्सएहिं	३४०२
नीयल्लएहि तेण व	६२९६	पंचण्हं गहणेणं	५६२०	पगयम्मि पण्णवेत्ता	६२५४
नीयल्लगाण तस्स व	६२९५	पंचण्हं वण्णाणं	३८८७	पगरणओ पुण सुत्तं	३१८
नीया व केई तु विरूवरूवं	५३३३	पंचण्हं वत्थाणं	३६७०	पच्चंत तावसीओ	१४५६
नीरोगेण सिवेण य	४६५२	पंच परूवेऊणं	३६६४	पच्चंतमिलक्खेसुं	२००५
नीलकंबलमादी तु	३९१४	पंच परूवेतूणं	५६२१	पच्चक्ख परोक्खं वा	३९
नीसट्टमसंसट्ठो	३५९७	पंचमगम्मि वि एवं	२४७४	पच्चक्खेण परोक्खं	१७७०
नीसट्टेसु उवेहं	३३७९	पंचम छ स्सत्तमिया	५८००	पच्चोनियत्तपुट्टा	४७५९
नीहडसागरिपिंडस्स	३६१६	पंचमहव्वयतुंगं	४५९१	पच्चोरुहणट्टा खाणुआतो	१०१
नीहम्मियम्मि पूरति	३८०	पंचमहव्वयभेदो	७७०	पच्चण्ण पुव्वभणियं	४८२४
नूणं न तं बड्डइ जं पुरा भे	२२२१	पंचमियाए असंखड	१५०८	पच्चन्न असति निण्हग	४८१८
नूणं से जाणति कुलं व गोत्तं	३५९०	पंचमे अणेसणादी	३०४७	पच्चन्नासति बहिया	४८०४
नेच्छंति भवं समणा	६३४८	पंचविहं पुण दव्वे	१७८	पच्छाकडाइ जयणा	१९४५
नेच्छंतेण व अन्ने	४७७५	पंचविहम्मि परूविए	६८६	पच्छाकडे य सत्ती	१९२६
नेमालि तामलित्तीय	३९१२	पंचविहम्मि परूविते	४७८७	पच्छित्तं इत्तिरिओ	६२८१
नेरुत्तियाहं तस्स उ	३११	पंचविहम्मि वि कसिणे	३८६७	पच्छित्तं खु वहिज्जह	१०१६
नेवाऽऽसी न भविस्सइ	८२१	पंचविहे आयारे	२४३	पच्छित्त पण जहण्णं	४०४३
नेहामु त्ति य दोसा	१५६१	पंचविहे ववहारे	६४५५	पच्छित्तपरूवणता	५२६८
नेहि जितो मि त्ति अहं	३५८	पंचसयदाण-गहणे	१९४६	पच्छित्तमणंतरियं	५०५८
नो कप्पइ जागरिया	२४२७	पंच सय भोइ अगणी	२५०७	पच्छित्तमेव पगतं	५५९४
नो कप्पति व अभिन्नं	३३२०	पंचहिं अग्गहो भत्ते	६४५९	पज्जव पुव्वुद्धिद्धा	२६८
नोकारो खलु देसं	८०७	पंचायामो धम्मो	६४०२	पज्जायजाईसुततो य बुट्टा	४४३६
नोल्लेऊण ण सक्का	३७०१	पंचूण तिभागद्धे	५८०५	पज्जोए णरसीहे	४२२०
नोवयणामं दुविहं	८४५	पंचूणे दो मासे	४२९५	पज्जोसवणाकप्पो	६४३२
नोसप्पिणिउस्सप्ये	१४१७	पंचेगतरे गीए	५४६८	पट्टेऽट्ठोरुय चलणी	४११९
प		पंडए वाइए कीवे	५१६६	पट्ट सुवत्ते मलए	३६६२
पइदिणमलब्भमाणे	२८७३	पंडादी पडिकुट्टा	५१९७	पट्टो वि होइ एक्को	४०८५
पउणम्मि य पच्छित्तं	१९७१	पंता उ असंपत्तीइ	२४९७	पट्टीवंसो दो धारणाउ	५८२
पउमसर वियरणो वा	२२७८	पंता व णं छलिज्जा	५७०३	पडणं अवंगुत्तम्मिं	४०७१
पउमुप्पले अकुसलं	४०२५	पंतो दडूण तगं	४१८५	पडिकंते पुण मूलं	५७७२
पउमुप्पले माउलिंगे	१०२९	पंतोवहिम्मि लुट्टो	३०१४	पडिकुट्ट देस कारण	२८८१
		पंथं च मास वासं	१४७०	पडिगमणमत्तत्तिथिग	१०५४
		पंथम्मि अपंथम्मि व	५२५०	पडिगमणमत्तत्तिथिग	२६०३

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
पडिचरिहामि गिलाणं	१८७८	पडिसद्दगस्स सरिसं	१९६	पढम-बितिए दिया वी	५८५१
पडिजग्गंति गिलाणं	४३०४	पडिसामियं तु अच्छइ	४३५९	पढम-बितिएसु चरिमं	४९८३
पडिजग्गिया य खिप्पं	३७८५	पडिसिद्धं खलु कसिणं	३८७९	पढम-बितिएसु णवमं	५०६१
पडिणीय णिवे एंते	४५६३	पडिसिद्धं ति तिगिच्छा	९४७	पढमबितिततियपंचम-	४६९८
पडिणीय तेण सावय	२३५८	पडिसिद्धविवक्खेसुं	२३२६	पढमम्मि य चउलहुगा	४६१७
पडिणीय मेच्छ मालव	३७५६	पडिसिद्धा खलु लीला	९८२	पढमम्मि य चउलहुया	५४३
पडिपहनियत्तमाणम्मि	२३८९	पडिसेधे पडिसेधो	५५६८	पढमम्मि समोसरणे	४२३७
पडिपुच्छं वायणं चव	६४७१	पडिसेवंतस्स तहिं	४९५८	पढमम्मि समोसरणे	४२७८
पडिपुण्णा पडुकारा	४१९६	पडिसेवणअणवड्ढो	५०६२	पढमस्स तइयठाणे	२५१९
पडिबद्धा इअरे वि य	१४४०	पडिसेवणपारंची	४९८५	पढमस्स होइ मूलं	५७१०
पडिबद्धे को दोसो	२०१४	पडिसेवणाए एवं	२४८२	पढमा उवस्सयम्मी	१३३५
पडिमाए ज्ञामियाए	३४६५	पडिसेवणाए एवं	२५२४	पढमाए गिण्हितूणं	५२८३
पडिमाए पाउता वा	६३७०	पडिसेवणाए एवं	२५४१	पढमाए नत्थि पढमा	१५२३
पडिमाझामण ओरुभण	३४६९	पडिसेह अजयणाए	१९४३	पढमाए पोरिसीए	४९३१
पडियं पम्हुडुं वा	३७२५	पडिसेह अलंभे वा	२८९९	पढमाए बितियाए	५७९९
पडियेरिउं सीहेणं	७२२	पडिसेहगस्स लहुगा	५३६७	पढमासइ अमणुणेताराण	४८२२
पडिरूववयत्थाया	५७०८	पडिसेहण गिच्छुभणं	३०८९	पढमासति वाघाए	४६३
पडिलंबणा पलंबं	८०८	पडिसेहणा खरंटण	८९६	पढमिल्लुग-ततियाणं	५९१९
पडिलाभणउड्डमम्मिं	४९३४	पडिसेहम्मि उ छक्कं	८१४	पढमिल्लुगम्मि ठाणे	२४७५
पडिलाभणा उ सद्धी	४९३७	पडिसेहियवच्चंते	४६६२	पढमिल्लुगम्मि ठाणे	२५१८
पडिलाभणा बहुविहा	५२७१	पडिसेहेण व लद्धो	४६२२	पढमिल्लुगम्मि ठाणे	२५३७
पडिलेहंत चिय वें-	१५४४	पडिसेहो उ अकारो	८१६	पढमिल्लुगम्मि ठाणे	३६१०
पडिलेहण निक्खमणे	१६५८	पडिसेहो जम्मि पदे	२१७९	पढमिल्लुगम्मि तवउरिह	२५२०
पडिलेहण संथारग	१५७४	पडिहाररूवी ! भण रायरूविं	५०४७	पढमिल्लुगसंघयणा	१३८६
पडिलेहणा उ काले	१६६०	पडिहारिए पवेसो	३७७३	पढमिल्लुगस्स असती	४६२
पडिलेहणा दिसा णंतए	५५००	पडुपत्तउणागते वा	५८५२	पढमे गिलाणकारण	२४२०
पडिलेह दियतुअट्टण	५४५४	पढमं तु भंडसाला	३४४८	पढमेत्थ पडहछेदं	११०९
पडिलेह पोरुसीओ	१९०३	पढमं राइ ठविते	१८९६	पढमे बितिए ततिए	३५२८
पडिलेहा पलिमंथो	३८७७	पढमं विगिंचणद्धा	६१२१	पढमे भंगे गहणं	१८६९
पडिलेहियं च खेत्तं	२०६९	पढमग भंगे वज्जो	६३८३	पढमे भंगे चरिमं	५००७
पडिलेहियं च खेत्तं	१५०५	पढमचउत्थवयाणं	२४२६	पढमे वा बीये वा	१४१८
पडिलेहियं च खेत्तं	१५११	पढम-चउत्था पिंडो	३६३५	पढमे सोयइ वेगे	२२५९
पडिलेहियं च खेत्तं	३१७८	पढम-चरिमाउ सिसिरे	५२१	पढमो एत्थ उ सुद्धो	८७५
पडिलेहोभयमंडलि	२३७९	पढम-तइयमुक्काणं	२७७४	पढमो जावज्जीवं	१८३३
पडिवक्खेणं जोगो	३८०२	पढमदिणे सग्गामे	४६६७	पडिए य कहिय अहिगय	४१४
पडिवज्जमाणगा वा	१४४४	पढमदिणे समणुण्णा	१५५७	पडिए य कहिय अहिगय	५३२
पडिवज्जमाण भइया	१४३७	पढमदिवसम्मि कम्मं	१४०५	पडिते य कहिय अहिगय	४१६
पडिवज्जमाण भइया	१६४७	पढमबिइएसु पडिवज्ज-	१६३७	पडिय सुय गुणिय धारिय	७०८
पडिवत्तिकुसल अज्जा	३२३७	पढमबिइयाउरस्सा	२८७५	पडिय सुय गुणियमगुणिय	४७०
पडिवत्ता जिणिदस्स	६४५३	पढमबिइयाए तम्हा	४३८१	पडिय सुय गुणियमगुणिय	५३०
पडिवेसिग-एक्कघरे	४९१६	पढम-बिइयातुरो वा	२१८१	पडिय सुय गुणियमगुणिय	६०२

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
पणगं खलु पडिवाए	१३७	पप्पं खु परिहरामो	४५७८	परिताविज्जइ खमओ	१५९७
पणगं च भिण्णमासो	५३६५	पभु अणुपभु (णो व) निवेयणं	५७४	परिनिद्रिय जीवजडं	२९२१
पणगं च भिन्नमासो	४४४४	पमाणं कप्पट्टितो तत्थ	६४६९	परिपिंडिए व बंदइ	४४७८
पणगं च भिन्नमासो	५८४३	पमाणातिरेगधरणे	४००१	परिभुज्जमाण असई	२९४०
पणगं लहुओ लहुमा	३४६३	पमाणे काले आबस्सए	१६९६	परिमाणे नाणत्तं	५८९८
पणगं लहुओ लहुया	३४३५	पयडीणं अन्नासऽवि	११९९	परिमियभत्तपदाणे	५२९३
पणगाइ असंपाइम	२४०९	पयपायमक्खरेहिं	११७४	परियट्टिए अभिहडे	४२७६
पणगाइ मासपत्तो	१०७९	पयला उल्ले मरुए	६०६६	परियारसहजयणा	२६०८
पणतो पागतियाणं	४२१५	पयला निह तुअट्टे	३७१४	परिवार परिस पुरिसं	४५५०
पण दस पनरस बीसा	२४०८	पयला निह तुअट्टे	३७१५	परिवार-पूयहेउं	५३९६
पणपन्नगस्स हाणी	१५२८	पयलासि किं दिवा ण	६०६८	परिवारो से सुविहितो	४५५१
पणयाल दिणा गणिणो	५७७६	परउत्थियउवगरणं	२८९१	परिवासियआहारस्स	५९९८
पणयालीसं दिवसे	४०३२	परखित्ते वसमाणो	४७०१	परिसाइ अपरिसाई	७६०
पणिए य भंडसाला	३४४४	परतित्थियपूयातो	५३३०	परिसाइमपरिसाडी	२०२४
पणवितो उ दुरूवो	६२६६	परदेसगते णाउं	४३०६	परिसिल्ले चउलहुगा	५३६६
पण्हो उ होइ पसिणं	१३११	परधम्मिया वि दुविहा	५०८८	परिहरणा अणुजाणे	१६५९
पतिट्ठा ठावणा ठाणं	६३५६	परपक्खं दूसित्ता	२७०	परिहरणा वि य दुविहा	१८३१
पत्तं पत्ताबंधो	३९६२	परपक्ख पुरिस गिहिणी	६१७९	परिहारकप्पं पवक्खामि	६४४७
पत्तं पत्ताबंधो	४०८०	परपक्खम्मि अजयणा	३३५१	परिहारिओ य गच्छे	६०३४
पत्तमपत्ते रिक्खं	१४५१	परपक्खम्मि वि दारं	३३७६	परिहारिओ वि छम्मासे	६४७४
पत्ताणं पुप्फाणं	९८०	परपक्खे य सपक्खे	४४३९	परिहारियमठवेत्ते	५७३०
पत्ताबंधपमाणं	३९७१	परपक्खे वि य दुविहं	४२२	परिहारियमठवेत्ते	२६९६
पत्ते अइच्छिए वा	१४५२	परपत्तिया ण किरिया	५७३७	परिहीणं तं दव्वं	१९७७
पत्तेग बड्डगासति	४८०६	परपत्तिया न किरिया	२७०१	पलंबादी जाव ठिती	६४८७
पत्तेयं पत्तेयं	१६४५	परमद्धजोयणाओ	५२८७	पलिमंथविप्पमुक्कस्स	६३४९
पत्ते य अणुण्णाते	४०१	परमद्धजोयणातो	५३१४	पलिमंथे णिक्खेवो	६३१४
पत्तेयबुद्ध जिणकप्पिया	४५३३	परमाणुपुग्गलो खलु	२७२०	पलियं क अद्ध उक्कुडुग	५९४८
पत्तेय समण दिक्खिय	४८१७	परमाणुमादियं खलु	४८८८	पवज्जाए अभिमुहो	४१९१
पत्तो जसो य विउलो	२०१३	परवयणाऽऽउट्टेउं	४६४१	पवत्तिणि अभिसेगपत्ता	४३३९
पत्तो वि न निक्खिप्पइ	२७५	परवावारविमुक्का	२११७	पवयणघातिं व सिया	५८७१
पत्थारदोसकारी	२५११	परसीमं पि वयंति हु	१०९८	पवयणघाया अन्ने	४७८
पत्थारदोसकारी	२५३१	परिकम्मणि चउभंगो	३९९१	पवयणवोच्छेए वट्ट-	७२६
पत्थारो अंतो बहि	२३३१	परिणमइ अंतरा अंतरा	४७०५	पविडुकामा व विहं महंतं	३२०३
पत्थारो अंतो बहि	३२२६	परिणमइ जहत्थेणं	७९६	पविद्धमणुवयारं	४४७७
पत्थारो उ विरचना	६१३०	परिणयवय गीयत्था	४३८२	पविसंते आयरिए	१५६९
पत्थित्तो वि य संकइ	२४३९	परिणाम अपरिणामे	७९२	पविसंते जा सोही	२१९३
पट्टमिता मि घरासे	३७०९	परिणामओऽत्थ एणो	१०१४	पविसण मग्गण ठाणे	४३७५
पत्तत्ति जंबुदीवे	१५९	परिणाम-जोगसोही	१३५९	पव्वइओ ऽहं समणो	११४४
पन्नरसकम्मभूमिसु	१६३६	परिणामो खलु दुविहो	५९०५	पव्वइयस्स य सिक्खा	११४३
पन्नरस दस य पंच व	४२९६	परितावणाइ पोरिसि	९०२	पव्वइहं ति य भणिते	४६६५
पन्नवणिज्जा भावा	९६४	परिताव महादुक्खे	१८९९	पव्वज्ज अड्डवासस्स	६४५१

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
पव्वज्जएगपक्खिय	५४२०	पाणसमा तुज्झ मया	२६७०	पासाणिट्टग-मट्टिय-	११२३
पव्वज्ज सावओ वा	१५४२	पाणाइवायमादी	३६९३	पासामि णाम एतं	३७९०
पव्वज्जाए असत्ता	५७०६	पाणाइ संजमम्मिं	५८७०	पासुत्तसमं सुत्तं	३१२
पव्वज्जाए मुहुत्तो	१६३८	पाणी पडिग्गहेण व	१३६१	पासुत्ताण तुयट्ठं	१३३४
पव्वज्जाए सुएण थ	५४२२	पादेहिं अधोतेहि वि	४५८०	पासेण गंतु पासे	२६७४
पव्वज्जा य नरिंद	१३५१	पायं अवाउडाओ	२३९३	पासे तणाण सोहण	३४५०
पव्वज्जा सिक्खापय-	११३२	पायं गता अकप्पा	६१६३	पाहिज्जे नाणत्तं	१९४८
पव्वज्जा सिक्खापय	१४४६	पायं तवस्सिणीओ	४४२०	पाहुडियं अणुमण्णति	४९७६
पव्वयणं च नरिंदे	११५६	पायं सकज्जग्गहणालसेयं	३२३२	पाहुडिय ति य एगो	१९१५
पव्वयसि आम कस्स	४७३४	पायं सायं मज्झं-	४७४५	पाहुडिय दीवओ वा	१३९५
पव्वावण मुंडावण	४१३	पायग्गहणम्मि उ देसिय-	४८१	पाहुडिया वि य दुविहा	१६७४
पव्वावण मुंडावण	१४१४	पायच्छित्ते दिण्णे	६२८०	पाहुणएणऽण्णेण व	२८०४
पव्वावण मुंडावण	१४३०	पायच्छित्ते पुच्छा	९८५	पाहुणगट्ठा व तगं	५००४
पव्वावण मुंडावण	१६३५	पायठिओ दोहिं नयणेहि	२२५०	पाहुणगा वा बाहिं	३५९९
पव्वावणिज्ज बाहिं	५०७३	पायस्स जं पमाणं	३८४८	पाहुणयं च पउत्थे	३५६०
पव्वाविओ सिय ति उ	५१९०	पायावच्चपरिग्गहे	२४७२	पाहुणविसेसदाणे	५२९६
पसिणापसिणं सुमिणे	१३१२	पायावच्चपरिग्गहे	२४८०	पाहुन्नं ताण कयं	२२२९
पस्संतो वि य काए	६२३४	पाया व दंता व सिया उ धोया	६०३५	पिंडाईआइन्ने	३४७८
पस्सामि ताव छिहं	२२३७	पायासइ तेणहिए	५९४३	पिंडो जं संपन्नं	३४७५
पहरणजाणसमग्गो	२१६०	पारंचीणं दोण्ह वि	५०५७	पिट्ठं को वि य सेहो	५९८५
पाउं थोवं थोवं	३५२	पारणगपट्टिया आणियं	३७००	पिट्ठेण सुरा होती	३४०६
पाउग्गमणुणवियं	४७६२	पालइत्ता सयं ऊणं	६४५२	पितपुत्त थेरए या	३५५७
पाउग्गोसह-उव्वत्त-	५६९९	पालंक-लट्ठसागा	२०९४	पिप्पलओ विकरणट्ठा	२८८८
पाउयमपाउया घट्ट	५३७४	पालीहिं जत्थ दीसइ	५९५१	पियधम्मऽवज्जभीरू	१२३१
पाए अच्छि विलग्गे	६१६६	पावं अमंगलं ति य	८११	पियधम्मे ददधम्मे	२०५०
पाएण नीयभोई	९३३	पावंते पत्तम्मि य	९११	पियधम्मे ददधम्मे	४८३२
पाएण होंति विजणा	५६८२	पादाणं पावथरो	५००९	पियधम्मो ददधम्मो	३७७४
पाएणिद्धा एंति महाणेण समं तू	४४४६	पावाणं समणुण्णा	८१०	पियमप्पियं से भावं	४६६४
पाए वि अक्खिवंती	४१२७	पासंडकारणा खलु	५९८	पियविप्पयोगदुहिया	६२८८
पाएसु चेडरूवे	२६७२	पासंडिणित्थि पंडे	८८८	पिसियासि पुव्व महिसं	५०१८
पागय कोडुंबिय दंडिए	४२७	पासंडीपुरिसाणं	४८१९	पिहगोअर-उच्चार	२२८९
पाडलऽसोग कुणाले	२९२	पासंडे व सहाए	६३०५	पिहदारकरण अभिमुह	२२७५
पाडलिपुत्ते जम्मं	५७०५	पासगंतेसु बद्धेसु	३९०६	पिह सोयाइं लोए	१७३९
पाडलि मुरुंडदूते	२२९२	पासट्टिए पडाली	११०७	पीईसुण्णण पिसुणो	७७५
पाडिच्छग-सेहाणं	४८९	पासत्थ संकिलिट्ठं	६४३८	पीढग णिसिज्ज दंडग-	४०९६
पाणगजाइणियाए	१७४९	पासत्थ संकिलिट्ठं	६४३९	पीयं जया होज्जऽविगोविएणं	३४१४
पाणग्गहणेण तसा	५८६२	पासत्थाईमुंडिए	१२६२	पीलाकरं वताणं	४७८०
पाणट्ठा व पविट्ठो	१६२२	पासत्थाईमुंडिए	५४६९	पीसंति ओसहाइं	४५६०
पाणदय सीयमत्थुय	४३६०	पासवण-ठाण-रूवा	२६२१	पुंजा उ जहिं देसे	५६६८
पाणवह पाणगहणे	२८४३	पासवण ठाण रूवे	२५८५	पुंजे वा पासे वा	४६१३
पाणवहम्मि गुरुव्विणि	४५९२	पासवण मत्तएणं	२६११	पुंजो य होति बट्ठो	३३११

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
पुच्छंतमणक्खाए	४९८९	पुरिमाण दुव्विसोज्झो	६४०३	पुव्वभविगा उ देवा	४२१८
पुच्छ सहुभीयपरिसे	१०६२	पुरिमेहिं जइ वि हीणा	२०७	पुव्वभवियवेरेणं	६२५८
पुच्छाहीणं गहियं	२८०३	पुरिसज्जाओ अमुगो	१६८६	पुव्वभवे वि अहीयं	४१०
पुच्छिय रुइयं खेतं	१५१२	पुरिसम्मि दुव्विणीए	७८२	पुव्वमभिन्ना भिन्ना	१००३
पुट्टा व अपुट्टा वा	६२९७	पुरिससागारिए उवस्सयम्मि	२५५६	पुव्वविराहियसचिवे	११६१
पुढवि दग अगणि हरियग	५८८	पुरिसा य भुत्तभोगी	२६०२	पुव्वसयसहस्साइं	६४५०
पुढवी आउक्काए	३०२८	पुरिसावायं तिविहं	४२३	पुव्वाउत्ते अवचुल्लि	१९५६
पुढवी आउक्काए	४६३९	पुरिसित्थिगाण एते	४६८२	पुव्वावरसंजुत्तं	५१८५
पुढवीइ तरुगिरिया	३२	पुरिसुत्तरिओ धम्मो	२२८५	पुव्वावरायया खलु	६७२
पुढवी ओस सजोती	४९२४	पुरिसेसु भीरु महिलासु	५१४७	पुव्विं अदया भूएसु	३८५९
पुणरवि दव्वे तिविहं	६०५	पुरिसेहिंतो बत्थं	२८१६	पुव्विं छिन्नममत्तो	१३४८
पुणरावत्ति निवारण	५९३९	पुव्वं चरित्तसेढी-	४५०५	पुव्विं ता सक्खेत्ते	३१९१
पुणरुत्तदोसो एवं	३९२०	पुव्वं चित्तेयव्वं	५३६९	पुव्विं दव्वोलोयण	५४९९
पुण्णम्मि णिग्गयाणं	४२८८	पुव्वं तु होइ कहओ	११३८	पुव्विं दुच्चिण्णाणं	५१५२
पुण्णम्मि मासकप्पे	२०३५	पुव्वं पच्छा जेहिं	३८७	पुव्विं पि वीरसुणिया	१५८५
पुण्णे अनिग्गमे लहुगा	२७४९	पुव्वं पच्छुद्धिडे	५४१०	पुव्विं मलिया उस्सार-	७१७
पुण्णे जिणकप्पं वा	१४२७	पुव्वं पच्छुद्धिडे	५४११	पुव्विं वसहा दुविहे	४७४४
पुण्णेहिं पि दिणेहिं	४७२५	पुव्वं पच्छुद्धिडे	५४१३	पुव्विं कुग्गाहिया	५२२४
पुत्तादीणं किरियं	६२२०	पुव्वं पच्छुद्धिडे	५४१५	पुव्वुद्धिं तस्सा	५४१२
पुत्तो पिया व भाया	३७४१	पुव्वं पच्छुद्धिडे	५४१६	पुव्वुद्धिडे तस्सा	५४०९
पुत्तो वा भाया वा	३७३६	पुव्वं पि अणुवल्लो	५२	पुव्वुद्धिडे तस्सा	५४१४
पुप्फपणिएण आरामिगाण	३६५०	पुव्वं भणिया जयणा	३०९१	पुव्वुद्धिडे य विही	६२२३
पुप्फपुर पुप्फकेऊ	१३४९	पुव्वं व उवक्खडियं	३१२८	पुव्वुप्पन्नगिलाणे	४७१०
पुया व घस्संति अणत्थुयम्मि	३८१८	पुव्वं सुत्तं पच्छा	१९१	पुव्वोगहिए खेत्ते	१०६९
पुरकम्मम्मि कयम्मी	१८४९	पुव्वगता भे पडिच्छह	४१७१	पुव्वोदितं दोसगणं च तं तू	३२०६
पुरकम्मम्मि कयम्मी	१८५१	पुव्वघरं दाऊण व	१६७८	पुव्वंति पूइयं इत्थियाउ	४४४५
पुरकम्मम्मि कयम्मी	१८५६	पुव्वडिए व रत्तिं	२९३२	पुव्वलसिगा उवस्सए	४१०३
पुरकम्मम्मि य पुच्छा	१८१६	पुव्वट्टियण्णुणवियं	४७७१	पुव्वलियलग्ग अगणी	४८०
पुरतो दुरुहणमेगतो	५६६४	पुव्वण्हे अपडुविए	१६८९	पुव्वार्इणि वि मग्गइ	१९६०
पुरतो पसंगपंता	३६२४	पुव्वण्हे अवरण्हे	१६८५	पुव्वार्इणित्ते चेतिए	३६५८
पुरतो य पासतो पिद्धतो	२९०२	पुव्वण्हे लेपगहणं	४९२	पुव्वरंतिया महाणो	३७९
पुरतो य मग्गतो या	२०८९	पुव्वण्हे लेवगमं	४९१	पुव्वरंती छत्तंतिय	३७८
पुरतो वच्चंति मिगा	२९०१	पुव्वण्हे लेवदानं	४०७७	पुव्वरंति समोसरणं	१८०७
पुरतो व मग्गतो वा	२१११	पुव्वतरं सामइयं	६४०८	पुव्वलियं खायंतो	२६२४
पुरतो वि हु जं धोयं	१८२८	पुव्वट्टिडेविच्छइ	१५०२	पुव्वलिय-सत्तु-ओदण-	४८०३
पुरपच्छिमवज्जेहिं	३५४१	पुव्वपडिवन्नगाण वि	१४४५	पुव्वो उ उल्लखज्जं	३४७६
पुराणमाईसु व णीणवेंति	३२००	पुव्वपविट्टेहिं समं	१८०८	पेच्छह उ अणाथारं	२८७०
पुराण सायं व महत्तरं वा	३६१३	पुव्वपवित्तं विणयं	१३७२	पेच्छह गरहियवासा	२३१६
पुराण सावग सम्महिट्टि	३०८०	पुव्वव्भासा भासेज्ज	५११९	पेसवियम्मि अदेंते	२७९१
पुराणादि पणवेउं	३१३०	पुव्वभणिए य ठाणे	२२१७	पेसविया पच्चंतं	४५३७
पुरिमाणं एक्कस्स वि	५३४८	पुव्वभणियं तु पुणरवि	२५५४	पेसेइ उवज्जायं	५०४३

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
पेह पमज्जण वासग अग्गी	३४३६	बंधवयपालणट्टा	५९७६	बाहिं ठिय पठियस्स उ	३५७९
पेहाऽपेहादोसा	३९९०	बंधवयरक्खणट्टा	५९२९	बाहिं तु वसिउकामं	४८३९
पेहिंति उट्टाह पवंच तेणा	३४९१	बंधवयस्स अगुत्ती	२५९७	बाहिं दोहणवाडग	३५७९
पेहिय पमज्जिया णं	३३७७	बंधवयस्स गुत्ती	२३८२	बाहिं ठिया वसभेहिं	४२८१
पेहुणतंदुल पच्चय	४६३८	बंधी य सुंदरी या	३७३८	बाहिरखेत्ते छिण्णे	३५८१
पोग्गल असुभसमुदयो	६२५६	बंधी य सुंदरी या	६२०१	बाहिरगामे वुच्छा	१५६३
पोग्गल मोयग फरुसग	५०१७	बत्तीसाई जा एक	१०७६	बाहिरमलपरिच्छुद्धा	२०८१
पोतविवत्ती आवण्ण-	५२२३	बलसमुदयेण महया	२३०८	बाहुल्ला गच्छस्स उ	३५४३
पोत्थग जिण दिट्ठतो	३८२७	बलि धम्मकहा किट्ठा	५५४	बिइए वि होइ जयणा	३१२९
पोत्थगपच्चयपडियं	४५७१	बलि धम्मकहा किट्ठा	४६१९	बिइओ उवस्सयाई	५०२७
पोरिसिनासण परिताव	८८४	बलिपविसणसमकालं	१२१३	बिइयं ताहे पत्ता	४३८३
फ		बहि-अंत-ऽसण्णि-सण्णिसु	४२७१	बिइयं वसहिमतिते	५५४४
फडुगपइए पंते	३०३६	बहिया उ असंसट्ठे	३५९६	बिइयं विहे विवित्ता	२९७१
फडुगपइएसविया	२१३५	बहिया य रुक्खमूले	३१६८	बिइयं सुत्तग्गाही	१५२६
फरुसम्मि चंडरुद्धे	६१०२	बहिया व निग्गयाणं	२८१४	बिइयदिवसम्मि कम्मं	१४०६
फलगिक्को गाहाहिं	२००	बहिया वि गमेतूणं	४८३१	बिइयपए असिवाई	२७५६
फल्लो अचित्तो अह आविओ वा	५९६८	बहिया विथारभूमी	३२१८	बिइयपएण गिलाणस्स	५२८६
फासुग गोयरभूमी	४८७०	बहिया विथारभूमी	३२२३	बिइयपदं आहारे	५१००
फासुग जोणिपरित्ते	२९१८	बहि वुट्ठि अद्धजोयण	३१८७	बिइयपदं गेलण्णे	६३३५
फासुग जोणिपरित्ते	३११५	बहुजणसमागमो तेसु	४८५५	बिइयपदं तत्थेवा	५३११
फासुगमफासुगेण व	१९०६	बहु जाणिया ण सक्का	४१७३	बिइयपद अपेक्खणं तू	५८८५
फासुगमफासुगे वा	१८९२	बहुदेवसिया भत्ता	१७००	बिइयपद गिलाणाए	३२२९
फासुगमफासुगे वा	६०२४	बहुदोसे वऽतिरित्तं	२०२८	बिइयपदमणाभोगे	४३०७
फिडियं धण्णट्ठं वा	३३७४	बहुसुय चिरपव्वइओ	४०४	बिइयपदमसंविग्गे	५४०१
फिडियऽन्नोत्ताऽऽगारण	४३७७	बहुसो उवड्डियस्सा	४६७६	बिइयपदमसंविग्गे	५४३९
फुडरुक्खे अचियत्तं	१२६८	बहुसो पुच्छिज्जंता	१८८४	बिइयपदे कालगए	१९६८
फेडित वीही तेहिं	१४०४	बारस दसऽड्ड दस अट्ठ	६४७२	बिइयपदे कालगए	१९७०
फेडिय मुट्ठा तेणं	३३४६	बारसविहम्मि वि तवे	११६९	बिइयपदे तेगिंछं	४९६०
ब		बाल-ऽसहु-वुट्ठ-अतरंत-	४२९४	बिइयपयं गेलत्ते	२८७२
बंधट्ठितीपमाणं	९१	बालस्स अच्छिरोगे	५२२०	बिइयपय कारणम्मिं	३३०८
बंध वहं च घोरं	२७८३	बालाई परिचत्ता	१६०४	बिइयपय कारणम्मिं	३८१५
बंधाणुलोमथा खलु	१७३	बालाईया उवहिं	१५५२	बिइयपय कारणम्मिं	५६१४
बंधित्तु पीए जयणा ठवेति	३४१५	बाला य वुट्ठा य अजंगमा य	४३४२	बिइयपय कारणम्मी	२६२२
बंधुजणविप्पओगे	२००६	बाले वुट्ठे सेहे	१४८१	बिइयपय गम्ममाणे	३०६१
बंधो त्ति णियाणं ति य	६३४७	बाले वुट्ठे सेहे	१६९३	बिइयपय ज्ञामिते वा	४६०७
बंधवयपालणट्टा	३८०५	बाले वुट्ठे सेहे	४०७५	बिइयपय तेण सावय	५६६३
बंधवयपालणट्टा	५९६५	बावीस लभति एए	४७०८	बिइयपयमणप्पज्जे	३८०१
		बाहाइ अंगुलीइ व	३७४६	बिइयपयमणाभोगे	६१६२
		बाहिं आगमणपहे	४५४३	बिइयपय मोय गुरुगा	१७३१
		बाहिं काऊण मिए	२९३९	बिइयम्मि रयणदेवय	२५०८

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
विइयम्मि समोसरणे	४२९७	भग्गऽम्ह कडी अब्भुद्ध-	४४६०	भयतो कुडुंबिणीए	६२६०
विइयम्मि होंति तिरिया	११९०	भग्गविभग्गा गाहा	४५७०	भयसा उड्ढेतुमणा	४८६५
विइयादेसे भिक्खू	२८६६	भट्टि त्ति अमुग्गभट्टि	६१२७	भरहेरवप्सु वासेसु	६४४८
वित्तिणोलोयंती	९९२	भडमाइभया णट्टे	४७६०	भवणवई जोइसिया	११८७
वित्तियं अच्छित्तिकरो	५७२५	भणइ जइ एस दोसो	१७२२	भवियाइरिओ देसाण	१२३४
वित्तियं अपहुच्चंते	५३९०	भणइ जइ एस दोसो	१७३३	भाइयपुणाणियाणं	१२१२
वित्तियं उप्पाएउं	५५९२	भणइ जहा रोगत्तो	११४९	भाणऽप्पमाणगहणे	४००४
वित्तियं पभुनिव्विसए	४६४९	भणइ य दिट्ठ नियत्ते	६०८०	भाणस्स कप्पकरणं	४८०७
वित्तियणिसाए पुच्छा	४१९४	भणति जति ऊणमेवं	५८४९	भाणस्स कप्पकरणे	१७०५
वित्तिय-तत्तिएसु नियमा	४०५९	भणमाणे भणावित्ते	५४५७	भायऽणुकंप परिण्णा	५२५९
वित्तिय-द्वुज्झण जतणा	४९१०	भणिओ आलिच्छो या	५७०९	भारेण खंधं च कडी य बाहा	४२२७
वित्तियपदे उ गिलाणस्स	३२१५	भण्णइ न अण्णगंधा	१७३७	भारेण वेदणाए	५२८८
वित्तियमहसंधडे वा	४६१४	भण्णइ न सो सयं चिय	११५०	भारेण वेयणाए	४३७४
वित्तियम्मि वि दिवसम्मिं	४९३३	भण्णति उवेच्च गमणे	३१७७	भारेण वेयणा वा	४००३
वित्तियाउ पढम पुव्विं	५२६४	भण्णति सज्झमसज्झं	५२७९	भारो भय परितावण	३८१३
बिय-मट्टियासु लहुगा	५६७२	भत्तं वा पाणं वा	५६०७	भारो भय परियावण	३९००
बिले न ढक्कंति न खज्जमाणिं	१३९२	भत्तड्ढणमालोए	४८३५	भावकसिणम्मि दोसा	३९०२
बिले मूलं गुरुगा वा	२८५२	भत्तड्ढण सज्झाए	४३७२	भावचल गंतुकामं	५०४
बीए वि नत्थि खीरं	२३७	भत्तड्ढणाए य विहि	२०४९	भावऽड्ढवार सपदं	८७०
बीएहिं उ संसत्तो	३६८०	भत्तड्ढिय बाहाडा	४८३७	भावम्मि उ पडिबद्धे	२५९२
बीएहि कंदमादी	३३२४	भत्तड्ढिया व खमंगा	१५६२	भावम्मि उ पडिबद्धे	२५९३
बीभंत एव खुड्ढे	४४०२	भत्तड्ढिया व खमगा	१५७६	भावम्मि उ संबंधो	३६८५
बीभेज्ज बाहिं ठवितो उ खुड्ढो	४४०३	भत्तपरिण्ण गिलाणे	३८४२	भावम्मि ठायमाणा	२६०५
बीयमबीयं नाउं	२२०	भत्तमदाणमडंते	२४८९	भावम्मि होइ वेदो	२१४९
बीयाईआइण्णे	३३०४	भत्तस्स व पाणस्स व	४०६९	भावम्मि होंति जीवा	८४८
बुद्धीबलं हीणबला वयंति	३२५४	भत्तादिसंकिंलेसो	१८८८	भावस्स उ अतियारो	५२६३
बेइंदियमाईणं	२९०९	भत्ति-विभवाणुरूवं	१२०९	भावस्सेगतस्स उ	१६६
बोरीइ य दिट्ठतो	५२९७	भत्तेण मे ण कज्जं	५३२२	भावामं पि य दुविहं	८४४
बोलं पभायकाले	४७५२	भत्तेण व पाणेण व	२९०७	भावितकुलेसु धोवित्तु	१७२७
बोलेण झायकरणं	२३२३	भत्ते पण्णवण निगूहणा	५०७६	भाविय इयरे य कुडा	३३९
बोलेण झायकरणं	२६५९	भत्ते पाणे विस्सामणे	२९०४	भाविय करणो तरुणो	२४२५
बोहिकत्तेणभयादिसु	५१११	भद्दगवयणे गमणं	३०९०	भावियकुलेसु गहणं	१०३२
बोहियमिच्छादिभए	३१३७	भद्द तिरी पासंडे	४२९	भावे उक्कोस-पणीय-	३५४५
भ		भद्दमभद्दं अहिवं	३०२३	भावे उवक्कमं वा	२६५
भइया उ दव्वलिंगे	१६३९	भद्देतर सुर-मणुया	८९५	भावेण य दव्वेण य	८५९
भग्गणियादि गमियं	१४३	भद्दो तन्नीसाए	३५८८	भावेण संगहाई-	१६७
भंजंतुवस्सयं णे	२३४९	भद्दो पुण अग्गहणं	४६४३	भावो उ अभिस्संगो	१३५३
भंडी-बहिलग-भरवाहिणेसु	३१११	भन्नइ दुहतो छिन्ने	३९५४	भावो उ णिग्गतेहिं	४२९२
भगंदलं जस्सऽरिसा व णिच्चं	४१०२	भमरेहिं महुरीहिं य	१२४४	भावोग्गहो अहव दुहा	६८५
		भयओ सोमिलबडुओ	६१९६	भावो जाव न छिज्जइ	३६२३
		भयति भयस्सति व ममं	४४८२	भावो देहावत्था	५६०३

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
भावोवहयमईओ	१३२५	भुत्ते भुंजंतम्मि य	१७४८	मगहा कोसंबी या	३२६२
भासइ दुर्यं दुर्यं गच्छए	१२९९	भुम-नयण-वयण-दसण-	१२९७	मग्गंति थेरियाओ	२८२८
भासाचपलो चउहा	७५३	भूईए मट्ठियाए व	१३१०	मग्गंतो अन्नखित्ते	४७०२
भिंगारेण ण दिण्णा	३१६१	भूणगगहिए खंतं	४६२७	मच्छरया अविमुत्ती	२१२
भिंदेज्ज भाणं दवियं व उज्झे	३६०५	भूतिं आणय आणीते	६१०४	मच्छिग्गमाइपवेसो	६३२५
भिकखं चिय हिंडंता	६१६	भूमिघर देउले वा	२९५८	मच्छुव्वत्तं मणसा	४४७२
भिकखं पि य परिहायति	४९५७	भूमीए असंपत्तं	६१८६	मज्जंति व सिंचंति व	२४१७
भिकखं वा वि अडंतो	७४३	भूमीए संथारे	४९२२	मज्जणगतो मुरुंडो	५६२५
भिकख गय सत्थ चेडी	५७०४	भूयाइपरिग्गहिते	४७७३	मज्जणगादिच्छंते	१९४९
भिकखयरस्सऽन्नस्स व	१८५२	भूसण-भासासहे	२६०७	मज्जण निसिज्ज अक्खा	७७९
भिकखस्स व वसहीय व	४८१३	भेदो य परूवणया	२३७३	मज्जणवहणद्वाणेषु	२३९८
भिकखाइ गयाए निग्गयं	४१०६	भेदो य मासकप्पे	५४६	मज्जणविहिमज्जंतं	२६४९
भिकखादि-वियारगते	५२७७	भेया सोहि अवाया	४१७	मज्जाथा-ठवणाणं	१५७३
भिकखा पयरणगहणं	३५४८	भोअण-पेसणमादीसु	२७२३	मज्झंतिगाणि गिण्हह	४२०२
भिकखायरियाईया	१४२३	भोइय उत्तरउत्तर	४६२८	मज्झण्णे पउर भिकखं	१४८४
भिकखायरिया पाणग	१३८४	भोइयकुले व गुत्ते	३५०७	मज्झत्थं अच्छंतं	२२२७
भिकखायरिया पाणग	१६२६	भोइय-महतरगाई	२४४४	मज्झत्थ पोरिसीए	४४३७
भिकखुणो अतिक्रमंते	२८६८	भोइय-महतरगादी	२०६१	मज्झमिणमण्ण-पाणं	५०७५
भिकखु विह तण्ह वइल	७४२	भोइयमादीणऽसती	४६३७	मज्झम्मि ठाओ मम एस जातो	४४०८
भिकखुसरिसी तु गणिणी	६१११	भोगजढे गंधीरे	१३३६	मज्झुक्कोसा दुहओ	५९४७
भिकखुस्स ततियगहणे	५८२०	भोगत्थी विगए कोउ-	२४९८	मज्झे गामस्सऽगडो	११०४
भिकखुस्स दोहि लहुगा	५५८८	भोत्तव्वदेसकाले	२६४१	मज्झे जग्गंति सया	२६६४
भिकखुगा जहिं देसे	५४२६	भोत्तूण य आगमणं	२८५९	मज्झेण तेसि गंतुं	२६३०
भिकखूण संखडीए	५०८९	भोयणमासणमिद्धं	३५७६	मज्झे व देउलाई	२९३०
भिकखू वसभाऽऽयरिए	२८६९	म		मज्झे व देउलाई	३४७२
भिकखू साहइ सोउं	२१४१			मज्झे वा उवरिं वा	४५१४
भिज्जिज्ज लिप्पमाणं	५२८			मण एसणाए सुद्धा	५७९८
भिण्णं पि मासकप्पं	६४३६	मइल कुचेले अब्भं-	१५४७	मणि-रयण-हेमया वि य	११७९
भिण्णरहस्से व णरे	६४८९	मइल कुचेले अब्भं-	१५६५	मणुए चउमन्नयरं	११९२
भिन्नं गणणाजुत्तं	३९८७	मइल कुचेले अब्भं-	१९२२	मणुय-तिरिएसु लहुगा	४२५
भिन्नम्मि माउगंतम्मि	३९५२	मइल दरसुद्ध सुद्धं	९९	मणुय-तिरियपुंसेसुं	४२६
भिन्नस्स परूवणया	१०५५	मंगल-सद्धजणणं	४४४२	मणो य वाया काओ अ	४४४९
भिन्नाणि देह भित्तूण	१०६५	मंडलिठाणस्सऽसती	२०७६	मतिविसयं मतिनाणं	४१
भिन्नासति वेलातिक्रमे	१०६६	मंडलितक्की खमए	१७२१	मत्तअणेण्णे गुरुगा	४०६५
भीएण खंभकरणं	४२२२	मंडलियाए विसेसो	४३२४	मत्तग मोयाऽऽयमणं	५९८४
भीतावासो रई धम्मे	५७१४	मंत णिमितं पुण राय-	४६२४	मत्तासईए अपवत्तणे वा	३२३४
भीरू पकिच्चेवऽबला चला य	३२२४	मंदक्खेण ण इच्छति	५३३५	मइवकरणं नाणं	७८३
भुंजसु पच्यक्खातं	६०७१	मंदट्ठिगा ते तहियं च पत्तो	४७२३	मन्नंतो संसट्ठं	१७४३
भुत्तस्स सतीकरणं	३८३५	मंसाइपेसिसरिसी	२१०४	मयं व जं होइ रयावसाणे	६११४
भुत्ता-ऽभुत्तविभासा	५९२२	मक्खेऊणं लिप्पइ	६०१५	मयण च्छेव विसोमे	५६१५
भुत्तियरदोस कुच्छिय	२३९२	मगदंतियपुप्फाई	९७९	मरण-गिलाणाईया	९१८

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
मरणभरणऽभिभूते	५११३	मा सीदेज्ज पडिच्छा	४९५४	मुक्का मो दंडरुइणो	१२७४
मरिसिज्जइ अप्पो वा	१२६१	मासे पक्खे दसरायए	१६८४	मुच्छ्राए निवडिताए	५९५२
मरुएहि य दिट्ठतो	१०१२	मासे मासे वसही	२०३०	मुंडाविओ सिय ती	५१९१
मलेण घत्थं बहुणा उ वत्थं	३९९४	मासो लहुओ गुरुओ	१५५९	मुत्तनिरोहे चक्खुं	४३८०
मसगो व्व तुदं जच्चा-	३५०	मासो लहुओ गुरुओ	३४९८	मुत्तूण गेहं तु सपुत्तदारो	३५७३
महजणजाणणया पुण	९२२	मासो लहुओ गुरुओ	६०८१	मुत्तूण पढम-बीए	२९८
महज्झयण भत्त खीरे	६२५०	मासो लहुओ गुरुओ	६१०६	मुहं अविद्वंतीहिं	४५१८
महतर अणुमहतरए	३५७४	मासो लहुओ गुरुओ	६१३८	मुरियाण अप्पडिहया	२९३
महद्धणे अप्पधणे व वत्थे	३९९७	मासो लहुओ गुरुओ	६१४५	मुरियादी आणाए	२४८७
महिद्धिए उट्ट निवेसणे य	६२१२	मासो लहुओ गुरुओ	६१४८	मुल्लजुयं पि य तिविहं	३८९०
महिमाउस्सुयभूए	१७७२	मासो लहुओ गुरुओ	६१५२	मुसिय ति पुच्छमाणं	३०२४
महिलाजणो य दुहितो	२२००	मासो लहुओ गुरुओ	६१५६	मुहकरणं मूलगुणा	६६८
महिलासहावो सर-वन्नभेओ	५१४४	मासो लहुओ गुरुओ	६१६१	मुहणंतगरस्स गहणे	४९९०
महुणो मयणमविगई	१७११	मासो लहुओ गुरुओ	२२६२	मुहमूलम्मि उ चारी	१४९५
महुराऽऽणत्ती दंडे	६२४४	मासो विसेसिओ वा	२१९०	मुहरिस्स गोण्णणामं	६३२७
माइल्ले बारसगं	४६७९	मा होज्ज अंतो इति दोसजालं	३१६९	मूणा विसंति निति व	३४५५
माइस्स होति गुरुगो	४६०४	मिउबंधेहिं तहा णं	६२१४	मूयं च ढ्हरं चव	४४७५
माउम्माया य पिया	४७०७	मिच्छत्तं गच्छेज्जा	२७९९	मूयं हुंकारं वा	२१०
मा एवमसग्गाहं	११५४	मिच्छत्तऽदिन्नदाणं	५५६१	मूलं वा जाव थणा	४१४२
मा काहिसि पडिसिद्धो	१७५१	मिच्छत्त पवडियाए	४११३	मूलं सएज्जाएसुं	३३४९
माणाहियं दसाधिय	३९१७	मिच्छत्त बहुग चारण	५४४	मूलं सएज्जाएसुं	३३५९
माणुस्सं पि य तिविहं	२५१६	मिच्छत्त-बहुग-चारण	४६१८	मूलगुण उत्तरगुणे	७६९
मा णे हुज्ज अवन्नो	३५४	मिच्छत्त-भारण	६४०५	मूलगुण उत्तरगुणे	४५२१
माता पिया य भगिणी	२८२३	मिच्छत्तभावियाणं	११७	मूलग्गामे तिन्नि उ.	२७४३
माता भगिणी धूता	५२४५	मिच्छत्तम्मि अखीणे	११७	मूलतिगिच्छं न कुणह	२२३९
मा निणहव इय दाउं	३६१	मिच्छत्तम्मी भिक्खु	२८४१	मूलभरणं तु बीया	१७५७
मा निसि मोकं एज्जसु	२८४५	मिच्छत्त सोच्च संका	२७९७	मूलातो कंदादी	५१९५
मा पडिगच्छति दिण्णं	५३२१	मिच्छत्ताओ अहवा	११३	मूलत्तरचउभंगो	५८७
मा पयल गिण्ह संथारणं	४३९७	मिच्छत्ताओ मीसे	११२	मूलत्तरसेवासुं	४९४२
मा मं कोई दच्छिइ	२३८३	मिच्छत्ता संकंती	११४	मूलेण विणा हु केलिसे	४३६३
मा मरिहिइ ति गाढं	२९६७	मिच्छत्ता-ऽसंचइए	६००५	मेरं ठवंति थेरा	५६९४
मा य अवण्णं काहिह	४१३७	मिच्छत्ते उड्डाहो	३०४३	मेहाईछन्नेसु वि	१३४२
माया पिया व भाया	४७०६	मिच्छत्ते उड्डाहो	३१५५	मेहुणसंकमसंके	२८०१
माया भगिणी धूया	६१७६	मिच्छत्ते उड्डाहो	५२४१	मेहुणं पि य तिविहं	४९४१
मालवतेणा पडिया	५६१	मिच्छत्ते उड्डाहो	६१७०	मेहुण्णे गन्धे आहिते	४१४५
माला लंबति हत्थं	५६७८	मिच्छत्ते संकाई	९२९	मोएण अण्णमण्णस्स	५९७७
माले सभावओ वा	२२४६	मिच्छत्ते संकादी	४१५३	मोक्खपसाहणहेतू	५२८१
मा बच्चह दाहामिं	४८३०	मिच्छत्ते सतिकरणं	६१८४	मोत्तुं जिणकप्पठिइं	६४८६
मा सव्वमेयं मम देहमन्नं	५३१८	मीसगगहणं तत्थ उ	४३४८	मोत्तूण गच्छनिग्गते	६९५
मासस्सुवरिं वसती	२०२३	मुइए मुद्धभिसित्ते	६३८२	मोत्तूण वेदमूढं	५२३०
मासादी जा गुरुगा	५९३१	मुक्कं तथा अगहिए	३६०	मोयं ति देइ गणिणी	५९९३
		मुक्कधुरा संपागड-	४५४४		

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
मोयं तु अन्नमन्नस्स	५९८६	राओ दिया वा वि हु णेच्छुभेज्जा	३५९२	लक्खणओ खलु सिद्धी	२७६
मोयगभत्तमलद्धुं	५०१९	राओवणीय सीहासणो-	१२१६	लक्खणहीणो उवही	३९५८
मोयस्स बायस्स य सण्णिरोहे	३४९०	राओ व दिवसतो वा	३१४१	लग्गे व अणहियासम्मि	४३९४
मोल्लं णत्थऽहिरण्णा	४६४६	रागहोसविमुक्को	३०६६	लज्जं बंभं च तित्थं च	५९६१
मोसम्मि संखडीए	६१४२	राग-होसाणुगया	४९४३	लत्तगपहे य खुलए	५६४४
मोहग्गिआहुइनिभाहि	२२४०	रागहोसाणुगया	६२२८	लद्धूण अन्नपाए	६५९
मोहतिगिच्छा खमणं	३७०७	रागम्मि रायखुड्डी	६१९७	लद्धूण अन्न वत्थे	६१४
मोहुब्भवो उ बलिए	१५२७	राजेण वा भएण व	६१९५	लद्धूण णवे इतरे	४२७०
मोहेण पित्ततो वा	६२६८	रागो य दोसो य तहेव मोहो	३९३५	लद्धूण माणुसत्तं	३७४०
मोहोदएण जइ ता	२६२८	रातिणितवाइतेणं	६१४९	लद्धे तीरियकज्जा	४६४८
र		रातो य भोयणम्मिं	४९६१	लहुओ उ उवेहाए	२६९९
रंघंतीओ बोद्धिंति	१७४६	रातो वत्थग्गहणे	२९७०	लहुओ उ उवेहाए	५७३४
रक्खण गहणे तु तहा	५४२	रातो व दिवसतो वा	५८३३	लहुओ उ होति मासो	४९५५
रक्खिज्जइ वा पंथो	२७७५	रातो व वियाले वा	२८३८	लहुओ गुरुओ मासो	५८४४
रज्जे देसे गामे	५५७१	रातो सिज्जा-संथारग्गहणे	२९२४	लहुओ य लहुसगम्मिं	६११२
रत्तपड चरण तावस	१५४८	रायकुमारो वणितो	५२२९	लहुओ लहुगा गुरुगा	६१२०
रत्तपड चरण तावस	१५६६	रायणिओ आयरिओ	४४११	लहुओ लहुगा दुपुडादिएसु	३८५२
रत्तिं न चैव कम्पइ	१५५४	रायणिओ उस्सारे	६२०	लहुओ लहुया गुरुगा	२०४२
रत्तिं वियारभूमी	३२०८	रायदुद्ध-भएसुं	५१७३	लहुगा अणुग्गहम्मिं	३३५८
रत्ते वि तिरिक्खीतो	२१६४	रायवधादिपरिणतो	४९९४	लहुगा अणुग्गहम्मिं	५०७०
रत्तो जुवरत्तो वा	४९९६	राया-मच्चे सेट्ठी	३७५७	लहुगा अणुग्गहम्मी	९०१
रत्तो निवेइयम्मिं	६२१९	राया य खंतियाए	५२१९	लहुगा अणुग्गहम्मी	३३४८
रत्तो य इत्थियाए	२५१३	राया व रायमच्चो	१२११	लहुगाई बावारिते	६१०८
रमणिज्जभक्ख गामो	३३३५	रासी ऊणे दद्धुं	३३५७	लहुगा तीसु परिंते	१०४१
रयणायरो उ गच्छो	२१२२	रासीकडा य पुंजे-	३३१०	लहुगादी छग्गुरुगा	४५७२
रयणेसु बहुविहेसुं	२१२३	रिक्खस्स वा वि दोसो	३७१०	लहुगा य दोसु दोसु य	८६१
रयताणस्स पमाणं	३९७२	रिण वाहिं मोक्खेउं	४७२०	लहुगा य निरालंबे	८७७
रयहरणपंचगस्सा	३६७६	रीढासंपती वि हु	२१६२	लहुगा लहुगो पणगं	१६६२
रयहरणेण विमज्झो	४१९५	रीयादऽसोहि रत्तिं	३०४८	लहु गुरु चउण्ह मासो	२४३१
रयहरणेणोल्लेणं	४२५३	रुक्खासणेण भग्गो	२२६७	लहुगो लहुगा गुरुगा	३८९६
रविउ त्ति ठिओ मेहो	३३६	रुद्धे वोच्छिन्ने वा	४८३८	लहुतो लहुगा गुरुगा	४९१९
रसगंधा तहिं तुल्ला	१०५०	रुवं आभरणविहीं	२५५७	लहुया य दोसु गुरुओ	१७०४
रसगिद्धो व थलीए	५४२८	रुवं आभरणविही	२४५१	लहुसो लहुसतराओ	६०४०
रसता पणतो व सिया	५८६४	रुवंगं दद्धूणं	६२६४	लहुसो लहुसतरागो	६२३६
रसलोलुताइ कोई	५२०४	रुवं वत्तो सुकुमारया	२१०२	लाउय असइ सिणेहो	२३६९
रहपडण उत्तमंगादि-	४७४	रुवे जहोवलद्धी	८०	लाउय दारुय मट्टिय	६५२
रह-हत्थि-जाण-तुरए-	१९१६	रोहेउ अड्ड मासे	४८१२	लाउयपमाणदंडे	५९७४
राइणिओ य अहिगतो	४५५४	ल		लाभमएण व मत्तो	६२४३
राईण दोण्ह भंडण	२७८९	लंदो उ होइ कालो	१४३८	लिंगड्ढ भिक्ख सीए	२९८१
				लिंगत्थमाइयाणं	१९१७
				लिंगत्थस्स उ वज्जो	३५३९

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
लिंगत्थेसु अकम्पं	६२७	वंदेण दंडहत्था	५९२५	वति-भित्ति-कडगकुडे	४७९२
लिंग विहारेऽवद्विओ	७३६	वंसग कडणोक्कचण	५८३	वतिसामिणो वतीतो	४७९३
लिंगेण निग्गतो जो	४५१६	वक्कइअ विक्रएण व	१५१६	वत्तकलहो उ ण पढति	५७४४
लिंगेण लिंगिणीए	५००८	वक्कंतजोणितिच्छड-	१९५५	वत्तकलहो वि न पढइ	२७११
लित्ते छाणिय छारो	५१७	वक्कंतजोणि थंडिल	९९८	वत्तम्मि जो गमो खलु	५४९४
लित्थारियाणि जाणि उ	५१५	वगडा उ परिवखेवो	२१२७	वत्तवओ उ अगीओ	५४८३
लुक्खमरसुण्हमनिकाम-	२१५४	वगडा रच्छा दगतीरगं	३२४२	वत्तव्वा उ अपाणा	५६६९
लुक्खस्सऽम्भंतरतो	१८९३	वच्चइ भणाइ आलोय	६१४४	वत्तस्स वि दायव्वा	५३८८
लूया कोलिगजालग	१७८७	वच्चइ भणाइ आलोय	६१४७	वत्ता वयणिज्जो या	६०६४
लेवकडे कायव्वं	१७१९	वच्चंतकरण अच्चंत-	१५१९	वत्तीए अक्खेण व	१५८
लेवकडे वोसडे	४०११	वच्चंतस्स य दोसा	८७३	वत्ते खलु गीयत्थे	५४७५
लेवडमलेवडं वा	१६४८	वच्चंते जो उ कमो	५५४३	वत्थं व पत्तं व तहिं सुलंभं	३२०४
लेवाड विगइ गोरस	१७१७	वच्चंतेण य दिट्ठं	४९६	वत्थम्मि नीणियम्मिं	२७९८
लोइय-वेइय-सामाइएसु	३८५	वच्चंतेहि य दिट्ठो	१५५५	वत्थव्व जतणपत्ता	५८३५
लोउत्तरं च मेरं	३६०९	वच्चंतो वि य दुविहो	५३८६	वत्थव्व जयणपत्ता	५८३९
लोएण वारितो वा	४१३१	वच्चक मुंजं कत्तंति	३६७५	वत्थव्व पउण जायण	१९६६
लोए वि अ परिववादो	५४२७	वच्चति भणाति आलोय	६१३७	वत्थव्वे वायाहड	४६७८
लोए वेदे समए	४५४७	वच्चति भणाति आलोय	६१५१	वत्थाणाऽऽभरणाणि य	६३०९
लोगच्छेरयभूतं	३२६८	वच्चति भणाति आलोय	६१५५	वत्थाणि एवमादीणि	३६७९
लोगपगतो निवे वा	४५५२	वच्चति भणाति आलोय	६१६०	वत्था व पत्ता व घरे वि हुज्जा	४२१२
लोगविरुद्धं दुप्परिचओ	१९६२	वच्चसि नाहं वच्चे	६०७२	वत्थेण व पाएण व	२९८५
लोभेअ आभिओगे	२८१७	वच्चह एगं दव्वं	६०८७	वत्थेहिं आणितेहिं	४३१३
लोभे एसणघाते	६३८९	वच्चामि वच्चमाणे	५५८२	वत्थेहि वच्चमाणी	४१५६
लोभेण मोरगाणं	५२२७	वच्छग-गोणीसहेण	२२०३	वत्स (च्छ) ग गोणी खुज्जा	१७१
लोलंती छग-मुत्ते	३७७०	वच्छनियोगे खीरं	१९५	वम्मा य अवम्मा विं य	३४०
लोलुग सिणेहतो वा	५३३४	वच्छो भएण नासति	५०५	वम्मिय कवइय वलवा	२२८३
व		वट्टइ उ समुदेसो	६०७४	वयअहिगारे पगए	२८३६
वइअंतरियाणं खलु	२२३५	वट्टं समचउरंसं	४०२२	वय इट्टगठवणनिभा	३३३
वइगा अद्धाणे वा	१७३२	वट्टागारठिएहिं	११०८	वयणं न वि गव्वभालियं	४३६२
वइगाए उट्टियाए	४८६६	वडपादव उम्मूलण	४९२९	वयणेणाऽऽयरियाई	१६५
वइगा सत्थो सेणा	४८५९	वड्ढति ह्ययति उभयं	६२२५	वयसमितो च्चिय जायइ	४४५४
वइणि ति णवरि गेम्मं	५२३८	वणसंड सरे जल-थल	२७०७	वलया कोट्टागारा	३२९७
वइणी पुव्वपविट्ठा	२१८३	वणसंड सरे जल-थल	५७४०	ववहार णऽत्थवत्ती	५२३५
वइदिस गोब्बरगामे	६०९६	वणिओ पराजितो मारिओ	४१२२	ववहारनयं पप्प उ	२६८८
वइयासु व पल्लीसु व	४८०२	वणियत्थाणी साहू	५८५९	ववहारो वि हु बलवं	४५०७
वंका उ ण साहंती	५३५८	वणिया ण संचरंती	४२५१	वसभाण होंति लहुगा	४४५९
वंतादियणं रत्तिं	५८६१	वण्णह्व वण्णकसिणं	३८५१	वसभा सीहेसु मिगेसु	२९०३
वंदामि उप्पलज्जं	२६३७	वण्ण-रस-गंध-फासा	१६४४	वसभे य उवज्जाए	२१८८
वंदेण इति निंति व	१८०९	वण्ण-रस-गंध-फासा	५९१४	वसहिं अणुण्णवितो	१३९६
		वण्ण-रस-गंध-फासेसु	२७२७	वसहि निवेसण साही	५५४१
		वतिणी वतिणिं वतिणी	२२२४	वसहिफलं धम्मकहा	१५७२

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
वसहीए असज्झाए	३७२९	वावार मट्टिया-असु-	३६२०	विज्ज-दवियद्वयाए	२४२१
वसहीए जे दोसा	३१५८	वावारिय आणेहा	५०६८	विज्जस्स व दव्वस्स व	१९७३
वसहीए दोसेणं	४९१२	वावारिय सच्छंदाण	१४७४	विज्जाए मंतेण व	६२७०
वसहीए दोसेणं	४९५९	वासत्ताणे पणणं	४०९७	विज्जा-ओरस्सबली	५५९३
वसहीए वि गरहिया	६०५२	वासस्स य आगमणं	१५४६	विज्जादऽभिओगो पुण	६२७१
वसहीए वोच्छेदो	१५३४	वासस्स य आगमणं	२२८०	विज्जाद-ऽसई भोयादि	४६३४
वसहीरक्खणवग्गा	३३३६	वासाखित्त पुरोखड	४२४७	विज्जादीहि गवेसण	४६३२
वसिज्जा बंभचेरंसी	५९५९	वासाण एस कप्पो	४२६६	विज्जा-मंत-निमित्ते	५४७३
वसिमे वि विवित्ताणं	३०३७	वासारत्ते अइपाणियं	११२४	विज्जाहर रायभिहे	२९१
वाइगसमिई बिइया	४४५३	वासावज्जविहारी	१२४३	विज्जे पुच्छण जयणा	१०२७
वाइज्जंति अपत्ता	५२०९	वासावासविहारे	२७३५	विणयस्स उ गाहणया	५१०७
वाघायम्मि ठवेउं	५५२९	वासावासातीए	१४४९	विणयाहीया विज्जा	५२०३
वाडगदेउलियाए	३५८६	वासावासो दुविहो	२७३४	विणा उ ओभासित-संथवेहिं	३१९५
वाणंतरिय जहन्नं	२४६८	वासाविहारखेत्तं	३१७९	विणहवण-होम-सिरपरि-	१३०९
वाताऽऽतवपरितावण	१९१८	वासासु व वासंते	४५६२	वित्तहं ववहरमाणं	३९०
वातादीणं खोभे	५३२६	वासासु वि गिणहंती	४२८९	वितिगिच्छ अन्भसंथड	५८२८
वाताहडे वि णवगा	४६७७	वासेण नदीपूरेण	३०७३	वितिगिडु तेण सावय	२९३४
वातेण अणक्कंते	५५२१	वासोदगस्स व जहा	१२०४	वित्तासेज्ज रसेज्ज व	५५२६
वानर छगला हरिणा	५९२०	वाहि नियाण विकारं	१९२७	वित्ती उ सुवन्नस्सा	१२०७
वामद्वति इय सो जाव	४५७३	वाही असव्वच्छिन्नो	११९	वित्थाराऽऽयामेणं	३८८३
वाय खलु वाय कंडग	३०५५	वाहीण व अभिभूतो	३०१८	वित्थाराऽऽयामेणं	५५१०
वायण-वावारण-धम्म-	४४२७	विउलं व भत्तपाणं	५६०२	विदु क्खमा जे य मणाणुकूला	४३१४
वायपरायण कुवितो	५०४२	विउलकुले पव्वइते	५२६१	विदु जाणए विणीए	७६१
वायपरायणकुविया	५४२९	विउसग्ग जोग संघाडएण	२७९६	विहवितं केणं ति व	६२४९
वायम्मि वायमाणे	५०७	विकडुभमग्गणे दीहं	९९४	विद्धंसण छायण लेवणे	१६७५
वायाई सद्धानं	४४५६	विक्रितं जधा पप्प	४२१६	विन्नाय आरंभमिणं सदोसं	३९२४
वायाए कम्मणा वा	४५४८	विगइ अविणीए लहुगा	५१९९	विप्परिणमइ सयं वा	४७१८
वायाए नमोक्कारो	४५४५	विगई विगइअवयवा	१७०८	विप्परिणया वि जति ते	४६७२
वायाए हत्थेहि व	२७०५	विगयम्मि कोउयम्मी	३४२४	विप्परिणामियभावो	४७२८
वायाए हत्थेहि व	५७३६	विगयम्मि कोउहल्ले	३३४३	विप्परिणामो अप्पच्चओ	२९३८
वायाकोक्कुइओ पुण	१२९८	विगयम्मि कोउहल्ले	३४०९	विन्भंगी उ परिणमं	१२५
वायाहडो तु पुट्टो	४६८६	विगुरुव्विऊण रूवं	५७२२	वियडण पच्चक्खाणे	४५००
वायाहडो वि एवं	४६५८	विगुरुव्वियबोंदीणं	२२०१	वियरग समीवारामे	२८१९
वारत्तग पव्वज्जा	४०६६	विग्घोवसमो सद्धा	२०	विरइसभावं चरणं	९३४
वारत्तगस्स पुत्तो	१७७५	विच्चामेलण अन्नसत्थ	२९६	विरतो पुण जो जाणं	३९३९
वारिखलाणं बारस	१७३८	विच्चामेलण सुत्ते	२६९५	विरहम्मि दिसाभिग्गह	३९३
वारेइ एस एयं	२७१७	विच्चामेलण सुत्ते	५७२९	विरिच्चमाणे अहवा विरिक्के	४३२२
वारेति अणिच्छुभणं	५५६५	विच्छिण्ण कोट्टिमत्तले	४३९८	विलओलए व जायइ	२९१५
वारेति एस एतं	५७४९	विच्छिन्ने दूरमोगाहे	४४४	विवरीयवेसधारी	३१
वाले तेणे तह सावए	३०४९	विच्छिन्नो य पुरोहडो	२२१३	विसम पत्तोडुणि आया	४४७
वाले तेणे तह सावते	३१५७	विज्जं न चेव पुच्छह	१९०७	विसमा जति होज्ज तणा	५५३३

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
विसमो मे संधारो	४४०६	बुद्धे वि दोणमेहे	३३८	संकप्ये पयभिंदण	५८६७
विसस्स विसमेवेह	६२७३	बुद्धोऽणुकंपणिज्जो	१४६८	संकम जूवे अचले	२४१३
विसोहिकोडिं ह्वइत्तु गामे	३५१७	बुत्तं हि उत्तमड्ढे	६२८५	संकम थले य णोथल	५६४०
विस्ससइ भोइ-मिता-	२१७८	बुत्ता तवारिहा खलु	४९६९	संकलदीवे वत्तिं	३४७०
विहं पवन्ना घणरुक्खहेट्ठे	३५०९	बुत्तुं पि ता गरहितं	५९७९	संका चारिग चोरे	६३९१
विह अतराऽसहु संभम	३८६२	बुत्तो अचेलधम्मो	५९३५	संकापदं तह भयं	२३४४
विहनिग्गया उ जइउं	२६०४	बुत्तो खलु आहारो	१०८६	संकिन्नवराहपदे	४५२४
विहवससा उ मुसंडं	४१२३	बुब्भण सिंचण बोलण	५६२७	संक्रियमसंक्रियं वा	२३४८
विहि-अविहीभिन्नम्मि य	१०३९	बूढे पायच्छित्ते	७१२	संकुचिय तरुण आयप्पमाण	३९७०
विहिणिग्गता उ एक्का	४१३०	वेउव्वऽवाउडाणं	५६७५	संखंडिज्जन्ति जहिं	३१४०
विहिभिन्नं पि न कप्पइ	१०५७	वेगच्छिया उ पट्ठो	४०८९	संखडिए वा अट्ठा	४७१५
विहुवण-णंत-कुसादी	४९०६	वेज्जऽड्ढग एगदुगादि-	१०२८	संखडिगमणे बीओ	२८५४
वीमंसा पडिणीयड्डया	२४९४	वेज्जस्स एगस्स अहेसि पुत्तो	३२५९	संखडिमभिधारेंता	५८३७
वीमंसा पडिणीया	२४९६	वेयावच्चगरं बाल	१४६४	संखडि सण्णाया वा	४७१९
वीयार-गोयरे थेर-	५१८०	वेयावच्चे चोयण-वारण	२११८	संखाईए वि भवे	१२१७
वीयार भिक्खचरिया	१४८०	वेरं जत्थ उ रज्जे	२७६०	संखा य परूवणया	१२९२
वीयार-भिक्खचरिया-	२१७३	वेरग्गकरं जं वा	२६१२	संखुत्ता जेणंता	१६९९
वीयारभोमे बहि दोसजालं	३४९३	वेरग्गकहा विसयायाण	५१८१	संगं अणिच्छमाणो	६३४६
वीयार-साहु-संजइ-	४४६६	वेलइवाते दूरम्मि	५६१३	संगहियमसंगहिओ	१११०
वीयाराभिमुहीओ	२१९५	वेलाए दिवसेहिं व	३१४८	संघट्टणाऽऽयसिंचण	५६३१
वीयारे बहि गुरुगा	२०६४	वेवहु चला य दिट्ठी	४१८८	संघट्टणाय सिंचण	५६३७
वीरल्लसउणवित्तासियं	३६९६	वेसइ लहुमुट्ठेइ य	४४२८	संघंस अपडिलेहा	३८२६
वीस्वरस्स भगवतो	५६२८	वेसथीआगमणे	४९२३	संघं समुद्दिसित्ता	५३४४
वीरासणं तु सीहासणे	५९५४	वेस-वयणेहिं हासं	१३००	संघयण-रूव-संठाण-	११९८
वीरासण गोदोही	५९५६	वेस्सा अकामतो णिज्जराए	६२५९	संघयण-विरिय-आगम-	५०२९
वीसं तु अपव्वज्जा	५१३९	वेहाणस ओहाणे	१९८८	संघयण-विरिय-आगम-	५१२९
वीसं तु आउलेहा	४०४५	वोच्चत्थे चउलहुआ	६५३	संघस्स पुरिम-पच्छिम-	५३४३
वीसंभट्टाणमिणं	४४८८	वोच्चत्थे चउलहुगा	१९१३	संघस्सोह विभाए	६३७६
वीसज्जियम्मि एवं	५३९५	वोच्छिज्जई ममत्तं	४७५७	संघाडण एक्कतो	४३०९
वीसज्जिया य तेणं	३२८७	वोच्छेदे लहु-गुरुगा	४६०३	संघाडण एगो	१७२६
वीसज्जिया व तेणं	३०२२	वोसट्ठं पि हु कप्पइ	४०४८	संघाडण पविट्ठे	२८१०
वीसत्थमप्पिणंते	३०११	वोसट्ठकाय पेल्लण-	५९४४	संघाडण एगेणं	४६६६
वीसत्थया सरिसए	५७२३			संघाडगाओ जाव उ	५५९९
वीसत्थऽवाउडऽन्नोन्न-	२२४३	स		संघाडगादिकहणे	४९३६
वीसत्था य गिलाणा	३६९४			संघाडेगो ठवणाकुलेसु	५२९२
वीसुं उवस्सए वा	५५७६	सइकरण कोउहल्ला	२३४०	संघाडो मग्गेणं	२०१९
वीसुं घेप्पइ अतरंतगस्स	५८८९	सइकालफेडणे एसणादि	३७०२	संघातिमेतरो वा	४०९२
वीसुंभणसुत्ते वा	५५९५	सइमेव उ निग्गमणं	१६९८	संघो न लभइ कज्जं	५०५३
वीसुंभिओ य राया	३७६०	संकंतो अण्णगणं	५७७८	संचइयमसंचइयं	१६०९
वीसुं वोमे घेत्तुं	५३३६	संकप्पियं व दव्वं	३६२१	संचयपसंगदोसा	१७१८
वुच्छिणम्मि मडंबे	६०१२	संकप्पियं वा अहवेगपासे	३६२२	संचारोवतिगादि	६३२२

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
संजङ्गमणे गुरुगा	२०५३	संथरमाणे पच्छा	४७१२	संवाहो संवोदुं	१०९२
संजङ्गभावियखेत्ते	२१३६	संथवमादी दोसा	६११७	संविग्ग-नीयवासी	१९९२
संजङ्ग संजय तह संपऽसंप	२४०७	संथारएहि य तहिं	३३४०	संविग्गभावियाणं	१६०७
संजओ विट्ठो तह संजई	२१८२	संथारं दुरुहंतो	४४१४	संविग्गमगीयत्थं	५४८५
संजतगणे गिह्मिगणे	५५८४	संथार कुसंघाडी	३७६७	संविग्गमणुत्राए	१६१६
संजति कप्पट्टीए	५००६	संथारगअहिगारो	४६१०	संविग्गमसंविग्गा	४२१
संजमअभिमुहस्स वि	३७०५	संथारगं जो इतरं व मत्तं	४४०४	संविग्गमसंविग्गे	१९११
संजम-आयविराहण	४८४३	संथारगभूमितिगं	४३८७	संविग्गविहाराओ	५४५८
संजमकरणुज्जोवा	६४८५	संथारग्गहणीए	४३८९	संविग्ग संजईओ	१९९०
संजम-चरित्तजोगा	१०३५	संथारग्गहणीए	४३९१	संविग्गा गीयत्था-	१९८९
संजमजीवितहेउं	४९४५	संथारट्ट गिलाणे	३८३७	संविग्गाऽसंविग्गा	८८६
संजममहातलागस्स	३७०४	संथारभूमिलुद्धो	४३९३	संविग्गा सिज्जातर	१९९४
संजमविराहणाए	३०४५	संथारविप्पणासो	४६२०	संविग्गेतरभाविय	२९९०
संजमविराहणा खलु	२३१२	संथारुत्तरपट्टा	३९८०	संविग्गेतर लिंगी	१९१२
संजमहेउं अजतत्तणं	४५२७	संथारेगंतरिया	३२२७	संविग्गेहि य कहणा	१८०६
संजमहेउं लेवो	५२७	संथारेगमणेगे	४६०५	संविग्गो दव्व मिओ	७३५
संजमहेऊ जोगो	३९५१	संथारो नासिहिती	४६१६	संविग्गो महविओ	५११०
संजयकडे य देसे	१७६१	संदंसणेण पीई	२२६८	संवेगं संविग्गाण	१२२८
संजयगणो तदधिवो	५५८५	संदंसणेण बहुसो	१७२३	संसज्जिमम्मि देसे	५८७३
संजय-गिहित-दुभयभइया	२७७२	संपत्ति तरस्सेव जदा भविज्जा	३९३४	संसज्जिमेसु छुग्गभइ	५२७४
संजयजणो य सव्वो	३१०६	संपत्तीइ वि असती	१८५७	संसट्टमसंसट्टे	१८६८
संजयपंता य तहा	३००८	संपत्ती य विपत्ती	९४९	संसट्टस्स उ करणे	३६०३
संजयभइगमुक्के	२७७३	संपाइमे असंपाइमे	२४०१	संसट्टस्स उ गहणे	३५९३
संजयभइ गिहिभइगा	२९७५	संपाइमे वि एवं	२४०४	संसत्त गोरसस्सा	५८९५
संजुत्ताऽसंजुत्तं	६४	संबंधी सामि गुरु	३६५५	संसत्तग्गहणी पुण	४५८
संजोगदिट्टपाढी	१८७९	संबद्ध-भाविएसू	४२७४	संसत्ताइ न सुज्जइ	२८५७
संजोग सइंगाले	५४०	संभिच्चेण व अच्छह	५४८	संसत्ताऽऽसव पिसियं	४७४२
संजोगे समवाए	८१८	संभुजिओ सिय ची	५१९४	संसारदुक्खमहणो	११३५
संजोयणा पलंबातिगाण	६३४२	संभोगो वि हु तिहिं कारणेहिं	५४५३	संसारमणक्यम्मं	५०१०
संजोययते कूडं	३९४६	संमज्जण आवरिसण	१६८१	संसाहगस्स सोउं	५३६८
संठाणमगाराई	४४	संलवमाणी वि अहं	३७९२	संहियकङ्कणमादिवक्खणं	४५६७
संठियम्मि भवे लाभो	४०२३	संलिहियं पि य तिविहं	३७४२	संहिया य पयं चेव	३०२
संडासच्छिडेण हिमादि एति	३९६८	संलेह पण तिभाए	५८०३	सकवाडम्मि उ पुव्विं	२९५९
संतऽन्ने वऽवराधा	३१८१	संवच्छरं गणो वी	२०००	सकुडुंबो मधुराए	६२९२
संतर निरंतरं वा	२२४७	संवच्छरं च रुद्धं	५७७३	सक्कपसंसा गुणगाहि	३५७
संतविभवा जइ तवं	३७५९	संवच्छराइ तित्ति उ	५४१७	सक्कमहादी दिवसो	५६०६
संति पमाणातिं पमेय-	१८०	संवच्छराणि तित्ति य	१९९९	सक्कय-पाययभासा-	५७
संति लंभम्मि	५६७	संवट्टणिग्गयाणं	४८१०	सक्कयपाययवयणाण	२
संथडमसंथडे या	५७८५	संवट्टमेह-पुप्फा	१७७९	सक्कर-घत-गुलमीसा	३०९३
संथडिओ संथरेंतो	५८०७	संवट्टम्मि तु जयणा	४८०१	सक्कारो सम्माणो	१५०३
संथरओ सट्टाणं	३२४	संवासे इत्थिदोसा	२०२७	सक्खेत्ते जदा ण लभति	५२९१
संथरणम्मि असुद्धं	१६०८				

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
सक्खेत्ते परखेत्ते वा	४२९०	सद्वाणे सद्वाणे	३२३	सद्धामंगोऽणुग्गाहियम्मि	१५७८
सखेदणीसद्धविमुक्कगतो	६११५	सडिय-पडियं ण कीरइ	४७६६	सद्धावुद्धी रत्तो	१७९१
सगड-इह-समभोमे	९९७	सद्धा दलंता उवहिं निसिद्धा	४८५६	सन्नाइसुत्त ससमय	१२२१
सगणम्मि पंचराइंदियाइं	५७५३	सद्धेहि वा वि भणिया	३५८३	सन्नाइकयकज्जो	६०२९
सगणम्मि पंचराइंदियाइं	५७५५	सण्णातिगतो अद्धाणितो	५०७४	सन्नाणेणं सण्णी	७८
सगल प्पमाण वण्णे	३८४६	सण्णायगा वि उज्जुत्तणेण	५३५४	सन्ना य कारणे पकरणे	३१५
सगलाऽसगलाइन्ने	१०८१	सण्णी व सावतो वा	६३००	सन्नायग आगमणे	२८६२
सगुरु कुल सदेसे वा	२८८०	सतिकरणादी दोसा	३८०६	सन्नायगेहि नीते	५६२
सग्गाम परग्गामे	६४२	सतिकालद्धं नाउं	१६१४	सन्नायपल्लि गेहिं (णं)	४९३८
सग्गामभिहडि गंठी	५३५	सति-कोउगेण दुण्णि वि	२४५८	सन्निकरिसो परो होइ	३०३
सग्गामे सउवसए	१८७०	सति दोसे होअगतो	६४२८	सन्नि खरकम्मिओ वा	५१८३
सच्चं तवो य सीलं	२०८०	सति लंभम्मि वि गिण्हति	५००१	सन्नी-अस्सन्नीणं	२५८२
सच्चं भण गोदावरि !	६२४६	सत्त उ वासासु भवे	५६५४	सन्नी व असन्नी वा,	४९९५
सच्चित्तं पुण दुविहं	४३३४	सत्तऽइ नवग दसगं	७०९	सन्नीसु पढमवग्गे	२५६८
सच्चित्तऽचित्त मीसे	५७२७	सत्तण्हं वसणाणं	९३९	सपडिक्कमणो धम्मो	६४२५
सच्चित्तदवियकप्पं	१६५४	सत्त ति नवरि नेम्मं	१७५५	सपडिदुवारे उवस्सए	२२४१
सच्चित्ताई तिविहो	२५८	सत्त दिवसे ठवेत्ता	२८२०	सबिइज्जए व मुंचति	३१२७
सच्चित्तादि हरंती	५४८०	सत्त दिवसे ठवेत्ता	२८२९	सब्भावमसब्भावं	२६३१
सच्चित्तादी दब्बे	११२२	सत्त पदा गम्मते	५८७६	सब्भावमसब्भावे	१३
सच्चित्ते अच्चित्ते	२६९३	सत्तरत्तं तवो होइ	७०५	सब्भावमसब्भावे	४५५५
सच्चित्ते खुड्ढादी	५०९२	सत्तरत्तं तवो होइ	१५५८	सब्भाविक इयरे वि य	१८०३
सच्छंदओ य एक्कं	३१२६	सत्तरत्तं तवो होइ	५४८६	सभए सरभेदादी	३०९७
सच्छंदवत्तिया जेहिं	५७१६	सत्तरत्तं तवो होती	४६८०	सभयाऽसति मत्तस्स उ	३२१४
सच्छदेण उ गमणं	३१२४	सत्तावीस जहण्णेणं	६४६१	समणं संजयं दंतं	१५५०
सच्छदेण य गमणं	३१२३	सत्तावीस जहन्ना	१४३६	समणं संजयं दंतं	१५६८
सजियपयट्टिए लहुगो	९०९	सत्तेव य मूलगुणे	५८१	समणगुणविदुऽत्थ जणो	३२६९
सज्जग्गहणा तीयं	२७६१	सत्थं च सत्थवाहं	३०६९	समणभडभाविणसुं	३२८८
सज्झाइयं नत्थि उवस्सएऽम्हं	३२३८	सत्थऽग्गी थंभेतुं	६२०७	समणाण उ ते दोसा	५९७१
सज्झाएण णु खिण्णो	३७१६	सत्थपणए य सुद्धे	३०८१	समणाणं पडिरूवी	५०५०
सज्झाए पलिमंथो	४२२५	सत्थपरिण्णादुक्कमे	३३२३	समणा समणि सपक्खो	३०७७
सज्झाए वाघातो	३७०३	सत्थाह अद्धगुणिया	३०८५	समणीणं णाणत्तं	४२३४
सज्झायं जाणंतो	११६५	सत्थि ति पंच भेया	३०७०	समणी समण पविट्ठे	३७५२
सज्झाय काल काइय	४८५८	सत्थे अहप्पघाणा	४८७२	समणुत्तमसमणुत्ते	१२६३
सज्झायद्वा दप्पेण	४२७९	सत्थेणऽन्नेण गया	३०१६	समणुत्तापरिसंकी	१८६२
सज्झायमसज्झाए	७४५	सत्थे विविच्चमाणे	२९७४	समणुत्ताऽसइ अन्ने	१८१५
सज्झायमाइएहिं	५७७९	सत्थे विविच्चमाणे	३००९	समणे घर पासंडे	१७६४
सज्झाय-लेव-सिब्बण-	५२८४	सत्थो बहू विवित्तो	३०२६	समणेण कहेयव्वा	४५८९
सज्झाय-संजमहिए	१२४०	सइं च हेतुसत्थं	५४३१	समणे समणी सावग	६२६
सद्वाण परद्वाणे	४४२३	सद्धम्मि हत्थ-वत्थादि-	३७९५	समणेहिं अभणंतो	१८४४
सद्वाणे अणुकंपा	२९७९	सहूलपोइयाओ	२११९	समयाइ ठिति असंखा	१५६
सद्वाणे पडिवत्ती	१४३४	सद्धो तहिं मुच्छति छेदणा वा	३९२२	समवाए खरसिंगं	८२०

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
सम-विसमाई न पासइ	४३९०	सल्लुद्धर णक्खेण व	६१८०	सव्वे वि तारणिज्जा	४३३७
सम-विसमा थेराणं	४४०५	सल्लुद्धरणे समणस्स	३९१	सव्वे वि पडिग्गहए	१२३८
समाही य भत्त-पाणे	१५०९	सवणपमाणा वसही	५६७३	सव्वे वि मरणधम्मा	५५१७
समाही य भत्त-पाणे	५५०६	सवणपमाणा वसही	५६७४	सव्वे समणा समणी	५३५०
समिई-सत्तुग-गोरस-	४७५५	सविसाणे उड्डाहो	५९६९	सव्वेसि गमणे गुरुगा	३१४६
समि-चिंचिणिमादीणं	५८१०	सविसेसतरा बाहिं	१३३८	सव्वेसि तेसि आणा	३५४२
समितीसु भावणासु य	११४५	सव्वंगिओ पतावो	५९४९	सव्वेसु वि चउगुरुगा	२३०३
समितो नियमा गुत्तो	४४५१	सव्वंगियं तु महणं	६१९२	सव्वेसु वि संघयणेसु	१६२८
समुदाणं पंथो वा	५६५९	सव्वं नेयं चउहा	९६२	सव्वेहिं पगारेहिं	५७११
समुदाणिओदणो मत्तओ	१९५३	सव्वं पि य संसट्ठं	१७४४	सव्वेहि वि गहियम्मी	४९९९
समोसरणे उहेसे	४२४२	सव्वं व देसविरइं	११९१	सव्वेहि वि घेतव्वं	४९९८
समोसरणे केवइया	११७६	सव्वचरित्तं भस्सति	४९७३	सव्वो लिंगी असिहो	४६९९
सम्मं विदिता समुवट्ठियं तु	४३२९	सव्वजईण निस्सिद्धा	५३५५	ससक्करे कंठइले य मग्गे	३२४८
सम्मत्तपोग्गलाणं	११६	सव्वजगज्जीवहियं	२००९	ससमय-परसमयविऊ	२४४
सम्मत्तमि अभिगओ	७३४	सव्वज्झयणा नामे	२६७	ससरक्खे ससिणिद्धे	५३७
सम्मत्तमि उ लद्धे	१०६	सव्वत्थ अविसमत्तं	१२०३	ससहायअवत्तेणं	५४०५
सम्मत्ते वि अजोग्गा	५२११	सव्वत्थ पुच्छणिज्जो	३५७५	ससिणेहो असिणेहो	६०२५
सम्महिट्ठी देवा	३१०९	सव्वत्थ वि आयरिओ	४३४९	ससिपाया वि ससंका	२३१४
सम्मिस्सियं वा वि अमिस्सियं वा	३६१४	सव्वत्थामेण ततो	३१०७	सस्सगिहादीणि दहे	६२११
सम्मेतर सम्म दुहा	८९३	सव्वनुपमाणाओ	३१७	सहजायगाइ मित्ता	८२९
सम्मोहो मा दोणह वि	५६९६	सव्वनुप्पामन्ना	३४६	सहणोऽसहणो कालं	२६९२
सयकरणे चउलहुगा	३८७१	सव्वपयत्तेण अहं	१४०३	सहवड्ढियाऽपुरागो	१३५०
सयगहणं पडिसेहति	४१५०	सव्वभूतऽप्पभूतस्स	४५८६	सहसाणुवादिणातेण	४२०८
सयगसो य उक्कोसा	६४६२	सव्वम्मि उ चउलहुया	१६८०	सहसा दड्ढु उग्गाहिण	१५३६
सयपाग सहस्सं वा	६०३१	सव्वम्मि पीए अहवा बहुम्मि	३४१६	सहसुप्पइअम्मि जरे	९४८
सयमवि न पियइ महिसो	३४८	सव्वसुरा जइ रूवं	११९६	सहिरन्नगो सगंथो	८२४
सयमेव आउकालं	१२८४	सव्वस्सं हाऊणं	४४३२	सहु असहुस्स वि तेण वि	५४९६
सयमेव उ करणम्मी	३६०४	सव्वस्स छड्ढुण विगिंचणा	५८१३	साऊ जिणपडिकुट्ठो	९८७
सयमेव कोइ लुद्धो	२८४७	सव्वस्स वि कायव्वं	५४२४	साएयम्मि पुरवरे	३२६१
सयमेव कोइ लुद्धो	४५९५	सव्वाउअं पि सोया	१२०६	सागरिय-संजयाणं	५४९
सयमेव कोति साहति	५१४१	सव्वाणि पंचमो तदिणं	१८३५	सागारऽकडे लहुगो	४१६२
सयमेव दिड्ढुपादी	३७८०	सव्वारंभ-परिग्गह-णिक्खेवो	४५८५	सागारिअणापुच्छण	१५३२
सयमेव य देहि अंबले	४३३१	सव्वा वि तारणिज्जा	४३४०	सागारिअपुच्छगमणम्मि	१५३३
सरगोयरो अ तिरियं	६७५	सव्वासु पविट्ठासुं	२३३९	सागारिउ त्ति को पुण	३५१९
सरभेद वण्णभेदं	६२९०	सव्वाहिं संजतीहिं	६३९९	सागारिए असंते	२०८६
सरभेद वण्णभेदं	६३०४	सव्वेगत्था मूलं	६०८२	सागारिए परम्मुह	२०७५
सरवेह-आस-हत्थी-	१२९०	सव्वे चरित्तमंतो थ	६४५४	सागारिगी उग्गहमग्गणेर्यं	४७७७
सरिकप्पे सरिछदे	६४४५	सव्वे दड्ढु उग्गाहिण	१५७७	सागारिपच्चयट्ठा	२३७१
सरिकप्पे सरिछदे	६४४६	सव्वे वा गीयत्था	६१८	सागारि-पुत्त-भाउग-	३५४७
सरिसावराधे दंडो	५७८०	सव्वे वा गीयत्था	२९३६	सागारिय आपुच्छण	१५३१
सरिसाहिकारियं वा	५६८५	सव्वे वि तत्थ रुंभति	४६४७	सागारिय उणह ठिए	५८८०

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
सागारियं अनिस्सा	२४३६	साला य मज्झ छिंडी	२६३२	सिंचति ते उवहिं वा	५६३०
सागारियं अनीसा	२४३५	सालि-जव अच्छि सालुग	३३०७	सिक्खावणं च मोत्तुं	५१९८
सागारियं निरिक्खति	५१६०	साली घय गुल गोरस	५३४१	सिक्खाविओ सिय ती	५१९२
सागारियनिक्खेवो	२४५०	सालीणं वीहीणं	३३६८	सिक्खियब्बं मणूसेणं	११६०
सागारियमप्याहण	२३९	सालीहिं व वीहीहिं व	३३०१	सिग्घतरं ते आता	५२९९
सागारियसंकाए	४६६९	सालीहिं वीहीहिं	३३००	सिज्जायरपिंडे या	६३६१
सागारिय संदिट्ठे	३५२६	सालुच्छूहि व कीरति	३४०३	सिज्जायरेऽणुसासइ	१५५१
सागारिय सज्झाए	२३७८	सावगभज्जा सत्तवइए	१७२	सिज्जा संथारो या	४५९९
सागारिय सब्बत्तो	५८९६	सावग-सण्णिट्ठणे	४८३६	सिद्धम्मि न संगिण्हति	५५७९
सागारियस्स अंसिय	३६४४	सावज्जेण विमुक्का	८३२	सिद्धत्थए वि गिण्हइ	२३१
सागारियस्स णामा	३५२१	सावय अण्णट्ठकडे	३१०३	सिद्धत्थगजालेण व	३८२९
सागारिसंति विकरण	४६११	सावय-तेणपरद्धे	३१०४	सिद्धत्थग पुप्फे वा	२८९७
सागारिसहिय नियमा	५९९६	सावय-तेणपरद्धे	३११०	सिद्धी वीरणसइए	४२२९
सा जेसि उवड्ढवणा	६४०९	सावय तेणा दुविहा	४३७६	सिप्पणेउणियट्ठा	५१०९
साडऽब्भंगण-उव्वलण-	१९२५	सावय तेणे उभयं	५६३४	सिय कारणे पिहिज्जा	२३५५
साणुप्पगभिक्खड्ढा	१९७६	सावयभय आणिति व	३४५८	सिहरिणिलंभाऽऽलोयण	४९९२
साधारण आवलिया	६७३	साविकखेतर णट्ठे	४७६१	सी-उण्ह-वासे य तमंधकारे	३२४७
साधारणे वि एवं	१०८३	सासवणाले छंदण	४९८८	सीतंति सुवंताणं	३३८३
साभाविय तन्नीसाए	५५५	सासवणाले मुहणंतए	४९८७	सीतजलभावियं अविगते	४०३८
साभाविया व परिणामिया	५९०६	साहंति य पियधम्मा	१६०२	सीताइ जत्तो पडुगादिगा वा	३६४७
सा मंदबुद्धी अह सीसकस्स	३२५६	साहम्मि अण्णधम्मिय	४७४६	सीतोदे उसिणोदे	३४२०
सा मग्गइ साधम्मिं	३८०४	साहम्मिओ न सत्था	१७८२	सीया वि हंति उसिणा	५९०७
सामत्थण परिवच्छे	२१४२	साहम्मि तेण्ण उवधी	५०६३	सीलेह मंखफलए	१८१०
सामत्थ णिव अपुत्ते	४९४९	साहम्मिय-ऽन्नधम्मिय-	५१२४	सीसं इतो य पाढा	४३८८
सामन्न विसेसेण य	४५	साहम्मियाण अट्ठा	१७७४	सीसगता वि ण दुक्खं	५६२९
सामन्नाजोगाणं	७०१	साहम्मि-वायगाणं	१७९९	सीसा पडिच्छगाणं	३५५
सामाइए य छेदे	६३५७	साहारणं तु पढमे	५४०७	सीसा वि य तूरंती	३७५
सामाइयस्स अत्थं	१९९	साहारण ओसरणे	११८१	सीसावेडियपुत्तं	६३६६
सामायारिकडा खलु	२२१०	साहारणम्मि गुरुगा	३३०६	सीसे जइ आमंते	१४५७
सामायारिमगीए	१४७१	साहारणाऽसवत्ते	१२०५	सीसोकंपण गरिहा	४७३२
सामायारी पुणरवि	१६५७	साहू गिण्हइ लहुगा	२३६५	सीसोकंपण हत्थे	४७३६
सामित्तकरणअहिगरणतो	१५२	साहू जया तत्थ न होज्ज कोई	४१८०	सीहं पालेइ गुहा	२११४
सामिद्धिसंदंसणवावडेण	३१७२	साहूणं पि य गरिहा	२३१७	सीहगुहं वग्घगुहं	५४६४
सामी अणुण्णविज्जइ	४७७४	साहूणं बसहीए	३३८०	सीहम्मि व मंदरकंदराओ	१३७५
सारक्खह गोणाई	१३९४	साहूण देह एयं	३२८०	सुअवत्तो वतऽवत्तो	५४७८
सारिक्खएण जंपसि	६३०३	साहू निस्समनिस्सा	२४४६	सुंकादीपरिसुद्धे	९५२
सारिक्ख-विवक्खेहि य	५०	सिं गक्खोडे कलहो	१४९४	सुकुमालग! भइलया!	११५९
सारुवि गिहत्थ (मिच्छे)	४९३९	सिं गाररसुत्तुइया	४५८८	सुंकिंधणम्मि तिप्पइ	१२४७
सालाए कम्मकरा	२६३४	सिं गारवज्ज बोले	२२७३	सुंकिंधण-वाउबला-	२१५३
सालाए कम्मकरा	२६६९	सिंघाडगं तियं खलु	२३००	सुक्खोदणो समितिमा	३०९९
सालाए पच्चवाया	२६३३	सिंचण-वीई-पुट्टा	२३८६	सुक्खोल्लओदणस्सा	४०६८

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
सुचिरेण वि गीयत्थो	१६९५	सुत्तम्मि य गहियम्मी	१२१९	सूरे अणुगगतम्मिं	५७८९
सुद्धु कयं आभरणं	२४६०	सुत्तम्मि होइ भयणा	७७८	सेज्जायरकप्पट्टी	५४४९
सुद्धु कया अह पडिमा	२४९३	सुत्तस्स कप्पितो खलु	४०६	सेज्जायराण धम्मं	३७४८
सुणतीति सुयं तेणं	१४७	सुत्ताइ अंबकंजिय-	५९०४	सेज्जायरिमाइ सपज्जाए	५४४४
सुणमाणा वि न सुणिमो	४८३४	सुत्ताइरज्जुबंधो	२३३३	सेज्जायरो पभू वा	३५२५
सुण सावग ! जं वत्तं	३३८९	सुत्ते अत्थे तदुभय	४०५	सेज्जायरो य भणती	३३९२
सुण्णघरादीणऽसती	५८७९	सुत्तेणेव उ जोगो	५३३९	सेज्जायरो व सण्णी	४१८४
सुतअव्वत्तो अगीतो	५३८७	सुत्तेणेव य जोगो	३००१	सेज्जासंथारो या	४३६८
सुतजम्म-महुरपाडण-	६२४५	सुत्तेणेवऽववाओ	५९८९	सेडुय रूप पिंजिय	२९९६
सुत्तं अत्थो य बहू	५६९०	सुत्ते सुत्तं बज्झति	४८७७	सेढीइ दाहिणेणं	६७४
सुत्तं कुणति परिजितं	४०७	सुद्धम्मि य गहियम्मी	५९००	सेढीठाणठियाणं	४५०३
सुत्तं णिरत्थगं खलु	४१५९	सुद्धुल्लसिते भीए	४९५२	सेढीठाणठियाणं	४५०४
सुत्तं तु सुत्तमेव उ	३१०	सुद्धुल्लसिते भीए	४९६५	सेढीठाणठियाणं	४५१५
सुत्तं त् कारणियं	१००२	सुद्धे सही इच्छकारे	१८७४	सेढीठाणे सीमा	४५३२
सुत्तं निरत्थगं कारणियं	२९२७	सुत्तं दडुं बडुगा	५४७	सेणाए जत्थ राया	४८७५
सुत्तं पडुच्च गहिते	५८१२	सुत्ता पसुसंधाया	२४४०	सेणाणुमाणेण परं जणोऽयं	२२२०
सुत्तं पमाणं जति इच्छितं ते	३६२७	सुत्तो चउत्थ भंगो	१८५५	सेणादी गम्मिहिई	४७९६
सुत्तं पयं पयत्थो	३०९	सुयखंधो अज्झयणा	२५२	सेणावत्तिस्स सरिसो	५२२२
सुत्तणिवातो थेरी	४१७९	सुयभावणाए नाणं	१३४४	सेयं व सिंधवण्णं	४१७०
सुत्त-ऽत्थतदुभयविऊ	५५३०	सुय संघयणुवसण्णे	१३८२	सेल-कुडछिइ-चालिणि	३६२
सुत्त-ऽत्थ-तदुभयविसारए	४६५१	सुय संघयणुवसण्णे	१६२४	सेलघण कुडग चालिणि	३३४
सुत्त-ऽत्थ-तदुभयविसारयम्मि	२७८५	सुय सुत्त गंथ सिद्धंत	१७४	सेलपुरे इसितलागम्मि	३१५०
सुत्त-ऽत्थ-तदुभयाइं	७८६	सुय सुह-दुक्खे खेत्ते	५४२३	सेले य छिइ चालिणि	३४३
सुत्त-ऽत्थथिरीकरणं	१२३२	सुरजालमाइएहिं	१३०१	सेवगभज्जा ओमे	६२८७
सुत्तत्थपोरिसीओ	१४७८	सुवइ य अयगरभूओ	३३८७	सेविज्जंते अणुमए	४१४३
सुत्तत्थ सावसेसे	२०१५	सुवति सुवंतस्स सुत्तं	३३८४	सेसाणं संसडुं	५००३
सुत्त-ऽत्थाणं गहणं	६०९४	सुव्वत्त झामिओवधि	५०७१	सेसे वि पुच्छिऊणं	४९४
सुत्तत्थाणि करिते	१४७७	सुहपडिबोहो निदा	२४००	सेसे सकोस मंडल	४८४५
सुत्तत्थे अइसेसा	१२३५	सुहमेगो निच्छुब्भइ	१२७३	सेसेसु उ सभ्भावं	४७३१
सुत्तत्थे अकरिता	१४७९	सुहविण्णप्पा सुहमोइगा य	२५४४	सेसेसु फासुएणं	५८६
सुत्त-ऽत्थे कहयंतो	२१४	सुहवित्रप्पा सुहमोइगा	२५२७	सेहं विदित्ता अतितिव्वभावं	३२०५
सुत्त-ऽत्थे पल्लिमंथो	५६२६	सुहविन्नवणा सुहमोयगा	२५०५	सेह गिहिणा व दिट्ठे	६००६
सुत्तत्थो खलु पढमो	२०९	सुहसज्झो जत्तेणं	२१९	सेहस्स व संबंधी	५३३२
सुत्तनिवाओ पासेण	२६७३	सुहसाहगं पि कज्जं	९४४	सेहस्स विसीयणया	३४३९
सुत्तनिवाओ पोराण	३५११	सुहिया मो त्ति य भणती	१८८७	सेहाई वंदंतो	५१३५
सुत्तनिवाओ बुट्ठे	३८३६	सूइज्जइ सुत्तेणं	३१३	सेहो त्ति अगीयत्थो	५०६५
सुत्तभणियं तु निद्धं	६००८	सूर्इसुं पि विसेसो	३९४४	सो अहिगरणो जहियं	१८२
सुत्तमई रज्जुमई	२३७४	सूरत्थमणम्मि उ णिग्गयाण	३५३८	सोउं अणभिगताणं	७८४
सुत्तम्मि कड्ढियम्मिं	५८६५	सूरमणी जलकंतो	३१४	सोउं तुट्ठो भरहो	४७८६
सुत्तम्मि कड्ढियम्मिं	६०१८	सूरुग्गए जिणाणं	१६६१	सोऊण अट्टजायं	६२९८
सुत्तम्मि कड्ढियम्मी	५४७१	सूरुदय पच्छिमाए	११८२	सोऊण अहिसमेच्च व	१११

गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.	गाथा	गाथासं.
सोऊण ऊ गिलाणं	१८७१	सो मग्गति साहम्मिं	३७९३	हरियाल मणोसिल पिप्पली	९७४
सोऊण ऊ गिलाणं	१८७२	सोय-सुय-घोररणमुह-	५२३२	हरियाहडियद्दाए	३०३८
सोऊण ऊ गिलाणं	१८७५	सो रायाऽवंतिवती	३२८३	हरियाहडिया सुविहिय !	३०२९
सोऊण ऊ गिलाणं	१८७७	सो वट्टइ ओदइए	२७३०	हाउं परस्स चक्खुं	४४८५
सोऊण ऊ गिलाणं	३७६९	सो वि य कुड्ढतरितो	२६२५	हाउं व जरेउं वा	४७४८
सोऊण कोइ धम्मं	४१९७	सो वि य गंथो दुविहो	८२३	हाणी जावेकद्दा	४८११
सोऊण दोत्रि जाभे	२३४३	सो वि य नत्तं पत्तो	३०००	हायंते परिणामे	११५
सोऊण भरहराया	४७७९	सो वि य सीसो दुविहो	७७३	हिंडउ गीयसहाओ	७४१
सोऊण य घोसणयं	९२५	सो समणसुविहित्तिसुं	५१६१	हिंडामो सच्छंदा	४१५७
सोऊण य पन्नवणं	२९६४			हिंडाविंति न वा णं	७४८
सोऊण य पासित्ता	३७८८	ह		हिज्जो अह सक्खीवा	६०५५
सोऊण य समुदाणं	२१३४			हिड्डाणत्तितो वी	४५२५
सोगंधिए य आसित्ते	५१६७	हंत म्मि पुरा सीहं	२९६५	हिड्डिल्ला उवरिल्लाहि	६००
सो चरणसुद्धियप्पा	१२५०	हंतुं सवित्तिणिसुयं	२८४४	हिम-तेण-सावयभया	५५१९
सो चेव य पडियरणे	५२६२	ह णु ताव असदेहं	५३२३	हियसेसगाण असती	३१३३
सो चेव य संबंधो	३२२२	हत्त-महित-विप्परत्ते	५२५८	हिरत्त-दारं पसु-पेसवग्गं	४३२८
सोच्चा उ होइ धम्मं	११३४	हत्थं वा मत्तं वा	१८२०	हीणप्पमाणधरणे	४००५
सोच्चा गत त्ति लहुगा	४६००	हत्थं हत्थं मोत्तुं	४७९४	हीणाऽद्विरेगदोसे	४०१७
सोच्चा पत्तिमपत्तिय	५४५	हत्थद्धमत्त दारुग	१९५७	हीरेज्ज व खेलेज्ज व	१४६७
सोच्चाऽभिसमेच्चा वा	११३३	हत्थपणगं तु दीहा	२३७५	हुंडादि एकबंधे	४०३०
सोच्चा व अभिसमेच्च व	१३४	हत्थाईअक्रमणं	२६४०	हुण्डे चरित्तभेओ	४०२४
सोणिय-पूयालित्ते	३८४०	हत्थाताले हत्थालंबे	५१०३	हेट्टुउवासणहेउं	२०६७
सो तं ताए अन्नाए	१८२३	हत्थातालो तत्तिओ	५१२१	हेट्टाऽणंतरसुत्ते	४८७९
सो तत्थ तीए अन्नाहि	२६७१	हत्थायामं चउरस	४४९	हेट्टा तणाण सोहण	३४७१
सो निच्छुम्भति साहू	५५७५	हत्थेण व पादेण व	५१०५	हेट्टा वि य पडिसेहो	३२४१
सो निज्जई गिलाणो	१९७९	हत्थे य कम्म मेहुण	४८९४	हेट्टिल्ला उवरिल्लेहिं	६७०
सो निज्जराए वट्टति	३७८४	हत्थो लंबइ हत्थं	५६७७	होइ असीला नारी	८६
सो परिणामविहिण्णू	३७७५	हत्थोवघाय गंतूण	४८२	होइ पयत्थो चउहा	३२६
सोपारयम्मि नगरे	२५०६	हयनायगा न काहिंति	३००७	होति बिले दो दोसा	४५१
सो पुण आलेवो वा	१०३१	हरंति भाणाइ सुणादिया य	३४९४	होति हु पमाय-खलिया	१२७६
सो पुण इंधणमासज्ज	२१४८	हरिए बीए चले जुत्ते	५००	होज्ज न वा वि पभुत्तं	२१६६
सो पुण दुग्गे लग्गेज्ज	६१८२	हरिए बीए चले जुत्ते	४०७६	होहिइ व नियंसणियं	६४६
सो भणइ कओ लद्धो	३४००	हरिए बीए पतिट्टिय	५०१	होहिंति णवग्गाइं	४७१६
सो भविय सुलभबोही	७१४	हरियच्छेअण छप्पइ-	१५३७	होहिंति न वा दोसा	३१७५

जैन परंपरा में मुख्यरूप से चार भाष्य प्रचलित हैं—दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प, व्यवहार और निशीथ। इनका निर्यूहण पूर्वी से हुआ, इसलिए इनका बहुत महत्त्व है। इनके निर्यूहणकर्त्ता भद्रबाहु 'प्रथम' माने जाते हैं। 'बृहत्कल्पभाष्य के प्रणयिता संघदास-गणी हैं। प्रस्तुत ग्रंथ के टीकाकार आचार्य मलयगिरि और आचार्य क्षेमकीर्ति हैं। मलयगिरि ने प्रारंभिक ६०६ गाथाओं की टीका लिखी। तत्पश्चात् क्षेमकीर्ति ने उसे आगे बढ़ाकर टीका संपन्न की।

शिष्य ने प्रश्न किया कि मूल आगमों के होते हुए छेदसूत्रों का क्या महत्त्व है? आचार्य कहते हैं—अंग, उपांग आदि मूलसूत्र हैं। वे मार्गदर्शक और प्रेरक हैं। परन्तु यदि साधु संयम में स्खलना करता है और वह अपनी स्खलना की शुद्धि करना चाहता है तो वे मूल आगम उसको दिशा-निर्देश नहीं दे सकते। दिशा-निर्देश और स्खलना की विशुद्धि छेदसूत्रों द्वारा ही हो सकती है। वे प्रायश्चित्तसूत्र हैं और प्रत्येक स्खलना की विशोधि के लिए साधक को प्रायश्चित्त देकर स्खलना का परिमार्जन और विशोधि कर साधक को शुद्ध कर देते हैं, इसीलिए उनका महत्त्व है।

भाष्यों की वाचना के विषय में कहा जाता है कि हर किसी को, हर किसी वेला में इनकी वाचना नहीं देनी चाहिए। ये रहस्य सूत्र हैं। सामान्य आगमों से इनकी विषयवस्तु भिन्न है। इनमें उत्सर्ग और अपवाद-विषयक अनेक स्थल हैं। हर कोई उन स्थलों को पढ़कर या सुनकर पचा नहीं सकता और तब वह निर्ग्रन्थ प्रवचन से विमुख होकर स्वयं भ्रान्त होकर, अनेक व्यक्तियों को भ्रान्त कर देता है, इसीलिए इनकी वाचना के विषय में पात्र-अपात्र का निर्णय करना बहुत आवश्यक हो जाता है। गृहस्थों को तो इनकी वाचना देनी ही नहीं है, साधुओं में सभी साधु इनकी वाचना देने योग्य नहीं होते।

जैन विश्व भारती द्वारा प्रकाशित आगम साहित्य

वाचना प्रमुख : आचार्य तुलसी

संपादक - विवेक : आचार्य महाप्रज्ञ

(मूल पाठ पाठान्तर शब्द सूची सहित)

- | ग्रंथ का नाम | मूल्य |
|--|-------|
| ● अंगसुत्ताणि भाग-१ (दूसरा संस्करण) ७००
(आयारो, सूयगडो, ठाणं, समवाओ) | |
| ● अंगसुत्ताणि भाग-२ (दूसरा संस्करण) ७००
(भगवई-विआहपण्णत्ती) | |
| ● अंगसुत्ताणि भाग-३ (दूसरा संस्करण) ५००
(नायाधम्मकहाओ, उवासगदसाओ, अंतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, पण्णावागरणाइं, विवागसुयं) | |
| ● उवंगसुत्ताणि खंड-१ ५००
(ओवाइयं, रायपसेणइयं, जीवाजीवाभिगम) | |
| ● उवंगसुत्ताणि खंड-२ ६००
(पण्णवणा, जंबूद्वीपपण्णत्ती, चंदपण्णत्ती, कप्पवडिंसियाओ, निरयावलियाओ, पुप्फियाओ, पुप्फचूलियाओ, वण्हदसाओ) | |
| ● नवसुत्ताणि (द्वितीय संस्करण) ६६५
(आवस्सयं, दसवेआलियं, उत्तरज्झयणाणि, नंदी, अणुओगदाराइं) | |
| कोश | |
| ● आगम शब्दकोष ३००
(अंगसुत्ताणि तीनों भागों की समग्र शब्द सूची) | |
| ● श्री भिक्षु आगम विषय कोश, भाग-१ ५०० | |
| ● श्री भिक्षु आगम विषय कोश, भाग-२ ५०० | |
| ● देशी शब्दकोश १०० | |
| ● निरुक्त कोश ६० | |
| ● एकार्थक कोश ७० | |
| ● जैनागम वनस्पति कोश (सचित्र) ३०० | |
| ● जैनागम प्राणी कोश (सचित्र) २५० | |
| ● जैनागम वाद्य कोश (सचित्र) २५० | |
| अन्य भाषा में आगम साहित्य | |
| ● भगवती जोड़ खंड-१ से ७ श्रीमज्जयाचार्य सेट का मूल्य २६०० | |
| ● आयारो (अंग्रेजी) २५० | |
| ● आचारांगभाष्यम् (अंग्रेजी) ४०० | |
| ● भगवई खंड-१ (अंग्रेजी) ५०० | |
| ● उत्तरज्झयणाणि भाग-१, २ (गुजराती) १००० | |
| ● सूयगडो (गुजराती) | |

(मूल, छाया, अनुवाद, टिप्पण, परिशिष्ट-सहित)

- | ग्रंथ का नाम | मूल्य |
|---|-------|
| ● आयारो २०० | |
| ● आचारांगभाष्यम् ५०० | |
| ● सूयगडो (तीसरा संस्करण) ६०० | |
| ● ठाणं ७०० | |
| ● समवाओ (दूसरा संस्करण) प्रेस में | |
| ● भगवई (खंड-१) ५६५ | |
| ● भगवई (खंड-२) ६६५ | |
| ● भगवई (खंड-३) ५०० | |
| ● भगवई (खंड-४) ५०० | |
| ● भगवई (खंड-५) प्रेस में | |
| ● नंदी ३०० | |
| ● अणुओगदाराइं ४०० | |
| ● दसवेआलियं (तीसरा संस्करण) ५०० | |
| ● उत्तरज्झयणाणि (चौथा संस्करण) ६०० | |
| ● नायाधम्मकहाओ ५०० | |
| ● दसवेआलियं (गुटका) ७ | |
| ● उत्तरज्झयणाणि (गुटका) २५ | |
| अन्य आगम साहित्य | |
| ● निर्युक्तिपंचक (मूल, पाठान्तर) ५०० | |
| ● सानुवाद व्यवहार भाष्य ५०० | |
| ● व्यवहार भाष्य ७००
(मूल, पाठान्तर, भूमिका, परिशिष्ट) | |
| ● बृहत्कल्पभाष्यम् खण्ड-१ (सानुवाद) ५०० | |
| ● बृहत्कल्पभाष्यम् खण्ड-२ (सानुवाद) ५०० | |
| ● गाथा ३५०
(आगमों के आधार पर भगवान महावीर का जीवन दर्शन रोचक शैली में) | |
| ● आत्मा का दर्शन ५००
(जैन धर्म : तत्त्व और आचार) | |

प्राप्ति स्थान :

जैन विश्व भारती
लाडनूं - ३४१३०६ (राज.)

ISBN - 81-7195-133-3